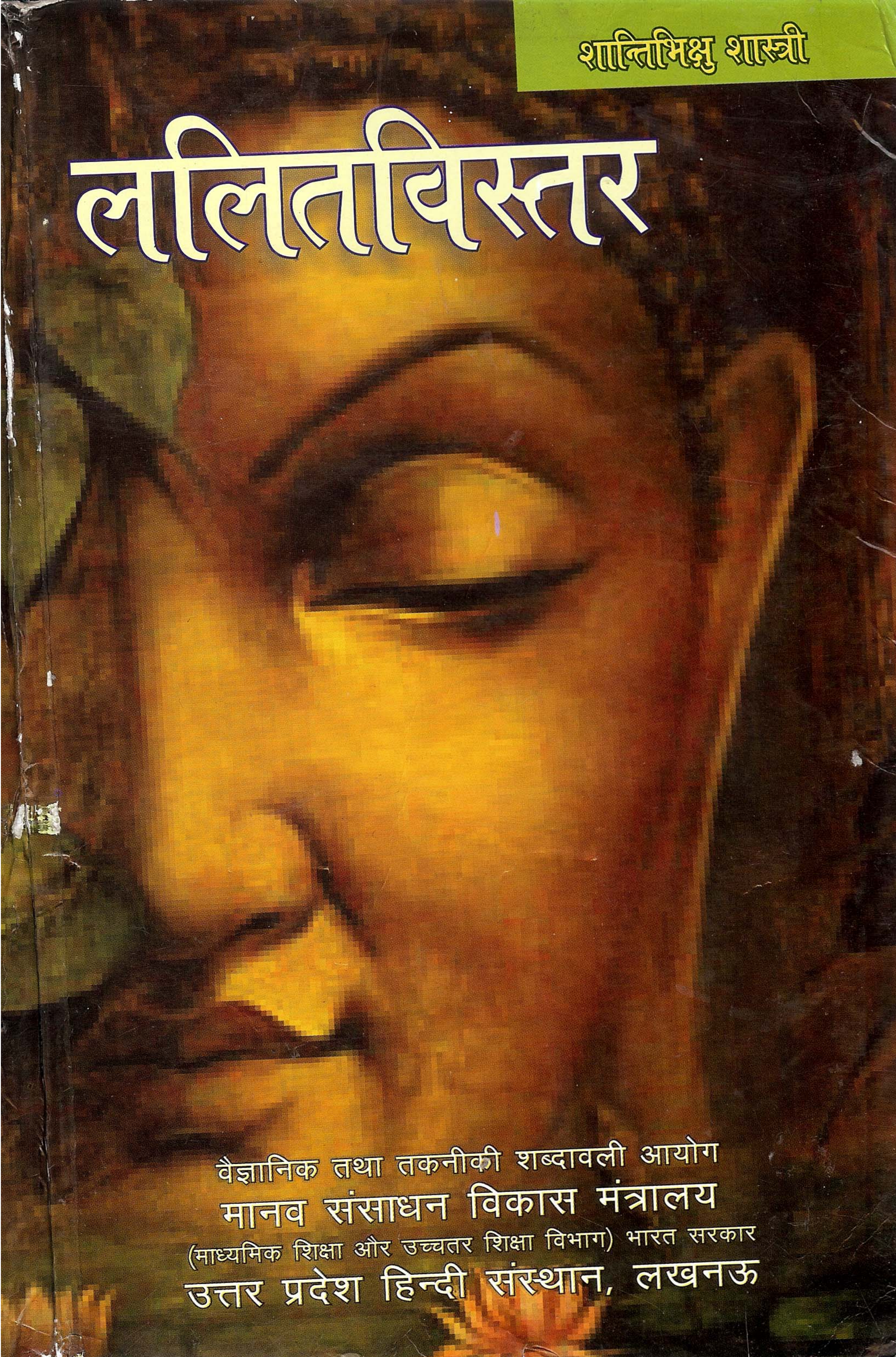


शान्तिभिक्षु शास्त्री

ललितविस्तर

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

ग्रन्थमाला संख्या–268

ललित विस्तर

अनुवाद तथा भोट भाषान्तर के आधार पर पाठशोधनात्मक टिप्पणियाँ

अनुवादक

शान्तिभिक्षु शास्त्री

साहित्याचार्य (जयपुर) पी०एच०डी० लाइपृछिग् (प्रजातंत्र जर्मनी)
डी० लिट् (साहित्यचक्रवर्ती)
केलानिया विश्वविद्यालय श्रीलंका,
भूतपूर्व प्राध्यापक तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष
श्रीलंका विद्यालंकार विश्वविद्यालय

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक

मनीष शुक्ल

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

लखनऊ

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

ISBN : 978 - 93 - 82175 - 47 - 6

प्रथम संस्करण - 1984

द्वितीय संस्करण - 1992

तृतीय संस्करण - 2016

प्रतियाँ : 500

मूल्य : ₹ 445 = 00 **(चार सौ पैंतालीस मात्र)**

मुद्रक :

अवध पब्लिशिंग हाउस

पानदरीबा, लखनऊ

प्रकाशकीय

मानव समाज के समक्ष हमेशा से अनेकानेक सवाल मौजूद रहे हैं और इनके सार्थक उत्तर की तलाश दुनिया की सभी संस्कृतियाँ समय–समय पर करती रही हैं। भारतीय संस्कृति में यह परम्परा अत्यंत व्यापक है। वह सिर्फ मानव जीवन ही नहीं, हमारे अस्तित्व के आदि और अंत को भी गहरे पारिभाषित करती है।

बौद्ध धर्म की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने मानव जीवन के श्रेष्ठतम स्वरूप की अत्यंत वैज्ञानिक व्याख्या की है। भगवान बुद्ध ने एक–एक कर स्थितियों का आंकलन किया, उनके उत्तर दिये और वे इतने निश्छल हैं कि शायद ही कोई जिज्ञासु उनसे प्रभावित हुए बिना रह सके। उनकी शिक्षाओं का क्षितिज असीमित है। जब वह यह कहते हैं कि मेरी भी शिक्षाओं को इसलिए मत मान लेना क्योंकि मैं कह रहा हूँ, बल्कि अपने ज्ञान, विवेक और तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही उनके सन्दर्भ में निर्णय लेना, तो निश्चय ही उनकी महानता स्वयं अपनी आभा बिखेरती है। जिस तरह से उन्होंने मनुष्य को जीवन जीने का सार्थक मार्ग दिखाया, स्वाभाविक था कि समय और सीमाओं से परे उनका स्वागत होता। इस क्रम में समय–समय पर अनेक ग्रंथ लिखे गये और उनके विचारों को नये आयाम मिलते रहें।

श्री शंतिभिक्षु शास्त्री द्वारा मूल संस्कृत से हिन्दी में अनुवादित व सम्पादित यह ग्रंथ 'ललित विस्तर' भी इस परम्परा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें भगवान बुद्ध को प्रारम्भिक जीवनकाल से लेकर धर्म

चक्र प्रवर्तन तक का विषद् और काव्यमय विवरण है। यह सम्पूर्ण ग्रंथ अनेक अध्यायों में विभक्त है। इसमें जिस तरह से तत्कालीन कई प्राचीन भाषाओं का सदुपयोग किया गया है, उससे यह ग्रंथ निश्चय ही अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है। पिछले तीन दशकों के दौरान उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के इस गौरवमयी प्रकाशन 'ललित विस्तर' का भरपूर स्वागत हुआ है और इस क्रम में अब इसका तीसरा संस्करण प्रस्तुत है। विश्वास है कि भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों से लेकर अध्येयताओं तक सभी के बीच इस गौरवमयी प्रकाशन का पूर्ववत् स्वागत होगा।

मनीष शुक्ल
निदेशक

निवेदन

जीवन और समाज से जुड़े वभिन्न क्षेत्रों के सन्दर्भ में समय–समय पर जितना चिंतन–मनन भारतीय परिवेश में हुआ है, उस पर कोई भी प्राचीन संस्कृति गर्व कर सकती है। विश्व की अन्य संस्कृतियों में भी यद्यपि ऐसे चिंतन–मनन की कोई कमी नहीं रही, परन्तु भारतीय संस्कृति इस सन्दर्भ में उनके अलग है कि यहाँ किसी भी सिद्धान्त को अन्तिम नहीं माना गया।

ऐसे व्यापक और बहुआयामी धरातल के बीच बौद्ध धर्म सबसे अलग इसलिए दिखता है, क्योंकि वह अलौकिकता और भौतिकता के बीच सामंजय पर आधारित है, उनके बीच मनुष्य की नियति का वैज्ञानिक निरूपण रता है और इन अर्थों में हमेशा प्रासंगिक रहा है। गौतमबुद्ध ने अहिंसा, कणा और अन्य मानवीय गुणों को सर्वोच्च माना और जीवन के कल्याणका मध्यम मार्ग प्रशस्त किया। उनका यह मानवीय धर्म भारत ही नहीं, विव के अनेक देशों तक पहुँचा। बौद्ध चिंतन भारतीय परम्परा का महत्वपूा अध्याय है। उसकी शिक्षाएं चिंतकों के आकर्षण का केन्द्र बनी रही हैं। स क्रम में भगवान बुद्ध के जीवन और शिक्षाओं से सम्बन्धित अनेकोक ग्रंथों का प्रणयन देश–विदेश में हुआ। 'ललित विस्तर' नामक यह संस्कृतग्रन्थ भी इसी परम्परा का एक महत्वपूर्ण सोपान है। इसमें भगवन बुद्ध के प्रारम्भिक जीवन से लेकर धर्म चक्र प्रवर्तन तक की अनेक घटनाओं का विवरण है। बौद्ध धर्म की हीनयान और महायान दोनों

शाखाओं में इन घटनाओं को प्रमुखता मिलती रही है।

ललित विस्तर में भगवान बुद्ध की दिव्यता और लोककल्याण की पग–पग पर अभिव्यक्ति पाठक को गहरे प्रभावित करती है। विद्वान अनुवादक–सम्पादक श्री शांतिभिक्षु शास्त्री ने हिन्दी में इसका प्रणयन कई दशक पूर्व किया था। मूल ललित विस्तर में संस्कृत के साथ–साथ पालि, प्राकृत व अपभ्रंश आदि भाषाओं और उनमें उपलब्ध साहित्य का भी उल्लेख है, जिनका सदुपयोग विद्वान अनुवादक के गहन अध्ययन को रेखांकित करता है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने इसका प्रथम संस्करण 1984 में प्रकाशित किया था। तीन दशकों से अधिक के इस कालक्रम में इस ग्रंथ की उपादेयता लगातार बनी रही है और अब पुस्तक का यह तीसरा संस्करण आपके सामने आ रहा है। आशा है कि पूर्व की भांति प्राचीन संस्कृति और परम्परा के साथ–साथ बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में गहरे अवगाहन करने वाले जिज्ञासु पाठकों के बीच इस तृतीय संस्करण का भी यथोचित स्वागत होगा।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

प्राक्कथन

श्रीलंका के तेरह वर्ष (सन् 1959 से 1972 तक) के व्यापक प्रवास में विद्यालंकार विश्वविद्यालय केलानिया के संस्कृत विभाग में अध्यक्ष तथा प्राध्यापक के कर्त्तव्यों को सम्पन्न करते हुए मुझे बहुत व्यस्त रहना पड़ा। वहाँ से षष्टिपूर्ति के अनन्तर हिमाचल प्रदेश के सोलन नगर में निवास का अवसर सुलभ हुआ।

इस समय मैंने अपने किए हुए कार्य पर दृष्टि डाली। बहुत सी सामग्री प्रकाशन योग्य है, यह जानकर हर्ष भी हुआ और चिन्ता भी हुई। मेरा एक ग्रन्थ बुद्धविजयकाव्यम् 1974 ई० में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन में हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी ने जो सहायता दी उसका आभार मैं हृदय से सदा मानता रहूँगा। सौभाग्य से इस ग्रन्थ को सन् 1977 के पुरस्कार से भारतीय साहित्य अकादमी ने सम्मानित किया। मैंने उस समय उस साहित्य संस्थान को अभिवृद्धि का मंगलाशीर्वाद दिया था—अभिवृद्धिरस्तु अस्य संस्थानस्य यत् सुभाषितकाराणां करोति पुरस्क्रियाम्।

जिस समय बुद्धविजय काव्य लोक दर्शन के लिए सम्पन्न हो रहा था, उस समय बौद्ध आगम ग्रन्थ ललितविस्तर को मैंने उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्कालीन शास्त्री मंडल के अध्यक्ष पं० (डॉ०) हजारी प्रसाद द्विवेदी को भेज चुका था और आशा की थी कि वह शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। पर विलम्ब होता रहा और यह ग्रन्थ सन् 1977 में प्रेस में जा सका। अब यह अपने को प्रादुर्भूत करने में प्रतिबल हो सका है। इसका मुझे हर्ष है पर पंडित जी हमारे बीच में नहीं हैं, इसका दुःख भी है। वे इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखना चाहते थे। पाण्डुलिपि उन्होंने पढ़ी थी और कहा था यह एक उत्तम कार्य हुआ है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान तथा उसके अधिकारियों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ, वे यदि परम यत्न से इस कार्य को सम्पन्न न करवाते तो इसे शायद ही लोकालोक देखने का क्षण प्राप्त होता। भेलूपुर, वाराणसी के महावीर प्रेस के अध्यक्ष तथा कार्यकर्ता धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस लम्बी अवधि में पाण्डुलिपि को सुरक्षित रखा है तथा येन केन प्रकारेण मुद्रण सम्पन्न कर डाला।

पाण्डुलिपि को टाइप-लिखित रूप देने में मेरी पत्नी सुजाता ने जो श्रम किया है, उसके लिए धन्यवादों की बर्षा तो मैं उन पर करता ही रहता हूँ पर

अब वे प्रसन्न हो रही हैं कि उनका कार्य मुद्रित हो गया है। मेरी पुत्री बोधिश्री ने पाण्डुलिपि तथा टाइपलिखित ग्रन्थ को एक बार ध्यान से देखा था। मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ कि उसको इस प्रकार के कार्य में यथाक्षण श्रम करते हुए चित्तप्रसाद प्राप्त होता रहे।

जो-जो मित्र इस ग्रन्थ को मुद्रित देखना चाहते थे वे सब अब प्रसन्न हो मेरे साथ मिल कर हिन्दी संस्थान की समृद्धि-कामना करें, यह मैं चाहता हूँ। अन्त में अपने मित्र पं० राधेश्यामधर द्विवेदी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने प्रूफ़ शोधन कार्य में बहुत श्रम किया है।

मेरी मंगल कामनाएँ उन्हें समृद्ध करें तथा वे सर्वदा इस प्रकार के अनुष्ठानों में प्रीतिमान रहें।

पाठकों से भी प्रार्थना है कि नागरी लिपि में मुद्रण की दुष्करता को समझते हुए, मात्रा, बिन्दु आदि के भ्रंश के जो अपराध योजक एवं यंत्रवेग से हो जाते हैं, उन्हें क्षमा करें।

सोलन, हिमाचल प्रदेश

शान्तिभिक्षु शास्त्री

प्रस्तावना

(1) ललितविस्तर में तथागत का स्वरूप

तथागत अपने जीवन-काल में ही धर्म के उपदेशक तथा संघ के प्रतिष्ठापक होने के कारण अपने शिष्यों द्वारा पूजे जाते थे, पर वह पूजा उन्हें गुरु मान कर ही की जाती थी। जिस प्रकार कोई अपने शिक्षक माता-पिता गुरु अथवा कल्याणमित्र की सेवा करता है, उसी प्रकार तथागत के शिष्य उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के शास्ता के रूप में देखते हुए उनकी सेवा करते थे। तथागत का लौकिक जीवन उनके सामने था। वे देखते कि भगवान् भोजन के निमित्त भिक्षा के लिए जाया करते हैं, रोग-दोष होने पर भैषज्य ग्रहण करते हैं, शरीर की रक्षा के लिए उचित समय पर सोते हैं, उचित समय पर उठते हैं, समय-समय पर शिष्यों को धर्म का उपदेश देते हैं। भगवान् के परिनिर्वाण के अनन्तर वे शिष्य जिन्होंने अपनी आँखों से तथागत को देखा था, तथागत की मानवी चर्या का स्मरण करते थे तथा उनके वे संस्मरण बहुत-कुछ त्रिपिटक में बिखरे हुए पाये जाते हैं। पर चाहे पालि त्रिपिटक को लें, चाहे संस्कृत में उपलब्ध त्रिपिटक ग्रन्थों को लें, दोनों में तथागत का दिव्य चरित्र निखरा हुआ प्रतीत होता है तथा मानव चरित्र उसमें लुका-छिपा दिखाई देता है ऐसा होते हुए भी पालित्रिपिटक में तथागत के मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कितनी ही प्रधान घटनाएँ सम्मुख आए बिना नहीं रहतीं। वहाँ हमें उस जीवन की झलक मिल जाती है, जिसे तथागत ने बिताया था। पैदल चलते हुए तथागत ने मध्यदेश के रज-रज को अपने चरण से पावन बना दिया था, उन्हें देवदत्त के संघभेदक कार्यों से बहुत कष्ट उठाना पड़ा था, भिक्षु-संघ के बीच छोटे-मोटे झगड़े उठ खड़े होते थे तथा तथागत को उनका निपटारा करना पड़ता था, अपने सामने ही काल कर गए शिष्यों का अभाव मन में करते हुए उनकी धातुओं पर स्तूपादि बनवाना पड़ता था, लोक में जहाँ एक ओर प्रशंसा होती थी वहाँ दूसरी ओर निन्दा के क्षण भी दुर्लभ न रहते थे। इस प्रकार लोक की मधुरता तथा कटुता के बीच तथागत का जीवन बीता था। वे अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल हुए उन्होंने एक विश्वजनीन धर्म तथा उसके सन्देश देने वाले संघ की प्रतिष्ठा की थी।

तथागत के मानव-जीवन में उनकी महाकरुणा सभी को प्रभावित करती थी, उनकी महाप्रज्ञा के प्रभाव से शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन जैसे विद्वान् एवं

धर्मसाधना में लगे ब्राह्मण शिष्य बन गए थे, उनके वैराग्य ने रागवानों को भी आकृष्ट किया था, समान भाव से उनकी धर्मवर्षा से तृप्त होकर अपनी जात-पाँत भूल कर उनके शिष्यों ने एक भेद-भाव रहित संघ में अपने-आपको संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पाँत भावना को तिलाञ्जलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे, सारे समाज में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था और इस सब महान् परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही प्रधान कारण था।

उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हें लोकोतर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके अनुयायियों को लोकोत्तर भावना ने ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप में देखने लगी थी। यह दिव्यरूपता आरम्भ में उनके उस आध्यात्मिक प्रभाव को ही लक्ष्य करती थी, जिसे हम आकार-प्रकार के द्वारा नहीं कह सकते। पर निराकार दिव्यता विचित्र कथाओं के प्रेमी भारतीय समाज में आकार न धारण कर ले, यह उस युग में सम्भव न था। ललितविस्तर में वस्तुतः तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक के ऐतिहासिक वृत्तान्तों को दिव्यभावों के साथ अलंकृत करके वर्णन करने का एक रमणीय यत्न किया गया है। इतिहास के साथ कविता का योग हो गया है। इतिहास की दृष्टि से जो तथागत धरती तथा धरती के मनुष्यों से घिरे रहते थे, वे कविता में केवल मनुष्यों से ही नहीं प्रत्युत देवताओं से भी घिरे रहते हैं। उनके वचनों से मनुष्यों को ही तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत देवता भी तृप्त होते हैं। कुछ अधिक स्पष्ट शब्द में कहें तो तथागत इस धरती के भेदभाव से ऊपर थे, उनके वचनों को सुनने वाले इस धरती के भेदभाव से ऊपर उठ चुके थे। धरती के भेदभाव से ऊपर उठना ही वह देवत्व था, जिसे बौद्ध अभिप्राय के जानकार कवि ने देवी-देवताओं की पुरानी संज्ञाओं से प्रकट किया है। देवताओं की प्रवृत्ति यदि धरती के दूषणों को अपनाने लगे तो धरती का उद्धार कहाँ? ऐसे निकृष्ट देवताओं को मार, मार सेना तथा मारवधुओं के रूप में वर्णित कर, तथागत के द्वारा मारविजय कराने का भी यही अभिप्राय है कि तथागत को इस धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठा हुआ समझा जाए। धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना ही तथागत की वह लोकोत्तरता है, जिसका बौद्ध कवि हृदय ने बौद्ध ग्रन्थों में नाना भाव से वर्णन किया है। धरती से ऊपर उठ कर भी यदि तथागत धरती का कल्याण भूल कर किसी पर्वत-लयन में समाधिस्थ हो गए होते, तो विश्व में कोई उन्हें न जान पाता। पर वे लोक-कल्याण के निमित्त लोक से ऊपर उठते हुए भी लोक में विचरण करते रहे। उनकी इस चर्या ने ही उनसे प्रवचन कराया और एक लोककल्याणकारी धर्म का अभ्युदय हुआ।

उनके अनुचरों ने उनका कितने ही अंशों तक अनुसरण किया। फलस्वरूप धर्म के प्रचारकों का एक संघ बना। पूर्व युग में यह संघ जहाँ गया वहाँ जीवन में नए प्राण डाल दिये।

इस धर्मप्रचारकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक निदर्शन ललितविस्तर है। बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है पर सभी इस बात में एक मत हैं कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी हैं। वे ये हैं—

(1) तुषित भवन में बोधिसत्त्व का निवास।
(2) तुषित भवन से अवतरण।
(3) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
(4) लुंबिनी में बोधिसत्त्व का जन्म।
(5) नैपुण्य-प्रदर्शन तथा गोपा (यशोधरा) के साथ विवाह।
(6) अन्तःपुरविहार तथा चतुर्निमित्तदर्शन
(वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)।
(7) अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
(8) तपश्चर्या।
(9) मारविजय।
(10) बोधिप्राप्ति।
(11) धर्मचक्रप्रवर्तन।
(12) महापरिनिर्वाण।

इनमें से अंतिम घटना को छोड़ कर अन्य सबका वर्णन ललितविस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव-भाव दिव्य-भाव में मग्न दिखाई देता है।

बोधिसत्त्व देवलोक से पृथिवी लोक पर जन्म लेते हैं और जन्म इसलिए लेते हैं। कि लोग कहीं यह न समझ बैठें कि तथागत तो देवता थे, हम तो मनुष्य हैं। हम वह पद नहीं पा सकते जो उन्होंने प्राप्त किया था। लोकचित्त अकर्मण्य न हो, देवभाव से मनुष्य भाव को पुरुषार्थसिद्धि में, परमार्थ की प्राप्ति में हीन न समझने लगे, इस बात को आत्म-निदर्शन से बतलाने के लिए बोधिसत्त्व देवता के रूप में नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

मनुष्य-योनि में जन्म लेने के लिए बोधिसत्त्व को दस मास गर्भवास में बसना पड़ता है। आयुर्वेदानुसार गर्भवास की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसा कि कहा गया है—

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कल्लीभवेत् ।
द्वितीये मासि कललाद् घनः पेश्यथवार्बुदम् ॥
व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ।
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च ॥
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः ।
चतुर्थे व्यक्तताङ्गानां चेतनायाश्च पञ्चमे ॥
षष्ठे स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ।
सर्वैः सर्वाङ्गसंपूर्णभावैः पुष्यति सप्तमे ॥
ओजोऽष्टमे संचरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ।
तस्मिस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम् ॥

(अष्टाङ्गहृदय, शारीरस्थान, अध्याय 1)

गर्भ एक सप्ताह में कलल (चिपचिपा कीचड़) जैसा होकर पहले मास भर में अन्य किसी अवस्था में प्रकट नहीं होता, दूसरे मास में वह गांठ जैसा हो जाता है जिसे घन, पेशी अथवा अर्बुद नाम से कहा जाता है, तृतीय मास में शिर, दोनों टाँगें तथा दोनों भुजाएँ ये पाँच अंग प्रकट हो जाते हैं, सभी अङ्ग सूक्ष्म रूप से निकल आते हैं, तथा शिर आदि अङ्गों के साथ सुख और दुःख का ज्ञान होने लगता है, चौथे मास में सभी (सूक्ष्म) अङ्ग स्पष्ट हो जाते हैं तथा पाँचवें मास में चेतना (मनःक्रिया) होने लगती हैं, छठे मास में स्नायु, सिरा, रोम, बल, वर्ण, नख तथा त्वचाएँ व्यक्त हो जाती हैं, सातवें मास में सब अङ्गों को पूर्ण करने वाले तत्त्वों से गर्भ पुष्ट हो जाता है, आठवें मास में माता से पुत्र में तथा पुत्र से माता में बारंबार ओज का संचार होता रहता है। इसके अनन्तर एक दिन भी अधिक हो जाए तो प्रसव-काल समझना चाहिए। यह सब वैज्ञानिक तथ्य है जिसमें अन्यथाभाव सम्भव नहीं। पर ललितविस्तर के कवि के अनुसार बोधिसत्त्व का शरीर प्रारम्भ से ही परिपूर्णांग हो, माता की दाहिनी कोख में, सहजोत्पन्न कूटागार में पर्यङ्क पर विराजमान होता है, वहाँ देवता आ-आकर उपासना करते हैं, नाना दिशाओं से आकर अन्य बोधिसत्त्व उपासना करते हैं। उस गर्भवास में भी बोधिसत्त्व धर्म से देवगणों तथा बोधिसत्त्व गणों का अनुशासन करते थे। जब बोधिसत्त्व महामाया देवी के गर्भ में थे तब उनमें भी अनेक दिव्य शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था। रोगियों को यदि छू देती थीं, तो उसका रोग दूर हो जाता था, उनके हाथ का दिया तिनका भी भैषज्य बन जाता था। इस प्रकार दिव्यभाव से गर्भ में निवास करते हुए लुंबिनी-वन में देवगणों से अभिनन्दित, नानाप्रकार की चमत्कारी घटनाओं से

ही विस्तार के साथ गद्य ग्रन्थ में पुनरुक्ति होना स्वाभाविक बात है। ग्रन्थ का मूल वस्तुतः गाथाएँ ही हैं।

गद्यग्रन्थ की भाषा लौकिक संस्कृत है, यद्यपि उसमें बहुसंख्यक ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका पता, श्रौत-स्मार्त परम्परा में पले हुए विद्वानों के ग्रंथों में नहीं मिलता। इस प्रकार के शब्दों का संकलन महाव्युत्पत्ति नाम के ग्रंथ में है। इस प्रकार के शब्द तथागत तथा उनके अनुयायियों के प्रवचनों के आधार पर संकलित किए गए थे, जो मूल रूप में उस भाषा में थे, जिसे तथागत तथा उनके अनुयायी मध्यदेश में चारिका करते हुए बोला करते थे।

पद्य ग्रंथ की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव होते हुए भी वह लौकिक संस्कृत नहीं है। वह वस्तुतः तथागत तथा उनके अनुयायियों के द्वारा बोली-चाली जाने वाली भाषा का ऐसा संस्कृत रूप है जिसमें केवल संस्कृत-लक्षण के आधार पर ही नहीं प्रत्युत प्राकृत-लक्षण के आधार पर शब्द रूपावली तथा धातु रूपावली का विस्तार कर डाला गया है। इसका फल यह हुआ है कि जो कुछ लौकिक संस्कृत में है, वह तो यहाँ पाया ही जाता है, पर प्राकृत में अर्थात् पालि तथा अन्य विविध मध्यम-भारती के रूपों में जो कुछ पाया जाता है उसका भी विकृत रूप में एक अंश यहाँ दृष्टिपथ में आता है। इस दृष्टि से ललितविस्तर की भाषा में शब्द समूह तथा व्याकरण दृष्टि से संस्कृत लक्षण ही नहीं प्रत्युत प्राकृत लक्षण भी पाये जाते हैं।

एक संस्कृतज्ञ जब इस भाषा का अध्ययन एवं अध्यापन करने बैठता है तब वह संस्कृत से तुलना किए बिना नहीं रह पाता। संस्कृत के पाणिनीय स्वरूप को स्थिर मानक मान कर ही वह पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाषाओं को देखता है। इस दृष्टि से देखने में इस भाषा के अध्ययन के कुछ सूत्र मिल जाते हैं। इन सूत्रों को यहाँ निर्देश करना आवश्यक है।

(1) **प्रथम सूत्र**—पदों में कहीं-कहीं शुद्ध संस्कृत की छाप है। यथा-शुद्ध-सत्त्वः, संनिषण्णः ऋषिः, महायशोभिः, कतमत् कुलम्। ऐसे पदों में प्रकृतियाँ भी संस्कृत की हैं तथा प्रत्यय भी संस्कृत के हैं[1]।

---

1. यहाँ पर उदाहरण ललितविस्तर के तृतीय अध्याय की दो गाथाओं से लिए गए हैं। उनका संस्कृत छाया सहित पाठ यहाँ दिया जा रहा है—

मूल	छाया
प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्धसत्त्वः	प्रासादे धर्मोच्चये शुद्धसत्त्वः
सुधर्मसिंहासनि संनिषण्णः।	सुधर्मसिंहासने संनिषण्णः।

पूर्ण तथागत का जन्म हुआ। त्रिविक्रम विष्णु से भी बढ़कर बताने के लिए कविभाषा में यह भी कहा गया कि उत्पन्न हुए तथागत सात क्रम (क़दम) चले।

तथागत का जन्म हुआ। अब उन्हें दो कार्य करने थे। एक था लोकसंग्रह-कृत्य, दूसरा था बुद्धकृत्य। लोक संग्रह के लिए ही तथागत पाठशाला में पढ़ने गए, यद्यपि विचित्र कथा कहने वाले बौद्ध कवि के लिए, वे सभी विद्याओं में पारंगत थे। यशोधरा के साथ विवाह कर, राहुल के पिता बनकर भी वे लोक-बंधन में बँधे न थे। अन्ततः घर छोड़ कर निकल पड़े। ये सभी घटनाएँ नाना प्रकार के दिव्य चरित्रों से जुड़ी हुई हैं। घर से निकल कर जो कुछ उन्होंने किया वे सब बुद्धकृत्य से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएँ हैं। सर्वत्र उनकी उपासना मनुष्य ही नहीं देवता भी करते रहे हैं—यह बात कोई भूल न जाए मानो इसी लिए विचित्र-चरित्रकार कवि ने नाना भाव से उनके मानव चरित्र के साथ दिव्य चरित्र जोड़ दिया है। दिव्य चरित्रों के नाना वर्णनों के होते हुए भी ललित-विस्तर में मानवजीवन का सूक्ष्म सूत्र सर्वथा भूलाया नहीं गया है। तथागत का मानव जीवन सर्वथैव लीला है, वह कोरी भक्तों को ढारस देने के लिए मायामयी भूमिका है—यह बात ललितविस्तर नहीं कहता। इस बात को सद्धर्मपुण्डरीक में कहा गया है जिसका उद्‌देश्य तथागत का ललित जीवन कहना नहीं है, प्रत्युत् तथागत को जीवनलीला से ऊपर उठा कर, सर्वथा एक जीवित आदर्श के रूप में स्थापित करना है। अस्तु, बौद्धवाङ्मय में हमें तथागत के तीन रूप में दर्शन होते हैं—मानवरूप में, दिव्यरूप में, दिव्यमानवभावातीत रूप में। ललितविस्तर में मुख्य रूप से दिव्य भाव का विस्तार है। हीनयान सम्प्रदाय में मानव रूप की प्रधानता है। महायान में दिव्यमानवभावातीत रूप में तथागत की प्रतिष्ठा की गई है। ललितविस्तर में हीनयान में प्रसिद्ध तथागत की जीवन सम्बन्धी घटनाओं को स्वीकार किया गया है पर उन घटनाओं को दिव्यचरित्रों से अलंकृत करके कहा गया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ महायान सम्प्रदाय में परम प्रिय होने पर भी अपना सम्बन्ध हीनयान से पृथक् नहीं करता। इसमें वर्णित तथागत मानव होते हुए भी दिव्य हैं अथवा दिव्य होते हुए भी मानव हैं।

(2) ललितविस्तर तथा उसकी व्याख्या

ललितविस्तर सत्ताईस अध्यायों में विभक्त एक रमणीय ग्रन्थ है। प्रत्येक अध्याय में दो भाग हैं—गद्यग्रन्थ तथा पद्यग्रंथ। पद्यग्रंथ ललितविस्तर की परम्परा में स्मृत मूल रूप है। गद्य में जो कुछ कहा गया है, उसके प्रमाण में ही प्रायः पद्यग्रन्थ को उद्‌धृत किया गया है। इस अवस्था में जो कुछ पद्यग्रन्थ में है उसकी

(4) **चतुर्थ सूत्र**—पदों में कहीं-कहीं प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों ही असंस्कृत के होते हैं। यथा—**दया सुता सा जननी च मायी** (ललितविस्तर अध्याय 3, पृष्ठ 29, लेफमन संस्करण)। यहाँ पर **दया** पद अयं का विकार है, तथा **सुता** पद सुतः का बिगड़ा हुआ रूप है। सुता में संस्कृत प्रकृति तो जैसे-तैसे बच गई पर दया में उसकी विरूपता इस सीमा तक पहुँच गई है कि उसे समझना कठिन हो जाता है। इस स्थान पर भोट भाषा के अनुवाद को यदि संस्कृत में प्रत्यनुवाद करें तो 'अयं सुतः, सा जननी च माया' यही होता है।

(5) **पंचम सूत्र**—कहीं-कहीं अविभक्तिक पद दिखाई पड़ते हैं। यथाशुद्ध। यह पद कुलं का विशेषण है। अतः सविभक्तिक पाठ **शुद्धम्** होना चाहिए। प्रतिरूप पद भी ऐसा ही है। उसे प्रतिरूपं होना चाहिए था।

(6) **षष्ठ सूत्र**—पदों में नाना प्रकार के विपर्यास दृष्टि में आते हैं। कहीं-कहीं वचनविपर्यास दिखाई पड़ता है यथा—**मातापिता कुत्र च शुद्धभावाः**। इस पाठ में 'मातापितरौ च कुत्र शुद्धभावौ' इस प्रकार अक्षरविन्यास होना चाहिए था। द्विवचन के स्थान बहुवचन का प्रयोग किया गया है। च इस पद का पाठ कुत्र से पहले होना चाहिए था। प्रत्यय विपर्यास भी दिखाई पड़ता है। यथा—**बोधिसत्त्वे**। यह सप्तमी विभक्त्यंत पद है। पर अर्थानुसार षष्ठी का प्रयोग होना चाहिए। अतः यहाँ 'षष्ठ्यर्थे सप्तमी' मानना होगा। प्रकृतिविपर्यास भी दिखाई देता है। यथा—**जन्मे**। यहाँ नकारांत प्रकृति को अकारांत मान कर विभक्ति प्रत्यय का योग किया गया है। इसी प्रकार अन्य विपर्यासों की ऊहा करनी होगी। शब्दस्वरूप विपर्यास यथा दीर्घस्वरांत यथा के स्थान में कभी-कभी ह्रस्वस्वरांत **यथा** का प्रयोग। लिंगविपर्यास तो साधारण बात है। उसके लिए तो संस्कृत में ही कम गड़-बड़ नहीं है। नाना प्रकार के शब्द जो पुंलिंग में भी प्रयुक्त होते हैं तथा नपुंसकलिंग में भी जिनका प्रयोग ठीक माना जाता है, वे सब शब्द लिंग विषयक अव्यवस्था के ही फल हैं। संधिनियमों का उल्लंघन भी यहाँ कम नहीं है।

इन सूत्रों के आधार पर सामान्यतया ललितविस्तर की भाषा की व्याख्या हो सकती है पर हमें ललितविस्तर का जो रूप लेफमन्-साहब के संस्करण में मिलता है तथा उसी का अंशतः जो विकृत रूप वैद्य महोदय के संस्करण में दीखता है, उससे हम शुद्ध पाठ पर नहीं पहुँच पाते। अतएव ग्रन्थ अनेक स्थलों पर असंलग्न दिखाई पड़ता है। भोट भाषा के अनुवाद से इस प्रकार के असंलग्न पाठों की संगति लगाई जा सकती है। इस विषय के दो-तीन निदर्शन यहाँ

(2) **द्वितीय सूत्र**—पदों में कहीं-कहीं प्रकृतियाँ तो संस्कृत की मिल जाती हैं पर प्रत्यय असंस्कृत के होते हैं। असंस्कृत से अभिप्राय पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से भी है तथा उन बोलियों से भी है जिनका लिखित साहित्य नहीं है, पर जिनकी कल्पना की जा सकती है। यथा **प्रासादि**, **धर्मोच्चयि**, **सुधर्मसिंहासनि**। इनकी प्रकृतियाँ प्रासाद, धर्मोच्चय, सुधर्मसिंहासन तो संस्कृत की हैं पर इनके अंग के साथ सुन पड़ने वाला इकार संस्कृत में नहीं सुनाई पड़ता। ये सब रूप सप्तमी विभक्ति के हैं। संस्कृत में प्रासादे, धर्मोच्चये, सुधर्मसिंहासने आदि एकारांत रूप होते हैं। इसी प्रकार **उपविष्टान**, इस पद में प्रकृति उपविष्ट तो संस्कृत की है। प्रत्यय परंतु संस्कृत का नहीं है। संस्कृत में रूप उपविष्टानाम् होगा जो कि षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है। इसी प्रकार **सत्त्वेभि** पद में प्रकृति सत्त्व संस्कृत की है। प्रत्यय एभि का उद्‌भव वैदिक एभिः है पर यहाँ पालि अथवा प्राकृत के संसर्ग से आया हुआ है। क्रियापदों की भी यही दशा है। यथा—अभूषि। यहाँ प्रकृति भू तो संस्कृत की है पर प्रत्यय षि संस्कृत का नहीं है। अभूषि पद की तुलना हम पालि भाषा के अहोसि से जैसे-तैसे कर सकते हैं पर वह संस्कृत के अभूत् से बहुत दूर है, यह पद अद्यतनी (लुङ्) का है और अपने आप में अद्वितीय है।

(3) **तृतीय सूत्र**—पदों में कहीं-कहीं संस्कृत के प्रत्यय होते हुए भी प्रकृतियाँ सर्वथा संस्कृत की नहीं होतीं। यथा-सम्प्रजानम्। इसमें प्रत्यय तो नपुंसक लिंग की प्रथमा विभक्ति का (म्, अम्) है पर प्रकृति सम्प्रजान संस्कृत की नहीं है। इसका सम्बन्ध संस्कृत के ज्ञा-धातु से अवश्य है पर रूप पालि के संपजान से मेल खाता है। इस प्रकार की नाम-प्रकृतियों तथा आख्यात-प्रकृतियों का बहुत कुछ परिचय महाव्युत्पत्ति के अनुशीलन से हो सकता है।[1]

सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः	सभाग्यदेवैः परिवारित ऋषिः
संबोधिसत्त्वभि महायशोभिः ॥34॥	संबोधिसत्त्वैर्महायशोभिः ॥34॥
तत्रोपविष्टान अभूषि चिंता	तत्रोपविष्टानाम् अभूत् चिंता
कतमत्कुलं शुद्ध सुसंप्रजानं	कतमत् कुलं शुद्धं सुसंप्रज्ञानम्।
यद् बोधिसत्त्वे प्रतिरूप जन्मे	यद् बोधिसत्त्वस्य प्रतिरूपं जन्मनि
मातापिता कुत्र च शुद्धभावाः ॥35॥	मातापितरौ कुत्र च शुद्धभावौ ॥35॥

1. अमेरिका की येल-यूनिवर्सिटी के अध्यापक फ्रैंकलिन् एड्जेर्टन महोदय ने इस क्षेत्र में बहुत श्रम किया है। इस प्रकार की सामग्री का उन्होंने अपने ग्रंथद्वय **बुद्धिस्ट हाइब्रिड् संस्कृत ग्रामर् ऐण्ड डिक्शनरी** में संकलन किया है। इन दोनों ग्रंथों के उल्लेख के प्रसंग में बु० हा० सं० ग्रा० तथा बु० हा० सं० डि० इन दो संक्षेपों का प्रयोग किया गया है।

3. ललितविस्तर का हिन्दी-अनुवाद

ललितविस्तर ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद हो जाना महायान सम्मत तथागत की जीवनी का ज्ञान करने के लिए बहुत आवश्यक है। अगले पृष्ठों में गद्यांश तथा पद्यांश दोनों का ही अनुवाद किया गया है। पर गद्य भाग को मूल में नहीं दिया गया है। मेरे विचार से गद्यभाग वस्तुतः एक प्रकार की अर्थ-कथा है, जो मूल गाथाओं के आधार पर है। ग्रन्थ का मूल भाग वस्तुतः गाथाएँ ही हैं। अतः जहाँ गाथाएँ हैं वहाँ गाथाओं को देकर अनुवाद किया गया है। टिप्पणियों में मुख्य रूप से भोटभाषा के आधार पर उचित पाठों को सुझाया गया है। भोटभाषा के पाठों को नागरी अक्षरों द्वारा प्रकट किया गया है। यहाँ जो अनुलिपि-रीति स्वीकार की गई है उसे भोट वर्णमाला के क्रम से यों जानना चाहिए—

क	ख	ग	ङ
च	छ	ज	ञ
त	थ	द	न
प	फ	ब	म
च़	छ़	ज़	व
श़	झ़ (क्ष)	ह़	य
र	ल	श	स
ह	अ		

भोट वर्णमाला में ये ही तीस अक्षर हैं। अकार में मात्रा लगाने से सब स्वर पाँच हो जाते हैं अ अि अु अे ओ। च़ छ़ श़ झ़ ह़ ये पाँच ध्वनियाँ हिंदी भाषियों के लिए नूतन हैं। चकार का ही दंत्य उच्चारण च़ है। इसी प्रकार छकार का दंत्य उच्चारण छ़ है। शकार का ही मूर्धा से संसृष्ट उच्चारण श़ है। ज़ तथा झ़ दोनों में भेद केवल अल्पप्राण के और महाप्राण का है। आज की भोटभाषा में शब्द का स्वरूप जैसे लिखा जाता है, वैसे उसका उच्चारण नहीं किया जाता अथवा यों कहिए कि उच्चारण का लेखन से सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं रहा है। पर यहाँ भोट ग्रंथों में जैसा लिपिन्यास है, नागरी में भी लिपिन्यास वैसा ही किया गया है। आज का भोटभाषा-भाषी उसे कैसे बोलता है, यह प्रश्न यहाँ प्रसंग से बाहर है। अनुवाद में लेफ्मन् साहब द्वारा संस्करण किए हुए ललितविस्तर[1] के पृष्ठ का निर्देश कोष्ठक में दो तिर्यक् रेखाओं के बीच यों किया गया है—(-2-) अर्थात्

---

1. Lalita-Vistara, By Dr. S. Lefmann, Halle 1902, 1908.

देना प्रसंगानुकूल रहेगा। देवलोक की अनित्यता बतलाने के लिए लेफ्मन् साहब के संस्करण (पृ० ३७) पर पाठ है—

न तरङ्गतुल्यकल्पाः

इस पाठ से अनित्यता का बोध नहीं होता। यदि केवल तरङ्गतुल्यकल्पाः पाठ होता तो अनित्यता का चित्र मन में अवश्य आता, पर यहाँ इसके साथ एक न भी लगा हुआ है, जो अनित्यता का नहीं प्रत्युत् स्थिरता की ओर संकेत करता है। पर भोटानुवाद में जो पाठ है उसके अनुसार यहाँ पाठ यों होना चाहिए—

नटरङ्गतुल्यकल्पाः

नटरङ्ग (भोट, गर् ग्यि स्तद् मो) जो शुद्ध पाठ था वह सम्भवतः लेखक के प्रसाद से **नतरङ्ग** हो गया अर्थात् मूर्धन्य टकार के स्थान में दन्त्य तकार होने से विरूप हो गया। अनंतर आधुनिक सम्पादक की पदच्छेद–प्रणाली से **न** पृथक् हो गया और **तरङ्ग** पृथक्। **तरङ्ग** शब्द नटरङ्ग के **टरङ्ग** का बिगड़ा रूप है, इसका अनुमान करना सहज कार्य नहीं। यदि कोई अनुमान करता भी तो भी उस पर विवेचक शायद ही विश्वास करते। पर भोटानुवाद से सहारा मिलता है। और शुद्ध पाठ तक पहुँचने का मार्ग सरल हो जाता है। इसी प्रकार—

अपि न कल्पाः (पृष्ठ 36)

भोट भाषानुसार स्वप्नकल्पाः है, जो इस बात को बतलाता है कि पाठांतर में सुपिनकल्पाः पाठ ठीक था। पर उस पाठ की उपेक्षा लेफ्मन् साहब ने भी की तथा वैद्य महोदय ने भी। इस स्थान पर भोट पाठ मि ह्.म् ह्.द्र ब स्ते (=स्वप्नकल्पाः) न होता तो मूल पाठ तक पहुँचना संभव न हो पाता। अस्तु, अपि न कल्पाः यह पाठ वस्तुतः

सुपिनकल्पाः (= स्वप्नकल्पाः)

है। इसी प्रकार भोटाभाषांतरानुसार मुद्रित ग्रंथ का पाठ

अपूर्वशुभसञ्चयं (पृष्ठ 36)

केवल—

पूर्वशुभसञ्चयं

है। **अ** का न होना ही अर्थ के अनुकूल है। पर **अ** आया कहाँ से। मेरे विचार से बौद्धभाषा में प्रयुक्त पदालङ्कार स का यह लेखक के प्रमाद से आया पाठ है। **स चेत्** इत्यादि में जैसे **स** पदालङ्कार है वैसे ही यहाँ पर भी होगा।

(–2–) इस अंक के अनन्तर दूसरे पृष्ठ का आरम्भ होता है। भोटानुवाद के पत्रों का उल्लेख नर्-थङ् संस्करण के अनुसार हैं। पत्राङ्क दोनों ओर से दो-दो तिर्यक् रेखाओं के बीच रखे गये हैं। यथा— = 2ख =, = 3क = इत्यादि। अंकों के साथ क से अभिप्राय पत्र के प्रथम पृष्ठ से ख से अभिप्राय पत्र के द्वितीय पृष्ठ से है। जिन शब्दों पर टिप्पणियाँ हैं उनके अनन्तर अंक हैं तथा अंकों के अनन्तर अर्धकोष्ठक हैं। यथा—1) 2) 3) इत्यादि।

मैं अपने इस कार्य को विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें कोई भूल-चूक न होगी, यह प्रतिज्ञा करना सम्भव नहीं है। हाँ, मनीषियों से सुझावों को मैं सिर-माथे लूँगा, बस इतना ही निवेदन कर, मैं उनसे तथागत के इस ललित-चरित्र के पढ़ने का अनुरोध करता हूँ।

शांतिभिक्षुशास्त्री

विषय-सूची

●

॥ १ ॥

॥ निदानपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ	१–७ (पंक्ति १७)
भोटानुवाद	१ ख–८ख (पंक्ति ५)

2

॥ १ ॥

॥ निदानपरिवर्त ॥

॥ ओं नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ॥

ओं नमो दशदिगनन्तापर्यन्तलोकधातुप्रतिष्ठितसर्वबुद्धबोधिसत्त्वार्यश्रावकप्रत्येकबुद्धेभ्योऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नेभ्यः ।

1. ऐसा मैंने सुना । एक समय भगवान् श्रावस्ती में विहरते थे । जेतवन में = 2क = अनाथपिंडक के आराम में बारह सहस्र भिक्षुओं के महान् भिक्षुसंघ के साथ । उन बारह सहस्र भिक्षुओं में प्रधान भिक्षु इस प्रकार थे—आयुष्मान् आज्ञातकौंडिन्य[1], आयुष्मान् अश्वजित्, आयुष्मान् बाष्प, आयुष्मान् महानाम, आयुष्मान् भद्रिक, आयुष्मान् यशोद[2], आयुष्मान् विमल, आयुष्मान् सुबाहु, आयुष्मान् पूर्ण, आयुष्मान् गवांपति, आयुष्मान् उरुविल्वकाश्यप[3], आयुष्मान् नदीकाश्यप, आयुष्मान् गयाकाश्यप, आयुष्मान् शारिपुत्र, (= 2ख =) आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान् महाकात्यायन, आयुष्मान् महाकप्पिन[4], आयुष्मान् महाकोष्ठिल[5], आयुष्मान् चुन्द[6], आयुष्मान् पूर्णमैत्रायणी-

---

ललित-विस्तर टिप्पणी ॥ १ ॥ निदान परिवर्त

1. मूल में पाठ, ज्ञानकौण्डिन्य भोट में, **कुन् शेस् कौण्डिन्य** (= आ-ज्ञात कौण्डिन्य) । तुलनीय पालि, **अञ्ञातकोण्डञ्ञ** ।
2. मूल में, यशोदेव । भोट में, **ग्रग्स्-स्ब्यिन्**, यशोद, यश देने वाला ।
3. मूल में विल्व के स्थान पर विल्वा पाठ लिपिकर का प्रमाद है ।
4. मूल में कफिल-भोट में कपिन छेन् पो (महा कपिन) पालि में सुप्रसिद्ध पाठ कप्पिन है ।
5. मूल में, कौण्डिन्य है । यह स्पष्ट ही लिपिकर का प्रमाद है । भोट में, **गसुस् पो छे**, महाकोष्ठिल (अर्थात् बड़े पेट वाला) पाठ है । यही पाठ उचित है ।
6. मूल में चुन्द के स्थान पर चुनन्द प्रामादिक पाठ है । भोट में, **स्कुल् ब्येद**, प्रेरणादायक पाठ है । इससे चुन्द शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है—चुद् + द = चुद्द अर्थात् प्रेरक । मुखसुखार्थ चुद्द के स्थान पर चुन्द कर डाला गया है ।

पुत्र, आयुष्मान् अनिरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिक, आयुष्मान् कौशिक[7], आयुष्मान् सुभूति, आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् (–2–) खदिर वनिक, आयुष्मान् अमोघराज, आयुष्मान् महापारणिक[8], आयुष्मान् बकुल[9], आयुष्मान् नन्द, आयुष्मान् राहुल, आयुष्मान् स्वागत तथा आयुष्मान् आनन्द ।

2. (= 3क =) साथ में बत्तीस सहस्र बोधिसत्त्व थे । सब के सब केवल एक जन्म के बन्धन से बँधे थे, अखिल बोधिसत्त्व-पारमिताओं को पूरा करके समुत्पन्न हुए थे, बोधिसत्त्वों की सम्पूर्ण एवं व्यापक समझ-बूझ के खिलाड़ी थे [9क], बोधिसत्त्वों की धारणी[10], (विषयक) सर्वविधप्रतिभान के धनी थे [9क], सकल बोधिसत्त्व-धारणियों को प्राप्त किये हुए थे, बोधिसत्त्व होने के लिए किये गये सब प्रणिधान अर्थात् संकल्प परिपूर्ण कर चुके थे, बोधिसत्त्वों की सब प्रतिसंविदाओं[11], की गति जानते[12] थे, बोधिसत्त्वों की सकल समाधियों के स्वामी[13]

---

7. मूल का पाठ कस्फिल प्रामादिक है । भोट पाठ ह्रुग् प, कौशिक (अर्थात् उलूक) उचित है ।
8. महापारणिक यह नाम अन्यत्र बौद्ध ग्रन्थों में नहीं प्राप्त है ।
9. बकुल यह भोटानुसार पाठ है । मूल में ववकुल है ।

9क····9क यह वाक्य भोट में अगले वाक्य के पश्चात् है । धारणीप्रतिभान के स्थान पर केवल स्पोब्स् प, प्रतिभान पाठ है ।

10. धारणी, एक प्रकार के मंत्र, जो महायान तथा वज्रयान संप्रदाय में प्रचलित हैं । इनकी तुलना शैव तथा शाक्त संप्रदाय के मंत्रों से की जा सकती है । वाक्य में अर्थ-संगति तथा पदों में अक्षर-संगति न धारणियों में ही दीखती है न तांत्रिक मंत्रों में ही । द्रष्टव्य तुलसीदास के वचन—"कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा । साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा ।। अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ।।"
11. मूल पाठ प्रतिसम्यङ् स्पष्ट ही प्रामादिक है । भोट पाठ है—सो सो यङ् दग् पर्-रिग् प, प्रतिसंविद् अथवा प्रतिसंविदा । प्रतिसंविदा विशेष प्रकार के बोध का नाम है । इसके चार भेद हैं—धर्मप्रतिसंविद्, अर्थप्रतिसंविद्, निरुक्तप्रतिसंविद्, प्रतिभानप्रतिसंविद् ।
12. मूलपाठ है गतिंगत । भोट में खोङ् दु छुद् प है । विचक्षण, निपुण, पंडित आदि इसके पर्याय हैं ।
13. मूल शब्द वशिताप्राप्त, वश में लाने की शक्ति को पाया हुआ । इस शब्द के अभिप्राय को स्वामी तथा उसके पर्यायों से व्यक्त कर सकते हैं ।

थे, बोधिसत्त्वों के अखिल ऐश्वर्य[14] प्राप्त कर चुके थे, बोधिसत्त्वों की विश्व (-व्यापक) क्षमा में व्याप्त[15] थे, सभी बोधिसत्त्व-भूमियाँ[16] = 3ख = परिपूर्ण कर चुके थे। बत्तीस सहस्र बोधिसत्त्वों में प्रमुख बोधिसत्त्व इस प्रकार थे— बोधिसत्त्व महासत्त्व मैत्रेय, बोधिसत्त्व महासत्त्व धारणीश्वरराज[17], बोधिसत्त्व महासत्त्व सिंहकेतु, बोधिसत्त्व महासत्त्व सिद्धार्थमति, बोधिसत्त्व महासत्त्व प्रशान्त-चारित्रमति, बोधिसत्त्व महासत्त्व प्रतिसंविल्प्राप्त, बोधिसत्त्व महासत्त्व नित्योद्युक्त तथा बोधिसत्त्व महासत्त्व महाकरुणाचित्त।[18]

3. उस समय भगवान् श्रावस्ती नगरी को आश्रय करके विहरते थे। वहाँ चार परिषदें भगवान् का सत्कार करती थीं, गौरव करती थीं, मान करती थीं तथा पूजा करती थीं। (वे चार परिषदें थीं—) राजाओं की, राजकुमारों की, राजाओं के मंत्रियों की, राजाओं के महामात्रों[19] की; राजाओं के चरण-मूल में बैठने वाले[20] क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति, अमात्य तथा परिचारकों[21] की, नागरिकों

---

14. मूल शब्द वशिता (= वश में लाने का सामर्थ्य)। ऐश्वर्य शब्द का प्रयोग ठीक उसके अक्षरार्थ ईश्वरत्व-स्वामित्व की दृष्टि से किया गया है।

15. मूल शब्द है अवकीर्ण, फैला हुआ, बिखरा हुआ।

16. बोधिसत्त्वभूमि = बोधिसत्त्वता को पूर्ण करने के विविध योग। द्रष्टव्य महायान पृ० 48-49।

17. मूल पाठ। धरणीश्वरराज। भोट पाठ, ग्ज़ुङ्स् क्यिद् वङ् फ्युग्-ग्यल् पो, धारणी-ईश्वर-राज।

18. मूल में महाकरुणाचन्द्रिन्। भोट में स्निङ् जे-छेन् पो-सेम्स् द्पह., महाकरुणा-चित्तं। यह पाठ ही उचित है।

19. महामात्र = बड़े-बड़े राजकीय अधिकारी। यही अर्थ यहाँ ठीक जान पड़ता है। अक्षरार्थ महा (बड़ी) मात्र (मात्रावाला) है। मनुस्मृति (2/259) में इस शब्द का अर्थ कुल्लूकभट्ट ने हस्तिशिक्षाजीविन् किया है। भोट में छ्गस् ह्दोग् गि-ग्र्यल् फ्रन्, अनुराग अवनत सामन्त पाठ है। वह राजमहामात्र इस मूल के पाठ से हीन नहीं है।

20. मूल के राजपाद-मूलिक इस पाठ का यह अर्थ है। भोट पाठ गर्यल् पोहि.-शब्स् ह.-ब्रिद् प, राजपादलालित है।

21. मूल पाठ, पार्षद्य भोट पाठ ह.-खोर् गि्य मि, चारों ओर के लोग, परि-(षद् –) जन, परि-जन।

और ग्रामीणों की[22], अन्य[23] मतानुगामी[24] = 4क = श्रमण, ब्राह्मण, चरक[25] तथा परिव्राजकों की। भगवान् प्रचुर खाद्य, भोज्य तथा आस्वाद्य (पदार्थों) के, धर्मविहित चीवर, पिंडपात[26], (–3–) शयन, आसन, ग्लानप्रत्यय[27], भैषज्य, तथा परिष्कारों [28] के लाभी थे। लाभों में परम लाभ, यशों में परम यश पाये हुए भगवान् सब स्थानों पर जल में कमल की भाँति निर्लेप रहते थे। भगवान् की उदार कीर्ति, (भगवान् का) उदार नाम, (भगवान् का) उदार यश लोक में (इस प्रकार) उन्नति पर था—भगवान् अर्हत् हैं, सम्यक् संबुद्ध हैं, विद्या-संपन्न तथा (आ) चरणसंपन्न[29] हैं, सुगत हैं, लोकविद् हैं, पुरुष को दान्त बनाने में श्रेष्ठ सारथि हैं, देवताओं और मनुष्यों के शास्ता-धर्मानुशासनकर्ता हैं, पंच चक्षुओं[30] से युक्त बुद्ध हैं। वे इस लोक तथा पर लोक को देवता सहित, मार-

---

22. मूल पाठ, पौरजानपद। पौर = नागरिक, जानपद = जनपद का, ग्रामीण।

23. अन्य यह शब्द भोटानुवाद में नहीं है।

24. मूल में, अन्य-तीर्थिक शब्द है। शब्दार्थ है अन्य-तीर्थ (= अन्य-गुरु) वाला। भोट में **मु स्तेगस् चन्**, तीर्थिक पाठ है। पालि तित्थिय से इसका संवाद है, सभी अबौद्धों के लिए इसका प्रयोग होता है।

25. चरक यह शब्द पालि में अप्रसिद्ध है। इस तापस-संघ के विषय में विशेष जानकारी नहीं हो पाई है। भोट में **स्प्योद् प प** (= चर्या वाला चरक) पाठ है। इसके शोधन का यत्न **द्प्योद् प प** (= मीमांसक) किया गया है (द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृ० 225)।

26. मूल पाठ पिण्डपात्र प्रामादिक है। भोट पाठ ब्सोद् स्ञोम्स् (= उत्तम-भिक्षा) है, जो पिण्डपात शब्द का शिष्ट भोट भाषा में अनुवचन है।

27. ग्लानप्रत्यय = रोगिपथ्य।

28. परिष्कार यह शब्द भिक्षुओं के उपयोग की वस्तुओं के लिए रूढ़ शब्द है।

29. भोट में चरण का अनुवाद **शब्स्** (= पाद, पैर) अत्यन्त यथारुत है। यहाँ चरण शब्द सामान्यतया सदाचार का वाचक नहीं है प्रत्युत कुछ गिने हुए आचारों और ध्यानों के लिए सांकेतिक शब्द है। द्रष्टव्य विसुद्धिमग्ग 6/39। इन ध्यानों तथा आचारों द्वारा यतः चलना होता है, अतः साधना-मार्ग में इन्हें चरण कहा गया है।

30. पंचचक्षु अर्थात् मांसचक्षु, दिव्यचक्षु, प्रज्ञाचक्षु, धर्मचक्षु, बुद्धचक्षु, (बु० हा० सं० डि०, पृ० 221)।

सहित, ब्रह्मा-सहित[31], (तथा इस) प्रजा को श्रमण-ब्राह्मण सहित, देवमनुष्यसहित[31] स्वयं = 4स = जानकर, साक्षात् कर, करतलगत कर[32] विहरते हैं । वे आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण, पर्यसान में कल्याण, सु-अर्थ (शोभनार्थक) सु-शब्द, केवल (अर्थात् अमिश्रित) वा असंकर) परिपूर्ण, परिशुद्ध, पर्यवदात (अर्थात् उज्ज्वल) [सद्-] धर्म का उपदेश करते हैं । सम्यक् प्रकार से ब्रह्मचर्य का प्रकाश करते हैं ।

4. [33]उस समय भगवान् को रात के बिचले पहर में बुद्धालंकारव्यूह नाम की समाधि लग गई । बुद्धालंकारव्यूह नाम की समाधि लगने के अनन्तर ही, उस अनन्तर क्षण में ही, भगवान् के मस्तक के ऊपर बीच में[34], उष्णीष-विवर[35] के भीतर से पूर्वबुद्धानुस्मृति-असंग ज्ञानालोक-अलंकार[36] नाम की

31····31. मूल में है—सश्रमणब्राह्मणीन् प्रजान् सदेवमानुषान् । इस वाक्यांश में विशेष्यपद प्रजा है, जिसका यहाँ पुल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ है । इस विशेष्य के पूर्व में भी एक विशेषण है तथा परे भी एक विशेषण है । भोट में पहले विशेषण को प्रजा से पूर्व रखने के लिए उसे षष्ठी विभक्ति के द्वारा जोड़ कर परवर्ती विशेषण को बाद में रखा है । भोट में विशेषण सर्वदा बाद में आता है । पहले लाना हो तो उसे षष्ठ्यन्त कर देते हैं । भोट में अनूदित वाक्यांश यों है—द्गे स्व्योङ् बङ् ब्रम् ज़े ब्चस् पही स्क्येय् द्गु ल्ह द्ङ् मिर् ब्चस् प दग् ।

32. भोट, जे बर् ब्स्ग्रुब्स् ते ठीक संस्कृत के उपसंपद्य का अक्षरानुवाद है, जिसका अर्थ है—सिद्ध कर, प्राप्त कर इत्यादि । विज्ञाय तथा साक्षात्कृत्य (= जानकर तथा साक्षात्कार कर) तथा उपसंपद्य ये तीनों पर्याय हैं तथापि शब्द-भेद से उन में सूक्ष्म अर्थ-भेद है ही ।

33. किसी भी महायान सूत्र-ग्रन्थ में इस प्रकार का वर्णन अतिशयोक्ति नहीं माना जाता ।

34. मूल में, संधौ । यहाँ संधि शब्द मध्य के अर्थ में है ।

35. यहाँ उष्णीष (= पगड़ी, शिरोवेष्टन) यह शब्द अपने अक्षरार्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है । यह बुद्ध प्रतिमादृष्ट मस्तक के ऊपर के उच्च शिरोभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

36. भोट में अलंकार यह शब्द नहीं है । यहाँ मूल का अशुद्ध पाठ असङ्गा-ज्ञानालोक भोटानुवाद छग्स् प मेद् पहि् ये शेस् स्नङ् व (= असंग-ज्ञान-आलोक) के अनुसार शुद्ध कर दिया गया है ।

किरण निकली। उसने शुद्धावास देवलोकों को प्रकाशमान कर, देवपुत्र महेश्वर[37] जिनमें प्रमुख थे, ऐसे अप्रमेय (अर्थात् जिनका जानना मनुष्य के लिए संभव नहीं, इस प्रकार के), देवपुत्रों का प्रबोधन[38] किया। तदनन्तर तथागत के किरणजाल से[39] ये प्रबोधन गाथायें[40] निकलीं—

ज्ञानप्रभं हन्ततमसं प्रभाकरं
शुभ्रप्रभं शुभविमलाग्रतेजसम्।
प्रशान्तकायं शुभशान्तमानसं
मुनिं समाश्लिष्यत शाक्यसिंहम् ।।1।।[41]

ज्ञान की प्रभावाले (अज्ञान—) अन्धकार के नाशद्वारा (ज्ञान रूपी) प्रकाश के करने वाले[42], देदीप्यमान छवि वाले[43], भव्य[44], निर्मल तथा उत्तम तेज वाले, प्रशान्त (अर्थात् अचंचल) काय वाले, शुभ तथा शान्त (अर्थात् चंचलता रहित) चित्त वाले मुनि शाक्यसिंह के समीप जाओ[45]।

37. महेश्वर शब्द का (यहाँ तथा आगे) संभवतः शिव की इस सूत्र-रचना के काल में दृष्ट दृढ़ प्रतिष्ठा का सूचक है।

38. अति निकट यथारूतानुवाद प्रेरणा होगा।

39. मूल में निश्चार्य (=निकाल कर) पद अधिक है तथा निरर्थक जान पड़ता है। यह भोटानुवाद में नहीं है।

40, निकटतम यथारूतानुवाद प्रेरणागाथा (मूल में संचोदना गाथा)।

41. इस गाथा में द्वादशाक्षरी जगती जाति का वृत्त है। पूर्वार्ध में स्वल्प विपर्यास के साथ इन्द्रवंशा (त त ज र) तथा उत्तरार्ध में वंशस्था (ज त ज र) वृत्त है।

42. मूल का **हन्ततमसं प्रभाकरं** यह वाक्यांश वस्तुतः एक पद है। तमसं में दिखलाई देने वाला अनुस्वार वस्तुतः मुखसुखार्थ आगम है। तमस यह अकारान्त प्रयोग मध्यभारती के अनुकूल है। हन्त (हन् + त) यह प्रयोग भी उसी प्रकार का है। एवं यह सम्पूर्ण पद मध्यभारती की दृष्टि से ठीक है। संस्कृत में इसकी छाया 'हततमः प्रभाकरम्', करनी होगी। हन्ततमसं को पृथक् पद मान कर भी अर्थ किया जा सकता है।

43. शुभ्र शब्द का अनुवाद शुक्ल न करके यहाँ प्रसंगानुसार देदीप्यमान किया गया है। भगवान् का वर्ण श्वेत नहीं था प्रत्युत सुनहला था। द्रष्टव्य, अमरकोष, शुभ्रमुद्दीप्तशुक्लयोः।

44. शुभ मूल में है। इसका अनुवाद पर्यायवाचक भव्य शब्द शब्द से किया गया है। यह शब्द भोट में नहीं है।

45. मूल में समाश्लिष्यत (=चिपक जाओ) है।

ज्ञानोदधिं शुद्धमहानुभावं
धर्मेश्वरं सर्वविदं मुनीशम् ।
देवातिदेवं नरदेवपूज्यं
धर्मे स्वयम्भुं वशिनं श्रयध्वम् ॥2[4]॥[6]

ज्ञान के समुद्र, शुद्ध तथा महान् अनुभाव (अर्थात् प्रभाव)[47] वाले, धर्म के अधिपति, सर्वज्ञ = 5क = , मुनीश, देवातिदेव[48], मनुष्य तथा देवताओं के पूज्य, धर्म में स्वयंभू[49], वशी (अर्थात् जितेन्द्रिय) शाक्यसिंह का आश्रय ग्रहण करो ।

यो दुर्दमं चित्तमवर्तयद् वशे
यो मारपाशैरवमुक्तमानसः ।
यस्याप्यबन्ध्याविह दर्शनश्रवा-
[50]स्त्यद्यान्ततः शान्तविमोक्षपारगः[50] ॥3॥[51]

---

46. एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् जातीय वृत्त, इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग) ।

47. द्रष्टव्य, अमरकोष—अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये । अनुभाव = (1) प्रभाव (2) सज्जनों का ज्ञाननिश्चय ।

48. देवातिदेव का दूसरा पर्याय देवाधिदेव है । इसका अर्थ है—देवताओं में श्रेष्ठ, उच्च अथवा महान् देवता । बुद्ध, विष्णु तथा शिव तीनों के लिए इसका प्रयोग होता है ।

49. स्वयंभू यह शब्द तथागत की धर्म-विषयक मूलभूत प्रेरणा का द्योतक है । धर्म में तथागत स्वयं-भू हैं, वे अन्य-भू नहीं हैं ।

50····50. यह पाद कठिनता से समझ में आने वाला है । मूल का मुद्रितपाठ **स्त्ययान्ततः शान्तविमोक्षपारगः** है । यहाँ पूर्व पद के पाठ को विच्छिन्न करके देखें तो **स्ति-अय-अन्ततः** ये तीन पद दिखलाई देते हैं । उनमें **स्ति** निश्चय ही **अस्ति** है । अकार या तो दर्शनश्रवा के अन्तिम आकार में संधिवश विलीन हो गया है, या फिर यह प्रयोग ही यहाँ पर अकार-रहित **अस्ति** का है । **अय** स्पष्ट ही **अद्य** है, क्योंकि भोट-भाषान्तर में **देङ्** (अद्य, आज) शब्द इसी अर्थ का वाचक दिखलाई पड़ता है । **अन्ततः** (समीप, निकट, पास, पास में) भी भोट-भाषान्तर में **द्रुङ् दु** (= निकटे, समीपे) के रूप में दिखलाई देता है । परन्तु इस शब्द का अन्वय किसके साथ हो ? मुद्रित ग्रन्थ में शान्त, इस पद का समास विमोक्षपारगः के साथ किया दिखलाई देता है, जो ठीक नहीं जान पड़ता । इस प्रकार के ग्रन्थ में संस्कृत-व्याकरण का उतना ही अनुसरण किया जा सकता है, जितना कि प्रयोगानुसार उचित जान पड़े । मुझे यहाँ शान्त पद अविभक्तिक षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है एवं

जिसने दुःख से वश में आने वाले चित्त को वश में किया, जिसका मन सार के बन्धनों से छूट चुका है, जिसका दर्शन तथा (जिसके वचनों का) श्रवण भी यहाँ निष्फल नहीं होता,[50] (वह) विमुक्ति में पारंगत आज शान्त (निर्वाण) के समीप[51] (विराजमान) है।

(-4-) आलोक्यभूतं[52] तमतुल्यधर्मं
तमोनुदं सन्नयवेदितारम्।
शान्तक्रियं बुद्धममेयबुद्धिं
भक्त्या समस्ता उपसंक्रमध्वम्[53] ॥4॥[54]

शान्तस्य (=निर्वाणस्य) अन्ततः (=समीपे) अर्थात् शान्त (निर्वाण) के समीप यह अक्षरार्थ हुआ। भोट-भाषान्तर से ऐसा अर्थ करने में सहारा मिलता है। वहाँ है—**शि बहि. द्रुङ् दु** (=शान्तेः समीपे)। समूचे पाद का भोट-भाषान्तर यों है—**नंम् ग्रोल् म्थर् फ्यिन् शि. बहि. द्रुङ् दु-देङ्** (=विमुक्ति-पार-गतः-शान्तेः-समीपे-अद्य)। यहाँ मैंने जिस प्रकार **देङ्** को निपात मानकर (**देङ्** को गमनार्थक आख्यात मान कर नहीं) समझने का यत्न किया है, तदनुसार ही हिन्दी में अनुवाद है। प्रोफेसर फ्रान्क्लिन् एड्जेर्टन् ने अपने कोश (बु० हा० सं० डि०) में **स्त्ययान्ततः** पद केवल अव्याख्येय कह कर छोड़ दिया है। परन्तु उनका यह कहना कि भोटभाषा में बिना अनुवाद किये ही इसे बिलकुल छोड़ दिया गया है, किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। उन्होंने **योऽयं ततः** यह शोधन भी उपस्थित किया है परन्तु वह उन्हीं के शब्द में पोथी से दूर का पाठ है। मैंने मूल पाठ में भोट-भाषान्तर के साक्ष्य पर **य** के स्थान पर **द्य** किया है। एक अक्षर का यह शोधन पोथी के समीपतम है, इन्द्रवंशा छन्द के अनुकूल है तथा ठीक अर्थ का उपस्थापक है। लेख में **य** तथा **द्य** का व्यत्यास संभव है।

---

51. जगतीजातीय, द्वादशाक्षरी वृत्त, इन्द्रवंशा (त त ज र)।
52. मूलपाठ **आलोक्यभूत** स्पष्ट ही यहाँ **आलोकभूत** के अर्थ में है। भोट पाठ **स्नङ् बर् ग्युर् प स्ते** (आलोकभूत, प्रकाशभूत) ही है।
53. इस पाद में समस्ता यह पद प्रथमा विभक्ति का है। यह प्रथमा विभक्ति अथवा विभक्ति-हीनता यहाँ तृतीया विभक्ति के अर्थ में है। शुद्ध संस्कृत में भक्त्या समस्तया उपसंक्रमध्वं इस प्रकार यह पाद होना चाहिए। परन्तु छन्दोभंग दूर करने के लिए **या** विभक्ति का यकार हटाकर शुद्ध मूलरूप में दिखलाई पड़ने वाली **आ** विभक्ति का प्रयोग किया गया है। एवं विभक्ति-हीन अथवा प्रथमा विभक्ति में दिखलाई देने वाला यह प्रयोग वस्तुतः तृतीया

उन प्रकाश रूप[52], अनुपम धर्म वाले, अन्धकार के विनाशक, सम्यक् न्याय के जानकार, शान्तिमयी चर्या वाले, माप में न आने वाली बुद्धि के धनी, बुद्ध के समीप, पूर्ण भक्ति से[55] पहुँचो[53]।

स वैद्यराजोऽमृतभैषजप्रदः
स वादिशूरः कुगणिप्रतापकः।
स धर्मबन्धुः परमार्थकोविदः
स नायकोऽनुत्तरमार्गदेशकः ॥5॥[56]

वे (भगवान् बुद्ध) अमृतरूपी भैषज्य के देने वाले वैद्यराज हैं, वे[57] कुपन्थ के गणों का शासन करने वालों के तापदायक[57] वादियों में शूर हैं, वे परमार्थ के जानकार धर्म के बन्धु हैं, वे लोकोत्तर मार्ग के उपदेशक हैं।

5. उस बुद्धानुस्मृति-असंगज्ञानालोक[58] (नाम की) किरण का स्पर्श पाने के साथ-साथ[59] तथा इस प्रकार की इन गाथाओं से प्रेरणा पाने के साथ-साथ[59]

विभक्ति का है। भोट पाठ **समस्ता** नहीं है प्रत्युत **प्रशस्ता** है—**म्छोग् गिस्** (=वरया, श्रेष्ठया, प्रशस्तया, उत्तमया इत्यादि)।

54. एकादशाक्षरी उपजाति वृत्त। उपजाति भेदों से यह वाणी **उपजाति है** (इन्द्र०—उपेन्द्र०—इन्द्र०—इन्द्र०)।

55. **पूर्णभक्ति से** यह अनुवाद मूल के **भक्त्या समस्ता** का है, जिसके व्याकरणपक्ष का पीछे टिप्पणी 53 में विवेचन है। भोट-भाषान्तर के अनुसार अनुवाद **उत्तम भक्ति से** इस वाक्यांश द्वारा करना होगा।

56. द्वादशाक्षरी वंशस्थावृत्त (ज त ज र)।

57····57. यह मूल के **कुगणिप्रतापकः** का अनुवाद है। कुगणि = कु (**कुत्सित**) गणि (गणवाला)। यह शब्द यहाँ बौद्धेतर उन गणों तथा संघों के नायकों के लिए है, जो तथागत के समय विद्यमान थे तथा जिनकी परम्परा पुरानी थी। पुराने होने के कारण ही उनमें धर्म के वे उत्तम आदर्श न थे, जिनकी तथागत ने प्रतिष्ठा की थी। यहाँ उनकी यातयामता (वासीपने) को ही **कु** इस निपात से प्रकट किया गया है।

58. तुलनीय भोट् पाठ **छग्स् मेद् पहि. ये शेस्-स्नङ् बहि.** (असंग-ज्ञान-आलोक)। मूल में **ज्ञान** के स्थान में। **ज्ञान** (=अज्ञान) पाठ है। देखिये टिप्पणी 26 इसी परिवर्त में।

59. मूल में समनन्तर है, भोट में '**म थग् तु**' ठीक-ठीक संस्कृत का उल्था है। इसे हिन्दी में ज्यों ही अथवा साथ-साथ शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता

वे शुद्धावास कायिक देवपुत्र[60] **सब ओर से प्रशान्त समाधि से जगकर[60] बुद्ध के प्रभाव** से उन भगवान् बुद्धों का अनुस्मरण किया, जो बीते कल्पों में हो चुके हैं, जिन्हें (लौकिक) प्रमाणों से नहीं जाना जा सका, जिनकी संख्या नहीं की जा सकती, जो गणना से दूर पहुँचे हुए हैं। तथा उन भगवान् बुद्धों के जो[61] बुद्ध क्षेत्रों के गुणव्यूह थे, जो पर्षन्मण्डल थे और = 5ख = जो धर्मोपदेश थे, उनका (भी) सबका अनुस्मरण किया।

6. तब उस[62] प्रशान्त हो रही रात में[62] शुद्धावास कायिक देवपुत्र ईश्वर,

---

है। **समनन्तर** का प्रयोग मूल में **स्पृष्ट** शब्द के साथ समास में किया गया है परन्तु केवल प्रथम वाक्य में ही। दूसरे वाक्य में **प्रेरित** के साथ अध्याहार करके यहाँ अर्थ किया गया है। भोट में भोट-व्याकरणानुसार इसका प्रयोग अन्तिम वाक्य में आख्यात के अनन्तर हुआ है।

60....60. मूल में है समन्ततः प्रशान्ताः समाधिव्युत्थाय। भोट में समन्ततः इस पाठ का स्थानापन्न शब्द नहीं है। प्रशान्ताः समाधि व्युत्थाय का अर्थ संस्कृत-व्याकरण से समझ में आना अत्यन्त कठिन है। व्युत्थाय (उठकर औपचारिक प्रयोगानुसार जगकर) आख्यातक को पञ्चम्यन्त कारक की अपेक्षा है परन्तु यहाँ **समाधि** सर्वथैव विभक्ति रहित पद है। **प्रशान्ताः** जिसे समाधि का विशेषण होना चाहिए वह प्रथमा बहुवचन में है। इस पाठ को अशुद्ध कहकर ठुकराया नहीं जा सकता। वस्तुतः जिस प्रकार व्यत्यय-नियम से वेद में काम चलाना पड़ता है उसी नियम से इस बौद्धापभ्रंश का, जो वस्तुतः संकीर्ण संस्कृत है परन्तु संस्कृत नहीं, काम चलाना होगा। यहाँ पंचमी विभक्ति में प्रयोगार्ह विशेष्यपद को बिना विभक्ति के तथा विश्लेषण का जहाँ तक तर्क जाता है पंचमी में प्रयोग किया गया है परन्तु पंचमी का संश्लेषण अनियत है। प्रशान्ता + अस् (पंचमी विभक्ति) = प्रशान्ताः (पाणिनीय संस्कृत में प्रशान्तायाः)। पंचम्यन्त पद मान कर ही यहाँ हिन्दी-अनुवाद किया गया है। भोट यहाँ तुलनीय है—**रब् तु शि बहि, तिङ् ङे ह्-जिन् दे लस्-लङ्स् नस्** (= प्रशान्तायाः समाधेस्तस्याः व्युत्थाय)। समाधि शब्द का स्त्रीलिङ्ग प्रयोग संस्कृत में दुर्लभ है परन्तु भाषा में पाया जाता है।

61....61. जिन लोकों में तथागत स्थित हैं उन्हें बुद्ध क्षेत्र, तथा उन लोकों की विशेषताओं को गुणव्यूह तथा धर्म के श्रोताओं के समाज को **पर्षन्-मण्डल** कहते हैं।

62....62. मूल पाठ है—रात्रौ प्रशान्तायाम्। भोट पाठ है—**नुब् मो मि ञल् चम्**

महेश्वर, नन्द्र, सुनन्द, चन्दन, महित[63], प्रशान्त तथा प्रशान्तविनीतेश्वर[64], ये तथा अन्य अनेकानेक शुद्धावासकायिक देवपुत्र[65] उत्तमोत्तम रंगों के दिव्य प्रकाश से सम्पूर्ण जेतवन को प्रकाशमान कर [65] जहाँ भगवान् थे वहाँ पहुँचे, पहुँच कर भगवान् के चरणों में शिर से वंदना कर एक ओर ठहर[66] गये।

7. एक ओर ठहरे,[66] उन शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने भगवान् से यह कहा। भगवन् ! ललितविस्तर नाम का धर्मपर्याय[67] है, जो महावैपुल्य[68] का संग्रह (–भूत) सूत्रान्त है, बोधिसत्त्वों के कुशलमूल का भलीभाँति उद्‌भावना अर्थात् उपदेश[69] करने वाला है, तुषितलोक के श्रेष्ठ भवन में बुलाने[70], सोच-विचार

(= रात्रौ असुप्तमात्रायाम् अर्थात् रात में जब लोग सो नहीं रहे थे)। यह वाक्यांश आगे भी आयेगा।

63. महित (मह् = पूजा करना + इत = पूजित)। तुलनीय भोट पाठ **मछोद् ब्यस्** (पूजा किया हुआ)।

64. मूल में–**श्व**–के स्थान में–**श्च**–छप गया है। प्रशान्त के अनन्तर प्रशान्त-विनीतेश्वर है। इस स्थान में द्वितीय प्रशान्त संभवतः नाम का अंग नहीं है परन्तु मूल तथा भोट दोनों में वह नामाङ्ग है।

65 ¨ 65. मूल में उत्तमोत्तम के लिए है अतिक्रान्तातिक्रान्त (= उलाँघकर गया-उलाँघकर गया)। यह श्रेष्ठार्थ वाचक है। भोट में **.ह्.फग्स् शिङ् शिन् तु .ह्.फग्स् प दङ् ल्दन् प** है। इस अनुवाद से .ह्.फग्स् इस शब्द की निष्पत्ति **ह्फग् पा** (उद् + नम् अथवा अति + क्रम) इस धातु से है। भोट मूल का ठीक अक्षरानुवाद है। इस वाक्यांश में सम्पूर्ण के लिए मूल शब्द है सर्वावन्तम्। यह शब्द सर्वावत् का, द्वितीया विभक्ति का एकवचन जान पड़ता है, पर है नहीं। नपुंसकलिंग जेतवन के विशेषण के रूप में इसे सर्वावत् ही होना चाहिए। संस्कृत-व्याकरण के आधार पर यही कहा जा सकता है। वस्तुतः यह मध्यमभारती के सब्बावन्त का यावच्छक्यसंस्कृत अनुवचन है। यह सम्पूर्णार्थवाचक शब्द है। तुलनीय भोट **थम्स् चद्** (= सर्व)।

66. मूल, स्थिताः (ठहरे, खड़े हुए)। भोट, **ह्..खोद्** (उपविष्टाः, बैठे)।

67. धर्मपर्याय = धर्मग्रन्थ।

68. महावैपुल्य = अत्यन्त महत्त्व, परम विस्तृत भाव। यह बोधिसत्त्वयान वा महायान का द्योतक है।

69. तुलनीय भोट **स्तन् प** (देशना, उपदेश)।

70. मूल शब्द है—विकिरण भोट है—**.ह्.बोद् प** (आह्वे, बुलाना) विकिरण शब्द कृ धातु से बना है। आ उपसर्ग के साथ इसका अर्थ बुलाना संस्कृत

कर गर्भविक्रान्ति वा गर्भ प्रवेश[71] की लीला तथा गर्भ के स्थान की विशेषताओं का ठीक-ठीक दिखलाने वाला है, अभिजात अर्थात् कुलीन (महापुरुष के) जन्म की भूमि का प्रभाव (कैसा होता है यह) सम्यक् प्रकार से दरसाने वाला है, = 6क = विशेष गुणों में सकल बालचरितों से (बोधिसत्त्व की) अतीतता बतलाने वाला है, लोक से सम्बन्ध रखनेवाले सभी शिल्पविषयों में, कर्मविषयों में, लिपियों में, संख्याओं में, [71+] मुद्रा अर्थात् सामुद्रिकशास्त्र में[72] गणना (अर्थात् व्यक्ताव्यक्तगणित शास्त्र) में[73], खड्ग–योग[74] में, धनुष्कलाप अर्थात् धनुर्विद्या[75] में, युद्ध[76] में, सालम्भ अर्थात् मल्लविद्या[77] में, ('बोधिसत्त्व की) सब

में प्रचलित है। तुलनीय—आकारण आकरण, आकारित, आकारय (बुलाओ)। हिन्दी में हँकारना का आधार यही आ + कृ धातु है। वि उपसर्ग के साथ तथा रूपविशेष के साथ (अर्थात् विकारण या विकरण न होकर विकिरण इस रूप में) लब्ध यह प्रयोग स्पृहणीय है।

71. मूल में केवल अवक्रम (प्रवेश)। पर भोट में, ल्ह.-म्स् सु ह.-जुग् प (= गर्भविक्रमण, गर्भविक्रांति, गर्भ-प्रवेश)।

71+ तुलनीय भोट ग्र.ङ्स् (एक द्वि इत्यादि संख्या)।

72. तुलनीय भोट लग्-चि.स् (= हस्त–गणना हस्त–लेखा)।

73. गणना का समानार्थक भोट शब्द है चिस्।

74. मूल में केवल असि शब्द है भोटानुवाद मे प्रतिशब्द है रल् ग्रि हि. थब्स् (खड्गयोग, खड्गोपाय)।

75. मूल है धनुकलाप। भोट प्रतिशब्द है ह.-फोङ्। भोटानुवाद में धनु-कलाप के अन्तर्गत दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् अनुवचन नहीं किया गया है। वस्तुतः यहाँ कलाप शब्द का प्रयोग तूणीर के अर्थ में है। धनु (ष्) कलाप का अक्षरार्थ धनुष और तरकश है। औपचारिक प्रयोग धनुर्विद्या के अर्थ में है। तुलनीय अमरकोष—कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च।

76. मूल के युद्ध शब्द का भोट में यथार्थ अनुवचन नहीं हुआ है। भोट में तत्स्थानापन्न शब्द स्तोब्स (बल) है।

77. मूल में शब्द है सालम्भ। शुद्ध संस्कृत रूप संलम्भ अथवा संरम्भ। भोटानुवाद के अनुसार इस शब्द का अर्थ मल्लविद्या है। यद्यपि इस अर्थ में यह शब्द सुप्रचलित नहीं है। (यह कोप वा क्षोभ के अर्थ में ही संस्कृत तथा पालि में प्रचलित है।) तुलनीय-प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् (रघुवंश 4।64)। स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा। एस पत्तोसि निब्बानं सारंभो ते न विज्जति (धम्मपद 134)। यहाँ मल्लविद्या के अर्थ

जनों से अधिक विशेषता दरसाने वाला[78] है, अन्तःपुर के तथा (अन्य नाना प्रकार के) विषयों में उपयोगों का संदर्शक है, (–5–) सब बोधिसत्त्वों की चर्या के निष्यन्द[79] (निचोड़) से सिद्ध हुई फल की प्राप्ति का सब प्रकार से कीर्तन करने वाला है, बोधिसत्त्वों की लीलाओं से युक्त है[80], सकल मार-मंडली का नाश करने वाला है, तथागत के बल[81], वैशारद्य[82] तथा अट्ठारह आवेणिक[83] अर्थात् असाधारण धर्मों के संग्रह से युक्त है, माप में न आने वाले बुद्ध के

में औपचारिक प्रयोग मान कर भोट में अनुवाद है—(ग्यद् क्यि ह् ग्लिन् स्तङ्स्, मल्लस्य ग्रहण–विधिः।

78. मूल में संदर्शनः पद होना चाहिए प्रधान रूप में, परन्तु यहाँ संदर्शनान्तःपुरविषयभोगसंदर्शनः इस प्रकार के पाठ में समस्तपद का अंग-सा जान पड़ता है। ध्यान से देखने पर जान पड़ता है कि ०संदर्शनः + अन्तःपुर० इस प्रकार की अवस्था में विसर्ग की उपेक्षा करके दीर्घसंधि कर डाली गई है। शुद्ध संस्कृत की दृष्टि से यदि संधि होती तो पाठ ०संदर्शनोऽन्तःपुरविषयभोगसंदर्शनः इस प्रकार का होता। भोटानुवाद में कुन् तु बस्तन् प (संदर्शनः) पर ही वाक्यविरति है। अतः ०संदर्शनान्तःपुर० पाठ में संदर्शन को समास का अंगभूत शब्द नहीं माना जा सकता। तुलनीय—बु० हा० सं० ग्रा०, पृ० 33।

79. मूल पाठ निष्पन्द। जहाँ तक संभव है यह निष्पन्द पाठ निष्यन्द का ही लिपिसादृश्य से उत्पन्न रूप है। यहाँ दोनों पाठों से अर्थसंगति लग सकती है। पर निष्पन्द पाठ के अनुसार अर्थ तभी ठीक होगा जब निष्पन्द की व्युत्पत्ति निस् + पद् धातु से हो अर्थात् निष्पन्द को निष्पत्ति (परिपाक, पूर्णता) के अर्थ में ग्रहण करें। स्पन्द (= चलना, काँपना) धातु से व्युत्पत्ति करने पर अर्थ संगति संभव नहीं। यहाँ नि + स्यन्द (= निचुड़ना) से व्युत्पत्ति मान कर अर्थ किया गया है। भोटानुवाद यहाँ तात्पर्य-प्रकाशक होते हुए भी यथार्थ नहीं है। तुलनीय भोट — र्ग्यु म्थुन्-प, सदृश हेतुना अथवा हेतुसंवादेन।

80. मूल पाठ है विक्रीडित। भोट पाठ है नम्, पर् रोल् प, जो सर्वथा अक्षरानुवाद है। तुलनीय छन्दोविशेष वाचक शब्द शार्दूलविक्रीडित (व्याघ्रलीला)।

81. द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति 7।

82. द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति 8।

83. द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति 9।

धर्मों का विस्तार के साथ देशना करने वाला है तथा पहले के भी तथागतो द्वारा पूर्व में प्रवचन किया हुआ है, (जिनके नाम) उदाहरणार्थ (ये हैं)— भगवान् पद्मोत्तर, धर्मकेतु, दीपंकर, गुणकेतु, (गुणाकर[84]) महाकर, ऋषिदेव, श्रीतेजाः, सत्यकेतु, बज्रसंहत = ६ = सर्वाभिभूः, हेमवर्ण, अत्युच्चगामी, प्रवाल-सागर[85], पुष्यकेतु, वररूप, सुलोचन, ऋषिगुप्त[86], जिनचक्र[87], उन्नत, पुष्पित, ऊर्णतेजा, पुष्कर[88], सुरश्मि, मङ्गल, सुदर्शन, महासिंहतेजा, स्थितबुद्धिदत्त, वसन्तगन्धी[89], सत्यधर्मविपुलकीर्ति, तिष्य[90], पुष्य[91], लोकसुन्दर, विस्तीर्ण-तेजा[92], रत्नकीर्ति, उग्रतेजा (रत्नतेजा[93]), ब्रह्मतेजा, सुघोष, सुपुष्य (सुमेरु-

---

84. प्रस्तुत मूल में यह पाठ नहीं है । तुलनीय भोटानुवाद **योन् तन्-ह्-ब्युङ् ग्नस्** (गुण-आकार) ।

85. मूल में प्रवाड पाठ है । डकार तथा लकार का व्यत्यास बहुत से शब्दों में देखा जाता है । भोट, **ब्युरु हि. ग्यं म्छो** (प्रबाल सागर, मूँगों का समुद्र) ।

86. भोट, **द्रङ् स्रोङ् सेद्, ऋ**षि-लुब्ध ।

87. मूल में जिनवक्त । पाठान्तर, जिनचक्र । भोट में **द्मग् छोग्स् लस् ग्यंल्** (= जितसैन्यबल) । जिनचक्र पाठ ही मूल का होगा, यह भोटानुवाद के साक्ष्य से जान पड़ता है । जिन = जित, चक्र = सैन्यचक्र, इस अर्थ को लेकर ही भोटानुवाद हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है ।

88. पुष्कर शब्द यहाँ पुष्कल (प्रचुर) के अर्थ में है । तुलनीय भोट—**शिन् तु ग्यंस्**, (अति विस्तृत, पुष्कल, प्रचुर) ।

89. भोट **सोस् कहि. स्पोस् द्रि** (निदाघधूपगन्ध) । यह वस्तुतः अक्षरानुवाद न होकर **वसन्तगन्धी** का प्रतिशब्द है ।

90. तिष्य का भोट प्रतिशब्द है **.होद्-ल्दन्** (अंशुमान्) । यह तिष्य शब्द के निर्वचन से संबद्ध नहीं है । तिष्य का निर्वचन तुष् (संतुष्ट होना) धातु से माना जाता है । तुष्य = तिष्य । द्रष्टव्य–भानुजी दीक्षित की अमरटीका पृ० 38 (निर्णयसागर संस्करण 1944) ।

91. पुष्य का भोट प्रतिशब्द **स्कर्-ग्यंल्**, (नक्षत्र-राज) निर्वचनानुसारी नहीं है । केवल ग्यंल् शब्द भोट में तिष्य अथवा पुष्य नक्षत्र के अर्थ में आता है ।

92. भोट, **होद्-ग्यं छेन्**, विस्तीर्ण-तेजस विस्तीर्णप्रभ । मूल पाठ विस्तीर्णभेद सचमुच ही अपपाठ है ।

93. भोट, **रिन् छेन् ग्ज़ि ब्र्जिद्**, (रत्नतेजस्) । यह पाठ प्रस्तुत मूल में नहीं है ।

पुष्प)[94], सुमनोज्ञघोष, सुचेष्टरूप[95], प्रहसितनेत्र, गुणराशि, मेघस्वर, सुन्दर-वर्ण, आयुस्तेजा, सलीलगजगामी, लोकाभिलाषित, जितशत्रु, संपूजित, विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द[96] और कनकमुनि। तथा तथागत, अर्हत, सम्यक् संबुद्ध = ७क = काश्यप ने (भी ललितविस्तर धर्मपर्याय का) पूर्व (युग) में प्रवचन किया है।

8. भगवान् भी इस समय उस (धर्मपर्याय का) प्रकाश करें, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोकानुग्रह के लिए, महान् जनसमूह के[97] देवताओं तथा मनुष्यों के अर्थ अर्थात् प्रयोजन के लिए (हित के लिए)[98] सुख के लिए[99], [100]इस महायान के उद्भावन अर्थात् प्रवचन के लिए, सब[100]

---

94. भोट, **रि रब् मे तोग्** (सुमेरू-पुष्प)। यह पाठ प्रस्तुत मूल में नहीं है।

95. भोट, **द्गे ब छुल ब्झ्-ङ्** (सुशीलरूप)। अनुवाद में भेद विचारणीय है। यद्यपि सुचेष्टरूप तथा सुशीलरूप शब्दों में भावार्थ समान है।

96. भोट में **ह्-ख़ोर् ब ह्-जिग्** (चक्रच्छिद्)। इस भोट प्रतिशब्द से मूल के **क्रकुच्छन्द** शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है—चक्रं छिनत्ति (भव-चक्र को काटता है) इति क्रकुच्छन्दः। **क्रकु** चक्र का तथा **छन्द छिद्** अथवा छिन्द् का विकृत रूप है। पाणिनि के पृषोदरादि-योग से ऐसे शब्द सिद्ध होते हैं। द्रष्टव्य—पाणिनि 6।3।109।

97. मूल पाठ, महतो जनकायस्य। भोटानुवाद, **स्क्ये बो फल् पो छेहि.** (महा-जनराशेः)। काय का अर्थ यहाँ राशि अथवा समूह से है। यहाँ आगे भोट-भाषान्तर में **दोन् दङ्** (= अर्थाय) इतना पाठ अधिक है।

98. केवल भोट में उपलब्ध पाठ **स्मन् प** (हित)।

99. मूल में, अर्थाय। भोट में **दोन् दु ह्-ग्युर्** (स्लद् दु) अर्थभूताय। मूल में, सखाय। भोट में **ब्दे बर् ह्-ग्युर् ब (स्लद् दु)** (सुखभूताय)।

100. ·····100. मूल पाठ है **अस्य च महायानोद्भावनार्थम्**। अर्थानुसार अस्य च महायानस्य उद्भावनार्थम्, यों पाठ होना चाहिए या फिर **महायान** को लुप्तविभक्तिक प्रयोग मान कर संगति लगानी चाहिए। भोटानुवाद इसी अर्थ का साक्षी है—**थेग् प छेन् पो ह्-वि हङ् बर्जोद् प (स्लद् दु)** महायानस्य अस्यापि कथनार्थम्। **उद्भावन**, का अर्थ **प्रकट करना** है। भोट में इसका अनुवाद कथनार्थक धातु **ब्र्जोद् प** से किया गया है। इसी शब्द का अनु-वाद आगे उपदेशार्थक धातु से किया है। द्रष्टव्य—टिप्पणी 102।

परप्रवादियों अर्थात् विरुद्ध मत के मानने वालों के निग्रह के लिए,[101] सब मारों के अभिभवन अर्थात् पराजय के लिए[101], सब बोधिसत्वों के उद्भावन अर्थात् उपदेश देने के लिए[102] बोधिसत्व-यान के अनुयायी सब पुद्गल अर्थात् प्राणियों के वीर्यारम्भ (उद्योग के प्रारम्भ) को उपजाने के लिए, सद्धर्म के अनु-परिग्रह (पक्षपात) के लिए, त्रिरत्न-वंश के अनुपरिग्रह (पक्षपात) के लिए [103], त्रिरत्न-वंश के अनुपच्छेद अर्थात् अविच्छेद के लिए (–६–) तथा बुद्धकार्य की [104]परिपूर्णता को सब प्रकार से दिखलाने के लिए[104]। भगवान् ने तूष्णी-भाव (मौन) द्वारा, देवताओं सहित (इस) लोक पर अनुकम्पा कर, उन देवपुत्रों का अधिवासन किया (कथन स्वीकृत किया)[105]।

9. तदनन्तर (वे) देवपुत्र भगवान् के तूष्णीभाव (मौन) से (उनकी) अधिवासना (अनुमति) जानकर, सन्तुष्ट हो, उल्लसित हो, आनन्दित हो, प्रीति तथा सौमनस्य (मन के सुख) को उपजाकर, भगवान् के चरणों की शिर से वंदना कर, = 7ख = भगवान् की तीन बार [106] प्रदक्षिणा कर, (भगवान् पर) चन्दन के चूर्ण की, अगुरु के चूर्ण की तथा मन्दार पुष्पों की वर्षा कर[107], वहाँ (से) अन्तर्धान हो गये।

101....101. बौद्धवाङ्मय में मार केवल एक देवता का ही नहीं है प्रत्युत अन्य अर्थों का भी द्योतक है। पाँच मार–क्लेशमार, स्कन्धमार, अभिसंस्कार-मार, मृत्युमार तथा देवपुत्रमार। द्रष्टव्य—विसुद्धिमग्ग तथा दीपिका 7।59। यह वाक्यांश मूल में अगले दो वाक्यांशों के मध्य में है, परन्तु भोट में दोनों वाक्यांशों से पूर्व में है।

102. तुलनीय भोट **बस्तन् प** (देशना, उपदेश, अनुशासन)।

103. यह समूचा वाक्यांश भोटानुवाद में नहीं है।

104. मूल में परिसंदर्शनार्थम् केवल इतना ही है। भोट में इस वाक्यांश का अक्षरानुवाद न कर स्पष्टीकरण किया गया है—**योङ्स् सु जोगस् पह.-ङ् कुन् तु बस्तन् पहि. स्लद् दु** (परिपूर्णतया सर्वतः दर्शनार्थम्)।

105. मूल में है अधिवासयति स्म। स्वीकृति वा अनुमति के अर्थ में अधि-वस् (प्रेरणार्थक) धातु का प्रयोग बौद्ध साहित्य में ही देखा जाता है। यहाँ भोटानुवाद है। **गनङ्** (स्वीचकार, अनुमन्यते स्म, स्वीकार किया)।

106. मूल में त्रि त्रिः के अर्थ में है। तुलनीय भोट, **लन् गसुम्** (त्रिः, तीनबार)।

107. मूल में अभ्यवकीर्य (बिखरा कर)। भोट भी मूलवत्, **मङोन् पर् गतोर् ते** (अभ्यवकीर्य)। हिन्दी अनुवाद यहाँ औपचारिक है।

10. तदनंतर भगवान् उसी रात में तड़के[108] जहाँ[109] **मंडल-वाट** की रचना[110] करीर[111] की थी वहाँ गये, जाकर भगवान् बोधिसत्त्वों के संघ से चारों ओर से घिरे हुए[112] तथा श्रावकों के संघ से आगे किये हुए,[113] आसन जो

---

108. मूल, व्यत्ययेन (बीतने के साथ **रात के**)। भोट, **नम् नङ्स् प बङ्** (रात्रि अत्ययेन)। हिन्दी में इस अर्थ को तड़के अथवा सबेरे शब्द से प्रकट किया जा सकता है।

109. मूल में यहाँ पर **येन** पद की अपेक्षा है। **और** भोट में **ग-ल-प** (येन, जहाँ) शब्द देखकर यहाँ इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता। पाठान्तर में भी येन शब्द है। यत्र के अर्थ में येन तथा तत्र, के अर्थ में तेन शब्द बौद्ध-वाङ्मय में प्रचलित है और ये दोनों प्रायः साथ-साथ एक ही वाक्यांश में आते हैं। यहाँ तेन तो मूल में है पर येन को छोड़ दिया गया है और वह इस लिए कि लिखित-ग्रन्थों (कोशों) में पाठ दिखलाई नहीं देता। यहाँ लिखित-ग्रन्थों में पाठ-त्रुटि का कारण यों है—**येन** से पूर्व **व्यत्ययेन** है तथा लिपि-कर की दृष्टि चूक गई है, जिसके कारण परवर्ती येन छूट गया है। जब यह त्रुटि एक पोथी में हो गई तब उससे की गई अन्य प्रतिलिपियों में उसका होना स्वाभाविक ही है। भोटानुवाद से यहाँ त्रुटि को दूर किया गया है।

110''''110. मूल में मण्डलमात्र पाठ है, जिसके अपपाठ होने में संदेह नहीं है। पालि में दृष्ट मण्डलमाल वा मण्डलमाळ के अर्थ में ही इसका यहाँ प्रयोग है। माल अथवा माळ का संबन्ध संस्कृत वाट से जान पड़ता है। वाट से ही हिन्दी का बाड़ा शब्द आया है और प्रायः उसी अर्थ में है। यहाँ भोटानु-वाद है, **ह्-खोर् गिय ख्यम्स्** (गोल आँगन, गोल बाड़ा)। रचना का मूल शब्द व्यूह भोट में नहीं है।

111. मूल में करीर है पर पाठान्तर कारीर भी देखा जाता है। वस्तुतः कारीर (= करीर का करीरनिर्मित) पाठ ही ठीक है। करीर का अर्थ यहाँ बाँस या बाँस के लट्ठों से है। तुलनीय भोट, **स्म्यिग् महि, ल्दुम् बुहि,** (वंश-दण्डस्य अथवा वंश-दण्डानाम्, बाँस के लट्ठों का)।

112. मूल, पुरस्कृत (आगे लिये हुए)। भोट, **योङ्स् सु ब्स्कर् शिङ्** (परि-वृत, चारों ओर से घिरे हुए)। मूल का पाठ प्रामादिक है।

113. मूल पाठ, पुरस्कृत (आगे किये हुए)। भोट पाठ, **म्दुन् गियस ब्ल्तस्ते** (अग्रतः दृष्ट)।

बिछाया ही गया था उस पर,[114] बैठे। बैठ कर भगवान् ने भिक्षुओं को (इस प्रकार)[115] आमंत्रित किया।

11. हे भिक्षुओं,[115] प्रशान्त हो रही रात में[116] (मेरे पास[117]) शुद्धावासकायिक देवपुत्र ईश्वर, महेश्वर, नन्द, सुनन्द[118], चन्दन, महित, प्रशान्त तथा प्रशान्तविनीतेश्वर, ये तथा अन्य अनेकानेक शुद्धावासिक देवपुत्र (आये और ललितविस्तर धर्म-पर्याय के उपदेश के लिए प्रार्थना की तथा अनुमति पा[119] वहीं

---

114. मूल, प्रज्ञप्त एवासने। भोट **ग्दन् ब्शम्स् प ल** (आसने विरचिते)। प्रज्ञप्त (तुल्नीय पालि, पञ्ञत्त) शब्द बौद्धवाङ्मय में विरचित, सज्जित तथा तत्समानार्थक शब्दों के अर्थ में, विशेषतया आसन शब्द के विशेषण के रूप में, प्रयुक्त होता है, हिन्दी अनुवाद में एव का ही शब्द से प्रकाशन किया गया है। यदि इसे न प्रकट करें, जैसा कि भोट भाषा में किया गया है, तो **बिछाये गये आशन पर** इतने अनुवचन से काम चल सकता है तथा जो और उसपर को छोड़ा जा सकता है।

115. मूल में इति हि भिक्षवः है। भोट में **द्गे स्लोङ् दग्** (भिक्षवः, भिक्षुओं)। इति हि का भोट में उल्था नहीं किया गया है। हिन्दी में भिक्षवः अर्थात् हे भिक्षुओ इस संबोधन के साथ उसे प्रकट करना संभव न जानकर इससे पूर्व के वाक्य में कोष्ठक के भीतर **इस प्रकार** शब्द द्वारा प्रकट किया गया है।

116. मूल, **रात्रौ** प्रशान्तायाम् (प्रशान्त हो रही रात में)। भोट, **म्दङ् ह्.-दिर्** (इस कल, अस्मिन् ह्यस्तने)। यहाँ भोटानुवाद मूलानुसारी नहीं है अथवा अनुवाद के आधारभूत कोश में भेद था।

117. केवल भोट में उपलब्ध **ङहि. द्रुङ् दु** (मम पार्श्वे, मेरे पास)।

118 मूल में सुनन्द से पहले कोष्ठक में आनन्द यह शब्द दिया है। वह भोट में नहीं है। तथा इस वर्णन में, जो पूर्व में आये वर्णन की आवृत्ति है, उसमें भी न होने से प्रामादिक प्रक्षेप है।

119 कोष्ठक का पाठ अनुवादक का है। इसके स्थान में है, पूर्ववत् यावत् (पहले की भाँति····तक अथवा····तक पहले की भाँति)। वस्तुतः केवल बिन्दु देकर छोड़ देने से ऐसे स्थानों पर काम चल सकता है और यही आधुनिक रीति है। अनुवादक ने कोष्ठक में जो पाठ दिया है वह छूटे हुए पाठ का सार है। सदृश वर्णन की पुनरावृत्ति में छूटे स्थान के लिए—पूर्ववत् यावत्—रखकर प्राचीन लोग काम चलाते थे। आजकल वह काम बिन्दुओं से चलाया जाता है।

अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर वे बोधिसत्त्व तथा वे महाश्रावक जिस ओर भगवान् थे उस ओर अंजलि बाँध, प्रणाम कर, भगवान् से यह बोले । साधु । भगवन्, (साधु) उस ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय की देशना करें । = 8क = वह होगा बहु जनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोकानुग्रह के लिए, महान् जन-समूह के, देवताओं और मनुष्यों के, इस काल के यथा अनागत के बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के अर्थ अर्थात् प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए। भगवान् ने तूष्णीम्भाव (मौन) द्वारा, देवताओं, मनुष्यों तथा असुरों सहित (इस) लोक पर अनुकम्पा कर, उन बोधिसत्त्व-महासत्त्वों का तथा उन महाश्रावकों का अधिवासन किया (कथन स्वीकृत किया) ।

12. वहाँ यह (गाथाओं में) कथन है । (–7–)

रात्र्यामिहास्यां[120] मम भिक्षवोऽद्य
सुखोपविष्टस्य[121] निरङ्गणस्य[122] ।
प्रविष्टमानस्य शुभैर्विहारैर्[123]
एकाग्रचित्तस्य समाहितस्य ।।6।।[124]

---

120. भोट, **म्दङ् सुम् ह्..-विर्** (अस्यां ह्यस्तनरात्रौ, इस कल की रात में) ।

121. उपविष्ट का अनुवाद भोट में **ग्नस् ग्युर्** (बैठा हुआ) निःसन्देह ठीक ही हैं और प्रविष्टमान का अनुवाद **रब् तु ग्नस् ग्युर्** (प्रकृष्टतया अथवा अच्छी-विधि से बैठा हुआ) भी प्रसंगानुकूल ही है । यहाँ प्र-विष्ट-मान के स्थान में प्र-तिष्ठमान पाठान्तर है, उसका अक्षरानुवाद भोट में वही होगा जो प्र-विष्टमान का किया गया है । अतः यहाँ यह अनुमान करना कि मूलपाठ संभवतः प्र-तिष्ठमान ही हो न्यायहीन नहीं कहा जा सकता । भोट का **ग्नस् प** संस्कृत **स्था** धातु का अर्थ प्रायः दिया करता है । वस्तुतः यह प्र-विष्टमान प्रयोग विचित्र है । निष्ठा के अनन्तर मानप्रत्यय का प्रयोग संभव नहीं जान पड़ता । पर इस अपसंस्कृत में वह संभव है ।

122. निरङ्गण शब्द संभवतः निरञ्जन का ही रूपान्तर है । अक्षरार्थः अंजन-रहित, कालिख रहित । भोटानुवाद, **ञोन् मोङ्स् मेद् पर्** (क्लेशरहित) । क्लेश शब्द राग, द्वेष, मोह आदि मन की मलिनताओं के लिए निरूढ़ शब्द है ।

123. विहार शब्द का अनुवाद यहाँ भोट में **ग्नस् प** (स्थिति, दशा, अवस्था) शब्द से किया गया है । शुभ-विहारों से यहाँ अभिप्राय ब्रह्म-विहारों अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा से जान पड़ता है ।

124. एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् जाति का उपजाति वृत्त है । उपजाति के भेदों में से यह जाया नाम की उपजाति है (इन्द्र०-उपेन्द्र-उपेन्द्र० इन्द्र) ।

हे भिक्षुओ ! आज, यहाँ, इस रात में (जब) मैं बिना-कालिख सुख से **बैठा हुआ था**, शुभ-विहारों (शुभ-स्थितियों) अर्थात् ब्रह्मविहारों के साथ अच्छी विधि से **बैठा** हुआ था, एकाग्र (चंचलता-रहित) चित्त से युक्त समाधि में स्थित था—

अथागमन् देवसुता महर्द्धयः
प्रतीतवर्ण(ा)[125] विमलश्रियोज्ज्वलाः ।
श्रियावभास्येह च जेतसाह्वयं
वनं मुदा मेऽन्तिकमभ्युपागताः ॥7॥[126]

तब महाऋद्धि वाले, उत्तम वर्ण (रंग) तथा निर्मल श्री (शोभा) से उज्ज्वल **देवपुत्र आये और** जेत नाम के वन को (अपनी) श्री से अवभासित कर आनन्द **से मेरे पास** आ गये ।

महेश्वरश्चन्दन ईशनन्दौ
प्रशान्तचित्तो महितः सुनन्दनः ।
शान्ताह्वयश्चाप्यथ देवपुत्रस्
तास्ताश्च बह्वोऽथ च देवकोट्यः ॥8॥[127]

महेश्वर, चन्दन, ईश (ईश्वर),[128] नन्द, प्रशान्तचित्र (प्रशान्तविनीतेश्वर),[128] महित, सुनन्दन तथा शान्त (=प्रशान्त)[128] नामक देवपुत्र और वे-वे बहुत से कोटि देवता—

---

125. प्रतीतवर्ण मूल में परवर्ती अंश के साथ समस्त करके मुद्रित हुआ है । यहाँ पृथक्करण तथा आकार की मात्रा की वृद्धि छन्द की दृष्टि से की गई है ।

126. द्वादशाक्षरी जगती जाति की वंशस्था (ज त ज र) ।

127. इस वृत्त में एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् तथा द्वादशाक्षरी जगती जाति का मिश्रण है । प्रथम तथा तृतीय पाद क्रमशः उपेन्द्रवज्रा और इन्द्रवज्रा के हैं । द्वितीय पाद वंशस्था का है तथा चतुर्थ पाद इन्द्रवज्रा का है । यहाँ यदि द्वितीय पाद में सुनन्दनः के स्थान में सुनन्दः पाठ होता तो यह उपेन्द्रवज्रा का पाद होता । एक पाद में एक अक्षर की वृद्धि की यदि उपेक्षा करें तो यहाँ त्रिष्टुभ् जाति का उपजाति वृत्त होगा । तथा उपजाति के भेदों में यह माला नाम की उपजाति (उपेन्द्र०-उपेन्द्र०-इन्द्र = इन्द्र) होगी ।

128. इसी परिवर्त में ये सब नाम पूर्व में हैं । परन्तु गाथा-बन्ध के कारण नाम कुछ संक्षिप्त तथा अन्यथा हो गये हैं । पूर्व में नामों के रूप थे, उन्हें कोष्ठकों में तुलनार्थ रख दिया गया है ।

प्रणम्य पादौ प्रतिदक्षिणं च
कृत्वैव मां तस्थुरिहाग्रतो मे।
प्रगृह्य चैवाञ्जलिमङ्गुलीभिः[129] = 8ख =
सगौरवा मामिह ते ययाचुः ॥9॥[130]

चरणों में प्रणाम कर तथा मेरी प्रदक्षिणा कर, मेरे आगे खड़े हो गये। तथा (दसों)[129] अंगुलियों से अंजलि बाँध, गौरव के साथ उन्होंने यहाँ मुझसे याचना की कि—

इदं मुने रागनिसूदनार्थं[131]
वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्।
यद् भाषितं सर्वतथागतैः प्राग्
लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेतत् ॥10॥[132]

हे मुने! रागनिसूदन (राग के नाशन) के लिए, महानिदान (महत्त्वपूर्ण विषय वाले) इस वैपुल्यसूत्र का, सब तथागतों ने, सब लोक के अर्थ, जो यह प्रवचन पूर्व में किया है—

तत्साध्विदानीमपि भाषतो[133] मुनिः
स बोधिसत्त्वौघपरिग्रहेच्छया।

---

129. भोट में अङ्गुलीभिः के स्थान में दशाङ्गुलीभिः मान कर अनुवाद हुआ है—**सोर् मो ब्चु यि** (स्) (दशभिः अङ्गुलीभिः)।
130. ऋद्धि नाम की उपजाति (उपेन्द्र०—इन्द्र०—उपेन्द्र०—उपेन्द्र)।
131. मूल पाठ रागनिसूदनाढ्यं। पाठान्तर, रागनिसूदनाद्यं। भोटानुवाद से इन दोनों पाठों का समर्थन नहीं होता। **ह्-बोद् छगस्-ब्सल् बस्** (रागमोचनेन रागमोचनात्) यहाँ चतुर्थ्यन्त पाठ ठीक जान पड़ता है संस्कृत दृष्टि से। तृतीयान्त तथा पंचम्यन्त पाठ जैसा भोट में है, उससे अर्थ लग जाता है। भोट में इसके अनन्तर **देरिङ् यङ्** (अद्यापि, इदानीमपि) पाठ है, वह परवर्ती श्लोक के इदानीमपि का अनुवाद है।
132. कीर्तिनाम की उपजाति (उपेन्द्र०—इन्द्र०—इन्द्र०—इन्द्र०)।
133. भाषतो (भाषण करें) मूलतः भाषतु का विकृत रूप है। पाणिनीय संस्कृत में रूप **भाषताम्** होगा। तुलनीय भोट—**ब्शद् दु ग्सोल्** (उपदिशतु)।

परं महायानमिदं प्रभाषयन्
परं-प्रवादान्[134] नमुचिं च धर्षयन् ॥11॥[135]

(क्या ही) अच्छा हो, आज भी उस (प्रयोजन) के लिए, श्रेष्ठ महायान का परिपूर्णता से उपदेश करते हुए, विरुद्धमत के मन्तव्यों तथा मार की धर्षणा (पराजय) करते हुए, बोधिसत्त्वों के समूह को सब ओर से अपनाने की इच्छा से, मुनि (उस वैपुल्य सूत्र का) भाषण करें[133]।

अध्येषणां देवगणस्य[135*] तूष्णीं
अगृन्ह देवानधिवासनं[136] च।
सर्वे च तुष्टा मुदिता उदग्राः
पुष्पाणि चिक्षेपुरवाप्त हर्षम् ॥12॥[137]

देवगण की (इस) अध्येषणा (प्रार्थना अथवा याचना) को तथा दवताओं के

134. परं-प्रवादान् = परप्रवादान्। पर के ऊपर बिन्दु केवल मुख सुखार्थ है। तुलनीय भोट–**फस् क्यि र्गोल्** (परस्य प्रवादान्)।

135. इस वृत्त में प्रथम पाद इन्द्रवंशा (त त ज र) का है तथा अन्य तीन पाद वंशस्था के हैं। इस मिश्रण का नाम भी उपजाति है। द्रष्टव्य वृत्त-रत्नाकर–स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ॥ अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः। इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम॥

135*. अध्येषणां देवगणस्य के स्थान में भोट पाठ **ल्ह यि छोगस् क्यिस् ग्सोल् ब दे स्नङ् फ्यिर्** (देवगणस्य तस्या अध्येषणायाः सिद्धये) है।

136. देवानधिवासनम् = देवानाम् अधिवासनम्! तुलनीय पालिप्रयोग–एतं बुद्धान सासनं (धम्मपद 183)। देवान + अधिवासनम् = देवानधिवासनम्। यहाँ संधि में प्रश्लेष नहीं हुआ है प्रत्युत **अधि** उपसर्ग के अकार का लोप होकर **धि** रह गया है। भोट में यहाँ देवान (= देवानाम्) का अनुवाद नहीं किया गया है। केवल प्रथम पाद में आये देवगण के अनुवाद से काम चला लिया गया है। देवानधिवासनं का अर्थ है देवताओं को दी गई अनुमति। अधिवस् धातु तथा अधिवासन वा अधिवासना के साथ कारक पद सदा षष्ठी में होता है। उस षष्ठी को युक्ति से हिन्दी-अनुवाद में बचाने का यत्न किया गया है।

137. इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग)।

अधिवासन (कथन की स्वीकृति) को (मैंने) मौन से अपनाया[138] । अर्थात् देवगण की प्रार्थना मैंने चुप-चाप सुनी तथा देवताओं को मौन से ही अपनी स्वीकृति दी । सन्तुष्ट, उल्लसित, आनन्दित हो, हर्ष-प्राप्ति के साथ (उन) सबने पुष्प बरसाए[139] ।[140]

तद् भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे
वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम् ।
यद् भाषितं सर्वतथागतैः प्राग्
लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेवम् ॥13॥[141]

---

138. तूष्णीम् यहाँ क्रिया विशेषण है । अर्थ मौन से अगृह्न का संस्कृत व्याकरण के विशेष सम्बन्ध नहीं है । तुलनीय पालि गण्हि (लङ्, उत्तम पुरुष, एक-वचन) अर्थात् ग्रहण किया, अपनाया ।

139. मूल चिक्षेपुः (फेंके) भोट, **सिल् म ग्तोर्** (सवाद्य फेंके) ।

140. भोटानुवाद में ऊपर (1/136) उल्लेख किया जा चुका है कि देवान् (= देवानाम्) शब्द छूट गया है । तथा प्रथम पाद के अनुवाद में कुछ विशेष है–**ल्ह यि छोग्स् क्यिस् ग्सोल् ब दे स्नङ् फ्यिर्** (देवानां समूहेन [कृतायाः] अध्येषणायाः तस्याः सिद्धये [= सिद्धिमुपादाय, सिद्ध्यर्थम्] ।

141. इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग) ।

142. निदानपरिवर्त की गाथाओं की छाया यहाँ दी जा रही है—ज्ञानप्रभं हत-तमः प्रभाकरं (अथवा हततमसं प्रभाकरं) शुभप्रभं शुभविमलाग्रतेजसम् । प्रशान्तकायं शुभशान्तमानसं मुनिं समाश्लिष्यत शाक्यसिंहम् ॥1॥ ज्ञानो-दधिं शुद्धमहानुभावं धर्मेश्वरं सर्वविदं मुनीशम् । देवातिदेवं नरदेवपूज्यं धर्मे स्वयं-भुवं वशिनं श्रयध्वम् ॥2॥ यो दुर्दमं चित्तमवर्तयद् वशे यो मारपा-शैरवमुक्तमानसः । यस्याप्यबन्ध्याविह दर्शनश्रवावस्त्यद्यान्ततः शान्तस्य विमोक्षपारगः ॥3॥ आलोकभूतं तमतुल्यधर्माणं तमोनुदं सन्नयवेदितारम् । शान्तक्रियं बुद्धममेयबुद्धिं भक्त्या समस्तयोपसंक्रमध्वम् ॥4॥ स वैद्यराजोऽ-मृतभेषजप्रदः स वादिशूरः कुगणिप्रतापकः । स धर्मबन्धुः परमार्थकोविदः स नायकोऽनुत्तरमार्गदेशिकः ॥5॥ रात्र्यामिहास्यां मम भिक्षवोऽद्य सुखोप-विष्टस्य निरञ्जनस्य । प्रविष्टस्य (अथवा प्रतिष्ठितस्य) शुभैर्विहारैरेकाग्र-चित्तस्य समाहितस्य ॥6॥ अथागमन् देवसुता महर्षयः प्रतीतवर्णा विमल-श्रियोज्ज्वलाः । श्रियावभास्येह च जेतसाह्वयं वनं मुदा मेऽन्तिकमभ्युपा-गताः ॥7॥ महेश्वरश्चन्दन ईशनन्दौ प्रशान्तचित्तो महितः सुनन्दनः शान्ता-

इसलिए हे भिक्षुओ ! मेरे (द्वारा प्रोक्त), महानिदान (महत्त्वपूर्ण विषय वाले) वैपुल्यसूत्र का, सब तथागतों ने सब लोक के हित के अर्थ, जो प्रवचन पूर्व में किया है, (उसे) इस प्रकार सब (लोग) यहाँ सुनो ।

इति श्रीललितविस्तरे निदानपरिवर्तो नाम प्रथमोऽध्यायः ।।

●

ह्वयश्चाप्युत देवपुत्रस्तास्ताश्च बह्व्योऽथ च देवकोटयः ।।8।। प्रणम्य पादौ (च) प्रदक्षिणं च कृत्वैव मां तस्थुरिहाग्रतो मे । प्रगृह्य चैवाञ्जलिमङ्गुलीभिः सगौरवा मामिह ते ययाचिरे ।।9।। इदं मुने रागनिषूदनाद्यं वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम् । यद् भाषितं सर्वतथागतैः प्राग् लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेतत् ।।10।। तत् साध्विदानीमपि भाषतां मुनिः स बोधिसत्त्वौघपरिग्रहेच्छया । परं महायानमिदं प्रभाषमाणः परप्रवादान् नमुचिं च धर्षयन् ।।11।। अध्येषणां देवगणस्य तूष्णीमगृण्हां देवानामधिवासनं च । सर्वे च तुष्टा मुदिता उदग्राः पुष्पाणि चिक्षिपुरवाप्ता हर्षम् ।।12।। तद् भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम् । यद् भाषितं सर्वतथागतैः प्राग् लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेवम् ।।13।।

॥ २ ॥

॥ समुत्साहपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 7 (पंक्ति 20)–13 (पंक्ति 6)
भोटानुवाद 8ख (पंक्ति 6)–14ख (पंक्ति 7)

॥ २ ॥

॥ समुत्साहपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, वह[1] महावैपुल्य-सूत्रान्त, शोभन, ललितविस्तर नाम का धर्म-पर्याय-कौन-सा है ? हे भिक्षुओ, इस (धर्मपर्याय) में–तुषित (लोक) के वर (श्रेष्ठ) भवन में अवस्थित, पूज्यों द्वारा पूजित, अभिषेक को प्राप्त, शत-सहस्र देवताओं से स्तुत, स्तोमित (मानित)[2], वर्णित तथा प्रशंसित, (–8–) आशय अर्थात् अभिप्राय को प्राप्त[3], = 9क = प्रणिधान अर्थात् शुभ संकल्प के द्वारा सम्यक् (सांसारिक लोगों से) ऊपर उठे हुए, सब के सब बुद्ध के धर्मों को पा गई बुद्धि से युक्त, अत्यंत विस्तृत तथा सब प्रकार से शुद्ध ज्ञानरूपी नेत्रवाले, स्मृति, मति, गति (पहुँच), [अपत्रपा, प्रीति][4] तथा धृति[4] से तपी-तपाई विपुल (लहराती हुई) बुद्धि से युक्त[6],

2. दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा तथा(धर्मदेशना के) उपाय में महती कुशलता की परम पारमिता को प्राप्त, महामैत्री, महाकरुणा, महामुदिता तथा

---

1. मूल, तत्र 'वहाँ' भोट, **दे ल** । यहाँ यह पद केवल वाक्यालंकार है । हिन्दी-अनुवाद में इसे छोड़ देना भी अनुचित नहीं है ।
2. इस स्थान पर स्तुत, स्तोमित, वर्णित तथा प्रशंसित वस्तुतः पर्यायवाचक है, यद्यपि उनमें सूक्ष्म भेद है । भोट में स्तोमित के लिए प्रतिशब्द **बकुर् ते** 'सत्कृत, मानित' है ।
3. मूल में पाठ है—लब्धभिषेकस्य । यह सचमुच लिपिकर के प्रमाद से पोथी में हुआ है । इससे पूर्व ही, समीप में, अभिषेकप्राप्तस्य वाक्यांश आ चुका है । दोनों ही लब्धभिषेकस्य तथा अभिषेकप्राप्तस्य का एक ही अर्थ है । यह पुनरुक्तिदोष क्यों ? भोट में इस वाक्यांश के स्थान में **बसम् प थोब् प** 'लब्धाशयस्य, अभिप्राय को प्राप्त' है । इससे भी स्पष्ट है कि भोटानुवादक के सम्मुख यह पाठ न था । आशय से यहाँ उन अभीष्ट मानसिक विचार-धाराओं का ग्रहण है जिनसे लोकहित होता है ।

4.-4. अपत्रपा तथा प्रीति ये दोनों शब्द मूल में नहीं है परन्तु भोटानुवाद में है—**खेल् योद् प** 'अपत्रपा' **दगह् ब** 'प्रीति आनन्द' । धृति शब्द भोटानुवाद में नहीं हैं ।

5. तुलनीय भोट **र्लबस्** 'ऊर्मि, तरंग' ।
6. चौथी तथा पाँचवीं टिप्पणियों को दृष्टि में रख कर भोटभाषान्तर के आधार पर यदि मूल का नवीनीकरण करें तो वाक्यांश यों होगा—स्मृति-मति-

महोपेक्षा के ब्रह्मपथ ('ब्रह्मविहार') में कोविद, महती अभिज्ञा ('विद्या'[7]) के द्वारा असंग अर्थात आसक्ति-रहित तथा आवरण-रहित[8] ज्ञानसंदर्शन अर्थात् ज्ञान के साक्षात्कार की अभिमुखी (नामक बोधिसत्त्वभूमि) में (स्थित) हुए, स्मृत्युपस्थान, सम्यक् प्रहाण, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यंग, मार्ग तथा सब बोधिपक्ष-धर्मों की भलीभाँति सब ओर से पूर्ण कोटि अर्थात् अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए;

3. अपरिमित पुण्य (तथा ज्ञान[9]) के जुटाने से (मिले हुए) लक्षणों तथा अनुव्यञ्जनों से सम्यक् अलंकृत काया वाले, दीर्घ (काल) से (धर्म की) अनुवृत्ति करने वाले, जैसी कहनी वैसी करनी वाले, उलट-पलट के बिना = 9ख = वाणी के कर्म का[10] उदाहरण देने वाले, सीधे-सादे, कुटिलता से रहित,[11] निश्छल,[12] तथा (कहीं भी) ठोकर न खाने वाले मन से युक्त, सब प्रकार के मान, मद, दर्प, भय तथा विषाद से रहित, सब प्राणियों में समान-चित्त-वाले;

4. अपरिमित कोटि-नयुत-शत-सहस्र[13] बुद्धों की सब प्रकार से उपासना करने वाले, अनेक कोटि-नयुत-शत-सहस्र''[13] बोधिसत्त्वों द्वारा देखे गये-देखे गये

गत्यपत्रपा-प्रीति-धृत्युत्तप्त-विपुलोर्मि-बुद्धेः यहाँ भोटानुवाद को आँक लेना भी ठीक ही रहेगा—**द्रन् प दङ् ब्लो ग्रोस् दङ् तोंग्स् प दङ् खेल् योद् प दङ् द्गह्‌.-ह्‌.-बर् बहि्‌ ब्लो र्लबस् पो छे दङ् ल्दन् प** ।

7. भोट में अभिज्ञा पाठ नहीं है । वहाँ पाठ है—**रिग् प** 'विद्या' ।

8. मूल में ही महाभिज्ञासंगणावरण० पाठ में पद-च्छेद यों करना होगा—महाभिज्ञा-असंग-अनावरण । ऐसा ही पदच्छेद करके भोटानुवाद किया गया है । तुलनीय भोट, **रिग् पा छेन् पोस्** (= महाविद्यया)—**स्ग्रिब् प मेद् चिङ्** (= अनावरण)—**छग्स् प मेद् प हि्‌** (= असंग) "महाविद्या-असंग-अनावरण--" असंग + अनावरण जो पाणिनीय संस्कृत में असंगानावरण होना चाहिए यहाँ असंगणावरण हो गया है । दो अकारों की संधि "आ" न होकर केवल "अ" रह गई है तथा अन्त के णकार के प्रभाव से पूर्व का नकार मूर्धन्य हो गया है ।

9. तुलनीय भोट, **ये शस्** 'ज्ञान' । यह पद मूल में नहीं है ।

10. भोट में पाठ है—**छिग् गि लम्**, 'वाक्पथ' पर मूल में है—वाक्कर्म ।

11. भोट, **म-योल्** 'पटलरहित बिना पर्दा के', मूल में है अकुटिल ।

12. मूल में अवङ्क; भोट में **ग्य-ग्यु मेद् प** 'कुटिलता, छल अथवा वंचना से रहित ।

13. सौ हजार नयुत जितने करोड़; मूल के शब्दों द्वारा ही हिन्दी में कहें तो शत-सहस्र नयुत जितनो कोटि । नयुत = १००,०००,०००,००० अर्थात् खरब, भोट में इसके लिए **खग्-खिग्** शब्द है ।

वदन वाले, शक्र, ब्रह्मा, महेश्वर, लोकपाल, देवों, नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुड़ों, किन्नरों, महोरगों[14] तथा राक्षसों के गण से अभिनन्दन किये गये यश वाले, सब पद[15] प्रभेदों के निर्देश अर्थात् विवेचन पूर्वक कथन में, असंग अर्थात् आसक्ति रहित प्रतिसंविदा में प्रवेश कराने के ज्ञान में कुशल, सब बुद्धों के (सु) भाषितों के धारण करने अर्थात् कंठस्थ करने की स्मृति के भाजन ['पात्र'] (तथा) विक्षेप अर्थात् चंचलता से रहित (एवं) अनन्त-अपर्यन्त धारणी (नामक मन्त्र-विशेषों) के उत्कृष्ट रूप से लाभ करने वाले;

5. महती धर्म की—स्मृत्युपस्थान, सम्यक् प्रहाण, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग, मार्ग [प्रज्ञा]पारमिता, उपाय--कौशल्य, धर्म, रत्न, पुण्य के साथ भली-भाँति ऊपर लाई हुई[16] = 10क = नौका के महान्, सार्थवाह, चार ओघों ('बाढ़ों') से पार जाने के अभिप्राय वाले[17];

6. मार[18] तथा (अन्य) प्रत्यर्थिकों अर्थात् अनर्थ करने वालों का विनाश कर चुके हुए, सकल परप्रवादियों का भलीभाँति निग्रह अर्थात् पराजय कर चुके हुए, (मार से होने वाले) संग्राम से शीर्ष पर अर्थात् अग्रभाग पर डटकर खड़े हुए, (राग-द्वेष-मोह रूपी) क्लेश-शत्रुओं के समूह का नाश करने वाले, ज्ञान के श्रेष्ठ-वज्र का दृढ़ अस्त्र-शस्त्र (धारण करने) वाले;

7. बोधिचित्त रूपी मूल से (निकले) महाकरुणा के तने[19] से उपजे अध्या-शय अर्थात् उत्कृष्ट अभिप्राय (के शाखा-पत्र-पुष्प-फल) वाले;

14····14. यह पाठ भोट में नहीं हैं।

15. पद बौद्धपरिभाषा में वाक्य का बोधक वचन है। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश २।४७।

16. मूल पाठ, महाधर्मनौ·······महासार्थवाहस्य। यहाँ महाधर्मनौ का महासार्थ-वाह से अन्वय है। इन दोनों वाक्यांशों के बीच जो विशाल समस्त पद है वह नौ का विशेषण है। अनुवाद में, महती धर्म की········नौका के महान् सार्थ सार्थवाह इन दो वाक्यावयवों के बीच मूल के विशाल समास का अनु-वचन किया गया है।

17. मूल, गामिनाभिप्रायस्य। शुद्ध संस्कृत में इसे गामि-अभिप्रायस्य = गाम्यभि-प्रायस्य इस रूप में पढ़ना होगा।

18. मूल पाठ, मान; भोट पाठ **बदुद्**, मार। भोट पाठ उचिततर है।

19. मूल पाठ, दण्ड 'तना'। भोट पाठ, **छु-ब** 'माँस-ग्रन्थि'। भोटभाषान्तर का मूलभूत संस्कृत शब्द क्या था, यह दुरूह है।

8. गंभोर, (धीर)[20] वीर्य ('उद्योग') (तथा धर्म[21]) के जल से अभिषेक किये गये (धर्मदेशना) के उपाय की कुशलता की कर्णिका अर्थात् बीजकोश वाले, बोध्यङ्ग तथा ध्यान के केसर से युक्त, समाधि के किंजल्क अर्थात् पराग-कोश वाले, गुण-गण-रूपी विमल[22] सर में अच्छे प्रकार से उत्पन्न हुए, मद और मान के परिताप[23] ('जलन') से रहित चन्द्रमा के समान निर्मल पत्र वाले, शील, श्रुत अर्थात् गुरुमुख से विद्याश्रवण तथा अप्रमाद[24] (के वचनों[25]) से दश दिशाओं में बेरोक-टोक (उठती [26]) सुगन्धवाले लोक में ज्ञान से बढ़े हुए, आठ लोक के (-9-) धर्मों से निर्लिप्त महापुरुष-रूपी पद्म;

9. पुण्य तथा ज्ञान के भण्डार की फैलती हुई सुरभि-गन्धवाले तथा प्रज्ञा एवं ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से खिले हुए अत्यन्त शुद्ध शत-दलवाले पूर्ण-कमल[28];

10. चार ऋद्धिपादों के परम = 10ख = वेग से दौड़ने वाले[29], चार आर्य-सत्यरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण नख तथा दाढ़ वाले, चार ब्रह्मविहार-रूपी सरल दाँतों के

---

20. भोट पाठ, ब्र्तन् प 'धीर' । यह मूल में नहीं है ।
21. भोट पाठ, छोस् 'धर्म' यह मूल में नहीं है ।
22. मूल के विमल के स्थान में भोट भाषान्तर के साक्ष्यानुसार वितत (तुलनीय भोट, ग्यॅ छेन्) पाठ होना चाहिए । आलंकारिक रुचि के अनुसार विमल उचिततर पाठ है ।
23. मूल पाठ, परिवाह 'धारा, प्रवाह'; भोट पाठ, गदुङ् ब 'ताप, जलन, परिताप' । भोट पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है ।
24. मूल पाठ है—अप्रसाद । यह पाठ सर्वथा प्रकरण के प्रतिकूल है । यहाँ पर भोट पाठ है—बग् योद् प 'अप्रमाद' । निश्चय ही भोट पाठ साधु पाठ है ।
25. भोट पाठ, गसुङ 'वचन' यह मूल में नहीं है ।
26. भोट पाठ, ल्दङ् ब 'उत्थित, उठता हुआ, उठा' । यह पाठ मूल में नहीं है ।
27. मूल में विस्तृत फैला हुआ, फैली हुई; भोट में ह्-ब्युङ् ब 'उत्पन्न, अद्भुत' ।
28. मूल पाठ है शतपत्र पद्मतपन; इस पाठ में तपन (= सूर्य) ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि इससे पूर्व इसी वाक्यांश में दिनकर (= सूर्य) आ चुका है । भोट पाठ पद् म ह्दब् म ब्ग्र्य प गर्यस् प 'शतपत्र पद्मपूर्ण' यहाँ ठीक बैठता है ।
29. मूल पाठ परमजापजपित एक प्रकार का अपभ्रंश पाठ है जिसमें जाप प्रतिनिधि है जाव अथवा जव का, तथा जपति प्रतिनिधि है जवित (= जूत) का । तुलनीय भोट म्छोग् तु-म्ग्योग्स् प हि-शुग्स् दङ् ल्दन् प, 'परम-क्षिप्र-वेगवत्' । हिन्दी अनुवाद इसी अर्थ के समीप है ।

दिखलाने वाले[30], चार संग्रहवस्तुओं के सम्यक् संग्रह रूपी शिर वाले, बारह अंग वाले प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुबोध अर्थात् मन में साक्षात्कार के क्रम द्वारा उन्नत काय वाले, सैंतीस बोधिपाक्षिक-धर्मों की भरी-पूरी विशेष-सुन्दर जटा वाले[31], विद्या तथा ज्ञान रूपी केसर वाले, तीन विमोक्षों की मुख से जंभाई लेने वाले[32] शमथ ('शान्ति'[33]) तथा विपश्यना ('अन्तर्दर्शन') के सुन्दर तथा विशेष शुद्ध नेत्र वाले, ध्यानों, विमोक्षों तथा समाधियों में समापत्ति ('चित्तस्थापन') की पहाड़ी दून की गुहा में बसने वाले[34], चार ईर्यापथों अर्थात् चलने, टहलने, सोने तथा खड़े होने की क्रियाओं तथा विनय अर्थात् सदाचार नियमों के वन तथा उपवनों[35] में भलीभाँति बढ़े हुए शरीरवाले[36], दश-बल तथा चतुर्वैशारद्य[37] (अर्थात् चार प्रकार की निर्भयता) के द्वारा पास में आई हुई शक्ति वाले[38], भव (अर्थात् होने) तथा विभव (अर्थात् न होने) के भय तथा लोमहर्ष (रोएँ खड़े होने

---

30. मूल पाठ चतुर्ब्रह्मविहारनिश्रितदर्शनस्य शोधनीय है। भोट में है **छङ्स् प हि. गनस् बृशि हि-सो द्रङ्-ब्रस्ञेर् ब,** 'चतुर्ब्रह्मविहार-सरलदशन-दर्शक'। संभवतः मूल पाठ चतुर्ब्रह्मविहारनिशितदशनस्य (=चार ब्रह्मविहारों के तेज दाँतवाला) था।

31. मूल पाठ०जातिना० सर्वथा अशुद्ध है। भोटानुसार **रल् प चन्** 'जटिनः' पाठ होना चाहिए जो शुद्ध जान पड़ता है।

32. मूल में मुखविजृम्भित; भोट में '**स्गो**' है। '**स्गो**' द्वार तथा मुख दोनों का वाचक है।

33. मूल में समर्थ, पर पाठान्तर में समथ (='शमथ, शान्ति') है। पाठान्तर ही उचित पाठ है।

34. 'निवासित' यह मूल पाठ 'बसाया हुआ' यह अर्थ देता है पर वस्तुतः अर्थ 'बसा हुआ' होना चाहिए। फलतः यह अपभ्रष्ट पाठ, न्युषित, शब्द के अर्थ में है। तुलनीय भोट, **ग्नस् प** '**स्थित, उषित**'।

35. मूल पाठ, ०नौपवन०; पाठान्तर, ०नोपवन०; ये दोनों पाठ भ्रष्ट हैं। भोटानुसार पाठ ०वनोपन० होना चाहिए। तुलनीय भोट, **नग्स् छल् दङ् नग्स् ह.-दब्** 'वन षण्ड वन पंक्ति'।

36. मूल में ०तरोः; पर भोट में **लुस् दङ् ल्दन् प** ०तनोः।

37. मूल में केवल वैशारद्य; भोट में **मि ह.-जिग्स् प बृशि**, 'चतुर्वैशारद्य'।

38. मूल में, ०अभ्यासीभावितबलस्य अपभ्रष्ट है। इसे शुद्ध संस्कृत में ०अभ्याशीभूतबलस्य इस रूप में अनुवाद करना होगा। तुलनीय भोट, **ञे बहि. स्तोबस् दङ् ल्दन् प** 'समीपागतशक्तिमत्'।

(की दशा) से बीते हुए, असंकुचित पराक्रम वाले, तीर्थ्य (अर्थात् पाखण्डी जन) रूपी शशकों तथा मृगों के संघ को मथने वाले, नैरात्म्य की घोषणा के शब्द रूपी महान् सिंहनाद का निनाद करने वाले नर-सिंह।

11. विमुक्ति तथा ध्यान के मंडप से (निकलने वाली) प्रज्ञा रूपी = 11क = प्रकाशकिरणों द्वारा तीर्थंकर अर्थात् पाखण्डमत-प्रवर्त्तक रूपी खद्योत-समूह को प्रभाहीन करने वाले, अविद्या रूपी तमिस्र के अँधेरे तमिस्र-पटल को तिमिर रहित करने वाले दीप्त बल तथा वीर्य ('उत्साह') वाले, देवताओं तथा मनुष्यों में पुण्य तेज से तेजस्वी महापुरुष-रूपी दिवाकर;

12. कृष्ण-पक्ष को बिताए हुए, शुक्ल-पक्ष को परिपूर्ण किये हुए, मन तक पहुँचने वाले अर्थात् मन को अच्छे लगने वाले, देखने में प्यारे, आँख की इन्द्रिय का प्रतिघात न करने वाले, शत-सहस्र देवता रूपी नक्षत्र-मण्डल से सुशोभित, ध्यान, विमोक्ष तथा ज्ञान रूपी बिम्ब वाले, बोध्यङ्गों के सुख की रश्मि अर्थात् किरण[39] रूपी शशिकिरण अर्थात् चाँदनी वाले,[40] बुधों अर्थात् पंडितों, देवताओं[40] तथा मनुष्यों के कुमुदों को खिलाने वाले, महापुरुष रूपी चन्द्रमा[41]

13. (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिकाओं की) चार परिषद् रूपी द्वीपों में पहुँचे हुए, सात बोध्यङ्ग रूपी रत्नों से युक्त, सब प्राणियों में एक समान चित्त रखने वाले, बे-रोक-टोक-बुद्धि के धनी;

14. दश कुशल कर्मपथों के व्रत रूपी तप के भली-भाँति समृद्धि एवं परि-

---

39. भोट पाठ में 'रश्मि' शब्द नहीं है। तुलनीय—**ब्यङ् छुब् क्यि-यन् लग् गि-ब्दे बस्-ह्ल ब हि. होद् झेर् दु-ग्युर् प** 'बोधि-अङ्ग-सुख-शशि-किरण-भूत'। मूल पाठ है—बोध्यंगसुखरश्मिशशिकिरणस्य।

40-40. मूल में बुद्ध-विबुद्धमनुजकुमुदविबोधक पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ बुधविबुधमनुजकुमुदविबोधक होना चाहिए। तुलनीय भोट पाठ—**मि दङ् ल्ह म्खस् प हि. मे तोग् कु मु द ख ह्.-ब्येद् प** 'बुधविबुधमनुजकुमुदपुष्पविबोधक'।

41. मूल पाठ जो मुद्रित है वह चन्द्रसम। यह असमासान्त पाठ है, क्योंकि परवर्ती वाक्यांश के साथ समास के रूप में पढ़ा गया है। यहाँ पाठान्तर **चन्द्रस्य** है। पाठान्तर ही यहाँ ठीक है। भोट में **स्क्येस्-बु छेन् पो ह्ल ब** 'महापुरुषचन्द्र' एक पृथक् वाक्यांश है। हिन्दी अनुवचन में इसी का अनुसरण कियां गया है।

पूर्ण विशेष '(गुण') में जाने के[42] अभिप्राय से युक्त, धर्म के राजा[43] अर्थात् बुद्ध के उत्तम तथा क्षेष्ठ धर्म रूपी रत्न के चक्र को बे-रोक-टोक घुमाने वाले, चक्रवर्तियों की परम्परा वाले कुल में कुलीन होकर उत्पन्न हुए[44], महान् धर्मचक्र = 11ख = के प्रवर्त्तक[45];

15. गहरे तथा कठिनाई से प्रवेश के योग्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सब धर्मरत्नों से परिपूर्ण, न (कभी) तृप्त होने वाले श्रुत ('श्रवण'), से (एकत्रित हुए) विपुल, विस्तीर्ण तथा अनन्त[46] ज्ञान से शील की वेला ('तट-सीमा') को न उलाँघने वाले, (धर्म की) महापद्म (रूपी निधि को अपने) भीतर देखने वाले[47], समुद्र और पृथ्वी के समान विपुल ('अर्थात् गम्भीर तथा व्यापक') श्रेष्ठ बुद्धिवाले[48]

16. पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु के समान (--10--) चित्तवाले सुमेरु के समान दृढ़, अचल[49] तथा अडिग मानस वाले[50] राग तथा द्वेष से हीन, गगन-

---

42. मूल पाठ, गमन। यहाँ पर भोट में जो प्रतिशब्द है वह निश्चय ही गमन का प्रतिशब्द नहीं है। पर भोट पाठ मैं स्वयं समझ नहीं पाया हूँ अतः उसके संस्कृत मूल को खोजना अशक्य है। भोट पाठ यह है—**पोग्स् द्बयुङ् बर ब्य बहि.** (?)

43. मूल, धर्मराजावर० = धर्मराजा (= धर्मराज) + वर०। तुलनीय, **छोस् क्यि-ग्यल् पो हि.**····**म्छोग्**····, धर्म के राजा के····वर····। यहाँ ०राजव० पाठान्तर संस्कृतीकरण का प्रयास है।

44. भोट पाठ, **ह्.-खोर् लो ब्स्ग्युर् ब हि. रिग्स् क्यि र् ग्युर ड्ड ब्युङ् ब**, चक्रवर्तिवंशकुलोत्पन्न। मूल में पाठ है, चक्रवर्तिवंशकुलकुलोदित। भोट में इस प्रकार (कुल) शब्द केवल एक बार पढ़ा गया है।

45. **छोस्** क्यि **ह्.-खोर् लोस्** (?) **स्ग्युर्** (?) **छेन् पो**, महाधर्मचक्रप्रवर्तक, मूल में नहीं है।

46 मूल पाठ, आरम्भ; भोट पाठ **म्थह् यस्** अनन्त। हिन्दी अनुवाद भोटानुसार है।

47. मूल, महापद्मगर्भेक्षणस्य। यह पाठ भोट में नहीं है।

48. मूल पाठ, सागरवरधरविपुलबुद्धेः। यह पाठ कुछ भ्रष्ट है। भोट पाठ **ब्लो ग्र्य म्छो दङ् स ल्तर् ग्र्य छे बहि. म्छोग् दु ग्युर् प**, सागरधरासदृशविपुलवरबुद्धेः। हिन्दी अनुवाद में भोट पाठ का अनुसरण किया गया है।

49. ०बल० मूल में अशुद्ध है। अचल शुद्ध पाठ है। तुलनीय भोट, मि **ग्यो** ल अ — चल।

50. मूल, अप्रकम्पमानस्य; भोट, **ब्स्क्योद् पर् मि नुस् पहि. यिद् दङ् ल्दन् प**, अप्रकम्पमानमानस्य।

तल जैसी निर्मल, महती, अनुपमेय[51] तथा व्यापक बुद्धिवाले;

17. सम्यक् प्रकार से शुद्ध अध्याशय अर्थात् अभिप्राय वाले, भली-भाँति दान दे चुकने वाले, सम्यक् रूप से पूर्वयोग (अर्थात् पूर्वजन्म में सुकरणीय कर्म) कर चुकने वाले, अच्छी विधि से अधिकार (अर्थात् बुद्ध प्रमुख पूज्यों की सेवा-सुश्रूषा) कर चुकने वाले, सत्य के अलंकार से अलंकृत[52] सब कुशल मूलों की खोजकर चुकने वाले (पूर्वजन्म की पवित्र) वासनाओं (अर्थात् संस्कारों) से वासित रहने वाले, सब (प्रकार के) कुशलमूल को आगे बढ़ाने वाले (महापुरुष) के सदृश[53]

18. सात असंख्येय[54] कल्पों में सब कुशल मूल के स्यन्द[55] अर्थात् रस को सम्यक् ऊपर ले आने वाले[56], सात प्रकार के दान दे चुकने वाले[57], पाँच प्रकार की पुण्य-क्रिया-वस्तुओं का सेवन कर चुकने वाले, शरीर के द्वारा तीन प्रकार के, वाणी के द्वारा चार प्रकार के, मन से तीन प्रकार के सुशोभन चरित्र वाले (इस प्रकार) दश कुशल कर्मपथ का सब प्रकार से ग्रहण[58] तथा सेवन कर चुकने वाले;

19. =12क=चालीस अंगों से युक्त सम्यक् प्रयोग का सेवन कर चुकने वाले, चालीस अंगों से युक्त सम्यक् प्रणिधान का प्रणिधान कर चुकने वाले, चालीस अंगों से युक्त सम्यक् अध्याशय ('अभिप्राय') की प्राप्ति कर चुकने वाले, चालीस अंगों से युक्त सम्यक् विमोक्ष की परिपूर्णता कर चुकने वाले, चालीस अंगों से

---

51. मूल, असह्य सर्वथा अशुद्ध है। भोट पाठ ह्.-ब्र ब मेद् पर्, अनुपमेय, सादृश्यरहित।

52. मूल दत्तसत्यंकारस्य। यह पाठ भ्रष्ट है। भोट, ब्देन् पहि. ग्'यन् गिस् लेग्स् पर् बृग्'यन् प, सत्यालंकारालंकृतस्य। यही उचित पाठ जान पड़ता है।

53. मूल, निर्याणमिव सर्वकुशलमूलस्य, संभवतः निर्याणस्येव सर्वकुशलमूलस्य का भ्रष्टतर पाठ है। भोट पाठ, द्गे बहि., र्च ब डेस् पर ब्यस् प, कुशलमूल-निश्चयं कृतवतः, अथवा, कृतकुशलमूलनिश्चयस्य, कुशलमूल का निश्चय कर चुकने वाले, इतना ही है।

54. मूल संख्येय, भोट, ग्रङ्स् मेद् प, असंख्येय।

55. ‹स्यन्द› यह पाठ भोट में नहीं है।

56. मूल, समुदानीतसर्वकुशलमूलस्यन्दस्य। भोट, द्गे बहि. र्च ब थम्स् चद् यङ् दग पर् ब्स्युबस् प, सर्वकुशलमूलसंसिद्धस्य।

57. मूल, सप्तविधदानस्य; भोट स्बियन् प र्नम्स् प ब्दुन् बियन् प, दत्तसप्त-विधदानस्य।

58. मूल, आदान (=सब प्रकार से ग्रहण)। यह पाठ भोटभाषान्तर में नहीं है।

यक्त अधिमुक्ति ('श्रद्धालुता') को ऋजु[59] (--भाव से ग्रहण) कर चुकने वाले;

20. चालीस शतसहस्र ('लाख') नियुक्त ('खर्ब') (संख्यक) कोटि बुद्धों (की शरण) प्रव्रज्या ले चुकने वाले, पचपन शतसहस्र ('लाख') नियुत ('खर्ब'), (संख्यक) कोटि बुद्धों को दान दे चुकने वाले, अर्धचतुर्थ ('साढ़े तीन') सौ कोटि प्रत्येक-बुद्धों की सेवा-सुश्रूषा कर चुकने वाले, अप्रमेय तथा असंख्येय प्राणियों को स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग की प्राप्ति करा चुकने वाले,

21. अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को अत्यन्त उत्तमता से बुझने की कामना वाले, एक जन्म भर का बन्धन वाले इस लोक से च्युत होकर तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन में ठहरे हुए, देव-पुत्रों में उत्तम, श्वेतकेतु नामक, सब देव-संघों से भली-भाँति पूज्यमान; बोधिसत्त्व का (वर्णन) है, (जो)[60] यहाँ से च्युत होकर[60], मर्त्य लोक में उत्पन्न हो, बिना चिर काल, सम्यक् सम्बोधि का अत्यन्त उत्त-मता के साथ बोध करेंगे।

22. = 12ख = बत्तीस सहस्र भूमिकाओं ('तलों') से प्रतिष्ठित किये गये, वित-र्दियों ('चबूतरों'), निर्यूहों ('अटारियों'), तोरणों, ('द्वार के बाह्य भागों') गवाक्षों ('गोरखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों'), कूटागारों ('सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों'), प्रासादों ('राजनिवास के योग्य भवनों') के तलों ('छत के खुले आंगनों') से भलीभाँति अलंकृत, फहराते हुए छत्रों, ध्वजाओं और पताकाओं वाले, रत्नों की किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों वाली जाली (की झालर) लगे वितानों ('चंदवों') से व्याप्त, मान्दारव तथा महामान्दारव नाम के (देव लोक मे होने वाले) पुष्पों को फैलाकर सजाये गये, शतसहस्र ('लाख') नियुत (खर्ब)—(संख्यक) कोटि अप्सराओं के संगीत अर्थात् गाने-बजाने-नाचने से हल-चल वाले, अति-(--11--) मुक्तक (माधवी लता) चम्पक, पाटल, कोविदार ('चमरिक') मुचि-लिन्द एवं महामुचिलिन्द, (वृक्ष विशेष), अशोक, न्यग्रोध (बड़ा वट-वृक्ष) तिन्दुक ('तेंदुआ') असन[61] ('बन्धूक = गुलदुपहरी') कर्णिकार ('कनेर') केशर

---

59. मूल, ऋजीकृतवतः, पाठान्तर ऋज्वीकृतवतः वस्तुतः शुद्ध संस्कृत में ऋजूकृतवतः होगा। तुलनीय भोट, ग्रङ् पोर् ब्यस् प, सरलीकृतवतः।

60····60. मूल, इतश्च्युतः। इससे पूर्व मुद्रितग्रन्थ में है रश्म्यायपरम् (?) भोट में है केवल ह्-दिर्, अत्र, यहाँ।

61. मूल, ०सन०; भोट, अ-स-न।

('बकुल' या 'मौलसिरी') [तमाल[62]] साल तथा रत्नों के महावृक्षों[63] से सुशोभित, सुवर्ण की जालियों से आच्छादित, सम-तल-क्षेत्र [64] (पर बने) व्यूहों अर्थात् मण्डपों से सुशोभित, < [65]ज्योति ('जुही') मालिका ('चमेली') सुमना ('वसन्त में खिलने वाली जाति नाम की चमेली') वार्षिकी, ('वर्षा में खिलने वाली चमेली') तरणि[66] ('आक वा मदार'), वर्ण अर्थात् कुंकुम[66★] गोतरणि[67] (पुष्प-विशेष), सुगन्धिक ('छोटा सफेद कमल या अनार'), धानुष्कारिका[68] (पुष्प-विशेष), देवसुमना ('देवमालती'), उत्पल ('छोटे कमल'), पद्म (दिन में खिलने वाले कमल), कुमुद ('रात में खिलने वाले कमल'), पुण्डरीक ('अत्यन्त श्वेतकमल'), सौगन्धिक ('नील कमल') पुष्पों के बड़े-बड़े वितान अर्थात् चंदवों[69] से तनें हुए देश-प्रदेश[70] वाले, पत्रगुप्त (पक्षगुप्त), शुक, सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, = 13क = चक्रवाक, कुणाल ('अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल') कलविंक ('चटक वा गौरैया') तथा जीवंजीव ('चकोर') आदि नाना प्रकार के पक्षियों के समूह के मधुर स्वर द्वारा[70] प्रकूजित, 65 > तथा शत-सहस्र ('लाख') नियुत

---

62. केवल भोट में ही यह पाठ है ।

63. मूल, ०वृक्ष०; पर भोट, ०महावृक्ष०; तुलनीय **शिङ् ल्जोन् प छेन् पोस्**, महावृक्षैः ।....भोट में यह अंश एक वाक्यांश है । वस्तुतः यहाँ दो वाक्यांश हैं । देखिये इसी अध्याय की टिप्पणियाँ 71, 72 ।

64. मूल, समतल०; भोट **ग्शि म्ञम् शि-ङ्**, समतल क्षेत्र ।

65....65. मूल में ज्योतिर्मालिकासुमनोवाते मुद्रितपुस्तक में विशाल पाठान्तर दिया गया है । जो यों है—(ज्योतिर्मालिकासुमनो) वार्षिकीतरणीवर्णगोवरणि-सुगन्धिकधातुस्फनितेदेवसुमनोत्पलपद्मकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकमहापुष्पितान - विततप्रदेशे पत्रगुप्तशुकसारिकाकोकिलहंसमयूरचक्रवाककुनारकरविंकजीवं-जीवकादिनानाधिद्विजगणमधुरस्वरपकुजिते । निश्चय ही मूल में जो० बातें हैं वह वार्षिकी का "**वा**" तदनन्तर लेखक प्रमाद से बीच का सारा भाग छोड़कर ०कुजिते के अन्तिम अक्षर "**ते**" से मिलकर बना है । भोट में इस समूचे पाठ का अनुवाद है, अतः इसे पाठान्तर में न डालकर मूल में रखना होगा ।

66. मूल तरणी; भोट, **त र नि ।**

66★. वर्ण के स्थान भोटानुलिपि, **ब लि** ।

67. मूल, गोवरणि; भोट, **को त र नि ।**

68. मूल, धातुस्फनिते । यह निश्चय ही अशुद्ध हैं । भोट, **धनुस्करि ।**

69. मूल, पुष्पितान । जो सर्वथा अशुद्ध है । भोट, **ब्ल-ब्रे**, वितान ।

70. मूल, प्रदेश भोट, **फ्योगस् फ्योगस् सु** (देश (प्र) देशे) ।

('खर्ब')–(संख्यक)-कोटि देवताओं की आँखों द्वारा देखे गये आलोक ('दर्शन') वाले, उस महाविमान पर सुख से बैठने पर[71] महान् तथा विपुल ('व्यापक एवं गम्भीर') धर्म की संगीति ('पारायण') द्वारा काम (–विषयक–) रति के वेग रूपी क्लेश को छिन्न-भिन्न करने वाले[72] खिल अर्थात् कठोरता रूपी चित्तवृत्ति के व्यपगत होने('दूर चले जाने') से, क्रोध, प्रतिघ ('दूसरे पर आघात करने वाला तीव्र क्रोध'), मान, मद, दर्प को दूर हटाने वाले[72], तथा प्रीति, प्रसाद, प्रामोद्य से उत्तप्त ('उत्तेजित') विपुल ('व्यापक एवं गंभीर') स्मृति का भलीभाँति उत्पादन करने वाले, वहाँ सुख से बैठे हुए[71] (बोधिसत्त्व) के धर्मसांकथ्य अर्थात् धर्म प्रवचन के प्रवृत्त होने पर, चौरासी सहस्र वाद्य तथा संगीतियों ('गान की प्रवृत्तियों') के ध्वनित होने से बोधिसत्त्व के पूर्व के शुभ कर्मों की वृद्धि से ये संचोदना-गाथाएँ ('प्रेरणा देने वाली गाथाएँ') निकलती थीं।

(संजोदना-गाथाएँ)

(आर्या छन्द)

स्मर विपुलपुण्यनिचय, स्मृतमतिगतिमनन्त,[73] प्रज्ञाप्रभाकरिन्[74]।

---

71. मूल, तस्मिन् महाविमाने सुखोपविष्टस्य; सुखोपविष्टस्य तस्मिन्। इन दोनों पाठों के स्थान में भोट में केवल प्रथम पाठ **ग़्शल् मेद् खङ् छेन् पो दे न ब्दे बर् ग्नस् शिङ्**, है। भोटानुवाद में दूसरा दोष यह है कि महाविमान तथा धर्मसांकथ्य के विशेषणों को अलग नहीं किया गया है तथा सबको महाविमान के साथ जोड़ दिया गया है।

72····72. मूल, व्यपगताखिलक्रोधप्रतिघमानमददर्पापनयने। भोट, **ङ ग्र्यल् दङ् ग्र्यंग्स् प दङ् ख्रेग्स् प दङ् ख्रो बा दङ् थ ब दङ् ख्रोङ् ख्रो ब मेद् पर् ग्युर् ब**, मानमददर्पक्रोधखिलप्रतिघापनयने। व्यपगताखिल यह मूल पाठ का भाग अत्यन्त संदिग्ध है। व्यपगताखिल यह मूल पाठ का भाग अत्यन्त संदिग्ध है। व्यपगताखिल के अखिल के स्थान में भोट की भाँति केवल खिल (=चित्त की कठोर वृत्ति-विशेष) पढ़ लेना अर्थ कठिनता को दूर कर देता है। खिल शब्द के लिए देखिए विसुद्धिमग्ग 7।59 टीका। इन खिल प्रभेदों में एक का वर्णन यों है—सब्रह्मचारिसु कुपितो होति।

73. मूल, स्मृतिमतिगतिमनन्त। भोट, **द्रन् तोंग्स दङ् ब्लो ग्रोस् मृथह़् यस्**, स्मृतिगतिमत्यनन्त। मूल में °गत्यन्त के स्थान में °गतिमनन्त केवल मुखसुखार्थ तथा यण् सन्धि निवारण के लिए मकारागमयुक्त पाठ है।

74. °करिन् मूल में केवल °कर का स्थानापन्न है। तुलनीय भोट, **शेस् रब् ह़ोद्-म्ज़द् प**, प्रज्ञा-प्रभा-कर।

अतुलबल, विपुलविक्रम,[75] व्याकरणं दीपसहेनास्ति[76] ।।१४।।

हे विपुल पुण्यों के समूह, के स्मृति, मति तथा गति (तत्त्वबोध) में असीम, हे प्रज्ञा के प्रभाकर, हे अनुपमेय बल वाले, हे विपुल पराक्रम वाले, दीपंकर (भगवान् के अपने (विषय के) व्याकरण (= भविष्यवाणी) का स्मरण करो ।

स्मर विपुलनिर्मलमनस्,[77] त्रिमलमलप्रहीन, शान्तमददोषं ।
शुभविमलशुद्धचित्ता, दानचरी[78] यादृशा ति पुरे ।।15।।

हे विपुल तथा निर्मल मन वाले, हे तीन मलों से रहित, हे शान्त हुए मद तथा दोष वाले, हे पवित्र, मलिनता रहित तथा शुद्ध चित्त वाले, पुरा (युग) में जैसी दानचर्या तुमने (की है उसका) स्मरण करो । = 13ख =

स्मर स्मर[79] कुलकुलीना शमथं शीलव्रतं क्षमादमं चैव ।
वीर्यं बल ध्यान प्रज्ञा निषेविता कल्पकोटि नियुतानि ।।16।।

हे कुल के कुलीन[80] खर्ब-खर्ब कोटि कल्पों में (जिस) शान्तसमाधि, शील-व्रत, क्षमा तथा दम (दान्तभाव), वीर्य, बल, ध्यान एवं प्रज्ञा का भलीभाँति सेवन किया है (उसका) स्मरण करो ! स्मरण करो !!

स्मर स्मर अनन्तकीर्ते सम्पूजिता ये ति[81] बुद्धकोटि नियुतानि[82] ।
सत्त्वान्[83] करुणायमानः कालोऽयं मा उपेक्षस्व ।।17।।

---

75. भोट में मूल के विपुलविक्रम के स्थान में **स्त्युगु चेंल् ग्यं छे ब** (= विपुल-कलावन्) पाठ है ।
76. मूल में मुद्रित, दीपसहेनास्ति । पाठान्तर में शोधित दीपसहेन ति । छन्द के लंगड़ापन को बचाने के लिए दीपसहेना रखना ठीक है । जान पड़ता है दीपसहेना ति को मुखसुखार्थ सकारागम द्वारा दीपसहेनास्ति कर डाला गया है । "ति" = संस्कृत "ते" (= तव, त्वया, तुभ्यम्) "ति" को त्वया मान कर भोट में अनुवाद आगे किया गया है । देखिए पाद टिप्पणी 2/81 ।
77. मूल, °मनस् । इस बहुव्रीहि समास का उल्था **थुग्स् मङ्ह्.. ब,** मनवाला, शब्द से किया गया है जैसा कि हिन्दी में किया जाता है ।
78. मूल, दामचरी; पाठान्तर, दानचरी । भोट, **स्बियन् स्प्यद्,** दानचर्या । भोटानुवाद पाठान्तर का समर्थक है ।
79. मूल, स्मर । भोट, **द्गोङ्स् म्ज़ोद् द्गो ङ्स् पर म्ज़ोद्,** स्मर-स्मर ।
80. मूल, कुलकुलीना (संबोधन पद, शुद्ध संस्कृत में कुलकुलीन । संबोधन तथा प्रथमा के एकवचन की यह दीर्घता इस भाषा का एक सामान्य लक्षण है) । भोट, **स्प्योद् रिग्स् छर् ब्युङ्,** पूर्णचरित्रवत्कुलप्रसूत ।
81. ति = ते (= त्वया) । तुलनीय भोट, **ख्योद् कियस्** त्वया ।
82. मूल, बुद्धनियुतानि । भोट, **सङ्स् ग्यंस् ब्ये ब रब्रग् रिब्रग्,** बुद्धकोटिनियुतानि ।

हे अनन्त कीर्तिवाले, सत्त्वों पर कृपा करते हुए, तुमने जिन खर्ब-खर्ब कोटि बुद्धों की पूजा की है, उसका स्मरण करो ! स्मरण करो !! यह समय (है)[84] उपेक्षा मत करो ।

च्यव च्यव हि च्युतिविधिज्ञा जरामरणक्लेशसूदना विरजा ।
समुदीक्षन्ते बहवो देवासुर[85] नागयक्षगन्धर्वा ॥18॥

हे च्युति, अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में अवतार लेने की विधि को जानने वाले, हे बुढ़ापा, मृत्यु, क्लेशों को नष्ट करने वाले, हे रजस् अर्थात् राग-द्वेष से हीन, बहुत से देव, असुर, नाग, यक्ष तथा गन्धर्व (तुम्हारे अवतार की) प्रतीक्षा कर रहे हैं, इस लिए अवतार लो ! अवतार लो !!

कल्पसहस्र रमित्वा तृप्तिर्नास्त्यम्भसीव समुद्रे
साधु भव प्रज्ञातृप्त तर्पय जनतां चिरतृषार्ताम् ॥19॥

कल्प-सहस्रों तक (भोग-विलास में) रम कर, समुद्र के पानी (पीने की) भाँति तृप्ति नहीं होती । उत्तमता के साथ प्रज्ञा द्वारा तृप्त हो जाओ, (तथा) चिर काल से पिपासाकुल जनता को तृप्त करो ।

किं चाप्यनिन्दितयशस्त्वं धर्मरतिरतो न चासि कामरतः । (–12–)
अथ च पुनरमलनयना अनुकम्पा सदेवकं लोकं ॥20॥

इसके अतिरिक्त,[86] तुम निन्दा से विहीन कीर्ति वाले हो, धर्म की रति में रमे हुए हो, और[86] काम में रमे हुए नहीं हो, और फिर[86] निर्मल नेत्र वाले हो, देवताओं के समेत लोक पर अनुकम्पा करो ।

---

83. मूल, सर्वान् । भोट, **सेम्स् चन् नंम्स् ल,** सत्त्वान् । यह भोटानुसारी पाठ अधिक अच्छा है ।

84. मूल में क्रिया साक्षात् उक्त नहीं है । भोट में **लग्स् क्यिस्,** अस्ति, यतः अस्ति (= है, क्योंकि है) ।

85. मूल के **असुर** के स्थान में भोट में **ल्ह मेन् द्बङ पो, असुरेन्द्र** पाठ है ।

86. मूल के किंचापि (इसके अतिरिक्त) च (और) तथा अथ च (पुनः और फिर) का भोट रूपान्तर ठीक-ठीक नहीं हुआ । एक ही गाथा में इन तीन वाक्यावयवों के लिए भोट में **ह्.ोन् क्यङ** (अथ च, अथापि) केवल एक बार आया है । इसी प्रकार का भोटानुवाद में अधूरापन अन्य गाथाओं के इस प्रकार के पदों के विषय में है ।

किं चापि देवनयुताः[87] श्रुत्वा धर्मं न ते वितृप्यन्ते।
अथ च पुनर् अक्षणगतानपायसंस्थानपेक्षस्व ॥21॥

इसके अतिरिक्त तुम्हारे धर्म को सुनकर खर्ब-खर्ब देवताओं का मन अत्यन्त नहीं भर पाया है (अतः उनका मन पूरा भरने के लिए) अब फिर अक्षण अर्थात् आठ प्रकार के असमय, यथा, नरकयोनि, प्रेतयोनि, तीर्यग्योनि, दीर्घायुष देव-योनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता (की अवस्था) को प्राप्त हुए, दुर्गति में पड़े हुए (सत्त्वों) को देखो।

किं चापि विमलचक्षो पश्यसि बुद्धान् दशादिशि लोके। = 14क =
धर्मं शृणोषि च ततस् तं धर्मवरं विभज लोके ॥22॥

इसके अतिरिक्त, हे निर्मल नेत्र वाले! (तुम) लोक में, दसों दिशाओं में, बुद्धों को देख रहे और उनसे धर्म को सुन रहे हो, उस श्रेष्ठ धर्म को लोक में बाँटो।

किं चापि तुषितभवनं तव पुण्यश्रियाभिशोभते श्रीमान्।
अथ च पुनः करुणमानस प्रवर्ष जम्बुध्वजे[88] वर्षं ॥23॥

इसके अतिरिक्त, हे शोभा वाले! तुम्हारी पवित्र शोभा से तुषितभवन सुशोभित हो रहा है। अब फिर, हे दयालु हृदय वाले! जम्बू की ध्वजा वाले (द्वीप) में (धर्म की) वृष्टि बरसा दो।

समतीत्य कामधातुं देवा ये रूपधातुकानेके।
सर्वे त्यभिनन्दन्ते[89] स्पृशेय सिद्धिव्रतो बोधिं ॥24॥

कामधातु को पार कर जो अनेक रूपधातुक अर्थात् रूपधातु के निवासी देवता हैं वे सब अभिनन्दन कर रहे हैं कि व्रतों में सिद्ध बोधि का स्पर्श करे।

निहता ति[90] मारकर्मा जितास्त्वयान्ये कुतीर्थिका नाथा।
[91]करतलगता इव[91] ति[92] बोधी कालोऽयं मा उपेक्षस्व ॥25॥

---

87. भोट, ल्ह नॅमस् ब्ये ब, देवकोटयः।

88. मूल, जम्बुध्वजे। भोट में म्वु के स्थान में म्बु लिपि है।

89. त्यभिनन्दते = ते अभिनन्दन्ते। ते (प्रथम-पुरुष बहुवचन पुल्लिङ्ग)। भोट में इसका अनुवाद नहीं किया गया है।

90. ति = ते, त्वया। तुलनीय भोट, ख्योद् क्यिस् त्वया, तुमने।

91····91. मूल, केन सकलगत। यह पाठ स्पष्ट ही अशुद्ध है। भोट में इसके स्थान पर प्यग् मृथिल् ब्शग् बङ् ब्र, करतलगता इव पाठ है।

92. ति = ते, तव। भोट में केवल ख्योद् नि, त्वत्० है।

हे नाथ ! तुमने मार के कर्मों का हनन किया है, तुमने अन्य कुतीर्थिकों को जीत लिया है, बोधि तुम्हारी हथेली में आई सी है, यह समय है, (इसकी) उपेक्षा मत करो ।

क्लेशाग्निना प्रदीप्ते लोके त्वं वीर मेघवद्व्याप्य ।
अभि वर्षामृतवर्षं शमय क्लेशान्नरमरूणान्[93] ॥26॥

क्लेश की आग से जलते हुए जगत् में, हे वीर ! तुम मेघ की भाँति व्याप कर, अमृत की वृष्टि अति करके बरसो (तथा) मनुष्यों और देवताओं के क्लेशों को शान्त करो ।

त्वं वैद्यधातुकुशल चिरातुरान् सत्यवैद्य[94] सत्त्वान्[95] ।
त्रिविमोक्षागदयोगैर्निर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रं ॥27॥

हे वैद्य-धातु अर्थात् वैद्यकतत्त्व में निपुण, हे सच्चे वैद्य ! तुम तीन विमोक्ष अर्थात् अभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन, बाह्य-अशुचि-दर्शन, तथा बाह्याभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन रूपी अगद (= भैषज्य) के योगों से, चिरकाल से पीड़ित प्राणियों को निर्वाण के सुख में शीघ्र स्थापित करो ।

अश्रुत्व सिंहनादं क्रोष्टुक[96] नादं नदन्त्य् अनुत्रष्टाः[97] ।
नद बुद्धसिंहनादं = 14ख = त्रासय कुतीर्थिकसृगालान् ॥28॥

---

93. नरमरूणान् (= नरमरूणां शुद्ध संस्कृत में, नरामराणाम) के भोटानुवाद में नर, शब्द उत्तर पद है, **ल्ह मि नंमस् क्यिस्** अमर-नराणाम्, देवमनुष्याणाम् । भोट, **क्यिस्** (तृतीयाविभक्ति) **क्यि** (षष्ठी विभक्ति) के स्थान पर । इस प्रकार का विपर्यास भोटानुवाद में प्रायः देखा जाता है ।

94. मूल के सत्यवैद्य का रूपान्तर भोट में **स्मन् पस् बोर् ब यि**, वैद्य ···(?) है । **बोर् ब** का अर्थ गवेषणीय है ।

95. सत्यवैद्य के बाद मूल का मुद्रित पाठ सत्यवान् सचमुच ही अशुद्ध है । भोट पाठ, **सेम्स् चन्**, सत्त्वान् उचित पाठ है ।

96. मूल के मुद्रित ग्रन्थ में कोष्टुक को नादं के साथ जोड़ दिया गया है । पर अनुत्रष्टाः यह विशेषण जिस विशेष्य को सूचित करता है वह क्रोष्टुक शब्द ही है । अतः क्रोष्टुक को पृथक् पद मानना होगा । भोटानुवाद में यह पृथक् पद है पर इसके विशेषण को वहाँ क्रिया-विशेषण बना दिया गया है । भोट पाठ यों है—**व नंमस् ह,-जिग् मेद् पर्**, क्रोष्टुकाः (शृगालाः) निर्भयं ।

97. अनुत्रष्टाः = अनुत्रस्ता (अभीताः) इस विशेषण पद का भोट में, **ह जिग्स् मेद् पर्** अनुत्रस्तं अनुवाद है । इसमें विशेषण क्रिया-विशेषण बन गया है ।

सिंहनाद को न सुन कर भयरहित क्रोष्टुक अर्थात् शृगाल गर्ज-गर्ज बोलते हैं। बुद्धसिंह की गर्जन गरजो, परपन्थी शृगालों को त्रस्त करो।

प्रज्ञाप्रदीपपहस्तो बलवीर्यबलोदितो धरणिमण्डे।
करतलवरेण धरणीं परा[98] हनित्वा[99] जिनहि मारं[100] ॥29॥

धरती के मण्ड वा सारभूत अर्थात् बोधि प्राप्त स्थान पर प्रज्ञा का प्रदीप हाथ में लिए हुए, बल से तथा वीर्य (=उद्योग) के बल से उदित हुए, (तुम) श्रेष्ठ हाथ की हथेली से धरती को ठोंक कर मार को पराजित करो।

समुदीक्षन्ते पालाश्चतुरो[101] ये तुभ्य दास्यते पात्रं।
शक्राश्च ब्रह्म नयुता ये जातं त्वां ग्रहीष्यन्ति ॥30॥

(वे) चार (लोक) पाल जो तुम्हें खर्ब-खर्ब इन्द्र और ब्रह्मा जो उत्पन्न (होने पर) तुम्हें ग्रहण करेंगे, प्रतीक्षा कर रहे हैं।

व्यवलोकयामियशा [101★] कुलरत्न[102]कुलोदिता[103] कुलकुलीना।
(-13क-) यत्र स्थित्वा सुमते दर्शयसि बोधिसत्त्वचर्यि ॥31॥

हे उत्तम यशवाले, हे शोभन मतिवाले, हे कुल के कुलीन, जहाँ रहकर बोधिसत्त्वचर्या दिखलाओगे (उस) में उठे हुए, कुल के रत्न को विशेष रूप से देखो।

---

98. परा……जिनहि = भोट में **रब् तु फम् पर् मुर्जोद्।** देखिए पाद टिप्पणी २।१००।

99. मूल, हनित्वा। भोट, **बर्डब् मुजोद् दे** पीडयित्वा (दबाकर)।

100. मारम् के स्थान में भोट पाठ है, **.हृदि नंम्स्, एतान** (=इन पर तीर्थिकों को) यहाँ भोट पाठ से मूल पाठ उत्कृष्ट है!

101. पालाश्चतुरः = चत्वारः लोकपालाः (चार लोकपाल)। तुलनीय भोट, **.हृ जिगस् तेन् स्क्योङ् ब्शि पो,** चत्वारः लोकपालाः।

101★. अभियशा, यह पद भोटानुवाद में छूट गया है।

102. कुलरत्न इसे पृथक् पद के रूप में पढ़ना चाहिए। इसके स्थान में भोट में है—**रिगस किय नङ् न ब्चुन् पो रिग्स् ल,** कुल के बीच अभिजात कुल को।

103. कुलोदिता (कुल में उठे हुए), के स्थान में भोट में है—**बम् प् रिग्स् स्क्योस्** ब, सत्कुलोत्पन्न।

104. कुलकुलीना (कुल के कुलीन) के स्थान में भोट में है—**रिग छेन् रिग्स् ल्दन्-प** महाकुलकुलीन।

यत्रैव भाजनेऽस्मिन् मणिरत्नं तिष्ठते भवति श्रीमान् ।
मणिरत्नविमलबुद्धे[105] प्रवर्ष जम्बुध्वजे वर्षं ।।32।।

हे मणिरत्न के समान निर्मल बुद्धि वाले! यहाँ जिस पात्र में (धर्म का) मणिरत्न टिकता है (तथा) श्रीमान् अर्थात् शोभायुक्त होता है (उसकी) जम्बू की ध्वजा वाले (भारत वर्ष में) वर्षा बरसो ।

एवं बहुप्रकारा संगीतिरवानुनिश्चरा गाथा ।
चोदेन्ति करुणामनसं अयं स कालो मा उपेक्षस्व ।।33।।इति।।

यों बहुत प्रकार की, संगीति की ध्वनि से निकलने वाली गाथाएँ (उस) करुणा-हृदय (के बोधिसत्त्व) को प्रेरित करती थीं कि यह वह (बोधि पाने का) समय है, उपेक्षा मत करो ।इति।[106]

।। इति श्री ललितविस्तरे समुत्साहपरिवर्तो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।

---

106. मूल में मुद्रित पाठ, मणिरत्नं विमलबुद्धे है । भोट, **नोर्बु रिन् छेन् ल्त बुर् ब्लि मेद् थुगस**, मणिसदृश विमलबुद्धें । तदनुसार मूल पाठ मणिरत्न विमलबुद्धे ठीक होगा, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है ।

106. इस परिवर्त के गाथाओं की संस्कृतच्छाया यहाँ दी जा रही है दीर्घ तत्सम पदावली की कहीं 2 आवृत्ति न कर उसे बिन्दुमयी रेखा से सूचित किया गया है । स्मर विपुलपुण्यनिचय स्मृतिमतिगत्यन्त, प्रज्ञाप्रभाकरिन् । अतुलबल, विपुलविक्रम, व्याकरणं दीपसहेन (= दीपंकरेण) ते (= तव) ।।14।। स्मर विपुलनिर्मलमनस्, त्रिमलप्रहीण, शान्तमददोष । शुभविमल शुद्धचित्त, दानचर्या यादृशी ते (= त्वया) पुरा (कृतेत्याध्याहार्यम्) ।।15।। स्मर (स्मर) कुलकुलीन शमथं शीलव्रतं क्षमादमं चैव । वीर्यबलध्यानप्रज्ञा निषेविताः कल्पकोटिनियुतानि ।।16।। स्मर स्मरानन्तकीर्ते संपूजितानि यानि ते (= त्वया) बुद्धकोटिनियुतानि । सत्त्वान् करुणायमानः कालोऽयं मोपक्षस्व ।।17।। च्यवस्व च्यवस्व हि च्युतिविधिज्ञ जरामरणक्लेशसूदन विरजः । समुदीक्षन्ते बहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः ।।18।। कल्पसहस्राणि रन्त्वा तृप्तिर्नास्त्यम्भसीव सामुद्रे । साधु भव प्रज्ञातृप्तस् तर्पय जनतां चिरतृषार्ताम् ।।19।। किं चाप्यनिन्दितयशास्त्वं धर्मरतिरतो न चासि कामरतः । अथ च पुनरमलनयनानुकम्पस्व सदेवकं लोकम् ।।20।। किं चापि देवनियुतानि श्रुत्वा धर्मं न ते वितृप्यन्ति । अथ च पुनरक्षणगतानपायसंस्थानपेक्षस्व ।।21।। किं चापि विमलचक्षुः पश्यसि बुद्धान् दशसु दिक्षु लोके । धर्मं

श्रृणोषि च ततस् (=तेभ्यस्) तं धर्मवरं विभजस्व लोके ॥22॥ किं चापि तुषित भवनं तव पुण्यश्रियाभिशोभते श्रीमन् । अथ च पुनः करुणामानस प्रवर्ष जम्बूध्वजे वर्षम् ॥23॥ समतीत्य कामधातु देवा ये रूपधातुका अनेके । सर्वे तेऽभिनन्दन्ति स्पृशेत् सिद्धिव्रतो बोधिम् ॥24॥ निहतानि ते (=त्वया) मारकर्माणि जितास्त्वयान्ये कुतीर्थिका नाथ । करतलगतेव ते बोधिःकालोऽयं मोपेक्षस्व ॥25॥·········। ·········नरामराणाम् ॥26॥ ········· । ············ स्थापय················॥27॥ अश्रुत्वा सिंहनादं क्रोष्टुका नादं नदन्त्यनुत्त्रस्ताः ।············°श्रृगालान् ॥28॥ ················धरणीमण्डले । करतलवरेण धरणीं हत्वा (=ताडयित्वा) पराजयस्व मारम् ॥29॥ समुदीक्षन्ते (लोक) पालाश्चत्वारो ये तुभ्यं दास्यन्ति पात्रम् । शक्राश्च ब्रह्माणो नियुतानि ये जातं त्वां ग्रहीष्यन्ति ॥30॥ व्यवलोकयाभियशः कुलरत्नं कुलोदितं कुलकुलीन । यत्र स्थित्वा सुमते दर्शयिष्यसि बोधिसत्त्वचर्याम् ॥31॥ यत्रैव भाजनेऽस्मिन् मणिरत्नं तिष्ठति भवति श्रीमत् । मणिरत्नं विमलबुद्धे प्रवर्ष जम्बूध्वजे वर्षम् ॥32॥ एवं बहुप्रकाराः संगीतिरवानुनिश्चरा गाथाः । चोदयन्ति करुणामनसमयं स कालो मोपेक्षस्व ॥33॥

५७

॥ ३ ॥

॥ कुलशुद्धिपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 13 (पंक्ति 9)–29 (पंक्ति 12)
भोट ग्रन्थ 14ख (पंक्ति 7)–30ख (पंक्ति 2)

॥ ३ ॥

॥ कुलशुद्धि परिवर्त ॥

1. इस प्रकार, हे भिक्षुओं ! धर्मकाल की प्रेरणा पाकर बोधिसत्त्व उस महाविमान से निकले और = 15क = धर्मोच्चय नाम का महाप्रासाद, जहाँ बैठ कर बोधिसत्त्व तुषित देवताओं को धर्म की देशना किया करते थे, उस पर बोधिसत्त्व चढ़े । चढ़कर सुधर्म (नाम के) सिंहासन पर बैठे । तब जो देवपुत्र बोधिसत्त्व के सभाग अर्थात् समान शील वाले तथा समयान अर्थात् समान पन्थ पर चलने वाले थे, वे भी उसी प्रासाद पर चढ़े । तथा दश-दिशाओं में इकट्ठे हुए जो बोधिसत्त्व और देवपुत्र बोधिसत्त्व के सभागचरित अर्थात् समान शील एवं चरित्र वाले थे, वे भी उस प्रासाद पर चढ़ कर यथा-योग्य अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे । अप्सरागण से रहित, प्राकृत अर्थात् साधारण कोटि के देवपुत्रों से हीन (वह सब) एक समान अभिप्रायवालों का परिवार था,[1] अड़सठ कोटियों के सहस्र का परिवार[1] था ।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार (चर्चा फैल गई कि) बारह वर्षों में बोधिसत्त्व माता की कोख में चले जायेंगे । तब शुद्धवासकायिक देवपुत्र जम्बू-द्वीप में आकर दिव्य वर्ण अर्थात् देवताओं जैसा रंग-रूप छिपा कर ब्राह्मणों के वेश में ब्राह्मणों को वेद पढ़ाते थे । जिसकी (– 14 –) गर्भावक्रान्ति अर्थात् गर्भ में आगति इस प्रकार की हो, वह = 15ख = महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त होता है । जिनसे युक्त होने वाले की दो ही गतियाँ होती हैं, तीसरी नहीं ।

3. वह यदि घर-वारी होकर रहता है तो, चतुरंगिणी सेना से युक्त, विजितवान् अर्थात् धर्म से जीते हुए राष्ट्र वाला, धार्मिक, धर्मराज, सात रत्नों से युक्त, चक्रवर्ती राजा होता है । उसके सात रत्न ये होते हैं—यथा, चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न तथा परिणायकरत्न अर्थात् अमात्यरत्न ।

1····1. अष्टषष्ठिकोटिसहस्रपरिवाराः, इस मूल में षष्ठि संस्कृत का षष्टि है । और भोट में इसका अनुवाद यों है—ह्-खोर् क्ये ब फग् द्रुग् चु. चं ब्र्यद् ब्र्यद् अष्टषष्टिकोटि—अष्टपरिवाराः अड़सठ कोटियों के आठ का परिवार ।

4. चक्रवर्ती राजा किस प्रकार के चक्ररत्न से युक्त होता है ? यहाँ [2]उपवसथ के दिन पूर्णिमा (की तिथि) में[2], सिर से नहाए हुए, उपवास किये हुए, प्रासाद-तल के ऊपर बैठे हुए, स्त्र्यागार अर्थात् स्त्रीसमूह[3] से घिरे हुए, मूर्धाभिषिक्त (अर्थात् राजसूय यज्ञ में माथे से अभिषेक किये हुए), क्षत्रिय, राजा के लिए पूर्व दिशा में दिव्य चक्ररत्न का प्रादुर्भाव होता है, (जो होता है) सहस्र अरों का, सनेमि अर्थात् पुट्ठीवाला, सनाभि अर्थात् नाहवाला[4], सोने की चित्रकारी के काम से सुशोभित[4] तथा सात ताल ऊँचा। चारों ओर से[5], अन्तःपुर के साथ[6], उस दिव्य चक्र-रत्न को देखकर मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा के मन में यों[7] (विचार) होता है।

5. मैंने सुना है कि = 16क = [8]उसवसथ के दिन पूर्णिमा की तिथि में सिर से नहाए, उपवास किये हुए, प्रासाद-तल के ऊपर बैठे हुए, स्त्र्यागार अर्थात् स्त्रीसमूह[9] से घिरे हुए, जिस मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए पूर्व दिशा में दिव्य चक्ररत्न का प्रादुर्भाव होता है, वह चक्रवर्ती राजा होता है। (मेरे सम्मुख दिव्य चक्ररत्न आया है इसलिए[10] निश्चय से मैं (भी)[10★] चक्रवर्ती राजा हूँ।

2····2. मूल तदेव पोषधेयं च पञ्चदश्यां, भोट, **ग्सो स्बयोङ् गि ज़िम छेस् बचो ङ-ल**, उपोषधदिने पञ्चदश्यां तिथौ। मूल में दिन शब्द की कमी है। तदेवाहः पोषधेयं इस प्रकार मूल को ठीक करना होगा।

3. स्त्र्यागार का प्रयोग स्त्रीसमूह के लिए लाक्षणिक है। तुलनीय भोट, **बुद्मेद् क्यि छोगस् क्यिस्** स्त्री-समूह से।

4····4. मूल, सुवर्णवर्णकर्मालंकृतं : भोट, **थम्स् चद् ग्सेर् लस् ग्रुब् प म्गर् ब्सम् ब्यस् प** सर्वं सुवर्णनिर्मितं, सुवर्णकारचिन्ताकृतं, पूरा सोने का, मन से सुनार का बनाया।

5. मूल, समन्तात्। भोटानुवाद में यह शब्द छूट गया है।

6. मूल में, अन्तःपुरं। अभिप्रायानुसार सान्तःपुरम् अन्तःपुर के साथ, होना चाहिए। भोटानुवाद में यह शब्द छूट गया है।

7. मूल में **एव** (चक्ररत्नमेव) के स्थान पर एवं पाठान्तर ही ठीक है। तुलनीय भोट, **ह्-वि स्नम् दु**, एवम्, यों।

8····8. द्रष्टव्य टिप्पणी 3।2····2।

9 द्रष्टव्य टिप्पणी 3।3।

10. **ब्दग् गि दुङ् दु ल्ह हि. ह्-खोर् लो रिन् पो छे ह्रोङ्स् लस् न**, मम संमुखं दिव्यं चक्ररत्नं समागतमिति, मेरे सामने दिव्य चक्ररत्न आया है, इसलिए यह पाठ भोटानुवाद में अधिक है।

10★. भोट में अधिक पाठ **क्यङ्**, अपि, भी।

[11]अब मुझे दिव्य चक्ररत्न को परखना चाहिए[11]। इसके अनंतर मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उत्तरासंग (= उत्तरीय वस्त्र) को एकांसक कर (अर्थात् दाहिने कंधे को खुला रखकर बायाँ कंधा ढक कर) धरती पर दाहिने घुटने का मण्डल टेक कर, दाहिने हाथ से, उस दिव्य चक्ररत्न से प्रार्थना करे और इस प्रकार निवेदन करे कि हे[12] भट्ट (= स्वामिन्) दिव्य चक्ररत्न[12] घुमाओ (अपने को) धर्म से, अधर्म से नहीं।

6. तब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा द्वारा घुमाया गया, वह दिव्य चक्ररत्न ऋद्धि (के निमित्त) से [12★] पूर्व दिशा की ओर आकाश (मार्ग) से समीचीनता के साथ चल पड़ता है। चक्रवर्ती राजा चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पीछे-पीछे चलता है[12★] और पृथ्वी के जिस प्रदेश के ऊपर वह दिव्य चक्ररत्न ठहरता है (–15–) वहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा = 16ख = चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पड़ाव डालता है।

7. तब, जो-जो[13] पूर्व दिशा के माण्डलिक राजा होते हैं, वे सुवर्ण के चूर्ण से परिपूर्ण रजतपात्री अथवा रजत के चूर्ण से परिपूर्ण सुवर्णपात्री को लेकर चक्रवर्ती राजा का इस प्रकार[14] प्रत्युत्थान (पूजा सत्कार) करते हैं। आइए देव, स्वागत है देव का, यह समृद्ध[15], स्फीत (पुष्ट)[16], योग क्षेम वाला[17], सुभिक्ष

11⋯11. मूल, यन्वहं दिव्यं चक्रं मीमांसयेयम्। यह पाठ भोटानुवाद में छूट गया है

12. मूल, भट्ट दिव्यं चक्ररत्नं भोट, ब्चुन् पो ल्ह ह. हि.-खोर् लो रिन् पो छे। भोट पाठ से यहाँ विभक्ति निर्णय संभव नहीं है। पर मूल में 'भट्ट' यह शब्द संबोधन है। यह संबोधन यदि चक्राधिष्ठात्री देवता के लिए है तब तो मूल ठीक है अन्यथा यदि संबोधन साक्षात् चक्र के लिए हो तो तीनों पदों को संबोधन मानना होगा। हिन्दी अनुवाद में पदविन्यास इस प्रकार का है कि दोनों प्रकार से अर्थ किया जा सके।

12★. मूल में ऋद्धौ। भोट जु ह.-फ़ुल् ग्यिस्, ऋद्धया। यही उचित पाठ है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।24।

12★. मूल, अन्वेति, भोट, जेस् सु ह.-ग्रो .हो। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।25।

13. मूल, येते = ये ये, तुलनीय भोट गङ्, जो। 'ये' का सम्बन्धी 'ते' पृथक पढ़ा गया है ये ते भवन्ति⋯मण्डलिनस्ते।

14. भोट में यहाँ अधिक पाठ है, ह.-दि स्कद् दु, एवं, इस प्रकार।

15. भोट, शिन्तु ग्र्यस् शिङ्, अति-ऋद्ध, समृद्ध।

16. ऋद्धं के अनन्तर मूल में स्फीतं पाठ है जो भोटानुवाद में छूट गया है।

17. मूल, क्षेमं। भोट, ह.-ब्योर् ल ब्दे, योग कुशलं, लाभ शुभम्। यहाँ इस अनुवाद का मूल पाठ योग क्षेमं जान पड़ता है।

रमणीय[18], फैले हुए बहुत लोगों वाला तथा सुजात मनुष्योंवाला[18], देव का राज्य हैं; देव, अपने विजित (=विजय किये हुए निज के राष्ट्र) में पहुँचे निवास करें।

8. ऐसा कहने पर (उनका) रक्षक, मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा उन माण्डलिक राजाओं से यह कहता है। आप लोग धर्म से अपना-अपना राज्य चलाएँ अधर्म से नहीं।[19] हाँ, आप लोग प्राणि-बध न करने दें, अदत्तादान (चोरी) न करे, काममिथ्याचार न करें, मृषा (झूठ) न बोलें[20], (पिशुनता न करें अर्थात् दूसरों के कान न भरें, कठोर न बोलें, बेकाम की बात न करें, अभिध्या या लोभ में न पड़े, व्यापाद या द्रोह में न पड़ें, मिथ्यादृष्टि में न पड़ें, प्राणिघातकों से स्नेह न करें, यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि वाले लोगों को मन में न लाएँ)[20] ताकि मेरे विजित (राष्ट्र) में अधर्म उत्पन्न न हो। अधर्म का =17क =आचरण करने वालों से प्रेम न करें।

9. इस प्रकार मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा पूर्व दिशा की विजय करता है।

18····18. मूल, आकीर्णबहुजनमनुष्यं। भोट, **स्क्ये बो मङ् पो बङ् मिस् बल्तम् लेग्स् ते**, बहुजनं सुजातमनुष्यं च। मूल में मनुष्यं से पूर्व सुजात यह शब्द बढ़ा लेना होगा। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।66····66, 3।95····95।

19. भोट, **छोस् म यिन् पस् नि म यिन् नो**, मा अधर्मेण, यह पाठ भोट में अधिक है।

20····20. इन संदर्भ के आठों वाक्य भोट से लिये गये हैं। मूल में उनका पता नहीं है। यहाँ भोट वाक्य सानुवाद मूलोचित भाषा में दिये जाते हैं—
फ म म झर् चिग्, मा पैशून्यमाहरिष्यथ।
ङग् चुब् पो म स्म्र शिग्, मा परुषं वक्ष्यथ।
छिग् ख्यल् ब (? क्यल् ब) म स्म्र शिग्, मा संभिन्नामालापं लपिष्यथ।
ब् र्न ब् सेम्स् चन दु म ह.-ग्. युर् शिग्, मा भिध्यायिष्यथ।
ग्नोद् सेम्स् चन् दु म ग्युर् शिग्, मा व्यापादयिष्यथ।
लोग् पर् ल्त बर् म ह.-ग्युर् शिग्, मा मिथ्या द्रक्ष्यथ।
स्रोग् ग्चोद् प ल ब्यम्स् म ह.-ग्युर शिग्, मा प्राणिघातकेषु स्नेहिष्यथ
लोग् पर्-ल्त ब चन् ग्यि बर् ल सेम्स् पर् म ह.-ग्युर शिग्, मा तावन्मिथ्यादृष्टिकान् चिन्तयिष्यथ।

पूर्व दिशा की विजय करके[21], [22] पूर्व समुद्र का अवगाहन करता है[22], पूर्व समुद्र का अवगाहन कर[22★] पूर्व समुद्र को पार करता है, [23]पूर्व समुद्र को पार कर चुकने पर[23], वह दिव्य चक्ररत्न[24] ऋद्धि (के निमित्त) से, दक्षिण दिशा की ओर, आकाश (मार्ग) से समीचीनता के साथ चल पड़ता है। चक्रवर्ती राजा चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पीछे-पीछे चलता है।[25] जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है) उसी प्रकार दक्षिण दिशा की विजय करता है। जैसे दक्षिण दिशा की, वैसे[26] पश्चिम और उत्तर दिशा की विजय करता है। उत्तर दिशा की विजय करके उत्तर समुद्र का अवगाहन करता है, [27] उत्तर समुद्र का अवगाहन कर[27], उत्तर समुद्र से पार होता है, पार होकर वह दिव्य चक्ररत्न[28] ऋद्धि (के निमित्त) से, आकाश (मार्ग) से, राजधानी पहुँच अन्तःपुर के द्वार के ऊपर, अक्षय भाव से, स्थित होता है।

10. इस प्रकार मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा चक्ररत्न से युक्त होता है।

11. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा हस्तिरत्न से युक्त होता है ? यहाँ = 17ख = मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) हस्तिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा श्वेत, सुप्रतिष्ठित

---

21. मूल: विजितः, भोट, **र्नम् पर् र्ग्यल् बर् ब्यस् नस्**, विजित्य, विजयं कृत्वा, विजय करके।

22····22. यह पाठ केवल भोट में है। तुलनीय, **शर् फ्योगस् क्यि र्ग्य म्छो ल ह्..-ग्रो हो**, पूर्व समुद्र जाता है। द्रष्टव्य टिप्पणी 22★ आगे।

22★. मूल, अवगाह्य, अवगाहन कर, भोट, **सोङ् नस्**, गत्वा, जाकर। इस चक्ररत्न के वर्णन के संदर्भ में अवगाहते, अवगाहन करता है, के स्थान में भोटानुवाद **ह्..-ग्रो हो**, गच्छति, जाता है तथा अवगाह्य अवगाहन कर के स्थान में **सोङ् नस्**, गत्वा, जाकर, है।

23····23. मूल, पूर्व समुद्रमवतीर्य। भोट, **र्गल् नस्** अवतीर्य।

24. मूल तथा भोट दोनों में यहाँ इस पदावली की अपेक्षा है।

25. मूल, अन्वेति पीछे पीछे चलता है, पर भोट **ह्..-ग्रं. हों** एति जाता है, चलता है।

26. एव = एवं। तुलनीय भोट, **दे ब्शिन् दु।**

27····27. मूल, अवगाह्य, भोट, **ब्यङ् फ्योगस् क्यि र्ग्यम्छो ल सोङ् नस्** उत्तर दिशा के समुद्र को जाकर।

सात अंगों वाला, सोने की चूड़ा से अलंकृत[28], सोने की ध्वजावाला, सोने के अलंकारों से अलंकृत[29], सोने की जाली से ढँका हुआ, (–16–) ऋद्धिमान्, आकाश से जाने वाला, विकुर्वणाधर्म अर्थात् दिव्यमाया-गुण से युक्त होता है, मानो (वह) बोधि-नामक नागराजा ही हो। और जब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उस हस्तिरत्न की मीमांसा अर्थात् परीक्षा करना चाहता है, तब सूर्य के निकलने के समय; उस हस्तिरत्न पर चढ़कर, समुद्र की परिखा (=खाई) वाली, समुद्र के किनारे वाली, इसी महापृथ्वी के चारों ओर घूम फिर-कर राजधानी में आकर, प्रशासनरति[30] अर्थात् धर्मरति का अनुभव करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा हस्तिरत्न से युक्त होता है।

12. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा अश्वरत्न से युक्त होता है? यहाँ[31] मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) अश्वरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा नीला, काले सिर वाला,[32] मूँज जैसे केशर वाला[32], चेहरे में आदर (के भाव से) युक्त, सोने की ध्वजा वाला, सोने के अलंकारों से युक्त, =18 क= सोने की जाली से ढँका हुआ, ऋद्धिमान्, आकाश से जाने वाला, विकुर्वणा-धर्म अर्थात् दिव्यमाया गुण से युक्त होता है। मानो वह वेग वलाहक नामक अश्वराज[33] ही हो। और जब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उस अश्वरत्न की मीमांसा अर्थात् परीक्षा करना चाहता है, तब सूर्य के निकलने के समय, उस अश्वरत्न पर चढ़कर, समुद्र की परिखा (=खाई) वाली समुद्र के किनारे वाली, इसी महापृथ्वी के चारों ओर

---

28. मूल, स्वर्ण चूडकं। भोट, **ग्चुग् ग्सेर् ग्यिस् ब्‌ं-ग्‌ंयन् प** स्वर्णचूडकालंकृतं।

29. मूल, स्वर्णलंकारं। भोट, **ग्सेर् क्यि ग्‌ं-यन् ग्यिस् बं-ग्‌ं-यन् प** स्वर्णालंकारालंकृतं।

30. मूल, प्रशासनरतिः। यहाँ द्वितीयान्त पाठ होना चाहिए। भोटानुवाद यहाँ पर भिन्न है **ख्ये.हु सुस् क्यि द्गह्. ब**, यौवनरति (?)।

31. मूल, अथ। भोट, **ह्.‌-दि ल**, इह, यहाँ। इससे पहले के अनुच्छेद में इस जैसे संदर्भ में इह पाठ है। तदनुसार यहाँ भी वैसा ही पाठ उचित है।

32····32. मूल, मुञ्जकेशम्, भोट, **ड्रॉग् म ल्चङ् लोर् ह्.-डुग् प**, मुञ्जकेशरम्। केशर = गर्दन के ऊपर के केश।

33. मूल, अश्वराजम्। अश्वराजा यह पाठ होना चाहिए। तुलनीय, नागराजा (इससे पूर्व के अनुच्छेद में) यहाँ मूल में बालाहक शब्द है। भोट में वेग बालाहक (**स्प्रेन ग्यि शुगस् चन्**) है।

घूम-फिर कर, राजधानी में आकर, प्रशासनरति[34] अर्थात् धर्मरति का अनुभव करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा अश्वरत्न से युक्त होता है।

13. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा मणिरत्न से युक्त होता है ? यहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) मणिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा नीला[35] वैदूर्यमय[36] अष्टांश अर्थात् अठकोना तथा सुपरिकर्मकृत अर्थात् भलीभाँति काट-छाँट कर सँवारा हुआ होता है। उस मणिरत्न की आभा (चमक) द्वारा सब अन्तःपुर[37] प्रकाश से प्रकाशित[37] हो जाता है। और जब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उस मणिरत्न की मीमांसा अर्थात् परीक्षा करना चाहता है तब आधी रात को अन्धकार से अँधेरी रात में उस मणिरत्न को = 18ख = ध्वजा की नोक पर लगवा कर उद्यान भूमि में अच्छी भूमि देखने के लिए बाहर जाता है। (–17–) फिर (वहाँ) उस मणिरत्न की आभा (चमक) द्वारा, सबका सब चतुरङ्गिणी सेना का समूह, चारों ओर योजन तक, प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। और फिर जो मनुष्य (वहाँ) उस मणिरत्न के चारों ओर (के प्रदेश में) बसे हुए होते हैं, वे[38] उस प्रकाश से प्रकाशमान[38] हो, एक-दूसरे को पहचानते हैं, एक-दूसरे को देखते हैं, (तथा) एक-दूसरे से कहते हैं। भद्रमुखो ! उठो[39], कर्मांत अर्थात् काम-काज करो,

---

34. द्रष्टव्य टिप्पणी 3।30।
35. मूल, शुद्धनील। भोट, **थमस् चद् बु स्ङो ब**, सर्वनील। इससे पहले के अनुच्छेद में इस प्रकार के सन्दर्भ को देखते हुए यहाँ सर्वनीलं असमस्त-पद होना चाहिए।
36. मूल, वैडूर्यम्, भोट, **बै डू र्य हि. रङ् ब् शिन्**, वैडूर्यमय।
37....37. मूल, अवभास्येनस्फुटं। इस पाठ को अवभासेन स्फुटं, यों पढ़ना चाहिए। इसी अनुच्छेद में अवभासेन पाठ की दो बार आवृत्ति हुई है। तुलनीय भोट, **स्नङ् बस् ख्यब् पर् ह.-ग्युर् रो** अवभासेन व्याप्तं।
38....38. मूल तेनावभासेनास्फुटसमाना। संस्कृतसम तेनावभासेन स्फुटमानाः यह पाठ होना चाहिए। तुलनीय भोट, **स्नङ् ब देस् ग्सल् बर् ग्युर् प**। समानाः यह शब्द पालि के अस-धानुजशस् समान (सं० सत्) से संबद्ध जान पड़ता है। समानाः के स्थान में संस्कृत रूप सन्तः होगा।
39. मूल, पाठ उत्तिष्ठ, अशुद्ध है। यहाँ अन्य क्रियापद कारयत, प्रसारयत बहुवचन में हैं अतः उत्तिष्ठ (एकवचन) के स्थान में उत्तिष्ठत (बहुवचन) होना चाहिए। तुलनीय भोट, **बशिन् बभ्रङ् दग लङ्स्** भद्रमुखाः। उत्तिष्ठत।

हाट-बाँट पसारो। जान पड़ता है दिन हो गया, सूर्य निकल आया। इस प्रकार[40] चक्रवर्ती राजा[40] मणिरत्न से युक्त होता है।

14. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा स्त्रीरत्न से युक्त होता है? यहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) स्त्रीरत्न उत्पन्न होता है। (जो)[41]शील-गुण में सदृश[41], क्षत्राणी, न बहुत लम्बी, न बहुत नाटी, न बहुत मोटी, न बहुत पतली, न बहुत गोरी, न बहुत काली, सुरूप, लोक को प्रसन्न करने वाले व्यवहार की जानकार,₁(तथा) दर्शनीय (एवं)[42] समृद्ध-भद्रवर वर्ण वाली[42] होती है। उसके सब रोम-कूपों से = 19क = चन्दन का गन्ध उड़ता है और मुख से उत्पल का गन्ध उड़ता है। काचिलिन्दिक-वस्त्र[43] के समान सुखस्पर्श वाली होती है। शीत काल में उसके अंग[44] उष्म स्पर्श वाले[44] होते हैं तथा उष्म काल में शीत स्पर्श वाले। वह चक्रवर्ती राजा को छोड़कर किसी से मन से भी प्रेम नहीं करती। शरीर से तो कहना ही क्या। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा स्त्रीरत्न से युक्त होता है।

15. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा गृहपतिरत्न से युक्त होता है? यहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) गृहपतिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पंडित, व्यक्त (सन्देह रहित) मेधावी अर्थात् बुद्धिमान्, (तथा) दिव्य-दृष्टि का होता है। वह उस दिव्य-दृष्टि से चारों ओर योजन तक, (उन) निधानों (गड़े हुए धनों) को देखता है, जिनके स्वामी होते हैं तथा (उन) निधानों को (भी) देखता है जिनके स्वामी नहीं होते हैं।

40····40. मल, राजा क्षत्रियों मूर्धाभिषिक्तो, भोट भी तदनुसार ही, **ग्र्यल् पो ग्र्यल् रिगस् स्प्यि ब्रो द्बङ् बस्कुर् ब** मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा। सात रत्नों के वर्णन में पूर्वापर अनुच्छेदों में मूल में राजा चक्रवर्ती तदनुसार भोट में, **ह्.-खोर् लोस् स्ग्युर् ब हि ग्र्यल् पो** पाठ उपसंहारात्मक वाक्य में है। वैसा ही यहाँ भी उचित है। मूल में प्रमाद लिपिकर का है जिसे भोट में सुरक्षित रखा गया है।

41····41. मूल, सदृशी, भोट, सदृशशीला, तुलनीय, **छुल् दङ् म्थुन् प**।

42····42. दर्शनीया के अनन्त भोट में यह पाठ है—**ख दोग् ब्ज़ङ् पो ग्र्यस् प म्छोग् बङ् ल्दन् प** समृद्ध-भद्रवरवर्णा।

43. मूल, काचिलिन्दक, भोट **क चि लि न्दि हि. गोस्** कचिलिन्दिवस्त्र।

44····44. मूल, उष्णानि संस्पर्शानि। इसके स्थान में उष्णसंस्पर्शानि पाठ उचित है। यह बात आगे के शीतस्पर्शानि को देख कर स्पष्ट हो जाती है। तुलनीय भोट, **रेग् न द्रो** उष्णस्पर्शानि, **रेग् न ब्सिल् ब** शीतस्पर्शानि।

जिनके स्वामी नहीं होते हैं, उनसे वह चक्रवर्ती राजा का धन से करने योग्य कार्य करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा गृहपतिरत्न से युक्त होता है।

16. (–18–) किसी प्रकार चक्रवर्ती राजा परिणायकरत्न (अमात्यरत्न) में युक्त होता है ? यहाँ = 19ख = [45]मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा के लिए[45], जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) परिणायकरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पण्डित, व्यक्त (संदेह-रहित) मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् होता है। वह [45*] चक्रवर्ती राजा के सोचने भर से ही[46] उद्यत की जाने योग्य सेना को[46] उद्यत कर देता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा परिणायकरत्न से युक्त होता है।

17. [47]चक्रवर्ती राजा इन सात रत्नों से युक्त होता है[47] [48]और उसके सहस्र पुत्र होते हैं, (जो) शूर, वीर, श्रेष्ठ अंग वाले और रूपवान् (तथा), परसैन्य को मड़मड़ा डालने वाले होते हैं[48]। वह इस सागर पर्यन्त

45····45. मूल, राजा क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य। इसके स्थान में भोट पाठ ह्.-**खोर् लोस् स्गयुर ब हि. गर्यल पो हि.** राज्ञश्चक्रवर्तिनः है। जो प्रमाद है। पूर्व के छह अनुच्छेदों में इस प्रकार के वाक्यों का गठन राज्ञः क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य से हुआ है। अतः यहाँ भी वैसा ही होना चाहिए।

45*. यहाँ सः (वह) इस पद की अपेक्षा है। तुलनीय भोट, **दे** ह्.-**खोर् लोस् स्गयुर् ब हि. ग्यर्ल् पो देस् बसम् प चम् गियस्** स तस्य राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चिन्तितमात्रेण।

46····46. मूल, उद्योजयितव्यं सेनां। यहाँ प्रथम पद स्त्रीलिंग सेना पद का विशेषण होने से उद्योजयितव्यां होना चाहिए। तुलनीय भोट, **ब्स्को बर् ब्य बहि. द्पुङ् नंमस्** सजाई जाने योग्य सेना।

47····47. एभिः सप्तरत्नैः समन्वागतो भविष्यति के स्थान में भोट पाठ ह्.-**खोर् लोस् स्गयुर् बहि. ग्यर्ल् पो नि रिन् पो छे स्न ब दुन् दे दग् दङ् ल्दन् प यिन् नो**, राजा चक्रवर्ती एभिः सप्तरत्नैः (अथवा, सप्तविधरत्नैः) समन्वागतो भवति, है।

48····48. मूल, चास्य पुत्र सहस्रं भवति। च से वाक्यारंभ लिपिकर प्रमाद है। भवति चास्य पुत्रसहस्रं पाठ होना चाहिए। अस्य के स्थान में भोट पाठ **दे ल**, तस्य है। पुत्रसहस्रं = पुत्राणां सहस्रं। इस समासान्तर्गत पुत्र शब्द के विशेषण, शूराणाम् इत्यादि षष्ठी बहुवचन में है। इस प्रकार की रचना की बानगी के लिए देखिये रघुवंश 6/1 तथा संजीवनी टीका।

समूची महापृथिवी को बिना दंड, बिना शस्त्र; धर्म के द्वारा जीतकर अकंटक (कर) सुस्थिर कर देता है।

18. वह[49] यदि घर से बे-घर हो प्रव्रजित होगा तो बुद्ध होगा[49], छन्द-राग (इच्छानुराग) का त्यागने वाला, नेता (दूसरों को सत्पथ पर ले जाने वाला) अनन्यनेय[50] अर्थात् अपने आप अपना मार्ग बनाने वाला न कि दूसरों के बनाये मार्ग पर चलने वाला, देवताओं और मनुष्यों का शास्ता।

19. इस प्रकार दूसरे देवपुत्र भी जम्बूद्वीप में आकर प्रत्येक बुद्धों से अनु-नय-विनय करते थे। आर्यो, [51]इस बुद्धक्षेत्र को[51] रोता करो। अब से बारहवें वर्ष बोधिसत्त्व माँ की कोख में अवक्रमण (= प्रवेश) करेंगे।

20. हे भिक्षुओ ! उस समय राजगृह नाम के = 20क = महानगर में[52] गोलाङ्गूल-परिवर्तन (नाम के) पर्वत पर[52] अर्थात्,जिस पर्वत पर लंगूरी वानर विचरा करते थे उस पर, मातङ्ग नामक प्रत्येक बुद्ध विहरा करते थे। वे उस शब्द को सुन कर, शिला पर, कीच पर, जैसे बैठ कर[53], आकाश में सात ताल जितना ऊपर उठ कर, तेजोधातु (अग्नितत्त्व) को प्राप्त कर उल्का (मशाल) की भाँति[54] परिनिर्वृत हो गये[54]। उनका जो-कुछ पित्त, श्लेष्म (कफ) स्नायु (नस-नाड़ी) अस्थि, माँस और रुधिर था, वह सब तेज से पर्यवदान अर्थात् क्षय

49····49. स चेदगरादनगारिकां प्रव्रजिष्यति इस टूटे मूल पाठ के स्थान में भोट पाठ गल् ते ख्यिम् नस् ख्यिम् मेद् पर् रब् तु ब्युङ् न सङ्स् ग्र्यस् सु ह्-ग्युर् ते स चेदगारादनगारिकां प्रव्रजिष्यति बुद्धो भविष्यति हैं।

50. मूल, अनन्यदेवः। भोट, गृझन् ग्यि द्रिन् मि ह्-जोग् प अनन्यनेयः (अक्षरार्थ, अन्यस्य कृपायामनारूढः)।

51····51. मूल, बुद्धक्षेत्रं। भोट, सङ्स् क्यि शिङ् ह्-दि इदं बुद्धक्षेत्रं।

52····52. मूल, गोलांगु (? ङ्गू) लपरिवर्तने पर्वते। भोट, म्जुग् म स्ग्युर् ब. शेस् ब्य ब हि. रि ल लाङ्गूलपरिवर्तनाम्नि पर्वते। भोट में गोलाङ्गूल के गो शब्द का अनुवाद नहीं किया गया है। गोलाङ्गूल = लंगूरी वानर।

53. मूल, प्रस्थाय। प्र + स्था धातु का यहाँ बैठने के अर्थ में प्रयोग है। तुलनीय भोट, ह्-दुग् स्ते उपविश्य बैठ कर।

54····54. मूल, परिनिर्वाणोऽयम्। यहाँ पाठ परिनिर्वाति स्म होना चाहिए। तुल-नीय मूल पृष्ठ 18 पंक्ति 20 से पृष्ठ 19 पंक्ति 1 तक उल्केव परिनिर्वान्ति स्म। उभयत्र भोटानुवाद है, म्य ङन् लस् ह्-दस् सो परिनिर्वान्ति स्म।

को प्राप्त हो गया और शुद्ध शरीर-(धातु)[55] ही धरती पर गिरे। आज भी उन्हें ऋषिपद अर्थात् ऋषियों का चिह्न कहा जाता है।

21. हे भिक्षुओं! उस समय वाराणसी के मृगदाव ('मृगारण्य') में (जो बाद में) ऋषिपतन (कहलाने लगा), पाँच सौ प्रत्येक बुद्ध विहरते थे। वे भी उस शब्द को सुन कर, आकाश में सात ताल जितना ऊपर उठ कर, तेजोधातु ('अग्नितत्त्व') को प्राप्त कर उल्का ('मशाल') की भाँति परि–(–19–) निर्वृत हो गये। उनका जो कुछ पित्त, श्लेष्म ('कफ'), माँस, अस्थि, स्नायु ('नस-नाड़ी') और रुधिर था, वह सब तेज से पर्यवदान अर्थात् क्षय को प्राप्त हो गया और शुद्ध शरीर–(धातु) ही धरती पर गिरे।[56] यों यहाँ ऋषि गिरे, इस कारण उस समय से लेकर (ऋषिपतन का भी, ऋषिपतन–) ऋषिपतन, = **20ख** = यह नाम चल पड़ा। 'अभय-दान पाकर उसमें मृग बसते हैं' इस कारण (उस समय से लेकर) आगे से (चले आये) मृगदाव का (भी, मृगदाव) मृगदाव, यह नाम चल निकला।[56]

---

55. मूल, शुद्धशरीराणि, भोट, **रिङ् बस्रेल** (=शरीरधातु)। शुद्धशरीर से यहाँ अभिप्राय है भौतिक शरीर के भस्म होने पर अत्यन्त तेजोमय बचा हुआ अंश जो केवल बुद्धादि के शरीर में होता है। यह भास्वर तत्त्व सब लोगों के शरीर में बौद्धाख्यानविद्या के अनुसार नहीं पाया जाता।

56....56. मूल तथा भोट पाठ में शब्द रचना का महत्त्वपूर्ण भेद है। सम्भवतः भोटानुवादक के सम्मुख वर्तमान मूल पाठ से कुछ भिन्न पाठ अवश्य था। तुलनीय—

भोट पाठ

दे ल्तर् ह्.-दिर् द्रङ् स्रोङ् नंम्स् ल्हुङ् ङो .शेस् दे फियन् छद् द्रङ् स्रोङ् ल्हुङ् .शेस् ब्य ब ह्.-ङ् द्रङ् स्रोङ् ल्हुङ् ब द्रङ् स्रोङ् ल्हुङ् ब .शेस मिङ् दु ग्युर् रो। मि ह्.-जिग्स् प ब्यिन् प हो रि दगस् वग् क्यङ् देन ग्नस् पस् दे फियन् छद् रि दग्स् क्यि नगस् रि दगस् क्यि नगस्. शेस् मिङ् दु ग्युर् रो।

भोटानुसार मूल पाठ

एवमस्मिन् ऋषयः पतिता इति तस्मात् प्रभृति ऋषिपतनस्यापि ऋषिपतन-ऋषिपतन इति संज्ञोदपादि। अभयरताश्च तस्मिन् मृगाः प्रतिवसन्तीति तस्मात् प्रभृति मृगदावस्यापि मृगदाव-मृगदाव इति संज्ञोदपादि।

22. हे भिक्षुओ, इस प्रकार तुषित (नाम के देवलोक) के श्रेष्ठ भवन में विराजते हुए बोधिसत्त्व ने चार महाविलोकितों का विलोकन किया। कौन से चार? यथाकालविलोकित, द्वीपविलोकित, देशविलोकित और कुलविलोकित।

23. हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने कालविलोकित का विलोकन किया। बोधिसत्त्व आदिप्रवृत्त-लोक अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ तथा सत्त्वसंवर्तनी-काल अर्थात् प्राणिजगत् के प्रलय-काल के समय में माँ की कोख में नहीं प्रवेश करते। किन्तु जब लोक व्यक्त ('सन्देह-रहित') तथा सुस्थित ('मर्यादा में टिका हुआ') होता है, जाति ('जन्म') का प्रज्ञान ('स्पष्ट-बोध') रहता है, जरा का प्रज्ञान रहता है, व्याधि का प्रज्ञान रहता है, मरण का प्रज्ञान रहता है, तब बोधिसत्त्व माँ की कोख में प्रवेश करते हैं।

24. हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने द्वीपविलोकित का विलोकन किया? बोधिसत्त्व प्रत्यन्तद्वीप ('जम्बूद्वीप के सीमावर्ती द्वीप') के होकर नहीं उत्पन्न होते, (वे) न पूर्वविदेह में, न अपरगोदानीय में और न उत्तरकुरु में, किन्तु जम्बूद्वीप में ही उत्पन्न होते हैं। = 21क =

25. हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने देशविलोकित का विलोकन किया? बोधिसत्त्व प्रत्यन्तजनपदों ('सीमान्तप्रदेशों') में नहीं उत्पन्न होते, जिसमें[57] मनुष्य (मृद्विन्द्रिय[57] अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों में अल्पबल के), अंधता (= अज्ञान के) कारण एड़मूक जातीय अर्थात् स्वभाव में भेड़ जैसे मूढ़ और गुम-सुम रहने वाले सुभाषित तथा दुर्भाषित के अर्थ को समझने में अभव्य अर्थात अयोग्य होते हैं, किन्तु मध्यम-जनपदों अर्थात् भारत के मध्यदेशों में ही उत्पन्न होते हैं।

26.(–20–) हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने कुलविलोकित का विलोकन किया। बोधिसत्त्व हीनकुलों में, चण्डालकुलों में, वेणुकार— 'बकसोर')—कुलों में, रथकार—('बढ़ई') कुलों में, पुक्कस ('निषाद से शूद्रों में उत्पन्न संकर-जाति')—कुलों में नहीं उत्पन्न होते। किन्तु दो कुलों में ही—ब्राह्मणकुल में और क्षत्रियकुल में ही उत्पन्न होते हैं। जब लोक में ब्राह्मण लोग बढ़े-चढ़े होते हैं तब ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होते हैं। जब लोक में क्षत्रिय लोग बढ़े-चढ़े होते हैं

मुद्रित मूल पाठ

अस्मिन् ऋषयः पतिता इति तस्मात् प्रभृति ऋषिपतनसंज्ञोदपादि। अभयदत्ताश्च तस्मिन् मृगाः प्रतिवसन्तीति तदग्रेण मृगदावस्य मृगदाव इति संज्ञोदपादि।

57····57. मूल, मनुष्यान्धत्वा छाया-मनुष्या अन्धत्वात्। भोट, मि र्नम्स् द्बङ् पो तुल् शिङ् मनुष्या मृद्विन्द्रियाः। यह भी ग्रहणार्ह पाठ है।

तब क्षत्रियकुल में उत्पन्न होते हैं। हे भिक्षुओ, इस समय क्षत्रिय लोग बढ़े-चढ़े हैं, इसलिए बोधिसत्त्व क्षत्रियकुल में उत्पन्न होते हैं।[58] हे भिक्षुओं, इस अर्थवश अर्थात् प्रयोजन की प्रधानता के कारण[58] तुषित (नाम के देवलोक) के श्रेष्ठ भवन में विराजते हुए बोधिसत्व ने चार महाविलोकितों का = 21ख = विलोकन किया। और इस प्रकार अवलोकन कर मौन धारण कर लिया।

27. हे भिक्षुओ, (तब) देवपुत्र बोधिसत्त्व के विषय में यों एक-दूसरे से पूछने लगे।[59] किस कुलरत्न में (बोधिसत्त्व उत्पन्न होते हैं)[59] और किस प्रकार की माँ में बोधिसत्त्व[60] [61]गर्भ-स्थान पाते हैं[61]। वहाँ पर (तब) कितने ही बोले। मगध-जनपद में यह वैदेहीकुल ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धनसम्पन्न') क्षेम ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') तथा सुभिक्ष ('सुखी तथा दानी') है। बोधिसत्त्व का यह उचित गर्भस्थान है। पर औरों ने कहा। वह उचित नहीं है। वह किसलिए कि वह न माता की ओर से शुद्ध है न पिता की ओर से शुद्ध है। (वह) अविनीत[62]

58····58. मूल, समर्थं च संप्रतीत्य। भोट, **द्गेस्लोङ् दोन् गि्य द्बङ् दे ल ब्र्तेन् नस् भिक्षवस्तमर्थवशं** प्रतीत्य। जान पड़ता है कि मूल में किसी कारण भिक्षव यह भाग पहले टूट गया। स्त बाद में किसी ने स के रूप में शोध डाला। वशं प्रमाद से **व सं** होकर किसी शोधक की कृपा से अथवा लिपिकर के प्रमाद से **च सं** हो गया। **व** तथा **च** में भेद है भी थोड़ा। **व** केवल छोटी सी लकीर बढ़ाने से ही **च** हो जाता है। यहाँ कुछ ऐसा ही गड़बड़ हुआ है।

59····59. मूल, कतमस्मिन् कुलरत्ने। भोट, **ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह. रिग्स् रिन् पो छेनि जिल्त बु शिग् तु स्क्ये बर् ग्युर्**, कतमस्मिन् कुलरत्ने बोधिसत्त्वा उपपद्यन्ते।

60. भोट में यह पद (अर्थात् बोधिसत्त्वाः = **ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह.**) नहीं है।

61····61. मूल, प्रतिष्ठतेति (= प्रतिष्ठति इति, अथवा प्रतिष्ठते इति)। भोट **ल्हुम्स् सु ह.जुग् पर् ह.-ग्युर्**, गर्भ प्रविशति। संभवतः मूल पाठ, गर्भे प्रतिष्ठते था। तुलनीय आगे आने वाला एक वाक्य—(मूल पृ० 20 पंक्ति 14) प्रतिरूपमस्य बोधिसत्त्वस्य गर्भस्थानम्, इसका भोटानुवाद 216-पंक्ति 6 **दे नि ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह. युम् गि्य ल्हुम्स् सु ह् जुग्पहि. गेनस् सु रूङ् ङो**, प्रतिरूपमस्य बोधिसत्त्वस्य मातृगर्भ प्रवेशस्थानम्।····देखिये इससे पहले की टिप्पणी। भोटानुसार बोधिसत्त्व का यह उचित मातृगर्भप्रवेश-स्थान है। यहाँ मातृ तथा प्रवेश दो पद अधिक हैं। भोटानुवाद संस्कृत के संक्षिप्त पद का व्याख्यान जान पड़ता है।

('जंगली')[62] चंचल, ('मर्यादा-हीन') अनवस्थिर, स्वल्प पुण्य के स्रोत वाला, विपुल पुण्य के द्वारा अभिषेक ('स्नान') नहीं किया गया है।[63] उसके आस-पास का प्रदेश कंकरीला[63], उद्यान, सरोवर, तडाग से अपरिपूर्ण कर्वट[64] ('कुत्सित नगर') जैसा, प्रत्यन्त ('सीमा') का डेरा जान पड़ता है। इसलिए वह उचित नहीं है।

28. दूसरों ने कहा। यह कौशलकुल = 22क = महावाहन का, महापरिवार का, तथा महाधन का (कुल) है। वह इस बोधिसत्त्व के गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। पर औरों ने कहा। वह भी उचित नहीं है। वह किसलिए ? वह इसलिए कि कौशलकुल जिससे पहले चला वह पूर्व जन्म का चंडाल था, वह माता-पिता से शुद्ध नहीं है, हीनाधिमुक्तिक है अर्थात् हीन-धर्म का श्रद्धालु है, वह न कुलीन है और न अपार धन, रत्न तथा निधियों से समृद्ध है। इसलिए वह भी उचित नहीं है।

---

62. मूल, अप्लुतं। **भोट, गोर्द्‌ प**, असभ्य जंगली। संभवतः मूल पाठ प्रलुब्धं था, जो लक्षणा से असभ्यार्थ का भी द्योतक है। तुलनीय संस्कृत-शब्द लुब्धक।

63. मूल, सत्कुलप्रदेशोपचारं। यह पाठ प्रामादिक तो है ही, प्रकरण का विरोधी भी है। इस प्रामादिक पाठ का अर्थ होगा—आस-पास का प्रदेश सत्कुल वाला है। निन्दा के प्रसंग में यह स्तुति सचमुच ही प्रामादिक पाठ की द्योतक है। भोटानुवाद से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। वहाँ है—**युल् दे ़हङ् ञे ह्‌-खोर् ग्सेग् मस् गङ् ब**, आस-पास का देश भी कंकर से भरा हुआ है। इस भोटानुवाद के आधार पर तथा पुराने पाठ के अक्षरों को ध्यान में रख कर मूल का उद्धार इस रूप में किया जा सकता है—शर्करिल प्रदेशोपचारं। उपचार शब्द का प्रयोग यहाँ आस-पास की भूमि-जिसे संस्कृत में परिसर कहते—के लिये हुआ है।

64. मूल, कर्वट। प्राकृत में कब्बड। पाइअसद्दमहण्णव में इसका अर्थ खराब नगर कुत्सितनगर दिया गया है तथा संस्कृत रूप कर्बट बतलाया गया है। शब्द के देशी होने में कोई संदेह नहीं है। भोटानुवाद में कर्वटमिव इस अंश का **रि ग्रगल्तर्** ढालू चट्टान जैसा के रूप में रूपान्तर किया है।
s····s मूल, मातङ्ग च्युत्युपपन्नं = मातंग (के रूप में) च्युति = मरण (पाकर फिर) उपपन्नं = उत्पन्न हुआ।

29. (–21–) दूसरों ने कहा । यह वत्सराजकुल[65] ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धनसंपन्न') क्षेम ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') तथा सुभिक्ष ('सुखी और दानी') है । यह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है । (पर) औरों ने कहा । यह भी उचित नहीं है । किसलिए ? इसलिए कि वत्सराजकुल[65] प्राकृत ('साधारण') और चण्ड ('अविनीत') हैं, तथा (वह) उज्ज्वल तेजवाला नहीं है, पराए पुरुषों द्वारा जन्मे हुए लोगों से छाया हुआ है, तथा माता-पिता के तेजवाले कर्म से निष्पन्न नहीं हुआ है, और वहाँ का राजा उच्छेदवादी है । इस लिए वह भी उचित नहीं है ।

30. दूसरों ने कहा । यह महानगरी वैशाली = 22ख = ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धनसंपन्न') क्षेम ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') सुभिक्ष ('सुखी और दानी') तथा रमणीय है,[66] बहुजनों तथा मनुष्यों से व्याप्त है[66], वितर्दियों ('चबूतरों') निर्यूहों (अटारियों) तोरणों ('द्वार के बाह्य भागों') गवाक्षों ('गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों') कूटागारों ('सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों') प्रासादों ('राजनिवास के योग्य भवनों') तथा तलों ('छत के खुले आँगनों') से भलीभाँति अलंकृत, फुलवाड़ियों तथा वनपंक्तियों से प्रफुल्लित,[67] अमरावती के समान[67] है । वह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है । पर औरों ने कहा । वह भी उचित नहीं है । किसलिए कि उन (वैशाली के राजाओं) में न परस्पर न्याय की बात होती है, न धर्माचरण होता है, न उच्च, मध्यम, वृद्ध तथा ज्येष्ठ की पाँत का विचार रहता है । प्रत्येक ही सोचता है कि—'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ' और इसलिए न किसी को शिष्यता ग्रहण करते हैं, न धर्म ही । इसलिए वह भी उचित नहीं है ।

31. दूसरों ने यों कहा । (उज्जयिनी नगर में)[68] यह प्रद्योतकुल बड़ी सेना

---

65. मूल, वंशराजकुलम् । वंश के लिए भोट बद् स् है । निश्चय ही, वत्स शब्द की दुर्गति का मूल तथा भोट दोनों ही अच्छे उदाहरण हैं ।

66···66. मूल, आकीर्ण बहुजनमनुष्या, भोट, स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् कुन् तु गङ् प । ऐसा ही वचन पहले भी आ चुका है । वहाँ भोटानुवाद कुछ भिन्न है । द्रष्टव्य 3/18····18 ।

67···67. मूल, अमरभवनपुरप्रकाश्या, भोट, ल्हहि. फो ब्रङ् दङ् ह..-द्र ब अमर-भवनतुल्या । भोटानुवाद में, पुर शब्द छोड़ दिया गया है । अमरभवन पुर = अमरावती । प्रकाश्य शब्द यहाँ उपमा वाचक है ।

68. भोट, ग्रोङ् ख्येर् ह..-फगस् ग्र्यल् न, उज्जयिन्यां नगर्याम् ।

वाला,[69] बहुत यान वाला[69] दूसरों की सेना से आमने-सामने लड़ाई में विजय-लाभी है। वह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। =23क= पर औरों ने कहा वह भी उचित नहीं है। किसलिए? इसलिए कि वे चण्ड, चपल, रौद्र, परुष ('रूखे') और साहसी ('बिना विचारे काम करने वाले') हैं, कर्मवाद के न मानने वाले हैं। इसलिए वह (कुल) इन बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित नहीं है।

32. दूसरों ने यों कहा। यह मथुरा नगरी ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धान्यसंपन्न') क्षेम, ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') सुभिक्षु ('सुखी और दानी') बहु-जनों तथा मनुष्यों से व्याप्त है। राजा सुबाहु की (–22–) जो कंस के कुल का है, शूरसेन का स्वामी है, राजधानी है। वह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। पर औरों ने कहा। वह भी उचित नहीं है। किस-लिए? इसलिए कि वह राजा मिथ्यादृष्टि वाले कुल की वंशपरम्परा में उत्पन्न हुआ, दस्युराजा[70] है। बोधिसत्त्व के लिए जो अन्तिमवार जन्म ग्रहण करने वाले हैं, मिथ्यादृष्टि से युक्त कुल में उत्पन्न होना उचित नहीं है। इसलिए वह (नगरी) भी उचित नहीं।

33. दूसरों ने कहा। हस्तिनापुर महानगर में यह राजा पाण्डव कुल की वंश परम्परा में उत्पन्न हुआ है, शूर है, वीर्यवान् है, श्रेष्ठ अंगों के रूप से युक्त है, [71]परसेना का मसलने वाला है।[71] =23ख= वह कुल इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। पर औरों ने कहा। वह भी उचित नहीं है। किसलिए? इसलिए कि पाण्डव कुल में उत्पन्न होने वालों ने कुल की वंश-परम्परा को अत्यन्त अस्त-व्यस्त कर डाला है। कहा जाता है कि युधिष्ठिर धर्म का बेटा था, भीमसेन वायु का, अर्जुन इन्द्र का, नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारों के। इसलिए वह कुल भी इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित नहीं है।

69····69. मूल, महावाहनं (= महायान अर्थात् विशाल रथादि वाहनों वाला)। यह पाठ प्रामादिक है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। पर भोट पाठानुसार मूल प्रभूतवाहनं अथवा बहुवाहनं होना चाहिए। तुलनीय भोट, **ब्शोन् प मङ् प,** बहुत यान वाला। हिन्दी-अनुवाद में भोटभाषान्तर का पाठ लिया गया है।

70. मूल, में दस्युराजा पाठ है पर भोट में है **मिर्गोद् बङ् ह्॰ द्र ब हि. ग्र्यल्प** दस्युसदृशो राजा, दस्यु जैसा राजा।

71. मूल का परसैन्यप्रमर्दकानां पाठ षष्ठ्यन्त है। प्रथमान्त होना चाहिए। तुलनीय भोट, **ग्शन् ग्यि स्दे ह्॰-जोम्स् प,** परसैन्यप्रमर्दकः।

34. दूसरों ने कहा। यह मिथिला नगरी अत्यन्त रमणीय है, मैथिल राजा सुमित्र, की निवास भूमि है। वह राजा बहुत से हाथियों, घोड़ों और रथों की सेना तथा पैदल सेना के समूह से युक्त है। उसके पास हिरण्य-सुवर्ण अर्थात् पक्के सोने-चाँदी[72], मणि, मुक्ता, वैदूर्य, शंख, स्फटिक-शिला[73], प्रवाल ('मूँगा'), जातरूप-रजत अर्थात् कच्चे सोने-चाँदी[74] की धन-सामग्री बहुत है। उसके बल-पराक्रम को सामन्तों तथा नृपों का भय नहीं है।[75] वह मित्रवान् और धर्मवत्सल है। वह कुल इस बोधिसत्त्व के लिए =24क= गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। औरों ने कहा। वह भी उचित नहीं है। वह सुमित्र राजा ऐसे गुणों से युक्त है किन्तु बहुत बूढ़ा है। संतान उत्पन्न करने में असमर्थ है तथा बहुत अधिक पुत्र उसके हैं। इसलिए वह कुल भी इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित नहीं है।

35. हे भिक्षुओं, इस प्रकार वे बोधिसत्त्व और देवपुत्र समूचे जम्बूद्वीप में, [76]सोलह महाजनपदों में[76], कितने ही जो ऊँचे-ऊँचे राजकुल थे उन सबको (–23–) देखते हुए, सबको दोषयुक्त देखा। ये जब सोच-विचार कर रहे थे तब ज्ञानकेतुध्वज नाम के देव पुत्र ने, जिसने 'बोधि बिना पाये न पीछे मुड़ूँगा' ऐसा इस महायान (धर्म का) संकल्प कर रखा था, बोधिसत्त्वों तथा देवताओं की उस महापरिषद् से यह कहा। हे मार्षो ('मित्रो'), यह इन्हीं बोधिसत्त्व के पास चलकर पूछें कि बोधिसत्त्व, =24ख=जो अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं, किस प्रकार के गुणों से सम्पन्न कुल में उत्पन्न

---

72. मूल, हिरण्यसुवर्ण, भोट, **गसेर् बङ् दुङुल् बङ्**, सुवर्णरजत। द्रष्टव्य 3।86 टिप्पणी तथा 3।74 टिप्पणी। यहाँ हिरण्य-सुवर्ण से अभिप्राय पक्के सोने-चाँदी से है जो खान से निकालने के बाद शोधा जा चुका है।

73. मूल, शिला। भोट, **मन् शेल्**, स्फटिक शिला।

74. मूल,–जातरूपरजत,–भोट, **स ले स्त्रम्** स्वर्णचूर्ण। यह जातरूप शब्द का अनुवाद है। रजत शब्द भोटानुवाद में छोड़ दिया गया है। जातरूपरजत स्वाभाविक खान से निकला सोना-चाँदी। द्रष्टव्य 3।88 टिप्पणी।

75. मूल अभीत। भोट, **मि नोन् प**, अपराभूत, अहिंसित। भोटानुवाद के अर्थ को देख कर, अभीत पाठ की कल्पना की जा सकती है जिसमें भी हिंसार्थक धातु मानना होगा। हिन्दी अनुवाद अभीत पाठ को मान कर किया गया है।

76....76. मूल, षोडशजानपदेषु। भोट, **युल् छेन् पो बचु दुग् पो''''न**, षोडशमहाजनपदेषु। भोट पाठ मूल पाठ की अपेक्षा उचिततर है।

हुआ करते हैं । साधु, साधु, ऐसा कह उन सबने अंजलि बाँध बोधिसत्त्व के पास जाकर पूछा कि बोधिसत्त्व, जो अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं, वे किस प्रकार के गुणों से सम्पन्न सत्पुरुषों के कुल-रत्न में उत्पन्न होते हैं ।

36. तब बोधिसत्त्व उस महान् बोधिसत्त्वों के संघ तथा देवताओं के संघ को देखकर यह बोले । हे मार्षो (मित्रो), बोधिसत्त्व, जो अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं वे चौंसठ प्रकार के सम्पन्न कुल में उत्पन्न होते हैं । (वे) चौंसठ प्रकार कौन है ? वे ये हैं—(1) [77]वह कुल अभिजात होता है ।[76] (2) वह कुल अभिज्ञात (प्रसिद्ध) होता है । (3) वह कुल अक्षुद्र (महान्) तथा अनुपघाती (दूसरों की हानि न करने वाला) होता है । (4) वह कुल-जाति से सम्पन्न होता है । (5) वह कुल-गोत्र से संपन्न होता है (6) वह कुल पुरुष युग अर्थात् (प्रसिद्ध) पुरुषों के जोड़े से संपन्न होता है । (7) वह कुल पूर्व पुरुष युग अर्थात् (प्रसिद्ध) पुरखों के जोड़े से संपन्न होता है । (8) वह कुल अभिजात पुरुष युग अर्थात् निष्कलंक पुरुषों के जोड़े से सम्पन्न होता है । (9)[78] वह कुल अभिलक्षित पुरुषयुग अर्थात् आदर्श पुरुषों के जोड़े से सम्पन्न होता है ।[78] (10) वह कुल महेशाख्य पुरुषयुग अर्थात् महती प्रभुता तथा कीर्ति से युक्त पुरुषों के जोड़े से सम्पन्न = 25क = होता है ।[79] (11) वह कुल बहुत स्त्रियों वाला होता है । (12) वह कुल बहुत पुरुषों वाला होता है ।[79] (13) वह कुल अभीत होता है । (14) वह कुल अदीन तथा अलीन (लीनभाव अर्थात्

77....77. यह पाठ मूल में न होने से भोट के सहारे पुनराहृत हुआ है । तुलनीय भोट, **रिग्स् दे नि ब्चुन् प यिन्**, अभिजातं च तत्कुलं भवति । यह पाठ मूल में 64 संख्या की पूर्ति के लिए आवश्यक है । इस पाठ के टूट जाने का कारण यह जान पड़ता है—मूल पाठ जो, अभिजातं च तत्कुलं भवति । अभिज्ञातं च तत्कुलं भवति था, उसमें दोनों वाक्यों का आरंभ, अभि से होता है । लेखक की दृष्टि पहले प्रथम वाक्य के, **अभि** पर पड़ी, पर उसे लिखने के बाद दृष्टि चूक गई और द्वितीय वाक्य के, **अभि** पर जा पड़ी और उसने आगे का पाठ लिख डाला । इस प्रकार प्रथम **अभि** से लेकर दूसरे **अभि** तक के मध्य का पाठ छूट गया ।

78. मूल, अभिल-क्षितपुरूषयुगं च तत्कुलं भवति । भोट में इसका अनुवाद नहीं हुआ है ।

79....79. मूल, बहुस्त्रीकं च तत्कुलं भवति । बहुपुरुषं च तत्कुलं भवति । भोट में पूर्वापर वाक्यों का विपर्यास हुआ है—**रिगस् दे नि स्क्येस् प मङ् ब यिन् । रिग्स् दे नि बुद् मेद् मङ् ब यिन् ।**

कायरता से रहित) होता है। (15) वह कुल अलुब्ध अर्थात् लोभ-लालच से रहित होता है। (16) वह कुल शीलवान् होता है। (17) वह कुल प्रज्ञावान् होता है। (18) वह अमात्यों (मंत्रियों) द्वारा देख-भाल किया गया होता है और भोगों का परिभोग करने वाला होता है। (19) वह कुल[80] अवध्य (हिंसा के बिना होने वाले) अथवा अबंध्य (निष्फल न होने वाले) शिल्पों का निवेशन अर्थात् आश्रयदाता होता है[80] और भोगों का परिभोग करने वाला होता है। (20) वह कुल दृढ़मित्र वाला होता है। (21) वह कुल तिर्यंग्योनि में (पशु-पक्षियों की योनि में) प्राणियों का अहिंसक (–24–) होता है। (22) वह कुल कृतज्ञ तथा कृतवेदी अर्थात् किये हुए उपकार को न भूलने वाला होता है। (23)[81] वह कुल व्रतों का ज्ञाता होता है।[81] (24) वह कुल छन्द से (राग से) न चलने वाला होता है। (25) वह कुल दोष अर्थात् द्वेष से न चलने वाला होता है। (26) वह कुल मोह से न चलने वाला होता है। (27) वह कुल भय से न चलने वाला होता है। (28) वह कुल अवद्यभीरु[82] अर्थात् बुराई से डरने वाला होता है। (29) वह कुल अमोह में (ज्ञान में) विहार करने वाला होता है। (30) वह कुल स्थूलभिक्ष[83] (स्थूललक्ष = दान-शौण्ड = महादानी) होता है। (31) वह कुल क्रिया (अच्छा काम) करने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (32) यह कुल त्याग करने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (33) वह कुल दान देने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (34) वह कुल पुरुषाकार अर्थात् पौरुष करने की मति वाला होता

80....80. मूल, अवध्यशिल्पनिवेशनं च तत्कुलं भवति। पाठान्तर, अबन्ध्य-शिल्पनिवेशनं च तत्कुलं भवति। हिन्दी अनुवाद दोनों पाठों को ठीक मान कर किया गया है। यहाँ भोट पाठ स्पष्ट नहीं है—**रिगस् दे नि ब्भो दोन् योद् पस् ब्शम्स्** (?) **शिङ्** तत्कुलं शिल्पार्थं····भवति।

81....81. **रिगस् दे नि बर्तुल् शुगस् शेस् प यिन्**, व्रतज्ञं च तत्कुलं भवति। यह वाक्य मूल में छूट गया। पर 64 संख्या की पूर्ति के लिए इसका यहाँ होना अत्यन्त आवश्यक है।

82. मूल पाठ, अनवद्यभीरु (न–बुराई से डरने वाला)। भोट पाठ, **ख यम् थोब्स् ह्र जिग्स् प**, अवद्यभीरु। यहाँ मूलग्रन्थ में पाठान्तर अवद्य है। फलतः भोट पाठ का मूल आधार प्रमाण हीन नहीं है।

83. मूल पाठ, स्थूलभिक्ष का अर्थ मोटी-मोटी भिक्षा देने वाला हो सकता है पर इस स्थान पर भोट पाठ **लग् स्तब्स् छे ब**, स्थूलशिक्ष, बड़ी शिक्षा पाया हुआ है, महत्वपूर्ण जान पड़ता है। कदाचित् यही ठीक पाठ हो।

है। (35) वह कुल दृढ़ विक्रम वाला होता है। (36) वह कुल बलविक्रम वाला होता =25ख= है। (37) वह कुछ श्रेष्ठ विक्रम वाला होता है। (38) वह कुल ऋषियों की पूजा करने वाला होता है। (39) वह कुल देवताओं की पूजा करने वाला होता है। (40) वह कुल चैत्यों की पूजा करने वाला होता है। (41) वह कुल पहले के पितरों की पूजा करने वाला होता है। (42) वह कुल बैर न बाँधने वाला होता है। (43) वह कुल दशों दिशाओं में (अपने नाम से) घोषित होता रहता है। (44) वह कुल महा-परिवार वाला होता है। (45) वह कुल अभेद्य फूट न पड़ने के परिवार वाला होता है। (46) वह कुल अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम परिवार वाला होता है। (47) वह कुल कुलों में ज्येष्ठ होता है। (48) [84]वह कुल कुलों में श्रेष्ठ होता है।[84] (49) वह कुल कुलों में वशिता प्राप्त अर्थात् प्रभुता प्राप्त होता है। (50) वह कुल महेशाख्य अर्थात् महान् ऐश्वर्य तथा कीर्ति वाला होता है।[85] (51) वह कुल मातृज्ञ (माता को मानने वाला) होता है। (52) वह कुल पितृज्ञ (पिता को मानने वाला) होता है।[85] (53) वह कुल श्रमण्य अर्थात् श्रमणों को मानने वाला होता है। (54) वह कुल ब्राह्मण्य अर्थात् ब्राह्मणों को मानने वाला होता है। (55) वह कुल प्रचुर धन के कोष वाला तथा प्रचुर धान्य के (अन्न के) कोष्ठागार (कोठार) वाला होता है। (56) वह कुल प्रचुर पक्के सोने-चाँदी[86], मणि, मुक्ता, (वैदूर्य) शंख, स्फटिक, शिला प्रवाल (मूँगा)[87], कच्चे सोने-चाँदी[88] की धन-सामग्री वाला होता

84....84. मूल, कुलश्रेष्ठं च तत्कुलं भवति। भोट में इस वाक्य का अनुवाद किसी कारण छूट गया।

85....85. मूल, मातृज्ञं च तत्कुलं भवति। पितृज्ञं च तत्कुलं भवति। भोट में पूर्वापर वाक्यों का विपर्यास करके अनुवाद हुआ है—**रिगस् दे नि फर् ह.- ज़िन् प यिन्। रिगस् दे नि मर् ह.- जिन प यिन्।**

86. मूल, हिरण्यसुवर्ण०। इसका भोटानुवाद है—द् बियग् दङ् **गुसेर् बङ्।** इससे पूर्व भी हिरण्यसुवर्ण० शब्द आया है। वहाँ भोटानुवाद **गुसेर् दङ् दङुल् दङ्**, सुवर्णरजत० किया गया है जो ठीक नहीं है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।72,74।

87. तुलनीय भोट, **०वैदूर्य दङ् दुङ् दङ मन् शेल् दङ् ब्युरु दङ्०**, ०वैदूर्य शङ्ख स्फटिकप्रवाल०। यह वर्धित अंश उचित है। मूल में पृष्ठ 22 (पंक्ति 15-16) पर यही वाक्य आ चुका है।

88. मूल, ०जातरूपरजत०। इसका अनुवाद भोट में **स ले स्ब्रम् दङ् दङुल दङ्** है। पर इससे पूर्व भी जातरूपरजत शब्द आ चुका है। वहाँ केवल एक

है : (57) वह कुल बहुत से हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, गौओं तथा भेड़ों वाला होता है। (58) वह कुल बहुत से दास-दासी, कर्मकर (मजदूर)[89] पुरुषों को जीविका देने वाला होता है।[89] (59) वह कुल दुष्प्रधर्ष अर्थात् किसी के दबाने से न दबने वाला होता है। (60) वह कुल सर्वार्थसिद्ध होता है अर्थात् सभी अर्थों से परिपूर्ण होता है, उसको कुछ भी पाने के लिए साधना नहीं करनी पड़ती। =26क= (61) वह कुल चक्रवर्तियों का कुल होता है। (62) वह कुछ पूर्वकुशल अर्थात् पूर्व जन्म के पुण्य की सहायता से उपचित ('समृद्ध') होता है। (63) वह कुल बोधिसत्त्व कुल का कुलोदित ('कुलीनता से उठा हुआ') (–25–) होता है। (64) देवताओं के सहित, मार (नामक देवों) के सहित, ब्रह्मा (नामक देवों) के सहित (इस) लोक में और श्रमणों तथा ब्राह्मणों वाली (इस) प्रजा के बीच सब जातिवाद के दोषों से रहित वह कुल होता है। हे मार्षो ('मित्रों'), इन चौंसठ प्रकार (के गुणों) से युक्त वह कुल होता है जिसमें अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

37. हे मार्षो ('मित्रो'), वह स्त्री बत्तीस प्रकार के गुणों से युक्त होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। वे बत्तीस (गुण) कौन से हैं? वे ये हैं—(1) [90]वह स्त्री अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्याचतुर होती है जिसकी[90] कोख

शब्द **ग से स्बम्** से अनुवाद किया गया है, रजत शब्द के भोट प्रतिशब्द **ब्ङुल्** को छोड़ दिया गया है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3.74।

89....89. ०पौरुषेयं, यह मूल पाठ है जिसका अर्थ पुरुष वाला, पुरुष-संबंधी अथवा इससे मिलता-जुलता होगा। भोटभाषान्तर में शब्द के यथार्थ अभिप्राय को प्रकट किया गया है—**शो शस् ह्.. छो ब**, पुरुष को जीविका देने वाला, पुरुषजीविकं। इस भोट व्याख्या को हिन्दी अनुवाद में ग्रहण कर लिया गया है।

90....90. अक्षरार्थ, अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्या चतुर स्त्री की। यहाँ मूल का पाठ सप्तम्यन्त, अभिज्ञातायां स्त्रियां तथा पाठान्तर षष्ठ्यन्त, अभिज्ञातायाः स्त्रियाः है। भोट भाषान्तर षष्ठ्यन्त पाठ का समर्थक है— **मृखेन् पर् शेस् पहि. बुद् मेद् क्यि**। इसके अतिरिक्त आगे जो विशेषण हैं वे सबके सब संख्या में इकतीस हैं तथा सबका पाठ षष्ठ्यन्त ही है। बत्तीस विशेषणों में इकतीस का प्रयोग षष्ठी में तथा एक प्रयोग सप्तमी में हो जब कि वहाँ अर्थानुसार षष्ठी ही ठीक बैठती हो कैसे ठीक माना जा सकता है।

में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है, (2) वह स्त्री अभिलक्षित अर्थात् सब प्रकार से कलाचतुर होती है। (3) (वह स्त्री) अच्छिद्रोपचार अर्थात् निर्दोष आचरण वाली होती है, (4) (वह स्त्री) जातिसंपन्न अर्थात् उच्च जाति की होती है, (5) (वह स्त्री) कुल सम्पन्न अर्थात् उत्तम कुल की होती है, (6) (वह स्त्री) रूपसम्पन्न अर्थात् अत्यन्त सुन्दर रूप वाली होती है, (7) (वह स्त्री) नामसंपन्न अर्थात् सुन्दर नाम वाली होती है, (8) (वह स्त्री) आरोहपरिणाहसंपन्न होती है अर्थात् न बहुत लंबी, न बहुत ठिंगनी तथा न बहुत मोटी, न बहुत पतली ठीक डील-डौल की होती है, (9) (वह स्त्री) अप्रसूता होती है, (10) (वह स्त्री) शील के धन की धनी होती है, (11) (वह स्त्री) त्यागसम्पन्न अर्थात् त्यागशील होती है। = 26ख = (12) (वह स्त्री) हँसमुख होती है, (13) (वह स्त्री) प्रदक्षिण ग्राहिणी अर्थात् सब के साथ समभाव से बरतने वाली होती है, (14) (वह स्त्री) व्यक्त अर्थात् स्पष्ट एवं अकुटिल व्यवहार वाली होती है, (15) (वह स्त्री) विनीत होती है, (16) (वह स्त्री) विशारद[91] होती है अर्थात् भय से रहित होती है, (17) (वह स्त्री) बहुश्रुत होती है, (18) (वह स्त्री) पण्डित होती है, (19) (वह स्त्री) अशठ होती है, (20) (वह स्त्री) अमायाविनी होती है, (21) (वह स्त्री) अक्रोधना होती है, (22) (वह स्त्री) ईर्ष्या से रहित होती है, (23) (वह स्त्री) अमत्सरा अर्थात् कृपणता से रहित होती है, (24) (वह स्त्री) अचंचल होती है अर्थात् अंगप्रत्यंगों से इधर-उधर की कुचेष्टा न करने वाली होती है, (25) (वह स्त्री) अपचल अर्थात् चित्त की चंचलता से रहित होती है, (26) (वह स्त्री) अमुखर होती है अर्थात् बातून नहीं होती है, (27) (वह स्त्री) क्षान्ति अर्थात् सहिष्णुता तथा सौरम्य[92] अर्थात् रमणीय-स्वभाव से सम्पन्न होती है, (28) (वह स्त्री) ह्री अर्थात् आत्म-लज्जा तथा अपत्रपा अर्थात् लोक-लज्जा से सम्पन्न होती है, (29) (वह स्त्री) राग, द्वेष तथा मोह में मंद होती है, (30) (वह स्त्री) मातृग्राम अर्थात् स्त्री जनों के स्वाभाविक दोषों से रहित होती है,

---

91. मूल पाठ, विशालदायाः, पाठान्तर विशारदायाः। विशारद शब्द का बौद्धपरिभाषा में अर्थ भय से रहित होना है। इस अर्थ को लेकर भोट में अनुवाद हुआ है—ह्‌ जिगस्‌ प मेद्‌ प, भय-रहित। विशालद शब्द विशारद का मागधी पाठान्तर जान पड़ता है तथा संभवतः वही मूल पाठ था।

92. मूल पाठ, सौरम्य। भोट, बेस्‌ प सौरम्य। यहाँ सौरभ्य शब्द ठीक नहीं बैठता है अतः इसे अपपाठ ही समझना चाहिए।

(31) (वह स्त्री) पतिव्रता होती है, तथा (32) वह स्त्री सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधि-सत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। हे मार्षो ('मित्रों') इन बत्तीस प्रकार (के गुणों) से वह स्त्री समन्वित होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म लेने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है।

38. हे मार्षो (मित्रो), कृष्णपक्ष में बोधिसत्त्व (अपनी) माँ की कोख में अवक्रमण (प्रवेश) नहीं करते। किन्तु अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधि-सत्त्व शुक्लपक्ष की पंचदशी को, अखण्ड पूर्णिमा को, पुष्यनक्षत्र के योग में, उपोसथ (शील-व्रत) ग्रहण की हुई माँ की कोख में अवक्रमण (प्रवेश) करते हैं।

39. (–26-) तब वे बोधिसत्त्व तथा वे देवपुत्र बोधिसत्त्व के पास से यह इस प्रकार की कुल परिशुद्धि तथा मातृपरिशुद्धि सुनकर सोच-विचार करने लगे कि कौन-सा कुल[93] ऐसे गुणों से युक्त होगा जैसा कि इस सत्पुरुष ने बताया है =27क= जब वे सोच-विचार कर रहे थे, उनके मनमें यों हुआ कि यह शाक्यकुल[94] ऋद्ध ('धान्य सम्पन्न') स्फीत ('धनसंपन्न'), क्षेम ('स्थिर संपत्ति से युक्त') सुभिक्ष ('सुखी तथा दानी') रमणीय. तथा[95] बहुजनों तथा मनुष्यों से व्याप्त[95] है। राजा शुद्धोदन माँ की ओर से शुद्ध है, बाप की ओर से शुद्ध है, पत्नी की ओर से शुद्ध है,[96] क्लेश-रहित समृद्धकाय वाला है, शोभन-आकार को भलीभाँति-प्रकटित करने वाला है, अत्यन्त भोग्य धन वाला है[96] पुण्य के तेज से तेजस्वी है, महासमन्त कुल में अर्थात् परम संमान वाले कुल में उत्पन्न हुआ है, चक्रवर्तियों की परंपरा वाले कुल में कुलीन होकर उदित हुआ है, अपरिमित धन, निधि तथा रत्नों से समन्वित है, कर्मवादी दर्शन का मानने वाला है, पाप की दृष्टि से रहित है, समूचे शाक्य देश का एक-अद्वितीय राजा है, श्रेष्ठियों, गृहपतियों ('गृहस्थों'), मंत्रियों, सभ्य-सामाजिकों द्वारा मानित एवं

---

93. मूल, केवलं। भोट, रिग्स्, कुलं। मूल यहाँ सर्वथा अशुद्ध है।

94. मूल, शाक्यकुलं। भोट, शा क्यहि, ग्रोङ् ख्येर, शाक्यपुरं।

95. मूल, आकीर्णबहुजनमनुष्यं, भोट, स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् गङ् प, बहु-जनमनुष्यपूर्ण। द्रष्टव्य 3।18....18।3।66....66।

96....96. मूल पाठ यहाँ भ्रामक तथा अशुद्ध है। पाठ यों है—अपरिक्लिष्ट-संपन्नायाः स्वाकारसुविज्ञापकः। संभवतः यह अपरिक्लिष्टः, संपन्नायः, स्वाकारविज्ञापकः है। भोट, लस् क्यि म्थह., ल मोन् मोङ्स् मेद् प दुपे ब्यद् बज्ञङ् पो शिन् तु ह.-जङ्स् प, अपरिक्लिष्टकर्मान्तिः। स्वाकारः (अथवा शोभनानुव्यंजनः) अतिभोगः अथवा अतिभोग्यधनः।

पूजित है, प्रासादिक ('प्रसन्नमुख') है, दर्शनीय है, न बहुत बूढ़ा है, न बहुत जवान है, अभिरूप (सुन्दर रूप वाला) है, सब गुणों से युक्त है, शिल्पज्ञ है, कालज्ञ है, आत्मवेदी है, धर्मवेदी[97] है, तत्त्वज्ञ[98] है, लोकज्ञ है, लक्षणों का जानकार है, धर्म का राजा है, धर्म से अनुशासन करने वाला है, कुशल (पुण्य) की मूल को भलीभाँति रोप डालने वाले प्राणियों के (निवासभूत) महानगर कपिलवस्तु में =27ख=निवास करता है तथा वहाँ जो लोग उत्पन्न हुए हैं वे भी[99] उसी के जैसे स्वभाव वाले[99] हैं।

40. राजा शुद्धोदन की देवी ('पटरानी') का नाम माया है, (वह) शाक्याधिपति सुप्रबुद्ध की पुत्री नवतरुणी, रूप तथा यौवन से सम्पन्न, अप्रसूता बिना पुत्र-पुत्री वाली, चित्र में लिखी गई-सी विचित्र सुन्दर रूप वाली, देव कन्या जैसी सब अलंकारों से विभूषित, स्त्रियों में (स्वभाव से) पाये जाने वाले दोषों से रहित, सच बोलने वाली, अकर्कश ('अनिष्ठुर'), अकठोर, अचंचल, अनवद्य (न निकृष्ट अथवा न अधम), कोकिल के समान स्वर वाली[100] प्रलाप (बक-बक) न करने वाली, मधुर तथा प्रिय बोलने वाली[101] [102]क्रोध, मद (मतवालापन), मान (अहंकार), दर्प (घमंड) तथा प्रतिघ या दूसरे पर आघात करने की क्रिया से मिश्रित क्रोध (नाम के) चित्तदोषों से रहित[102], ईर्ष्या न

97. मूल, धर्मज्ञः। भोट, छोग् शेस् प, सन्तुष्टः; कल्पज्ञः (=विधिनिषेधज्ञः)।

98. मूल तत्त्वज्ञः। भोट, सेम्स् शेस् प, चित्तज्ञः, चित्त की बात जानने वाला।

99....99. मूल, तत्स्वभावाः, भोट, दे दङ् स्कल्ब ह्.. ग्रङ् ब ग्रग् तत्सभागाः, उनके सदृश।

100. मूल, कोकिलस्वरा, भोट, ग्यो मो हि. स्प्र ल्त बु मेद् प, अकंकरस्वरा, कंकड़ जैसी ध्वनि न करने वाली।

121. मूल, मधुरप्रियवादिनी, भोट, ह्..-जम् शिङ् स्त्रन् ल यिद् दु होङ् ब कर्ण-हृदयंगममंजुवादिनी। दोनों स्थानों में शब्द भेद होते हुए भी तात्पर्य में भेद नहीं है।

102....102. मूल, व्यपगताखिलक्रोधमदमानदर्पप्रतिघा, भोट, मि ङेस् प दङ्-खोङ् खो ब दङ्-ङ ग्यंल् दङ्-द्रेगस् प दङ्-ग्यंगस् प दङ्-खो ब मेद् प, अनिश्चय-प्रतिघ-मान-मद-दर्परहिता। संस्कृत के अखिल का भोट में अनिश्चय है। यहाँ कुछ गड़-बड़ अवश्य है। व्यपगताखिल० के स्थान में व्यपगतखिल० पाठ लिया जाए तो अर्थ ठीक बैठता है। खिल बौद्ध-परिभाषा में चित्त के दोषों का नाम है। आशा है अनुवाद की यह स्वतन्त्रता क्षम्य होगी।

करने वाली, समयोचित बात करने वाली, त्याग से सम्पन्न, शीलवती, पति से संतुष्ट रहने वाली[103], पतिव्रता, दूसरे पुरुषों के विषय में न चित्त डुलाने वाली और न मन रमाने वाली, सुघड़ सिर, नाक तथा कान वाली[104], श्रेष्ठ भ्रमरों के समान (काले) केश वाली, शोभन मस्तक वाली[105], सुन्दर भौंहों वाली[106], भौंहों पर सिकुड़न न डालने वाली, हँसमुख, आगे बढ़कर बोलने वाली, (–27–) और मीठे वचनों वाली, प्रदक्षिण अर्थात् प्राणियों के प्रति अनुकूल व्यवहार करने का आग्रह करने वाली, सीधी-सादी, टेढ़े पन से दूर, अशठ, अमायिनी, ह्री ('आत्मलज्जा') तथा अपत्रपा ('लोकलज्जा') से सम्पन्न, अचपल, अचंचल, =28क=अमुखर अर्थात् मुख से बुरी बात न बोलने वाली, विकीर्णवचन अर्थात् इधर-उधर की बातें न बकने वाली, राग, द्वेष, तथा मोह में मंद, क्षांति (क्षमभाव) तथा सौरम्य (सुरमणीयता) से सम्पन्न[107] हाथ-पैर तथा आँख एवं अपने रूप की चारों ओर से रखवाली में सचेत[108], मृदुल और तरुण करचरण वाली[109], काचिलिन्दिक (नाम के वस्त्र) के समान सुखदायक स्पर्श वाली, नलिन ('श्वेतकमल एवं रक्तकमल') तथा इन्दीवर

---

103. मूल, प्रतिसंतुष्टा। यहाँ पतिसंतुष्टा पाठ उचिततर है। भोट, **ख्योस् छोग् पर् ह्-जिन् प**, अर्थात् पति से संतोष रखने वाली।

104. मूल, **समसहितशिरः** कर्णनासा, पाठान्तर समसंहतशिरःकर्णनासा, भोट, **म्गो बङ् र्न बङ् स्न ग्नस् सु केब्स् प**, स्थानविन्यस्तशिरःकर्णनासा।

105. मूल, **सुललाटी**, भोट, **द्पल् ब लेग्स् प**, सुभगा।

106. मूल, **सुभ्रू०**। पढ़िए सुभ्रूः। भोट **स्मिन् छुग्स् लेग्स् प**, सुभ्रूः। सुभ्रू शब्द को परवर्ती शब्द से पृथक् करके अनुवाद किया गया है। भोट उल्था से इसकी पृथक् पड़ता सिद्ध होती है।

107. मूल, **क्षान्ति-सौरम्यसंपन्ना**, क्षमा की सुगन्ध से युक्त। भोट, **बङ् वेस् शिङ् ब्स्रोद् प बङ् ल्दन् प**, क्षान्तिसौरम्ययुक्ता=क्षमाभाव तथा सुरमणीयता से युक्त। भोट, पाठानुसार सौरभ्य को सौरम्य के रूप में शुद्ध कर अनुवाद किया गया है।

108. मूल, **करचरणनयनस्वारक्षितबुद्धिः**, भोट, **कंङ् लग् बङ् मिग् बङ् खो शिन् तु ब्सुङ्स् प**, अरक्षितकरचरणनयनमुस्वा। बुद्धि शब्द भोट में छूट गया है।

109. मूल, **मृदुतरुणहस्तपादा**, भोट, **कंङ् लग् शिन् तु ह्-जम् प**, अतिमृदुहस्तपादा।

('नीलकमल') की पंखुड़ियों के समान शुद्ध-विशुद्ध नेत्र वाली[110], लाल-ऊँची नाक वाली[111] सुप्रतिष्ठित (अचंचल) अंगों वाली, इन्द्रधनुष की बनी छड़ी के समान अत्यन्त लचीली[112], छँटे-छँटे अंगप्रत्यंग वाली, अनिन्दित ('बुराई से बचे हुए') अंगों वाली, बिंब (कुंदुरु) के समान लाल होंठ वाली, सुन्दर दाँतों वाली[113], क्रम से उतार-चढ़ाव के गले वाली, अच्छे आभूषणों वाली, सुमना ('चमेली') तथा वार्षिकी ('बरसाती चमेली') के समान अत्यन्त शुद्ध दशन अर्थात् दाँतों वाली[114], शोभन तथा विनीत (झुके हुए) अंसों ('कंधों') वाली[115], क्रम से सुजात अर्थात् धीरे-धीरे उतार-चढ़ाव से गठी हुई बाँहों वाली, धनुष के (मध्य के समान क्षीण) पेट ('कटि') वाली[116], (शरीर के दायें-बायें) पक्षों में बिना (किसी प्रकार की) हीनता वाली, गहरी नाभिमंडल वाली, गोल-गोल मोटे-मोटे चिकने-चिकने तथा ठोस-ठोस नितंबों वाली, हीरे जैसे ठोस तथा दृढ़ अंगों वाली[117], समसमाहित अर्थात् बराबर करके ढाली

---

110. मूल, नवनलिनेन्दीवरपत्रसुविशुद्धनयना, भोट, **पद् म ग् शोन् नु हि. ह. दब् म ल्तर् मिग् शिन् तु र्नम् पर् दग प**, नवपद्मपत्रसुविशुद्धनयना।

111. मूल, रक्ततुंगनासा भोट, **स्न द्बियब्स् लेगम् शिङ् म्थोव् स्वुग् प**, शोभनाकारसुवर्णनासा = आकार में शोभायमान तथा रंग में सुन्दर नाक वाली।

112. मूल, सेन्द्रायुधमिव यष्टिः सुविनीता, भोट, **ह.-जह. द्बियब्स् ल्तर् शिन् तु ह.-दुद् प**, इन्द्रायुधाकृतिरिव सुविनीता।

113. मूल, चारुदशना। यहाँ **ब्ल्त न म्जे. स् प**, यह भोट पाठ भ्रामक मूल की देन है। इसका अर्थ होगा चारुदर्शना देखने में सुन्दर। अंगांगों के विशेष वर्णन में यह सामान्य वर्णन युक्त नहीं प्रतीत होता।

114. मूल, सुमनावार्षिकीसुविद्धदर्शना। मुद्रित ग्रन्थ में इस समास को भंग कर डाला गया है। भोट, **स्न महि. मे तोग् दङ् बर् षि क ल्तर् सो शिन् तु र्नम् पर् दग् प**, सुमनावार्षिकीसुविशुद्धदशना। मूल के ०दर्शन का यहाँ ०दशना में शोधन करना ठीक जान पड़ता है।

115. मूल, सुविनीतांशा। यह सुविनीतांसा का अप पाठ है। अंश = अंस स्कन्ध। तुलनीय भोट, **फ्रग् प लेग्स् पर् ब्यिन् ग्यिस् ह.-छम् प**, सुभव्योचितस्कन्धा।

116. मूल, चापोदरी। भोट, **र्कंद् प ग्शुहि ह.-छङ् ब्झुङ् ल्तर् फ्र ब**, चापमध्यक्षीणोदरी।

117. मूल, वज्रसंहननकल्पसदृशगात्रा। भोट, **र्दो र्जे ल्तर् म्खेग्स् शिङ्**

हुई हाथी की सूँड़ जैसी जाँघों वाली[118] एण नामक मृग की पिंडलियों-सी पिंडलियों वाली, लाक्षारस अर्थात् महावर जैसे (ललाई लिये हुए) हाथ-पैरों वाली, जगत् में (सबकी) आँखों में रमणीय लगने वाली, आँखों की बेरोक-टोक शक्ति वाली, देखने में मनों को प्यारी ओर भली लगने वाली, स्त्री रूपी रत्नों के रूप में = 28ख = अपनी और ही विशेषता के कारण (अनुपम)[119], माया से बनी छाया जैसी, माया के नाम से (किये जाने वाले) संकेत (= परिचय) वाली, कलाओं में चतुर, नन्दन (वन की) अप्सरा-सी शोभायमान[120], महाराज[121] शुद्धोदन के अन्तःपुर के मध्य में पाई जाने वाली वह बोधिसत्त्व की माँ बनने के योग्य है। तथा बोधिसत्त्व ने कुल की जिस परिशुद्धि का बखान किया है वह शाक्य-कुल में ही ठीक-ठीक देखी जाती है।

41. ऊपर के विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा गया है—

(त्रिष्टुभ् —उपजाति छन्द)

प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्धसत्त्वः
सुधर्मसिंहासनि संनिषण्णः।
सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः
संबोधिसत्त्वेभि महायशोभिः ॥34॥[122]

शुद्धसत्त्व अर्थात् पवित्र चित्त वाले ऋषि, एक जैसे भाग्यवान् देवताओं और महायशस्वी बोधिसत्त्वों से घिरकर धर्मोच्चय नामक प्रासाद में सुधर्मा (नामक देवसभा) के सिंहासन पर बैठे।

तत्रोपविष्टान अभूषि चिन्ता
कतमत् कुलं शुद्ध सुसंप्रजानं।

म्छुङ् स् मेद् प हि. लुस् दङ् ल्दन् प, वज्रसदृशकल्पानुपमदेहा। अर्थात् हीरे जैसी ठोस अनुपम शरीर वाली।

118. मूल, गजभुजसमसमाहितसदृशोरू (= समसमाहितगजभुजसदृशोरू)। भोट, ग्लङ् पो हि. स्न ल्तर् भ्रम् शिङ् लेग्स् प हि. बूर्ल दङ् ल्दङ् प, गजनासासदृशमशोभनोरू।

119. मूल, स्त्रीरत्नरूपप्रतिविशिष्टा। भोट, बुद् मेद् रिन् पो छे हि. ग्झुग्स् लस् क्यङ् ख्यद् पर् दु ह.-फग्स् प म् छु.ङ्स् प मेद् प, स्त्रीरत्नरूपप्रतिविशिष्टानुपमा।

120. मूल, प्रकाशा। भोट में यह पाठ नहीं है।

121. मूल, महाराजस्य। भोट, ग्र्यल् पो, राज्ञः।

122. छाया-प्रासादे धर्मोच्चये शुद्धसत्त्वः सुधर्मसिंहासने संनिषण्णः। सभाग्यदेवैः परिवारित ऋषिः संबोधिसत्त्वैर्महायशोभिः।

यद् बोधिसत्त्वे प्रतिरूप जन्मे
माता पिता कुत्र च शुद्धभावाः ॥35॥[123]

वह (उन) बैठे हुए (लोगों) के (मन में) विचार हुआ कि कहाँ पर कौन-सा कुल शुद्ध तथा अत्यन्त सम्यग्ज्ञान वाला है जो बोधिसत्त्व के जन्म के लिए ठीक हो तथा माता-पिता शुद्ध भाव वाले हों।

व्यवलोकयन्तः खलु जम्बुसाह्वयं
यः क्षत्रियो राजकुलो महात्मा।
सर्वान् सदोषाननुचिन्तयन्तः
शाक्यं कुलं चादृसु वीत दोषं ॥36॥[124]

जम्बूद्वीप को देखते हुए, महात्मा राजकुल के जो-(जो) क्षत्रिय थे उन सबको दोष सहित सोचते हुए, (उन्होंने अंत में) शाक्यकुल को दोषरहित देखा।

(–28–) शुद्धोदनो राजकुले कुलीनो
नरेन्द्रवंशे सुविशुद्धगोत्रः।[125]
ऋद्धं च स्फीतं च निराकुलं च[126]
सगौरवां सज्जन धार्मिकं च ॥37॥[127]

शुद्धोदन राजकुल में कुलीन, नरेन्द्रवंश में अत्यन्त पवित्र गोत्र के, ऋद्ध (धान्यसंपन्न), स्फीत (धनसंपन्न), निराकुल (शान्त), गौरव-युक्त, सज्जन तथा धार्मिक हैं।

अन्येऽपि सत्वाः कपिलाह्वये पुरे
सर्वे सुशुद्धाशय धर्मयुक्ताः।

---

123. छाया-तत्रो पविष्टानाम् अभूत् चिन्ता कतमत् कुलं शुद्धं सुसंप्रज्ञानम्। यद् बोधिसत्त्वस्य प्रतिरूपं (=अनुरूपं) जन्मनि मातापितरौ कुत्र च शुद्धभावौ।

124. छाया········चाद्राक्षु········॥ राजकुलो महात्मा के स्थान में भोट पाठ **ग्र्यल् ग्र्युद् छे ब**, महाराजकुलः है।

125. मूल, सुविशुद्धागात्रः यह पाठ कुल वर्णन प्रसंग में अशुद्ध जान पड़ता है। भोट पाठ, **नंम् दग् छो रिग्स् चन्**, सुविशुद्धिगोत्रः है।

126. यह तृतीय चरण भोट पाठानुसार, कामेऽभिवृद्धौ च निराकुलश्च। तुलनीय भोट, **ह॒-दोद् चिङ् ग्र्यस् ल ह॒-खुग् प मेद् प स्ते।**

127. छाया········। ऋद्धश्च स्फीतश्च निराकुलश्च सगौरवः (=गौरववान्) सज्जनो धार्मिकश्च।

उद्यान आ = 29क = रामविहारमण्डिता
कपिलाह्वये शोभति जन्मभूमि: ॥38॥[128]

कपिल (—वास्तु) नाम के नगर में अन्य सब प्राणी भी अत्यन्त शुद्ध हृदय के तथा धर्मात्मा हैं। कपिल (—वास्तु) नाम की जन्मभूमि उद्यानों, आरामों तथा विहारों से विभूषित शोभा पा रही है।

सर्वे महान-ग्न[129]बलैरुपेता
द्वित्रीणिहस्तीबलवस्त्ववन्ति।[130]
इष्वस्त्रशिष्येषु च पारमिगता
न चापरं हिंसिषु जीवितार्थं ॥39॥[131]

सब महान् गणों के, शक्तियों से युक्त, दो-दो या तीन-तीन हाथियों के बल से बलवान् हैं। धनुर्वेद की शिक्षा में पारंगत होते हुए भी (अपने) जीवन के निमित्त दूसरे (प्राणी) की हिंसा उन्होंने कभी नहीं की।

शुद्धोदनस्य प्रमदा प्रधाना
नारीसहस्त्रेषु[132] हि साग्रप्राप्ता।
मनोरमा मायकृतेव बिम्बं
नामेन सा उच्यति मायादेवी ॥40॥[133]

शुद्धोदन की प्रधान भार्या, सहस्रों (उत्तम) स्त्रियों में श्रेष्ठता को प्राप्त, मनोहर माया के द्वारा बने आकार वाली, वह माया देवी के नाम से पुकारी जाती है।

---

128. छाया—अन्येऽपि सत्त्वाः कपिलाह्वये पुरे सर्वे सुशुद्धाशया धर्मयुक्ताः। उद्यानारामविहारमण्डिता कपिलाह्वये शोभते जन्मभूमिः।

129. महानग्न भोट, छ्न् छेन (= महागण)। मेरे विचार से यह अपभ्रंश शब्द महान-गन का रूप है। गन (सं० गण) का ग्न रूप में उच्चारण छन्द के कारण हुआ है। पूर्वपद महान हलन्त का अजन्तरूप है।

130. मूल, विस्तीर्णहस्ती नवरत्नवन्ति। भोट, ग्लङ् पो ग्ञिस् सम् ग्सुम् ग्यि स्तोब्स् क्यङ् ब्दोग्, द्विवत्रीणिहस्तीबलस्ववन्ति = द्वित्रहस्तिबलवत्त्वन्तः। वत्त्व छन्द की दृष्टि से रखा गया है।

131. छाया—सर्वे महागणाः बलैरुपेता द्वित्रहस्तिबलवत्त्ववन्तः। इष्वस्त्रशिक्षासु च पारं गता न चापरमहिंसिषुर्जीवितार्थम्।

232. नारीसहस्त्रेषु के स्थान में भोटानुसार पाठ सन्नारीसहस्त्रेषु होगा। तुलनीय, बुद् मेद् बम् प स्तोङ् गि, शोभस्त्रीसहस्त्रस्य।

133. छाया—········। मनोरमा मायाकृतमिव बिम्बं नाम्ना सोच्यते माया देवी।

सुरूपरूपा यथ देवकन्या
सुविभक्तगात्रा शुभनिर्मलांगी।
न सोऽस्ति देवो न च मानुषो वा
यो माय दृष्ट्वा थ लभेत तृप्ति ॥41॥[134]

देवकन्या जैसी सुन्दर आकृति वाली, भली-भाँति छँटे-छँटाए शरीर वाली, शोभन तथा निर्मल अंगों वाली, माया (देवी) को देखकर जो तृप्त हो जाये[135] वैसा न देवों में कोई है और न मनुष्यों में कोई है।[135]

न रागरक्ता न च दोषदृष्टा
श्लक्ष्णा मृदू सा ऋजुस्निग्धवाक्या।
अकर्कसा चापरुषा च सौम्या
स्मितीमुखा सा भृकुटीप्रहीणा ॥42॥[136]

(वह) न राग से रंगी और न दोष अर्थात् द्वेष से दुष्ट है, वह रसीली है, कोमल है, सीधे-सादे तथा स्नेह भरे वचन बोलने वाली है, उसमें न तो क्रूरता है और न कड़ापन है, (वह) सौम्य अर्थात् चन्द्रमा जैसी सबको भली लगने वाली है, वह हँसमुख है, उसकी भौहें कभी नहीं तनती हैं।

ह्रीमा ह्यपत्रापिणि[137] धर्मचारिणी
निर्माण अस्तब्ध अचञ्चला च।
अनीर्षुका चाप्यशठा अमाया
त्यगानुरक्ता सह मैत्रचित्ता ॥43॥[138]

(वह) ह्रीमती अर्थात् आत्मलज्जा से युक्त, अपत्रपिणी अर्थात् लोकलज्जा से युक्त, अभिमान रहित, अकड़ से रहित, अचंचल, ईर्ष्या न करने वाली, अशठ,

134. छाया--सुरूपरूपां यथा देवकन्यां सुविभक्तगात्रां शुभनिर्मलांगीम्। न सोऽस्ति देवो न च मानुषो वा यो मायां दृष्ट्वाथ लभेत तृप्तिम् ॥

135....135. अक्षरार्थ--वह न (कोई) देवता है और न (कोई) मनुष्य है।

136. छाया--न रागरक्ता न च द्वेषदुष्टा श्लक्ष्णा मृदुः सा ऋजुस्निग्धवाक्या। अकर्कशा चापरूषा चा सौम्या स्मितिमुखा सा भ्रूकुटिप्रहीणा ॥

137. व्यपत्रापिणि पाठ मूल में है। पाठान्तर ह्लपत्रापिणि है। इसे अपत्रापिणि अथवा ह्यपत्रापिणि पढ़ना होगा। तुलनीय भोट, खेल् योद्, अपत्रपावती, अपत्रपिणी। वि उपसर्ग अर्थ में भ्रमजनक ही है।

138. छाया--ह्रीमती ह्ययपत्रपिणी धर्मचारिणी निर्माना--अस्तब्धा--अचञ्चला च। अनीर्ष्यका (अथवा मूल का--अनीर्षुका) चाप्यशठा-अमाया त्यागानु-रक्ता सहमैत्रचित्ता।

अमायाविनी, त्याग में अनुराग करने वाली, तथा मैत्री भाव के हृदय वाली तथा धर्माचरण करने वाली है।

कर्मेक्षिणी मिथ्यप्रयोगहीना
सत्ये स्थिता कायमनःसुसंवृता ।
स्त्रीदोषजालं भुवि यत्प्रभूतं
सर्वं ततोऽस्या खलु नैव विद्यते ॥44॥[139]

कर्म (–फल के सिद्धान्त) को देखने वाली, मिथ्या-आचार से रहित, सत्य में स्थित, शरीर तथा मन के संयम से युक्त, उस (माया देवी) में वे सब स्त्रियों के दोषजाल बिलकुल नहीं हैं जो पृथ्वी पर (स्त्रियों में) बहुत बहुत करके होते हैं।

न विद्यते कन्य मनुष्यलोके
गन्धर्वलोके थ च देवलोके ।
मायाय देवीय समा कुतोन्तरी = 29ख =
प्रतिरूप सा वै जननी महर्षेः ॥45॥[140]

मनुष्यलोक में, गन्धर्वलोक में तथा देवलोक में माया देवी के समान कन्या नहीं है, अंतरी अर्थात् उनसे अंतर या विशेष (गुण) वाली (कन्या की बात ही) कहाँ। वह निश्चय से महर्षि को जन्म देने वाली माता होने योग्य है।

जातीशतां पञ्चमनूनकानि
सा बोधिसत्त्वस्य बभूव माता ।
पिता च शुद्धोदनु तत्र तत्र
प्रतिरूप तस्माज्जननी गुणान्विता ॥46॥[141]

---

139. छाया........मिथ्याप्रयोगहीना........। ....सर्वं तद् अस्यां खलु नैव विद्यते।

140. छाया–न विद्यते कन्या मनुष्यलोके गन्धर्वलोकेऽथ च देवलोके। मायाया देव्याः समा कुतोऽन्तरा (=कुतो विशिष्टा) प्रतिरूपा (=अनुरूपा) सा वै जननी महर्षेः। बु० हा० सं० डि० पृष्ठ उनतालीस पर कुतोन्तरी के स्थान में कुतोत्तरी पाठ सुझाया गया है। पर सुझाव क्यों ? क्या अन्तरी शब्द विशिष्टार्थवाचक नहीं हो सकता ? अन्तरी = अन्तर, भेद अथवा विशेष वाली।

141. छाया--जातिशतानि पञ्चानूनकानि सा बोधिसत्त्वस्य बभूव माता। पिता च शुद्धोदनस्तत्र तत्र प्रतिरूपा (=अनुरूपा) तस्माज्जननी गुणान्विता। मूल में पञ्च शब्द विभक्तिहीन है अथवा क्रियाविशेषण होने से संस्कृत के

वह पूरे पाँच सौ जन्मों तक बोधिसत्त्व की माता रह चुकी है तथा उन-उन (जन्मों) में पिता शुद्धोदन रहे हैं, इसलिए (वह) गुणवाली जननी (होने के) योग्य है।

व्रतस्थ सा तिष्ठति तापसीव
व्रतानुचारी सद[142] धर्मचारिणी।
राज्ञाभ्यनुज्ञात वर प्रलब्धा
द्वात्रिंस मासा मव[143] काम सेवहि[143] ॥47॥[144]

वह तपस्विनी की भाँति व्रत में स्थित रहती है, व्रत का आचरण करती रहती है, सदा धर्म के आचरण में लगी रहती है, राजा ने उसे अनुज्ञा अर्थात् अनुमति दे रखी है, उसे वर दे रखा है (कि वह) बत्तीस महीनों तक काम (भोग) का सेवन बिलकुल न करे।

(–29–) यत्र प्रदेशे स्थिहते निषीदते
शयागता च क्रमणं च तस्याः।
ओभाषितो भोति सदेव भागो
आभाय तस्याः शुभकर्मनिष्ठ्याः ॥48॥[145]

जिस प्रदेश में (वह) खड़ी होती है, बैठती है तथा शयन करती है तथा (जहाँ) उसका टहलना (होता है), वही (पृथ्वी का) भाग शुभ कर्म में लगी उस (देवी की) आभा से जगमगा उठता है।

न सोऽस्ति देवासर मानुषो वा
यो रागचित्तेन समर्थ प्रेक्षितुं।

समान ही द्वितीयान्त है तथा मकार का आगम मुखसुखार्थ हुआ है। भोट में छे. रब् (स्) ल्ङ ब्गर्य खो नर् छ्ङ् बर यङ्, यथावत्पूर्णानि पंचजातिशतानि प्रथम पाद का अनुवाद है। तदनुसार अनूनकारि इस मुद्रित पाठ को अनूनकानि पढ़ना होगा। ऐसा करने से ही अर्थसंगति ठीक बैठती है।

142. मूल, सह। यह अशुद्ध है। शुद्ध पाठ सद (= सदा)। तुलनीय भोट, **तंग् पर्** नित्यं सर्वदा, सदा।

143....143. मूल, मव....सेवहि (= मैव सेवस्व), भोट, **म स्प्यद्** मा चर।

144. छाया—व्रतस्था सा तिष्ठति तापसीव व्रतानुचारिणी सदा धर्मचारिणी। राज्ञाभ्यनुज्ञाता वरं प्रलब्धा द्वात्रिंशन्मासान् मैव कामं सेवस्व ॥

145. छाया—यत्र प्रदेशे तिष्ठति निषीदति शय्यागता च क्रमणं च तस्याः। अवभासितो भवति स एव भाग आभया तस्याः शुभकर्मनिष्ठायाः।

पश्यन्ति मातां दुहितां च सर्वे[146]
इर्यापथेष्वा[147] र्यगुणोपपेता ॥49॥[148]

वैसा (कोई) देवता, असुर अथवा मनुष्य नहीं है जो (उस माया देवी को) रागचित्त अर्थात् कामभावना वाले मन से देखने का साहस करे। सब ईर्यापथ अर्थात् उठने, बैठने, सोने तथा टहलने में आर्यगुणों से युक्त (उस देवी को) माता तथा पुत्री जैसा देखते हैं।

मायाय देव्या: शुभकर्महेतुना
विवर्द्धते राजकुलं विशालं।
प्रदेशराज्ञामपि चाप्रचारो
विवर्धते कीर्ति यशश्च पार्थिवे[149] ॥50॥[150]

माया देवी के शुभ कर्म के कारण राजकुल विशाल बढ़ता जा रहा है, (सीमा) प्रदेशों के राजा लोग (राज्य में) नहीं घुस पाते तथा राजा की कीर्ति एवं यश बढ़ते जा रहे हैं।

यथा च माया प्रतिरूप भाजनं
यथार्यसत्त्व: परमं विराजते।
पश्येत एताव्[151] अधिकं[152] गुणान्विता-
दया सुता[152] सा जननी च माया ॥51॥[153]

---

146. मूल, मातां दुहितां च मर्वे। मूल में यहाँ मर्वे मुद्रणदोष से हुआ है। शुद्ध पाठ, सर्वे। तुलनीय भोट, **कुन् क्यङ्**, सर्वेऽपि।

147. मूल, इर्यापथेष्ठा॰। यह अशुद्ध है। शुद्ध पाठ, इर्यापथेष्वा॰ (= इर्यापथेषु आ॰); तुलनीय भोट, **स्प्योद् लम् नंम्स् सु**, इर्यापथेषु।

148. छाया—न सोऽस्ति देवोऽसुरो मानुषो वा यो रागचित्तेन समर्थः प्रेक्षितुम्। पश्यन्ति मातरं दुहितरं च सर्वे ईर्यापथेष्वार्यगुणोपपेताम्।

149. पार्थिवे यह पद देखने में सप्तमी विभक्ति का है। भोट, में इसका अनुवाद षष्ठी से किया गया है जो अर्थानुकूल है, यद्यपि सप्तमी से भी काम चलाया जा सकता है। तुलनीय भोट, **र्ग्यल् पो हि.**, पार्थिवस्य।

150. छाया—मायाया देव्याः शुभकर्महेतुना विवर्धते राजकुलं विशालम्। प्रदेशराजानामपि चाप्रचारो विवर्धते कीर्तिर्यशश्च पार्थिवस्य।

151. मूल, एवाव भोट, एताव॰ (= एताव् अ॰)। तुलनीय भोट, दे ग्ञिस् (तौ, एतौ)।

152 ··· 152. मूल, ॰दयासुता, पाठान्तर ॰दयं सुतः पाठान्तर अस्पष्ट रूपों का स्पष्टीकरण मात्र हैं। अया = अयं सुता = सुतः। द् योजकमात्र। यह सब भोटानुवादसंवादी है—**ह्.-दि नि बुर् ह्.-ग्युर् बे नि म यि होस्, अयं सुतो भवेत् सा मातोचिता।**

153. छाया—यथा च माया प्रतिरूपं (= अनुरूपं) भाजनं यथार्यसत्त्वः परमो

जैसे माया (देवी) उचित पात्र हैं, जैसे आर्यसत्त्व अर्थात् सत्पुरुष श्रेष्ठ विराजमान हो रहे हैं, ये दोनों अधिक गुणों से युक्त दीख रहे हैं, यह पुत्र (होंगे) और वह माया (देवी) जन्म देने वाली (होंगी)।

जम्बुध्वजेऽन्या न हि सास्ति नारी
[154]य स्या[154] समर्था धरितुं नरोत्तमः[155]।
अन्यत्र देव्यातिगुणान्विताया
दशनागसाहस्रबलं हि यस्याः ॥52॥[156]

जिसका बल दशसहस्र हाथियों के बराबर है, (उस) अत्यन्त श्रेष्ठ गुणों वाली देवी को छोड़ कर जम्बूध्वज अर्थात् जम्बूद्वीप में और वैसी स्त्री (कोई) नहीं है, जो उस महापुरुष को (गर्भ में) धारण कर सके।

एवं हि ते देवसुता महात्मा = 30क =
सम्बोधिसत्त्वाश्च विशालप्रज्ञा।
वर्णन्ति मायां जननीं गुणान्वितां
प्रतिरूप सा शाक्यकुलनन्दनस्य ॥53॥[157] इति ॥

इस प्रकार वे महात्मा देवपुत्र तथा विशाल प्रज्ञा वाले बोधिसत्त्व गुणों से युक्त जननी माया का वर्णन करते हैं कि वह शाक्यकुल को आनन्द देने वाले (बोधिसत्त्व की माँ होने) के योग्य हैं ॥ इति ॥

॥ इति श्रीललितविस्तरे कुलपरिशुद्धिपरिवर्तो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

●

विराजते। दृश्येते एतावधिकगुणान्वितौ अयं सुतः सा जननी च माया। मूल में गुणान्विता तथा अया के बीच का दकार मुखसुखार्थ आगम-मात्र है।

154....154. मूल मुद्रण, यस्या। यह कदाचित् य स्या (=या स्यात्) है। इसके निर्धारण में भोट पाठ से सहायता नहीं मिल रही है। क्योंकि यद्वृत्तात्मक वाक्यांशों को वहाँ अन्य प्रकार से अनुवाद कर डाला गया है।

155. नरोत्तमः यह प्रथमान्त पद द्वितीयार्थक है। पाठान्तर भी नरोतमं (भोट, **मि मछोग्**) देखा जाता है।

156. छाया—जम्बूध्वजेऽन्या न हि सास्ति नारी या स्यात् समर्था धारयितुं नरोत्तमम्। अन्यत्र देव्या अतिगुणान्वितायाः दशनागसहस्रबलं हि यस्याः।

157. छाया—एवं हि ते देवसुता महात्मानः संबोधिसत्त्वाश्च विशालप्रज्ञाः। वर्णयन्ति मायां जननीं गुणान्वितां प्रतिरूपा (=अनुरूपा) शाक्यकुलनन्दनस्य।

॥ ४ ॥

॥ धर्मालोकमुखपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, जन्म लेने के योग्य कुल का विशेष रूप से बोधिसत्त्व ने अवलोकन कर, तुषितलोक में (जो) लम्बाई-चौड़ाई में चौंसठ योजन का उच्च-ध्वज नाम का महाविमान (है), जिस पर बैठकर बोधिसत्त्व तुषित-देवताओं को धर्म का उपदेश किया करते थे, उस महाविमान पर बोधिसत्त्व चढ़े। और चढ़ कर सब तुषित-कायिक देवपुत्रों से कहा। आप लोग इकट्ठे हो जायें (और) बोधिसत्त्व के पास से च्युत्याकारप्रयोग अर्थात् अवतारविधिप्रयोग नाम की धर्मचर्यानुस्मृति का अनुशासन (= विवेचन) करने वाला (जो) अन्तिम धर्म-श्रवण (होगा, उसे) सुनें। इस वचन को (–30–) सुन कर सब तुषितकायिक देवपुत्र अप्सराओं के समूह के साथ उस विमान पर इकट्ठे हो गये।

2. वहाँ बोधिसत्त्व ने चारों (अर्थात् जम्बूद्वीप, उत्तरकुरु, अपरगोदानीय तथा पूर्वविदेह नामक) महाद्वीपों में लोकधातु के विस्तार का जितना प्रमाण है उतने प्रमाण वाला मण्डलमात्र अर्थात् मण्डलवाट (= उपवनसहितभवन) को अधिष्ठित किया अर्थात् संकल्प द्वारा बनाया (वह) उतना विचित्र, उतना दर्शनीय, उतना भलीभाँति अलंकृत, उतना मनोहर था कि सब कामावचर (कामधातु के निवासी) देवता = 30ख = तथा रूपावचर (= रूपधातु के निवासी) देवपुत्र अपने-अपने भवनों की रचना को मरघट जैसी समझने लगे।

3. वहाँ बोधिसत्त्व अपने पुण्यफल के निष्पन्द अर्थात् हेतुरूप-प्रवाह द्वारा सब ओर से सुशोभित सिंहासन पर बैठे। उस (सिंहासन) के पायों में अनेक मणि तथा रत्न पिरोये हुए थे[1], उसे अनेक प्रकार के फूलदार बिछौनों से सजाया गया था[1], उसे अनेकों दिव्यगन्धों की वासना से सुवासित किया गया था, अनेकों सार अर्थात् सुगन्धित वस्तुओं के स्थिर-अंशों के श्रेष्ठ गन्ध से उसे धूपा गया था, [2]अनेक रंगों के दिव्य पुष्पों द्वारा सुगन्धित (चादर) से उसे सजाया गया था[2], अनेक प्रकार की सैकड़ों और हजारों मणियों तथा रत्नों की

1....1. मूल, अनेकपुष्पसंस्तरसंस्कृते, भोट, ल्ह हि. रस् ब्चोस् बु हि. स्तन् दु-मा ब्तिङ् ब, अनेकदिव्यवस्त्रकृतास्तरणसंस्तृते, अथवा, ०कृतासनसंस्तृते, अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्रों से बने बिछोने (उस पर) बिछाये गये थे।

2....2. मूल अनेकवर्णदिव्यपुष्पगन्धसंस्तरसंस्कृते। भोट, ल्ह हि मे तोग् ब्दोग् दु मा हि. ब्ग्रम् प ब्कम् प, अनेकवर्णदिव्यपुष्पविकिरणविकीर्णे।

प्रभा से वहाँ आग जलती-सी जान पड़ती थी, वह अनेकों मणियों तथा रत्नों के जाल से ढँका हुआ था, [3]अनेकों रत्नों (से जड़ी) किंकिणियों के जाल से निकलने वाली गूँज वहाँ गूँज रही थी[3], अनेकों रत्नों (से जड़ी) सैंकड़ों-हजारों घण्टाओं से निकलने वाला घन्-घन् का घोष वहाँ फैल रहा था, अनेक प्रकार के सैकड़ों-हजारों रत्नों के जाल वहाँ चारों ओर से चमक रहे थे, अनेक प्रकार के सैकड़ों-हजारों रत्नों से समूहों से उसे ढँक दिया गया था, उस पर अनेक प्रकार के सैकड़ों-हजारों पट्ट (अर्थात् रेशमी झण्डे) लटक रहे थे, अनेक प्रकार के सैकड़ों-हजारों पट्टदामों (अर्थात् रेशमी रेसों) तथा मालाओं से उसे अलंकृत किया गया था, वहाँ अनेकों-सैकड़ों तथा हजारों अप्सराओं के नाचने-गाने-बजाने से संगीत हो रहा था, अनेक प्रकार के सैकड़ों तथा हजारों गुणों की वर्णना वहाँ हो रही थी, अनेक-शतसहस्र लोक-पाल वहाँ देख-रेख कर रहे थे, अनेक शतसहस्र इन्द्र नमस्कार कर रहे थे, अनेक-शतसहस्र ब्रह्मा प्रणाम कर रहे थे, अनेक-कोटि खर्व शतसहस्र बोधिसत्त्व चारों ओर से वहाँ (स्थान) ग्रहण किये हुए थे, दश दिशाओं के = 31क = अनन्त[4]—अनेक-कोटि खर्व शतसहस्र बुद्ध वहाँ ध्यान कर रहे थे, वह अपरिमित–कोटि खर्व शतसहस्र–कल्पों तक पारमिताओं को संभालते-संभालते पुण्यफल के प्रवाह से उत्पन्न हुआ था।

4. इस प्रकार के भिक्षुओं, उक्त-प्रकार के गणों से युक्त सिंहासन पर बैठ कर बोधिसत्त्व ने उस देवताओं की बड़ी सभा को सम्बोधित किया— भार्षों (आदरणीयों), सौ पुण्यों के लक्षणों से विभूषित बोधिसत्त्व के शरीर को देखो। (तथा) पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, ऊपर-नीचे चारों ओर दशों दिशाओं में मापे न जा सकने वाले, आँके न जा सकने वाले, गिने (–31–) न जा सकने वाले, बोधिसत्त्वों को देखो जो तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन में विराज रहे हैं (और सबके) सब अन्तिम भव (= जन्म) की ओर मुँह किये, देवताओं के समूहों से घिरे हुए, देवताओं को भलीभाँति हर्षित करने वाले, च्यवनाकार अर्थात्

3....3. मूल, अनेक किङ्किनिजालसमिरिताभिनादिते। भोट, रिन् पो छे ह्रि. ग्रिङ् बु ग्येर् क ह्रि. द्र ब दु म स्ग्र ह्.-ब्युङ् बस् म्ङोन् पर् द्गह्. ब वड् ल्दन् प, अनेक रत्नकिङ्किणीजालसमीरितनादाभिनन्दिते। ०नादाभिनादिते पाठ यहाँ होना चाहिये। भोट में अभिनादिते के स्थान में अभिनन्दिते किसी अपपाठ के कारण हो गया। मूल में नाद शब्द लेखक के प्रमाद से छूट गया है, यह भोटानुवाद के साक्ष्य से स्पष्ट है।

4. मूल, अनेक....समन्वाहृते। भोट,....दुम म्थह्. पस् यस् द्गोङ् प, अनन्तानेक....समन्वाहृते।

अर्थात् अवतार-ग्रहण की विधि (नाम के) धर्मालोकमुख अर्थात् धर्म के प्रकाशन द्वार को सम्यक् प्रकाशित कर रहे हैं। उस समूची देवताओं की मण्डली ने बोधिसत्त्व के अधिष्ठान अर्थात् मनःसंकल्प (के प्रताप) से उन बोधिसत्त्वों को देखकर जिस स्थान पर बोधिसत्त्व थे उस स्थान की ओर अंजलि बाँध कर, (माथा) नवाकर, पाँच मंडलों से अर्थात् दोनों घुटने टेक, दोनो हथेलियों को भूमि पर रख माथा टेक, नमस्कार किया तथा इस प्रकार के उदान (=अर्थपूर्ण उल्लास वचन) कहे— =31ख = साधु, बोधिसत्त्व का यह अधिष्ठान (=मनःसंकल्प) अचिन्त्य है, जिसके कारण हम निहारने भर से इतने बोधिसत्त्वों को देख रहे हैं।

5. इसके अनंतर बोधिसत्त्व ने फिर देवताओं की उस बड़ी सभा को संबोधित करके यों कहा—हे मार्षो (आदरणीयो), ये बोधिसत्त्व इन देवपुत्रों से देवताओं को भली-भाँति हर्षित करने वाले, च्युत्याकार अर्थात् अवतार-ग्रहण की विधि (नाम के) जिस धर्मालोकमुख अर्थात् धर्म के प्रकाश द्वार को कह रहे हैं उसे सुनो। हे मार्षो, ये धर्मलोकमुख एक सौ आठ हैं, जिन्हें च्यवनकाल के समय अर्थात् अवतार-ग्रहण के अवसर आने की बेला में बोधिसत्त्व को भली-भाँति प्रकाशित करना चाहिए।

6. वे एक सौ आठ कौन से हैं?

1. हे मार्षो, यह जो श्रद्धा है, वह धर्मालोकमुख है, उसके कारण आशय अर्थात् मन का पवित्र भाव अभेद्य रहता है—छिन्न-भिन्न नहीं होने पाता।

2. प्रमाद (=निर्मलता) धर्मालोकमुख है, उसके कारण मन मैला नहीं होता।

3. प्रमुदिता (सुखी को देखकर डाह का न होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (लोक में) प्रसिद्धि[5] होती है।

4. प्रीति धर्मालोकमुख है, उसके कारण चित्त की भली-भाँति शुद्धि होती है।

5. कायसंवर (शरीर को दुष्कर्मों से बचाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण काय के तीनों दोषों[6] (अर्थात् प्राणातिपात वा हिंसा, अदत्तादान वा चोरी, कायमिथ्याचार वा व्यभिचार) से (मनुष्य) शुद्ध रहता है।

---

5. मूल, प्रसिद्धयै। भोट, लुस् शिन् तु स्ब्यङ्स् पर्, कायप्रशुद्धयै, काय की भली-भाँति शुद्धि के लिए।

6. मूल, त्रिकायपरिशुद्धयै भोट, लुस् क्यि ञेस् प नंस् प गसुम् योङ्स् सु दग् पर्, त्रिकायदोषपरिशुद्धयै। भोट, पाठ ही ठीक है।

6. वाक्संवर (वाणी को दुष्कर्मों से बचाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण वा वाणी के चारों दोषों से (अर्थात् मृषावाद, पारुष्य, पैशुन्य, संभिन्न-प्रलाप वा व्यर्थ की गल्प-सल्प) से (मनुष्य) सब तरह से बच जाता है।

7. मनःसंवर (मन को दुष्कर्मों से बचाना) धर्मलोकमुख है, उसके कारण अभिध्या (=लोभ-लालच से पराई वस्तु का चिंतन) व्यापाद (=पराई हत्या करने की इच्छा) तथा मिथ्यादृष्टि का नाश हो जाता है।

8. बुद्धानुस्मृति (बुद्ध गुणों की बार-बार सुरति करना) धर्मलोकमुख है, उसके कारण बुद्ध का (अन्तःकरण में) अत्यंत निर्मल दर्शन होता =32क= है।

9. धर्मानुस्मृति (धर्म के गुणों की बार-बार सुरति करना) धर्मालोक-मुख है, उसके कारण धर्मदेशना अत्यन्त शुद्ध होती है।

10. संघानुस्मृति (संघ के गुणों की बार-बार सुरति करना) धर्मालोक-मुख है, उसके कारण न्यायाक्रमणता[7] अर्थात् न्याय (निर्दोष गुणों में) आक्र-मणता (=प्रवेश) होता है।

11. त्यागानुस्मृति (त्याग के गुणों की बार-बार सुरति करना) धर्मालोक-मुख है, उसके कारण सर्वोपधि को (सब प्रकार के द्रव्य को) छोड़ा जा सकता है।

12. शीलानुस्मृति (शील के गुणों की बार-बार सुरति करना) धर्मालोक-मुख है, उसके कारण प्रणिधान अर्थात् चित्त का अभिलाष परिपूर्ण होता है।

13. देवतानुस्मृति (देवताओं के गुणों की बार-बार सुरति करना) धर्मा-लोकमुख है, उसके कारण चित्त उदार (-32-) होता है। अर्थात् आदमी में दरियादिली आ जाती है।

14. मैत्री (निर्वैर-भाव) धर्मालोकमुख है, उसके कारण पुण्य-क्रिया की सब वस्तुओं में जो उपधिक अर्थात् द्रव्य साध्य होती हैं उनका पराभव हो जाता है, अर्थात् धन-दौलत से किये जाने वाले पुण्य से मैत्री द्वारा किया गया पुण्य बढ़कर होता है।

15. करुणा धर्मालोकमुख है, उसके कारण अहिंसा-परायणता होती है अर्थात् हिंसा की ओर कभी प्रवृत्ति नहीं होता।

16. मुदिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार की अरति अर्थात् चित्त की बेचैनी का अपकर्षण अर्थात् निवारण हो जाता है।

---

7. मूल, न्यायाक्रमणतायै। भोट, स्क्योन् मेद् प ह्.-जुग् पर् अनवद्यावतारणायै।

17. उपेक्षा (उदासीनता वा तटस्थभाव) धर्मालोकमुख है, उसके कारण काम के प्रति जुगुप्सा (घृणा) हो जाती है ।

18. अनित्यप्रत्यवेक्षा (सब वस्तुओं की अनित्यता की बार-बार भावना करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु के राग को लाँघा जा सकता है ।

19. दुःखप्रत्यवेक्षा (सब वस्तुओं के दुःखमय होने की बार-बार भावना करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण प्रणिधान अर्थात् चित्त के अभिलाष का पूर्णतया उच्छेद (= नाश) हो जाता है ।

20. अनात्मप्रत्यवेक्षा (सब धर्मों की अनात्मता की बार-बार भावना करना अर्थात् 'मैं' सब धर्मों से परे हूँ, इस प्रकार की भावना करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (कहीं) आत्माभिनिवेश अर्थात् 'मैं' होने का दृढ़ आग्रह नहीं रहता ।

21. शांतप्रत्यवेक्षा (निर्वाण शान्त है—इसकी बार-बार भावना करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अनु = 32ख = नय अर्थात् राग नहीं दहकता ।

22. ह्री (आत्मलज्जा) धर्मालोकमुख है, उसके कारण आत्मोपशम अर्थात् अपने भीतर शांति बनी रहती है ।

23. अपत्रपा (लोकलज्जा) धर्मालोकमुख है, उसके कारण बहिर्धाप्रशम अर्थात् बाहर की शांति बनी रहती है ।

24. सत्य धर्मालोकमुख है, उसके कारण देवताओं तथा मनुष्यों में विसंवादनता (= वंचना, ठगी) नहीं हो पाती ।

25. भूत (यथार्थता का बोध) धर्मालोकमुख है, उसके कारण आत्म-विसंवादनता अर्थात् अपने-आपसे धोखा खाने की नौबत नहीं आती ।

26. धर्माचरण धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्म की प्रतिशरणता होती है अर्थात् धर्म का सहारा लेकर ही जीवन बीतता है ।

27. त्रिशरणगमन (बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण जाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण तीन अपायों अर्थात् नरकयोनि, प्रेतयोनि एवं तिर्यक्-योनि में गिरने से बचा जा सकता है ।

28. कृतज्ञता (किये हुए उपकार को मन में रखना तथा भूलने न देना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण किये हुए कुशल अर्थात् पुण्य का मूल नष्ट नहीं होने पाता ।

29. कृतवेदिता (किए हुए उपकार को जनाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण पराभिमन्यता[8] अर्थात् दूसरों के प्रति गौरव का भाव रहता है ।

---

8. मूल, पराभिमन्यतायै । भोट, ग्शन् ल ब्र्जस् प मेद् पर्, परानवमन्य-

30. आत्मज्ञता (अपने को ठीक-ठीक समझना अर्थात् अपने को मिथ्याभाव से उच्च या हीन न समझना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण आत्मानुकर्षणता अर्थात् आत्मप्रशंसा का भाव नहीं रहता।

31. सत्त्वज्ञता (सब प्राणियों को अपने समान समझना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण पर-पांसनता[9] अर्थात् दूसरों की निन्दा का भाव नहीं रहता।

32. धर्मज्ञता (सद्धर्म का ज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्मानुधर्मों अर्थात् धर्म के अनुकूल गुणों में प्रतिपत्ति (= यत्नसिद्धि) होती है।

33. कालज्ञता (कब क्या करना चाहिए—इस बात का ज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अमोघदर्शनता होती है अर्थात् कार्य की सफलता का ज्ञान पहले से ही हो जाया करता है।

34. निहतमानता अर्थात् निरभिमानता धर्मालोकमुख है, उसके कारण ज्ञान की परिपूर्णता होती है।

35. अप्रहतचित्तता अर्थात् चित्त का विचार एवं विवेक में कुंठित न होना धर्मालोकमुख है, उसके कारण अपनी तथा पराई रक्षा होती है।

36. अनुपनाह अर्थात् वैर-न-बाँधना धर्मालोकमुख है, उसके कारण कौकृत्य अर्थात् किये-न-किये का पछतावा नहीं रहता।

37. अधिमुक्ति अर्थात् धर्म की अटल लगन धर्मा— = 33क = लोकमुख है, उसके कारण अविचिकित्सापरमता अर्थात् संदेह या दुविधा के न होने के भाव की परम दृढ़ता आ जाती है।

38. अशुभप्रत्यवेक्षा (अर्थात् सांसारिक वस्तुओं को अपवित्र समझना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण कामवितर्कप्रहाण अर्थात् काम-भोगविषयक विचारों का नाश होता है।

39. अव्यापाद (अर्थात् हिंसावृत्ति शून्य कल्याणभाव) धर्मालोकमुख है, उसके कारण व्यापादवितर्क (हिंसावृत्तिमय अकल्याणभाव, दूसरों की हानि करने के भाव) का प्रहाण (नाश) हो जाता है।

40. अमोह (–33–) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार के अज्ञान का विधमन अर्थात् नाश हो जाता है।

तायै, परानवज्ञायै, दूसरों का अपमान न करने के लिए। पराभिमन्यतायै का अर्थ है दूसरों का मान करने के लिए। दोनों पाठ समान भाव से सुन्दर हैं।

9. मूल, परापत्समानतायै। यह अशुद्ध पाठ है। भोट, **ग्शन् ल स्मोन् पर् मेद् पर्थ**, पर–अ–पांसनतायै, दूसरों की अनिन्दा के लिए।

41. धर्मार्थिकता (धर्म के अर्थ की जानकारी) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अर्थप्रतिशरणता होती है अर्थात् धर्म के अभिप्रेत अर्थ का आश्रय प्राप्त होता है।

42. धर्मकामता (धर्माभिलाष) धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्मालोक[10] अर्थात् धर्म का प्रकाश प्राप्त होता है।

43. श्रुतपर्येष्टि (सुने हुए धर्म की पर्येष्टि—ऊहापोह—विचारना करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण योनिशोधर्मप्रत्यवेक्षणा होती है अर्थात् सब धर्मों या दार्शनिक तत्त्वों में ठीक-ठीक विचार एवं विवेक करने की दृष्टि मिलती है।

44. सम्यक्–प्रयोग (सम्यक् प्रकार से योगाभ्यास करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (तत्त्व की प्राप्त्यर्थ) सम्यक् प्रतिपत्ति या साधना हो पाती है।

45. नामरूपपरिज्ञा (नामरूपात्मक विश्व की जानकारी अथवा भौतिक-मानसिक जगत् का जानना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार की आसक्ति से परे जाया जा सकता है।

46. हेतुदृष्टिसमुद्घाट (हेतु में लगी दृष्टि का विनाशन) धर्मालोकमुख है, उसके कारण विद्याधिमुक्ति (ज्ञान तथा मोक्ष) का लाभ होता है।

47. अनुनयप्रतिघप्रहाण (राग तथा द्वेष का नाश) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (चित्त में) न तो ऊँचेपन का ही भाव रहता है और न नीचेपन का ही।

48. स्कन्धकौशल्य (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार नामक पाँचों स्कन्धों के स्वरूप के ज्ञान की पण्डिताई) धर्मालोकमुख है, उसके कारण दुःख का परिज्ञान (=परिपूर्ण ज्ञान) होता है।

49. धातुसमता (ज्ञानेन्द्रियों, उनके विषयों तथा उन दोनों से उत्पन्न विज्ञानों में विषमता का न होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण समुदय (दुःखहेतु) का नाश होता है।

53. आयतनापकर्षण (ज्ञानेन्द्रियों तथा विषयों के द्वारों का खुला होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (आर्य-अष्टांगिक) मार्ग की भावना हो पाती है।

---

10. मूल, लोक। भोट, छोस् स्नङ् ब, धर्मालोक। जान पड़ता है कि मूल में लेखकप्रमाद से पाठ छूट गया है। *आनन्तर्यमार्ग तथा विमुक्तिमार्ग इन दो पारिभाषिक शब्दों को उदाहरण से समझना सरल है। क्लेशरूपी चोर को बाहर निकालना आनन्तर्य मार्ग का काम है। फिर वह भीतर न घुसे अतः द्वार को बन्द करना विमुक्ति मार्ग का काम है।

51. अनुत्पाद = 33ख = क्षांति (दुःख के उत्पन्न न होने का आनन्तर्य-मार्ग) धर्मालोकमुख है, उसके कारण निरोध (= दुःखनिरोध) का साक्षात्कार होता है।

52. कायगतानुस्मृति (शरीर की चेष्टाओं की सावधानता) धर्मालोकमुख है, उसके कारण कार्यविवेकिता होती है अर्थात् शरीर निरर्थक चेष्टाओं में नहीं लगता।

53. वेदनागतानुस्मृति (सुख-दुःख के अनुभव में सावधान रहना, बेचैन या बेहोश न हो जाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार की वेदनाओं (= दुःखानुभूतियों) की प्रतिप्रश्रब्धि (= शांति) हो जाती है।

54. चित्तगतानुस्मृति (चित्त में उठने वाले भावों के प्रति सावधान रहना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण चित्त माया के समान देखा जा सकता है।

55. धर्मगतानुस्मृति (सभी धर्मों के प्रति सावधान होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (सब धर्मों का वा सब वस्तुओं के स्वभाव का) वितिमिर अर्थात् धुँधलेपन से रहित अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान होता है।

56. चार सम्यक्प्रहाण (अर्थात् अनुत्पन्न पापधर्मों के उत्पन्न न होने के लिए, उत्पन्न पापधर्मों के नष्ट हो जाने के लिए, अनुत्पन्न पुण्यधर्मों के उत्पन्न होने के लिए तथा उत्पन्न पुण्यधर्मों के बढ़ाने के लिए यत्न करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब कुशल धर्म परिपूर्ण हो जाया करते हैं।

57. चार ऋद्धिपाद (अर्थात् छंद वा अभिलाष, चित्त, वीर्य तथा मीमांसा से युक्त धर्म) धर्मालोकमुख है, उनके कारण काय तथा चित्त हलके (= फुरतीले) रहते हैं।

58. श्रद्धा (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण (धर्म में) दूसरे के बिना ही चलना हो पाता है (मनुष्य परप्रणेय अर्थात् दूसरे से राह दिखलाने योग्य नहीं रहता)।

59. वीर्य (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण ज्ञान का भलीभाँति चिन्तन हो पाता है।

60. स्मृति (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण (जो कुछ) किया जाता है (वह) सुकृत होता है—सुसंपन्न होता है।

61. समाधि (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण चित्त की विमुक्ति होती है अर्थात् चित्त राग-द्वेष-मोह के बंधन से छूट जाता है।

62. प्रज्ञा (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण ज्ञान का प्रत्यवेक्षण (= मनन) हो पाता है।

63. श्रद्धा (नामक) बल धर्मालोकमुख है, उसके कारण मार के बल से बचकर भलीभाँति निकला जा सकता है।

64. वीर्य (नामक) बलधर्मालोकमुख है, उसके कारण अवैवर्तिकता (–34–) हो पाती है अर्थात् धर्म के मार्ग में मुह न मोड़ना हो पाता है ।

65. स्मृति (नामक) बल धर्मालोकमुख है उसके कारण = 34 = असंहार्यता रहती है अर्थात् धर्म को दूषित मनोवृत्तियाँ चुरा नहीं पातीं ।

66. समाधि (नामक) बल धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब वितर्कों का प्रहाण होता है ।

67. प्रज्ञा (नामक) बल धर्मालोकमुख है, उसके कारण मूढ़भाव नहीं बना रहता ।

68. स्मृति (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण जो धर्म जैसा होता है उसको वैसा ही जाना जा सकता है ।

69. धर्मविचय अर्थात् धर्मों का विश्लेषण (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब धर्मों में परिपूर्णता प्राप्त होती है ।

70. वीर्य (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण अत्यन्त विचित्र बुद्धिमत्ता प्राप्त होती है ।

71. प्रीति (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, समाध्यायिकता अर्थात् समाधि में सिद्धाई हो जाती है ।

72. प्रश्रब्धि या अवधूतभाव (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण कृतकरणीयता रहती है अर्थात् मन में यह भाव रहता है कि जो कुछ करना था वह कर लिया, अब झंझट नहीं रहा ।

73. समाधि (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण सर्वधर्मसमतानुबोध[11] होता है अर्थात् धर्मों में जो विरोध या विषमता का भाव दीखता है वह नहीं रहता ।

74. उपेक्षा (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार की उपपत्तियों से अर्थात् नाना प्रकार की जो-जो योनियाँ हैं उनमें जन्म लेने से जुगुप्सा (घृणा या विरक्ति) हो जाती है ।

75. सम्यग्दृष्टि-धर्मालोकमुख है, उसके कारण न्यायाक्रमणता[12] होती है अर्थात् न्याय या निर्दोष गुणों में आ--क्रमणता या प्रवेश होता है ।

76. सम्यक्संकल्प धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब कल्प (कल्पनाएँ) विकल्प (सन्देहमिश्रित कल्पनाएं) तथा परिकल्प (चारो ओर से टिकी हुई कल्पनाएँ) नष्ट हो जाया करती हैं ।

---

11. मूल, समतानुबोधाय । भोट, छोस् थम्स् चद् म्ञम् प ञिद् दु खोङ् दु छुद् पर्, सर्वधर्मसमतानुबोधाय ।

12. द्रष्टव्य इसी अध्याय में टिप्पणी 7 ।

77. सम्यग्वाक् धर्मालोक = 34ख = मुख है, उसके कारण सब अक्षरों रूतों (= शब्दों), घोषों (= पदों), तथा वाक्यों के पथ[13] की प्रतिश्रुत्काओं (= प्रतिध्वनियों) और समताओं का अनुबोध होता है।

78. सम्यक्कर्मान्त (= सम्यक् कर्म) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अकर्मता (= कर्मबन्धन का अभाव) तथा अविपाकता (= फलबन्धन का अभाव) होता है।

79. सम्यगाजीव (= पवित्र जीविका) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब एषणाओं (= इच्छाओं) की प्रतिप्रश्रब्धि (= शान्ति) हो जाती है।

80. सम्यग्व्यायाम (= उचित श्रम) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (संसार के) दूसरे किनारे पर जाया जा सकता है।

81. सम्यक्स्मृति धर्मालोकमुख है, उसके कारण अस्मृतिता (धर्म में अनुपयोगी तत्त्वों के मन में विचारणा का अभाव) रहता है।

82. सम्यक्समाधि धर्मालोकमुख है, उसके कारण अकोप्य अर्थात् अचंचल चित्तसमाधि का लाभ होता है।

83. बोधिचित्त धर्मालोकमुख है, उसके कारण त्रिरत्न (बुद्धरत्न, धर्मरत्न तथा संघरत्न) के वंश का उच्छेद नहीं होता।

84. आशय (संपूर्ण प्राणियों को दुःख से छुड़ाने का उदार भाव) धर्मालोकमुख है, उसके कारण हीनयान के प्रति स्पृहा नहीं रहती।

85. अध्याशय (बोधिचर्या में अतिशय मनोयोग) धर्मालोकमुख है, उसके कारण उदार बुद्धधर्मों (तथा अन्य सब सज्जनों द्वारा रचित धर्म) आदि का आलम्बन लेना होता है।

86. प्रयोग (बोधिचर्या में पारमिताओं का पूर्ण करने का उद्योग) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब कुशल (= शुभ) धर्मों की परिपूर्ति होती है।

87. दानपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण (बत्तीस महापुरुषों के) लक्षणों तथा (अस्सी महापुरुषों के) अनुव्यंजनों से युक्त बुद्धक्षेत्र की परिशुद्धि होती है (तथा) कंजूस प्राणी (दानरूपी धर्माचरण में) सिखा कर पक्के किये जाते हैं।

88. शीलापारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब अक्षणों (अर्थात् नरकयोनि, तिर्यग्योनि, दीर्घायुष देवयोनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता ये आठ कुत्सित क्षणों) तथा अपायों (दुर्गतियों) से = 35क = बच

---

13. मूल, ०प्रथ०। यह अशुद्ध पाठ है। भोट, ०लम्॰ (= ० पथ ०–)।

मिकला जा सकता है (और) दुःशील (–35–) प्राणी (शील के आचरण में) सिखाकर पक्के किए जाते हैं ।

89. क्षांतिपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब व्यापाद (= दूसरों को हानि पहुँचाने का भाव), खिल (= चित्त की कठोरता), दोष (= द्वेष), मान मद (= मतवालापन) और दर्प का नाश होता है तथा दूसरों के प्रति क्षमाभाव के आचरण में) व्यापन्नचित्त अर्थात् दूसरों की हानि की इच्छावाले प्राणी सिखाकर पक्के किये जाते हैं ।

90. वीर्यपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण कुशलमूलधर्मों[14] के आरंभ (= आराग) वा अनुरंजनकर्म में अर्थात् साधन में (अपने आप को) उतारा जाता है तथा आलसी प्राणी (वीर्य के कार्यों में) सिखा कर पक्के किये जाते हैं ।

91. ध्यानपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण[15] सब ध्यानों तथा अभिज्ञाओं की उत्पत्ति होती है[15] (तथा) विक्षिप्तचित्त (चंचल मन वाले) प्राणी (ध्यानमार्ग में) सिखाकर पक्के किये जाते हैं ।

92. प्रज्ञापारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण अविद्या, मोह, तम, एवं अंधकार (से उत्पन्न) उपलम्भदृष्टि अर्थात् शून्य न समझने की दृष्टि का प्रहाण हो जाता है (तथा) दुष्प्रज्ञ प्राणी (शून्यतादर्शन में) सिखाकर पक्के किये जाते हैं ।

93. उपायकौशल्य धर्मालोकमुख है, उसके कारण प्राणियों को उनकी अधिमुक्ति (= दृढ़श्रद्धा वा दृढ़ विश्वास) के अनुसार ईर्यापथ (= चंक्रमण, शयन, स्थान = खड़ा होना, निषद्या = बैठना इन चारों व्यापारों के प्रकार) को दिखाया जाता है (तथा) सब बुद्ध धर्मों का अविधमनता[16] वा अविनाशता होती है ।

94. चार संग्रह वस्तुएँ (= दान, प्रियवादिता, अर्थचर्या तथा समानार्थता) धर्मालोकमुख हैं, उनके कारण सत्त्वसंग्रह (= लोकसंग्रह) होता है तथा संबोधि पा चुकने वाले को धर्म की संप्रत्यवेक्षणा[17] (= धर्मानुसंधान की विशद दृष्टि) बनी रहती है ।

95. सत्त्वपरि = 35ख = पाक (= प्राणियों को सिखा-पढ़ाकर धर्म में पक्का

---

14. मूल, ०कुशलमूलधर्म० । भोट दगे बहि. छोस् बचमस् प, कशल-धर्मोचित ।

15····15. मूल, सर्वज्ञानाभिज्ञोत्पादाय । भोट, बसम् गतन् दङ् मङोन् पर् शेस् प थमस् चद् बस्क्यैद् चिङ्, सर्वध्यानाभिज्ञोत्पादाय ।

16. मूल, अविधमनतायै भोट, स्ग्रुब् पर्, सिद्धये ।

17. मूल, संप्रत्यवेक्षणातायै । भोट, थोब् पर्, प्राप्तये ।

करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अपने सुख का अनध्यवसान रहता है अर्थात् अपने सुख की तृष्णा नहीं रहती (तथा) अपरिखेद अर्थात् शोक का अभाव रहता है।

96. सद्धर्मपरिग्रह धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्राणियों के क्लेशों का नाश होता है।

97. पुण्य संभार धर्मालोकमुख है, उसके कारण (धर्माचरण करने वाला) सब प्राणियों का उपजीव्य (= आश्रय) बन जाता है।

98. ज्ञानसंभार धर्मालोकमुख है, उसके कारण (तथागत के) दश बलों की परिपूर्ति होती है।

99. शमथसंभार (= शान्ति का संग्रह) धर्मालोकमुख है, उसके कारण तथागत की समाधियों का लाभ होता है।

100. विदर्शना (= निर्मल अन्तर-दृष्टि) धर्मालोकमुख है, उसके कारण प्रज्ञा के नेत्र का लाभ होता है।

101. प्रतिसंवित् (= विवेकज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्म की दृष्टि प्राप्त होती है।

102. प्रतिशरणावतार (= धर्म में दृढ़ विश्वास के साथ प्रवेश) धर्मालोक-मुख है, उसके कारण बुद्धचक्षु की परिशुद्धि होती है।

103. धारणी-प्रतिलंभ धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब बुद्ध वचनों के धारण करने की शक्ति होती है।

104. प्रतिभानप्रतिलंभ (= प्रतिभाप्राप्ति) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्राणियों के सुभाषितों में संतोष का भाव रहता है।

105. – (क) आनुलोमिक धर्मज्ञानक्षांति (= धर्मज्ञान से उत्पन्न पाप कर्म नाश करने वाली विशेष प्रकार की मन की चेतना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब बुद्ध धर्मों के साथ (साधक की) अनुलोमनता (= अनुकूलता) बनी रहती है। –(ख) अनुत्पत्तिक धर्मक्षांति धर्मालोकमुख है, उसके कारण व्याकरण (= भविष्यद्वाणी करने का बल) प्राप्त होता है।

106. अवैवर्तिकभूमि (= समाधि में प्राप्त हुई भूमि से पीछे न लौटने की अवस्था) धर्मालोकमुख है, = 36क = उसके कारण सब बुद्धधर्मों की परिपूर्ति होती है।

107. भूमेर्भूमि (–36–) संक्रन्तिज्ञान (= एक समाधि की भूमि से दूसरी समाधि की भूमि में जाने का ज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सर्वज्ञ (= तथागत) के ज्ञान से अभिषेक (= स्नान) होता है।

108. अभिषेकभूमि धर्मालोकमुख है, उसके कारण अवक्रमण (= गर्भवास), जन्म, अभिनिष्क्रमण (= गृहत्याग), दुष्करचर्या (कृच्छ्र तपस्या), बोधिमण्डोपसंक्रमण (= बोधिवृक्ष के नीचे जाकर आसन लगाना), मारध्वंसन (=कामविजय), बोधिविबोधन (= बुद्धत्वप्राप्ति), धर्मचक्रप्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण (इन नौ बातों का) ठीक-ठीक दर्शन वा साक्षात्कार होता है ।

7. हे मार्षो, ये वे एक सौ आठ धर्मालोकमुख हैं, जिन्हें बोधिसत्त्व को देवसभा में अवतार की घड़ी आने के समय ठीक-ठीक प्रकाशित करना चाहिए ।

8. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के द्वारा इस धर्मालोकमुख (नामक) परिवर्त (= अध्याय) के निर्देश किये जाने पर उस देवसभा में चौरासी हजार देवपुत्रों के चित्त अनुत्तर सम्यक् संबोधि में उत्पन्न हुए । पूर्व (जन्मों में) परिकर्म (बोधिप्राप्ति में उपयोगी धर्मकृत्य) कर चुकने वाले बत्तीस हजार देवपुत्रों को अनुत्पत्तिक धर्मों में क्षान्ति का लाभ हुआ । छत्तीस खर्ब[18] देवपुत्रों को विरज (= रजोहीन), विगतमल (= निर्मल) धर्म में विशुद्ध चक्षु (का लाभ) हुआ । तथा सब ओर तुषित लोक का श्रेष्ठ भवन घुटनों तक दिव्य पुष्पों से ढक गया ।

9. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने उस देव सभा को = 36ख = और भी अधिक हर्षित करने के लिए उस समय ये गाथायें कहीं—

(।। आर्याछन्दोमयी गाथाएँ ।।)

तुषितवरभवननिलयाद् यदा च्यवति नायकः पुरुषसिंहः ।
आमन्त्रयते देवान् प्रमादमखिलं विसर्जयत ।।५४।।[19]

जब तुषित (लोक) के श्रेष्ठ भवन (रूपी) निलय (= आलय) से पुरुषसिंह नायक (पृथिवीपर) अवतार लेते हैं (तब) देवताओं से कहते हैं कि संपूर्ण प्रमाद छोड़ दो ।

या काचि रतिवियूहा दिव्या मनसा विचिन्तिता श्रीमान् ।
सर्वशुभकर्महेतोः फलमिदं शृणुरस्य कर्मस्य ।।५५।।[20]

जो दिव्य रतिव्यूह (= आनन्दसमूह) मन से सोचा हुआ श्रीसंपन्न हो सकता

---

18. मूल, षट्त्रिंशतेश्च देवपुत्रनयुतानाम् । भोट. ल्ह हि. बु ब्ये ब सुम् चु र्च. द्रुग्, षट्त्रिंशतो देवपुत्रकोटीनाम् ।

19. यह गाथा शुद्ध संस्कृत के समान ही है । केवल च्यवति के स्थान में च्यवते कर देने से ही संस्कृत छाया हो जायेगी ।

20. संस्कृतच्छाया—यः कश्चिद् रतिव्यूहो दिव्यो मनसा विचिन्तितः श्रीमान् । सर्वः शुभकर्महेतोः फलमिदं शृणुतास्य कर्मणः ।

है, (वह) सब शुभ कर्म के कारण होता है, (इसलिए) इस कर्म के इस फल को सुनो।

तस्माद् भवत कृतज्ञा स[21] पूर्वशुभसंचयं क्षपित्वेह।
मा गच्छत पुनरपायानसाध्वसुखवेदना यत्र ॥५६॥[22]

इसलिए कृतज्ञ रहना, यहाँ उस पहले के शुभ (=पुण्य) के संचय को खतम कर फिर (उन) नरकों में न जाना जहाँ कि असाधु तथा असुख वेदनाएँ (=अनुभूतियाँ) होती हैं।

धर्मश्च यः श्रुतोऽयं ममान्तिके गौरवमुपजनेत्वा।
तत्र प्रतिपद्यथाः प्राप्स्यथ नियतं सुखमनन्तम् ॥५७॥[23]

मेरे पास श्रद्धा उपजा कर जो यह धर्म सुना है, उसमें प्रतिपत्ति करो अर्थात् लगन लगाओ, निश्चय ही अनंत सुख मिलेगा।

सर्वमनित्य कामा अध्रुवं न च शाश्वता सुपिन[24] कल्पाः।
(–37–) मायामरीचिसदृशा विद्युत्फेनोपमा चपलाः ॥५८॥[25]

सब काम अनित्य, अध्रुव (=न टिकने वाले), स्वप्न के समान निरंतर न रहने वाले, माया (=इन्द्रजाल) तथा मृग-मरीचिका जैसे (असत्), विद्युत् (=बिजली की चमक) तथा फेन के तुल्य चंचल होते हैं।

न च कामगुणरतोभिः तृप्तिर्लवणोदकं यथा पीत्वा।
ते तृप्त यष प्रज्ञा आर्या लोकोत्तरा विरजा ॥ ५९॥[26]

---

21. मूल, अ०। भोट में केवल **स्ङोन् ग्यि**, पूर्व यह पाठ है पर मूल में अपूर्व० पाठ है जो निश्चय ही अशुद्ध है। इसके स्थान में सपूर्व० पढ़ना होगा जो सचेत् के स की भाँति वाक्यालंकार मात्र होकर अर्थ को संगत कर सकेगा।

22. तस्माद् भवत कृतज्ञाः पूर्वकशुभसंचयं क्षपयित्वेह। मा गच्छत पुनरपायान-साध्वसुख वेदना यत्र ॥56॥ इति च्छाया।

23. धर्मश्च यः श्रुतोऽयं ममान्तिके गौरवमुपजनय्य। तत्र प्रतिपद्यध्वं प्राप्स्यथ नियतं सुखमनन्तम् ॥57॥ इति च्छाया।

24. मूल, अपि न। पाठान्तर, सुपिन। भोट, **मि लम्**, स्वप्न, सुपिन। भोट से पाठान्तर का समर्थन होता है तथा अर्थसंगति भी बैठती है।

25. सर्वेऽनित्याः कामा अध्रुवा न च शाश्वताः स्वप्नकल्पाः। मायामरीचिसदृशा विद्युत्फेनोपमाश्चपलाः ॥58॥ इति च्छाया।

26. न च कामगुणरतिभिस्तृप्तिर्लवणोदकं यथा पीत्वा। ते तृप्ता येषां प्रज्ञार्या लोकोत्तरा विरजस्का ॥59॥ इति च्छाया।

काम के गुणों की रतियों (= भोगों) से खारे पानी के पीने के समान तृप्ति नहीं होती। जिनकी प्रज्ञा श्रेष्ठ, लोकोत्तर तथा रजोहीन होती है, वे तृप्त रहते हैं।

नटरङ्ग[27] तुल्यकल्पाः संगीति च अप्सरोभि संवासः।
अन्योन्यगम (न) युक्ता तथैव सामायिका[28] ऽऽसं[29] च ॥६०॥[30]

अप्सराओं के साथ विहार तथा संगीत तुलना में नटों के रंग (= कला-कौशल देखने वालों के जमघट) के समान हैं। सामाजिक (= खेलकूद के जमावड़े के प्रेमी) आ जाते हैं, बैठक जम जाती है, बैठक ढीली पड़ जाती है, सामाजिक चले जाते हैं—यों सामाजिकों तथा बैठक का एक-दूसरे के कारण जमना या उखड़ना होता है। = 37क =

न च संस्कृते सहाया न मित्रज्ञातीजनो च परिवाराः।
अन्यत्र कर्म सुकृतादनुबन्धति पृष्ठतो याति ॥61॥[31]

सुकृत कर्म को छोड़कर और कोई न साथ देता न पीछे जाता है। संस्कृत अर्थात् इस बनावटी दुनिया का साथी भी नहीं, मित्र, जाति-भाई और परिवार भी नहीं।

तस्मात् सहित समग्रा अन्योन्यं मैत्रचित्त हितचित्ताः।
धर्मचरणं चरेथाः सुचरितचरणा न तप्यन्ते ॥62॥[32]

इसलिए एक साथ एक होकर, एक-दूसरे के प्रति मैत्री का भाव मन में रख कर, हित का भाव हृदय में कर, धर्म का आचरण करो, सुचरित का आचरण करने वाले (दुःख से) नहीं तपते।

---

27. मूल, न तरङ्ग०, यह अत्यन्त प्रामादिक पाठ है। जान पड़ता है कि लेखक ने टकार के स्थान में तकार लिख डाला है। भोट, **गर् गिय ल्तद् मो**, नटरङ्ग।
28. मूल, सामायि (= सामाजि) भोट, **ह्.-दुस् प दग्**, समाजः।
29. मूल, कामं (= कर्म)। भोट, **खि लस् सु**, आसनकर्म। सामाजिकासं पाठ सामायिकामं के स्थान पर ठीक होगा।
30. नटरङ्गतुल्यकल्पाः संगीतिश्चाप्सरोभिः संवासः। अन्योन्यगमनयुक्ता यथैव सामाजिका आसनं च ॥60॥ इति च्छाया।
31. न च संस्कृते सहायो न मित्रज्ञातिजनश्च परिवारः। अन्यः कर्मणः सुकृताद् अनुबन्धाति पृष्ठतो याति ॥61॥ इतिच्छाया।
32. तस्मात् सहिताः समग्रा अन्योन्यं मैत्रचित्ताः हितचित्ताः। धर्माचरणं चरेत सुचरितचरणा न तप्यन्ते ॥62॥ इतिच्छाया।

बुद्धमनुस्मरेथा धर्मं संघं तथाप्रमादं च।
श्रुतशीलदाननिरता क्षान्त्या सौरभ्य संपन्नाः ॥63॥[33]

श्रुत अर्थात् धर्म तथा विद्या के श्रवण, शील तथा दान में रमे रहकर, क्षमा से तथा संयम से युक्त होकर, बुद्ध, धर्म तथा संघ और अप्रमाद (= सावधानता) का अनुस्मरण करो।

दुःखमनित्यमनात्मा निरीक्षथा योनिसो इमा धर्मा।
हेतुप्रत्यययुक्ता वर्तन्तेऽस्वामिका[34] जडा बुद्धया[34] ॥64॥[35]

ठीक-ठीक देखो, ये धर्म दुःख, अनित्य, अनात्म, हेतु-प्रत्यययुक्त, स्वामिरहित तथा बुद्धि से जड़ हैं।

या काचि ऋद्धि मह्यं पश्यत प्रतिभां च ज्ञानगुणतां[36] च।
सर्व शुभकर्महेतोः शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन ॥65॥[37]

मुझ में जो कोई ऋद्धि, प्रतिभा, ज्ञान तथा गुण देख रहे हो (वह) सब शुभ कर्म के कारण है तथा शील, श्रुत (= विद्या) और अप्रमाद के कारण है।

अनुशिष्यध्वं मह्यं शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन।
दानदमसंयमेना सत्त्वार्थं हितार्थ मित्रार्थः ॥66॥[38]

प्राणियों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, मैत्री के लिए, मेरे शील, श्रुत (= ज्ञान, विद्या), अप्रमाद, दान, दम तथा संयम से सीखो।

न च वाक्यरुतरवेणा शक्याः संपादितुं कुशलधर्मान्।
प्रतिपत्तिमारभेथा यथा च वदथा तथ करोथा ॥67॥[39]

---

33. बुद्धमनुस्मरेत धर्मं संघं तथा प्रमादं च। श्रुतशीलदाननिरताः क्षान्त्या सौरत्य संपन्नाः ॥63॥ इतिच्छाया। सूरतस्य कारुणिकस्य भावः **सौरत्यम्**।

34····34. मूल, जडाबुद्धया (= जडा बुद्धया)। भोट, **बेम्स् पोर् ग्युर् ब यि**, जडीभूताः, जड हुए।

35. दुःखा अनित्या अनात्मानः (इति) निरीक्षध्वं योनिशः, इमे धर्माः। हेतु-प्रत्यययुक्ता वर्तन्तेऽस्वामिका जडा बुद्धया ॥64॥ इति च्छाया।

36. मूल, ०गुणतां। भोट, **द्बङ्**, वशितां।

37. या काचिद् ऋद्धिर्मम पश्यथ प्रतिभां च ज्ञानं गुणतां च। सर्वं शुभकर्महेतोः शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन ॥65॥ इति च्छाया।

38. अनुशिष्यध्वं (यूयं) मम शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन दानदमसंयमेन सत्त्वर्थं हितार्थं मैत्र्यर्थम् ॥66॥ इति च्छाया।

39. न च वाक्यारुतरवेण शक्याः संपादयितुं कुशलधर्माः। प्रतिपत्तिं (= प्राप्त्यु-पायं) आरभध्वं यथा च वदत तथा कुरुत ॥67॥ इति च्छाया।

कुशल धर्मों की सिद्धि बोलने, कहने तथा चिल्लाने से नहीं हो सकती। प्राप्ति के यत्न का आरम्भ करो और जैसा बोलो वैसा करो।

मा खलु परा = 37ख = वकांशं स्वयं यतध्वं सदा प्रयत्नेन।
न च कश्चि कृत्व ददते न चाप्यकृत्वा भवति सिद्धिः ॥68॥[40]

दूसरे को अवसर न दो। अपने आप परिश्रम से जतन करो। कोई दूसरा करके (किसी को) नहीं देता और बिना किये सिद्धि नहीं होती।

समनुस्मरथा पूर्वे यद् दुःखं संसारसरति[41] मनुभूतम्। (–38–)
न च निर्वृती विरागो समनुगतो मिथ्य नियतैव ॥69॥[42]

भली भाँति सुरति करो जो कि दुःख पहले संसार के भीतर आवागमन में भोगा है पर विराग (= रागरहित) निर्वृत्ति (= मुक्ति) न मिली। मिथ्या में (लगने से तो) यह होना ही था।

तस्मात् क्षणं लभित्वा मित्रं प्रतिरूपदेशवासं च।
श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं स्रमेथ रागादिकान् क्लेशान् ॥70॥[43]

इसलिए क्षण (= सु-अवसर), मित्र, अनुकूल देश तथा स्थान, एवं श्रेष्ठ धर्म-श्रवण का लाभ पाकर राग आदि क्लेशों को शान्त करो।

मानमददर्पविगताः[44] सदार्जवा मन्दवाश्च[44] अशठाश्च।
निर्वाणगतिपरायण युज्यत मार्गाभिसमयाय ॥71॥[45]

---

40. मा खलु परावकाशं (उचिता क्रियात्राध्याहार्या) स्वयं यतध्वं सदा प्रयत्नेन। न च कश्चित् कृत्वा दत्ते न चाप्यकृत्वा भवति सिद्धिः ॥68॥इति च्छाया।

41. मूल, संसारगिरम्। भोट, ह्-खोर् बर् ह्-खोर् छे, संसारे संसरणकाले। पाठ संसारसरणि करके परवर्ती अनुभूतम् से पूर्व मुखसुखार्थ मकारागम करके यहाँ काम चलाना होगा। अर्थ–संसारे सरति सति, संसार में संसरण के समय।

42. समनुस्मरत पूर्वं यद् दुःखं संसारे सरद्भिरनुभूतम्। न च निर्वृत्तिविरागा समनुगता मिथ्यायां (इयमवस्था) नियतैव ॥69॥ इति च्छाया।

43. तस्मात् क्षणं लब्ध्वा मित्रम् अनुरूपदेशवासं च। श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं शमयेध्वं रागादिकान् क्लेशान् ॥70॥ इति च्छाया।

44....44. मूल, सदार्जवामन्दवाश्च (= सदा आर्जवा मन्दवाश् च)। पूरा चरण भोट में, र्तग् तु मृत्रेन् शिङ् ब्रङ् ल गयो मेद् चिङ्, सदा स्निग्धा ऋजवोऽशठाश्च। मन्दव, पालि मद्दव, संस्कृत मार्दव। मन्दव के स्थान पर पाठान्तर मार्दव है जो अपसंस्कृत को संस्कृत बनाने का प्रयास है।

45. मानमददर्पविगताः सदार्जवा मार्दवाश्चाशठाश्च। निर्वाणगतिपरायणा युज्यध्वं मार्गाभिसमयाय ॥71॥ इति च्छाया।

मान, मद (=मतवालापन), दर्प (=घमंड) से रहित हो, सदा सीधे-सादे, कोमल एवं अशठ (=छल से रहित) हो, निर्वाण की गति में तत्पर हो (आर्य-) मार्ग के साक्षात्कार के लिए योग करो।

मोहकलुषान्धकारं प्रज्ञाप्रदीपेन विधमथा सर्वं।
सानुशयदोषजालं विदारयत ज्ञानवज्रेण ॥72॥[46]

प्रज्ञा के प्रदीप से मोह के काले अन्धकार को दूर करो। ज्ञान के वज्र से अनुशयों अर्थात् वासनाओं के साथ दोष-समूह को फाड़ डालो।

किमपि सुबहु वदेयं धर्मं युष्माकमर्थसंयुक्तं।
न च तत्र वतिष्ठेथा न तत्र धर्मस्य अपराधः ॥73॥[47]

और बहुत अधिक क्या कहना। धर्म तुम्हारे लिए अर्थसंयुक्त है—अर्थात् तुम्हारे मनोरथों को जुटाने वाला है। (तुम्हीं यदि) उस धर्म में स्थिर न रहो तो उसमें धर्म का अपराध नहीं।

बोधिर्यदा[48] मि प्राप्ता धर्म च प्रवर्षयेदमृतगामि।
पुनरपि विशुद्धचित्ता उपेथ वरधर्मश्रवणाय ॥74॥[49]

जब मैं बोधि प्राप्त कर लूँ तथा अमृत को प्राप्त कराने वाले धर्म की वर्षा करूँ तब फिर विशुद्ध चित्त हो श्रेष्ठ धर्म सुनने के लिए (मेरे) पास आना।

॥ इति श्री ललितविस्तरे धर्मालोकमुखपरिवर्तो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

●

---

46. मोहकलुषान्धकारं प्रज्ञाप्रदीपेन विधमत सर्वम्। सानुशयदोषजालं विदारयत ज्ञानवज्रेण ॥72॥ इति च्छाया।

47. किमपि (=अपि किं) सुबहु वदेयं धर्मो युस्माकमर्थसंयुक्तः। न च तत्रावतिष्ठध्वं न तत्र धर्मस्यापराधः ॥73॥ इति च्छाया।

48. मूल, यथा। भोट, गङ् छे, यदा। यदा पाठ से ही अर्थ की संगति बैठती है।

49. बोधिर्यदा मे (मया) प्राप्ता (स्याद्) धर्मं च यदा प्रवर्षयेयामृतगामिनम्। पुनरपि विशुद्धचित्ता उपेत वरधर्मश्रवणाय ॥74॥ इति च्छाया।

॥ ५ ॥

॥ प्रचलपरिवर्त ॥

मुदितग्रन्थ ३८ (पंक्ति १३)—५४ (पंक्ति १७)
भोटग्रन्थ ३७ ख (पंक्ति ७)—४९ ख (पंक्ति ३)

5

॥ प्रचलपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व ने इस प्रकार उस देवताओं की महासभा को धर्म की कथा से[1] भलीभाँति समझा-बुझा कर[1], [2]भलीभाँति धीरज बँधा कर,[2], भलीभाँति उत्तेजित कर, भलीभाँति आनन्दित कर, उससे क्षमा माँग कर (उस) मंगल-भाव से युक्त देवसभा से कहा—मार्षो (आदरणीयों), मैं जम्बूद्वीप (=भारतवर्ष) जाऊँगा। मैंने पहले बोधिसत्त्वों की चर्या का आचरण करते हुए प्राणियों को दान, प्रियवचन, अर्थक्रिया (=मनोरथ पूरा करना), तथा समानार्थता (=अपना विशेष स्वार्थ न रख कर सबके स्वार्थ में अपना स्वार्थ समझना) इन (चार) संग्रहवस्तुओं से निमन्त्रित किया है, इसलिए हे मार्षो, (आदणीयों) यह मेरे लिए ठीक न होगा, यह मेरी अकृतज्ञता होगी, यदि मैं अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि (के विषय) में न समझूँ-बूझूँ।

2. तब वे तुषितकायिक देवपुत्र रोते हुए बोधिसत्त्व के चरणों को पकड़ कर यों कहने लगे। हे सत्पुरुष, यह तुषितभवन तुम से बिछुड़ा (–39–) न सुहाएगा। तब बोधिसत्त्व ने देवताओं की उस महासभा से कहा कि ये मैत्रेय बोधिसत्त्व तुम्हें धर्म का उपदेश करेंगे। फिर बोधिसत्त्व ने अपने सिर से पट्ट-मौल (=पगड़ी) को उतार कर[3] बोधिसत्त्व मैत्रेय के[3] सिर पर रख दिया और यों कहा—हे सत्पुरुष, मेरे अनन्तर तुम =38ख= अनुत्तर सम्यक् संबोधि समझो-बूझोगे।

3. तब फिर बोधिसत्त्व ने मैत्रेय बोधिसत्त्व का[4] तुषित (लोक) के श्रेष्ठ

1....1. मूल, संदर्श्य। यह रूप दृश् (=देखना) धातुका नहीं है प्रत्युत दिश् (उपदेशकरना) धातुका है। संस्कृत न मान अपभ्रंश ही समझना चाहिए। तुलनीय भोट, यङ् दग् पर् ब्स्तन्, समुपदिश्य।

2....2. मूल, मादाप्य। पाठान्तर, समादाप्य। भोट, यङ् दग् पर् ह्-जिन् दु ब्चुग् सम्यक् धृतौ प्रवेश्य समाधाप्य भलीभाँति धीरज बँधा।

3....3. मूल, बोधिसत्त्वस्य। भोट, ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह्. ब्यम्स् प हि, बोधिसत्त्वस्य मैत्रेयस्य।

4....4. मूल, तुषितभवने। भोट, द्गह्. ल्वन् गि्य ग्नस् ब्म् पर्, तुषितवर-भवने।

भवन में[4] [5]अभिषेक कर[5] देवताओं की उस महासभा को आमंत्रित किया। हे मार्षो (आदरणीयों), मैं किस प्रकार के रूप से माँ की कोख में प्रवेश करूँ। (तब) वहाँ कितने ही बोले, [6]हे मार्षो (आदरणीयों)[6] माणवक (=ब्राह्मणवटु) के रूप से। कितने ही बोले, इन्द्र के रूप से। कितने ही बोले, ब्रह्मा के रूप से। कितने ही बोले, महाराजिक के रूप से। कितने ही बोले, वैश्रवण (=कुवेर) के रूप से। (कितने ही बोले राहु के रूप से।), [7]कितने ही बोले, गंधर्व के रूप से। कितने ही बोले, किंनर के रूप से। कितने ही बोले, महोरग (=महासर्प) के रूप से। कितने ही बोले, महेश्वर (=शिव) के रूप से। कितने ही बोले, चन्द्र के रूप से। कितने ही बोले, सूर्य के रूप से। कितने ही बोले, गरुड़ के रूप से।

4. वहाँ ब्रह्मकायिक देवपुत्र, जिसका नाम उग्रतेजा था, पहले जो ऋषि का जन्म लेकर ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ था, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को बिना समझे-बूझे जो पीछे न मुड़ने वाला था, उसने यों कहा। जैसा ब्राह्मणों के मंत्रमय वेदशास्त्र के पाठों में आता है, उस प्रकार के रूप से बोधिसत्त्व को मां की कोख में प्रवेश करना चाहिए। वह कैसा है। =39क =श्रेष्ठ, महाकाय, छह दान्तों-वाला, सुवर्ण के जाल जैसे रंग का, अत्यन्त रमणीय, उत्तम लाल रंग के सिर वाला, [8]जिससे फूट-फूट कर रूप टपक रहा हो[8] ऐसा हाथी। [9]वेदशास्त्र तत्त्वज्ञ ब्राह्मण से ऐसे रूप को सुन कर (अथवा जान कर) बत्तीस (महापुरुष–) लक्षणों से युक्त (बोधिसत्त्व) होंगे—यह भविष्यवाणी (देवताओं ने) की [9]।

5....5. मूल, अभिनिषद्य, बैठकर। यह पाठ असंगत है भोट, **द्बङ् ब्स्कुर् नस्**, अभिनिषिच्य, अभिषेक कर।

6....6. मूल, मार्षा। भोट में यह पाठ टूटा हुआ है।

7. भोट, **ल ल न रे स्ग्र ग्चन् ग्यि ग्ज़ुग्स् सु**, केचिदाहुः। राहुरूपेण। मूल में यह पाठ त्रुटित है।

8....8. मूल, स्फुटितगलितरूपवान्। भोट, **ह्र-म्रम् नस् ञग् चिङ् ग्ज़ुग्स् ल्दन्**, तटगलितरूपवान्, अथवा गण्डगलितरूपवान्।

9....9. मूल, संदिग्ध है। पाठ यों है एतच्छ्रुत्वा रूपं ब्राह्मणवेदशास्त्रतत्त्वज्ञो व्यापकर्षितश्चेतो वै भावी द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः। भोट, **रिग् ब्येद् ब्स्तन् ब्चोस् यङ् दग् म्खस् प यि ब्रम् ज़ेस्** (वेदशास्त्रविज्ञाद् ब्राह्मणात्) **नंम् प दे ह्र-द्र दे** (तदेवं रूपं) **शेस् नस्** (ज्ञात्वा) **सुम् चु चँ ग्ञिस् मछन् बङ् ल्दन्** (द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः) **ह्र-ग्युर्** (भावि = भविता = भविष्यति) **शे.स्** (इति) **यङ् दग् जिद् दु** (सम्यक्तया) **लुङ् नि स्तोन् पर् ह्र-गयुर्** (व्याकरण-मकार्षुः = व्याकार्षुः) हिन्दी अनुवाद में भोट का सहारा लिया गया है।

5. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने जन्म के समय को देख कर, तुषित (लोक) के श्रेष्ठ भवन में रहते-रहते राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में आठ पूर्व निमित्त (= चिह्न) दिखाए। कौन से आठ। जैसे कि वह घर घास-फूस, कांटा ठूठियों, तथा रोड़ी-कंकड़ों से रहित, निर्मल, (--40--) भलीभाँति जल छिड़काव कर के झाड़ा-बुहारा,[10] आकुल (अर्थात् धूलभरी) वायु[10], अन्धकार, रज अर्थात् मिट्टी--करकट से रहित, [11]डांस-मच्छर[11]—मक्खी-पतंगों तथा रेंगने वाले जन्तुओं से विरहित, फूलों से सज्जित, हथेली जैसा सलोतर हो गया। यह पहला पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

6. और जो हिमालय पर्वतराज पर रहने वाले, पत्रगुप्त (= पक्षगुप्त) शुक-सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक, कुणाल (= अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल) कलविंक (= चटक वा गौरैया) तथा जीवजीव (= चकोर) आदि रंग-विरंगे सुन्दर पंखोंवाले, मन को भली लगने वाले, प्रिय बोली बोलने वाले, पक्षिगण थे, 39ख = वे आकर राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में वर्तदियों (= चबूतरों) निर्यूहों (= नागदन्तों अर्थात् भीत की खूंटियों), तोरणों (= द्वार के बाह्य भागों) गवाक्षों (= गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोकों) हर्म्यकूटा-गारों (= महल के सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों) तथा प्रासादों (= राज-निवास के योग्य भवनों) के तलों (= छत के खुले आँगनों) पर बैठ कर आनन्दित हो, प्रीति एवं मन के सुख को पा अपनी-अपनी बोली बोलते थे। यह दूसरा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

7. और जो राजा शुद्धोदन के रमणीय आरामों में, रमणीय वनों में तथा रमणीय उद्यानों में नाना ऋतुओं पर फलने-फूलने वाले नाना प्रकार के फूल-फल के वृक्ष थे, वे सब [12]कलियों तथा फूलों से युक्त हो गये[12]। यह तीसरा पूर्व निमित्त प्रकट हुआ।

10····10. मूल, अनाकुलवात॰। यह प्रामादिक पाठ है। यहाँ पाठान्तर आकुलवात है, वही ठीक है। भोट, लुंङ् बुंल् चन्, धूलियुक्तवात। यह आकुलवात का अभिप्रायानुवाद जान पड़ता।

11····11. मूल, दंशक,। पाठान्तर दंशमशक। यहाँ भोट में चार उड़ने वाले क्षुद्र जन्तु हैं स्भ्रङ् म (भ्रमर) दङ्, श स्भ्रङ् (= मांसमक्षिका = दंश) दङ्, स्बङ् बु (= मक्षिका) दङ् फ्ये म लेब् (= चित्रपतग तितली) दङ्।

12····12. मूल, संपुष्पिताः संकुसुमिता आरवन्। भोट, ख ह्-बुस् शिङ् मे तोग् ग्यस् पर् ग्युर् ते, कुड्मलिताः पुष्पिता अभूवन्। इसी पाठ को यहाँ माना गया है।

8. और जो राजा शुद्धोदन के जलोपभोग करने की पुष्करणियाँ थीं, वे सब छकड़े के चक्के जैसे प्रमाण वाले अनेक कोटि-खर्ब-शतसहस्र पत्रों वाले पद्मों से छा गये। यह चौथा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

9. और जो राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ भवन में पात्रों में रखे हुए घी, तेल, मधु, फाणित (= राब), शर्करा आदि थे, वे भोग किए जाने पर भी कम न होने लगे, भरे-पूरे ही दीखने लगे। यह पाचवाँ पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

10. और जो राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ भवन के प्रधानभूत महान् अन्तःपुर में भेरियाँ (= नक्कारे), मृदंग, पणव (=ढोल), तूषण (= विशेष प्रकार के हुडुक), = 40क = वीणाएँ, वेणु, वल्लकी[13], संपताड (=लम्बे-लम्बे मृदंग[14]) आदि थे वे सब बिना बजाये ही मनोहर शब्द करते थे। यह छठा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

11. (–41–) और जो राजा शुद्धोदन के प्रधान श्रेष्ठ भवन में सोने-चाँदी, मोती-माणिक, शंख-नीलम, मूँगे-मनसिल[15] के पात्र थे, वे सबके सब, सब प्रकार से (अपने स्वरूप में) प्रकट, निर्मल, विशुद्ध तथा परिपूर्ण ही शोभा देते थे। यह सातवाँ पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

12. वह भवन, विमल, विशुद्ध, चन्द्रमा तथा सूर्य को लज्जित करने वाली, काय और चित्त के उद्बिल्य अर्थात् आह्लाद को उत्पन्न करने वाली प्रभा द्वारा सब ओर से चमकने लगा था। यह आठवाँ पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

13. और माया देवी स्नान कर, अंगों में अनुलेपन लगा, भुजाओं को विविध प्रकार के आभूषणों से सजा, अत्यंत कोमल, सुरम्य, श्रेष्ठ वस्त्र धारण कर, प्रीति, प्रमोद, प्रसाद (= प्रसन्नता) को प्राप्त कर, दस सहस्र स्त्रियों से घिरी एवं आगे की हुई, संगीतिप्रासाद में सुख से बैठे राजा शुद्धोदन के पास जा, दाहिनी ओर = 40ख = रत्न के जड़ाऊ भद्रासन पर बैठ कर, मुसकराती हुई, बिना बाँकी भौहें किये हंसीले चेहरे से राजा शुद्धोदन से इन गाथाओं द्वारा कहा—

(माया देवी की याचना गाथाएँ)

(वसन्ततिलका छन्द)

साधो श्रृणुष्व मम पार्थिव भूमिपाला
याचामि ते नृपतिरद्य वरं प्रयच्छ।

---

13. मूल के वल्लकी के लिए भोट में **ग्'युद् सुम् प**, त्रितन्त्री शब्द है। तदनन्तर वहाँ ह्-खर् ब हि, सिल् खोल् (? मुद्गरघंटा) शब्द है।

14. मूल के संपताड के लिए भोट में **फेग् दोंब्** शब्द है, जो लंबे मृदंग के अर्थ का वाचक है।

15 मूल, शिला। भोट मन्-शेल्, मनः शिला।

अभिप्रायु मह्य यथ चिन्तमनः प्रहर्षं
तन्मे शृणुष्व भव प्रीतमना उदग्रः ॥75॥

हे सज्जन पृथिवी के पालक राजन्, मेरी (प्रार्थना) सुनो, हे नरपति, आप से याचना करती हूँ, (मुझे) वर दो। मेरी जो मनःकामना है (मेरे) मन में जो चिन्तन और आनन्द हो रहा है वह मुझसे सुनो (और) मन में प्रीतिमान् (एवं) उदग्र (= प्रमुदित) हो जाओ।

गृह्णामि देव व्रतशीलवरोपवासं
अष्टांगपोषधमहं जगि मैत्रचित्ता।
प्राणेषु हिंसविरता सद शुद्धभावा
प्रेमं यथात्मनि परेषु तथा करोमि ॥76॥

हे देव! मैं आठ अंगों वाले उपोसथ के शीलव्रत एवं श्रेष्ठ उपवास को ग्रहण कर रही हूँ। (क) जगत् के प्रति चित्त में मैत्री की भावना से युक्त, प्राणियों की हिंसा से विरत, सदा शुद्ध भाव रखती हुई, जैसे अपने से वैसे ही औरों से प्रेम मुझे करना है।

स्तैन्याद् विवर्जितमना मदलोभहीना
कामेषु मिथ्य नृपते न समाचरिष्ये।
सत्ये स्थिता अपिशुना परुषप्रहीणा
संधिप्रलापमशुभं न समाचरिष्ये ॥77॥

(ख) चोरी से मन को मना करती हुई, मद तथा लोभ से रहित हो, (ग) हे नरपाल, (मैं) काममिथ्याचार न करूँगी। (घ) सत्य में स्थिर, (ङ) पिशुनता (= पीठ पीछे बुराई करने के भाव) से हीन, (च) परुष (= रूखे वचनों) से रहित, अशुभ (छ) संधिप्रलाप (= संभिन्नप्रलाप निरर्थक कथा वार्ता) के (कहने-सुनने का) आचरण न करूँगी।

व्यापाददोषखिलमोहमदप्रहीणा
सर्वा अभिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा।
सम्यक्प्रयुक्त अकुहानिलया अनीर्ष्यु
कर्मा यथा दश इमे कुशला चरिष्ये ॥78॥

(ज) व्यापाद (= अहितेच्छा) दोष (= द्वेष) खिल (= चित्त की कठोरता) मोह, मद (आदि दोषों) से रहित, (झ) अपने धन से सन्तुष्ट हो सब प्रकार की अभिध्या (= परवस्तु के लोभ) से दूर हो, (ञ) सम्यक् प्रयुक्त अर्थात् मिथ्यादृष्टि से वियुक्त, अकुह (= निश्छल), अनिलय (= अनासक्त) तथा ईर्ष्या से रहित

हो, ये दश (= च से ञ पर्यन्त गिने हुए) कुशल कर्म जैसे (हैं वैसे उनका) आचरण करूँगी ।

मा त्वं नरेन्द्र मयि कामतृषां कुरुस्व
शीलव्रतेष्वभिरताय सुसंवृताय ।
मा ते अपुण्य नृपते भवि दीर्घरात्रं
अनुमोदयाहि मम शीलव्रतोपवासं ॥79॥

हे नरेन्द्र ! शीलव्रतों में रमी हुई, सुसंवृत (= धर्मार्थ व्रत संयम ग्रहण कर चुकने वाली) मुझमें तुम कामतृष्णा न करो । हे नरपाल ! कहीं ऐसा न हो कि चिरकाल तक तुम्हें पाप लगे । मेरे शीलव्रत तथा उपवास का अनुमोदन करो ।
= 41क =

छन्दो ममेष नृपते प्रविशाद्य शीघ्रं
प्रासादहर्म्यशिखरे स्थित धार्तराष्ट्रे ।
सखिभिः सदा परिवृता सुख मोदयेयं
पुष्पाभिकीर्णशयने मृदुके सुगन्धे ॥80॥

हे नरपाल ! मेरा यह मनोरथ है कि (मैं) आज धार्तराष्ट्र नाम के, राजभवन के शिखर पर स्थित, (महल) में शीघ्र प्रवेश करूँ (और वहाँ पर) सखियों के साथ निरन्तर घिरी रह कर फूलों से सजी कोमल तथा सुगन्धित सेज पर आराम से आनन्द मनाऊँ ।

न च काञ्चुकीय पुरुषा नपि दारकाश्च
न च इस्त्रि प्राकृत ममा पुरत स्थिहेया ।
नो चामनाप मम रूप न शब्दगन्धान्
नान्यत्र इष्टमधुरा शृणुया सुशब्दान् ॥81॥

और मेरे सामने न कंचकी लोग ही ठहरें, न लड़के ही और न गँवार स्त्रियाँ ही । मेरे मन को न भाने वाले रूप, शब्द तथा गन्ध (पास में) न हों । इष्ट, मधुर, सुन्दर शब्दों के अतिरिक्त (और कुछ मैं) न सुनूँ ।

ये रोधबन्धनगताः परिमुञ्च सर्वान्
द्रव्याम्बराश्च[16] पुरुषान् धनिनः कुरुष्व ।
वस्त्रान्नपान रथ युग्य तथाश्वयानं
दद सप्तरात्रिकमिदं जगतः सुखार्थम् ॥82॥

---

16. द्रव्याम्बर का प्रयोग द्रव्यशून्य के अर्थ में हुआ है । तुलनीय, भोट, नोर् ग्यिस् ब्रेल् बहि, मि नम्स्, धनेन हीनान् पुरुषान् ।

जो (लोग) पकड़े गये हैं या बन्धन में डाले गये हैं, उन सबको छोड़ दो। वस्त्र, खान-पान, (बैलों से) जुते रथ; तथा घोड़ा-गाड़ियाँ जगत के सुख के लिए सप्ताह भर दो।

नो चो विवादकलहा न च रोषवाक्या
चान्योन्यमैत्रमनसो हित सौम्यचित्ता।
अस्मिन् पुरे पुरुष इष्टिक[17] दारकाश्च
देवाश्च नन्दनगताः सहिता रमन्तान् ॥83॥

न तू-तू-मैं-मैं और न लड़ाई झगड़ा रहे, न रोष भरे वचन ही (सुन पड़ें)। एक-दूसरे के प्रति मैत्री का हृदय रखने वाले, हितैषी तथा सौम्यचित्त के पुरुष, स्त्रियाँ[17] तथा बालकगण इस नगर में (वैसे ही) रमण करें (जैसे) नन्दन वन में जाकर देवता साथ-साथ (रमते हैं)।

न च राज दण्ड [18]न भटा न तथा कुदण्डा[18]
नोत्पीडना नपि च तर्जन ताडना वा।
सर्वान् प्रसन्नमनसो हितमैत्रचित्ता
वीक्षस्व देव जनतां यथ एकपुत्रं ॥84॥

न राजा दाँड़े, [18]न भट (अर्थात् बड़े राजा के नौकर) और न छोटे राजा के नौकर दाँड़े[18]। न सताना, न डाटना-फटकारना वा मारना-पीटना हो। हे देव ! प्रसन्न मन से हित और मैत्री का भी चित्त में रखकर सब जनता को इकलौते बेटे के समान देखो।

(शुद्धोदन की माया देवी के प्रतिवचन में गाथा)

श्रुत्वैव राज वचनं परमं उदग्रं
प्राहास्तु सर्वमिदमेव यथा तवेच्छा।
अभिप्रायु तुभ्य मनसा स्वनुचिन्तितानि=41ख=
यद्याचसे तव वरं तदहं ददामि ॥85॥

राजा ने परम आह्लाद कर वचन को सुनते ही कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा है, तुम्हारा अभिप्राय है, तुम्हारे मन की अच्छी बातें हैं सब कुछ वैसा ही हो। जो याचना है, उसके लिए मैं वर देता हूँ।

---

17. इष्टिक = स्त्रियाँ। अपभ्रष्ट इस्त्रिक का यह अपभ्रष्टतर रूप है। तुलनीय भोट, **बुद् मेद् दग** स्त्रियः।

18····18. अस्पष्ट पाठ। भोट, छे फ् ग्न्रेर् ग्यिस् बूदह, ब, महंदल्पभाण्डागारिकैर्धनाहरणम् (?)।

(राजपुरुषों के प्रति शुद्धोदन की अनुशासन गाथाएँ)
आज्ञाप्य पार्थिक (श्व) वर: स्वकपरिषद्यां
प्रासादश्रेष्ठशिखरे प्रकरोथ ऋद्धि।
पुष्पाभिकीर्णरुचिरं वरधूपगन्धं
छत्रापताकसमलंकृततालपंक्ति ॥86॥

श्रेष्ठ राजा ने अपने दरबारियों को आज्ञा देकर (कहा) कि प्रासाद के श्रेष्ठ शिखर पर ऋद्धि अर्थात् सजावट करो। (तथा उसे) पुष्पों की चौकों द्वारा सुन्दर, श्रेष्ठ धूप द्वारा सुगन्धित, छत्र, पताकाओं तथा तालपंक्तियों से समलंकृत (करो)।

विंशत्सहस्त्ररणसोण्डविचित्रवर्मा
नाराचशूलशरशक्तिगृहीतखड्गा ।
परिवारयाथ धृतराज्य[19] मनोज्ञघोषं
देव्याभयार्थकरणा[20] स्थित रक्षमाणा ॥87॥

विचित्र कवच पहने हुए, नाराच (= सम्पूर्ण लोहमय तीर), शूल, शर (= सरकण्डे से बने लोहे के फल वाले तीर), शक्ति (=बर्छी), तथा खड्ग ग्रहण किये हुए, बीस हजार रणचतुर (लोग) धार्तराष्ट्र नामक हंसों के मनोहर घोषयुक्त (राजभवन) को, देवी को निर्भय करने के अर्थ रखवाली करते हुए घेर कर ठहरें।

(व्रतविहारिणी मायादेवी के वर्णन में गाथाएँ)
(-44-) स्त्रीभिस्तु सा परिवृता यथ देवकन्या
स्नातानुलिप्त प्रवराम्बरभूषिताङ्गी।
तूर्यैः सहस्त्रमनुगीतमनोज्ञघोषैः
आरुह्य देव्युपविशेष[21] मरुत्स्नुषेव ॥88॥

---

19. मूल, धृतराज्य०। भोट ग् चन् ङङ् स्कय, एक प्रकार का हंस। सम्भवतः धृतराज्य शब्द यहाँ धार्तराष्ट्र का पर्याय है और इसीलिए भोट में हंस-वाचक शब्द से उसका अनुवाद हुआ है। तुलनीय अमरकोश—राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः। मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते धार्तराष्ट्राः सितेतरैः।
20. मूल, देव्याभयार्थकरुणा। यह पाठ प्रामादिक है। देव्याभयार्थकरणा उचित पाठ होगा। तुलनीय भोट, ल्ह मो ह.-जिग्स् प मेद् प ब्य फ्यिर् देवी अभयकरणार्थ।
21. मूल, उपविशेष चिन्तनीय पाठ है। जान पड़ता है कि यह उपविवेश का ही अपभ्रष्टतम रूप है। उप-विश् धातु द्वारा यहाँ अर्थ ठीक बैठता है।

स्नान कर, अनुलेपन लगा, श्रेष्ठ वस्त्रों से अंग को विभूषित कर, स्त्रियों से घिरी हुई, देवकन्या जैसी (वह माया देवी) हजारों बाजों के मनोहर ध्वनि वाले संगीत के साथ (राजभवन पर) चढ़कर देवताओं की पुत्रवधू के समान विराजमान हुई।

दिव्यैर्महार्थसुविचित्रसुरत्नपादैः
स्वास्तीर्ण पुष्प विविधैः शयने मनोज्ञे।
शयने स्थिता विगलिता-मणिरत्नचूडा
यथ मिश्रकावनगता खलु देवकन्या ॥89॥[22]

दिव्य, बड़े दाम के, विचित्र एवं सुन्दर रत्नों के पावों से युक्त, विविध प्रकार के पुष्पों से युक्त, अच्छी तरह बिछे हुए, सुन्दर सोने के पलंग पर ढीली-ढीली मणियों और रत्नों की चोटी वाली (माया देवी इस प्रकार) लेटी हुई थी जैसे मिश्रकावण (= मिसरिख वन) में देव कन्या विराजमान हो।

14. हे भिक्षुओं, तदनन्तर चार महाराज, देवताओं के इन्द्र शक्र, सुयाम

भोटानुवाद ग्नस् (= बैठा, बैठी, उपविष्टा, उपविवेश आदि) है। इस प्रकार के अद्भुत अपभ्रंश पाठ की रक्षा होनी चाहिए। इस रूप में विश् धातु के अन्तिम वर्ण का द्वित्व हुआ है तथा एक तालव्य का मूर्धन्य विकार हो गया है। वैद्य ने इस सुन्दर पाठ को उपविवेश बना डाला है, जिसमें कोई प्रमाण नहीं है।

22. यहाँ 78-89 गाथाओं की संस्कृतच्छाया दी जा रही है—साधो शृणु मम पार्थिव भूमिपाल याचे त्वां नृपते अद्य वरं प्रयच्छ। अभिप्रायो मम यथा चिन्तामनःप्रहर्षौ (स्तः सर्वं) तन्मे शृणु भव प्रीतमना उदग्रः (= उल्लसितः) ॥75॥ गृह्णाभि देवव्रतं शीलवरमुपवासम् अष्टाङ्गोपवसथमहं जगति मैत्रीचित्ता। प्राणेषु हिंसाया विरता सदा शुद्धभावा प्रेम यथात्मनि परेषु तथा करोमि ॥76॥ स्तैन्याद् विवर्जितमना मदलोभहीना कामेषु मिथ्या नृपते न समाचरिष्ये। सत्ये स्थिताऽपिशुना पारुष्यप्रहीणा संभिन्नप्रलापमशुभं न समाचरिष्ये ॥77॥ व्यापाद-द्वेषखिलमोहमद-प्रहीणा सर्वमिथ्याविगता स्वधनेन तुष्टा। सम्यक्प्रयुक्ता (= सम्यग्दृष्टियुक्ता) अकुहाऽनिलयाऽनीर्ष्युः कर्माणि यथा दशेमानि कुशलानि चरिष्ये ॥78॥ मा त्वं नरेन्द्र मयि कामतृषं कुरुष्व शीलव्रतेष्वभिरतायां सुसंवृतायाम्। मा ते ऽपुण्यं नृपते भवेद् दीर्घरात्रम् अनुमोदय हि मम शीलव्रतोपवासम् ॥79॥ छन्दो ममैव नृपते प्रविशान्यद्य शीघ्रं प्रासादहर्म्यशिखरे स्थिते धार्तराष्ट्रे। सखीभिः सदा परिवृता सुखं मोदयेयं पुष्पाभिकीर्णशयने मृदुके सुगन्धे ॥80॥ न च कंचुकिनः पुरुषा नापि दारकाश्च न च स्त्रियः प्राकृता मम पुरतस्तिष्ठेयुः।

तथा सन्तुषित तथा सुनिर्मित तथा परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्र, सार्थवाह (नामक) मारपुत्र, सहापति ब्रह्मा, ब्रह्मोत्तर पुरोहित तथा सुब्रह्मा पुरोहित, (प्रभाव्यूह तथा आभास्वर, शुद्धावासकायिक = 42क = महेश्वर, निष्ठागत तथा अकनिष्ठ ये तथा अनेक दूसरे शतसहस्र देवता इकट्ठे होकर आपस में यों बोले।

15. हे मार्षो (आदरणीयों), यह ठीक न होगा, यह हमारी अकृतज्ञता होगी, यदि हम बोधिसत्त्व को अकेला, बिना दूसरे (साथी) के छोड़ दें। हे मार्षो, हम लोगों में किसमें उत्साह है जो निरन्तर हित के चित्त से, स्नेहभरे चित्त से, प्रेम भरे चित्त से, सौम्यभाव भरे चित्त से बोधिसत्त्व के साथ-साथ अवक्रमण (अवतार ग्रहण), गर्भवास, जन्म, यौदनभूमि[23], बालक्रीड़ा, अन्तःपुर-

---

न चामनः प्रीतिकराणि मम रूपाणि न शब्दगन्धाः (पुरतस्तिष्ठेयुः) नान्यान् इष्टमधुरेभ्यः शृणुयां, सुशब्ददान् (एव शृणुयाम्) ॥81॥ ये रोध-बन्धनगताः परिमुञ्च सर्वान् द्रव्यशून्यांच पुरुषान् धनिनः कुरु एष। वस्त्रम्, अन्नं, पानं, रथं, युग्यं, रथाश्वयानं देहि सप्तरात्रम् इदं जगतः सुखार्थम् ॥82॥ न च विवादकलहा न च रोषवाक्यानि अन्योन्यमैत्रीमनसो हितसौम्यचित्ताः। अस्मिन् पुरे पुरुषाः स्त्रियो दारकाश्च देवाश्च नन्दनगताः सहिता रमन्ताम् ॥83॥ न च राजदण्डः, न भटात् न तथा कुदण्डः, नोत्पीडनं नापि च तर्जनं ताडनं वा। सर्वा प्रसन्नमनाः, हितमैत्रीचितः (सन्) वीक्षस्व देव जनतां यथैकपुत्रम् ॥84॥ श्रुत्वैव राजा वचनं परममुल्लसितं प्राह, अस्तु सर्वमिदमेवम्, तथा तवेच्छा, अभिप्रायस्तव, मनसा स्वनुचिन्तितानि (सन्ति) यं याचसे तुभ्यं वरं तमहं ददामि ॥85॥ आज्ञाप्य पार्थिववरः स्वान् पारिषद्यान् प्रासादश्रेष्ठशिखरे प्रकुरुत ऋद्धिम्। पुष्पाभिकीर्णं रुचिरं वरधूपगन्धं छत्रपताकातालपंक्तिसमलंकृतम् ॥86॥ विंशतिसहस्र-रणशौण्डविचित्रवर्माणो गृहीतनाराचशूलशरशक्तिखड्गा। परिवृणुत धार्तराष्ट्रमनोज्ञघोषं देव्यभयकरणार्थं स्थिता रक्षयन्तः ॥87॥ स्त्रीभिस्तु सा परिवृता यथा देवकन्या स्नातानुलिप्ता प्रवराम्बरभूषिताङ्गी। सूर्यसहस्रैरनुगीतैर्मनोज्ञघोषैरारुह्य देव्युपविवेश मरुत्स्नुषेव ॥88॥ दिव्यैर्महार्थैः सूविचित्रैः सुरत्नैः पादैः स्वास्तीर्णे पुष्पैर्विविधैः शयने मनोज्ञे। शयने स्थिता (= सुप्ता) विगलितमणिरत्नचूडा यथा मिश्रकावणगता खलु देवकन्या ।89।

23. मूल, यौवनभूमि। शब्दार्थ पर विवाद कुछ नहीं है। पर जन्म के अनन्तर-यौवन भूमि का आना तथा दारकक्रीडा (= बालकीड़ा) का बाद में आना पाठ की साधुता में संदेह उत्पन्न करता है। भोट में **थोर् बु** शब्द इस स्थान में है, जो मुझे स्पष्ट नहीं है। अतः पाठ का निर्णय इस अवस्था में संभव नहीं।

विहार[24], नाटकसंदर्शन, अभिनिष्क्रमण (=गृहत्याग), दुष्करचर्या (=कठोर-तपस्या), बोधिमण्डोपसंक्रमण (=बोधिवृक्ष के नीचे जाना), मारविजय, बोधि-अभिसंबोधन (=सम्यक्संबोधिलाभ), धर्मचक्रप्रवर्तन, तथा महापरिनिर्वाण पर्यन्त रहता रहे।

16. उस समय ये गाथाएँ कही गईं—

(बोधिसत्त्वानुगमनोत्साहवर्धिनी गाथाएँ)

(प्रमिताक्षरा छन्द)

(-45-) को वोत्सहेत[25] वररूपधरं अनुबन्धयितु सततं प्रीतमनाः।
कः[26] पुण्य तेज[26] = 42ख = यशसा[27] वचसा[28]
स्वयमात्मनेच्छति[29] विवद्धयितु[30] ॥90॥

तुममें कौन प्रीतिमान् मन से श्रेष्ठ-रूप-धारी (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे निरन्तर चलने का उत्साही है? कौन स्वयं अपने पुण्य, तेज, यश तथा शक्ति को बढ़ाना चाहता है।

यस्येप्सितं त्रिदशदेवपुरे दिव्यैः सुखैर्हि रमितु सततं।
परमाप्सरोभिरिह कामगुणैः अनुबद्धितां[31] विमलचन्द्रमुखं ॥91॥

---

24. मूल, ०अन्तःपुर०। भोट, **ब्चुन् मो हि. ह.,-खोर् ग्यि नङ् न ब्शुगस् प,** अन्तः पुरविहार। मूल में लेखक के प्रमाद से विहार शब्द टूटा है।

25. वोत्सहेत = वः उत्सहेत। भोट, **ख्येद् लस्**, वः युष्माकं। भोट में पंचमी विभक्ति है। यह विभक्ति यहाँ संस्कृत की षष्ठी के अर्थ में है।

26……26. मूल, पुण्यतेज। भोट, **ब्सोद् नम्स् ग्झि ब्जिद् दङ्** पुण्यं तेजश्च।

27. यशसा = यशः तुलनीय भोट, **ग्रग्स् प,** यशः। इस आकारान्त विभक्ति हीन रूप में तृतीया का भ्रम न करना होगा।

28. वचसा = वचः = वर्चः। तुलनीय भोट, **रस्तोब्स्**, वर्चः, बलं, शक्तिः।

29. आत्मनेच्छति = आत्मन इच्छति। तुलनीय भोट, **रङ् गि,** आत्मनः।

30. विबद्धयितुं। प्राकृत, विबड्ढयितुं। संस्कृत, विवर्धयितुम्। भोट, **र्नम् पर् स्पेल् बर्**, विवर्धयितम्।

31. अनुबद्धिताम्। यह लोट का रूप है। तुलनीय अनुवध्यताम्। भोट, **श्ब्स् ह.-ब्रिङ् ग्यिस्** अनुबध्नातु, अनुयातु। अनु-बन्ध् धातु के अन्यरूप इस संदर्भ में (लेफमन् संस्करण के 45-46 पृष्ठों पर) जो आए हैं वे ये हैं—अनुबन्धताम्, अनुबद्धतु, अनुबन्धयताम्। समनुबन्धयताम् यह रूप दो उपसर्ग के साथ भी है।

जिसकी देवताओं के दिव्य नगर में श्रेष्ठ अप्सराओं तथा कामगुणों से युक्त दिव्य सुखों के साथ रमने की इच्छा हो वह निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाले (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

तथ मिश्रके वन वरे रुचिरे दिव्याकरे रमितु देवपुरे।
पुष्पोत्करे कनकचूर्णनिभे अनुबन्धतां विमलतेजधरं ॥92॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ, सुन्दर, दिव्य (जनों) के उत्पत्ति स्थान, देवताओं के नगर, फूलों के समूह से भरे, सोने के चूर्ण जैसे (जगमगाते) मिश्रकावण मिसरिख बन) में रमने की (जिसकी इच्छा हो) वह निर्मल तेज के धनी (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

यस्येप्सितं रमितु चित्ररथे तथ नन्दने सुरवधूसहितः।
मन्दारवैः कुसुमपत्रचिते अनुबन्धतामिमु महापुरुषं ॥93॥

मन्दार वृक्षों के फूलों तथा पत्तियों से भरे चित्ररथ तथा नन्दनवन में सुरांगनाओं के साथ रमने की जिसकी इच्छा हो वह इस महापुरुष के पीछे-पीछे चले।

पापाधिपत्यमथवा तुषितैरथ वापि प्रार्थयति चेश्वरताम्।
पूजारहो भवितु सर्वजगे अनुबन्धतामिमु अनन्तयशं ॥94॥

जो याम देवताओं का अधिपति होना, अथवा तुषित देवताओं का अधिपति होना, अथवा ईश्वर होना, अथवा सब संसार में पूजनीय होना चाहता है, वह अनन्तकीर्ति के धनी इस (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

यो इच्छति निर्मितपुरे रुचिरे वसवर्तिदेवभवने रमितुं।
[32]मनसैव सर्वमनुभोक्ति[33] क्रिया[32] अनुबन्धतामिमु
गुणाग्रधरम् ॥95॥

जो निर्वाणरति (देवताओं) के सुन्दर पुर में (तथा) परनिर्मितवशवर्ति—देवताओं के भवन में रमना चाहता है (जहाँ कि) मन की क्रिया से ही (प्राणी) सब-कुछ भोगता है, वह श्रेष्ठ गुण के धनी इस (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

32⋯32. मनसैव⋯क्रिया मनसः एव क्रियया। तुलनीय भोट, **यिद् क्यि ह.-फ्रुल् ग्यिस्**, मनसः निर्माणेन।

33. अनुभोक्ति = अनुभुज्-ति (वर्तमान काल)। भोक्ति को भुक्ति (भाववाचक) का अपभ्रंश मानना तथा क्रिया के साथ उसका समास मानना प्रामादिक है जैसा कि हा० बु० सं० डि० में माना है। भोट में **ल्प्योद् ह.-दोद् प** (= अनुभोक्तुमिच्छति) पाठ है। अनुभोक्ति को अनुभोक्तु का प्रतिरूप मानना अधिक उचित है तथा प्रक्रमानुकूल है।

मारेश्वरो न च प्रदुष्टमना सर्वविधैश्वर्यपारगतः।
कामेश्वरो वशितपारगतो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥96॥

(जो) दोषरहित मन वाला, सब प्रकार के ऐश्वर्य (= ऋद्धियों में, ईश्वर-भाव) में पारंगत, मारेश्वर (अर्थात् मारकायिक देवताओं का स्वामी) तथा वशिता (अर्थात् दूसरों को वश में करने की शक्ति) पारंगत कामेश्वर (अर्थात् कामधातु के देवताओं का स्वामी) होना चाहता है, वह हितकारी (बोधिसत्त्व) साथ-साथ जाये।

तथ कामधातु समतिक्रमितुं मति यस्य ब्रह्मपुरमावसितुम्।
चतुरप्रमाणप्रभतेजधरः सोद्यानुबद्धतु महापुरुषं ॥97॥

तथा जिसकी मति कामधातु को पार करने की (एवं) ब्रह्मपुत्र में बसने की है, वह चारों अप्रमाणों (= मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा) की प्रभा और तेज के धनी (इस) महापुरुष के पीछे-पीछे आज से चले।

अथ वापि यस्य = 43क = मनुजेषु मतिवरचक्रवर्तिविषये विपुले।
रत्नाकरमभयसौख्यददं अनुबन्धतां विपुलपुण्यधरं ॥98॥

अथवा जिसकी मनुष्यों के बीच विशाल एवं श्रेष्ठ चक्रवर्तिराज्य में मति (= मनःकामना) हो, (वह) अभय तथा सुख देने वाले विपुल पुण्य के धनी (इस) रत्नाकर के पीछे-पीछे चले।

पृथिवीश्वरस्तथापि श्रेष्ठिसुतो आढ्यो महाधनु महानिचयः।
परिवारवान् निहतशत्रुगणो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥99॥

और इसी प्रकार (जो) पृथिवी का मालिक, सेठ का बेटा, समृद्ध, महाधनी, महान् संग्रह वाला, शत्रुओं के दल-बल का नाश कर डालने वाले परिवार से युक्त होना चाहता है, वह हितकारी (बोधिसत्त्व) के साथ-साथ जाए।

रूपं च भोगमपि चेश्वरता कीर्तिर्यशश्च [34]प्रतिभा गुणता[34]।
आदेयवाक्य भवि ग्राह्यरुतो ब्रह्मेश्वरं समुपयातु विदूं ॥100॥

(जो) रूप, भोग, ईश्वरता, कीर्ति, प्रतिभा एवं गुणों को चाहता है तथा अपने वचनों को दूसरों से मनवाने वाला एवं प्रिय वचनों वाला होना चाहता है, (वह) ब्रह्मा के भी ईश्वर (इस) विद्वान् (बोधिसत्त्व) के पास-पास तथा साथ-साथ चले।

---

34. बलता के स्थान में भोट पाठ स्बोबस् दङ् योन् तन् तङ् (= प्रतिभा च गुणता च) है।

ये दिव्य काम तथ मानुषकां या इच्छती त्रिभवि सर्वसुखम् ।
ध्याने सुखं च प्रविवेकसुखं धर्मेश्वरं समनुबन्धयताम् ॥101॥

जो दिव्य तथा मानुषी कामनाएँ हैं (उन्हें तथा) तीनों लोकों में (जो) सब सुख (है उसे) और ध्यान में (जो) सुख (है उसे तथा) प्रविवेक (=संसार के झंझट से दूर एकान्त) में (जो) सुख (है उसे) जो चाहता है, वह धर्मेश्वर के साथ-साथ पीछे-पीछे चले ।

रागप्रहाणु तथ दोषमपी यो इच्छते तथ किलेशजहं ।
शान्तप्रशान्तउपशान्तमना सो दान्तचित्तमनुयातु लघुं ॥102॥

जो राग का नाश, तथा दोष (=द्वेष) का भी नाश, तथा क्लेशों का नाश चाहता है, वह शान्त, बहुत शान्त, पूर्ण शान्त मन वाले एवं विनीत चित्त वाले (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे शीघ्र चले ।

शैक्षा अशैक्ष तथ प्रत्येकजिना सर्वज्ञज्ञानमनुप्रापुरितुं ।
दशभिबलैर्नदितु सिंह इव गुणसागरं समनुयातु विदुं ॥103॥[35]

शैक्ष, अशैक्ष (=अर्हत्), प्रत्येकबुद्ध तथा सर्वज्ञ (=सम्यक्संबुद्ध) के ज्ञान को पाना (एवं) दश (तथागत के) बलों से (युक्त हो) सिंह के समान गरजना जो चाहता है, (वह) गुणों के सागर (इस) विद्वान् के साथ-साथ पीछे-पीछे चले ।

पिथितुं अपायपथ येष मतिर्विवृतुं च षद्गतिपथं ह्यमृतं ।
अष्टांगमार्गगमनेन गतिं अनुबन्धतां गतिपथान्तकरं ॥104॥

जो नरकों की राह बंद करना, सद्गतियों अर्थात् स्वर्गों की राह खोलना, तथा (आर्य) अष्टांगमार्ग पर चलकर अमृत-गति (=निर्वाण) पाना चाहता है (वह) आवागमन के पथ के अन्त करने वाले (इस बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले ।

यो =४३ख= इच्छते सुगत पूजयितुं धर्मं च तेषु श्रुति[36] कारुणिके ।
प्राप्तो[37] अगुणानपि च संघगतान् गुणसागरं समनुयातु इमं ॥105॥

जो सुगत को पूजना, उन कारुणिक से धर्म को सुनना, तथा संघ में होने वाले गुणों को पाना चाहता है, वह इस गुणसागर के साथ-साथ एवं पीछे-पीछे चले ।

---

35. अनुप्रापुरितु पालि के अनुपापुणितुं का अपभ्रष्टतर रूप है । यहाँ धातु प्र-आप है, प्र-आ-पृ नहीं । भोट, **थोब्** (=आप्, लभ् इत्यादि) ।

36. श्रुति = श्रोतुम । यह निर्णय अनुकूलता से किया गया है । भोटानुवाद भी सहायक है—**छोस् ञन् ह् बोद् प**, धर्मं श्रोतुमिच्छति ।

37. प्राप्तो = प्राप्तुम् । तुलनीय भोट, **थोब् पर् ह् बोद् प**, प्राप्तुमिच्छति ।

जातिजरामरणदुःखक्षयं संसारबन्धन विमोक्षयितुं ।
चरितुं विशुद्ध गगनान्तसमं[38] सो शुद्धसत्त्वमनुबन्धयताम् ॥106॥

जो जन्म, बुढ़ापा तथा मरण के दुःख का नाश करना, संसार के बन्धन से (अपने को) छुड़ाना, तथा आकाश के समान निर्मल आचरण करना चाहता है वह शुद्धसत्त्व के पीछे-पीछे चले ।

इष्टो मनाप प्रियु सर्वजगे[39] वररूपलक्षण गुणोपचितः ।[39]
आत्मा परं च तथ मोचयितुं प्रियदर्शनं समुपयातु विदुं ॥107॥

(जो) सब जगत को इष्ट, प्रिय और मन में पसन्द आने वाला, श्रेष्ठ रूप तथा लक्षणों वाला एवं गुणों में बढ़कर होना तथा अपने-पराए (सब) को मुक्त करना चाहता है, (वह) प्रिय दीखने वाले (इस) विद्वान् के साथ-साथ और पास-पास चले ।

शीलं समाधि तथ प्रज्ञमयी गम्भीरदुर्दर्शदुरोपगमं ।
यो इच्छते विदु विमुक्ति लभे सो वैद्यराजमनुयातु लघुं ॥108॥

जो चाहता है कि (मैं) शील, समाधि तथा प्रज्ञा से युक्त, गम्भीर कठिनाई से साक्षात्कार की जाने वाली तथा कठिनाई से प्राप्त होने वाली विमुक्ति को पाऊँ वह (इस) वैद्यराज के पीछे-पीछे शीघ्र चले ।

एते च अन्य गुण नैकविधा उपपत्तिसौख्य तथ निर्वृतिये ।
सर्वैर्गुणेभि प्रतिपूर्णसिद्ध्ये सिद्धव्रतं समनुयातु विदुं ॥109॥

उपपत्ति (अर्थात् संसार में जन्म लेने) के सुख के तथा निर्वृति (अर्थात् मोक्ष) के ये तथा अन्य अनेक प्रकार के गुण हैं । सब गुणों के साथ परिपूर्णसिद्धि जो चाहता है, (वह) सिद्धव्रती विद्वान् के साथ-साथ तथा पीछे-पीछे चले । इति ।

17. यह बात सुन कर चौरासी हजार चातुर्महाराजिक, सौ हजार त्रयस्त्रिंश, सौ हजार याम, सौ हजार तुषित, सौ हजार निर्माणरति,[41] सौ हजार

38. मूल गमनान्तसमं । यह अशुद्ध पाठ है । भोट, नम् म्खअ हि म्थह् म्ञम् गगनान्तसमम् । यही शुद्ध पाठ है ।

39....39. मूल वरलक्षणो गुणोवचितः । खंडित पाठ भोटानुवाद की सहायता से पूरा किया गया है । भोट, गज़ुगस् म्छोग् म्छन् दङ् योन् तन् गर्यस् प दङ्, वररूपलक्षणो गुणोपचितश्च ।

40. पूर्वोक्त 90-109 गाथाओं की छाया—को व उत्सहेत पररूपधरम् अनुबद्धुं सततं प्रीतमनाः । कः पुण्यं तेजो यशोवर्चः स्वयमात्मन इच्छति विवर्धयितुम् ॥90॥ यस्येप्सितं त्रिदशदेवपुरे दिव्यैः सुखैर्हि रन्तुं सततम् ।

परमाप्सरोभिरिह कामगुणैर् अनुबन्धातु विमलचन्द्रमुखम् ॥91॥ तथ मिश्रकावणे वरे सचिरे दिव्याकरे रन्तु देवपुरे। पुष्पोत्करे कनकचूर्ण-निभे ऽनुबन्धातु विमलतेजोधरम् ॥92॥ यस्येप्सितं रन्तुं चित्ररथे तथा नन्दने (वने) सुरवधूसहितं (क्रियाविशेषणमिदम्)। मन्दारकुसुमपत्रचिते ऽनुबन्धातु—इम महापुरुषम् ॥93॥ यामाधिपत्यम् अथवा तुषितैः (युक्त-माधिपत्यम्) अथ वापि प्रार्थयति चेश्वरताम्। पूजार्हो भवितुं सर्वजगति-अनुबन्धातु-इममनन्तयशसम् ॥94॥ य इच्छति निर्मितपुरे रुचिरे वशवर्ति-देवभवने रन्तुम्। (यत्र) मनस एव सर्वम् अनुभुंक्ते अथवा अनुभोक्तुं क्रियया-अनुबन्धातु-इमं गुणाग्रधरम् ॥95॥ यहाँ तृतीय पाद की छाया **मनस एव अनुभुक्तिक्रिया** की जा सकती पर वह भोटानुवाद को ध्यान में रखते ठीक नहीं जान पड़ती। वहाँ पाठ यों है—**यिद् क्यि ह्, फ्र् फुल् गिस् थमस् चद् स्प्योद् ह्द्रोद्** (=मनसः निर्माणेन सर्वं भोक्तुमिच्छति)। मारेश्वरो न च प्रदुष्टमनाः सर्वविधैश्वर्यपारगतः। कामेश्वरो वशितापार-गतो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥96॥ तथा कामधातुं समतिक्रान्तुं-मतिर्यस्य ब्रह्मपुरमावस्तुम्। चतुरप्रमाणप्रभातेजोधरं सो ऽप्यानुबन्धातु महापुरुषम् ॥97॥ अथवापि यस्य मनुजेषु मतिर्वरे चक्रवर्तिविषये विपुले। रत्नाकरम् अभयसौख्य-प्रदम् अनुबन्धातु विपुलपुण्यधरम् ॥98॥ पृथिवी-श्वरस्तथापि श्रेष्ठिसुत आढ्यो महाधनो महानिचयः। परिवारवान् निहतशत्रुगणो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥99॥ रूपं च भोगमपि चेश्वरतां कीर्ति यशश्च प्रतिभां गुणतां (इच्छति-इत्यध्याहार्यम्)। आदेयवाक्यो भवेयं ग्राह्यु परतो ब्रह्मेश्वरं समुयातु विद्वांसम् ॥100॥ ये दिव्याः कामास् तथा मानुषका य इच्छति त्रिभवे सर्वसुखम्। ध्याने सुखं च प्रविवेकसुखं धर्मेश्वरं समनुबन्धातु ॥101॥ रागस्य प्रहाणं तथा दोषस्यापि य इच्छति तथा क्लेशहानम्। शान्तप्रशान्तोपशान्तमनसं स दान्तचित्तमनुयातु लघु ॥102॥ शैक्षस्याशैक्षस्य तथा प्रत्येकजिनस्य सर्वज्ञस्य ज्ञानमनुप्राप्तुम्। दशभिर्बलैर् नदितुं सिंह इव गुणसागरं समनुयातु विद्वांसम् ॥103॥ पिधातुमपायपथं यस्य (अथवा येषां) मतिर् विवरीतुं च सद्गतिपथं ह्यमृताम्। अष्टांग-मार्गगमनेन गतिम् अनुबन्धातु गतिपथान्तकरम् ॥104॥ अमृताम् इत्यस्य गतिमित्यनेन संबन्धः। मूलेत्वत्र लिंगविपर्यासः भोटे तु बझङ्, **ह् ग्रो हि् ह्छि ब मेद् पहि् लम्** (सुगत्यमृतपथम) इत्येवं दर्शनात् सद्गतिपथम् इत्यनेन सहान्वयः स्वीकृतः। य इच्छति सुगतं पूजयितुं धर्मं च तस्मात् श्रोतुं कारुणिकात्। प्राप्तुं गुणानपि च संघगतान् गुणसागरं समनुयातु-इयम् ॥105॥ जातिजरामरणदुःखक्षयं संसारबन्धनाद् विमोक्षयितुम्।

परनिर्मितवर्तिदेवता[41] पूर्व के शुभ कर्मों से उत्पन्न साठ हजार मारकायिक, अड़सठ हजार (–47–) ब्रह्मकायिक, यों बढ़ते-बढ़ते अनेकों सौ हजार यहाँ तक कि अकनिष्ठ लोक तक के देवता इकट्ठे हो गये। फिर और अनेक[42] सौ हजार देवपुत्र[42] पूर्व, = 44क = दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं से जुट गए। उनमें से जो अत्यन्त उदार देवपुत्र थे, वे देवताओं की उस महासभा से गाथाओं में (यों) बोले—

(देवपुत्र प्रतिवचन गाथाएँ)
(वसंततिलका)

हन्त श्रृणोथ वचनं अमरेश्वराहो
अस्मद्विधान [43]मति यादृश तत्त्वभूता।
त्यक्त्वार्थि कामरति ध्यानसुखं प्रणीतं
अनुबन्धयाम इममुत्तमशुद्धसत्त्वम् ॥110॥

हम जैसों के मन में जैसी ठीक-ठीक बात है, अहो, देवताओं के ईश्वरों, (उस) बात को सुनो। धन-दौलत, काम-भोग का आनन्द तथा उत्तम ध्यान के सुख को छोड़ (हम) इस उत्तम तथा पवित्र बोधिसत्त्व के पीछे-पीछे चलेंगे।

ओक्रान्त पाद तथ गर्भ स्थितं महात्मं पूजारहं अतिशयं अभिपूजयामः।
पुण्यैः सुरक्षितमृषिं परिरक्षिसन्तो यस्यावतार लभते न मनः प्रदुष्टं ॥11॥

कोख में गए, गर्भ में ठहरे, तथा उत्पन्न हुए, महात्मा, पूजा के योग्य (बोधिसत्त्व) को (हम) बहुत-बहुत पूजेंगे। पुण्यों से भलीभाँति रक्षित ऋषि की

चरितं विशुद्धं गगनान्तसमं स शुद्धसत्त्वम् अनुबन्धातु ॥106॥ इष्टो हृदयंगमः प्रियः सर्वजगति वररूपलक्षणो गुणोपचितः। आत्मानं परं च तथा मोचयितुं प्रियदर्शनं समुपयातु विद्वांसम् ॥107॥ शीलसमाधिप्रज्ञामयीं गम्भीरां दुर्दशां दुरुपगमाम्। य इच्छति विद्वान् विमुक्ति लभेय स वैद्यराजमनुयातु लघु ॥108॥ एते चान्ये (च) गुणा नैकविधाः, उपपत्तिसौख्यस्य तथा निर्वृतेः। सर्वैर्गुणैः परिपूर्णसिद्ध्यै सिद्धव्रतं समनुयातु विद्वांसम् ॥109॥ इति ॥

41····41. मूल, शतसहस्रं परनिर्मितवशवर्तिनां देवानाम्। यह भोट में त्रुटित है।

42····42. मूल, देवशतसहस्राणि। भोट, ल्ह हि बु गर्य स्तोङ्, देवपुत्रशतसहस्राणि।

43. मूल, अस्मिन् विधान०। भोट, ब्दग् नग् नंमस् क्यि, अस्मद्विधानाम्, हम जैसों का-की। अस्मद्विधान मूल पाठ था, यह इससे स्पष्ट है।

चारों ओर से रखवाली करेंगे, जिससे (किसी) दुष्ट मन वाले की (वहाँ) पैठ न हो पाए।

संगीति तूर्यरचितैश्च सुवाद्यकैश्च
वर्णा गुणां कथयतो गुण सागरस्य।
कुर्वाम देवमनुजान प्रहर्षणीयं
यं श्रुत्व बोधिविरचित्त जने जनेया ॥112॥[44]

सुन्दर बाजे-गाजे के साथ गाने-बजाने की लीलाओं द्वारा गुण के समुद्र (बोधिसत्त्व) के यश (तथा) गुण कहते हुए (हम) देवताओं और मनुष्यों को हर्षित कर देंगे। जिस (गाजे-बाजे सहित गुणगान) को सुन बोधि के लिए उत्तम चित्त लोक में उत्पन्न होगा।

पुष्पाभिकीर्ण नृपतेश्च करोम गेहं
कालागुरुत्तमसुधूपितसौम्यगन्धं।
यं घ्रात्व देवमनुजाश्च भवन्त्युदग्रा
विगतज्वराश्च सुखिनश्च भवन्त्यरोगाः ॥113॥

राजा के घर को फूल बिखेर, काले एवं उत्तम अगर से भलीभाँति धूप कर, शोभन गन्ध वाला कर देंगे। जिस (गन्ध) को सूंघ कर देवता और मनुष्य प्रसन्न, ताप रहित, सुखी तथा नीरोग हो जाते हैं।

मान्दारवैश्च कुसुमैस्तथ पारिजातैश्[45]
चन्द्रैः सुचन्द्र तथ स्थाल[45] विरोचमानैः।
पुष्पाभिकीर्ण = 44ख = कपिलाह्वयतं करोम
पूजार्थ पूर्वशुभकर्मसमुद्गतस्य ॥114॥

पूर्व के शुभ कर्मों से उत्पन्न हुए (बोधिसत्त्व) की पूजा के लिए (हम सब) चमचमाते मन्दार, पारिजात, चन्द्र, सुचन्द्र तथा स्थाल नामक (देवलोक के) पुष्पों से कपिलवस्तु को पुष्पाभिकीर्ण (= सब ओर से बिखरे हुए पुष्पों वाली) कर देंगे।

---

44. मूल, जनेर्या = भोट, **ब्स्क्येद् पर्**, जायेत्। मूल पाठ जनेया होगा।

45....45. भोट में चन्द्र के लिए **सिम् ब्येद्** तथा सुचन्द्र के लिए **रब् तु सिम्-ब्येद्** शरच्चन्द्र के भोट कोश में **सिम् ब्येद्** शब्द चन्द्र के लिए है। स्थाल को भोट में अनुवाद न करके वैसा का वैसा ही ले लिया गया है। ये तीनों देवपुष्प हैं इसमें यहाँ सन्देह नहीं। इनके उल्लेख विरलतम हैं।

यावच्च गर्भि वसते त्रिमलैरलिप्त
यावज्जरामरणचान्तकरः प्रसूतः ।
तावत्प्रसन्नमनसो अनुबन्धयाम
एषा मतिर्मतिधरस्य करोम पूजां ॥115॥

जब तक (बोधिसत्त्व को) तीनों मैलों से बिना लिपे गर्भ में रहता है, जब तक उत्पन्न हो, जरा तथा मरण का नाश करना है, तब तक प्रसन्न मन से (हम सब) पीछे-पीछे चलते रहेंगे, (उस) मतिमान की पूजा करते रहेंगे । यह (हम ने) मन में ठान लिया है ।

(–48–) लाभा सुलब्ध विपुलाः सुरमानुषाणां
द्रक्ष्यन्ति जानु[46] इमु सप्त पदां क्रमन्तं ।
शक्रैश्च ब्रह्मण करैः परिगृह्यमानं
गन्धोदकैः स्नपियमानि सुशुद्धसत्त्वं ॥116॥

इन अत्यन्त शुद्धसत्त्व को उत्पन्न होते, सात पैर चलते, इन्द्रों तथा ब्रह्माओं द्वारा हाथों हाथ उठाये जाते, तथा सुगन्धित जल से स्नान कराये जाते जो देखेंगे वे देवता तथा मनुष्य बहुत-बहुत लाभ भली-भाँति पायेंगे ।

यावच्च लोकि अनुवर्तनतां करोति
अन्तःपुरे वसति कामकिलेशघाती ।
यावच्च निष्क्रमति राज्यमपाश्य सर्वं
तावत्प्रसन्नमनसो अनुबन्धयामः ॥117॥

जब तक (बोधिसत्त्व को) लोक में (लोक की) अनुवृत्ति (= मानवलीला) करनी है, (जब तक) काम तथा क्लेश के नाश करने वाले को अन्तःपुर में रहना

---

46. जानु—यह शब्द यहाँ पर अंगविशेषवाचक जानु नहीं है । इतिवृत्तानुसार बुद्ध उत्पन्न होते सात पैर चले थे पर सीधे खड़े होकर न कि घुटनों के बल । भोटानुवाद में **ब्ल्तम्स् नस्** (उत्पन्न होकर) शब्द देखने से जानु जन् धातु से उत्पन्न शब्द जान पड़ता है । इस प्रकार के अन्य विशेषण यहाँ वर्तमान कालबोधक कृदन्तों (= शतृ, शानच्) में हैं, इसलिए जानु को भी उसी प्रकार का कृदन्त रूप मानना प्रक्रमानुसार उचित होगा । फलतः जा (= धातु के विकार) से परे यहाँ आन (= शानच्) प्रत्यय है । संस्कृत के जायमान का प्रतिनिधिभूत यह रूप है । उकार विभक्ति यहाँ द्वितीया में है । एवं जानु = जायमानम् । एड्जेर्टन साहब इसे ज्ञा धातु से निष्पन्न (जानत्) का विकार मानते हैं ।

है, तथा जब तक सब राज-पाट छोड़ कर (उन्हें) निकल पड़ना है, तब तक (हम सब प्रसन्न मन से पीछे-पीछे रहेंगे।

यावदुपैति महिमण्डि[47] तृणां गृहीत्वा
यावच्च बोधि स्पृशते विनिहत्य मारम्।
अध्येष्टु[48] ब्राह्मणयुतेभि[49] प्रवर्ति चक्रं
तावत्करोम विपुलां सुगतस्य पूजां ॥118॥

जब तक पृथिवी के सारभूत स्थान (= गया के वज्रासन) पर तृण लेकर पहुँचना है, तथा जब तक मार को जीतकर बोधि का स्पर्श (= अनुभव) करना है, (एवं) खर्व-खर्व ब्रह्माओं से प्रार्थना किये जाने पर (धर्म) चक्र का प्रवर्तन करना है, तब तक (हम सब) सुगत की बहुत-बहुत पूजा करेंगे।

यद बुद्धकार्यु कृतु भेष्यति त्रिसहस्रे
सत्त्वान कोटिनयुता अमृते विनीता।
निर्वाणमार्गमुपयास्यति शीतिभावां
तावन्महाशयमृषिं न जहाम सर्वे ॥119॥ इति[50]

---

47. महिमण्डि = महीमण्डे। भोट, **ब्यङ् छुब् स्ञिङ् पोर्**, बोधिमण्डे।

48. अध्येष्टु = अधीष्टः (प्रार्थितः)। तुलनीय भोट, **ग्सोल् ब्तब् प**।

49. ब्राह्मणयुतेभि = ब्राह्म (= ब्रह्म) णयुतेभि (= नयुतेभि)। तुलनीय भोट, **छङ्स् प ख्रग् ख्रिग्**।

50. पूर्वोक्त 110–119 गाथाओं की छाया—हन्त शृणुत वचनम् अमरेश्वराः अस्मद्विधानां मतिर्यादृशी तत्त्वभूता। त्यक्त्वार्थं कामरतिं ध्यानसुखं प्रणीतम् (= उत्तमम्) अनुबन्धीम इममुत्तमशुद्धसत्त्वम् ॥110॥ अवक्रान्तम् उत्पादे तथा गर्भे स्थितं महात्मानं पूजार्हम् अतिशयम् अभिपूजयामः। पुण्यैः सुरक्षितमृषिं परि रक्षिष्यन्तः यस्यावतारो लभते न मनःप्रदुष्टस्य ॥ यस्य इत्यस्य स्थाने भोटे कस्यापि (**सुस् क्यङ् = केनापि**) इति पाठः ॥111॥ संगीतितूर्यरचितैश्च सुवाद्यैश्च वर्णान् गुणान् कथयन्तो गुणसागरस्य। कुर्मो देवमनुजानां प्रहर्षणीणं। (= प्रहर्षकर्म) यच् छुत्वा बोधिवरचित्ते जने जायेत ॥112॥ पुष्पाभिकीर्णं नृपतेश्च कुर्मो गेहम् उत्तमकालागुरुसुधूपित सौम्यगन्धम्। यं (गन्धमिति शेष.) घ्रात्वा देवमनुजाश्च भवन्ति उदग्राः (= प्रसन्नाः) विगतज्वराश्च सुखिनश्च भवन्त्यरोगाः ॥113॥ मन्दारैश्च कुसुमैस्तथा पारिजातैश् चन्द्रैः सुचन्द्रैस् तथा स्थालैर् विरोचमानैः। पुष्पाभिकीर्णं कपिलाह्वायं कुर्मः पूजार्थं पूर्वशुभकर्मसमुद्गतस्य ॥114॥ यावच्च गर्भो वसति त्रिमलैरलिप्तो यावच्च जरामरणान्तकरः प्रसूतः (भवति)।

जब तक बुद्धकृत्य (= धर्मप्रतिष्ठापन) किया जाता रहेगा (एवं जब तक) कोटि-कोटि सर्व-खर्व प्राणि अमृत (—तत्त्व) पहुँचाए जाएँगे, (तथा जब तक) शीत-भाव से युक्त निर्वाण की राह पर पहुँच जाना होगा, तब तक (हम) सब महाशय ऋषि को नहीं छोड़ेंगे।

18 हे भिक्षुओं, तदनन्तर[51] काम धातु की चर्या वाली[51] देवकन्याओं (के मन में) बोधिसत्त्व के रूपवान् शरीर की (शोभा—) समृद्धि को देख कर ऐसा (प्रश्न) उठा—इस श्रेष्ठ-परम श्रेष्ठ शुद्ध सत्त्व को जो =45 क= धारण करेगी, वह कन्या कैसी होगी ?

19 उनमें कौतूहल उत्पन्न हुआ (और वे)[52] श्रेष्ठ-अतिश्रेष्ठ पुष्प, धूप, दीप, गन्ध, माल्य (= मालाएँ), विलेपन, चूर्ण (= मुँह पर लगाने की केवड़े आदि की धूल), तथा चीवर (= वस्त्र) लेकर[52] दिव्य तथा मन (के बल) से

तावत् प्रसन्नमनसोऽनुबन्धीमः एषा मतिर्मतिधरस्य कुर्मः पूजाम् ॥115॥ लाभाः सुलब्धा विपुलाः सुरमानुषाणां (भविष्यन्ति ये) द्रक्ष्यन्ति जायमानमिमं सप्त पदानि क्रामन्तम् । शक्रैश्च ब्रह्मभिः करैः परिगृह्यमाणं गन्धोदकैः स्नाप्यमानं सुशुद्धसत्त्वम् ॥116॥ यावच्च लोकेऽनुवर्तनतां करोति, अन्तःपुरे वसति कामक्लेशघाती । यावच्च निष्क्रामति राज्यमपास्य सर्वं तावत् प्रसन्नमनसो ऽनुबन्धीमः ॥117॥ यावद् उपैति महीमण्डं तृणानि गृहीत्वा यावच्च बोधिं स्पृशति विनिहत्य मारम् । अधीष्टो ब्रह्मनयुतैः (= निखर्वैः) प्रवर्तयेत् (प्रवर्तयति—इत्यस्य कृते) चक्र तावत् कुर्मः विपुलां सुगतस्य पूजाम् ॥118॥ यदा (= यावत्) बुद्धकार्यं कृतं भविष्यति त्रिसाहस्रे सत्त्वानां कोटिनयुतानि (= कोटि निखर्वाणि) अमृते विनीतानि (भविष्यन्तीति शेषः) निर्वाणमार्गम् उपयास्यति शीतभावं तावन्महाशयमृषिं न जहीमः सर्वे ॥119॥ इति ॥

51....51. मूल, कामधात्वीश्चराणाम् । सम्भवतः कामधात्वीश्वराणाम् का प्रामादिक पाठ है । अन्यथा अर्थावबोध सरल होते हुए भी कामधात्वीः इस रूप को समझना कठिन है । भोट में ह्दोद् प न स्प्योद् प, कामे चराणाम् (= कामावचराणाम्) पाठ से विशेष इतना ही जाना जाता है कि वाक्यावयव में पूर्व पद सप्तमी में है ।

52....52. मूल, वरप्रवरपुष्पधूपदीपगन्धमाल्यविलेपनचूर्णचीवरपरिगृहीता । भोट, मेतोग् दङ्, स्पोस् दङ्, फेङ् ब दङ्, ब्युग् प म्छोग् तु ब्य ब वग् ब्येर् नस् वरपुष्पधूपमाल्यपरिगृहीता ।

निर्मित आत्मभाव (=शरीर) को पाकर,[53] पुण्य के फल से ऋद्धि के लिए अधिष्ठान (=दृढ़ संकल्प) में अधिष्ठित (=अविचलभाव से स्थित) होकर[53] उसी क्षण देवलोक के भवन से अपने को अन्तर्धान कर, कपिलवास्तु नाम के शत सहस्र उद्यानों द्वारा चारों ओर से सजे-सजाए, श्रेष्ठ महानगर में (–49–), राजा शुद्धोदन के घर में धृतराष्ट्र नाम के देवलोक के भवन जैसे बड़े महल के ऊपर[54] मानों अभी-अभी गिर ही पड़ेंगे—इस प्रकार के वस्त्र धारण किए हुए[54] शुभ तथा निर्मल तेज से अत्यन्त शोभायमान, भुजाओं में दिव्य आभूषण पहने हुए, आकाश में खड़ी हुई (और) सेज पर लेटी हुई माया देवी को एक उंगली से दिखाती हुई आपस में गाथाओं द्वारा (यों) बोलीं—

(देवकन्या वितर्क)

(पुष्पिताग्राच्छन्द)

अमरपुरगतान अप्सराणां रूप मनोरम दृष्ट्व बोधिसत्त्वे।
मतिरियमभवत्तदा हि तासां प्रमद नु कीदृश बोधिसत्त्वमाता ॥120॥

तब अमरावती में रहने वाली वे अप्सराएँ बोधिसत्त्व के मनोरम रूप को देख कर यों सोचने लगीं (कि वह) कैसी स्त्री (होगी जो) बोधिसत्त्व की मां (हो सके)।

ताश्च सहित पुष्पमाल्यहस्ता उपगमि वेस्म नृपस्य जातकांक्षा।
पुष्प तथा विलेपनां गृहीत्वा दशनख[55] अञ्जलिभिर्नमस्यमाना ॥121॥

53....53. मूल, पुण्यविपाकाधिस्थानाधिस्थिताः। भोट, **ब्सोद् नम्स् क्यि र्नम् प स्मिन् प हि र्जु ह्रफुल् ग्यिस् बियन् ग्यिस् ब्र्लब्स् प,** पुण्यविपाकर्द्ध्यधिष्ठानाधिष्ठिताः।

54....54. मूल, विगलिताम्बरधारिण्यः। भोट, **गोस् ल्हुग् ल्हुग् पो ग्योन् प।** इस वाक्यांश का अभिप्राय यह है कि देव कन्याएँ ऐसे ढीले-ढाले वस्त्र पहने हुए थीं जिनसे शरीर की शोभा दिखाई पड़ती थी तथा यह जान पड़ता था कि वस्त्र अब शरीर से गिरने ही वाले हैं। भोटानुवाद तथा मूल दोनों ही विचारणीय हैं। मुझे विगलित यहाँ पर विकलित (विशेषतया धृत, पहने हुए) का अपभ्रंश जान पड़ता है। पर इस दशा में धारिण्यः का योग नहीं बैठता। आगे विगलितवसना (गाथा 122) को विकलितवसना करने से अर्थ ठीक बैठता है।

55. दशनख के स्थान में भोटपाठ **सोर् ब्चु**, दशांगुलि है।

वे सन्देह उत्पन्न होने पर, साथ-साथ, हाथों में फूलों की मालाएँ, फूल तथा विलेपन (= चन्दन आदि) लेकर दसों नखों के साथ अंजलि बांध नमस्कार करती राजा के घर पहुँची।

विगलितवसना सलीडरूपाः करतल दक्षिणि अंगुलीं प्रणम्य।
= 45 = शयनगत विदर्शि मायादेवीं साधु निरीक्षथ रूप मानुषीणां ॥122॥

मानो अभी-अभी गिर पड़ेंगे—ऐसे वस्त्र पहने हुए, लीलाओं से युक्त रूप वाली (अप्सराएँ) दाहिने हाथ की हथेली की उंगली को नवा कर, सेज पर लेटी मायादेवी को दिखाया (और कहा कि) मानुषियों के रूप को भलीभाँति निहारो।

वयमिह अभिमन्ययाम[56] अन्ये परममनोरम सुरूप अप्सराणां।
इमं नृपतिवधूं निरीक्षमाणा जिह्म विपश्यर्थ दिव्य आत्मभावां ॥123॥

यहाँ हमें अप्सराओं का अत्यन्त मन को भाने वाला सुन्दर रूप कुछ और ही जान पड़ता है। राजा की इस पत्नी को निरखो (और फिर) कान्तिहीन (अपने इन) देव योनि के शरीरों को देखो।

अतिरिव[57] सदृशी गुणान्विता च जननिरियं प्रवराग्रपुंगलस्य।
मणिरत्न यथा सुभाजनस्य तथ इव भाजन देवि देवदेवे ॥124॥

अति श्रेष्ठ महापुरुष के लिए यह अतीव उपयुक्त, गुणों से समन्वित, माता है। जैसे सुन्दर भाजन में मणिरत्न स्थान पाता है वैसे ही यह देवी भाजन है (उस) देवताओं के देवता के लिए।

करचरण तलेभि यावमूर्द्ध[58] अङ्ग मनोरम दिव्य-आतिरेकाः।
प्रेक्षितु[59] नयनान्न चास्ति तृप्ति भूयु[60] प्रहर्षति चित्त मानसं च।125।

---

56. अभिमन्ययाम (= अभिमन्यामहे) के स्थान में भोट पाठ यों है—ङ् गयल सेम्स् क्यिस् मङोन् सेम्स् प मानमनसाभिमन्यामहे।

57. मुद्रितपाठ, रतिरिव। पाठान्तर, अतिरिव। तुलनीय पालि, अतिविय, अतिरिव (संस्कृत, अतीव)। भोट, शिन् तु गशह् शिङ् होस् (= अतिसदृशी)।

58. मुद्रित पाठ, यावदूर्द्ध। भोट, स्प्यि बो मन् छद् डु, यावन्मूर्धानम्। स्पष्ट ही मूल पाठ 'यावमूर्द्ध' था।

59. मुद्रित पाठ प्रेक्षतु। पाठान्तर, प्रेक्षितु (= प्रेक्षितुम्)। भोट, ब्ल्त न, देखने पर।

60. मुद्रित पाठ भूय। पाठान्तर, भूयु। भोट, फ्यिर् शिङ्, पुनः भूयः।

हाथों की हथेलियों तथा पाँवों के तलवों से लेकर सिर तक (इस देवी के) अंग देवताओं (के अंगों) से भी अधिक मनोहर हैं। आँखों को देख कर तृप्ति नहीं होती। बारम्बार चित्त और मन उल्लसित हो उठते हैं।

शशिरिव गगणे विराजतेऽस्या वदनु वरं च विराज गात्रभासा।
रविरिव विमला शिखीव[61] दीप्ता तथ प्रभ निश्चरतेऽस्य आत्मभावात् ॥126

शरीर की चमक से चमकता हुआ इसका वर वदन आकाश में चन्द्रमा के समान शोभा देता है तथा इसके शरीर से सूर्य जैसी निर्मल एवं अग्नि जैसी दीप्त प्रभा निकलती है।

कनकमिव सुजातजातरूपा वर्ण विरोचति देविये तथैव।
भ्रमरवरनिकाश कुन्तलानी मृदुकसुगंधश्रवास्य मूर्धजानि ॥127॥

और देवी का रंग सोने जैसा, शुद्ध सोने जैसा, तथा रूप निखरे सोने जैसा चमक रहा है। श्रेष्ठ भौरों जैसे इसके सिर पर उगे हुए केश कोमल हैं और उनसे सुगन्ध बह रही है।

कमलदलनिभे तथास्य नेत्रे दशन विशुद्ध नभेव ज्योतिषाणि।
चाप इव तनूदरी विशाल पार्श्व[62]समुद्गतम् आन्सि[62] नास्ति संधिः ।128।

इसकी आँखें कमल की पंखड़ियों के समान हैं, दाँत आकाश के तारों जैसे अत्यन्त शुद्ध हैं, पेट धनुष (को मूठ) जैसा पतला है, नितम्ब विशाल हैं, कंधे उठे हुए हैं, जोड़ नहीं (दिखाई पड़ते) हैं।

गजभुजसदृशोऽस्य ऊरुजंघे जातु सुजान्व्[63] अनुपूर्वमुद्गतास्य।
करतलचरणा समा सुरक्ता व्यक्तमियं खलु देवकन्य नान्या ॥129॥

इसकी जाँघें हाथी की सूँड़ के समान हैं, घुटने सुन्दर घुटने हैं। (जाँघोंका) उतार-चढ़ाव क्रम से हुआ है। हथेलियाँ तथा गदेलियाँ बराबर तथा सुन्दर लाल-लाल हैं। स्पष्ट ही यह सचमुच की देवकन्या है, यह कुछ और हो नहीं सकती।

---

61. मुद्रित पाठ, शशीव। भोट, **मे ल्तर्**, अग्निरिव, शिखीव शिखीव पाठ मानकर ही दीप्ता के साथ संगति बैठती है।

62····62. समुद्गत-म्-आन्सि ऐसा पदच्छेद करना होगा। भोटपाठ-**फ्ग् प झ्लम् शिङ**, वृत्तांसा, गोल-गोल कंधों वाली।

63. मुद्रित पाठ, सुजात्व, । पाठान्तर, सुजान्व्। भोट, **ब्यन् प शिन् तु लेग्स् प** अतिशोभन जानु, अतिशोभनजानुनी।

एवं बहुविधं = 46 क = निरीक्ष्य देवीं कुसुम क्षिपित्व प्रदक्षिणं च कृत्वा ।
सुपिय[64] यसवती जिनस्य माता पुनरपि देवपुरं गता क्षणेन ।।130।।

इस प्रकार नाना भाँति से देख कर, बुद्ध की माता, यशस्विनी, (माया) देवी पर फूल बरसा कर, प्रदक्षिणा कर, तृप्त हो कर वे फिर क्षण भर में देव लोक पहुँच गईं ।

अथ चतुरि चतुर्दिशासु पालाः शक्र सुयाम तथैव निर्मिताश्[65] च ।
देवगणकुम्भाण्डराक्षसाश्च असुरमहोरगकिन्नराश्च वोचन् ।।131।।

अनन्तर (उन्होंने) चारों दिशाओं के चारों (लोक) पालों, इन्द्र, सुयाम तथा निर्मित-देवताओं, देवगणों, कुम्भाण्डों, राक्षसों, असुरों, महोरगों और किन्नरों से कहा ।

गच्छत पुरतो नरोत्तमस्य पुरुषवरस्य करोथ रक्ष गुप्ति ।
मा कुरुत जगे मनः प्रदोषं मा च करोथ विहेठ मानुषाणां ।।132।।

पुरुषोत्तम से पहले जाओ । श्रेष्ठ पुरुष का रक्षण एवं गोपन करो । जगत् के प्रति मन में द्वेष न करो । मनुष्यों की हिंसा न करो ।

यत्र गृहवरस्मि माय देवी तत्र समग्र सपारिषद्य सर्वे ।
असिधनुशरशक्तिखड्गहस्ता गगनतलस्मि स्थिता निरीक्षयाथ ।।133।।

जिस श्रेष्ठ घर में माया देवी हैं, वहाँ सब के सब, साथ-साथ अपनी मण्डली लेकर, तलवार, धनुष-बाण, छुरी तथा खांडा हाथ में लिए गगनतल पर खड़े-खड़े, देख-भाल करो ।

(अवतरणप्रार्थना)

ज्ञात्व च्यवनकाल देवपुत्रा उपगमि मायसकाश हृष्टचित्ता ।
पुष्प तथा विलेपनां गृहीत्वा दशनख[66] अञ्जलिभिर्नमस्यमानाः ।।134।।

(बोधिसत्त्व के) अवतार लेने की बेला को जान कर, प्रसन्न मन से फूल-चन्दन लेकर, दसों नखों के साथ अंजलि बाँध नमस्कार करते हुए माया (देवी) के पास पहुँचे ।

---

64. सुपिय = सुप्रीय्, प्री (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च धातुपाठ) । पाठान्तर, सुविय, (सुप्रिय श्रीराजेन्द्र लाल मित्र का शोधन) भोट, ब्स्तोद् ब्यस्, प्रीत्वा अथ वा स्तुत्वा ।

65. मूल, निमिताश्च । भोट, ह्. .फुल् ब दङ् तथा निर्मित, अथवा ऋद्धि-सिद्धि वाले ।

66. भोट, सोर् ब्चु दशांगुलि ।

च्यव-च्यव हि नरेन्द्र शुद्धसत्त्वा अयु समयो भवतोऽद्य वादिसिंह।
कृप-करुण जनित्व सर्वलोके अस्मि अध्येषम धर्मदानहेतोः[67] ॥135॥
॥इति॥[68]

अवतार लो-अवतार लो हे शुद्ध मनके नरनाथ ! आज यह समय है आप (के अवतार) का, हे वाद करने वालों में सिंह, इस समूचे जगत् पर दया-मया करके। धर्म दान के निमित्त (हम सब आप से) प्रार्थना कर रहे हैं।

---

67. भोट. म् छोद् स्बियन् बोन् बु, पूजनदानहेतोः। छोस्, धर्म के स्थान में म् छोद्, पूजन उच्चारण की अस्पष्टता के कारण हुआ है।

68. ऊपर की 120-135 गाथाओं की छाया-अमरपुरगतानाम् अप्सरसां रूपं मनोरमं दृष्ट्वा बोधिसत्त्वे (= बोधिसत्त्वस्य)। मतिरियमभवत् तदाहि तासां प्रमदा ननु कीदृशी बोधिसत्त्वमाता ॥120॥ ताश्च सहिताः पुष्प-माल्यहस्ता उपागमन् वेश्म नृपस्य जातकांक्षाः (= जातसंदेहाः)। पुष्पाणि तथा विलेपनानि गृहीत्वा दशनखैर् (भोटानुसारं दशांगुलिभिर्) अंजलि-भिर्नयस्यन्त्यः ॥121॥ विगलितवसनाः सलीलरूपाः करतले दक्षिणे (= करतलस्य दक्षिणस्य) अंगुलिं प्रणाम्य। शयनगतां मायादेवीम् व्यदी-दृशन् साधु निरीक्षध्वं रूपं मानुषीणाम् ॥122॥ वयमिहाभिमन्यामहे ऽन्यत् परम-मनोरमं सुरूपम् अप्सरसाम्। इमां नृपतिवधूं निरीक्षमाणा (भवति इति शेषः) जिह्मान् (= कान्तिहीनान्) विपश्यत दिव्यान् आत्मभावान् (= शरीराणि) ॥123॥ अतीव सदृशी गुणान्विता च जननीयं प्रवराग्र-पुद्गलस्य। मणिरत्नं यथा सुभाजनस्थं तथैव देवी देवदेवस्य ॥124॥ करचरणतलेभ्यो यावन्मूर्धानम् अंगानि मनोरमाणि विद्यातिरेकाणि। प्रेक्षित (प्रवृत्तयोरिति शेषः) नयनयोर्न चास्ति तृप्तिर् भूयः प्रहृष्यति चित्तं मानसं च ॥125॥ शशीव गगने विराजते ऽस्या वदनं वरं विराजं (= विराजितं) गात्रभासा। रविरिव विमला शिखीव दीप्ता तथा प्रभा निश्चरत्यस्या आत्मभावात् (= शरीरात्) ॥126॥ कनक-सुजात-जातरूपं इव वर्णो विरोचते देव्यास्तथैव। वरभ्रमरनीकाशाः कुन्तला मृदुलसुगन्धस्रवा अस्या मूर्धजाः ॥127॥ कमलदलनिभे तथास्या नेत्रे दशनानि विशुद्धानि नभसि इव ज्योतींषि। चाप इव तनूदरी विशाला पार्श्वयोः समुद्गतांसयोः (भोटा-नुसारं वृत्तांसा) नास्ति संधिः ॥128॥ गजभुजसदृशो अस्या ऊरुजङ्घे जानुनी सुजानुनी अनुपूर्वभुङ्गते अस्याः। करचरणतलौ समौ सुरक्तौ व्यक्त-मियं खलु देवकन्या नान्या ॥129॥ एवं बहुविधं निरीक्ष्य देवीं कुसुमानि क्षिप्त्वा प्रदक्षिणां च कृत्वा। सुप्रीय यशोवतीं जिनस्य मातरं पुनरपि देवपुरं

20. अनन्तर हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के अवतार लेने के समय पूर्व दिशा से बहुत-बहुत शतसहस्र-शतसहस्र बोधिसत्त्व, जिन सब को एक ही बार जन्म लेना बदा था, जो तुषित लोक के श्रेष्ठ भवनों के निवासी थे, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, = 46 ख = जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पास में पहुँच गये। इसी प्रकार दसों दिशाओं में से एक-एक दिशा से बहुत-बहुत शतसहस्र-शतसहस्र बोधिसत्त्व, जिन सब को एक ही बार जन्म लेना बदा था, जो तुषित लोक के श्रेष्ठ भवनों के निवासी थे, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पास में पहुँच गए। चातुर्महाराजकायिक देवताओं में से चौरासी हजार अप्सराएँ, इसी प्रकार त्रयस्त्रिंश, याम, (–51–) तुषित, निर्माणरति तथा परनिर्मितवशवर्ती देवताओं में से चौरासी हजार-चौरासी हजार अप्सराएँ नाना प्रकार के वाद्ययन्त्रों से युक्त संगीत और बाजे-गाजे के साथ, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पास में पहुँच गयीं।

21. अनन्तर बोधिसत्त्व महाकूटागार (= बड़े महल) में सब पुण्यों से समुत्पन्न सब[69] देवताओं तथा नागों[69] के द्वारा देखे जाते हुए, श्रीगर्भसिंहासन[70] पर बैठे उन बोधिसत्त्वों के साथ, शतसहस्र खर्व कोटि[69] देवताओं, नागों तथा यक्षों[69] के साथ (अवतार लेने के लिए) प्रचलित हुए—हिले। और हिलते-हिलते हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व ने अपने देह से वैसी प्रभा छोड़ी कि जिस प्रभा के कारण यह त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु = 47क = इतना विशाल-इतना

गताः क्षणेन ॥130॥ अथ चतुरश्चतुर्दिक्षुपालान् शक्रं सुयामांस् तथैव निर्मितांश्च। देवगणकुम्भाण्डराक्षसांश्चासुरमहोरगकिन्नरांश्चावोचन् ॥131॥ गच्छत पुरतो नरोत्तमस्य पुरुषवरस्य कुरुत रक्षां गुप्तिम्। मा कुरुत जगति मनः प्रदोषं मा च कुरुत विहिंसां मानुषाणाम् ॥132॥ यत्र वरगृहे माया देवी तत्र समग्राः सपरिषद्याः सर्वे। असिधनुःशरशक्तिखड्गहस्ता गगनतले स्थिता निरीक्षध्वम् ॥133॥ ज्ञात्वा च्यवनकालं देवपुत्र उपागमन् मायासकाशं हृष्टचित्ताः। पुष्पाणि तथा विलेपनानि गृहीत्वा दशनखैर् (भोटानुसारं दशाङ्गुलिभिर्) अंजलिभिर् नमस्यन्तः ॥134॥ च्यवस्य च्यवस्य नरेन्द्र शुद्धसत्त्व, अयं समयो भवतोऽद्य वादिसिंह। कृपां करुणां जनयित्वा सर्वलोकेऽस्मिन् अधीच्छामः (= प्रार्थयामः) धर्मदानहेतोः ॥135॥ इति।

69····69. मूल, देवनाग०, देवनागयक्ष०। भोट, ल्ह० (देव)।

70. मूल, श्रीगर्भसिंहासने। भोट, द्पल् ग्यि स्त्रिङ् पोनङ्दु, श्रीगर्भे।

विस्तृत (होते हुए भी) बड़ी प्रबल, अभूतपूर्व[71] तथा दैवी चमक को मात करने वाली चमक से चमचमा उठा। (इस) लोक के अन्तराल में जो पाप की—पाप से भरी अंधेरी रातें हैं, जिनमें इतनी बड़ी ऋद्धि वाले, इतने बड़े तेज वाले, इतने बड़े ऐश्वर्य वाले, ये सूर्य और चन्द्र (अपनी) आभा से आभा की, (अपने) रंग से रंग की, (तथा अपने) तेज से तेज की ताप नहीं ला पाते, चमक नहीं ला पाते। वहाँ जो प्राणी जनमते हैं, वे अपनी भी बाँहों का फैलाना भी नहीं निरख पाते। उस (स्थान) में भी उस समय बड़ी प्रबल चमक प्रकट हुई। और वहाँ जो प्राणी जनमे थे, वे उसी चमक से स्पष्ट ही बारबार भली-भाँति एक दूसरे को देखते थे, एक दूसरे को जानते थे। तथा यों कहते थे—अरे! अन्य प्राणी भी यहाँ जनमे हैं, अरे!

22. और इस त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु में[72] छह प्रकार के अट्ठारह महानिमित्त[72] (बड़े सुगम) प्रकट हुए। (क) (1)–(वह) काँप उठा, ज़ोर से काँप उठा, बड़े ज़ोर से काँप उठा। (2)–(वह) थर्रा उठा, ज़ोर से थर्रा उठा, बड़े ज़ोर से थर्रा उठा। (3)–(वह) चंचल हो उठा, ज़ोर से चंचल हो उठा, बड़े ज़ोर से चंचल हो उठा। (4)–(वह) क्षुब्ध हो उठा, ज़ोर से क्षुब्ध हो उठा, बड़े ज़ोर से क्षुब्ध हो उठा। (5)–(वह) गूँज उठा, ज़ोर से गूँज उठा, बड़े ज़ोर से गूँज उठा। (6)–(वह) गरज उठा, ज़ोर से =47ख= गरज उठा, बड़े ज़ोर से गरज उठा। (–52–) (7)–(वह) किनारे झुक गया, बीच में उठ गया। (8)–(वह) बीच में झुक गया, किनारे उठ गया। (9)–वह पूर्व दिशा में झुक गया, पश्चिम दिशा में उठ गया। (10)–पश्चिम दिशा में झुक गया, पूर्व दिशा में उठ गया। (11)–दक्षिण दिशा में झुक गया, उत्तर दिशा में उठ गया। (12)–उत्तर दिशा में झुक गया, दक्षिण दिशा में उठ गया।—(ख) (13)–उस समय[73] हरषाने वाले, संतोष देने वाले, प्रेम उपजाने वाले, प्रसन्न करने वाले,

---

71. मूल, सुप्रचलितपूर्वेण। भोट, **स्ङन् छद् म ब्युङ् हि,** अभूतपूर्वेण, अजातपूर्वेण।

72····72. मूल, षड्विकारमष्टादशमहानिमित्तम्। भोट, **नम् प द्रुग् दङ् ल्तस् छेन् पो बृचो बर्ग्यद् दु**। छह तथा अट्ठारह की गणना कैसे की जाए इसका यहाँ यत्न किया गया है। क, ख, ग आदि से छह तक की गणना तथा 1, 2, 3 आदि अंकों से अट्ठारह तक की गणना की गई है। फिर भी यहाँ मुझे संदेह बना हुआ है।

73····73. मूल तथा भोट पाठ में यहाँ समानता भग्न हुई है—मूल पाठ, हर्षणीयास्तोषणीयाः प्रेमणीयाः **प्रसादनीया अवलोकनीया प्रल्हदनीया निवर्ण-**

(सुनने के अनन्तर सुनाने वाले के) देखने की चाह कराने वाले, परम सुख देने वाले, निर्वर्णना अथवा प्रशंसा के योग्य ठहरने वाले, असेचनीय अर्थात् सुनते रहने पर भी जिनसे तृप्ति नहीं होती—ऐसे गुणवाले, अनुकूल, तथा त्रास न जनने वाले[73] शब्द सुनाई पड़ते थे। उस क्षण किसी प्राणी को न तो चोट-चपेट लगी, न (किसी से) घबराहट हुई, न डर ही लगा, और न डर के मारे किसी को सुन्न होना पड़ा।--(ग) (14)--उस क्षण न तो सूर्य और चन्द्रमा की और न ब्रह्मा, इन्द्र, तथा लोकपालों की ही प्रभा कुछ विशेष जान पड़ती थी। --(घ) (15)--उस क्षण नरकों में, पशुपक्षियों की योनियों में, यमलोक में उत्पन्न हुए सब प्राणी दुःखों से छुटकारा पा गये, सब सुखों को भोगने लगे। --(ङ) (16)--और किसी प्राणी को न राग सताता था, न द्वेष, न मोह, न ईर्ष्या, न मात्सर्य (कञ्जूसी), न मान, न म्रक्ष (परगुणद्वेष) न मद, न क्रोध, न व्यापाद (दूसरे को मार डालने का भाव), न परिदाह (जलन)। = 48क = उस क्षण सभी प्राणी मन से एक दूसरे से मैत्री रखते थे, मन से एक दूसरे का हित चाहते थे, एक-दूसरे से माँ-बाप की तरह (प्रेम में) बँधे थे। --(च) (17)--बिना बजाए ही (उस समय) देव लोक के तथा मनुष्य लोक के लाखों खर्व कोटि बाजे मनोहर ध्वनि करते थे। (18)--लाखों खर्व कोटि देवता हाथों से, कंधों से, सिरों से उस महाविमान को उठाए हुए थे और वे लाखों अप्सराएँ अपनी-अपनी गीति की धुन लगा (बोधिसत्त्व के) आगे-पीछे और दाहिने-बाएँ खड़ी होकर बोधिसत्त्व की संगीत की धुन के स्वर से स्तुति करती थीं।

(अप्सराओं की स्तुति)

(रथोद्धता छन्द)

पूर्वकर्मशुभसंचितस्य ते दीर्घरात्र कुशलोदितस्य ते।
सत्यधर्म नयशोधितस्य[74] ते पूजा अद्य विपुला प्रवर्तते ॥136॥

नीया असेचनीया अप्रतिकूला अनुत्रासकराः। भोट पाठ में अवलोकनीयाः नहीं है, अनुत्रासकराः भी नहीं है। श्रवणीयाः तथा अनुपमेयाः एवं अद्वेषणीयाः अधिक हैं। असेचनीयाः का अनुवाद म्, अन् न ग्तङ् मि ब्र ब है। संपूर्ण भोट पाठ यों है—द्गह् बर्, ह् ग्पुर् ब, छिम् पर्, ह् ग्युर् ब, भ्गु बर्-ह् ग्युर् ब, दङ् बर् ह् ग्युर् ब, सिम् पर्-ह् ग्युर् ब, म्ञन् पर् होस् प, ब्स्यङ्ग्स् पर् होस् प, म्छु ङ्स् प ने् ट् प भ्ञन् न ग्तङ् मि ब्र ब, मि म्थुन् प मेद् प, स्वङ् बर् ह् ग्युर् ब मेद् प वग्।

74. भोट, छोस् र्नमस् कुन् ग्यि छुल स्ब्यङ्स् पस्, सर्वधर्मशील-शोधितस्य (= शोधितसर्वधर्मशीलस्य), सब धर्मों के शील को तुमने शुद्ध किया है।

तुमने शुभ कर्मों का पहले से संचय कर रखा है, तुमने चिर काल तक पुण्य कमाया है, तुमने सच्चे धर्म के नय अर्थात् राह को सुधारा है, आज (इसी से तुम्हारी) महती पूजा हो रही है।

= 53 = पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो दानु दत्तु प्रियपुत्रधीतराः।
तस्य दानचरितस्य तत्फलं येन दिव्य कुसुमाः प्रवर्षिताः ॥137॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने प्यारे बेटी-बेटों का दान दे डाला है। उस दान के चरित का वह फल है, जिससे (आज) दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई है।

आत्ममांस तुलयित्व ते विभो सो ऽभिदत्तु प्रियपक्षिकारणात्।
तस्य दानचरितस्य तत्फलं प्रेतलोकि लभि पानभोजनं ॥138॥

हे प्रभो, पक्षी के प्रिय करने के निमित्त तुमने अपना मांस तोलकर दे डाला है। उस दान के चरित्र का वह फल है, (जो आज) प्रेतलोक में (सबको) दाना-पानी मिला है।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो शील रक्षितमखण्डन व्रतं। = 48 =
तस्य शीलचरितस्य तत् फलं येन अक्षण अपाय शोधिताः ॥139॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने शील की रक्षा की है, व्रत को अखण्ड बनाए रखा है। उस शील के चरित्र का वह फल है, जिससे (आठों) अक्षण तथा (सोल्हों) नरक शुद्ध हो गए हैं।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो क्षान्ति भावित निदानबोधये।
तस्य क्षान्तिचरितस्य तत्फलं मैत्रचित्त भुत देवमानुषाः ॥140॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने बोधि की सिद्धि के निमित्त क्षमा की साधना की है। उस क्षमा के चरित्र का वह फल है, (जिससे) देवता और मनुष्य मैत्रीचित्त के हो गए हैं।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो वीर्यु भावितमलीनमुत्तमं।
तस्य वीर्यचरितस्य तत्फलं येन कायु यथ मेरु शोभते ॥141॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने धीरता से एवं उत्तमता से वीर्य (अर्थात् उद्योग) की साधना की है। उस वीर्य के चरित्र का वह फल है, जिससे (तुम्हारा यह) काय मेरु जैसा (सुनहरा) शोभा दे रहा है।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो ध्यान ध्यायित किलेश-ध्येषणात्[74] ।
तस्य ध्यानचरितस्य तत्फलं येन क्लेश जगतो[75] न बाधते ॥142॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने क्लेश (मन का मैल) धो डालने के लिए ध्यान-चिन्तन किया है। उस ध्यान के चरित्र का वह फल है, जिससे क्लेश लोकों को नहीं सता रहा है।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो प्रज्ञ भावित किलेशच्छेदनी ।
तस्य प्रज्ञचरितस्य तत्फलं येन आभ परमो विरोचते ॥143॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने क्लेश को छिन्न-भिन्न करने वाली प्रज्ञा की भावना की है। उस प्रकार के चरित्र का वह फल है, जिससे उत्कृष्ट आभा (=कान्ति) जगमगा रही है।

मैत्रवर्मितकिलेशसूदना सर्वसत्त्वकरुणाय उद्गता ।
मोदिप्राप्त परमा. उपेक्षका ब्रह्मभूत सुगता नमोऽस्तु ते ॥144॥

हे मैत्री का कवच बाँधे क्लेश को नष्ट करने वाले, सब प्राणियों पर करुणा करने के लिए उत्पन्न, मुदिता को प्राप्त, श्रेष्ठ उपेक्षा वाले, ब्रह्ममय, सुगत तुम्हें नमस्कार हो।

प्रज्ञउल्कप्रभतेजसोद्गता सर्वदोषतममोहशोधका ।
चक्षुभूत त्रिसहस्रि नायका मार्गदेशिक मुने नमोऽस्तु ते ॥145॥

हे प्रज्ञा की उल्का (=मशाल) के प्रकाश और तेज से ऊपर उठे हुए, समूचे मोह के दोष-रूपी अन्धकार के शोधन करने वाले, त्रिसाहस्र (लोकधातु) में नेत्रों के समान (राहपर) ले जाने वाले, मार्ग के उपदेशक, हे मुने, तुम्हें नमस्कार हो।

---

74 क. मल, किलेश ध्येषणात् । भोट, ञोन् मोङ्स् स्ब्यङ् स्तद्, क्लेशक्षालनात् । ध्येषणात् इस पद के स्थान में ध्यषणात्, धेषणात्, तथा ध्यासनात् पाठान्तर हैं, जो पाठविषयक संदेह के सूचक हैं। भोट में, स्ब्यङ् स्लद् अर्थात् क्षालनत् अथवा अधिक्षालनात् है। अधिक्षालनात् से अपभ्रंश ध्य (अधि)-क्षणात् (क्षालनात्) असंभव नहीं है। फिर ध्यक्षणात् से ध्येषणात् का होना समझ में आ सकता है। एड्जेंटन् ने धर्षणात् पाठ की ऊहा की है जो निराधार है। द्रष्टव्य अध्येषण (बु० हा० सं० डि०)।

75. जगतो = जगन्ति । तुलनीय भोट, ह्ग्रो ब वग् ल । यह पद यहाँ द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है।

ऋद्धिपादवरभिज्ञ कोविदा सत्यदर्शि परमार्थि शिक्षिता । = 49 = क
तीर्ण तारयसि अन्यप्राणिनो दाशभूत[76] सुगता नमोऽस्तु ते ॥146॥

हे ऋद्धिपादों के श्रेष्ठ ज्ञान में निपुण, सत्य के देखने वाले, परमार्थ में शिक्षा पाए हुए, स्वयं (संसार के) पार पहुँचे हुए, (तुम) अन्य प्राणियों को (संसार के) पार पहुँचा रहे हो। हे पार करने वाले नाविक, सुगत, तुम्हें नमस्कार हो।

सर्वोपायवरभिज्ञ कोविदा दर्शयसि च्युतिमच्युतिच्युतिं ।
लोकधर्मभवनाभिवर्तसे[77] नो च लोकि क्वचि ओपलिप्यसे ॥147॥

हे सब उपायों के ज्ञान में निपुण, (तुम अपना ऐसा) अवतार दिखला रहे हो (जो) अच्युति अर्थात् अमरता का अवतार है। दुनिया के रंग-ढंग को अपनाते (तुम) जा रहे हो (पर) दुनिया में कहीं (तुम) लिप्त नहीं हो रहे हो।

[–54–] लाभ तेष परमा अचिन्तिया येषु दर्शन श्रवं च एष्यसे ।
किं पुनः शृणुय[78] यो ति धर्मतां श्रद्ध प्रीति विपुला जनेष्यसे[79] ॥148॥

(तुम) जिनकी निगाहों में (अपने रूपद्वारा) तथा (अपने नाम से) जिनके कानों में पड़ोगे, उनका परम लाभ (कौन) सोच सकता है ? जो तुम्हारे धर्म-सिद्धान्तों को सुन कर विपुल श्रद्धा और प्रीति उत्पन्न करेगा उस (के लाभ) की तो बात ही क्या ?

जिह्म सर्व तुषितालयो भुतो जम्बुद्वीपि सुरियो[80] उदागतः ।
प्राणिकोटिनयुता अचिन्तियां बोधयिष्यसि प्रसुप्त क्लेशतो ॥149॥

---

76. दाशभूत का पाठान्तर दासभूत है। भोट, ग्रोल् ग्युर्, पार करने वाला। दाश-शब्द केवट या मल्लाह का वाचक है। यहाँ पार करने वाले के अर्थ में—नाविक के अर्थ में है। यहाँ दाश यह शब्द जातिवाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है।

77. भोट, ह्जिग् तेंन् छोस् क्यि जेंस् सु म्थुन् प मज़द् क्यङ्, लोकधर्मानुगमनं कुर्वन्नपि, दुनिया के रंग-ढंग का अनुकरण करते हुए भी।

78. भोट, थोस् ते, श्रुत्वा, सुनकर। श्रुणु-य (त्वादेश ल्यप्) एड्जेंटन् साहब इसे विधिलिङ् का रूप मानते हैं। द्रष्टव्य बु० हा० सं० ग्रा० २९।४२।

79. जनेष्यसे = जनेष्यते। यहाँ पुरुष-विपर्यास है। इस क्रिया का कर्ता यः (= जो) है।

80. मूल, पुरियो। पाठान्तर सुरि यो, सूरि यो (= सुरियो, सूरियो)। भोट, ञि म, सूर्यं। मूल पाठ सूर्यः का ही अपभ्रंश सुरियो था जिसे पुरियो कर डाला गया है।

सब तुषित-लोक अन्धेरा हो गया। जम्बूद्वीप में सूर्य उगा। अचिन्त्य कोटि-खर्व, क्लेश (= राग, द्वेष, तथा मोह) से मारे हुए प्राणियों को (तुम वहाँ) जगाओगे।

ऋद्ध स्फीत पुरमद्य भेष्यती देवकोटिनयुतैः समाकुलं।
अप्सरोभि तुरियैर्निनादितं राजगेहि मधुरं श्रुणिष्यति ॥150॥

आज (कपिलवास्तु नाम का) नगर ऋद्ध—स्फीत अर्थात् धनधान्यपूर्ण एवं कोटि-खर्ब देवताओं से भरा-पूरा हो जाएगा। राजभवन के (आज) अप्सराओं के गाजे-बाजे की मधुर धुन सुन पड़ेगी।

पुण्यतेज भरिता शुभकर्मणा नारि सा परमरूप उपेता।
यस्य पुत्र अयमेव समृद्धः तिस्र लोकि अभिभाति शोरिये ॥151॥

पवित्र तेज से भरी हुई, शुभ कर्म करने वाली, परम रूप से युक्त, वह (यह) स्त्री है जिसका इस प्रकार यह लक्ष्मी से सम्पन्न पुत्र तीनों लोकों को परास्त कर शोभित हो रहा है।

नो भुयो पुरवरस्मि देहिनां लोभ-दोष कलहा-विवादकाः।
सर्व मैत्रमनसः सगौरवाः भाविनो नरवरस्य तेजसा ॥152॥

उत्पन्न होने वाले श्रेष्ठ पुरुष के तेज से सभी के मन में (दूसरों के प्रति) मैत्री तथा गौरव का भाव भर गया। उस श्रेष्ठ नगर के प्राणियों में फिर न कहीं राग-द्वेष रह गए न लड़ाई-झगड़े ही।

राजवंश नृपतेः प्रवर्द्धते चक्रवर्तिकुलराजसंभवः। = 49ख =
भेष्यते कपिलसाह्वयं पुरं रत्नकोषभरितं सुसमृद्धं ॥153॥

चक्रवर्ती कुल के राजाओं से उपजा हुआ राजा (शुद्धोदन) का राजवंश बढ़ती पर है। कपिलवस्तु नगर रत्नों के भण्डारों से भरा हुआ बड़ी समृद्धि से युक्त होने वाला है।

यक्षराक्षसकुम्भाण्डगुह्यका देवदानवगणा सइन्द्रकाः।
ये स्थिता नरवरस्य रक्षकाः तेषु मोक्ष न चिरेण भेष्यते ॥154॥

यक्ष, राक्षस, कुम्भाण्ड, गुह्यक, इन्द्रसहित देवगण, तथा दानवगण जो श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा के लिए खड़े हैं, उन्हें बिना बहुत देरी के ही मोक्षलाभ होगा।

पुण्युपार्जितु स्तविस्व नायकं प्रेमगौरवमुपस्थिपित्वना[81]।

---

81. मूल, उपस्थपिस्वना, पाठान्तर, उपस्थपित्वना। तुलनीय संस्कृत प्रत्यय त्वानम् ह्विटनी 993, ब्रु० हा० सं० ग्रा० 35।31।

सर्व बोधि परिणामयामहे क्षिप्र भोम यथ त्वं नरोत्तम ॥155॥[82]

प्रेम और गौरव को (अपने में) प्रतिष्ठापित कर नायक की स्तुति करके जो पुण्य कमाया है, उस सब को बोधि के लिए हम निछावर कर रहे हैं। हे नरोत्तम, जैसे तुम हो वैसे ही हम भी शीघ्र हो जाएँ।

॥ इति श्री ललितविस्तरे प्रचलपरिवर्तो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

---

82. 136-155 गाथाओं की छाया—संचितपूर्वशुभकर्मणस् ते दीर्घरात्रम् उदितकुशलस्य ते। शोधितसत्यधर्मनयस्य ते पूजाद्य विपुला प्रवर्तते ॥136॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटिर् दानं दत्तं प्रियपुत्रदुहितॄणाम्। तस्य दानचरितस्य तत्फलं येन दिव्यानि कुसुमानि प्रवृष्टानि ॥137॥ आत्ममांसं तुलयित्वा ते (=त्वया) विभो तद् अभिदत्तं पक्षिप्रियकारणात्। तस्य दानचरितस्य तत्फलं प्रेतलोके (सर्वो) ऽलभत पानभोजनम् ॥138॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीः शीलं रक्षितम् अखण्डनं व्रतम्। तस्य शीलचरितस्य तत्फलं येनाक्षणा अपायाः शोधिताः ॥139॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटिः क्षान्तिर्भाविता बोधिनिदानाय (=बोधिसिद्धिहेतवे)। तस्य क्षान्तिचरितस्य तत्फलं मैत्राचित्तां भूता देवमानुषाः ॥140॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीर् वीर्यंभावितम् अलीनम् (=धीर, निर्भयं) उत्तमम्। तस्य वीर्यचरितस्य तत्फलं येन कायो यथा मेरुः शोभते ॥141॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकुटीर् ध्यानं ध्यातं क्लेशाभिक्षालनात्। तस्य ध्यानचरितस्य तत्फलं येन क्लेशो जगन्ति न बाधते ॥142॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीः प्रज्ञा भविता क्लेशच्छेदनी। तस्य प्रज्ञाचरितस्य तत्फलं येनाभा परमा विरोचते ॥143॥ मैत्रीवर्मितक्लेशसूदन, सर्वसत्त्वकरुणार्थं-उद्गत, मुदितां प्राप्त, परमोपेक्षक, ब्रह्मभूत, सुगत, नमोऽस्तु ते ॥144॥ प्रज्ञोल्काप्रभातेजउद्गत सर्वमोहदोषतमः शोधक चक्षुर्भूत त्रिसाहस्रे नायकमार्गदेशिकमुने नमोऽस्तु ते ॥145॥ ऋद्धिपादवराभिज्ञायां कोविद सत्यदर्शिन् परमार्थे शिक्षित। तीर्ण तारयसि अन्यप्राणिनो दाशभूत (=नाविकभूत) सुगत नमोऽस्तु ते ॥146॥ सर्वोपायवराभिज्ञायां कोविद दर्शयसि च्युतिम् अच्युतिच्युतिम्। लोकधर्मभत्रनमाभिवर्तसे न च लोके क्वचिद् उपलिप्यसे ॥147॥ लाभस्तेषां परमोऽचिन्त्यो येषां दर्शनं श्रवणं च एष्यसि। किं पुनः श्रुत्वा यस्ते धर्मान् (समूहार्थे ताप्रत्ययः, धर्मतां = धर्मान्) श्रद्धा प्रीतिं विपुलं जनयिष्यति (अत्र मूले जनेष्यसे इत्यत्र वचनविपर्यासः) ॥148॥ जिह्मः (=श्यामः) सर्वम् तुषितालयो भूतः, जम्बूद्वीपे सूर्य उद्गतः। प्राणिकोटिनयुतान् अचिन्त्यान् बोधयिष्यसि प्रसुप्तान् क्लेशतः

॥149॥ ऋद्धं स्फीतं पुरम् अद्य भविष्यति देवकोटिनयुतैः समाकुलम् । अप्सरोभिस्तूर्यैर्निनादितं राजगेहे मधुरं श्रोष्यते ॥150॥ पुण्यतेजसा भरिता शुभकर्मा नारी सा परमरूपेणोपेता । यस्याः पुत्रोऽयमेवं संमृद्धस् त्रिषु लोकेषु-अभिभाति श्रिया ॥151॥ न भूयः पुरवरे देहिनां लोभदोषौ कलहा विवादाः । सर्वे मैत्रीमनसः सगौरवा भाविनो नरवरस्य तेजसा ॥152॥ राजवंशो नृपतेः प्रवर्धते चक्रवर्तिकुलराजसंभवः । भविष्यति कपिलाह्वयं पुरं रत्नकोषभरितं सुसमृद्धम् ॥153॥ यक्षराक्षसकुम्भाण्डगुह्यका देवदानवगणाः सेन्द्राः । य स्थिता नरवरस्य रक्षकास् तेषां मोक्षो न चिरेण भविष्यति ॥154॥ पुण्यमुपार्जितं स्तुत्वा नायकं प्रेमगौरवम् उपस्थाप्य । सर्वं बोधये परिणामयामः क्षिप्तं भवाम यथा त्वं नरोत्तम ॥155॥

●

6

॥ गर्भावक्रान्तिपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ ५४ (पंक्ति १८)—७६ (पंक्ति ७)
भोटानुवाद ४९ख (पंक्ति ३)—६४ख (पंक्ति २)

6

॥ गर्भावक्रान्तिपरिवर्त ॥

1. इस प्रकार, हे भिक्षुओं, शिशिर-काल के बीत जाने पर, विशाखानक्षत्र से युक्त वैशाख-मास में, श्रेष्ठ ऋतु वसन्त-काल के अवसर पर, जब पेड़ अच्छी-अच्छी पत्तियों से छा गए थे, उन पर बहुत अच्छे-अच्छे फूल फूल रहे थे, ठंड भी चली गई थी, गर्मी भी न आ पाई थी, धुंध भी मिट गई थी, धूल भी न उड़ती थी, नरम-नरम हरे-हरे तृणों से छाई हुई धरती सुन्दर एवं शान्त थी, तब तीनों भुवनों में (–55–) ज्येष्ठ, लोक में पूजित, बोधिसत्त्व पन्द्रहवें दिन पड़ने वाली पूर्णमासी-तिथि में ऋतु-काल-मुहूर्त देख कर, पुष्य नक्षत्र के योग में, व्रतोपवास ग्रहण करने वाली जन्मदात्री माँ की दाहिनी कोख में, तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन से उतर कर, स्मृति एवं ज्ञान के सहित, छह दाँतों के --बीर-- बहूटी जैसे माथे के--सोने की रेखा जैसे दाँतों के--अविकल अंग-प्रत्यङ्गों के--परिपूर्ण इन्द्रियों के--बाल--गज़ बन कर, प्रविष्ट हुए। प्रविष्ट हो कर दाहिनी करवट से =५० == (गर्भ में) रहे, बाईं करवट से न रहे।

2. सुख से सेज पर सोई माया देवी ने यह स्वप्न देखा---

(स्वप्नवर्णना)

(पुष्पिताग्रा छन्द)

हिमरजतनिभश्च षड्विषाणः सुचरण चारुभुजः सुरक्तशीर्षः।
उदरमुपगतो गजप्रधानो ललितगतिर्दृढवज्रगात्रसंधिः[1] ॥156॥

हिम एवं रजत के समान (श्वेत), छह दाँतों वाला, सुन्दर पिछले पैरों वाला, सुन्दर अगले पैरों वाला, सुन्दर लाल सिर वाला, मनोहर गति वाला, वज्र के समान दृढ़ अंगों की गठन वाला, श्रेष्ठ हाथी पेट में समा गया।

न मम सुख जातु एवरूपं दृष्टमपि श्रुतं नापि चानुभूतं।
कायसुखचित्तसौख्यभावा यथरिव ध्यानसमाहिता अभूवम् ॥157॥

ऐसा सुख मैंने कभी न देखा था, न सुना था, और न भोगा था। ध्यान में मानो समाधि लग गई हो, ऐसा काय-सुख तथा चित्त-सुख मुझे हुआ।

---

1. संधि के लिए भोट शब्द छिङ्स् है। पर मुद्रित ग्रन्थ में छिग् स् पाठ है, जो प्रामादिक है।

3. तदनन्तर माया देवी—जिनके वस्त्र-भूषण, जान पड़ता था कि, अभी-अभी शरीर से टपक पड़ेंगे, जिनके तन और मन आनन्द से भर गए थे, जिन्होंने प्रीति, प्रमोद तथा प्रसन्नता पा ली थी—उत्तम सेज पर से उठकर, स्त्रियों से घिरी हुई, (स्त्रियों द्वारा) आगे की हुई, (उस) श्रेष्ठ राजमहल के शिखर से अर्थात् ऊपरी तले से उतर कर, जहाँ अशोक-वाटिका थी वहाँ गई। वे अशोक वाटिका में सुख से बैठीं और राजा शुद्धोदन के पास दूत भेज कहलाया कि महाराज पधारें, महारानी आप का दर्शन चाहती हैं।

4. तब राजा शुद्धोदन—उस वचन को सुन कर जिनके मन में अत्यन्त हर्ष हुआ, (हर्ष के मारे) जिनका शरीर थर-थर काँप उठा—भद्रासन से उठ कर मन्त्रियों, नागरिकों, परिचारकों एवं बन्धुजनों से घिरे हुए, =50ख= जहाँ अशोक-वाटिका थी वहाँ पहुँचे, पर अशोक-वाटिका में प्रवेश न कर सके। उन्हें अपना शरीर बड़ा भारी लगा। अशोक-वाटिका के द्वार पर खड़े हो कर क्षणभर सोच कर उन्होंने यह गाथा कही—

(शुद्धोदनवितर्क-गाथा, मालिनी छन्द)

न स्मरि रणशौण्डिमूर्ध संस्थस्य मह्यं
एव गुरु शरीरं मन्यमी यादृशोऽद्य।
(–56–) स्वकुलगृहमद्य न प्रभोमि प्रवेष्टुं
किमिह मम भवेऽङ्गो कानुपृच्छेय चाहं ॥158॥

मैं सोचता हूँ, आज जैसा मेरा शरीर भारी है, वैसा रण में कुशल (वीरों) के आगे खड़े होने पर (कभी) हुआ हो—ऐसा मुझे स्मरण नहीं। आज मैं अपने कुलगृह में प्रवेश नहीं कर पा रहा हूँ। मुझे क्या हो गया ? अरे, मैं किस से पूछूँ !

5. तब शुद्धावासकायिक देवपुत्र गगन-तल पर आकर ऋद्धि-बल से अपना आधा शरीर (अर्थात् सिर से कटि तक का भाग) दिखला कर राजा शुद्धोदन से[2] गाथा में कहा—

(देवपुत्रों द्वारा राजा, शुद्धोदन के वितर्क निवारण, मालिनी छन्द)

व्रततपगुणयुक्तस् तिस्रुलोकेषु पूज्यो
मैत्रकरुणलाभी पुण्यज्ञानाभिषिक्तः।
तुषितपुरि च्यवित्वा बोधिसत्त्वो महात्मा
नृपति तव सुतत्वं मायकुक्षोपपन्नः ॥159॥

---

2. मूल, राजानम्। शुद्धिपत्र, राजानं शुद्धोदनं। भोट, ग्र्यल् पो ज़स् ग्चंङ् म ल, राजा शुद्धोदन को।

हे राजन्, व्रत, तपस्या, तथा गुणों से युक्त, तीनों लोकों में पूज्य, मैत्री तथा करुणा का लाभी, पवित्र ज्ञान (के जल से) अभिषेक कर चुकने वाला, महात्मा बोधिसत्त्व तुषित-पुर से अवतार ले तुम्हारे पुत्र के रूप में मायादेवी की कोख में आया है।

(राजा शुद्धोदन की मायादेवी से जिज्ञासा, मालिनी छन्द)

दशनख तद कृत्वा स्वं शिरं कम्पयन्तो
नृपतिरनुप्रविष्टश्चित्रिकारानुयुक्तः ।
माय तद निरिक्ष्य मानदर्पोपनीतां
वदहि कुरुमि किं ते किं प्रयोगं भणाहि ॥160॥

तब राजा (शुद्धोदन) दस नखों (वाली उँगलियों) से (अञ्जलि बाँध) अपना सिर कँपाते हुए, सत्कार (के भाव) से युक्त भीतर घुसे (और) तब मान एवं अहंकार से रहित माया (देवी) को देख बोले—बोलो, तुम्हारे लिए क्या करूँ ? बोलो, तुम क्या करना चाहती हो ?

7. देवी ने कहा—

(माया देवी का शुद्धोदन से स्वाभिप्राय निवेदन, मालिनी छन्द)

हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः
सुचरण सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा ।
गजवरु दृढ़संधि वज्रकल्पस्सुरूपः
उदरि मम प्रविष्टस्तस्य हेतुं शृणुष्व ॥161॥

हिम और रजत के समान (श्वेत), चन्द्रमा और सूर्य से बढ़ कर चमकने वाला, सुन्दर पैरों वाला, कटे-छँटे अंगों वाला, छह दाँतों वाला, व्रज्र के समान पोढ़ा एवं गठीला, शोभन रूप वाला, श्रेष्ठ हाथी मेरा कोख में प्रविष्ट हुआ है। उसका लक्षण सुनाओ।

वितिमिर त्रिसहस्रां पश्यमी भ्राजमानां = 51 =
देवनयत[3] देवाये[4] स्तुवन्ती सयानां ।
न च मम खिल दोषो नैव रोषो न मोहो
ध्यानसुखसमङ्गी जानमी शान्तचित्ता ॥162॥

(मैं) धुंधले पन से रहित, चम-चमाते हुए त्रिसाहस्र (लोक धातुओं) को देख रही हूँ। (सेज पर) लेटी (मुझ) देवी को खर्व-खर्व देवता स्तुति कर रहे

---

3. भोट, ल्ह नंमस् ब्ये बस् देवकोटिः, देवकोट्या ।
4. देवाये के स्थान में पाठान्तर देवीय है। भोट में इसके स्थान में बग् नि (= माम्, अहम्, मुझे, मैं) पाठ है।

हैं। मुझ में न तो खिल (चित्त के क्लेश विशेष) हैं, न द्वेष है, न रोष है, और न मोह है। शान्त-चित्त से युक्त, ध्यान-सुख के साथ ज्ञान मुझमें है।

(–57) साधु नृपति शीघ्रं ब्राह्मणानानयास्मिन्
वेदसुपिनपाठाये गृहेषू विधिज्ञा।
सुपिनु मम हि येमं व्याकरी तत्त्वयुक्तं
किमिद मम भवेया श्रेयु पापं कुलस्य ॥163॥

हे राजन्, वेदों तथा स्वप्नशास्त्रों एवं ग्रहों की गति-विधि में कुशल ब्राह्मणों को यहाँ शीघ्र सत्कार के साथ बुलाओ, जो मेरे इस स्वप्न का ठीक-ठीक फल बतलाएँ कि इससे मेरे कुल का शुभ होगा अथवा अशुभ।

(ब्राह्मणों से स्वप्न परिपृच्छा, मालिनी छन्द)

वचनमिमु शुणित्वा पार्थिवस्तत्क्षणेन
ब्राह्मण कृतवेदनानयन् शास्त्रपाठान्।
माय पुरत स्थित्वा ब्राह्मणानामवोचत्
सुपिन मयिक दृष्टस्तस्य हेतुं शृणोथ ॥164॥

यह बात सुनकर राजा ने उसी क्षण वेदज्ञ (एवं स्वप्न-) शास्त्रपाठी ब्राह्मणों को बुलवाया। माया (देवी) ब्राह्मणों के सामने खड़ी हो कर बोलीं—मैंने यहाँ स्वप्न देखा है, उसका लक्षण सुनाओ।

9. ब्राह्मण बोले। बोलो देवि, तुमने कैसा स्वप्न देखा है? सुन कर (हम उसे) जान सकेंगे। देवी ने कहा—

हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः
सुचरण सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा।
गजवरु दृढ़संधि वज्रकल्पस्सुरूपः
उदरि मम प्रविष्टस्तस्य हेतुं शृणुध्व ॥165॥

हिम और रजत के समान (श्वेत) चन्द्रमा और सूर्य से बढ़कर चमकने वाला सुन्दर पैरों वाला, कटे-छँटे अंगों वाला, छह दाँतों वाला वज्र के समान पोढ़ा एवं गठीला, शोभन रूप वाला श्रेष्ठ हाथी मेरी कोख में प्रविष्ट हुआ है। उसका लक्षण सुनाओ।

(ब्राह्मणों द्वारा स्वप्नफल-कथन, मालिनि छन्द)

वचनमिमु श्रुणित्वा ब्राह्मणा एवमाहुः
प्रीति विपुल चिन्त्या[5] नास्ति पापं कुलस्य।
पुत्र तव जनेसी लक्षणैर्भूषिताङ्गं
राज = 51ख = कुलकुलीनं चक्रवर्ति महात्मं ॥166॥

---

5. भोट, बूम्रस् पर् गयुर्, लभ्या।

यह बात सुन कर ब्राह्मण बोले—बड़े आनन्द (की बात) सोचो। कुल का अशुभ नहीं होगा। लक्षणों से अलंकृत अंगों वाला, राजवंश का वंशोद्धारक, महात्मा, चक्रवर्ती पुत्र तुम उत्पन्न करोगी।

स च पुर विजहित्वा काम राज्यं च गेहं
प्रव्रजित निरपेक्षः सर्वलोकानुकम्पी।
बुद्धो भवति एषो दक्षिणीयस्त्रिलोके
अमृतरसवरेणा तर्पयेत सर्वलोकं ॥167॥

यदि (वह) घर, नगर, काम-भोग तथा राज्य छोड़कर, राग-रहित, सब लोगों पर दयालु हो, बे-घरबारी होगा, तो तीनों लोकों में पूजनीय बुद्ध होगा, (तथा) अमृत के उत्तम रस से सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करेगा।

(–58–) व्याकरित्व गिरं सौम्यां भुक्त्वा पार्थिवभोजनं।
आच्छादनानि चोद्गृह्य प्रक्रान्ता ब्राह्मणस्ततः ॥168॥

सौम्य वाणी (से स्वप्न-फल) कह कर, राजसी भोजन खाकर और दुपट्टे लेकर, ब्राह्मण वहाँ से विदा हो गए।

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार राजा शुद्धोदन ने लक्षण तथा निमित्तों को जान कर व्याख्या करने वाले तथा स्वप्न शास्त्र के अध्ययन तथा अध्यापन में निपुण ब्राह्मणों से (स्वप्न का फल) सुन कर, हर्ष-में-भर सन्तुष्ट होकर, प्रसन्न होकर, मन में फूले न समा कर, प्रमोद पाकर, प्रीत एवं सौमनस्य का लाभ कर, ब्राह्मणों को बहुत-बहुत खाने-चबाने-चखने (की वस्तुओं) से तृप्त कर आतिथ्यकर, दुपट्टे देकर बिदा किया। उस समय कपिलवास्तु महानगर में, चारों नगर के द्वारों पर, नगर के सब आँगनों और चौराहों पर (राजा शुद्धोदन ने) दान दिलवाया, अन्न चाहने वालों को अन्न, पीने की इच्छा वालों को शर्बत, कपड़े चाहने वालों को कपड़े, सवारी चाहने वालों को सवारियाँ। इसी प्रकार जो चाहते थे उन्हें गन्ध, माल्य (=पुष्प), विलेपन, शय्या और निवास। =52क= जीविका चाहने वालों को जीविका।

12. हे भिक्षुओं, तब राजा शुद्धोदन के मन में यह हुआ—माया देवी बिना क्लेश, सुख-पूर्वक, किस घर में निवास करें। तब उसी क्षण चारों महाराजिक देवता राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

अल्पोत्सुखो देव भव सुखं तिष्ठ उपेक्षको।
वयं हि बोधिसत्त्वस्य वेश्म वै मापयामहे ॥169॥

हे राजन्, बहुत व्याकुल न हों। चुप-चाप सुख से बैठे रहें। हम लोग बोधिसत्त्व के लिए घर बना रहे हैं।

13. तदनन्तर देवताओं के इन्द्र, शक्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

हीना विमाना पालानां त्रयस्त्रिंशानामुत्तमाः ।
वैजयन्तसमं वेश्म बोधिसत्त्वस्य दाम्यहं ॥170॥

(लोक–) पाल—(महाराजिक-देवताओं) के विमान हीन हैं, त्रयस्त्रिंश–(देवताओं) के (विमान) उत्तम हैं । मैं बोधिसत्त्व के लिए वैजयन्त–(प्रासाद) के समान घर दे रहा हूँ ।

14. तदनन्तर सुयाम देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

मदीयं भवनं दृष्ट्वा विस्मिताः शक्रकोटयः ।
(–59–) सुयामभवनं श्रीमद् बोधिसत्त्वस्य दाम्यहं ॥171॥

मेरे भवन को देखकर कोटि-कोटि इन्द्रों को अचरज होने लगता है । मैं बोधिसत्त्व के लिए शोभायमान सुयाम-भवन दे रहा हूँ ।

15. तदन्तर संतुषित देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

यत्रैव उषितः पूर्वं तुषितेषु महायसा ।
तदेव भवनं रम्यं बोधिसत्त्वस्य दाम्यहं ॥172॥

तुषित (–देवताओं) के बीच महायशस्वी जहाँ पहले रह चुके हैं, मैं बोधिसत्त्व के लिए वही रमणीय भवन दे रहा हूँ ।

16 तदनन्तर सुनिर्मित देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

मनोमयमहं श्रीमद् वेश्म तद् = 52ख = रत्नामयं ।
बोधिसत्त्वस्य पूजार्थमुपनेष्यामि पार्थिव ॥173॥

हे राजन्, मैं बोधिसत्त्व की पूजा के लिए उस (अपने) रत्नमय, शोभायमान एवं मनोनिर्मित घर को लाऊँगा ।

17. तदनन्तर परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

यावन्तः कामधातुस्था विमानाः शोभनाः क्वचित् ।
भाभिस्ते मद्विमानस्य भवन्त्यभिहृतप्रभाः ॥174॥

कहीं भी कामधातु में जितने शोभन विमान हैं, वे मेरे विमान की प्रभा से निष्प्रभ हो जाते हैं ।

तत्प्रयच्छाम्यहं श्रीमद् वेश्म रत्नमयं शुभं।
बोधिसत्त्वस्य पूजार्थमानयिष्यामि पार्थिव ॥175॥

हे राजन्, मैं वह शोभावाला, शुभ, रत्नमय घर दे रहा हूँ। बोधिसत्त्व की पूजा के लिए (मैं उसे) ले आऊँगा।

दिव्यैः पुष्पैः समकीर्णं दिव्यगन्धोपवासितं।
उपनामयिष्ये विपुलं यत्र देवी वसिष्यति ॥176॥

दिव्य-पुष्प जिसमें बिखरे हुए हैं, दिव्य-गन्ध से जो बसाया गया है, उस विशाल (भवन) को मैं ले आऊँगा। जहाँ देवी निवास करेंगी।

18. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सब कामधातु के निवासी देवेश्वरों ने बोधिसत्त्व की पूजा के लिए श्रेष्ठ महानगर कपिलवास्तु में अपने-अपने घर अर्पित-किए[6]। राजा शुद्धोदन ने भी बढ़-चढ़ कर घर सँवार-कर-बनवाया जो अमानवीय तो था पर द्वियता को न पा सका था। वहाँ महासत्त्व बोधिसत्त्व महाव्यूह समाधि की महिमा से उन सब घरों में माया देवी को (रहती हुई) दिखलाते थे। बोधिसत्त्व माया देवी की कोख के भीतर विराजमान दाएँ पासे से पल्थी मार (–60–) बैठे हुए थे। और उन सब देवेश्वरों में प्रत्येक यही जानता था कि बोधिसत्त्व की माता और कहीं नहीं बल्कि मेरे ही घर में निवास कर रही हैं।

19. इस विषय में यह कहा जाता है—

(उपजाति छन्द)

=53 क=महाव्यूहाय स्थितः समाधिये
अचिन्तिया निर्मित निर्मिणित्वा।
सर्वेष देवानभिप्राय पूरिता
नृपस्य पूर्णश्च तदा मनोरथः ॥77॥

महाव्यूह नाम की समाधि में स्थित होकर अचिन्त्य ऋद्धिमय-रूप बना कर (बोधिसत्त्व ने) सब देवताओं के अभिलाष पूरे कर दिए तथा राजा का भी मनोरथ पूर्ण हो गया।

20. तदनन्तर उस देवताओं की सभा के बीच किन्हीं देवपुत्रों के मन में ऐसा हुआ—जो ये चातुर्महाराजिक देवता हैं वे भी जब मनुष्य के आश्रय (=शरीर

---

6. मूल, मापितान्यभूवन् (बनाए)। पाठान्तर प्रदत्तान्यभूवन् (अर्पित-किए)। भोट, फुल् बर् ग्युर् तो, दत्तान्यभूवन्, दिये।

के भीतर होने वाले दुर्गन्ध से[7] घृणा कर दूर भागते हैं, तब जो दूसरे बड़े-बड़े-त्रयस्त्रिंश, याम, अथवा तुषित (लोक के) देवता हैं, उनका कहना ही क्या? इसलिए सब लोकों से ऊपर उठे हुए, पवित्र, दुर्गन्ध-रहित प्राणियों में श्रेष्ठ, तुषित-लोक के देव-निकाय से अवतार लेकर, बोधिसत्त्व माता की कोख में दस मास तक कैसे ठहरे ?

21. तब आयुष्मान् आनन्द बुद्ध के प्रताप से (प्रेरणा पाकर) भगवान् से यों बोले—भगवान्, यह आश्चर्य की बात है जो तथागत ने स्त्री-जनों को घृणा के योग्य, यहाँ तक कि, रागियों के पीछे चलने वाला कहा है। पर भगवान् यह तो और भी आश्चर्य की बात है कि (उसी स्त्री-रूपी) मनुष्य के दुर्गन्ध[8] शरीर में, माता की दाईं कोख में, पहले से बोधिसत्त्व हो, (फिर) तुषित लोक के देव-निकाय से अवतार ले, भगवान् उत्पन्न हुए। यह कैसे ? भगवन् = 53ख = आप से[9] इस प्रकार यह कहने का मुझ में उत्साह नहीं[9]। पर भगवान् ने जैसा पहले कहा है, उसी के कारण (मैं यहाँ पूछ रहा हूँ)।

22. भगवान् बोले—आनन्द, क्या तुम बोधिसत्त्व के रत्नमय उस परिभोग (= निवासस्थान) को देखना चाहते हो, जो कि परिभोग माता की कोख में रहते हुए बोधिसत्त्व के लिए था। आनन्द बोले—भगवन्, उसका यही काल है—सुगत उसका यही समय है कि तथागत बोधिसत्त्व के उस परिभोग का दर्शन करायें, जिसे देख कर (हम सब)[10] आनन्द का अनुभव करें[10]।

23. (–61–) तब भगवान् ने वैसा निमित्त किया कि ब्रह्मा सहांपति अड़सठ लाख ब्रह्माओं के साथ ब्रह्मलोक से (अपने को) अन्तर्धान कर भगवान् में सामने आ खड़े हुए। वे भगवान् के चरणों की सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, भगवान् को माथा नवाते हुए, अञ्जलि बाँधे खड़े हुए। उस समय भगवान् जानते हुए भी सहांपति ब्रह्मा से बोले—हे ब्रह्मन्, तुमने क्या

7. मूल, गतत्वेत। पाठान्तर, दुर्गन्धेन, दुर्गन्धे। तुलनीय भोट, **मि ह्रि लुस् क्यि द्रि ङो न**, मनुष्य-शरीर-दुर्गन्धे।

8. मूल, दुर्गन्धे। भोट में यह नहीं है। पाठान्तर में है पर मुद्रित ग्रन्थ में इसे ब्रेकेट में डाल दिया है।

9. नाहं····उसर्हत एवं वक्तु -इस मूल पाठ में उत्सर्हत का शोधन उत्सहेत करना होगा। पाठान्तर उत्सहे है भी। भोट, **दे स्कद् द्रु स्म्र बर् नि ब्दग् ल स्प्रो ब म म्छिस् सो**, मयि नास्त्युत्साह एवं वक्तुम्।

10. मूल, प्रीति वेत्स्यामः। पाठान्तर, प्रीतिं वेत्स्यामः। भोट, **ब्ल्गे ब व्ग्रह्ह ह्ो**, जान कर आनन्दित हों।

बोधिसत्त्व के, दस मास तक (गर्भ में) रहने के, उस परिभोग (= निवासस्थान) को जो बोधिसत्त्व के रूप में (गर्भ में रहते हुए) मेरी माता की कोख में था रख छोड़ा है। ब्रह्मा ने कहा—हाँ, भगवन् (रख छोड़ा है) हाँ, सुगत (रख छोड़ा है)। भगवान् बोले—हे ब्रह्मन्, वह कहाँ है, उसे लाकर दिखाओ। ब्रह्मा ने कहा—भगवन् वह ब्रह्म = 54क = लोक में है। भगवान् बोले—हे ब्रह्मन्, तब तुम उसे लाकर दिखाओ। दस मास तक बोधिसत्त्व के रहने का वह परिभोग कितना अच्छी तरह बना था—इसे (लोग) जानें।

24. तदनन्तर सहापति ब्रह्मा ने उन ब्रह्माओं से कहा। आप लोग तब तक ठहरें, जब तक हम बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह (= रत्नों से बने हुए) परिभोग को लायें। फिर महापति ब्रह्मा भगवान् के चरणों में शिर से वन्दना कर, भगवान् के सामने से अन्तर्धान होकर, उसी क्षण ब्रह्म-लोक में जा विराजे। फिर (वहाँ) सहापति ब्रह्मा ने देवपुत्र सुब्रह्म से यह कहा—हे मार्ष, (मित्र) तुम यहाँ पर ब्रह्म-लोक से लेकर त्रयस्त्रिंशलोक तक सुना जा सकने वाला शब्द करो—घोष करो कि बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह परिभोग को हम तथागत के पास ले जा रहे हैं, तुम सब के बीच जो देखना चाहता हो, आए।

25. तदनन्तर सहापति ब्रह्मा लाख-लाख खर्वों के चौरासी कोटि देवताओं के साथ बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह परिभोग को लेकर तीन सौ योजन के ब्राह्म-विमान पर रख कर लाख-लाख खर्वों के अनेक करोड़ देवताओं द्वारा चारों ओर से घेर कर = 54ख = जंबू-द्वीप में उतारा।

26. (-62-) उस समय भगवान् के पास जाने के लिए कामावचर देवताओं की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। बोधिसत्त्व का वह रत्नव्यूह परिभोग दिव्य वस्त्रों से, दिव्य मालाओं से, दिव्य पुष्पों से, दिव्य गन्धों से, दिव्य वाद्यों से तथा दिव्य भोगों से सजा कर बनाया गया था। वह उतने महान् ऐश्वर्य वाले देवताओं से घिरा हुआ था कि देवताओं के इन्द्र शक्र ने [11]महा-मेरु की चोटि पर [11]खड़े होकर, दूर से ही मुँह पर तालपत्र का छाता लगा कर, [12]माथा तिरछा करके देखा, पर आँखें खोल निहार कर, न देख सके। [12]वह किस कारण से। ब्रह्म-

---

11····11 मूल सुमेरौ (समुद्रे) : भोट, **र्ग्यम्छो छेन् पो हि द्बुस् सु**, महासमुद्र-मध्ये। सुमेरौ—यह संभवतः ठीक है। महामेरुशिखरे कदाचित् मूल पाठ था।

12····12. मूल शीर्षव्यवलोकनेनानुविलोकयति स्म। उन्मेषध्यायिकया वा न च शक्नोतिस्म द्रष्टुं। भोट, **म्गो ब्योल् नस् ब्ल्तस् नस् ब्यङ् म्थोङ् बर् मि नुस् सो**, शिरः तिर्यक्कृत्यावलोकयन्नपि द्रष्टुं न शक्नोति स्म।

देव बड़े ऐश्वर्य वाले होते हैं। त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, तथा पर-निर्मितवशवर्ति लोकों के देवता हीन होते हैं। फिर देवताओं के इन्द्र शक्र की बात ही क्या ?[13]

27. तब फिर भगवान् ने उस दिव्य गाजे-बाजे की गूँज को अन्तर्धान कर दिया। वह किसलिए। वह इसलिए कि कहीं सुनने के साथ-ही-साथ जंबू-द्वीप के मनुष्य मतवाले न हो जाएँ।

28. तब चारों महाराजिक देवता देवताओं के इन्द्र शक्र के पास जा कर यों बोले—हे देवताओं के इन्द्र, कैसे करें। बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग देखने को नहीं मिल रहा है। वे उनसे बोले। से मार्षो (मित्रों), मैं क्या करूँ ? मुझे भी = 55क = देखने को नहीं मिल रहा है। पर भगवान् के पास ले जाए जाने पर देखने को मिलेगा। वे बोले—हे इन्द्र, तब तो ऐसा करो कि उसका शीघ्र दर्शन हो। शक्र बोले। हे मार्षो (मित्रों), क्षण भर ठहरो, जब तक श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवपुत्र भगवान् का प्रतिसंमोदन (= अभिवादन एवं कुशलप्रश्न) कर चुकें। तब वे एक कोने मे खड़े हो सिर उठा-उठा भगवान् की ओर निहारने लगे।

29. (-63-) तदनन्तर सहापति ब्रह्मा लाख-लाख खर्वों के चौरासी कोटि देवताओं के साथ बोधिसत्त्व के उस रत्नव्यूह परिभोग को लेकर जहाँ भगवान् थे वहाँ पहुँचाया। वह बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग रूपवान्, मनोहर, दर्शनीय, चौकोर, चार खंभों वाला था, और ऊपर से कूटागार अर्थात् अंटे के द्वारा भली-भाँति सजा हुआ था। ऊँचाई में छह मास का बच्चा जितना होता है, उतना ही वह बड़ा था। उस कूटागार अर्थात् अंटे के बीचों-बीच बिछा हुआ पलंग छह मास के बच्चे के भित्तीफलक अर्थात् खटोले जैसा जान पड़ता था। वह बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग रंग-रूप तथा आकार-प्रकार में ऐसा था कि उसकी बराबरी में कोई भी (अन्य रत्नव्यूह) देवताओं, = 55ख = मारों, एवं ब्रह्माओं से युक्त (इस) लोक में न ठहरा, चाहे रंग-रूप में हो और चाहे आकार-प्रकार में हो। उसे देख कर देवताओं को भी अचरज हुआ। उनकी आँखें भरमा गईं। वह तथागत के पास रखा हुआ बहुत-बहुत चमकता था, तपता था, शोभा देता था। जैसे सोना चतुर सुनार के द्वारा दो-दो बार धौंक कर, कचाई निकाल कर, पक्का होने पर चम-चमाता है, वैसे ही वह कूटागार अर्थात् अंटा चम-चमा रहा था। बोधिसत्त्व के परिभोग में (ऐसा) पलंग बिछा था, जिसकी बराबरी बोधि-सत्त्व की शंख जैसी ग्रीवा को छोड़ कर देवताओं, मारों और ब्रह्माओं से युक्त (इस) लोक में, चाहे रूप-रंग हो और चाहे आकार-प्रकार हो, किसी से नहीं हो

---

13. इसके अनन्तर, चतुष्कोणबन्धनी में पाठ है—[मोहं ते वै यान्ति स्म] यह पाठ भोट में नहीं है।

सकती । महाब्रह्मा ने जो चीवर ओढ़ रखा था, वह बोधिसत्त्व के पलंग के आगे उसी तरह न सोहाता था, जिस तरह आँधी-पानी का मारा काला कंबल । वह कूटागार अर्थात् अंटा (ऐसे) उरगसार (नाम के) चन्दन से युक्त था, जिसके सुवर्णधरणी अर्थात् छह माषे के एक (खण्ड) का मूल्य एकसाहस्र-लोकधातु लगाया जाना उचित हो सकता है । वैसे उरगसार (नाम के) चन्दन से वह कूटागार (=अंटा) चारों ओर से लिपा हुआ था । वैसा दूसरा कूटागार (=अंटा) बनाया गया था, जो उस पहले के कूटागार (=अंटे) के भीतर था, पर उससे बिना सटे, बिना चिपके ठहरा हुआ था । वैसा ही तीसरा भी (--64--) कूटागार (--अंटा) था, जो उस दूसरे कूटागार (=अंटे) के भीतर, उससे बिना सटे, बिना चिपके ठहरा हुआ था । और वह पलंग उस सुगन्धमय तीसरे कूटागार में ढँक कर रखा हुआ था । और उस उरगसार (नाम के) चन्दन का रंग =56क= इस प्रकार का था कि जिस प्रकार का (रंग) उत्तम जाति की नीली वैडूर्य (मणि) का होता है । उस सुगन्ध-कूटागार के ऊपर चारों ओर, जितने--कुछ दिव्यातीत (=देव-लोक से भी बढ़कर) पुष्प थे, वे सब बोधिसत्त्व के पहले (के जन्मों में) रोपे गए कुशल-मूल (=अलोभ, अद्वेष तथा अमोह) के पक्के हो जाने के कारण, उस कूटागार में, [15]बिना उपजाए[15] ही होते थे । वह बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग वज्र (हीरे) के समान अभेद्य तथा दृढ़-सार वाला था, तथा छूने में काचिलिन्दिक-वस्त्र जैसा सुखदायक स्पर्श वाला था । बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह परिभोग में कामावचर देवताओं के जो-कोई भवन-व्यूह थे, वे सब वहाँ दिखाई देते थे ।

30. जिस रात को बोधिसत्त्व माता की कोख में आए, उसी रात को जल-राशि से अड़सठ लाख योजन महापृथिवी को ब्रह्म लोक तक भेद कर कमल निकला । उस कमल को सारथि (=जीवन रथ को राह पर ले जाने वाले) मनुष्यों में श्रेष्ठ, दशशतसाहस्रिक (=दसलाख देवताओं के अधिपति) महाब्रह्मा को छोड़ कर और कोई नहीं देखता था । और जो इस त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में ओज (बल), मण्ड (=सार), अथवा रस होता है, वह सब उस महापद्म के [16]मधुबिन्दु में[16] विद्यमान था ।

14....14. मूल, तदेकान्ते स्थित्वा । भोट, दे नस् दे दग् फ्योगस् गचिग् तु ह्खोद् दे, अथैकान्ते ते स्थित्वा ।

15....15. मूल अनुप्राप्तानि । भोट, म स्क्येद् पर्, अनुत्पन्नानि, अनुत्पादितानि, बिना उगे, बिना उपजाए । भोट पाठ ही ठीक जान पड़ता है ।

16....16. मूल, मधुविन्दु । भोट, झिल् वुड़्थिग्स् पर् मधुविन्दौ, मधुविन्दु में । सप्तम्यन्त पद से अर्थ ठीक बैठता है पर मूल प्रथमान्त है ।

31. महाब्रह्मा उसे वैडूर्य के शोभन पात्र में रख कर =56ख= बोधिसत्त्व को अर्पित करते थे। बोधिसत्त्व उसे लेकर महाब्रह्म पर कृपा कर खाते थे। सब बोधिसत्त्व भूमियों को परिपूर्ण कर डालने वाले अन्तिम-जन्म-धारी बोधिसत्त्व को छोड़ कर प्राणियों के समुदाय में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसे वह ओज-बिन्दु खाने पर ठीक-ठीक सुख से पच सके। किस कर्म के फल के वह ओज-बिन्दु बोधिसत्त्व के पास आता था? बहुत समय तक (–65–) पहले (के जन्मों में) बोधिसत्त्वों की चर्या का आचरण करते हुए बोधिसत्त्व ने रोगी-प्राणियों को दवा-दारू दी, दूसरे प्राणियों की इच्छाएँ पूरी कीं, शरणागतों को नहीं त्यागा, सर्वदा प्रथम फूल, प्रथम फल, प्रथम रस तथागतों तथागत के चैत्यों और तथागत के श्रावक-संघ एवं माता-पिता को देकर अपने आप बाद में ग्रहण किया। उस कर्म के फल के कारण महाब्रह्मा वह मधु-बिन्दु बोधिसत्त्व को अर्पित करते थे।

32. उस कूटागार में[17] जो—कोई स्थान अतिक्रान्त–अतिक्रान्त अर्थात् सब से बढ़-चढ़ कर, माया से, गुणों से, रति (=आनन्द) की क्रीड़ाओं से व्याप्त थे[17] वे सब बोधिसत्त्व के पहले के (जन्मों में किये गये) कर्म के =57क= फल से प्रकट ही दिखाई पड़ते थे।

33. बोधिसत्त्व के उस रत्नव्यूह परिभोग में शतसहस्रव्यूह (अर्थात् लाख मूल्य के जड़ाऊ) वस्त्रों का जोड़ा प्रकट हुआ। अन्तिम--जन्म--धारी बोधिसत्त्व को छोड़ कर प्राणियों के समूह में और कोई प्राणी नहीं है जिसके लिए वह (वस्त्र) प्रकट हो। ऐसे उत्तमोत्तम रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श (कहीं) नहीं हैं, जो उस कूटागार में दिखाई न देते हों। [18]और वह[18] कूटागार परिभोग बाहर-भीतर इस प्रकार सुन्दर ढंग से सजाया था, इस प्रकार सुन्दर ढंग से बनाया गया था, और ऐसा कोमल था कि उदाहरण भर के लिए

17····17. मूल, यानि कानिचित् सन्त्यतिक्रान्तातिक्रानि मायागुणरतिक्रीडा-समवसृतस्थानानानि। भोट, **ग्नस् क्यि ख्यद् पर् द्गहू ब दङ्, चॅद् मो वङ्, फ्रेब् प ब्ग्युंस् वङ् ल्दन् प····हूफग्स् प जि स्ञेद् चिग् योद् प** = स्थान-विशिष्टानि रतिक्रीडातिक्रान्तिग्रथनवन्ति····श्रेष्ठानि यावन्ति कानिचित् सन्ति। मायागुण का अनुवाद यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। अतिक्रान्त--अतिक्रान्त--इस आम्रेडन को यहाँ दो शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। पहला शब्द **फ्रेद् प** है तथा दूसरा **हूफग्स प** जान पड़ता है। स्थानानि का प्रति-शब्द **ब्ग्युंस् प** (=ग्रथित, व्याप्त) है।

18····18. मूल, **स चेत्**। यह पाठ प्रामादिक है। भोट, **वे नि, स खलु**। कदाचित् मूल पाठ 'स च' था।

कहें तो[19] काचिलिन्दिक वस्त्र जैसा सुखदायक स्पर्श वाला[19] था, वस्तुतः उसकी उपमा नहीं ही है ।

34. [20]यह धर्मता (अर्थात् निश्चय से घटने वाली भवितव्यता या होनहार) है[20] । बोधिसत्त्व के पहले (जन्मों के) प्रणिधान (=संकल्प) से[21] यह (=धर्मता) चेतना (=मनः कर्म) से समृद्ध-हुई है—उपजी है[21] । अवश्य ही महासत्त्व बोधिसत्त्व को मनुष्य लोक में उत्पन्न होना है, (घर से) निकल कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का सम्यक् बोध कर धर्मचक्र प्रवर्तित करना है । जिस माता की कोख में (बोधिसत्त्व) का जन्म होता है, उसकी दाहिनी कोख में आरम्भ से ही रत्नव्यूह कूटागार बना होता है । अनन्तर बोधिसत्त्व तुषितलोक से =57ख= अवतार ग्रहण कर उस कूटागार में पलंग पर बैठे-बैठे उत्पन्न होते हैं ।

35. अन्तिम-जन्म-धारी बोधिसत्त्व का (–66–) शरीर कलल-अर्बुद-घन-पेशी (नामक गर्भ की) अवस्थाओं में नहीं रहा, प्रत्युत सब अंगों-प्रत्यंगों तथा उनके लक्षणों से सम्पन्न बैठे का बैठा ही प्रकट हुआ । और स्वप्न देखती-देखती माया देवी ने महान् श्रेष्ठ हाथी को (कोख में) प्रविष्ट होते जाना ।

36. उनके उस प्रकार बैठने पर देवताओं के इन्द्र शक्र, चारों महाराजिक देवता, अट्ठाईस महायक्ष सेनापति तथा जिस यक्षकुल से वज्रपाणि की उत्पत्ति हुई, उसके गुह्यकाधिपति बोधिसत्त्व को माता की कोख में जान कर नित्य-निरन्तर साथ रहने लगे । बोधिसत्त्व की चार परिचारिका देवियाँ, जिनके नाम उत्खली, समुत्खली, ध्वजवती और प्रभावती हैं, वे भी बोधिसत्त्व को माता की कोख में जान कर नित्य-निरन्तर रखवाली में रहने लगीं । देवताओं के इन्द्र

19····19. मूल, काचिलिन्दिकसुखसंस्पर्शः । भोग गुल् क लिङ् क नस् ब्युङ् ब हि् दर् ल्तर् रेग् न ब्दे ब ह्ो, कलिंगविषयोद्भवपट्टसदृशसुखसंस्पर्श, कलिंग देश के रेशमी वस्त्र के समान सुखदायक स्पर्श वाला ।

20····20. धर्मता खल्वेषा—यह मूल पाठ यहाँ पर है पर भोट में वह दिखाई नहीं देता ।

21····21. मूल, इयं चेतना ऋद्धावश्यं । अन्तिम पद अवश्यं दूसरे वाक्य का आरम्भक पद है, उसे हटा दें तो पाठ इयं चेतना ऋद्धाव् रहता है ऋद्धा तथा अवश्यं के बीच वकार व्यंजनभक्ति है । तुलनीय भोट, ह्दि नि बसम्स् ह्र गुप् ते, इयं चेतनमा सिद्धा अथवा सिद्ध्यति स्म, यह चेतना से उपजी है ।

शक्र भी पाँच सौ देवपुत्रों के साथ बोधिसत्त्व को माता की कोख में जान कर नित्य-निरन्तर साथ रहने लगे।

37. माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व का शरीर ऐसा था जैसा कि पर्वत के शिखर पर अन्धेरे से काली रात में महान् अग्नि-राशि = 58क = योजन भर से भी दिखाई देती हो। इसी प्रकार माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व का शरीर ऐसा सुघटित था कि उससे चमक निकलती थी, रूप बरसता था, (चित्त में) प्रसन्नता उपजती थी, और वह देखते ही बनता था। वह वैडूर्यमणि (के पात्र) में रखा हुए उत्तम जाति के शुद्ध सुवर्ण के समान कूटागार के पलंग पर बैठे-बैठे अतीव शोभा देता था। बोधिसत्त्व की माता ध्यानावस्थित हो बोधिसत्त्व को कोख में विराजते देखा करती थी। (उपमा के लिए कहें तो) जैसे महान् मेघ के शिखर से बिजलियाँ निकल कर बड़ी चमक-धमक उपजाती हैं, वैसे ही बोधिसत्त्व माता की कोख में विराजते हुए शोभा से, तेज से, तथा रंग से उस प्रथम रत्नकूटागार को प्रकाशित करते थे। (उसे) प्रकाशित कर दूसरे (–67–) गन्धकूटागार को प्रकाशित करते थे। दूसरे गन्धकूटागार को प्रकाशित कर[22] तीसरे गन्धकूटागार[22] को प्रकाशित करते थे।[22] तीसरे गन्धकूटागार[22] को प्रकाशित कर माता के समूचे शरीर को प्रकाशित करते थे। उसे प्रकाशित कर जिस आसन पर बैठते थे, उसे प्रकाशित करते थे। उसे प्रकाशित कर सारे घर को प्रकाशित करते थे। सारे घर को प्रकाशित कर, घर के ऊपर से निकल कर (प्रकटे हुए प्रकाश से) पूर्व दिशा को प्रकाशित करते थे। उसी प्रकार दक्षिण = 58ख = पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर, चारों ओर से दसों दिशाओं को, प्रत्येक दिशा में कोस-कोस भर तक, माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व को शोभा से, तेज से तथा रंग से प्रकाशित करते थे।

38. भिक्षुओं, चातुर्महाराजिक देवता, पाँच सौ यक्षों के साथ अट्ठाईस महायक्ष सेनापति पहले पहर पबेरे-सबेरे बोधिसत्त्व के दर्शन, वन्दना, पर्युपासन, एवं धर्म-श्रवण के लिए आते थे। तब बोधिसत्त्व उन्हें आया जान कर दाहिना हाथ उठा कर एक उँगली से आसनों की ओर संकेत करते थे। वे लोक-पाल आदि बिछे आसनों पर बैठते थे। तथा बोधिसत्त्व को माता की कोख में सुवर्ण के शरीर जैसा विराजते हुए हाथ को फैलाते-सिकोड़ते एवं उठाते-रखते हुए देखते थे। वे प्रमोद एवं प्रसन्नता पा कर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते थे।

22⋯22. मूल, तृतीयं रत्नकूटागारम्। भोट, **स्पोस् क्यि खङ् प बर्चेगस् पो गसुम् प**, तृतीयं गन्धकूटागारम्। भोट, पाठ उचित है।

बैठा जानकर बोधिसत्त्व धर्म की कथा द्वारा उन्हें (धर्म का) दर्शन कराते थे, (धर्म को) ग्रहण कराते थे, (धर्म के लिए) उत्तेजित करते थे, (धर्म से) हर्ष उपजाते थे। और जब वे जाना चाहते थे, तब बोधिसत्त्व उनके मन की बात मन से ही जान कर दाहिना हाथ उठा कर फैलाते थे, = 59क = फैला कर सिकोड़ते थे, और माता को कष्ट होने न देते थे। तब चातुर्महाराजिक देवताओं के मन में ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व ने हमें बिदा कर दिया। (-68) वे बोधिसत्त्व की ओर बोधिसत्त्व की माता की तीन बार प्रदक्षिणा कर चले जाते थे। यही हेतु है—यही कारण है जो बोधिसत्त्व 22क प्रशान्त हो रही रात में 22क दाहिना हाथ फैलाते थे और सिकोड़ते थे।

39. इसके अतिरिक्त जब—कभी बोधिसत्त्व के दर्शन के लिए स्त्री-पुरुष वा लड़की-लड़के आते थे, तब पहले बोधिसत्त्व उनसे कुशल-मंगल कहते थे, पीछे बोधिसत्त्व की माता। इस प्रकार हे भिक्षुओं, माता की कोख में विराजते हुए ही बोधिसत्त्व प्राणियों के कुशल-मंगल कहने में निपुण थे। कोई देवता, नाग, यक्ष, मनुष्य, वा अमनुष्य नहीं है, जो पहले ही बोधिसत्त्व से कुशल-मंगल कह सके प्रत्युत पहले बोधिसत्त्व ही कुशल-मंगल कहते थे, पीछे बोधिसत्त्व की माता।

40. पहले पहर के बीत जाने पर, दोपहर के आने पर, देवताओं के इन्द्र शक्र तथा त्रयस्त्रिंशत् लोक के देवपुत्र = 59ख = निकल-निकल कर बोधिसत्त्व के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एवं धर्मश्रवण के लिए आते थे। उन्हें दूर से ही आते देख, बोधिसत्त्व सोने के रंग का दाहिना हाथ फैला कर, देवताओं के इन्द्र शक्र तथा त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं से कुशल-मंगल कहते थे, एक उँगली से आसनों की ओर संकेत करते थे। हे भिक्षुओं, देवताओं के इन्द्र, शक्र बोधिसत्त्व की आज्ञा टाल न सकते थे। देवताओं के इन्द्र, शक्र तथा दूसरे देवता बिछे आसनों पर बैठते थे। उन्हें बैठा जान कर बोधिसत्त्व धर्म की कथा द्वारा उन्हें (धर्म का) दर्शन कराते थे, (धर्म को) ग्रहण कराते थे, (धर्म के लिए) उत्तेजित करते थे, (–69–) (धर्म से) हर्ष उपजाते थे। जिस ओर बोधिसत्त्व हाथ फैलाते थे, उसी ओर बोधिसत्त्व की माता मुख करती थीं। उससे उनके मन में ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व हमसे कुशल-मंगल कह रहे हैं। प्रत्येक यही समझता था कि बोधिसत्त्व मुझसे ही बात कर रहे हैं, मुझ से ही कुशल-मंगल कह रहे हैं।

22क····22क. मूल, रात्रौ प्रशान्तायां। भोट, नुब् मो मि अस् नस्‌ दृष्टव्य टिप्पणी इसी परिवर्त में 27····27, तथा परिवर्त 1 टिप्पणी 62····62।

41. उस कूटागार पर देवताओं के इन्द्र शक्र तथा त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं की परछाई पड़ती दिखाई देती थी। माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व का परिभोग (=वासस्थान) जैसा परिशुद्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं होता। हे भिक्षुओं, =60क=जब देवताओं के इन्द्र, शक्र तथा अन्य देवपुत्र जाना चाहते थे, तब बोधिसत्त्व उनके मन की बात से जान कर दाहिने हाथ को उठा कर फैलाते थे, फैला कर फिर सिकोड़ कर, स्मृति एवं ज्ञान के साथ (यथा-स्थान हाथ को) रखते थे, और माता को कष्ट न होने देते थे। उस समय देवताओं के इन्द्र शक्र तथा अन्य त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं के मन में ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व ने हमें बिदा कर दिया। वे बोधिसत्त्व की तथा बोधिसत्त्व की माता की तीन बार प्रदक्षिणा कर चले जाते थे।

42. हे भिक्षुओं, दोपहर के बीत जाने पर, संध्या के आने पर, सहापति ब्रह्मा अनेक–शतसहस्र देवपुत्रों से घिरे उनके आगे-आगे रह कर, उस दिव्य ओजोबिंदु को लेकर जहाँ बोधिसत्त्व होते थे, वहाँ पहुँचते थे, बोधिसत्त्व को देखने के लिए, वन्दना करने के लिए, पर्युपासना करने के लिए, और धर्म सुनने के लिए। हे भिक्षुओं, सहापति ब्रह्मा को परिवार के साथ आता देख बोधिसत्त्व स्वागत करते थे, फिर बोधिसत्त्व सोने के जैसे दाहिने हाथ को उठाकर सहापति ब्रह्मा तथा ब्रह्मकायिक देवपुत्रों से कुशल-मंगल =60ख=कहते थे, एवं एक उँगली से आसनों की ओर संकेत करते थे। हे भिक्षुओं, यह शक्ति न होती थी (–70–) सहापति ब्रह्मा की कि बोधिसत्त्व की आज्ञा को टाल सकें। हे भिक्षुओं, सहापति ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्र बिछे हुए आसनों पर बैठते थे। उन्हें बैठा जान कर बोधिसत्त्व धर्म की कथा द्वारा उन्हें (धर्म का) दर्शन कराते थे, (धर्म को) ग्रहण कराते, (धर्म के लिए) उत्तेजित करते थे, (धर्म से) हर्ष उप-जाते थे। जिस ओर बोधिसत्त्व हाथ फैलाते थे, उसी ओर मायादेवी मुख करती थीं। उसके उनमें से प्रत्येक के मन में ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व मुझसे ही बात कर रहे हैं, मुझ से ही कुशल-मंगल कह रहे हैं। हे भिक्षुओ,[23] जब सहा-पति ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्र जाना चाहते थे, तब बोधिसत्त्व उनके मन की बात मन से जान कर सोने की जैसी [24]दाहिनी बाँह[24] को उठा कर

23····23. मूल यदा च, भोट, दुगे स्लोङ् दग् गङ् छे, भिक्षवः यदा च, हे भिक्षुओ जब।

24. मूल, दक्षिणबाहुम्। भोट, लग् प गयस् प, दक्षिणहस्तम्।

फैलाते थे, [25]फैलाकर सिकोड़ कर, अवसादनाकारेण अर्थात् विसर्जन या बिदाई के ढंग से हाथ फैलाते थे[25] । [26]और माता को कष्ट न होने देते थे[26] । उससे सहापति ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्रों के मन में ऐसा होता था, कि बोधिसत्त्व ने हमें बिदा कर दिया । =61क= बोधिसत्त्व की तथा बोधिसत्त्व की माता की तीन बार प्रदक्षिणा कर चले जाते थे । और (तब) बोधिसत्त्व स्मृति एवं ज्ञान के साथ (यथा स्थान) हाथ को रखते थे ।

43. हे भिक्षुओं, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर की दिशाओं से, ऊपर से नीचे से, चारों ओर दश दिशाओं से बहुत से शतसहस्र बोधिसत्त्व (गण) बोधिसत्त्व के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन, धर्मश्रवण, तथा धर्म-संगीति के संगायन के लिए आते थे । उनके आने पर बोधिसत्त्व अपने शरीर से प्रभा की सृष्टि कर प्रभामय सिंहासनों का निर्माण करते थे । उनका निर्माण कर उन बोधिसत्त्वों को उन आसनों पर बिठाते थे । तथा उन्हें बैठा हुआ जान कर पूछते थे, पुछवाते थे, इसी ही (--71--) बोधिसत्त्व के महायान (धर्म) के सविस्तर विभाग (विचय, विश्लेषण) को लेकर । उन्हें सभाग (= सदृश गुण-कर्म वाले) देवपुत्रों को छोड़

25····25. मूल, संचार्य विचारयति स्म । संचार्य विचार्यविसादनाकारेण पाणिं संचारयति स्म । यह मूल पाठ स्पष्ट ही है । इसमें कठिन पद अवसादनाकारेण है । णिजन्त आसादयति का प्रयोग ग्रहण करने के अर्थ में होता है । अतः अवसादयति का अर्थ उससे विपरीत अर्थ विसर्जन अर्थ में युक्ति-युक्त है । इसी दृष्टि से अवसादनाकारेण का अर्थ विसर्जन या बिदाई के ढंग से किया गया है । अवसादना शब्द पर (बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 76) एड्जेटंन् साहब ने विशेष विचार नहीं किया है । वे इस सारे पाठ को ही प्रामादिक समझते हैं । भोट, **दे दग् ह् दोङ् बहि् ब्र्द स्तोन तो । दे ल्लर् ह् दोङ् बहि् ब्र्द ब्स्तन् नस् फ्यिर् ब्स्कुम् प ब्यस् तो** = तान् गन्तुं संकेतं दर्शयति स्म । गन्तुं संकेतं दर्शयित्वा पुनः संकोचयति स्म । मूल एवं भोट पाठों की भिन्नता विचारणीय है, पर साधनाभाव में सम्भव नहीं ।

26····26. मूल, मातरं च न बाधते स्म । इससे पूर्व भोट में है—**द्रन् शिङ् शेस् बशिन् लग् प बशग्** = स्मृतः संप्रजानन पाणिं प्रतिष्ठाप्य, स्मृति और ज्ञान के साथ हाथ रख कर । यह पाठ स्थानोचित नहीं जान पड़ता क्योंकि बोधिसत्त्वों के बिदा होने पर हाथ रखने की बात झट-पट आगे कही गई है ।

कर कोई दूसरा नहीं देखता था। हे भिक्षुओ, यही हेतु है, यही कारण है, जो बोधिसत्त्व[27] प्रशान्त हो रही रात में[27] शरीर से प्रभा की सृष्टि करते थे।

44. हे भिक्षुओ, बोधिसत्त्व के कोख में विराजते हुए मायादेवी (अपने) शरीर में लघुता (अर्थात् हलके पन), मृदुता (अर्थात् अकड़ेपन के होने) तथा सौख्यता (अर्थात् नीरोगता) को छोड़ कर गुरुता (अर्थात् भारीपन को) न जानती थीं और पेट के दुःखों का अनुभव न करती थीं। =61ख= न (उन्हें) राग की जलन होती, न द्वेष की जलन, और न मोह की जलन। न (वे) काम-भोग का सोच-विचार करती थीं, न व्यापाद (अर्थात् दूसरों के अनर्थ) का सोच-विचार करती थीं, और न हिंसा (अर्थात् दूसरों के सताने) का सोच-विचार करतीं थीं। (वे) सर्दी या गर्मी की, भूख या प्यास की, अन्धेरे या धूल-धक्कड़ की तकलीफ़ न तो जानती थीं और न देखती थीं। (उन्हें) अच्छे न लगने वाले रूप, शब्द, गंध, रस, तथा स्पर्शों का आभास भी न होने पाता था। (उन्हें) बुरे-बुरे सपने न दिखते थे। (उन्हें) स्त्रियों में (स्वभाव से रहने वाली) न माया ही, न शठता ही, न ईर्ष्या ही (दुखाती थी और) न स्त्रियों के क्लेश ही (=मलिन भाव) ही दुःख देते थे। बोधिसत्त्व की माता उस समय पाँचों शिक्षापदों को ग्रहण कर, शील से युक्त हो, दस कुशल कर्मों में स्थित रहती थी। बोधिसत्त्व की माता के मन में न किसी पुरुष के प्रति अनुराग उपजता था और न किसी पुरुष के मन में ही बोधिसत्त्व की माता के प्रति। कपिलवास्तु नाम के श्रेष्ठ महानगर में, अथवा अन्य जनपदों (=ग्रामों) में जिन किन्हीं स्त्री-पुरुषों तथा लड़की-लड़कों को देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, तथा भूत लगे हुए होते थे, वे सब बोधिसत्त्व की माता के दर्शन भर से स्मृति लाभ कर स्वस्थ हो जाते थे। और वे अमनुष्य शीघ्र ही (उनके भीतर से निकल जाते थे। =62क= जिन प्राणियों को नाना रोगों की छूत लगी होती थी, (जो) वात, पित्त, कफ, तथा संनिपात से उपजे रोगों के कारण पीड़ित रहते थे। (जो) आँखों के रोग से, (–72–) कानों के रोग से, नाक के रोग से, जीभ के रोग से, होठों के रोग से, दाँतों के रोग से, गले के रोग से, गलगण्ड-रोग से, उरगण्ड (छाती के गण्ड), कुष्ठ (कोढ़), किलास (श्वेत-कुष्ठ), शोष (सुखना नामक शिशुरोग), उन्माद, अपस्मार (मिर्गि), ज्वर, पिटक (फोड़े-फुंसी), विसर्प (दाह के साथ फैलने वाले फोड़े) तथा विचर्चिका (बहने वाले एग्ज़िमा) आदि रोगों से पीड़ित रहते थे, उनके माथे पर बोधिसत्त्व की माता दाहिना हाथ रखती थी (और) वे हाथ रखने के साथ ही साथ नीरोग होकर अपने-अपने घर चले जाते थे। यहाँ तक कि मायादेवी धरती के ऊपर

27····27. द्रष्टव्य परिवर्त **1.** टिप्पणी **62····62**।

से घास-फूस भी उठा कर यदि रोगी प्राणियों को दे देती थीं तो वे लेने के साथ-साथ ही नीरोग तथा निर्विकार हो जाते थे। जब मायादेवी अपना दाहिना पासा देखती थीं, तब बोधिसत्त्व को कोख में विराजते उस प्रकार देखती थीं, जिस प्रकार अत्यन्त शुद्ध दर्पण के घेरे में मुखमण्डल दीखता है। (इस प्रकार) देखकर सन्तुष्ट, आनन्दविभोर, उत्फुल्लमन, प्रमुदित प्रीतिमन्त तथा मन से सुखी होती थीं।

45. हे भिक्षुओ, माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व के अधिष्ठान[28] (=मंगलकामना) से नित्य-निरन्तर, रात-दिन दिव्य बाजे बजते रहते थे, दिव्य फूल = 62ख = बरसते रहते थे। समय पर देवता पानी बरसाते थे। समय पर हवाएँ चलती थीं। समय पर ऋतु तथा नक्षत्र बदलते थे। राज्य कुशलक्षेम का, सुभिक्ष का, [29]सुसमाहित (--भाव) का तथा अनाकुलता का अनुभव करता था[29]। कपिलवास्तु नामक श्रेष्ठ महानगर में शाक्य लोग तथा अन्यलोग खाते-पीते थे, आनन्द मनाते थे, खेलते थे,[30] गाते थे[30], दान देते थे, और पुण्य करते थे। चौमासे (के बाद की) चाँदनी (रात) की भाँति सभी [31] [32]परमप्रेम की क्रीडाओं के सुखमय विहारों से विहरते थे[32]। राजा शुद्धोदन भी ब्रह्मचर्य ग्रहण कर, राज-काज छोड़ कर, तपोवन में गए (व्यक्ति) की भाँति अत्यन्त शुद्ध हो धर्म के ही पीछे लगे रहते थे।

---

28. मूल, अधिष्ठितं। अधिष्ठितेन पाठ होने से वाक्य ठीक बैठता है। तुलनीय भोट, बियन् गि्य लॅब्स् क्यिस्, अधिष्ठानेन, मंगल कामना से।

29····29. मूल, सुमनाकुलमनुभवति स्म। भोट, ह्खुग् प मेद् चिङ् ह्ग् मेद् पर् ग्युर् ते = अनाकुलं निःशब्दं भवति स्म। कदाचित् मूल पाठ सुसमाहित-मनाकुलमनुभवति स्म था।

30. मूल, प्रविचारयन्ति स्म = (आमोद-प्रमोद में अपने को) चलाते थे। भोट, म्गुर् स्प्योद् दो, गीतं चरन्ति स्म। संकुचित में प्रविचारयन्ति स्म = गायन्ति स्म।

31. मूल, एकान्तरे। भोट, थम्स् चद् सर्वे। शब्द के अर्थ में एकान्तर शब्द अप्रचलित है।

32····32. मूल, क्रीडासुखविहारैर्विहरन्ति स्म। भोट, दृगह् म्छोग् गि चें शिङ् ब्दे बर् गृनस् पस् गृमस् पर् ग्युर् तो, वररतिक्रीडासुखविहारैर्विहरन्ति स्म।

46. (–73–) हे भिक्षुओं, इस तरह से माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व ऋद्धिप्रातिहार्य (= ऋद्धि-सिद्धि के चमत्कार) के साथ समन्वित होकर रहते थे। वहाँ उस समय भगवान् ने आनन्द से कहा—हे आनन्द ! क्या तुम बोधिसत्त्व के उस रत्नव्यूह परिभोग को देखोगे, जिसमें बोधिसत्त्व माता की कोख में विराजते हुए विहार करते थे। (आनन्द) बोले। देखूँगा भगवन्, देखूँगा सुगत। तथागत ने (तब) आयुष्मान् आनन्द, देवताओं के इन्द्र शक्र, चारों लोक के पालों, तथा = 63क = अन्य देवताओं एवं मनुष्यों को दिखाया। देख कर वे संतुष्ट, आनन्दविभोर, प्रफुल्लमन, प्रमुदित, प्रीतिमन्त, तथा मन से सुखी हुए। और फिर सहापति ब्रह्मा ने उसे ब्रह्मलोक में चढ़ाकर चैत्य के लिए प्रतिष्ठापित किया।

47. तब भगवान् फिर भिक्षुओं से बोले। हे भिक्षुओं, इस प्रकार दस मास तक कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व ने छत्तीस खर्ब देवताओं और मनुष्यों को तीन यानों में परिपाचित किया—पक्का किया। जिसके विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है।

(माता की कोख में विराजमान बोधिसत्त्व का वर्णन)

(पंचम चामर छंद)

यद् बोधिसत्त्व[33]अग्रसहैव मातुः कुक्षि संस्थितः
प्रकम्पिता च षड्विकार मेदिनी सकानना।
सुवर्णवर्ण आभ मुक्ता सर्वापाप शोधिता
प्रहर्षिताश्च देवसंघ[34] धर्मगञ्जु भेष्यते[34] ।।178।।

जब उत्तम जीवधारी बोधिसत्त्व माता की कोख में विराज गए, तब वनों के सहित (यह) धरती छह प्रकार से काँप उठी। सोने के रंग की प्रभा छूटी, सारे नरक शुद्ध हो गए। और "धर्म का खजाना खुलेगा"—(यह सोच कर) देव-गण आनन्द में मगन हो गए।

---

33. मूल, के बोधिसत्त्व के स्थान में भोट पाठ **ग्र्यल् स्रस्**, राजपुत्रः अथवा जिनपुत्रः है।

34····34. धर्मगञ्जु भेष्यते (= धर्मगञ्जो भविष्यति = धर्म का खजाना खुलेगा) के स्थान में भोट पाठ है—**छोस् क्यि ग्र्यल् पोर् ह्.ग्युर्** (= धर्मराज भेष्यते, धर्मराजो भविष्यति, धर्म का राजा अवतार लेगा।

सुसंस्थितो महाविमानु नेकरत्नचित्रितो
यत्र विरु आरुहित्व तिष्ठते विनायकः।
गन्धोत्तमेन चन्दनेन पूरितो विरोचते
यस्यैककर्षु[35] त्रिसहस्र मूल्य[36] रत्नपूरिता ॥179॥

(वह) सुसंस्थित अर्थात् सुन्दर संस्थान वा आकार-प्रकार वाला, अनेकों रत्नों से चित्र-विचित्रित महाविमान था, जिस पर वीर विनायक (=बुद्ध) चढ़कर विराजते थे। (वह ऐसे) उत्तम-गन्ध के चन्दन से लिपा-पुता सोहता था, जिसके एक कर्ष (=चौथाई पल वा 16 माषा) का दाम रत्नों से पूर्ण त्रिसाहस्र-महासाहस्र-जगती (पर्याप्त नहीं) है।

महासहस्रलोकधातु हेष्वि भिन्दियित्वना
उदागतो गुणाकरस्य पद्म ओजबिन्दुको।
(–74–) सो सप्तरात्र[37] पुण्यतेज ब्रह्मलोकि उद्गतो
गृहीत्व ब्रह्म ओजबिन्दु बोधिसत्त्व[38] = 63ख = नामयी ॥180॥

त्रिसहस्र-महासाहस्र-लोक धातु को नीचे से भेद कर गुणों के आकर (भगवान्) के लिए ओज-बिंदु वाला पद्म ऊपर आया था (और वह) सप्ताह भर में पुण्य के तेज से ब्रह्म लोक में जा निकला था। ब्रह्मा (उस) ओज-बिंदु को लेकर बोधिसत्त्व को अर्पित करते थे।

न अस्ति सर्वसत्त्वकायि मुक्तु यो जरेय तं
अन्यत्र वीर[39] बोधिसत्त्व ब्रह्मकल्पसंनिभे।
अनेककल्प पुण्यतेज ओजविन्दु संस्थितो
भुजित्व सत्त्व काय चित्त ज्ञान शुद्ध गच्छिषु ॥181॥

सब प्राणियों के समूह में, ब्रह्मा के तुल्य वीर बोधिसत्त्व को छोड़कर (ऐसा कोई) नहीं, जो उसे खाकर पचा सकता। (वह) ओज-बिन्दु अनेक कल्पों तक

---

35. एककर्षु = एक कर्ष। 1 कर्ष = 16 माषा = 1/4 पल = 1/400 तुला। भोटानुवाद में इसके लिए शब्द है स्रङ् फे्यद् और उसका अर्थ है अर्ध-पल (शरच्चन्द्रदास का भोट कोश)।
36. मूल, मूल्य। भोट, रेन् मि छोग्, मूल्यं न पर्याप्तम्, मूल्य काफी नहीं।
37. मूल, सप्तरात्र = भोट, ग्शग् बदुन्, सप्ताह।
38. मूल, बोधिसत्त्व। भोट, ग्यॅल् ब हि् स्रस्, जिनपुत्र। दोनों पदों में शब्द भेद है, पर अर्थ भेद नहीं।
39. मूल, भूरि। भोट, द्पअ बो, वीर।

(किए हुए) पुण्य के तेज से (कमल के भीतर) भली-भाँति स्थित हुआ था, जिसे खाकर प्राणियों के तन, मन तथा ज्ञान शुद्ध हो जाते थे।

शक्रब्रह्मलोकपाल पूजनाय नायकं
त्रीणि काल आगमित्व बोधिसत्त्व अन्तिकं।
वन्दयित्व पूजयित्व धर्म श्रुणुते वरं
प्रदक्षिणं करित्व सर्व गच्छिषू यथागता ॥182॥

इन्द्र, ब्रह्मा, (तथा अन्य) लोकपाल नायक बोधिसत्त्व की पूजा के लिए तीनों बेला पास आकर, वंदना कर, पूजा कर, श्रेष्ठ धर्म सुनते थे (और) प्रदक्षिणा कर सब जैसे आते थे वैसे चले जाते थे।

बोधिसत्त्व धर्मकाम एन्ति लोकधातुषु
प्रभावियूह आसनेषु ते निषण्ण दृश्यिषु।
परस्परं च श्रुत्व धर्म यानश्रेष्ठमुत्तमं
प्रयान्ति सर्वि हृष्टचित्त वर्णमाल भाषतो ॥183॥

(अन्य) लोक-धातुओं से धर्म की कामना वाले बोधिसत्त्व आते थे, (और गर्भस्थ बोधिसत्त्व के तेज) की प्रभा से बने हुए आसनों पर वे बैठे दीखते थे। और परस्पर उत्तम महायान धर्म को सुनकर सब चित्त में प्रसन्न हो स्तुतियाँ गाते चले जाते थे।

ये च इष्टिदारका सुदुःखिता तदा अभूत्
भूतस्पृष्ट क्षिप्तचित्त नग्न पांशुम्रक्षिता।
ते च सर्वं दृष्ट्व माय भोन्ति लब्धचेतना
स्मृतीमतीगतीउपेत गेहिं गेहि गच्छिषु ॥184॥

और उस समय जो स्त्रियाँ और बच्चे अत्यन्त दुःखी थे, जिन्हें भूत लगे हुए थे, जिनका चित्त ठिकाने न था, जो नंगे रहते थे, जो धूल लपेटे रहते थे, वे सब माया (—देवी) को देखकर होश में आ जाते थे, वे स्मृति, मति, तथा गति पाकर अपने-अपने घर चले जाते थे।

वाततो वा पित्ततो वा श्लेष्मसंनिपातकैः
ये च चक्षुरोग श्रोतरोग कायचित्तपीडिता।
नैकरूप नैकजाति व्याधिभिश्च ये हताः
स्थापिते स्मः माय मूर्ध्नि पाणि भोन्ति निर्जरा ॥185॥

और जो वात से, या पित्त से, (या) कफ से, (या) संनिपात से, (या) आँख के रोग से (या) कान के रोग से, काया तथा चित्त में पीड़ित रहते थे,

तथा जो नाना-प्रकार की एवं नाना-जाति की व्याधियों के मारे हुए थे, वे माया (देवी) के द्वारा माथे पर हाथ रखते ही नीरोग हो जाते थे।

(--75--) अथापि वा तृणस्य तूलि भूमितो गृहीत्वना
=64क= ददाति माय आतुराण सर्वि भोन्ति निर्जरा।
सौख्य प्राप्ति निर्विकार गेहि गेहि गच्छिषु
भैषज्यभूति वैद्यराजि कुक्षि संप्रतिष्ठते ॥ 186॥

इसके अतिरिक्त (सब रोगों के) भैषज्य स्वरूप, वैद्यराज (बोधिसत्त्व) के (माता की) कोख में विराजने के समय माया (--देवी) रोगियों को (यदि) तिनकों का गुच्छा भी धरती से उठाकर दे देती थीं (तो) सब निरोग हो जाते थे, सुख पाकर, विकार से रहित हो, अपने-अपने घर चले जाते थे।

यस्मि कालि माया देवि स्वा तनुं निरीक्षते
अदृशाति बोधिसत्त्व कुक्षिये प्रतिष्ठितं।
यथैव चन्द्र अन्तरीक्ष तारकै परिवृतं
तथैव नाथु बोधिसत्त्व लक्षणैरलंकृतं ॥187॥

जिस समय माया देवी अपना तन देखती थीं (उस समय) बोधिसत्त्व को (अपनी) कोख में विराजमान देखती थीं। जैसे आकाश में चन्द्रमा नक्षत्रों से घिरा हुआ होता है, वैसे ही (जगत्--) नाथ बोधिसत्त्व लक्षणों से अलंकृत थे।

नो च तस्य राग-द्वेष नैव मोह बाधते
कामछन्दु नैव तस्य इर्षि नैव हिंसिता।
तुष्टचित्त हृष्ठचित्त प्रीतिसौमनस्थिता
क्षुधा पिपास शीत उष्ण नैव तस्य बाधते ॥188॥

उन (माया देवी) को न राग पीड़ा देता था, न द्वेष, और न मोह, न कामाभिलाष और ईर्ष्या, न हिंसा। मन से संतुष्ट, मन से प्रसन्न, प्रीत और सौमनस्य में ठहरी हुई उन (माया देवी) को भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी नहीं सताते थे।

अघट्टिताश्च नित्यकाल दिव्यतूर्य वादिषु
प्रवर्षयन्ति दिव्यपुष्प गन्धश्रेष्ठ शोभना।
देव पश्यि मानुषाश्च मानुषा अमानुषां
नो विहेठि नो विहिंसि तत्र ते परस्परं ॥189॥

बिना बजाए ही सब समय दिव्य बाजे बजते थे, शोभन उत्तम गन्ध वाले दिव्य पुष्प बरसते थे। देवता मनुष्यों को देखते थे और मनुष्य देवताओं को। वहाँ पर वे आपस में न सताते थे, (और) न मार-काट करते थे।

रमन्ति सत्त्व कीडयन्ति अन्नपानु देन्ति च
आनन्दशब्द घोषयन्ति हृष्टतुष्टमानसाः।
क्षमारजो[40] अनाकुला च कालि देव वर्षते
तृणाश्च पुष्प ओषधीय तस्मि कालि रोहिषु ॥190॥

प्राणी मौज उड़ाते थे, क्रीड़ाएँ करते थे, (एक दूसरे को) खान-पान देते थे, मन में हर्ष और संतोष से युक्त हो आनन्द का नारा लगाते थे। राज्य कुशल-क्षेम वाला और उपद्रव से रहित था। समय पर देव बरसता था। घास, फूल, पुष्प तथा औषधियाँ उस समय उगती रहती थीं।

राजगेहि सप्तरात्र रत्नवर्ष वर्षितो
यतो दरिद्र सत्त्व गृह्य दान देन्ति भुञ्जते।
(--76--) नासि सत्त्व यो दरिद्र यो च आसि दुःखितो
मेरुमूर्ध्नि नन्दनेव = 64ख = एव सत्त्व नन्दिषु ॥191॥

राजभवन में सप्ताह भर रत्नों की वर्षा होती रही, जिसे धनहीन प्राणी लेकर दान देते थे (और) खाते थे। (ऐसा कोई) प्राणी नहीं था, जो धनहीन हो तथा दुःखी हो। सुमेरु के शिखर पर मानो नन्दन (वन) में ही (हों) इस प्रकार प्राणी आनन्द मनाते थे।

सो च राजु शाकियान पोषधी उपोषितो
राज्यकार्यु नो करोति धर्मदेव गोचरी।
तपोवनं च सो प्रविष्ट माय-देवी पृच्छते
कीदृशेन्ति कायि सौख्य अग्रसत्त्वधार ति ॥192॥[41]

शाक्यों का वह राजा उपोसथ (के व्रत का) उपवास ग्रहण कर, धर्म के विषय में लगा रह कर, राज-काज नहीं करता था। वह तपोवन में प्रवेश पा माया देवी से पूछता था कि हे श्रेष्ठ-सत्त्व को धारण करने वाली, तेरे शरीर का स्वास्थ्य कैसा है।

(इति ललितविस्तरे गर्भावक्रान्तिपरिवर्तो नाम षष्ठोऽध्यायः)

---

40. मूल, क्षमारजो = क्षेमं राज्यं। तुलनीय, भोट ग्र्यल् पो हि स्रेद् ब्दे, सुख (पूर्ण) राज्य।

41. इस परिवर्तन में आई हुई गाथाओं की संस्कृत छाया दी जा रही है........ हिमरजतनिभश्च षड्विषाणः सुचरणः (= पृष्ठ पादाभ्यां शोभनाभ्यां युक्तः) चारुभुजः (= अग्रपादाभ्यां शोभनाभ्यां युक्तः) सुरक्तशीर्षः। उदरमुपगतो गजप्रधानो ललितगतिर् वज्रदृढगात्रसंधि ॥156॥ न च

मम सुखं जातु–एवं रूपं दृष्टमपि श्रुतं नापि चानुभूतम् । कायसुखचित्त–सौख्यभावा यथैव ध्यानसमहिता–अभूवम् ॥157॥········न स्मरामि रणशौण्ड–मूर्ध्नि संस्थस्य मम–एवं गुरु शरीरं मन्ये यादृशमद्य । स्वकुलगृह-मद्य न प्रभवामि प्रवेष्टुं किमिह मम भवेद् अङ्ग कमनुपृच्छेयं चाहम् ॥158॥ इति ।········व्रततपोगुणयुक्तस् त्रिषु लोकेषु पूज्यो मैत्रीकरुणालाभी पुण्य-ज्ञानाभिषिक्तः । तुषितपुराच् च्युत्वा बोधिसत्त्वो महात्मा नृपते तव सुतत्वं (प्राप्य--इति शेषः) मायाकुक्षावुपपन्नः ॥159॥····दशनखैः (अञ्जलिम् इतिशेषः) तदा कृत्वा स्वं शिरः कम्पयन् नृपतिरनुप्रविष्टः सत्कारानुयुक्तः । मायां तदा निरीक्ष्य मानदर्पापनीतां वद करवाणि किं ते, कं प्रयोगं भण ॥160॥····हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः सुचरणः सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा । गजवरो दृढसंधिर् वज्रकल्पः सुरूप उदरे मम प्रविष्टस् तस्य हेतु शृणुष्व (श्रावय) ॥161॥ वितिमिरान् त्रिसाहस्रान् (लोक धातून्) पश्यामि भ्राजमानान् देवनयुता देवीं स्तुवन्ति शयानाम । न च मम खिलदोषो नैव रोषो न मोहो ध्यानसुखसंगता जानामि शान्तचित्ता ॥162॥ साधु नृपते शीघ्रं ब्राह्मणानानयस्मन् वेदस्वप्नपाठेषु ग्रहेषु विधिज्ञान् । स्वप्नं मम हि ये--इमं व्याकुर्युस्तत्त्वयुक्तं किमनेन मम भवच्छ्रेयः पापं (वा) कुलस्य ॥163॥ वचनमिदं श्रुत्वा पार्थिवस्तत्क्षणं ब्राह्मणान् कृतवेदानान-यच्छास्त्रपाठान् । माया पुरतः स्थित्वा ब्राह्मणानाम् अवोचत् स्वप्नो मयेह दृष्टस्तस्य हेतु (= लक्षणं) शृणुष्व (= श्रावय) ॥164॥ 165 (= 161) ॥ वचनमिदं श्रुत्वा ब्राह्मणा एवमाहुः, प्रीतिर्विपुला चिन्त्या (भोटानुसारं लभ्या) नास्ति पापं कुलस्य । पुत्रं त्वं जनयिष्यसि लक्षणै-र्भूषिताङ्गं राजकुल कुलीनं चक्रवर्तिनं महात्मानम् ॥166॥ स चेत् (यदि) पुरं विहाय कामं राज्यं च गेहं प्रव्रजितो निरपेक्षः सर्वलोकानुकम्पो बुद्धो भवति (= भविष्यति) एष दक्षिणीय स्त्रिलोक्याम् अमृतरसवरेण तर्पयेत् सर्वलोकम् ॥167॥ व्याकृत्य गिरं सौम्यां भुक्त्वा पार्थिवभोजनम् । आच्छा-दनानि चोद्गृह्य प्रक्रान्ता ब्राह्मणास्ततः ॥168॥····169 (अस्य श्लोकस्य भाषा तत्समैव केवलं तिष्ठ उपक्षको इति तिष्ठोपक्षकः--इति पठनीयः) ॥ ····विमानाः····दशाम्यहं ॥170॥····ददाम्यहम् ॥171॥ यात्रैवोषितः पूर्वं तुषितेषु महायज्ञाः । तदेव भवनं रम्यं बोधिसत्त्वस्य ददाम्यहम् ॥172॥···· रत्नमयम् ।····173॥ 0 ॥174॥ ॥ 0 ॥175॥········वत्स्यति ॥176॥ ····महाव्यूहे स्थितः समाधौ--अचिन्त्यान् निर्मितान् निर्माय । सर्वेषां देवा-नाम् अभिप्रायाः पूरिताः, नृपस्य पूर्णश्च तदा मनोरथः ॥177॥ ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ यदा बोधिसत्त्व (भोटानुसारमत्र पाठे

राजपुत्रो) ऽग्रसत्त्वो मातुः कुक्षौ सस्थितः (तदा) प्रकम्पिता च षट्प्रकारं मेदिनी सकानना । सुवर्णवर्णा--आभा युक्ता सर्वापायाः शोधिताः प्रहर्षिताश्च देवसंघा धर्मगञ्जो (भोटानुसारं धर्मराजो) भविष्यति (--इति) ॥178॥ सुसंस्थितो महाविमानो नैकरत्नचित्रितो यत्र वीर आरुह्य तिष्ठति विनायकः। उत्तमगन्धेन चन्दनेन पूरितो विरोचते यस्यैककर्षो त्रिसाहस्र (महासाहस्रा जगती) मूल्यं (न पर्याप्तम् इति भोटानुवादानुसारमधिकम्) रत्नपूरिता ॥179॥ (त्रिसाहस्र--) महासाहस्रलोकधातुम् अधस्ताद् भित्वा उदागतो गुणाकरस्य पद्म ओजोबिन्दुकः । स सप्तरात्रेण पुण्यतेजसा ब्रह्मलोके उद्गतः, गृहीत्वा ब्रह्मा ओजोबिन्दुं बोधिसत्त्वाय उपाहरत । बोधिसत्त्वाय इत्यस्य स्थाने भोटभाषायां जिनपुत्राय इति पाठः ॥180॥ नास्ति सर्व-सत्त्व(नि) काये भुक्त्वा यो जारयेत् तम् अन्यत्र (=ऋते) भूरेः (भोटा-नुवादानुसारं वीरात्) बोधिसत्त्वाद् ब्रह्मकल्पसंनिभात् (संनिभपदमत्र पुनरुक्तं कल्पशब्देनैव सादृश्यबोधनात्) अनेककल्पपुण्यतेजसौजोबिन्दुः संस्थितो (यं) भुक्त्वा सत्त्वानां कायश्चित्तं ज्ञानं (च) शुद्धिमगमन् ॥181॥ शक्रब्रह्मलोक-पालाः पूजयितुं नायकं त्रीन् कालान् आगम्य बोधिसत्त्वमन्तिकम् । वन्दित्वा पूजयित्वा धर्मं शृण्वते वरं प्रदक्षिणां कृत्वा सर्वेऽगमन् यथागतम् ॥182॥ बोधिसत्त्वा धर्मकामा आयन्ति लोकधातुभ्यः, प्रभाव्यहेष्वासनेषु ते निषण्या अदृश्यन्त । परस्परं च श्रुत्वा धर्मं यानश्रेष्ठमुत्तमं प्रयान्ति सर्वे हृष्टचित्ता वर्णमालां (=स्तुतिमालां =स्तुतीः) भाषमाणाः ॥183॥ ये च स्त्रीदारकाः सुदुःखितास्तदाभूवन् भूतस्पृष्ठाः क्षिप्तचित्ता नग्नाः पांसु-म्रक्षिताः । ते च सर्वे दृष्ट्वा मायां भवन्ति लब्धचेतनाः स्मृतिमतिगत्युपेता गेहे गेहे (=स्वं स्वं गेहं) आगमन् ॥184॥ वाततो वा पित्ततो वा श्लेष्म-संनिपातकैर् ये चक्षूरोगेण श्रोत्ररोगेण कायचित्तयोः पीडिताः । नैकरूपाभि-र्नैकजातिभिर्व्याधिभिश्च ये हताः स्थापिते स्म मायया मूर्धनि पाणौ भवन्ति निर्ज्वराः ॥185॥ अथापि वा तृणस्य तूलिं (=गुच्छं) भूमितो गृहीत्वा ददाति मायातुरेभ्यः सर्वे भवन्ति निर्ज्वराः । सौख्ये प्राप्ते निर्विकारा गेहे गेहे (=स्वं स्वं गेहं) आगमन् ॥186॥ यस्मिन् काले माया देवी स्वां तनुं निरीक्षते (स्म) अदर्शद् बोधिसत्त्वं कुक्षौ प्रतिष्ठितम् । यथैव चन्द्रोऽन्तरिक्षे तारकैः परिवृतस् तथैव नाथो बोधिसत्त्वो लक्षणै-रलंकृतः ॥187॥ न च तां रागद्वेषौ नैव मोहो बाधते कामच्छन्दो नैव ता ईर्ष्या नैव हिंसितम् । तुष्टचित्तां हृष्टचित्तां प्रीतिसौमनस्य--स्थितां क्षुधा पिपासा शीतम् उष्णं नैव तां बाधते ॥188॥ अघट्टिताश्च नित्यकालं दिव्यतूर्याण्यवादिषुः प्रवर्षन्ति दिव्यपुष्पाणि गन्धश्रेष्ठानि शोभनानि ।

देवा अपश्यन् मानुषांश्च मानुषा अमानुषान्, नापि पीड नव्यहिंसिषुस्तत्र ते परस्परम् ॥189॥ रमन्ते सत्त्वाः क्रीडन्त्य् अन्नपानं ददति च; आनन्द-शब्द घोषयन्ति हृष्टतुष्टमानसाः। क्षेमं राज्यमनाकुलं च काले देवो वर्षति तृणानि च पुष्पाण्योषधयस् तस्मिन् कालेऽरुक्षन् ॥190॥ राजगेहे सप्त-रात्रं (=सप्ताहं) रत्नवर्षं वृष्टम्, यतो दरिद्राः सत्त्वा गृहीत्वा दानं ददति भुञ्जते। नासीत् सत्त्वो यो दरिद्रो यश्चासीद् दुःखितो मेरुमूर्ध्नि नन्दन इव-एव सत्त्वा अनन्दिषुः ॥191॥ स च राजा शाक्यानाम् उपवसथ (व्रत)म् उपोषितो राज्यकार्यं न करोति धर्मस्यैव गोचरः। तपोवनं च स प्रविष्टो मायादेवीं पृच्छति कीदृशमिति काये सौख्यम् अग्रसत्त्वधारे ते ॥192॥

॥ ७ ॥

॥ जन्मपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 76	(पंक्ति 8)—117	(पंक्ति 15)
भोटानुवाद 64ख	(पंक्ति 2)—93क	(पंक्ति 4)

|7|

॥ ७ ॥

जन्मपरिवर्त

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार दस मास निकल जाने पर, बोधिसत्त्व के जन्म का घड़ी-मुहूर्त आने पर, राजा शुद्धोदन के घर के उपवन में बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए थे—(1) सब फूलों की[1] कलियाँ लग कर[1] न फूल रही थीं, (2) पोखरों में उत्पल, पद्म, कुमुद, तथा पुण्डरीकों में मुकुल लग कर न खिल रहे थे, (3) उस समय फूल दे कर फल देने वाले वृक्ष धरती के तल से निकल कर [2]मुकुलित हो कर[2] (भी) न फल रहे थे, (4) आठ रत्नवृक्ष प्रकट हो रहे थे, (5) बीस लाख रत्नों के विधान ऊपर आकर ठहर रहे थे, (6) अन्तःपुर में रत्नों के अंकुर निकल रहे थे, (7) सुगन्धित तेल से सुवासित[3] ठंडे और गरम गन्धजल[3] बह रहे थे, (8) हिमालय पर्वत की तराई से सिंह के छौने आ-आकर गरजते हुए श्रेष्ठ कपिलवास्तु नगर की प्रदक्षिणा कर द्वार के पास ठहरे होते थे, (9) (वे) किसी प्राणी की हिंसा न करते थे, (10) पाँच सौ श्वेत रंग के हाथियों के छौने आकर राजा शुद्धोदन के चरणों को अपनी सूँड़ को उगली से खुरचते =65क= थे, (11) करधनी बाँधे हुए देवताओं के बच्चे राजा शुद्धोदन के अन्तःपुर में गोद से (–77–) गोद में पलथा लगाते दीखते थे, (12) गगन-तल में आधे शरीर से झूलती हुई, नाना-प्रकार की पूजा-सामग्री लिए, नाग-कन्याएँ दिखाई देती थीं, (13) दस हजार नाग-कन्याएँ मोर-पंखे लिए गगन-तल पर खड़ी दीखती थीं, (14) दस हजार (जल से) भरे घड़े महानगर कपिलवास्तु की प्रदक्षिणा करते दिखाई देते थे, (15) दस हजार देवकन्याएँ सुगन्धित जल से भरी झारियाँ लेकर (अपने-अपने) माथे पर उठाती हुई खड़ी दिखाई देती थीं, (16) दस हजार देवकन्याएँ छत्र, ध्वजाएँ, तथा पताकाएँ

1····1. मूल, सुङ्गीभूतानि। भोट, ख् ह्‌बुस् नस् कोरकितानि भूत्वा, कली लग कर। कली के अर्थ में सुङ्ग शब्द सम्भवतः शुङ्गा (=शूक, साकुर) का अपभ्रंश है। बु० हा० सं० डि० में इसका संग्रह होना चाहिए।

2····2. मूल, क्षारकजाताः। भोट, खह्‌बुस् नस्, कोरकिताः सन्तः, मुकुलित हुए।

3····3. मूल गन्धोदकशीतोष्णाः। भोट स्पोस् छु, गन्धोदकाः।

लिए खड़ी दिखाई देती थीं, (17) कई लाख अप्सराएँ, (कोई) शंख, (कोई) भेरियाँ, (कोई) मृदङ्ग और (कोई) घंटे लिए हुए प्रतीक्षा करती खड़ी दिखाई देती थीं, (18) सब हवाएँ ठहरी हुई (थीं) न चल रही थीं, (19) सब नदियाँ और झरने न बहते थे, (20) चन्द्रमा और सूर्य के विमान (= आकाशचारी रथ) तथा नक्षत्र एवं ज्योतिर्गण (= राशि-मण्डल) न घूम रहे थे, (21) पुष्य-नक्षत्र का योग था, (22) राजा शुद्धोदन का घर रत्न के समूह के समान चमकता-दमकता विराजमान था, (23) अग्निदेव न जल रहे थे, (24) कूटागारों (= अंटो) के, महलों के, (राज-द्वार के) तोरणों के, तथा द्वारकों अर्थात् बारादरियों के (सब) तलों में मणि तथा रत्न लटकते दिखाई देते थे, (25) दूष्यों अर्थात् धुस्सों (= वस्त्रविशेषों) के गंजों (= खजानों) के तथा रत्नों के गञ्जों के = 65ख =[4] दरवाजे खुले[4] दिखाई देते थे, (26) कौओं की, उल्लुओं की, गीधों की, भेड़ियों की, तथा सियारों की बोलियाँ अन्तर्धान हो गई थीं, (27) शुभ (शकुन दरसाने वाले) शब्द उत्पन्न हो-हो कर सुनाई पड़ते थे, (28) सब जानपदों अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के काम-काज निपट चुके थे, (29) उत्कूल-निकूल अर्थात् ऊँचे-नीचे पृथिवी-प्रदेश समतल हो गए थे, (30) सब वीथियाँ (= मार्ग),[5] चत्वर (चौराहे)[5], श्रृंगाटक (= तिराहे), रथ्याएँ (= मार्ग जिसके दोनों ओर घर हों), तथा[6]अन्तरापणमुख (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाजारों के मण्डल)[6] हथेली जैसे मँजे-मँजाए, फूल बिखेर कर सजाए शोभा देते थे, (31) सब (गर्भ से) गुर्वी (भारी कोख वाली स्त्रियाँ) सुख से प्रसव करती थीं, (32) सब शाल-वन के देवता पत्तों के बीच अर्धकायों (अर्थात् ऊपर के शरीरों) का (ऋद्धि से) निर्माण कर नमस्कार करते हुए खड़े दिखाई देते थे। बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए थे।

2. (–78–) तदनन्तर माया देवी ने बोधिसत्त्व के जन्म के घड़ी-मुहूर्त को जान कर, बोधिसत्त्व के ही तेज के प्रताप से, रात के पहर पहल में राजा शुद्धोदन के पास जा कर, गाथाओं द्वारा (यों) कहा—

4····4. मूल, प्रावृता (= प्रगतं आवृतं येषां ते, जिनके द्वारा खुल चुके हैं वे)। भोट, स्गो फ्ये बर् (स्न ङ् बा); विवृतद्वाराः (संदृश्यन्तेस्म), खुले दरवाजे वाले दिखाई देते थे।

5····5. चत्वर शब्द का अर्थ आँगन भी होता है। पर यहाँ अर्थ चौराहा है। तुलनीय, भोट, लम् ग्यि म्दो, चौराहा।

6····6. अन्तपरापण मुख के लिए भोट में अन्तरापणमण्डल है। तुलनीय, छोङ् ह्, वुस् क्यि ह् खोर्।

(मालिनी छन्द)

(शुद्धोदन के प्रति माया देवी की गाथाएँ)

देव शृणु हि मह्यं भाषतो यं मतं मे
अचिर[7] चिरचिरेणा[8] जात उद्यान बुद्धिः।
यदि च तव न रोषो नैव दोषो न मोहः[9]
क्षिप्रमहु व्रजेया क्रीडउद्यानभूमि ॥193॥

हे देव, जो मुझे पसन्द है, (वह, कहती हुई मुझसे शीघ्र सुनिए। अतिचिर-काल के बात उद्यान (जाने) का मन हुआ है। यदि आप को रोष न हो, दोष (= द्वेष) न हो, मोह न हो, (तो) मैं शीघ्र क्रीड़ोद्यान भूमि को जाऊँ।

त्वमिह तपसि खिन्नो धर्मचित्तप्रयुक्तो
अहु च चिर प्रविष्टा[10] शुद्धसत्त्वं धरेन्ती।
द्रुमवर[11] प्रतिबुद्धाः फुल्लिता[11]शालवृक्षाः = 66क =
युक्त भविय देवा गन्तुमुद्यानभूमि ॥194॥

हे देव, तुम धर्म में चित्त लगा तप से खिन्न हो चुके हो। और मैं शुद्ध सत्त्व को धारण करती हुई चिर काल से भीतर पड़ी रही हूँ। वृक्षों में श्रेष्ठ शाल के वृक्ष फूल उठे हैं, (मानों वे सो कर अब) जग गए हों। उद्यानभूमि को जाना ठीक रहेगा।

ऋतु प्रवर वसन्तो योषितां मण्डनीयो
भ्रमरस्वरविघुष्टाः कोकिलबर्हिगीताः।
शुचिरुचिरविचित्रा भ्राम्यते पुष्परेणुः
साधु ददहि आज्ञां गच्छमो मा विलम्बः ॥195॥

स्त्रियों को सुन्दरता प्रदान करने वाला श्रेष्ठ ऋतु वसन्त है। इसमें भौंरे अच्छी तरह गूँज रहे हैं, कोयल और मोर गा रहे हैं, पवित्र, सुन्दर तथा रंग-बिरंगी फूलों की धूल उड़ रही है। अच्छा हो कि आज्ञा दें। (हम सब) चलें। देर न हो।

---

7. भोट में इस शब्द का अनुवाद नहीं हुआ है।
8. चिरचिरेणा का भोट में अनुवाद है—युन् रिङ् रिङ् पो ह्. वस् नस्, चिर-चिरकालात्ययेन, बहुत-बहुत समय बीतने पर।
9. भोट, फ्र ग् दोग्, ईर्ष्या।
10. भोट, लगुस् ल (= यिन् प), अस्मि।
11....11. भोट, मे तोग् ह्. बुस् ते, फुल्लित पुष्पाः।

(परिचारकों को शुद्धोदन महाराज की आज्ञा)
वचनमिमु शुणित्वा देवियें पार्थिवेन्द्रः
तुष्टो मुदितचित्तः पारिषद्यानवोचत् ।
[12]हयगजरथपंक्तया वाहना योजयध्वं[12]
प्रवरगुणसमृद्धां लुम्बिनीं मण्डयध्वं ॥196॥

3. देवी के इस वचन को सुन कर पृथिवी के स्वामी (शुद्धोदन) ने संतुष्ट तथा प्रसन्न चित्त से परिजनों से कहा कि अश्वों (की सेना) के साथ, हाथियों (की सेना) के साथ, रथों (की सेना) के साथ, तथा पंक्ति अर्थात् पत्ति (=पैदल सेना) के साथ गाड़ियाँ जुड़वाओ (और) श्रेष्ठ गुणों से समृद्ध लुम्बिनी को मण्डित करो ।

नीलगिरिनिकाशां मेघवर्णानुबुद्धां
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं गजानां ।
(–79–) मणिकनकविचित्रां हेमजालोपगूढां
घण्टुरचिरपार्श्वान् षड्विषाणां गजेन्द्रान् ॥197॥

बीस हज़ार हाथियों को (हाथियों से खींचे जाने वाले रथों से) जुड़वाओ । वे श्रेष्ठ हाथी नील रंग के पर्वतों के समान, मेघों के रंग जैसे रँगीले, सोने के तथा मणियों (के आभूषणों) से विचित्र, हेमजाल अर्थात् सुवर्ण के बने कवच से ढँके हुए, दोनों ओर लटकते घण्टों से सुन्दर, तथा छह-छह दाँतों वाले होने चाहिए ।

हिमरजतनिकाशां मुञ्जकेशां सुकेशां
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं हयानां ।
कनकरचितपार्श्वा किङ्किनीजाललम्बा
पवनजवितवेगा वाहना पार्थिवस्य ॥198॥

बीस हज़ार घोड़ों को (घोड़ों से खींचे जाने वाले रथों से) जुड़वाओ । वे राजा (की सवारी) के घोड़े हिम तथा रजत जैसे (श्वेतवर्ण वाले), मूँज के समान केश वाले, सुन्दर केश वाले, दोनों ओर सोने के आभूषणों से सजे हुए घूँघरुओं (की मालाओं) को पहने, वायु की तेजी के वेग वाले होने चाहिए ।

12····12. भोट, ब्शोन् प ब शोन् छे म ग्योग् स् प हि. शुग्स् ल्वन् बग् क्यङ् ब्ल्तन् पर् गियस्, लघुरयमहयाना वाहना योजयध्वम्, (=क्षिप्रवेगवन्ति वाहन्नानि महानाहन्नानि योजयध्वम्) । मूल पाठ में पंक्ति शब्द अपभ्रंश है, वह पत्ति का स्थानापन्न है । पत्ति = पदाति = पैदल सेना ।

नरगण रणसोण्डान् शूर संग्रामकामान्
असिधनुशरशक्तिपाशखड्गाग्रहस्तान् ।
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं सुशीघ्रं
माय सपरिवारां रक्षथ अप्रमत्ता ॥199॥

रण में कुशल, युद्ध से विरक्त न होने वाले, (अपने) पंजों में करवाल धनुष-बाण, छुरी, पाश तथा खांडा लिए हुए, बीस हजार मनुष्यों के समूह को (कवचों से) अत्यन्त शीघ्र युक्त करो। (तथा) परिवार-सहित माया (देवी) की सावधान हो रक्षा करो।

मणिकनकनिषिक्तां लुम्बिनीं कारयध्वं
=66ख= विविधवसनरत्नैः सर्ववृक्षां प्रवेथा।
विविधकुसुमचित्रं नन्दनं वा सुराणां
वदत च मम शीघ्रं सर्वमेतं विधाय ॥200॥

लुम्बिनी को सुवर्ण तथा मणियों से विभूषित करवा दो, सब वृक्षों को विविध प्रकार के पुष्पों से विचित्र नन्दन (वन) के समान, विविध प्रकार के वस्त्रों तथा रत्नों से ढँक दो। यह सब करके शीघ्र मुझसे कहो।

(परिचारकों द्वारा राजाज्ञा का पालन)

वचनमिमु निशम्या पारिषद्यै क्षणेन
वाहन कृत सज्जा लुम्बिनी मण्डिता ता।

पारिषद्य आह

जय जय हि नरेन्द्रा आयु पालेहि दीर्घं
सर्व कृतु यथोक्तं कारु देव प्रतीक्ष ॥201॥

4. इस बात को सुन कर परिचारकों ने झट-पट यानों को सजा दिया, लुम्बिनी को विभूषित कर दिया। (तथा उनमें से एक) परिचारक ने (जा कर) कहा—जय हो नरेन्द्र, जय हो दीर्घ आयु पायें। जैसा कहा था सब कर दिया। हे देव काल (=मुहूर्त) की प्रतीक्षा करें।

(यात्रा की राजा द्वारा व्यवस्था करना)

सो च नरवरेन्द्रो हृष्टचित्तो भवित्वा
गृहवरमनुविष्टो इष्टिकानेवमाह।
यस्य अहु मनापो या च मे प्रीतिकामा
सा मि कुरुत आज्ञां मण्डयित्वात्मभावं ॥202॥

5. और वे श्रेष्ठ राजा चित्त में प्रसन्न हो, उत्तम घर के भीतर जा स्त्रियों से यों कहा—मन से मैं जिसका प्रिय हूँ, और जो मेरा प्रिय करना चाहती है, वह (अपनी) देह सजा कर मेरी आज्ञा (का पालन) करे।

(--80--) वरसुरभिसुगन्धां भावरङ्गां विचित्रां
वसन मृदु मनोज्ञां प्रावृणोथा उदग्राः।
उरसि विगलितानां मुक्तहारा भवेथा
आभरणविभूषां दर्शयेथाद्य सर्वाः ॥203॥

उत्तम धूपे हुए तथा सुगन्ध से बसाए हुए, मन-भाए रंग के, विचित्र, कोमल तथा मनोहर वस्त्रों को प्रमुदित हो कर पहनो। छाती पर लटकने वाले मोतियों के हारों से (अलंकृत) हो जाओ, आज सब-लोग अलंकारों की सजावट दिखाओ।

[13]तुणपणवमृदङ्गां वीणवेणूमुकुण्डां[13]
तूर्यशतसहस्रान् योजयध्वं मनोज्ञां।
भूय कुरुत हर्षं देवकन्यान यूयं
श्रुत्व मधुरघोषं देवतापि स्पृहेयुः ॥204॥

[13]तूण (=एक मुँह वाले हुडुक), पणव (=ढोल), मृदङ्ग, वीणा, वेणु (=वंशी), तथा मुकुन्द (नामक ढोल)[13] तथा (अन्य) मनोहर लाखों बाजों को बजा दो। तुम-सब देवकन्याओं को और भी अधिक आनन्दित कर दो। (ऐसा करो कि तुम्हारे और तुम्हारे बाजों के) मधुर शब्द को सुन कर देवता भी स्पृहा करने लगें।

एक[14] रथवरेस्मिन्[15] तिष्ठतां मायादेवी
मा च पुरुष इस्त्री अन्य तत्रारुहेया।
नारि विविधवर्मा तं रथं --67क--वाहयन्तां
मा च प्रतिकूलं माममापं शृणेष्या ॥205॥

13...13. ह्र् ख्र् ङ्, Kettle drum, र्ग्युद् ग्चिग्, एकतंत्री, एक तारा, ग्लिङ् बु, वंशी, वेणु पि वङ् वीणा, र्ज ङ्, मृदङ्ग, डुम् डुम् फग् मुकुन्द नामक ढोल। मूल पाठ के इन भोट प्रतिशब्दों में कुछ भेद है। एकतंत्री या एकतारा मूल में नहीं है।

14. एक शब्द एका के अर्थ में है। यह मायादेवी का विशेषण है। तुलनीय भोट, स्गयु ह्र् फुल् ग्चिग् पु, एक (या अकेली) मायादेवी।

15. रथवरेस्मिन् = रथवेर अस्मिन्। तुलनीय भोट, शि र्त हि् म्छोग् ह्र् विर्। एस्मिन् इस ग्रन्थ में सप्तमी विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय भी है। यथा गगणेस्मिन्। देखिए इसी अध्याय में आगे टिप्पणी 18।

इस श्रेष्ठ रथ पर अकेली माया देवी बैठें। उस पर अन्य पुरुष या स्त्री न चढ़े। विविध प्रकार के कवच पहन कर नारियाँ उस रथ को चलाएँ। (मन को) बुरा लगने वाला तथा मन को भला न लगने वाला कुछ न सुनाई पड़े।

हयगजरथपत्तीं सैन्य श्रीमद् विचित्रां
द्वारि स्थित नृपस्या श्रूयते उच्चघोषाः।
क्षुभितजलनिधिर्वा श्रूयते एव शब्दो
माय यद गृहातो निर्गता द्वारमूलं
घण्ट शतसहस्रा लाडिता मङ्गलार्थं ॥206॥

विचित्र शोभायमान अश्व-गज-रथ-पदातिसेना राजा के द्वार पर खड़ी थी, उच्च घोष सुन पड़ रहा था, (वह शब्द) अशान्त समुद्र के शब्द जैसा था। (उस समय) जब मायादेवी घर से बाहर द्वार के पास आईं, तब मंगल के निमित लाखों घण्टे बजाए जाने लगे।

सो च रथ विचित्रो मण्डितः पार्थिवेन
अपि चमरुसहस्रै[16] दिव्यसिंहासनेभिः।
चतुरि[17] रत्नवृक्षाः पत्रपुष्पोपपेताः
अभिनदित मनोज्ञां हंसक्रोञ्चान् मयूरान् ॥207॥

राजा ने वह रथ सहस्रों चमरों और दिव्यसिंहासनों से वित्रि-विचित्र सजाया था। पत्तियों और फूलों से युक्त चार रत्नों के वृक्ष (उस पर सजाए गए थे तथा) हंस, क्रौञ्च, और मयूर मनोहर बोलियाँ बोल रहे थे।

---

16. चमरुसहस्रै इस मूल पाठ की दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है—चमर-सहस्रैः अर्थात् हजारों चवँरियों से, च मरुसहस्रै अर्थात् च = तथा मरुसहस्रै = अमर सहस्रैः। भोट, ल्ह नंमस् स्तोङ् गिस्, देवसहस्रैः। हिन्दी अनुवाद में पहली व्याख्या का सहारा लिया गया है। दूसरी व्याख्या के सहारे पूर्वार्ध अर्थ यह होगा—राजा ने वह रथ चित्र-विचित्र सजाया और हजारों देवताओं ने (उसे) दिव्य सिंहासनों से (मढ़ दिया)।
17. चतुरि = चत्वारः चार। भोट, ब्शिन् ल्दन् पर् ब्यस्, संमुखीन किया। पाठ स्पष्ट नहीं है।

(-81-) छत्रध्वजपताकाश्चोच्छ्रिता वैजयन्त्यः
किङ्किनिवरजालैश्छादितं दिव्यवस्त्रैः ।
मरुवधु गगणेस्मिन्[18] तं रथं प्रेक्षयन्ते
दिव्यमधुरघोषं श्रावयन्त्यस्तुवन्ति[19] ॥208॥

छत्र तथा ध्वजाएँ पताकाएँ, एवं वैजयन्तियाँ फहरा रही थीं, उत्तम किंकिणियों अथवा छोटे-छोटे घुंघुरुओं तथा दिव्य वस्त्रों से सजाए उस रथ को आकाश से दिव्य एवं मधुर ध्वनि सुनाती हुई देवांगनाएँ देखती थीं और स्तुति करती थीं ।

उपविशति यदा सा माय सिंहासनाग्रे
प्रचलित त्रिसहस्रा भेदिनी षड्विकारां ।
पुष्प मरु क्षिपिंसू अम्बरां भ्रामयिंसू
अद्य जगति श्रेष्ठो जायते लुम्बिनीये ॥209॥

जब माया देवी सिंहासन के ऊपर बैठीं, तब त्रिसाहस्र (-महासाहस्र लोकधातु के सहित) पृथिवी छह प्रकार से डोल उठीं । देवताओं ने फूल फेंके, वस्त्र घुमाए । (क्योंकि) आज लुम्बिनी में जगत् का श्रेष्ठ (पुरुष) अवतार लेने वाला है ।

चतुरि जगति पालास्तं रथं वाहयन्ते
त्रिदशपतिरपीन्द्रो मार्गशुद्धि करोति ।
ब्रह्म पुरतु गच्छी दुर्जनां वारयन्तो
अमरशतसहस्रा प्राञ्जलीका नमन्ते ॥210॥

चारों लोकपाल उस रथ को खींचते थे । देवताओं के राजा इन्द्र राह शोधते थे । ब्रह्मा दुर्जनों की रोक-थाम करते हुए आगे चलते थे । लाखों देवता अंजलि बाँध नमस्कार करते थे ।

---

18. गगणेस्मिन् = गगने । एस्मिन् विभक्ति प्रत्यय है । भोट, नम् म् खह् लस्, गगनात्, आकाश से ।

19. श्रावयन्त्यस्तुवन्ति यह ससंधि पद है । असंधिपद श्रावयन्त्यः स्तुवन्ति । इस संधिनियम को पाणिनीय व्याकरण में खोजना केवल श्रम होगा । प्राकृतानुसार तीन व्यंजनों को एक साथ यहाँ नहीं रहने दिया है । भोट, ब्स्तोद् प हि, छिग्स् ब्जोद् दे, स्तुति पद कहती थीं ।

नृपति मुदितचित्तो =67ख= वीक्षते तां वियूहां
तस्य भवति एवं व्यक्तऽयं देवदेवो।
यस्त चतुरि पाला ब्रह्मा सेन्द्राश्च देवाः
कुरुत विपुलपूजां व्यक्तऽयं[20] बुद्धभावी[20] ॥211॥

राजा चित्त में आनन्दित हो उस व्यूह (=सजी--सजाई भीड़) को देखते थे। उनके मन में ऐसा होता था कि ये स्पष्ट ही देवताओं के देवता होंगे। जिनकी चारों लोकपाल, ब्रह्मा तथा इन्द्र के सहित (सब) देवता बहुत-बहुत पूजा कर रहे हैं, (वे) ये बुद्ध होंगे (यह बात) स्पष्ट (ही) है।

नास्ति त्रिभवि सत्त्वो यः सहेत्पूजमेतां
देव अथ च नागाः शक्र ब्रह्मा च पालाः।
मूर्ध तद्र फलेया जीवितं चास्य नश्येत्
अयु पुन अतिदेवः सर्वपूजां सहाति ॥212॥

तीनों (कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु के) भवों में ऐसा प्राणी नहीं है, जो इस पूजा को सह सके, चाहे वह देवता हो अथवा नाग हो, चाहे इन्द्र हो, ब्रह्मा हो, या लोकपाल हो। (जब कोई ऐसी पूजा ग्रहण करेगा), तब उसका माथा ही फट जायगा और जीवन ही नष्ट हो जायगा। ये तो देवातिदेव हैं जो (इस) सब पूजा को सह लेते हैं।

6. तदनन्तर हे भिक्षुओ, मायादेवी बाहर हुईं। (वे) सब अलंकारों से विभूषित चौरासी सहस्र घोड़े-जुते रथों से घिरी हुई थीं। (वे) सब अलंकारों से विभूषित चौरासी सहस्र हाथी-जुते रथों से घिरी हुई थीं। (–82--) (वे) शूर-वीर उत्तम अङ्ग और रूप वाले, दृढ़ वर्मों तथा कवचों से भलीभाँति बँधे-नधे चौरासी सहस्र पदाति-सैनिकों से सब ओर सुरक्षित थीं। साठ सहस्र शाक्य-कन्यायें उनके आगे-आगे थीं। और राजा शुद्धोदन के सगे कुटुम्ब में उत्पन्न बूढ़े-बच्चे तथा अधबैसू चालीस सहस्र शाक्य उनकी रखवाली करते थे। राजा शुद्धोदन के रनिवास की साठ सहस्र गीत एवं वाद्य में समीचीन (स्त्रियाँ) [21]ढोल और मँजीरों[21] के साथ चलने वाला गाना-बजाना करती हुई उन्हें घेरे हुईं थीं। वे चौरासी सहस्र देवकन्याओं से[22] घिरी हुई थी[22]। उनके पीछे-पीछे

20⋯20. मूल, शुद्धभावी। भोट, सङ्स् ग्र्यस् ह्ग्युर्, बुद्धो भविता। भोट पाठ ही प्रकरणानुकूल है तथा उचित है। मूल में निश्चय ही बुद्ध भावी प्रथम पाठ था। जो प्रमाद से विकृत हो गया है।

21⋯21. मूल, तूर्यताडः। भोट, ह्खर् बहि, सिल् खोल् बङ् फेग् दोंब्।

22⋯22. मूल, परिवृता। यह पाठ भोट में नहीं है।

चौरासी सहस्र नाग-कन्याएँ, चौरासी सहस्र गन्धर्व-कन्याएँ, चौरसी सहस्र किन्नर-कन्याएँ तथा चौरासी सहस्र असुर-कन्याएँ, नाना-प्रकार के अलंकारों से अलंकृत हो, नाना प्रकार के गाने-बजाने के साथ =68क= स्तुति करती हुई चल रही थीं। और समूचा लुम्बिनी वन सुगन्धित जल से सींचा हुआ था, (उसमें) दिव्य पुष्प सब ओर बिखरे हुए थे। उस श्रेष्ठ वन में सब वृक्ष बिना ऋतु-काल के पत्र, पुष्प तथा फल देते थे। देवताओं ने उस वन को (ऐसा) अलंकृत किया था कि वह देवताओं द्वारा अलंकृत मिश्रकावन (मिसरिखवन) जैसा लगता था।

7. तदनन्तर मायादेवी लुम्बिनी-वन में प्रवेश कर, उस रथ से उतर देव-कन्याओं एवं मनुष्य-कन्याओं से घिरी हुई, वृक्ष से वृक्ष तक टहलती हुई, वन से वन तक घूमती हुई, क्रम से छहाँ प्लक्ष (=पकरिया) का वृक्ष था, उस वृक्ष के पास पहुँचीं। वह था बड़े-बड़े वृक्षरूपी रत्नों में श्रेष्ठातिश्रेष्ठ, उसकी शाखाएँ सुन्दरता से बँट-छँटी थीं, वह समान भाव से पत्रों तथा मंजरियों से युक्त था, उस पर नाना-प्रकार के फूल फूले थे, जिनमें कितने ही देव लोक के फूल थे कितने ही मनुष्य-लोक के, उस पर वस्त्र लटक रहे थे जो उत्तम-अत्युत्तम गन्ध के थे—नाना-प्रकार के गन्ध के थे—नाना प्रकार के रंग के थे, विविध [23]मणियों और रत्नो की[23] प्रभा (जैसी प्रभा) से वह जाज्वल्यमान था, सब रत्नों से उसकी मूल, उसका तना, उसकी शाखाएँ और पत्तियाँ भलीभाँति विभूषित थीं, उसकी शाखाएं बेंटी-छँटी और बहुत (दूर तक) फैली हुई थीं, वह हथेली-जैसे (समतल) भूमिभाग के =68ख= मोर के गले–जैसे नीले तृणों से युक्त बँटे-छँटे विस्तार के काचिलिन्दिक-वस्त्र-जैसे सुखद-स्पर्श के, धरातल पर भलीभाँति स्थित था, पहले के बुद्धों की माताएँ उसके तले (पूर्व में) ठहर चुकी थीं, देवता उसके नीचे संगीत गा रहे थे, [24]शुभ, विमल, विशुद्ध, [24]तथा (–83–) से प्रशान्तचित्त के [25]शतसहस्र शुद्धावास देवता[25] जटा-मुकुटों के नीचे झुकाने से झुके हुए मस्तकों से उसका अभिनन्दन कर रहे थे।

8. तदनन्तर वह प्लक्ष (=पकरिया) का पेड़ बोधिसत्त्व के तेज के बल से

23····23. मूल, ०मणि०। भोट, नोर् बु दङ् रिन् पो छे, ०मणिरत्न०।

24····24. मूल, विशुद्धः। उचित पाठ विशुद्धैः होना चाहिए। भोटानुसार शुद्धावासदेवों का यह विशुद्ध पद विशेषण है। भोट पाठ यों है—ग्नस् ग्चङ् महि् ल्ह ब्ससङ् शिङ् द्रि मेद् प नंम् पर् दग् प रब् तु शि बहि् सेम्स् वङ् ल्दन् प नम्स् क्यिस्, शुद्धावासदेवैः शुभविमलविशुद्धप्रशान्तचित्तैः। मूल के शुद्धावासदेवशतसहस्त्रैः के स्थान में भोट, पाठ शुद्धावासदेवैः है।

25····25. देखिए इसी अध्याय की इससे पहले की टिप्पणी।

झुक कर प्रणाम करने लगा। तब मायादेवी [26]गगन-तल पर दिखाई देती बिजली के समान[26] दाहिनी भुजा फैला, प्लक्ष की शाखा पकड़, लीला के साथ गगन-तल को ओर निहारती हुई, जँमाई लेती खड़ी हो गई। उस समय कामधातु के निवासी देवताओं में से साठ हजार अप्सराएँ (वहाँ) पहुँच कर मायादेवी की पूजा-सेवा करती थीं।

9. इस प्रकार के ऋद्धिप्रातिहार्य से युक्त बोधिसत्त्व माता की कोख में बिराजे थे। पूरे दस मास बीतने पर, (उन्हें) ऐरा-गैरा दूसरों का गर्भमल न कहा जाय (इसलिए) वे माता की कोख से गर्भ की गन्दगी से अछूते, स्मृतिमान् एवं जागरूक हुए निकले।

10. हे भिक्षुओ, उस समय देवताओं के इन्द्र, शक्र तथा सहापति ब्रह्मा सामने खड़े थे, जिन्होंने अत्यन्त गौरव के साथ, सब अंगों तथा प्रत्यंगों (की गति-विधि में) स्मृतिमान् एवं जागरूक रहते हुए दिव्य काशी के बने रेशमी वस्त्र से =69क= बोधिसत्त्व को ओढ़ा कर ग्रहण किया।

11. और जिस कूटागार में माता की कोख में रहते हुए बोधिसत्त्व विराजे थे, उसे सहापति ब्रह्मा तथा ब्रह्मलोक वासी देवपुत्र उठाकर, पूजा के निमित्त चैत्य बनाने के लिए, ब्रह्मलोक पहुँच आए। किसी मनुष्य-भूत (प्राणी) के द्वारा बोधिसत्त्व (पहले-पहल गोद में) नहीं लिए जाते तभी तो देवताओं ने पहले-पहल बोधिसत्त्व को (गोद में) लिया।

12. तदनन्तर उत्पन्न होते ही बोधिसत्त्व पृथिवी पर उतरे। बोधिसत्त्व महासत्त्व के उतरते-उतरते महापृथिवी को भेद कर महापद्म प्रकट हुआ। नाग-राज नन्द और उपनन्द ने गगन तल पर आधे शरीर से खड़े होकर शीत तथा उष्ण जलधाराओं का निर्माण कर बोधिसत्त्व को स्नान कराया। (–84–)[27] शक्र, ब्रह्मा, तथा लोकपाल इत्यादि ने[27] एवं दूसरे बहुत से सैंकड़ों-हजारों देवपुत्रों ने उत्पन्न होते ही बोधिसत्त्व को नाना प्रकार के सुगन्धित जल से स्नान कराया तथा नाना प्रकार के सुगन्ध देने वाले पुष्पों को (उनके ऊपर) बरसाया। अन्त-

---

26····26. मूल, गगणतलगतेव विद्युद्दृष्टि। भोट, नम् म्खहि, द्क्यिल् दु स्नङ् ब हि ग्लोग् गि फ्रेङ् ब, गगणतलगतां विद्युत्स्रजमिव, गगनतल पर होने या चमकने वाली बिजली की माला के समान।

27····27. मूल, शक्रब्रह्मलोकपालाः पूर्वंगमाश्च। भोट, ब्र्ग्य बियन् दङ्, छङ्स् प दङ् ह् जिग् र्तेन् स्क्योङ् ब ल सोग्स्, शक्रब्रह्मलोकपालादयः। पूर्वंगम (=आदि प्रभृति) शब्द से पहले लोकपाल शब्द पृथक् न हो कर समास में होना चाहिए। सम्भवतः ०लोकपालपूर्वंगमाः शुद्ध पाठ था।

रिक्ष में से दो चँवर और (एक) रत्नछत्र प्रकट हुआ। उन्होंने उस महापद्म पर खड़े होकर चारों दिशाओं की ओर ताका। (चारों दिशाओं की ओर ताक कर) जैसी सिंह की चितवन होती है, जैसी महापुरुषों की चितवन होती है, उस चितवन से देखा।

13. उस समय अपने पूर्व (जन्मों में किए गए) पुण्यमूल के फल से उत्पन्न हुए, [28]बे रोक-टोक की दैवी दृष्टि प्रकट करने वाले दिव्य चक्षु से[28] नगर, निगम (=कस्बा), जनपद (=देहात), राष्ट्र तथा राजधानी के सहित और देवताओं एवं मनुष्यों से युक्त =69ख= समूचे त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु को देखा। तथा सब प्राणियों के चित्तों में उठने वाले विचारों को जाना। और जान कर (मन-ही-मन) देखा कि क्या कोई प्राणी शील में, समाधि में, प्रज्ञा में, पुण्य की मूलभूत चर्या में, मेरे समान है। पर जब बोधिसत्त्व ने त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु में अपने समान किसी प्राणी को नहीं देखा, तब (वे) बोधिसत्त्व उस समय सिंह के समान बिना भय-भीति के, बिना डर के, बिना घबराहट के, भलीभाँति सोचे हुए (तथ्य) का स्मरण एवं चिन्तन कर, सब प्राणियों के चित्त-विचारों को जान कर (यह जतलाने के लिए कि) मैं सब पुण्यों के मूलभूत धर्मों पर पूर्व-पूर्व (आगे-आगे) चलता रहूँगा, बिना किसी का सहारा लिए बोधिसत्त्व पूर्व दिशा की ओर सात पैर चले। चलते-चलते उनके ऊपर उनका अनुसरण ऐसे दिव्य, विशाल एवं श्वेत वर्ण के छत्र और दो शोभन चवँर करते थे जिन्हें कोई (हाथों से) नहीं उठाए हुए (दीखता) था। जहाँ-जहाँ बोधिसत्त्व पैर रखते थे, वहाँ-वहाँ कमल प्रकट हो जाते थे। मैं देवताओं और मनुष्यों द्वारा दक्षिणीय (=पूजनीय) रहूँगा (यह जतलाने के लिए वे) दक्षिण दिशा की ओर सात पैर चले। (वे) सात पैर पश्चिम दिशा की ओर चले। सातवें पग पर खड़े होकर सिंहनाद करते हुए आल्हादकारी वचन बोले—मैं लोक मे ज्येष्ठ हूँ, मैं (–84–) लोक में श्रेष्ट हूँ, यह मेरा पश्चिम (=अन्तिम) जन्म है, जन्म, है, जरा =70क= मृत्यु और दुःख का मैं अन्त करूँगा। सब प्राणियों के बीच में अनुत्तर (अर्थात् जिससे उत्तर-बढ़ा-चढ़ा कोई नहीं है—ऐसा) मैं हूँगा—(यह जतलाने के लिए वे) उत्तर दिशा की ओर सात पैर चले। (वे) नीचे की दिशा की ओर सात पैर चले (यह जतलाने के लिए कि) मैं मार और मार-सेना को मार भगाऊँगा, सब नरक में पड़े (प्राणियों) की नरकाग्नि को बुझाने के लिए

28····28. मूल, अप्रतिहतेन दिव्यचक्षुप्रादुर्भूतेन दिव्येन चक्षुषा। भोट, ल्ह हि् मिग् थोगस् प मेद् प, अप्रतिहतेन दिव्येन चक्षुषा। यही पाठ ठीक लगता है।

धर्म की महावर्षा करूँगा, जिससे वे सुख पाएँगे। (वे) ऊपर की दिशा की ओर सात पैर चले और ऊपर की ओर देखा (यह जतलाने के लिए कि) सब प्राणी (मुँह) उठा-उठा कर मुझे देखेंगे। बोधिसत्त्व ज्योंही यह वाणी बोले त्योंही त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु (उसकी) ध्वनि से (उस वाणी को) भलीभाँति जान गया। यह बोधिसत्त्व के (पुण्य--) कर्मों के फलस्वरूप अभिज्ञता-धर्मता (=जानकारी कराने की विशेषता) उत्पन्न होती है।

14. अन्तिम—अवतारधारी बोधिसत्त्व जब जब उत्पन्न होते हैं और जब अनुत्तर सम्यक् संबोधि को भलीभाँति बूझते हैं, तब ये—ऐसे ऋद्धिप्रातिहार्य (= दिव्यचमत्कार) हुआ करते हैं। हे भिक्षुओं, उस समय सब प्राणी रोमाञ्चित हो उठे। भयभीत और रोमाञ्चित करने वाला महान् भूकम्प लोक में प्रकट हुआ। बिना बजाए ही दैवी तथा मानुषी बाजे = 70ख = बज उठे। उस समय त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में वृक्ष सब ऋतुकाल के फूलों और फलों से फूल-फल उठे। अत्यन्त निर्मल गगन-तल से मेघों का शब्द सुन पड़ा बिना मेघ के आकाश से धीरे-धीरे [29]पतली-पतली वर्षा हुई। नाना वर्षों अर्थात् देशों के तथा दिव्य अर्थात् देवलोक के पुष्पों, वस्त्रों, आभरणों, गन्धों और चूर्णों से मिश्रित स्पर्श में अत्यन्त सुखदायक, सौम्य, सुगन्धित पवन बहने लगे। अंधकार धूल, धुएँ, तथा कोहरे से रहित सब दिशाएँ निर्मल हो चमकने लगीं। ऊपर अन्तरिक्ष से अदृश्य भाव से ब्रह्मा के महाघोष सुनाई पड़े। चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, लोकपालों (–86–) की सब प्रभा फीकी पड़ गई। स्पर्श में परम सुखदायिनी, सब प्राणियों की जातियों के चित्त में सुख उपजाने वाली, अलौकिक, अनेक-शतसहस्र वर्णों (रंगों) की कान्ति से सब त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु भासमान हो गया। बोधिसत्त्व के जन्म के साथ-साथ ही सब प्राणी पूरे-पूरे सुख के लाभी हुए; उनके सबके सब राग, द्वेष, मोह, दर्प, अरति, विषाद, भय, लोभ, ईर्ष्या, मात्सर्य (कंजूसी) दोष दूर हो गए। उनके सब अकुशल कर्म = 71क = रुक गए। रागी प्राणियों के रोग शान्त हो गए। भूखे-प्यासे प्राणियों की भूख-प्यास बुझ गई। मदिरा के नशे में चूर प्राणियों का नशा उतर गया। पागलों का होश ठिकाने आ गया। जिनके नेत्र नहीं थे उन प्राणियों को नेत्र लाभ हुआ। जिन प्राणियों को कानों से नहीं सुन पड़ता था, वे कानों से सुनने लगे। जो अंग, प्रत्यङ्ग एवं इन्द्रियों से विकलाङ्ग थे, वे अविकलाङ्ग हो गए। दरिद्रों को धन मिला। बन्धन में जो बँधे थे, वे बन्धन से छूट गए। अवीचि से लेकर (अन्य सब नरकों में पड़े

---

29. मूल, ०छन्नैः। पढ़िए छनैः शनैः। तुलनीय भोट, **दल् बु दल्बुस्** शनैः शनै मन्दं मन्दं, धीरे धीरे।

हुए) सब नारकीय जीवों के सब नरक की पीड़ा के दुःख उस समय शान्त हो गए। तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि में पड़े जीवों का एक-दूसरे के द्वारा मार कर खा जाने का भय तथा यम-लोक में गए प्राणियों की भूख-प्यास का दुःख शान्त हो गया। जब जन्म लेने के साथ-साथ, कोटि-खर्ब-शतसहस्र असंख्येय-कल्पों तक सदाचार के आचरण द्वारा महावीर्य, महाबल, तथा धर्मता (= तथता, परमार्थतत्त्व) की प्राप्ति के साथ, बोधिसत्त्व सात पैर चले, तब उस समय वज्रमय पृथिवी के प्रदेश पर दशों दिशाओं के लोक धातुओं में रहने वाले भगवान् बुद्ध खड़े थे, ताकि उस स्थान पर महापृथिवी [30]नीचे नहीं जाए[30]। = 71ख = जन्म के साथ-साथ, हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व उतने महान् बलवेग से युक्त हो सात पैर चले थे। सब लोकों के मध्यभाग उस समय महाप्रकाश से प्रकाशित हो उठे थे। उस समय महान् गीत-शब्द हुआ, महान् नृत्य-शब्द हुआ। उस समय पुष्पों के, चूर्णों के, गन्धों के, माल्यों के, रत्नों के, आभूषणों के तथा वस्त्रों के, अप्रमेय मेघ अति करके बरसे। सब प्राणी परम सुख के लाभी (--87--) हुए। संक्षेप से (कहें तो) वह (सब) क्रिया लीला अचिन्त्य थी, जब (सब लोकों के हितार्थ अवतारधारी) सब लोक में श्रेष्ठ बोधिसत्त्व का लोक में प्रादुर्भाव हुआ।

15. तदनन्तर आयुष्मान् आनन्द आसन से उठ कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने जानु-मण्डल को धरती पर टेक कर, जिस ओर भगवान् थे, उस ओर अंजलि बाँध प्रणाम कर बोले। हे भगवन्, तथागत सब प्राणियों के बीच अचरज हो कर रहे हैं। बोधिसत्त्व होते हुए ही अद्भुत धर्मों से युक्त थे, अनुत्तर सम्यक् संबोधि पाए हुए के विषय में कहना ही क्या। हे भगवन् यह मैं चार-पाँच बार भी, दश बार भी, यहाँ तक कि पचास बार भी, = 72क = यहाँ तक कि सौ बार-हजार बार भी हे भगवन्, मैं भगवान् बुद्ध की शरण जाता हूँ।

16. ऐसा कहने पर भगवान् आयुष्मान् आनन्द से यह बोले—हे आनन्द, अनागत काल में कार्य की भावना न करने वाले, चित्त की भावना न करने वाले, शील की भावना न करने वाले, प्रज्ञा की भावना न करने वाले, बाल (मूढ़)—अपंडित, अभिमानी, उद्धत (= चंचल), उन्नत (= अर्थात् धरती पर पैर न रखने वाले गर्वित), असंवृत (= असंयमी), बे ठिकाने के मन वाले, संदेह से व्याकुल, बहु प्रकार की दुविधा वाले, श्रद्धारहित, श्रमणों में मल-स्वरूप (श्रमण न होते हुए भी) श्रमणों का स्वांग बनाए हुए, कोई-कोई भिक्षु होंगे। वे बोधिसत्त्व के गर्भ में जाने की अवस्था में इस प्रकार की शुद्धि पर श्रद्धा नहीं करेंगे। वे

30····30. मूल, नावतीर्यंत (= नावतीर्येत)। भोट, **शिग् पर् मि ह्ग्युर् बर् ब्य बहि् फ्यिर**, नाश न होने के लिए, न नश्येदिति।

एकान्त में इकट्ठे हो कर एक-दूसरे से यों कहेंगे। अरे, देखो तो यह बुढ़-भस ! माता की कोख पड़े, मल-मूत्र की कीच में सने, बोधिसत्त्व की यह विभूतिं !! गर्भ-मल से अछूते माता की दाहिनी कोख से उनका निकलना !!! यह सब कैसे युक्ति-युक्त हो सकता है ? वे मूढ़ पुरुष ऐसा नहीं समझेंगे। कि पुण्य कर्म करने वाले प्राणियों की काया मल-मूत्र के कीच से नहीं उपजती। हे भिक्षुओं[31], उस प्रकार के उत्तम-सत्त्वों[32] की [33]गर्भावक्रान्ति (=गर्भ में जाना) तथा गर्भ में स्थिति[33] =72ख= अत्यन्त भद्र[34] कल्याणमय होती है। (--88--) प्राणियों पर कृपा करके ही बोधिसत्त्व मनुष्य लोक में उत्पन्न होते हैं। वे देवता हो कर धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं करते। वह क्यों ? हे आनन्द, (वह इसलिए कि) प्राणी निरुद्यमी न हो जाएँ कि भगवान् तथागत अर्हन् सम्यक् संबुद्ध देवता थे, हम तो कोरे मनुष्य हैं, हम वह स्थान परिपूर्ण करने में समर्थ नहीं हैं। उन धर्म के चोर मूढ़ पुरुषों के (मन में) ऐसा नहीं होगा कि वे अचिन्त्य सत्त्व हैं, हमें उनको माप-जोख कर नहीं परखना चाहिए। वे आनन्द, उस समय वे तथागत-बुद्ध के ऋद्धिप्रातिहार्यों अर्थात् अलौकिक चमत्कारों पर भी विश्वास नहीं करेंगे, तथागत-बोधसत्त्व के बोधिसत्त्वावस्था के चमत्कारों की तो बात ही क्या ! हे आनन्द, देखो-सोचो तो, वे मूढ़ पुरुष कितना अधिक अपुण्य-कर्म करेंगे, जो लाभ-सत्कार तथा प्रशंसा से दबे हुए, गन्दगी में लत-पत, लाभ-सत्कार से दबे ऐरे-गैरे लोगों की भाँति बुद्ध-धर्मों पर आक्षेप करेंगे।

17. आनन्द बोले—हे भगवन्,[35] न हों ! न हों !![35] अनागत काल में =73क = इस प्रकार के भिक्षु, जो इस प्रकार के भद्र (=कल्याणमय) सूत्रान्तों पर आक्षेप करें और उनका[36] प्रतिवर्ण (=अपवाद) बकें[36]।

---

31. भोट, **दृगे स्लोङ् दग्**, भिक्षवः। मूल में यह पाठ नहीं है।
32. मूल, सस्वानां। भोट, **सेम्स चन् दम् प**, उत्तमानां सत्त्वानां।
33....33. मूल, गर्भावक्रान्तिर्भवति। गर्भावस्थितश्च....। भोट, **म्ङल् दु ह्ग्रोव दङ् म्ङल् न ग्नस् प नि**....। **येन्** नो गर्भावक्रान्तिर्भवति गर्भावस्थितिश्च।
34. मूल, भद्रिका। भोट, **शिन् तुह् ङ् ब्ज्ङ् ब** अतिभद्रिका, अतीव भद्रिका।
35....35. मूल, भा मा। भोट में यह पाठ नहीं है।
36....36. मूल, प्रतिपक्षं पक्षन्ति, प्रतिवक्ष्यन्ति। यह पाठद्वय अशुद्ध है। प्रतिवर्णं (=अपवादं) वक्ष्यन्ति पाठ सम्भवतः था। तुलनीय भोट, **मि स्ङन् पर् ब्र्जोद् प, मि स्ङन् प ब्र्जोद् पर**, अपवाद करेंगे, अपवदिष्यन्ति, प्रतिवर्णं वक्ष्यन्ति। प्रतिवर्णं यहाँ वर्ण (=प्रशंसा) का विरोधी शब्द है।

18. भगवान् बोले—हे आनन्द, (होंगे इस प्रकार के भिक्षु) वे[37] इस प्रकार के सूत्रान्तों[37] पर आक्षेप करेंगे और उनका प्रतिवर्ण (अपवाद) बकेंगे। तथा दूसरे अन्य प्रकार के पाप-कर्म करेंगे। वे[38] श्रमणता से[38] प्रयोजन न रखने वाले होंगे।

19. आनन्द[39] बोले—हे भगवन्, उन जैसे असत्पुरुषों की क्या गति होगी ? उनका क्या अभिसंपराय (=परलोक) होगा ?

20. भगवान् बोले—जो गति बुद्ध की बोधि पर परदा डालने से, अतीत, अनागत एवं वर्तमान भगवान् बुद्धों का अपवाद करने से होती है, उस गति को वे प्राप्त होंगे।

21. (–89--) तब आयुष्मान् आनन्द रोमांचित हो 'नमो बुद्धाय' कहते हुए, भगवान् से बोले—हे भगवन्, उन असत् पुरुषों की करनी-भरनी की बात सुन कर मेरी काया मूर्च्छित हो गई है।

22. भगवान् बोले—हे आनन्द, उनका चाल-चलन सम न होगा, वे प्राणी विषम चाल-चलन के होंगे। वे उस चाल-चलन के कारण अवीचि नाम के =73ख= महानरक में पड़ेंगे। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि उन्होंने तथागत के वचनों पर विश्वास नहीं किया)। हे आनन्द, जो कोई भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक अथवा उपासिकाएँ—इस प्रकार के सूत्रान्तों को सुन कर उन पर अधिमोक्ष (=अविचल विश्वास) नहीं करेंगे, श्रद्धा नहीं करेंगे, उन्हें प्राप्त नहीं करेंगे, वे[40] मरने के साथ-साथ[40] अवीचि नाम के महानरक में पड़ेंगे। हे आनन्द, तथागत को[41] सब ओर से[41] माप-जोख कर न परखना

37....37. एवं रूपाश्च....सूत्रान्तां का संस्कृत पाठ एवं रूपाश्च सूत्रान्तान् होगा। तुलनीय भोट, म्दो स्दे ह् वि लृत बु, इस प्रकार के सूत्र।

38....38. मूल, श्रमण्यो न। शुद्धपाठ होगा श्रामण्येन। तुलनीय भोट, द्गे स्व्योङ् गि द्ङोस् पो दोन् दु मि ग्ञेर् ब दग् क्यङ्, अनर्थिकाश्च-श्रामण्येन।

39. मूल, आनन्दः। यह भोट में नहीं है।

40....40. मूल, च्युताः समानाः (च्युताः सन्ताः, च्युत हुए)। भोट, शि ह्, फोस् म थग् तु, च्युताः समनन्तरम्, मरने के साथ-साथ। समानाः अथवा सन्तः यहाँ समनन्तर के अर्थ में ही हैं।

41. मूल, आप्रामाणिकं (=सब ओर से माप-जोखकर) भोट में केवल छद्दु (प्रामाणिकं) पाठ है।

चाहिए। वह किस कारण ? हे आनन्द, (वह इस कारण कि) तथागत अप्रमेय हैं—मापे-जोखे नहीं जा सकते, (वे) गम्भीर हैं, विपुल हैं, दुरवगाह हैं—उनकी थाह नहीं ली जा सकती। हे आनन्द, इस प्रकार के सूत्रान्तों को सुन कर जिन-किन्हीं के (मन में)[42] प्रीति, प्रमोद, एवं श्रद्धा[42] उपजेगी, उन प्राणियों को लाभों का सुलाभ है। उनका जीवन सफल है, उनका मानुष्य सफल है और वे शोभन चरित्र का आचरण करने वाले हैं। उन्होंने सार ले लिया है और तीनों अपायों (=दुर्गतियों) से मुक्त हो जाएँगे। वे तथागत के पुत्र हैं और उन्हें[43] सब अर्थ[43] मिल गया। उनकी श्रद्धा-प्राप्ति सफल हुई और राष्ट्र का पिण्ड (=अन्न) उन्होंने[44] भलीभाँति खाया[44]। वे अग्रसत्त्वों[45] अर्थात् बोधिसत्त्वों और बुद्धों में प्रसन्न (=श्रद्धालु) हैं, तथा मार के बन्धनों को काट डाला है। आवागमन के जंगली कान्तार से वे पार पहुँच गये और शोक के शल्य (=चुभते हुए काँटे) को उन्होंने निकाल फेंका। प्रमोद की वस्तु उन्हें मिल गई और उन्होंने शरणगमन को भलीभाँति ग्रहण =74क= कर लिया। वे दक्षिणा देने के योग्य हैं और उन (जैसे) पूजनीय का जन्म दुर्लभ होता है। लोक में दक्षिणा का पात्र करके (उन्हें) ग्रहण करना चाहिए। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि) वे समूचे लोक में इस प्रकार के तथागत के धर्म पर श्रद्धा करते हैं, जो (इस) समूचे लोक से विमुख है। हे आनन्द, वे प्राणी अवरक (=तुच्छ या छोटे-मोटे) कुशलमूल (=पुण्यमूल) से युक्त नहीं होते। वे (--90--) प्राणी, हे आनन्द, मेरे एकजातिप्रतिबद्ध-मित्र अर्थात् केवल एक जन्म से बँधे नहीं[46] होंगे। वह किस कारण ? हे आनन्द, (वह इस कारण कि) कोई सुनने भर से ही प्यारा और मनोहर होता है, पर देखने से नहीं। हे आनन्द,

---

42····42. मूल, प्रीतिप्रामोद्यं प्रसाद०। भोट, दृगह्, ब दङ् म् छोग् तु दृगह्, ब दङ् दद् प, प्रीति प्रामोद्यं प्रसादश्च। मूल पाठ प्रीतिप्रामोद्यप्रसादा होगा।

43····43. मूल, सर्वकार्यं। भोट, दृगोस् प थम्स् चद्, सर्वार्थं। मूल, पाठ सर्वकार्यं होगा।

44····44. सुविभक्त के स्थान में सुविभुक्तं पढ़िए। भोट, लेग्स् पर् ज़ोस् सो, सुविभुक्तम्, सम्यग् भुक्तम्।

45. मूल, अग्रसत्त्वैः। अग्रसत्त्वे अथवा अग्रसत्त्वेषु शुद्धपाठ होगा। तुलनीय भोट, सेम्स् चन् दम् प नम्स् ल, उत्तम सत्त्वों में।

46. यहाँ मूल में न तथा भोट में म निषेधवाचक शब्द होना चाहिए। क्यों कि आगे मूल में (पृष्ठ ९० पंक्ति ६-७) में न···· ममैक जातिप्रतिबद्धानि मित्राणि पाठ है। भोट में इस स्थान पर भी निषेधवाचक शब्द नहीं है।

कोई देखने से तो प्यारा और मनोहर होता है, पर सुनने से नहीं। हे आनन्द, कोई देखने से भी प्यारा और मनोहर होता है, और सुनने से भी। हे आनन्द, उनमें से जिन-किन्हीं को मैं देखने से वा सुनने से प्यारा और मनोहर लगूँ, वहाँ[47] तुम निष्ठा[47] रखो, पक्का भरोसा रखो कि वे प्राणी मेरे एकजातिप्रतिबद्ध-मित्र अर्थात् केवल एक जन्म से बँधे सहज-मित्र नहीं है। तथागत ने उन्हें देखा है, तथागत को उन्हें मोक्ष दिलाना है,[48] उनमें (तथागत के) गुणों के अंशों के समान गुण हैं, उनमें तथागत के गुणांश हैं, तथागत को उन्हें उपासक बनाना है,[48] वे तथागत के शरणागत हैं, तथागत ने उन्हें[49] अपना लिया है[49]। हे आनन्द, पहले = 74ख = बोधिसत्त्वचर्या में लगे रहते हुए, मेरे पास आकर प्राणी अभय की याचना करते तो मैं उन्हें अभय देता था। इस समय अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि पा लेने के बाद तो कहना ही क्या? हे आनन्द, श्रद्धा में योग (= श्रद्धा लाभ के निमित्त यत्न) करना चाहिए। यह तथागत की विज्ञापना है। हे आनन्द, तुम्हारे लिए तथागत को जो करना था, वह कर दिया। मान के शल्य को (= चुभते हुए काँटे को) शोध डाला। हे आनन्द, (हमारा कोई) मित्र है, यह सुन कर भी (लोग) सौ-योजन दूर तक जाते हैं तथा पहले से अनदेखे मित्र को देखकर सुखी होते हैं। फिर मेरे सहारे कुशल-मूलों को जिन्होंने रोपा, (मुझे देख कर) उन (के सुख) का कहना ही क्या? तथागत, अर्हन्, सम्यक्संबुद्ध (उन्हें) जानेंगे कि ये प्राणी तथागतों के पहले के मित्र रहे हैं, (इसलिए) हमारे भी ये मित्र हैं। वह क्यों? हे आनन्द, (वह इस-लिए कि) मित्र का मित्र प्यारा और मनोहर लगता है,[50] उस मित्र का भी[50] जो प्यारा मित्र होता है, वह भी प्यारा और मनोहर लगता है। इसीलिए तो हे आनन्द, फुसलाता हूँ, समझाता-बुझाता हूँ कि एकमात्र श्रद्धा उपजाओ। हम अनुपरीन्दना करेंगे—हम अनुरोध करेंगे अना (–91–) गत के तथागत, = 75क = अर्हत् सम्यक् संबुद्धों से, जिससे वे (ऐसे श्रद्धालु प्राणियों को) हमारा भी मित्र

47····47. मूल, निष्ठात्वं तत्र गच्छेथा। शुद्ध पाठ होगा—निष्ठा (=निष्ठा) त्वं तत्र गच्छेथा। तुलनीय भोट, ख्योद् क्यिस्....ङेस् पर् गर्तोस् पर ब्य स्ते।

48····48. मूल, ते समगुणप्रत्यंशास्ते तथागतगुणप्रत्यंशास्ते तथागतेन कर्तव्या उपासकास्०। देदग् नि दे ब्शिन् ग्शेग्स् प ङ्ग् योन् तन् ग्यि छ मुम् प हो, ते तथागतसमगुणप्रत्यंशाः।

49····49. मूल, उपान्तास्०। यह अशुद्ध है। भोट, ब्फ़ङ् ब हो, उपात्ताः।

50····50. मूल, तस्यापि (तदपि) प्रियमेव भवति, मित्रस्य। भोट, गुञह् बो दे हि., तस्य मित्रस्य। कोष्ठक पाठ निरर्थक है।

जान कर उनका यथोचित मनोरथ पूरा करेंगे। हे आनन्द, उदाहरण से समझो। कोई आदमी हो, उसका एक छोटा बेटा हो। वह आदमी हो बूढ़ा, सम भाव से बरतने वाला और बहुत से मित्रों वाला। वह (बेटा) अपने बाप के मरने पर, अपने बाप के मित्रों से भलीभाँति सँभाल लिया जाने से न नष्ट हो। इसी प्रकार, हे आनन्द, जो कोई मुझ पर श्रद्धा करेंगे, उन्हें मैं सँभालूँगा। वे मेरे मित्र जैसे हैं, वे मेरे शरणागत हैं। और तथागत के वे मित्र सत्यवादी हैं, अनृतवादी नहीं। मैं सत्यवादियों के लिए, अनुपरीन्दना करता हूँ—अनुरोध करता हूँ उनसे, जो तथागत के मित्र हैं—अनागत के अर्हत् सम्यक् संबुद्ध हैं। हे आनन्द, श्रद्धा में योग (=श्रद्धा लाभ के निमित्त यत्न) करना चाहिए। यहाँ मैं तुमसे विज्ञापना कर रहा हूँ।

23. इस प्रकार, हे भिक्षुओ,[51] बोधिसत्त्व के जन्म होने पर, आकाश में स्थित कोटि-खर्व-शतसहस्र अप्सराएँ मायादेवी के ऊपर पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य विलेपन, तथा वस्त्राभूषणों की वर्षा करती थीं। उस विषय में ऐसा कहा जाता है—

(भगवज्जन्म वर्णन)

(अष्टादशाक्षरा महामालिका (=वनमाला) छन्द)

शुभविमलविशुद्धहेमप्रभा चन्द्रसूर्यप्रभा
षष्टिदशसहस्र[52] देवाप्सरा मञ्जुघोषस्वराः।
तस्मि क्षणि उपेत्य तां लुम्बिनीं मायदेव्यब्रुवन्
मा खु जनि विषादु तुष्टा भवोपस्थायिकास्ते वयं ॥213॥

पवित्र, निर्मल तथा अत्यन्त शुद्ध सुवर्ण-जैसी कान्ति की, चन्द्रमा तथा सूर्य जैसी चमक की, मनोहर ध्वनि और स्वर की, साठ-दस हजार देवाप्सराएँ उसी क्षण लुम्बिनी पहुँच कर उन मायादेवी से बोलीं—विषाद न करें, संतुष्ट हों, हम सब आप की सेविका हैं।

भण हि किं करणीयु किं कुर्महे केन कार्यं च ते
वयं तव सुसमर्थोपस्थायिका प्रेमभावस्थिताः।
अपि च भव उदग्र हर्षान्विता मा च खेदं जनेहि
जरामरणविघाति वैद्योत्तमं अद्य देवी जनेषी लघु ॥214॥

51. भोट, दगे स्लोङ् दग्, भिक्षवः, हे भिक्षुओं।

52. भोट, स्तोङ् फ्रग् दुग् चु, षष्टिसहस्र।

बोलिए क्या करना है ? (हम) क्या करें ? आपका किस (वस्तु) से प्रयोजन है ? हम प्रेम-भाव में स्थित, भलीभाँति समर्थ आपकी सेविकाएँ हैं। किं च आनन्दित हों, हर्ष से युक्त हों, खेद न करें। आज अभी शीघ्र ही देवी ने जरामरणरूपी (रोग के) नाशक श्रेष्ठ वैद्य को जन्म दिया है।

(–92–) यथ द्रुम परिफुल्ल संपुष्पिता शालवृक्षा इमे
यथ च मरु सहस्र पार्श्वे स्थिता भ्रामयन्तो भुजान्।
यथ च चलि ससागरा मेदिनी पड्विकारा इयं
दिवि भुवि च विघुष्ट लोकोत्तरं त्वं जनेषी सुतं ॥215॥

ये पेड़ जैसे चारों ओर से फूले हुए हैं, शालवृक्ष भलीभाँति पुष्पित हो गए हैं, और जैसे हज़ारों देवता पास में खड़े भुजाएँ घुमा रहे हैं, और जैसे सागरसहित पृथिवी छह प्रकार से डोल उठी है, आकाश और पृथिवी में विशेष घोष (भर गया) है, (उससे जान पड़ता है कि) आपने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया है।

यथ च प्रभ विशुद्ध विभ्राजते स्वर्णवर्ण शुभा
तूर्यशत मनोज्ञा चाघट्टिता घुष्यन्तेऽम्बरे।
यथ च शत सहस्र शुद्धा शुभा वीतरागाः सुरा
नमिषु मुदितचित्ता अद्यो जने सर्वलोके हितं ॥216॥

जैसे सोने के रंग की शुभ एवं विशुद्ध प्रभा जगमगा रही है, बिना बजाए ही आकाश में मनोहर सैकड़ों बाजे बज रहे हैं, और जैसे शतसहस्र शुद्ध, शुभ तथा रागरहित देवता मुदित चित्त हो नमस्कार कर रहे हैं (उससे जान पड़ता है कि) आज (अपने) सर्वलोक-हितकारी को जन्म दिया है।

शक्रमपि च ब्रह्म पालापि चान्या च या देवता
तुष्ट मुदितचित्ता पार्श्वे स्थिता नामयन्तो भुजां।
सो च पुरुषसिंह शुद्धव्रतो भित्त्व[53] कुक्षि निर्धावितो
कनकगिरिनिकास शुद्ध = 76❀ = व्रतो निष्क्रमी नायकः ॥217॥

---

53. भोट, गोम्स् नस्, भावयित्वा। यह पाठ भी उत्तम है। इसके अनुसार कुक्षि का सम्बन्ध निष्क्रमी से होगा तथा उसे द्वितीयान्त न मान पंचम्यन्त मानना होगा। ❀भोटग्रन्थ का छियत्तरवाँ पत्र लुप्त है। ❀❀मूल ग्रन्थ में संपादक ने संस्थिता पद के अन्तर कोष्ठक में ऽभूतदा, यत्र पद के अनन्तर चक्राङ्कचित्रेभिः, स्थितो के अनन्तरऽपि नायकः बढ़ाकर वनमाला छन्द बनाने का यत्न किया है। अन्तिम चरण दण्डक स्पष्ट है, अतः पाठ

शक्र, ब्रह्मा, लोकपाल तथा अन्य जो-जो देवता हैं, वे (सब) सन्तुष्ट एवं प्रसन्नचित्त ही भुजाएँ नमाए पास में खड़े हैं। और वे शुद्ध-व्रत के पुरुषसिंह, नायक कोख भेद भली भाँति धोए हुए कनक-पर्वत के समान बाहर निकले।

शक्रमपि च ब्रह्मा तौ पाणिभिः संप्रतीच्छा मुनिं
क्षेत्र सहस्र संकम्पिता आभ मुक्ता शुभा।
अपि च त्रिषु अपायि सत्त्वा सुखी नास्ति दुःखं पुन
अमर शतसहस्र पुष्पां क्षिपी भ्रामयन्त्यम्बरान् ।।218।।

शक्र तथा ब्रह्मा दोनों ने हाथों से मुनि को लिया, सहस्रों (बुद्ध-) क्षेत्र काँप उठे, पवित्र आभा फूट पड़ी, तीनों (नरक, प्रेत तथा तिर्यक् नाम की) दुर्गतियों के प्राणी सुखी हो गए, दुःख नहीं रहा, और वस्त्र फहराते शत-सहस्रों देवताओं ने फूल बरसाए।

वीर्यबलउपेत, वज्रात्मिका मेदिनी संस्थिता, पद्मु रुचिरचितु
अभ्युद्गतो, यत्र पद्भ्यां स्थितो;
सप्त पद क्रमित्व ब्रह्मस्वरो मुञ्चि घोषोत्तमं जरामरण
विघाति वैद्योत्तमो भेष्यि सत्त्वोत्तमः। (-93-)

गगण तल स्थिहित्व ब्रह्मोत्तमो शक्र देवोत्तमः
सुचिरुचिरप्रसन्नगन्धोदकै विस्नपी नायकं,
अपि च उरगराजा शीतोष्ण द्वे वारिधारे शुभे व्यमुञ्चान्तरिक्षे
स्थिताः, अमर शतसहस्र गन्धोदकै विस्नपी नायकं लोकपालाश्च
संभ्रान्त संधारयन्ती करैः शोभनैः ।।219 दण्डकच्छन्दः ✻✻✻ ।।

जहाँ वीर्य एवं बल से युक्त (भगवान्) खड़े हो, सात पैर चल कर, ब्रह्मस्वर से उत्तम घोषणा की कि (मैं) जरा-मरण का नाशक श्रेष्ठ वैद्य एवं श्रेष्ठ सत्त्व हूँगा, (वहाँ) धरती हीरे के जैसी (निर्मल एवं अभेद्य बन कर) भलीभाँति स्थित रही, सुन्दर रंग-बिरंगे कमल निकले। आकाश तल में खड़े होकर (ब्रह्मलोक के देवताओं में) उत्तम ब्रह्म तथा देवताओं में उत्तम शक्र ने पवित्र, रुचिर, एवं

पूरा दण्डक मानकर यहाँ दिया गया है। ● मूल, (इति)। ● उपजाति में इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का ही नहीं अन्य वृत्तों का भी मिश्रण देखा जाता है। छन्दोलक्षण भी कहीं ठीक, कहीं ढीला-ढाला होता है। × मूल नयुता (स्थिता)। × × इसके आगे मूल में है (पंचकुलिकशतानि प्रसूयन्ते स्म), अर्थात् (पाँच सौ कुलिक अर्थात् नगराधिकारी विशेष उत्पन्न हुए)। × × × मूल, महकुलरत्नस्य (वृद्धिभूता)। × × × × मूल, (राज्ञि) शुद्धोदने।

निर्मल,सुगन्धित जलों से (मुनि--) नायक को नहलाया, और नागराजाओं ने आकाश में खड़े होकर ठंडे तथा गरम जल की पवित्र धाराएँ छोड़ीं, शतसहस्रों देवताओं ने सुगन्धित जलों से (मुनि--) नायक को नहलाया, (उस समय) संभ्रान्त (चकित) हुए लोकपाल उन्हें पवित्र हाथों से भलीभाँति थामे रहे ।

त्रिसहस्रा इयं भूमिः कम्पते सचराचरा ।
प्रभा च रुचिरा मुक्ता अपायाश्च विशोधिताः ।
क्लेश दुःखाश्च ते शान्ता जाते लोके विनायके ॥220॥

लोक में विनायक (बुद्ध) के उत्पन्न होने पर यह चराचर सहित त्रिसाहस्र (--महासाहस्र) भूमि चंचल हो उठी, सुन्दर प्रभा निकल पड़ी, अपायों (नरकों) में अन्धेरा साफ़ हो गया, तथा वे-सब (प्राणियों को पीड़ित करने वाले) क्लेश एवं दुःख शान्त हो गए ।

क्षिपन्ति मुरतः पुष्पं जातेऽस्मिन् नरनायके ।
क्रम सप्तपदां वीरः क्रमते बल वीर्यवान् ॥221॥

इन नर-नायक के उत्पन्न होने पर देवताओं ने फूल बरसाए । बल तथा वीर्य से युक्त वीर (भगवान्) सात कदम पैर (उठा) चले ।

पादौ निक्षिपते यत्र भूमौ पद्मवराः शुभाः ।
अभ्युद्गच्छन् ततो मह्यां सर्वरत्नविभूषिताः ॥222॥

जिस भूमि पर (भगवान्) ने पैर रखे, उस भूमि पर सब रत्नों से विभूषित, शुभ तथा उत्तम पद्म निकले ।

यदा सप्तपदां गत्वा ब्रह्मस्वरमुदाहरि ।
जरामरणविघातो भिषग्वर इवोद्गतः ॥223॥

(यह सब तब हुआ) जब सात पैर चल कर (भगवान्) ने ब्रह्मस्वर से कहा कि जरामरण के नाशक श्रेष्ठ वैद्य जैसा मैं उत्पन्न हुआ हूँ ।

(उपजातिच्छन्द)

व्यवलोकयित्वा च विशालदो दिशां
ततो गिरां मुञ्चति अर्थयुक्तां ।
ज्येष्ठोऽहं सर्वलोकस्य श्रेष्ठो लोके विनायकः
इयं च जातिर्मम पश्चिमा (ति) ॥224॥

विशारद अर्थात् निर्भीक (भगवान्) ने दिशाओं को देख कर फिर अर्थपूर्ण वचन कहे कि मैं सब लोक में बड़ा हूँ, (सब) लोक में श्रेष्ठ हूँ, (मैं) विनायक (उत्तम नेता) हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है ।

हास्यं च मुक्तं नरनायकेन
सलोकपालैरमरुभिश्च सेन्द्रैः ।
प्रसन्नचित्तैर्वरगन्धवारिभिः
संस्कारितो लोकहितार्थकारी ॥225॥

नरनायक (भगवान्) मुसकराए । इन्द्र तथा लोकपालों के साथ प्रसन्न चित्त देवताओं ने लोक के हितकर प्रयोजन में लगे हुए (भगवान्) का उत्तम तथा सुगन्धित जलों से (स्नान) संस्कार किया ।

अपि चोरगेन्द्रैः सहितैः समग्रैः
गन्धोग्रधाराविसरैः स्नपिंसु ।
अन्येऽपि देवा नयुताऽन्तरीक्षे
स्नपिन्सु गन्धाग्र जिनं स्वयंभुं ॥226॥ (–94–)

(उन्होंने) सब नागराजों के साथ सुगन्धित एवं बलवती धाराओं के समूह से (भगवान् को) नहलाया । आकाश में (ठहरे) अन्य खर्ब-खर्ब देवताओं ने उत्तम गन्ध (के जल) से स्वयंभू जिन को स्नान कराया ।

श्वेतं च विपुलं छत्रं चामरांश्च शुभाम्बरान् ।
अन्तरीक्षे गता देवा स्नपयन्ति नरर्षभं ॥227॥

श्वेत रंग के विशाल छत्र, चवँर, तथा शुभवस्त्रों (के जोड़े) को (लेकर) आकाश में विराजमान देवताओं ने मनुष्यों में श्रेष्ठ (भगवान्) को नहलाया × × ।

(अष्टादशाक्षरा महामालिका (=वनमाला) छन्द)
पुरुष त्वरितु गत्व शुद्धोदनमब्रवीत् हर्षितो
वृद्धि विपुल जातु देवा सुतो भूषितो लक्षणैः ।
महकुलरत्नस्य × × × व्यक्तो असौ चक्रवर्तीश्वरः
न च भवि प्रतिशतु जम्बुध्वजे एकछत्रो भवेत् ॥228॥

अविलंबित एवं हर्ष से भरा एक पुरुष शुद्धोदन से जाकर बोला । बड़ी बढ़ती हो । हे देव, लक्षणों से विभूषित कुमार जन्मा है । (आपके) महान् कुलरत्न का वह स्पष्ट ही चक्रवर्तीश्वर होगा । जम्बू की ध्वजा वाले (इस द्वीप) में (उस कुमार का) विरोधी शत्रु नहीं होगा । (वह) एक छत्र (राजा) होगा ।

द्वितियु पुरुष गत्व शुद्धोदने × × × श्लेषयित्वा क्रमे = 77क =
वृद्धि विपुल देव जाता नृपे[54] शाकियानां कुले।
पञ्चविंशतिसहस्र जाताः सुताः शाकियानां गृहे
सर्वि बलउपेत नग्नाः[54क] समा दुष्प्रधर्षाः परैः ॥229॥

दूसरा पुरुष शुद्धोदन के पास जाकर, चरणालिंगन कर, (बोला)। हे देव, बड़ी बढ़ती हो। शाक्यों के कुल में राजा[54] जन्मा है। शाक्यों के घरों में पचीस सहस्र पुत्र जन्मे हैं। वे सबके सब बलवान्, एक-जैसे नग्न[54क] (अर्थात् नगन वा नगण, गणनातीत वीर भाव के), तथा शत्रुओं द्वारा न दबाए जा सकने वाले हैं।

अपरु पुरुष आह देवा श्रुणानन्दशब्दं ममा
छन्दकप्रमुखानि चेटीसुता जात अष्टौ शता।
अपि च दशसहस्र जाता हयाः कण्ठकस्य सखा
तुरगवरप्रधान हेमप्रभा मञ्जुकेशा वराः ॥230॥

दूसरा पुरुष बोला। हे देव, मेरा आनन्द का वचन सुनिए। चेटियों (= दासियों) के आठ सौ बेटे छन्दक आदि जन्मे हैं। इसके अतिरिक्त कण्ठक के साथी (—जैसे) श्रेष्ठ अश्वों में भी श्रेष्ठ, सुवर्ण-जैसी चमक के, मनोहर केशों के, उत्तम दस सहस्र अश्व उत्पन्न हुए हैं।

विंशति च सहस्र पर्यन्तकाः कोट्टराजास्तथा
नृपति क्रमतलेभि चान्वाक्रमी साधु देवा जया।
आज्ञा खलु ददाहि गच्छाम किं वा करोमो नृपा
त्वमिह वशितु प्राप्तु भृत्या वयं भट्टदेवा जया ॥231॥

बीस हज़ार सीमा-प्रान्त की अटवियों के राजा, हे नृपते, (आपके) चरणों के तलवों की शरण आए हैं। (वे कहते हैं) साधु, देव, जय हो। आज्ञा दीजिए (यदि कहीं) जाना हो या कुछ करना हो। आप (हमारे) ईश्वर हैं, और हम (आप के) सेवक हैं। हे भर्तृदेव, जय हो।

---

54. भोट, ग्यॅल् बु, राजपुत्रः।

54क. भोट, छुन् पो छे, बहु। महापुरुष (ग्रेट् मैन्) बु० हा० सं० डि०। यह अत्यन्त संदिग्ध स्थल है। संभवतः न = नहीं गृन = गण (अपभ्रंश गन)।

विंशति च सहस्र नागोत्तमा हेमजालोज्ज्वला
त्वरितमुपगमिन्सु राज्ञो गृहं गर्जमाना नभे[55] ।
(--95--) कृष्णसबलवत्स गो-पामुखा जात षष्टिशता[56]
इयमपि सुति देव, देवोत्तमे वृद्धि राज्ञो गृहे ॥232॥

बीस हज़ार सुवर्णजाल अर्थात् सुनहली—झूल से चम-चमाते हुए, आकाश में से गरजते हुए, उत्तम हाथी अभी-तुरन्त (महा) राज के घर पर आए हैं । गो-आदि (पशुओं) के साठ-सौ काले-चितकबरे बछड़े उत्पन्न हुए हैं । हे देव, देवताओं में उत्तम (भगवान्) के जन्म पर (महा--) राज के घर में यह-सभी बढ़ती हुई है ।

अपि च नृपति गच्छ प्रेक्ष स्वयं सर्वमेव प्रभो
[57]पुण्यतेजप्रभे ।
नरमरुसहस्र ये हर्षिता दृष्ट्वा जाते[57] गुणा = 77ख =
बोधि वर अशोक संप्रस्थिताः क्षिप्र भोमो[58] जिनाः ॥233॥इति॥

किं च, हे राजन्, हे प्रभो, चलिए । पुण्य के तेज की प्रभावाले (भगवान्) के जन्म के गुणों को देखकर जो हजारों देवमनुष्य हर्षित हुए हैं, (उन) सभी को देखिए । (वे) शोक-रहित, श्रेष्ठ बोधि के लिए संप्रस्थित हो अर्थात् बोधि के निमित्त पारमिताओं को पूर्ण कर शीघ्र बुद्ध होंगे ।

24. इस प्रकार हे भिक्षुओ, बोधिसत्त्व के जन्म होने पर, उस क्षण ही बढ़-बढ़ कर दान दिया जाने लगा। पाँच सौ कुलिक अर्थात् कुलपुत्र जन्मे। यशोवती आदि दश सहस्र कन्याएँ, आठ सौ दासियाँ, छन्दक आदि आठ सौ दास, दस हज़ार बछेड़ियाँ, कण्ठक आदि दस हज़ार बकेड़े, पाँच हज़ार हथिनी-बच्चियाँ और पाँच हज़ार हाथी-बच्चे उत्पन्न हुए । उन सब को राजा शुद्धोदन

---

55. भोट, **नम् म्खह् लस्**, आकाश से । नभसः पाठ भोटानुसार होगा ।

56. भोट में इस पाद का अनुवाद यों है—**स गसुम् ल सोग्स् नग् गु झल् लु दग् दङ् बह् नि द्रुग् स्तोङ् ह् ब्रङ्स्** (= ? त्रिभूमिकृष्णवर्णगावः षष्टि-सहस्राणि प्रसूताः) ।

57....पुण्यतेज-प्रभे.....जाते इस स्थान पर दोनों पद षष्ठी विभक्ति के हैं । तुलनीय भोट, **ब्सोद् नमस् गृझि ह्.ोद् ल्दन् प ब्ल्तमस् प यि**, पुण्यतेजः-प्रभस्य जातस्य ।

58. भोमो = भवामः । यहाँ पुरुष विभक्ति—विपर्यास है । भवतु, भवेत् इन पदों के अर्थ में भोमो का यहाँ प्रयोग है । भोट, **ग्युर् चिग्** ।

ने पुस्तवरोपेत[59] (कर) अर्थात् सुन्दर पुस्त (पुस्तक) पर लेख-युक्त कर कुमार की क्रीडा के लिए दिया। बोधिसत्त्व के भोग-विलास के लिए, बोधिसत्त्व के प्रताप से ही, चार-लाख करोड़ द्वीपों के बीच पृथिवी के प्रदेश में से अश्वत्थ (पीपल) का तना निकला, [60]द्वीप के बीच में[60] चन्दनवन प्रकट हुआ, बोधिसत्त्व के भोग-विलास के लिए नगर के चारों ओर पाँच सौ उपवनों का आविर्भाव हुआ, तथा धरती के तल से उछल कर पाँच हज़ार निधानों ने (अपने लाभ के) द्वार को दिखाया। इस प्रकार राजा शुद्धोदन के जो-जो मनोवांछित अर्थ थे, वे सब मनोवांछित वृद्धि संपन्न हो गए, भलीभाँति सिद्ध हो गए।

25. तब राजा शुद्धोदन के मन में यह हुआ। कुमार का मैं क्या नाम रखूँ? तब उनके मन में ऐसा हुआ। इनके उत्पन्न होते ही मेरे सब अर्थ सिद्ध हो गये। इनका = 78क = नाम इसलिए मैं सवार्थ—सिद्ध रखूँ। तब राजा ने (--**96**--) बोधिसत्त्व को बड़े सत्कार से सत्कृत कर—ये कुमार नाम से सर्वार्थ-सिद्ध हों—ऐसा (कह कर) उनका नामकरण किया।

26. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व के उत्पन्न होने पर, माता की कोख का पासा जैसा पहले बिना घाव का, तथा बिना चोट-चपेट का था, वैसा ही पीछे बना रहा। [61]तीन स्रोतों के जल वाले कुएँ[61] तथा सुगन्धित तेल की पुष्करणियाँ प्रकट हुईं। पाँच हज़ार अप्सराएँ, देवलोक के सुगन्ध से परिवासित तेल ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भलीभाँति प्रसव हो जाने पर उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक का अनुलेपन ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर भलीभाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक के सुगन्धित जल से भरे कलश ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भलीभाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक के बच्चों के पहनाने योग्य वस्त्र ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भली-भाँति प्रसव हो जाने पर

---

59. मूल, पुस्तवरोपेतानि। भोट, **स्न ग्रङ्स् यिगेर् ब्रिस् ते,** विविधाङ्काक्षर-लिखितानि।

60····60. मूल, अन्तर्द्वीपे। भोट, **ग्लिङ् फ्र मो र्नम्स् सु,** क्षुद्रेषु द्वीपेषु, छोटे द्वीपों में।

61····61. मूल, त्रितविष्यन्दाम्बुकूपाः। पाठान्तर त्रिवि०। भोट, **खोन् प ल्न् ग्सुम् ल्दुद् प दग्,** कूपास् त्रिवारं जलदातारः। त्रि-विष्यन्द (= स्रोतः) अम्बुकूप पाठ मानकर यहाँ अनुवाद किया गया है।

उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है ? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक के बच्चों के पहनाने योग्य आभूषण ले, = 78ख = बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भलीभाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है ? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक के गाने-बजाने के साथ बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भली-भाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है ? जम्बू-द्वीप में जितने पाँचों अभिज्ञाओं के धनी बाह्य (= श्रमणेतर = ब्राह्मण) ऋषि थे, वे सब आकाशतल से आकर, राजा शुद्धोदन के सामने खड़े होकर जय हो—बढ़ती हो शब्द सुनाते थे ।

27. हे भिक्षुओ, इस प्रकार उत्पन्न होते-होते बोधिसत्त्व का लुम्बिनी-वन में, देवलोक के तथा मनुष्य लोक के बाजे-गाजे के साथ सत्कार किया गया, गौरव किया गया, मान किया गया, पूजन किया गया । खाने के, भोजन के, तथा स्वाद लेने के पदार्थ बाँटे गए । सब शाक्य गण के लोगों ने इकट्ठे हो आनन्द-ध्वनि की । दान दिए गये, (--97--) पुण्य किए गये, दिन-दिन बत्तीस लाख ब्राह्मणों को तृप्त किया गया, जिनका जिस वस्तु से प्रयोजन हुआ, उन्हें वह (वस्तु) दी गई, और देवताओं के अधिपति शक्र तथा ब्रह्मा ब्राह्मण-वटु का रूप धर कर, अग्रआसन पर बैठ मंगलमयी गाथाएँ पढ़ीं । (वे गाथाएँ ये हैं—)

अपायाश्च यथा शान्ता सुखी सर्वं यथा जगत् । = 79क =
ध्रुव सुखावहो जातः सुखे स्थापयिता जगत् ॥234॥

जिस प्रकार दुर्गति (में पड़े जीव) शान्त हैं, जिस प्रकार सब जगत् सुख से है, (उससे जान पड़ता है कि) जगत् को सुख में स्थापित करने वाले सुख के देने हारे (भगवान् ही) निश्चय से जन्मे हैं ।

यथा वितिमिरा चाभा रविचन्द्रसुरप्रभाः ।
अभिभूता न भासन्ते ध्रुवं पुण्यप्रभोद्भवः ॥235॥

जिस प्रकार अन्धकार नहीं रहा है और प्रकाश-ही-प्रकाश है । सूर्य, चन्द्रमा, तथा (अन्य) देवताओं के तेज मन्द होकर (पहले जैसे) नहीं चमक रहे हैं । (उस से जान पड़ता है कि) पुण्य के तेज वाले (भगवान्) ही निश्चय से जन्मे हैं ।

पश्यन्त्यनयना यद्वच् छ्रोत्रहीनाः श्रुणन्ति च ।
उन्मत्तकाः स्मृतीमन्तो भविता लोकचेतियः ॥236॥

जिस प्रकार अंधे देख रहे हैं, बहरे सुन रहे हैं, पगले स्मृतिमान् हो गये हैं, (उससे जान पड़ता है कि ये) लोक के (पूजनीय) चैत्य होंगे ।

न बाधन्ते यथा क्लेशा जातं मैत्रजनं जगत् ।
निःसंशयं ब्रह्मकोटीनां भविता पूजनारहः ॥237॥

जिस प्रकार क्लेश--बाधा नहीं रही, जगत् के लोग मैत्री--भावना के हो गए, (उससे जान पड़ता है कि ये) निःसन्देह कोटि-कोटि ब्रह्माओं के लिए पूजा-योग्य होंगे ।

यथा संपुष्पिताः शाला मेदिनी च समा स्थिता ।
ध्रुवं सर्वजगत्पूज्यः सर्वज्ञोऽयं भविष्यति ॥238॥

जिस प्रकार साल (के पेड़) भलीभाँति फूले हुए हैं, धरती समतल हुई स्थित है, (उससे जान पड़ता है कि) ये निश्चय ही सारे जगत् के पूज्य सर्वज्ञ (बुद्ध) होंगे ।

यथा निराकुलो लोको महापद्मो यथोद्भवः ।
निःसंशयं महातेजा लोकनाथो भविष्यति ॥239॥

जिस प्रकार लोक में व्याकुलता नहीं रही है, जिस प्रकार महापद्म का प्रादुर्भाव हुआ है, (उससे जान पड़ता है कि ये) निःसन्देह महान् तेजस्वी जगन्नाथ होंगे ।

यथा च मृदुका वाता दिव्यगन्धोपवासिताः ।
शमेन्ति व्याधिं सत्त्वानां वैद्यराजो भविष्यति ॥240॥

जिस प्रकार दिव्य-गन्ध से सुवासित मन्द-मन्द चलते हुए पवन प्राणियों की व्याधि शान्त कर रहे हैं, (उससे जान पड़ता है कि ये) वैद्यराज होंगे ।

वीतरागा यथा चेमे रूपधातौ मरुच्छताः ।
कृताञ्जलि नमस्यन्ते दक्षिणीयो भविष्यति ॥241॥

जिस प्रकार रूपधातु (नामक देव-लोक) के ये सैकड़ों देवता अञ्जलि बाँध नमस्कार कर रहे हैं, (उससे जान पड़ता है कि ये) दक्षिणा के पात्र होंगे ।

यथा च मनुजा देवान् देवाः पश्यन्ति मानुषान् ।
हेठयन्ति न चान्योन्यं सार्थवाहो भविष्यति ॥242॥

जिस प्रकार मनुष्य देवताओं को तथा देवता मनुष्यों को देखते हैं, और परस्पर की हिंसा नहीं करते, (उससे जान पड़ता है कि ये मोक्ष-द्वीप के) सार्थ-वाह होंगे ।

(--98--) यथा च ज्वलनः शान्तः सर्वा नद्यश्च विस्थिताः ।
सूक्ष्मं च कम्पते भूमिः = 79ख = भविता तत्त्वदर्शकः ॥243॥

जिम प्रकार अग्नि शान्त है, सब नदियाँ ठहरी हुई हैं, धरती धीरे-धीरे हिल रही है, (उससे जान पड़ता है कि ये) तत्त्वद्रष्टा होंगे।

28. इस प्रकार, हे भिक्षुओं, जब बोधिसत्त्व को उत्पन्न हुए सप्ताह भर हो गया, तब (उनकी) माता मायादेवी काल कर गई। काल कर वे त्रयस्त्रिंश (लोक) में देवताओं के बीच उत्पन्न हुई। हे भिक्षुओ, तुम्हारे मन में ऐसा (सन्देह) हो सकता है कि मायादेवी बोधिसत्त्व के दोष के कारण काल कर गईं, पर तुम्हें ऐसा नहीं मन में लाना चाहिए। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि) उनकी आयु का प्रमाण केवल इतना ही भर था। हे भिक्षुओ, अतीत (काल) के बोधिसत्त्वों को भी उत्पन्न हुए जब सप्ताह भर हो गया था, तभी उनकी माताएँ काल कर गई थीं। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि) वयस्क एवं परिपूर्णेन्द्रिय बोधिसत्त्व के अभिनिष्क्रमण पर-घर छोड़ कर चले जाने पर कहीं माता का हृदय न फूट जाय।

29. इस प्रकार हे भिक्षुओ, जिस प्रकार के व्यूह से—बनाव-सिंगार से मायादेवी महानगर कपिलवास्तु से उद्यान-भूमि के लिए निकली थीं, उससे भी करोड़ों-लाख गुने महान् व्यूह के साथ-बनाव-सिंगार के साथ बोधिसत्त्व ने महानगर कपिलवस्तु में प्रवेश किया। उनके प्रवेश (करने के क्षण) में पाँच हजार सुगन्धित जल से भरे पूर्णकलश आगे-आगे ले जाए जाते थे। इसी प्रकार पाँच हजार कन्याएँ [62]मयूरहस्तक (अर्थात् मोरछल) लेकर[62] आगे-आगे चलती थीं, [पाँच हज़ार कन्याएँ तालपत्र[63] ले कर आगे-आगे चलती थीं] पाँच हज़ार कन्याएँ सुगन्धित जल की झारियाँ लेकर आगे-आगे चलती थीं तथा मार्ग पर छिड़काव करती जाती थीं, [64]पाँच हजार कन्याएँ विचित्रपटलक अर्थात् चित्र-विचित्र पिटारियाँ लेकर आगे-आगे चलती थीं[64], [65]पाँच हज़ार कन्याएँ

62····62. मूल, मयूरहस्तकापरिगृहीतानि। पदच्छेद, मयूर-हस्तका-परिगृहीतानि। अपरिगृहीतानि पद नहीं है। भोट, **र्म ग्य हि म्दोङ्स् लग् न म्थोगस्, ते,** मयूरचन्द्रकान् हस्ते गृहीत्वा, मयूरचन्द्रक हाथ में लेकर।

63. मूल, तालवृक्षक। भोट, **र्त (=त) ल हि् यल् ग,** तालशाखा। शुद्धपाठ तालवृन्तक (तालपत्र) हो सकता है।

64····64. मूल, पञ्च च कन्यासहस्राणि विचित्रपटलकरिगृहीतानि। भोट, में यह पाठ नहीं है।

65····65. मूल, नवविचित्र प्रलम्बनमालापरिगृहीतानि। भोट, **नगस् छ्ल् गि्य मे तोग् गि फ्रेङ् ब ह्फ्यङ् ब ल्ये हु छेङ् स्न छोगस् योगस् ते,** वन-पुष्पविचित्रनव(तरुण)प्रलम्बनमालापरिगृहीतानि। मूल, के नव के अनन्तर अथवा माला से पूर्व वन शब्द बढ़ाना चाहिए।

=80क= रंग-बिरंगी, (नीचे तक) लटकती हुई ताज़ी-ताज़ी वनमालाएँ लेकर आगे-आगे चलती थीं[65], पाँच हज़ार कन्याएँ [66]रत्नों के मांगलिक आभूषण लेकर [66]आगे-आगे चलती थीं एवं मार्ग शोध करती थीं, और पाँच हज़ार कन्याएँ भद्रासन लेकर आगे-आगे चलती थीं। किं च पाँच (--99--) हज़ार ब्राह्मण घंटे लिए हुए मंगल शब्द सुनाते हुए आगे-आगे चलते थे। सब अलंकारों से विभूषित बीस हज़ार हाथी आगे-आगे चलते थे, सब अलंकारों से विभूषित, सोने के अलंकारों से ढके हुए बीस हज़ार घोड़े आगे-आगे चलते थे। ऊँचे किए गये छत्रों, ध्वजाओं, पताकाओं, तथा किंकिणियों के जालों से भली-भाँति अलंकृत अस्सी हज़ार रथ बोधिसत्त्व के पीछे-पीछे चलते थे। शूर-वीर, श्रेष्ठ अंग एवं रूप के, दृढ़ वर्म तथा कवच बाँधे, चालीस हज़ार पैदल सैनिक जाते हुए बोधिसत्त्व का अनुगमन करते थे। आकाश में ही रहते हुए, अपार एवं असंख्य, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध, काम-धातु के तथा रूप-धातु के शतसहस्र-खर्ब कोटि देवपुत्र नाना-प्रकार के अनेकों व्यूहों के साथ-बनाव-सिंगारों के साथ बोधिसत्त्व की पूजा करते हुए पीछे-पीछे चलते थे। जिस श्रेष्ठ-अतिश्रेष्ठ रथ पर बोधिसत्त्व भली-भाँति चढ़े हुए थे, उसे काम-धातु के देवताओं ने अनेक प्रकार के व्यूहों से बनाव-सिंगारों से भलीभाँति सँवारा था। सब अलंकारों से विभूषित, =80ख= रत्नों की मालाएँ लेकर (अथवा धारण कर) बीस हज़ार देव-कन्याएँ उस रथ को खींचती थीं। दो अप्सराओं के बीच एक मानुषी कन्या तथा दो मानुषी कन्याओं के बीच एक अप्सरा थी। अप्सराओं को मानुषियों का आमगन्ध (कच्चे मांस के जैसा शरीर गन्ध) नाकों में न लगता था, और अप्सराओं का रूप देख कर मनुष्य प्रमत्त (=मतवाले) न होते थे। यह सब था बोधिसत्त्व के तेज के बल के कारण।

30. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, कपिलवस्तु नाम के नगर में सर्वार्थसिद्ध के लिए पाँच सौ शाक्यों ने पाँच सौ घर बनवाए कि बोधिसत्त्व उनमें रहें। वे अपने-अपने घर के द्वारमूल पर खड़े होकर, अंजलि बाँध कर, शरीर नवा कर, गौरव के साथ नगर में प्रवेश करते हुए बोधिसत्त्व से यों बोले। हे सर्वार्थसिद्ध, यहाँ पधारें, हे देवातिदेव, यहाँ पधारें, हे शुद्धसत्त्व, यहाँ पधारें, हे सारथिवर, यहाँ पधारें, हे प्रीति एवं प्रमोद के देने हारे, यहाँ पधारें, हे (--100--) प्रशंसित यश

66⋯66. मूल, रत्नभद्रालंकारपरिगृहतानि। भोट, बज़्ङ् पोर स्ग्युर् ब हि, रिन् पो छे थोगस् ते, भद्रभूतरत्नपरिगृहीतानि।

के धनी, यहाँ पधारें, हे समन्तचक्षु (=सर्वत्र दर्शिन्), यहाँ पधारें, [67]हे असमसम (=असमानता के जगत् में अपने धर्म से समानता लाने वाले), यहाँ पधारें[67] [68]हे अतुलनीय गुण एवं तेज के धारण करने हारे[68], लक्षणों और अनुव्यंजनों से अलंकृत शरीर वाले, यहाँ पधारें ।★

31. वहाँ पर राजा शुद्धोदन ने उन सबके स्नेह सौजन्य की रक्षा के लिए बोधिसत्त्व को सब घरों में =81क= पधरा कर, चार मास बीतने पर, अपने घर में पधरवाया। वहाँ नानारत्नव्यूह नाम का (जो) महाप्रासाद था उस पर बोधिसत्त्व चढ़े। वहाँ बड़े-बूढ़े शाक्य इकट्ठे होकर परामर्श करने लगे कि मन में हित के भाव से, मन में मैत्री के भाव से, मन में गुणवान् होने के भाव से, मन में सौम्य (अर्थात् स्नेह के) भाव से बोधिसत्त्व की रक्षा करने के लिए, उन्हें खेलाने के लिए, उनका प्यार-दुलार करने के लिए कौन सी (शाक्यांगना) समर्थ है। वहाँ पाँच सौ शाक्यांगनाओं में से एक-एक ने कहा कि मैं कुमार की परिचर्या करूँगी। तब बूढ़े-बूढ़े शाक्य यों बोले। ये सब स्त्रियाँ नए वयस की, कम वयस की, नवयुवती हैं। रूप और यौवन के मद में मतवाली ये समय-समय पर बोधिसत्त्व की परिचर्या करने में समर्थ नहीं हैं। पर ये महाप्रजापती गौतमी कुमार की मौसी हैं। ये कुमार को भलीभाँति सुख से (पाल पोस कर) बड़ा करने में तथा राजा शुद्धोदन की आराधना करने में समर्थ हैं। इस प्रकार (मन में सोच) वे सब एक साथ होकर महाप्रजापती गौतमी को उत्साहित करने लगे। (उनसे) इस प्रकार (उत्साहित हो) महाप्रजापती गौतमी ने कुमार को (पाल-पोस कर) बड़ा किया। वहाँ बोधिसत्त्व के लिए बत्तीस धाएँ लगाई गई थीं—आठ धाएँ शरीर (की सेवा) के लिए, आठ =81ख= धाएँ दूध (पिलाने के लिए, आठ धाएँ मल (=मूत्र साफ करने) के लिए, और आठ धाएँ खेलाने के लिए।

32. तदनन्तर राजा शुद्धोदन शाक्य-गण को इकट्ठा करवा कर विचरवाने लगे कि ये कुमार क्या चक्रवर्ती राजा होंगे, अथवा प्रव्रज्या के लिए निकल पड़ेंगे।

67···67. मूल, इह भो असमसम प्रविश। भोट में यह वाक्य नहीं है।

68···68. मूल, असदृशगुणतेजोधर। भोट, **मम्ञम् प दङ् म्ञम् शिङ् ह्. ब्र मेद् प ह्रि. ग्ज़ि ब्ज़िद् म्ङह्. ब,** असमसमासदृश गुणतेजोधर।

★ इसके आगे मूल में अधिक पाठ कोष्ठक में है—(ततश्चोपादाय कुमारस्येह सर्वार्थसिद्धः सर्वार्थसिद्ध इति संज्ञामगमत्)। अर्थात् (उस कारण कुमार का सर्वार्थसिद्ध सर्वार्थसिद्ध यह नाम पड़ा)। भोट में भी यह पाठ नहीं है।

33. (–101–) उस समय पर्वतराज हिमालय के (एक) पासे में पाँच अभिज्ञाओं के जानने वाले अपने भांजे नरदत्त के साथ असित नाम के महर्षि रहते थे। उन्होंने बोधिसत्त्व के उत्पन्न होते-होते बहुत से अचरज से भरे अद्भुत प्रातिहार्य (= दिव्य चमत्कार) देखे। और (यह भी) देखा कि आकाश-तल पर विराजमान देवपुत्र 'बुद्ध' इस शब्द को सुनाते हुए, वस्त्र घुमाते हुए, प्रमोद के साथ इधर-उधर घूम रहे हैं। उनके मन में यह हुआ कि मैं (दिव्य दृष्टि से) अवलोकन करूँ। उन्होंने दिव्य दृष्टि से समूचे जम्बूद्वीप को निहारते हुए देखा कि श्रेष्ठ महानगर कपिलवस्तु में राजा शुद्धोदन के घर में सैकड़ों पुण्यों के तेज से तेजस्वी, सब लोक के द्वारा पूजित, बत्तीस महापुरुष-लक्षणों द्वारा अलंकृत शरीर के कुमार का जन्म हुआ है। (यह) देख कर फिर नरदत्त माणवक से कहा। हे माणवक, (यह बात) जान लो कि जम्बूद्वीप में महारत्न उपजा है। महानगर कपिलवस्तु में राजा शुद्धोदन के घर में सैकड़ों पुण्यों के तेज से = 82क = तेजस्वी, सब लोक के द्वारा पूजित, बत्तीस महापुरुष लक्षणों से युक्त कुमार का जन्म हुआ है। यदि वे घर-बारी रहेंगे तो चतुरङ्गिणी सेना से युक्त, विजित (जीते हुए देश) के धनी, धर्मात्मा, धर्म के शासक, जनपद (= राज्य) की शक्ति तथा बल को प्राप्त, सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होंगे। उनके सात रत्न ये हैं—चक्र-रत्न, हस्ति-रत्न, अश्व-रत्न, मणि-रत्न, स्त्री-रत्न, गृहपति-रत्न, तथा परिणायक (= मन्त्रि) रत्न। ऐसे सात रत्नों से वे पूर्ण होंगे। उनके हजार पुत्र होंगे। (जो) शूर-वीर, श्रेष्ठ अंगों तथा रूप वाले, तथा दूसरे (शत्रुओं) की सेना को मसल डालने वाले होंगे। वे समुद्र की परिखा (= खाई) वाले इस पृथिवी-मंडल को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, [69]धर्म के साथ अपने बल से[69] वश में कर, जीत कर, ऐश्वर्य के साथ—स्वामित्व के साथ राज्य करेंगे। वे अगर बे-घरबारी हो परिव्राजक हो जाएँगे, तो तथागत, अर्हत्, सम्यक्संबुद्ध, दूसरों के द्वारा न ले जाए जाने वाले नेता, शास्ता (= शिक्षक), तथा [70]लोक में घोषित नाम के[70] होंगे। इसलिए इस समय उन्हें देखने चलें।

34. (–102–) तब असित महर्षि अपने भांजे नरदत्त = 82ख = के साथ राजहंस की भाँति आकाश-तल से ऊपर-ऊपर चलकर, ऊपर-ऊपर उछल कर, जहाँ कपिलवस्तु (नाम का) महानगर था, वहाँ पहुँचे, पहुँच कर, ऋद्धि का

69....69. मूल, स्वेन (धर्मेण) बलेन। भोट, छेस् दङ् म्थुन् पर् रङ् नि म्थुस् ग्यिस्, सह धर्मेण स्वेन बलेन।

70....70. मूल, लोके संबुद्धः। भोट, ह्जिग् र्तेन् दु स्ग्र नंम् पर् ग्रग्स् पर्, लोके विघुष्टशब्दः।

परित्याग कर, पैरों से ही कपिलवस्तु (नाम के) महानगर में प्रवेश कर, जहाँ राजा शुद्धोदन का निवास-स्थान था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर राजा शुद्धोदन के घर के द्वार पर खड़े हुए।

35. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, राजा शुद्धोदन के घर के द्वार पर (खड़े हो कर) असित महर्षि ने अनेक शतसहस्र प्राणियों को एकत्रित देखा। तब असित महर्षि ने द्वारपाल के पास जा कर कहा। हे पुरुष, तू जा, राजा शुद्धोदन को जना कि द्वार पर ऋषि खड़े हैं। बहुत अच्छा—यह उत्तर असित महर्षि को दे, द्वारपाल जहाँ राजा शुद्धोदन थे वहाँ गया—जा कर, हाथ जोड़, राजा शुद्धोदन से यों कहा—हे देव, जानें, जीर्ण, वृद्ध, बूढ़े ऋषि द्वार पर खड़े हैं, ऐसा कहते हैं कि मैं राजा को देखना चाहता हूँ। तब राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि के लिए आसन बिछवा कर उस पुरुष से कहा कि ऋषि प्रवेश करें। तब वह पुरुष राज-कुल से निकल कर असित महर्षि से ऐसे बोला कि प्रवेश करें।

36. तब असित महर्षि जहाँ राजा शुद्धोदन थे, वहाँ गए। जा कर सामने खड़े हो कर, राजा शुद्धोदन से यों बोले। महाराज, जय हो, = 83क = जय हो। चिरायुष हों। धर्म से राज्य चलाएँ।

37. तदनन्तर राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि की पाद्य तथा अर्घ से पूजा कर, भलीभाँति--ठीक-ठीक सत्कार कर, आसन पर विराजने की प्रार्थना की। यह जान कर कि ये सुख से विराज रहे हैं, गौरव के साथ पूजा के साथ[71] (राजा) यों बोले। हे ऋषे, (पहले कब) आप को देखा, (यह) मुझे स्मरण नहीं। किस अर्थ के लिए आए हैं ? क्या प्रयोजन है ?

38. (--103--) ऐसा बोलने पर असित महर्षि ने राजा शुद्धोदन से कहा। हे महाराज, आप के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है, उनके दर्शन की इच्छा से मैं आया हूँ। राजा बोले। हे महर्षे, कुमार सोए हैं। उठने तक मुहूर्त भर प्रतीक्षा करें। ऋषि बोले। हे महाराज, वैसे महापुरुष देर तक नहीं सोते हैं। वैसे सत्पुरुष जागरणशील होते हैं। इस प्रकार हे भिक्षुओं, असित महर्षि पर अनुकम्पा के कारण (कुमार ने) जागने (को जनाने) का निमित्त किया। तब राजा शुद्धोदन कुमार सर्वार्थसिद्ध को भलीभाँति—अच्छी तरह दोनों हाथों से लेकर असित महर्षि के पास ले गए।

---

71. मूल; सुप्रतीसः। पाठान्तर सप्रतीसः। तुलनीय पालिशब्द सप्पतिस्स। संभवतः पाठ होगा—सप्रतिक्ष्यः। तुलनीय भोट, गुस् पर् दङ् ब् चस् पर् सादरः, सभक्तिः।

39. इस प्रकार असित महर्षि ने बोधिसत्त्व को निहार कर, (उन्हें) महा-पुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त, अस्सी अनुव्यञ्जनों से सुन्दर एवं विचित्र देह वाला, =83ख=शक्र, ब्रह्मा, एवं लोकपालों से अधिक विशेषताओं से युक्त शरीर का शत-सहस्र सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी, तथा सब अंगों में सुन्दर देख, (यों) उदान (=हर्ष, विस्मय, एवं प्रीति बोधक वाक्य) को अभिव्यक्त किया— अहो, लोक में ये आश्चर्य पुरुष प्रकट हुए हैं, [72]अहो, लोक में ये महाश्चर्य पुरुष प्रकट हुए हैं[72]। तदनन्तर आसन से उठ कर, अंजलि बाँध कर, बोधि-सत्त्व के चरणों में प्रणाम कर, प्रदक्षिणा कर, बोधिसत्त्व को गोद में लेकर, विचारते हुए, बैठे। उन्होंने देखा बोधिसत्त्व के बत्तीस महापुरुष-लक्षणों को, जिनसे युक्त-पुरुष-विशेष की दो गतियाँ होती हैं, तीसरी नहीं। वह यदि घर-बारी रहता है, तो चतुरङ्गिणी सेना से युक्त चक्रवर्ती राजा होता है और जैसा पहले वर्णन हो चुका है, ऐश्वर्य के साथ—स्वामित्व के साथ राज्य करता है। वह यदि बे-घरबारी हो परिव्राजक हो जाता है, तो तथागत, [73]प्रसिद्ध घोष का सम्यक्संबुद्ध होता है[73]। वे (ऋषि) उन (बोधिसत्त्व) को देख कर रो पड़े, आँसू बहाते हुए, गहरी साँस लेने लगे।

40. (--104--) राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि को रोते, आँसू बहाते, (एवं) गहरी सांस लेते हुए देखा। देख कर, रोमाञ्चित हो कर तुरन्त मन में दुःखी हो, असित महर्षि से =84क=बोले। हे ऋषे, क्यों ऐसे रो रहे हैं, आँसू बहा रहे हैं, (एवं) गहरी सांस ले रहे हैं? कुमार पर कोई विपदा तो नहीं आने वाली है?

41. ऐसा कहने पर असित महर्षि राजा शुद्धोदन से बोले। हे महाराज, मैं कुमार के लिए नहीं रो रहा हूँ, इन पर कोई भी विपदा नहीं आने वाली है। पर मैं रो रहा हूँ अपने लिए। वह किस कारण। हे महाराज, मैं जीर्ण, वृद्ध, (एवं) बड़ी वयस का हूँ। और ये सर्वार्थसिद्ध कुमार अवश्य अनुत्तर सम्यक-

---

72⋯72. मूल (महाश्चर्य पुद्गलो वतायं लोके प्रादुर्भूतः)। भोट, **क्येम ह्जिग् र्तेन् दुडो मूर्छर् छेन् पो वड् ल्दन् प हि गङ् ज़ग् ह्बि ब्युङ् ङो,** मूल पाठ बिना ब्रेकेट के होना चाहिए।

73⋯73. मूल, भविष्यति विघुष्टशब्दः सम्यक् संम्बुद्धः। भोट, **यङ् दग् पर् र्जोग्स् प हि सङ्स् र्ग्यस् सु ग्रगस् प ग्शन् ग्यि ब्रङ् मि ह्जोग् पर् ह्ग्युर् ब** भविष्यति प्रसिद्धो नेताऽनन्यनेयः सम्यक्सम्बुद्धः। प्रक्रमानुसार भविष्यति के स्थान में भवति पाठ चाहिए।

सम्बोधि का साक्षात्कार करेंगे, सम्बोधि का साक्षात्कार कर, (ऐसे) धर्मचक्र का प्रवर्तन करेंगे (जिसे आज तक) किसी श्रमण ब्राह्मण, देवता, मार तथा लोक में अन्य किसी ने धर्म के साथ नहीं प्रवर्तन किया है। (ये) देवताओं सहित लोक के हित के लिए, सुख के लिए धर्म की देशना करेंगे, (तथा) आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण, अन्त में कल्याण, स्वर्थ अर्थात् शोभन अर्थ से युक्त सुव्यञ्जन अर्थात् शोभन वचन से युक्त, केवल अर्थात् खरा (मिलावट से रहित), परिपूर्ण, परिशुद्ध, पर्यवदात अर्थात् सब प्रकार की मलिनताओं से रहित, ब्रह्मचर्य प्राणियों के लिए प्रकाशित करेंगे। इनसे उस धर्म को सुन कर जातिधर्मी प्राणी जाति से मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार =84ख= [74]जरा, व्याधि, मरण, शोक, परिदेव (=विलाप), दुःख, दौर्मनस्य (मान-सिक असौख्य), तथा उपायास (क्षोभ) धर्मी प्राणी[74] जरा, व्याधि, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, तथा उपायास से मोक्ष प्राप्त करेंगे। (ये) राग, द्वेष, (तथा) मोह की आग से सन्ताप पाते हुए प्राणियों को सद्धर्म की वर्षा से आल्हादित करेंगे। नाना प्रकार की कुदृष्टियों के [75]तिमिर रोग में पड़े[75], (एवं) कुमार्ग में चलने वाले प्राणियों को सीधी राह से निर्वाण के पथ पर ले जाएँगे। संसार (=आवागमन) के पिंजड़े जैसे कारागार में बन्द किए गए, क्लेश (=राग, द्वेष, मोह) रूपी बन्धनों में बँधे हुए प्राणियों के बन्धन पूर्णरूप से खोलेंगे, अज्ञान के अन्धकार और धुँधलेपन के परदे से ढके हुए नेत्रों वाले प्राणियों में ज्ञान के नेत्र उत्पन्न करेंगे, क्लेश के शल्य (=काँटे) से बिंधे हुए प्राणियों का शल्य (=काँटा) निकालेंगे। जैसे (–105–) महाराज, गूलर का फूल कभी किसी स्थान पर लोक में उत्पन्न होता है, वैसे ही, महाराज, कभी किसी स्थान पर खर्ब कोटि कल्पों में भगवान् बुद्ध लोक में उत्पन्न हुआ करते हैं। य कुमार अवश्य अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि का =85क= साक्षात्कार करेंगे। सम्बोधि का साक्षात्कार कर, शतसहस्र-खर्ब कोटि प्राणियों को संसार सागर से पार उतारेंगे और अमृत में

74····74. मूल, में यह अंश नहीं हैं। भोट, **सेम्स् चन् र्ग ब दङ् न ब दङ्, ह्छि ब दङ् म्य ङन् दङ स्म्रे स्ङग्स् ह्दोन् प दङ् स्दुग् ब् स्ङल् ब दङ् यिद् मि ब्दे ब दङ् ह्खुग्स् प हि् छोस् चन् नंम्स् नि,** जराव्याधिमरण-शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासधर्माणः सत्त्वाः।

75····75. मूल, ०ग्रहणप्रस्कन्ध०। यह पाठ विचारणीय है। भोट, **थिबस् पोस् खब्स् प,** गहन या तिमिर रोग वाला। सम्भवतः मूल में गहनप्रस्कन्द का कोई अपभ्रंश रूप होगा जो संस्कृत करने में ग्रहणप्रस्कन्ध हो गया है। वह अपभ्रंश स्यात् गहनप्पक्खन्ध हो।

प्रतिष्ठित करेंगे । हम उन बुद्ध-रत्न को न देखेंगे । हे महाराज, इसलिए मैं रोता हूँ, और मन में अत्यन्त दुःखी हो लम्बी साँस लेता हूँ कि (इस शरीर के त्याग के अनन्तर मेरा) आरोग्य (= अमरत्व) यद्यपि होगा तथापि मैं इनकी आराधना न कर पाऊँगा ।

42. हे महाराज, जैसा हमारे मन्त्रमय वेदशास्त्रों में आता है, (उसके अनुसार) सर्वार्थसिद्ध कुमार घरबारी होने योग्य नहीं हैं । वह किस कारण । महाराज, (वह इस कारण) कि सर्वार्थसिद्ध कुमार बत्तीस महापुरुष के लक्षणों से युक्त है । (वे) कौन से बत्तीस (लक्षण हैं) ? वे ये हैं—हे महाराज, (1) सर्वार्थसिद्ध कुमार उष्णीष शीर्ष (= पगड़ी के समान उभड़े शिर वाले) हैं । हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार इस प्रथम महापुरुष-लक्षण से युक्त हैं । (2) (हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार[76], के केश भिन्नांजन (= काजल से काले किए) मयूर के कलाप (पंख) जैसे अत्यन्त नीले, लहराते हुए तथा दक्षिणावर्त (= दाहिनी ओर से चक्कर देकर घुँघराले) हैं । (3) उनका ललाट (= माथा) सम तथा विशाल है । (4) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की भौंहों के बीच में हिम तथा रजत (= चाँदी) के समान चमकती हुई ऊर्णा (= रोम) है । (5) (हे महाराज, = 85ख = सर्वार्थसिद्ध कुमार[76], गोपक्ष्मनेत्र हैं अर्थात् इनकी पलकें वृषभकी पलकों जैसी हैं । (6) इनके नेत्र अभिनील (= अत्यन्त काले) हैं । (७) इनके दाँत सम तथा (संख्यामें) चालीस हैं । (8) इनके दाँत अविरल अर्थात् छिद्र-रहित हैं । (9) इनके दाँत श्वेत हैं । (10) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार का स्वर ब्रह्मा के स्वर के समान है । (११) ये रसरसाग्र अर्थात् बड़े ही रसीले हैं । (12) इनकी जिह्वा लम्बी और पतली है । (13) ये सिंह हनु हैं अर्थात् इनकी ठुड्डी सिंह की ठुड्डी-जैसी है । (14) ये सुसंवृत्त स्कन्ध हैं अर्थात् इनके कंधे सुन्दर तथा गोल-गोल हैं । (15) ये सप्तोत्सद हैं अर्थात् इनकी लम्बाई सात बित्ते की है । (16) ये चितान्तरांस हैं अर्थात् इनके दोनों कन्धों के बीच का स्थान भरा-पूरा है । (17) ये सूक्ष्मसुवर्णवर्णछवि के हैं अर्थात् इनकी त्वचा पतली है तथा उसका रंग सोने के जैसा है । (18) इनकी भुजाएँ खड़े-खड़े बिना झुके (जानुओं तक) लटकती हैं अर्थात् ये आजानुबाहु हैं । (19) इनका पूर्वार्धकाय (= कटि से ऊपर का शरीरभाग) सिंह के समान (विशाल) है । (20) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार न्यग्रोधपरिमण्डल हैं अर्थात् इनके शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, आदि

76. भोट, **ग्र्यल् पो छेन् पो ग्शोन् नु दोन् थम्स् चद् ग्रुब् प,** महाराज सर्वार्थ-सिद्धकुमारः ।

बटवृक्ष के समान उचित अनुपात में है। (21) ये एकैकरोमा हैं अर्थात् इनके एक-एक रोमकूप से एक-एक रोम निकला है। (22) ये ऊर्ध्वाग्राभिप्रदक्षिणावर्तरोमा हैं अर्थात् इनके रोमों की अगली नोकें दाहिनी ओर से मुड़ी हुई हैं। (23) ये कोशोपगतवस्ति गुह्य हैं अर्थात् इनको जननेन्द्रिय अश्वादि की भाँति कोश (= थैलों) से युक्त हैं। (24) ये सुविवर्तितोरु हैं अर्थात् इनके दोनों ऊरु अच्छे मोड़ के हैं। (25) ये एणेयमृगराजजङ्घ हैं अर्थात् इनकी पिंडलियाँ एणेय नाम के मृगों में श्रेष्ठ मृग की पिंडलियों जैसी हैं। (26) ये दीर्घाङ्गुलि हैं अर्थात् इनकी उँगलियाँ लम्बी हैं। (27) इनके पैरों की एड़ियाँ आयत (= विस्तृत) हैं (–106–) (28) ये उत्संगपाद हैं अर्थात् इनके पैरों के तलवों के मध्यभाग ऊपर उठे हैं। (29) ये मृदु-तरुण-हस्त पाद के हैं अर्थात् इनके हाथ-पैर कोमल एवं सुकुमार हैं। (30) ये जालाङ्गुलिहस्तपाद[77] हैं अर्थात् इनके पैरों की उँगलियाँ जाल से बँधी जैसी हैं—बीच में-छेद नहीं दिखाई पड़ता है। (31) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के पैरों के तलवों के नीचे विचित्र[78] (लपट निकालने वाले, चमकते हुए, तथा श्वेत[79] सहस्र अरों के, नेमियों (= पुट्ठियों) से युक्त, तथा नाभि (= नाह) सहित चक्र उत्पन्न हुए हैं। (32) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार सुप्रतिष्ठित-समपाद हैं अर्थात् इनके पैर समभाव से धरती पर बैठने वाले हैं। = 86क = हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार इस बत्तीसों लक्षण से युक्त हैं। हे महाराज चक्रवर्तियों के इस प्रकार के लक्षण नहीं होते। ऐसे लक्षण बोधिसत्त्वों के हुआ करते हैं।

43. हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के शरीर में अस्सी अनुव्यंजन (= विशेष चिह्न) हैं। जिनसे युक्त (होने के कारण) सर्वार्थसिद्ध कुमार घरबारी होकर रहने के योग्य नहीं हैं। वे अवश्य प्रव्रज्या के लिए निकलेंगे। हे महाराज, वे अस्सी अनुव्यंजन कौन से हैं? वे ये हैं—(1) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार तुङ्गनख हैं अर्थात् उनके नख उङ्गलियों के पोर-पोर पर उभरे हुए हैं—दबे हुए नहीं। (2) ये (कुमार) ताम्रनख हैं अर्थात् इनके नख ताँबे जैसे लाल रंग के हैं। (3) ये स्निग्धनख हैं अर्थात् इनके नख चिकने हैं। (4) ये वृत्ताङ्गुलि हैं

---

77. इसके आगे मूल में दीर्घाङ्गुलिः पाठ है। यह लिपिकार का प्रमाद है। यह पाठ पूर्व में 26 वें लक्षण में आ चुका है। भोट में भी यह नहीं है।

78. मूल चित्रे। भोट, ख्राड़् शिड़्, शुभे।

79. (अर्चिष्मती प्रभास्वरे सिते)। इस कोष्ठस्थ पाठ का भोट से समर्थन नहीं होता।

अर्थात् इनकी उँगलियाँ गोल-गोल हैं—चिपटी-चिपटी नहीं। (5) ये अनुपूर्व-विचित्राङ्गुलि हैं अर्थात्, इनकी उँगलियाँ विचित्र तथा क्रम से नोकीली हो गई हैं। (6) ये गूढ़शिर हैं अर्थात् इनके शरीर में नसें उभरी हुई नहीं हैं—छिपी हुई हैं। (7) ये गूढ़गुल्फ हैं अर्थात् इनके टखने ऊपर उभरे हुए नहीं हैं—छिपे-छिपे से हैं। (8) ये घनसंधि[80] हैं अर्थात् इनके शरीर में जोड़ ऐसे घने हैं जिनका पता नहीं चलता। (9) इनके (दोनों दाएँ बाएँ) पैर सम हैं विषम नहीं। (10) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के पैरों की एड़ियाँ विशाल हैं (11) इनके हाथों की रेखाएँ स्निग्ध हैं (—उनमें रूखापन नहीं है)। (12) इनके (दोनों) हाथों की रेखायें एक जैसी हैं। (13) इनके हाथों की रेखाएँ गहरी हैं। (14) इनके हाथों की रेखाएँ टेढी-मेढ़ी नहीं हैं। (15) इनके हाथों की रेखाएँ अनुपूर्व हैं अर्थात् क्रम से स्थूल या सूक्ष्म हुई हैं। (16) इनके होंठ बिम्बफल के समान हैं। (17) इनके बोलने की ध्वनि ऊँची (=चीखने की जैसी) नहीं है (18) इनकी जीभ = 86ख = कोमल, सुकुमार, ताँबे जैसी लाल है। (19) इनका घोष हाथी की चिंघाड़ तथा गरजते मेघ के नाद के समान मधुर एवं मनोहर है। (20) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के (शरीर में सब) व्यञ्जन (=मंगलचिह्न) परिपूर्ण हैं। (21) इनकी बाँहें लम्बी हैं (22) इनका शरीर पवित्र वस्तुओं से धनी है। (23) इनका शरीर कोमल है। (24) इनका शरीर विशाल है। (25) इनका शरीर दैन्य रहित है। (26) [81]इनका शरीर क्रम से ऊँचा उठा है[81]। (27) इनका शरीर सुन्दर एवं समाहित (=धीर भाव से स्थित) है। (28) इनका शरीर सुविभक्त अर्थात् बाँका और कटा-छँटा है। (29) इनका जानुमंडल (पैरों के घुटनों का घेरा) पृथु-विपुल (अति विस्तृत) तथा परिपूर्ण (भरा-पूरा) है। (30) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार का शरीर वृत्त (=गोल-मटोल) है। (31) इनका शरीर सुपरिमृष्ट (=भलीभाँति मँजा हुआ है। (32) [82]इनका शरीर वृषभ के समान अजिह्म (=सुडौल, टेढ़े-मेढ़ेपने से रहित)

---

80. मूल, घनसंधिः। भोट, छिग्स् (? छिङ्स्) मि म्ङोन् प दङ्, अनभिव्यक्त-संधिः अथवा गूढसंधिः।

81····81. मूल, अनुपर्वोन्नतगात्रश्च। भोट, रिम् पर् ह्फम् प हि. स्कु दङ, अनुपूर्वगात्रश्च। मूल पाठ अनुपूर्वोन्नतगात्रश्च जान पड़ता है।

82····82. मूल, अजिम्हवृषभगात्रश्च। भोट, स्कु ययो प म्छिस् प दङ्, अजिह्मगात्रश्च।

है[83]। (33) [83]इनके शरीर में (एक उचित) क्रम है[83]। (34) इनकी नाभि गहरी है। (35) इनकी नाभि अजिह्म (= सुडौल, टेढ़े-मेढ़े पन से रहित) है। (36)[84] इनकी नाभि क्रम से (नीची हुई) है[84]। (37) [85]इनका आचार (ऋषि के समान दृढ़ एवं) शुचि (= पवित्र) है[85]। (38) (–107–) [86]ये ऋषभ (= वृषभ) के समान समन्तप्रासादिक अर्थात् सब ओर से सुन्दर हैं[86]। (39) इनके चारों ओर आलोक की प्रभा फूट रही है, जो परम-अत्यन्त शुद्ध है, उसमें धुँधलापन नहीं है। (40) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार हाथी के समान मन्द गामी हैं। (41) ये सिंह के समान विक्रमगामी हैं। (42) ये वृषभ के समान विक्रमगामी हैं। (43) ये हंस के समान विक्रमगामी हैं। (44) ये दक्षिण की ओर मुड़कर चलने वाले हैं। (45) इनकी कोख गोल है। (46) इनकी कोख मँजी हुई है। (47) इनकी कोख अजिह्म (= सीधी-सुडौल) है। (48) इनका उदर धनुष की मूठ जैसा पतला है। = 87क = (49) इनके शरीर में न [87]रंग का दोष[87] है और न नीले काले धब्बों का दोष है। (50) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की दाढ़ें गोल हैं। (51) इनकी दाढ़ें तीक्ष्ण हैं। (52) इनकी दाढ़ें अनुपूर्व (= क्रम से उतार-चढ़ाव वाली) हैं। (53) इनकी नासिका ऊँची है। (54) इनकी आँखें शुचि हैं। (55) इनकी आँखें निर्मल हैं। (56) इनकी आँखें हँसीली हैं। (57) इनकी आँखें आयत (= फैली हुई) हैं। (58) इनकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं। (59) इनकी आँखें नीले कुवलय (= कमल-विशेष) की पंखुड़ियों के समान हैं। (60) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की भौंहें सहित (= समान भाव से स्थित रोएँ वाली) हैं। (61) इनकी भौहें विचित्र हैं (= चित्र लिखित सी हैं)। (62) इनकी भौहें काली हैं। (63) इनकी भौहें संगत (= ठीक-ठीक बराबर चली गई) हैं (= कहीं बिरली या कहीं

83····83. मूल अनुपूर्वगात्रश्च। भोट, स्कु रिम् ग्यिस् लेग्स् पर् बु प बङ्, अनुपूर्वसुसिद्धगात्रश्च। द्रष्टव्य टिप्पणी 7। 81····81।

84····84. मूल, अनुपूर्वनाभिश्च। भोट, ल्ते ब रिम् गिस् गुशोल् ब दङ्। अनुपूर्वनिम्ननाभिश्च।

85····85. मूल, शुच्याचारश्च। भोट, द्रङ् स्रोङ् ल्तर् ग्चङ् स्प्रेस् स्योद् प दङ्, ऋषिसदृशदृढ़शुच्याचरश्च।

86····86. मूल, ऋषभवत्समन्तप्रासादिकश्च। भोट, कुन् नस् म् ज़ेस् प, समन्तप्रासादिकश्च।

87····87. मूल, ०छन्ददोष०। भोट, म्दोग् सि ब्ज़ेस् प वर्णदोष। मूल, पाठ सम्भवतः० रागदोष० (= रंग का दोष) होगा।

घनी नहीं हैं, सर्वत्र एक-सी हैं)। (64) इनकी भौहें अनुपूर्व (= क्रम से उतार-चढ़ाव वाली) हैं। (65) इनके कपोल पीन (= फूले हुए-पुष्ट) हैं। (66) इनके कपोल विषम नहीं हैं। (67) इनके कपोल दोषहीन हैं। (68) [88]इनमें रागद्वेष-क्रोध का रंग नहीं है[88]। (69) ये शोभन ज्ञानेन्द्रियों के हैं। (70) हेमहाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार[89] भली-भाँति परिपूर्ण इन्द्रियों के हैं[89]। (71) इनका चेहरा तथा माथा संगत (= ठीक-ठीक उतार-चढ़ाव वाला) है (72) इनका उत्तमाङ्ग (= शिर) परिपूर्ण है (= टेंढ़ा-मेढ़ा नहीं है)। (73) इनके केश काले हैं। (74) इनके केश सहित (= समान भाव से स्थित = बराबर) हैं (एवं [90]इनके केश सुसंगत है[90]। (75) इनके केशों में सुगन्ध है। (76) इनके केशों में रूखापन नहीं है। (77) इनके केश अनाकुल (= बिना उलझन के) हैं। (78) [91]इनके केश अनुपूर्व हैं अर्थात् क्रम से सजे हैं[91]। (79) इनके केश भली-भाँति घुँघराले हैं। (80) हे महाराज, सिद्धार्थकुमार के केशों का संस्थान (= आकार-प्रकार) श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त तथा वर्धमान के जैसा है। = 87ख = हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के ये अस्सी अनुव्यंजन (विशेष मंगल चिह्न) हैं, जिनसे युक्त (होने के कारण) सर्वार्थसिद्ध कुमार घरबारी होकर रहने के कारण योग्य नहीं है। (ये) अवश्य प्रव्रज्या के लिए निकलेंगे।

44. तदनन्तर राजा शुद्धोदन असित महर्षि से कुमार के सम्बन्ध में यह व्याकरण (= भविष्यवाणी) सुन सन्तुष्ट हुए, प्रसन्न हुए, मन में फूले न समाए, प्रमुदित हुए, प्रीति तथा सौमनस्य प्राप्त हुए, आसन से उठ कर बोधिसत्त्व के चरणों में प्रणाम कर यह गाथा कही—

वन्दितस्त्वं सुरैः सेन्द्रैः ऋषिभिश्चासि पूजितः।
चैत्यं[91क] सर्वस्य लोकस्य वन्देऽहमपि त्वां विभो ॥244॥

88····88. मूल, अनुपहतक्रुष्टश्च। भोट, **स्वङ् ब दङ् रबो ब हि् म्बोग् मेद् प दङ्**, अद्वेषक्रोधरागवर्णश्च।

89····89. मूल, सुपरिपूरेणेन्द्रियश्च। भोट, **म्ज़ोद् स्पु योङ्स् सु र्ज़ोग्स् पर् दङ् ल्बन् प**, परिपूर्णोर्णाकोषश्च। जिनका ऊर्णाकोश (= तिलकस्थान का रोम) परिपूर्ण है।

90····90. मूल (सुसंगत केशश्च)। इस कोष्ठस्थ पाठ का भोट से समर्थन नहीं होता।

91····91. मूल, अनुपूर्वकेशश्च। भोट, **द्बु स्क्र बि्यन् ग्यिस् फ़ ब**, सुसूक्ष्मकेशश्च।

91क. मूल, वंद्यं। भोट **म्छोद् र्तेन् पस्**, चैत्यं।

इन्द्र के सहित देवताओं ने तुम्हारी वन्दना की हैं, ऋषियों ने तुम्हारी पूजा की है, हे प्रभो, मैं भी तुम्हारी—सब लोक के चैत्य की वन्दना करता हूँ।

45. (–108--) इस प्रकार, हे भिक्षुओं, राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि को उनके भानजे नरदत्त के साथ भोजन से तृप्त कराया। तृप्त करा, (वस्त्रों से) आच्छादित कर, प्रदक्षिणा की। तदनन्तर असित महर्षि वहीं से ऋद्धि (बल) द्वारा आकाश से चले गये। जहाँ अपना आश्रम था, वहाँ पहुँचे। तदनन्तर[92] वहाँ पर असित महर्षि ने माणवक (=ब्रह्मचारीवटुक) नरदत्त से यह कहा। हे नरदत्त, जब तुम सुनना कि लोक में बुद्ध हुए हैं, तब तुम जाकर उनके शासन में प्रव्रजित होना। वह चिरकाल तक तुम्हारे अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए होगा।

46. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा गया है—

(असित महर्षि के आगमन संबन्धी गाथाएँ)

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

दृष्ट्वा देवगणान् नभस्तलगतान् बुद्धश्रवोद्गारिणो
देवर्षीरसितोऽद्रिकन्दर = 88क = गतः प्रीतिं परां प्राप्तवान्।
बुद्धो नाम पदं किमेतदिह भोः हर्षावहं प्राणिनां
प्रल्हादं मम काय एति सुखितं शान्तं च चित्तं परं ॥245॥

देवर्षि असित (हिमालय--) पर्वत की गुहा में बैठे-बैठे गगनतलस्थ देवगणों को "बुद्ध" इस शब्द की ध्वनि करते हुए देख अत्यन्त प्रेम में मग्न हो गये। अहो! "बुद्ध" यह शब्द यहाँ प्राणियों को हर्षित करने वाला (सुन पड़ रहा है जिससे) मेरी काया को आनन्द प्राप्त हो रहा है, तथा चित्त अत्यन्त शान्त एवं सुखी (हो गया) है।

किं देवो त्वसुरोऽथवापि स भवेद् गरुडोऽथवा किंनरः
बुद्धो नाम किमेतदश्रुतपदं प्रीतिकरं मोदनं।
दिव्या चक्षुष प्रेक्षते दश दिशः शैलान् महीं सागरान्
भूपः पश्यति चादभुतं बहुविधं भूमौ गिरौ सागरे ॥246॥

वह (बुद्ध) क्या देवता हैं? अथवा असुर हैं? गरुड़ हैं? अथवा किंनर हैं? "बुद्ध" यह न सुना हुआ शब्द (भी) क्या ही प्रीति करने वाला, (क्या ही) मुदित करने वाला है? दिव्य-दृष्टि से (उन्होंने) दशों दिशाओं को, पर्वतों को,

92. मूल, अथ (खलु द्वयं संक्रम्य)। भोट, दे नस्, अथ। कोष्ठस्थ पाठ का भोट से समर्थन नहीं होता।

पृथिवी को, तथा सागरों को निहारा। फिर पृथिवी, पर्वत एवं सागरों के ऊपर बहुत प्रकार का आश्चर्य देखा।

आभेयं प्रविराजते सुरुचिरा प्रल्हादयन्ती तनुं
जाताश्चैव तथा हि शैलशिखरे स्निग्धाः प्रवाडाङ्कुराः।
वृक्षाश्चैव यथा सुपुष्पभरिता नानाफलैर्मण्डिताः
सुव्यक्तं त्रिभवे भविष्यति लघु रत्नोद्भवः शोभनः॥247॥

यह अत्यन्त रुचिर आभा शरीर को आनन्दित करती हुई भली-भाँति विराज रही है, पर्वत की चोटी (--चोटी) पर चिकने मूँगे के जैसे लाल-लाल अङ्कुर निकल आए हैं, तथा जिस प्रकार पेड़ सुन्दर पुष्पों से भर गए हैं; तथा नाना प्रकार के फलों से भूषित हो रहे हैं, उससे स्पष्ट ही है कि त्रिभव (= त्रिलोकी) में शीघ्र ही शोभन रत्न का आविर्भाव होने वाला है।

(--109--) भूमिर्भाति यथा च पाणिसदृशा सर्वा समा निर्मला
देवाश्चैव यथा प्रहृष्टमनसः खे भ्रामयन्त्यम्बरान्।
यद्वत्सागर नागराजनिलये रत्नाः प्लवन्तेऽद्भुताः
सुव्यक्तं जिनरत्न जम्बुनिलये धर्माकरस्योद्भवः॥248॥

जिस प्रकार सब धरती हथेली जैसी बराबर और निर्मल शोभा दे रही है, जिस प्रकार देवता, मन में हरषाए हुए, आकाश में वस्त्र हिला रहे हैं, जिस प्रकार नागराज के निवास स्थान समुद्र में अद्भुत-अद्भुत रत्न उतरा रहे हैं, उससे अत्यन्त स्पष्ट है कि जम्बू-द्वीप में धर्म के आकर जिनरत्न का आविर्भाव होना है।

यद्वच्छान्त अपाय दुःखविगताः सत्त्वाश्च सौख्यान्विताः
यद्वद्देवगणा नमस्तलगता गच्छन्ति हर्षान्विताः।
यथ च स्निग्ध रवं मनोज्ञ शृणुया दिव्यान संगीतिनां
रतनस्या इव प्रादुर्भावु त्रिभवे यस्या निमित्ता इमे॥249॥

जिस प्रकार नरक शान्त तथा दुःख से रहित हो गए हैं और प्राणी सुख से युक्त हैं, जिस प्रकार आकाश-तल पर विराजमान देव-गण हर्ष से युक्त हो चल-फिर रहे हैं, जिस प्रकार दिव्य संगीतों की रसीली तथा मन को भाने वाली ध्वनि (सबको) सुन पड़ रही है, उससे मानो (उस) रत्न का प्रादुर्भाव होना है, जिसके कि ये--सब निमित्त हैं। = 88ख =

असितः प्रेक्षति जम्बुसाह्वयमिदं दिव्येन वै चक्षुषा
सोऽद्राक्षीत् कपिलाह्वये पुरवरे शुद्धोदनस्यालये।
जातो लक्षणपुण्यतेजभरितो नारायणस्थामवान्
दृष्ट्वा चात्तमना उदग्रमनसः स्थामास्य संवर्धितः॥250॥

असित दिव्य दृष्टि से इस जम्बू-द्वीप को देखने लगे। उन्होंने देखा कि कपिलवस्तु नामक श्रेष्ठ नगर में, शुद्धोदन के घर में, नारायण के समान बलवान् पुण्य के तेज तथा लक्षणों से पूर्ण (शिशु) का जन्म हुआ है। देख कर वे मन में हर्षित हुए, मन में आनंदित हुए। उनका बल बढ़ गया है।

उद्युक्तस्त्वरितोऽतिविस्मितमना चासौ स्वशिष्यान्वितः
आगत्वा कपिलाह्वयं पुरवरं द्वारि स्थितो भूपतेः।
अनुबद्धा बहुप्राणिकोटिनयुता दृष्ट्वा ऋषिजीर्णकः
अवची सारथि राज्ञ वेदय लघु द्वारे ऋषिः तिष्ठति ॥251॥

वे अपने शिष्य के साथ तैयार हो जल्दी-जल्दी कपिलवस्तु नाम के श्रेष्ठ नगर आ राजा के द्वार पर खड़े हो गए। बूढ़े ऋषि ने (वहाँ) आगे-पीछे क्रम-बद्ध बहुत से कोटि-नयुत (=खर्वों कोटि) प्राणियों को देख कर सारथि से कहा—शीघ्र राजा से निवेदन करो कि द्वार पर ऋषि खड़े हैं।

श्रुत्वा चाशु प्रविश्य राजभवनं राज्ञस्तमाख्यातवान्
द्वारे देव तपस्वि तिष्ठति महान् जीर्णो ऋषिर्जर्जरः।
सो चापि अभिनन्दते ऋषिवरः प्रावेष्टु राज्ञो गृहं
आज्ञा दीयतु ताव पार्थिववरा [93]देमि प्रवेशं न वा[93] ॥252॥

वह (संदेश) सुन कर तथा राजभवन में प्रवेश कर (सारथि ने) राजा से कहा—हे देव, द्वार पर बड़े-बूढ़े, जीर्ण-शीर्ण (-शरीर के), तपस्वी ऋषि खड़े हैं और वे ऋषिवर राजभवन में प्रवेश पाने के लिए लालायित हो रहे हैं। हे श्रेष्ठ राजन्, आज्ञा दें (कि मैं उन्हें) प्रवेश दूँ वा न दूँ।

स्थाप्या चासनमस्य चाह नृपतिः गच्छ प्रवेशं दद
असितः सारथिवाक्य श्रुत्व मुदितः प्रीत्या सुखेनान्वितः।
शीतंवारियथाभिकाङ्क्षितृषितो [94]भुक्षार्दितो[94] चाशनं
तद्वत्सुख्यभिनन्दितो ऋषिवरस्तं द्रष्टु सत्त्वोत्तमं ॥253॥

93····93. मूल, देमि प्रवेशं तया। पाठान्तर, देमि प्रवेशं तसा। दोनों का संस्कृत रूपान्तर होगा—ददामि प्रवेशं तस्य। भोट, नङ् दु बृतङ् ङम् भि बृतङ्, प्रवेशं ददामि न वा ददामि। भोटानुसार मूल को यहाँ शुद्ध किया गया। तया अथवा तसा के स्थान में न वा कर दिया गया है।

94····94. मूल, भुक्त्वादितो। अर्थ, आरम्भ में खाकर। यह पाठ अत्यन्त अशुद्ध है। यहाँ भोट पाठ है—बृक्रेस् पस् गदुङ्स् प (=बुभुक्षया पीडितः,

आसन बिछवा कर राजा ने उससे कहा—जाओ, (ऋषि को) भीतर आने दो। सारथि के द्वारा (भीतर आने के) वचन को सुन कर असित (महर्षि) मुदित हो गए, प्रीति और सुख से युक्त हो गए। जैसे प्यासा शीतल जल के लिए तथा भूख का मारा भोजन के लिए लालायित होता है, वैसे ही सुख में मगन वे ऋषिवर उन उत्तम (बोधि–) सत्त्व को देखने के लिए लालायित हो गए।

जय भोः पार्थिव इत्युवाच मुदितो चायु ं चिरं पालय
वृद्धि कृत्व निषण्ण दान्तमनसः शान्तेन्द्रियः सूरतः।
राजा वै अभिवाद्य तं मुनिभृतं प्रोवाच किं कारणं
आगामस्तव पार्थिवेन्द्रनिलये तद्=89क=ब्रूहि शीघ्रं मुने ॥254॥

आनन्दित (ऋषि) बोले। हे राजन्, जय हो। चिर (काल) तक आयु का भोग करें। (धर्म की) वृद्धि कर, मन में संयमी, इन्द्रियों में अचंचल तथा (सर्वत्र) सूरत अर्थात् कृपालु होकर विराजे। राजा उन (मुनि) को, बड़े विनय के साथ अभिवादन कर बोले—क्या कारण है जो आप राजभवन में पधारे हैं। हे मुने, उसे शीघ्र बताएँ।

पुत्रस्ते वररूप पारामगतो जातो महातेजवान्
द्वात्रिंशद्वरलक्षणैः कवचितो नारायणस्थामवान्।
तं द्रष्टु ं हि ममेप्सितं नरपते सर्वार्थसिद्धं शिशु ं
इत्यर्थं समुपागतोऽस्मि नृपते नास्त्यन्यकार्यं मम ॥255॥

सुन्दर रूप का, पारमिताओं का धनी, महातेजस्वी, बत्तीस (महापुरुषों के) श्रेष्ठ लक्षणों के कवच से युक्त, नारायण के समान बली आपके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है। हे राजन्, उन सर्वार्थसिद्ध शिशु को देखने की मेरी इच्छा है। इसलिए मैं आया हूँ। हे राजन्, और मेरा कुछ कार्य नहीं है।

भूख से पीड़ित)। इस भोट के रूपान्तर को देखने से अनुमान होता है कि मूल पाठ सम्भवतः भुक्खादितो या भुक्कादितो होगा। भुक्ख (भुक्क, हिन्दी भूख)। भूख से अदित (=अर्दित) अर्थात् पीड़ित। बौद्ध संस्कृतीकरण भुक्षार्दितो होना चाहिए।

साधु स्वागतु याचसे किलमित: प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्
एषोऽसौ शयित: कुमार वरदो द्रष्टुं न शक्योऽधुना।
साधुं ताव मुहूर्तमागम इहा यद् द्रक्ष्यसे निर्मलं
चन्द्रं वा यथ पूर्णमासि विमलं तारागणैर्मण्डितं ॥256॥

साधु, स्वागत हो, याचना (आपने) की, इस कारण आपके दर्शन से प्रसन्न हुआ हूँ। हे वरदायक (मुने), कुमार नींद में हैं। अभी देखना न होगा। अच्छा हो, आप कुछ ठहरें। तब (जगने पर) निर्मल कुमार को पूर्णमासी (की रात) में तारागणों से मण्डित निर्मल चन्द्रमा के समान देख सकेंगे।

यद चासौ प्रतिबुद्ध सारथिवर: परिपूर्णचन्द्रप्रभ:
तद राजा प्रतिगृह्य वन्हिवपुषं सूर्यातिरेकप्रभं।
हन्ता पश्य ऋषे नृदेवमहित हेमाग्रबिम्बोपमं
असितो दृष्ट च तस्य तौ सुचरणौ चक्राङ्कितौ शोभनौ ॥257॥

जब वे परिपूर्ण चन्द्रमा की जैसी कान्ति का, श्रेष्ठ सारथि में, तब सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान, अग्नि के समान (तेजस्वी) शरीर के (शिशु) को गोद में उठा कर राजा (बोले)। अहो ऋषे! देवताओं तथा मनुष्यों से पूज्य, खरे सुवर्ण सदृश शरीर के (कुमार को) देखें। असित ने उनके चक्र के चिह्नों से युक्त शोभन चरणों को निहारा।

प्रत्युथाय तत: कृताञ्जलिपुटो चरणानि सो वन्दते
अङ्के गृह्य महात्म शास्त्रकुशलो विध्यायतो प्रेक्षते।
सोऽपश्यद् वरलक्षणै: कवचितं नारायणस्थामवं
शीर्षं कम्प्य स वेदशास्त्रकुशलो द्वे तस्य पश्यद्गतो ॥258॥

तब उठ कर, अंजलि बाँध, उन्होंने (उनके) चरणों की वन्दना की। शास्त्रों में कुशल महात्मा ने गोद में लेकर चिन्तन करते हुए (उन्होंने) निहारा। फिर सिर हिलाकर वेद-शास्त्रों में चतुर उन (ऋषि) ने नारायण के समान बली (तथा) श्रेष्ठ लक्षणों के कवच से युक्त उनको देखा और उनकी दो गतियाँ देखीं।

(–111–) राजा वा भवि चक्रवर्ति बलवान् बुद्धो व लोकोत्तम:
=89ख= बाष्पं त्यक्त सुदीनकायमनसो गम्भीर निश्वस्य च।
उद्विग्नश्च बभूव पार्थिववर: किं ब्रह्मणो रोदिती
मा विघ्नं खलु पश्यतेऽयमसित: सर्वार्थसिद्धस्य मे ॥259॥

(ये) या तो बलवान् चक्रवर्ती राजा होंगे, या लोक में श्रेष्ठ बुद्ध होंगे। (तदनन्तर) गहरी साँस ले, तन और मन से अत्यन्त दु:खी हो आँसू बहाए।

(यह देख) श्रेष्ठ राजा घबरा गए। ब्राह्मण (–देवता) क्यों रोने लगे। कहीं असित मेरे सर्वार्थसिद्ध का कुछ अनिष्ट तो नहीं देख रहे हैं !!

भूतं व्याहर किं तु (?नु) रोदिषिऋषे श्रेयोऽथ किं पापकं
पापं नास्ति न चान्तरायमिह भोः सर्वार्थसिद्धस्य ते।
आत्मानं बहु सोचमी नरपते जीर्णोऽस्मि यज्जर्जरः
यदयं भेष्यति बुद्ध लोकमहितो धर्मं यदा वक्ष्यते ॥260॥

हे ऋषे, सत्य कह दें। क्यों रो रहे हैं ? कुशल होने वाला या अकुशल ? तुम्हारे सर्वार्थसिद्ध का न अकुशल होने वाला है और न विघ्न। हे राजन्, मैं अपने लिए बहुत शोक कर रहा हूँ, क्योंकि जब ये लोकपूजित बुद्ध होंगे तथा धर्म का प्रवचन करेंगे।

न द्रक्षे अहु लब्धप्रीतिमनसो इत्यर्थं रोदाम्यहं
यस्या कायि भवन्ति लक्षण वरा द्वात्रिंशति निर्मला।
द्वे तस्या गतयो न अन्य तृतीया जानीष्व एवं नृप
राजा वा भवि चक्रवर्ति बलवान् बुद्धोऽथ लोकोत्तमः ॥261॥

(तब) में प्रीतिभरे मन से (इन्हें) न देख पाऊँगा। इसीलिए मैं रो रहा हूँ। हे राजन्, (ऐसा जानो कि) जिसकी देह पर बत्तीस श्रेष्ठ एवं निर्मल लक्षण होते हैं, उसकी दो (ही) गतियाँ होती हैं, तीसरी नहीं। (वह) या तो बलवान् चक्रवर्ती राजा होता है, या लोक में श्रेष्ठ बुद्ध होता है।

नायं कामगुणेभिरर्थिकु पुनः बुद्धो अयं भेष्यति
श्रुत्वा व्याकरणं ऋषेः स नृपतिः प्रीतिं सुखं लब्धवान्।
प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटो चरणावसौ वन्दते
देवैस्त्वं स्वभिपूजितः सुबलवान् ऋषिभिश्च संवर्णीतः ॥262॥

ये कामभोगों के अभिलाषी न होंगे प्रत्युत् ये बुद्ध होंगे। ऋषि के इस व्याकरण (= भविष्यद् व्याख्यान) को सुन कर राजा को प्रीतिसुख का लाभ हुआ। तदनन्तर उठ कर, अंजलि बाँध कर, उन्होंने चरणों में वन्दना की। (और कहा कि) तुम देवताओं द्वारा भलीभाँति पूजित हो, अत्यन्त बलवान् हो, और ऋषि भी तुम्हारा सम्यक् वर्णन करते हैं।

वन्दे त्वां वर-सार्थवाह त्रिभवे सवे जगे पूजितं
असितः प्राह च भागिनेय मुदितः संश्रूयतां भाषतो।
बुद्धा बोधि यदा श्रृणोसि जगतो वर्तेति चक्रं ह्ययं
शीघ्रं प्रव्रज शासनेऽस्य मुनये तत्प्राप्स्यसे निर्वृतिं ॥263॥

(इसलिए) हे श्रेष्ठ सार्थवाह, तीनों भुवनों में, सम्पूर्ण जगत् में, पूजित तुम्हें प्रणाम करता हूँ। और (उस समय) प्रसन्न हो असित (ऋषि) अपने भानजे

से बोले। मेरा कहना सुनो। जब सुनो कि इन्होंने बोधि पा ली है और जगत् में धर्मचक्र का प्रवर्तन कर रहे हैं, तब शीघ्र इन मुनि के शासन में प्रव्रजित हो जाना। उससे तुम्हें निर्वाण-लाभ होगा।

वन्दित्वा चरणौ[94क] ह्यसौ मुनिवरः[94क] = 90क=कृत्वा च प्रादक्षिणं
लाभा ते नृपते सुलब्ध विपुला यस्येदृशस्ते सुतः।
(–112–) एषो लोक सदेवकं समनुजं धर्मेण तर्पेष्यति
निष्क्रामं कपिलाह्वयादृषिवरोऽरण्ये स्थितः स्वाश्रमे ॥264॥इति॥

उन मुनिवर ने (बोधिसत्त्व के) चरणों की वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर (कहा—) हे नृपते, जिनका पुत्र ऐसा है, (उन) तुमको महालाभ प्राप्त हुआ है। ये देवताओं से युक्त तथा मनुष्यों से समन्वित जगत् को धर्म से तृप्त करेंगे। (ऐसा कह) ऋषिवर कपिलवस्तु (नगर) से निकल अरण्य में अपने आश्रम में जा विराजे। इति।

47. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व का ज्यों ही जन्म हुआ त्यों ही देवपुत्र महेश्वर ने शुद्धावासकायिक देवपुत्रों को संबोधन कर यों कहा—हे मार्षा (सुहृदों), ये जो महात्मा बोधिसत्त्व मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए हैं, वे शीघ्र ही सम्यक् संबोधि का अभिसंबोधन (=साक्षात्कार) करेंगे। इन्होंने शत-सहस्र-खर्व-कोटि असंख्येय कल्पों तक पुण्य कर्मों का, दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा (नाम की पारमिताओं) का उपाय, श्रुत (=धर्मश्रवण तथा विद्या-श्रवण), सत्-आचरण, व्रत तथा तप का भलीभाँति आचरण किया है। ये महा-करुणा, महामैत्री, यथा महामुदिता से युक्त हैं। इनके चित्त में उपेक्षा का सम्यक् उदय हुआ है। ये सब प्राणियों के सुख के निमित्त उद्योगी रहे हैं। ये दृढ़ वीर्य (=वीरभाव) रूपी कवच के सुन्दर संनाह से सज्जित हैं। इन्होंने अतीत के बुद्धों के आश्रय से कुशल (=पुण्य) के मूल को रोपा है। ये शत-पुण्यों के लक्षणों से भलीभाँति अलंकृत हैं। इन्होंने पराक्रम करने का भलीभाँति निश्चय किया है। परचक्र (=माररूपी शत्रु के सैन्य) के मथन करने हारे हैं। ये निर्मल एवं शुद्ध = 90ख = आशय (=भाव) की संपत्ति से युक्त हैं।[95] ये शोभन चरित्र का आचरण करने हारे हैं[95]। इनके ध्वज (दंड) में महान् ज्ञान की पताका फहराती है। ये मारबल का अन्त करने वाले हैं। ये त्रिसाहस्र-महा साहस्र

94क····94क. मूल, ह्यसौ मुनिवरः। भोट, ब्रङ् सोङ् दम् दे यिस्, असौ मुनिवरः।

95····95. मूल, सुचरितचारणो। यह पाठ भोट में नहीं है।

लोक-धातु) के सार्थवाह हैं। [96] ये देवताओं तथा मनुष्यों के द्वारा पूजित हैं। महायज्ञों द्वारा इनकी पूजा की गई है[96]। [97]इनके पुण्य की राशि अत्यन्त समृद्ध है। इनका अभिप्राय (संसार से) निःसरण (=मोक्ष) का है[97]। ये जन्म, जरा तथा मरण के अन्त करने वाले हैं। इनका जन्म सुन्दर जन्म है। ये इक्ष्वाकु-राजवंश में उत्पन्न हुए हैं, (और इस) जगत् को बोधि का लाभ कराने वाले हैं। अहो, हम-सब चलें उनकी वंदना करने के लिए, सत्कार करने के लिए, पूजा करने के लिए, स्तुति करने के लिए तथा दूसरे घमंड में चूर देवपुत्रों के अभिमान, अहंकार और मत्तता को छिन्न-भिन्न करने के लिए। वे हम-सब को वन्दना करते देख बोधिसत्त्व की वन्दना करेंगे, सत्कार करेंगे, पूजा करेंगे। उससे उनका चिरकाल तक प्रयोजन सिद्ध होगा, हित होगा, सुख होगा, यहाँ तक कि (अन्त में) अमृत (=मोक्ष) का लाभ होगा। और राजा शुद्धोदन की जयवृद्धि सबके कानों में पड़ेगी। तत्त्वव्याकरण (अर्थात् यथार्थ बात की व्याख्या) द्वारा बोधिसत्त्व की होनहार का वर्णन कर फिर लौट आयेंगे।

48. (–113--) तदनन्तर देवपुत्र महेश्वर =91क= बारह हज़ार देवपुत्रों के साथ आगे-आगे हो समूचे कपिलवस्तु महानगर को प्रकाश से प्रकाशित कर जहाँ राजा शुद्धोदन का निवास था, वहाँ जाकर, द्वारपाल से निवेदन कर, राजा की अनुमति पा कर, राजकुल में प्रवेश कर, बोधिसत्त्व के चरणों में सिर से नमस्कार कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, अनेक शत-सहस्र बार प्रदक्षिणा कर, बोधिसत्त्व को गोद में लेकर, राजा शुद्धोदन को आश्वासन दिया कि हे महाराज, संतुष्ट रहें, परम प्रीतिमान् रहें। वह किस लिए ? (वह इस लिए कि) जैसे हे महाराज, बोधिसत्त्व का शरीर लक्षणों और अनुव्यञ्जनों से अलंकृत हैं, और जैसे अपने रङ्ग, तेज, यश तथा शोभा से कुमार देवताओं और मनुष्यों से युक्त इस लोक को मात कर रहे हैं, (उससे जान पड़ता है कि) महाराज, बोधिसत्त्व निःसन्देह अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अभिसंबोधन (=साक्षात्कार) करेंगे।

96····96. मूल, देवमनुष्यपूजितमहायज्ञयष्टः। भोट, ल्ह दङ् मिस् म्छोद् प, म्छोद् स्ब्यिन् छेन् पो हि. म्छोद् स्ब्यिन् ब्यस् प, = देवमनुष्यपूजितः। महायज्ञयष्टः। भोटानुसार मूल में दो समस्तपद थे।

97····97. मूल, सुसमृद्धपुण्यनिचयनिस्सरणाभिप्रायो। भोट, ब्सोद् नम्स् क्यि छोग्स् फुन् सुम् छोग्स् प दङ् ल्दन् प। ह् ब्युङ् बहि. ब्सम् चन्। = सुसमृद्धपुण्यनिचयो निस्सरणाभिप्रायः। भोटानुसार मूल में दो समस्तपद हैं।

49. इस प्रकार हे भिक्षुओं, देवपुत्र महेश्वर शुद्धावासकायिक देवपुत्रों के साथ बोधिसत्त्व की बड़ी पूजा एवं उपासना कर, तत्त्वव्याकरण (अर्थात् यथार्थ बात की व्याख्या) द्वारा होनहार बोधिसत्त्व का वर्णन कर फिर अपने भवन को लौट गए।

50. इस विषय में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(शुद्धावासकायिक देवताओं द्वारा बोधिसत्त्व की पूजा)

(वसन्ततिलका छंद)

=91ख= जातस्य तस्य [98]गुणसागरपारगस्य[98]
ज्ञात्वा सुरेश्वरमुरद् ब्रुवते उदग्रः।
यस्या सुदु (र्) ल्लभ श्रवो बहुकल्पकोट्या
हन्तेथ तं व्रजम पूजयितु मुनीन्द्रं ॥265॥

उन गुणों के समुद्र के पारगामी को उत्पन्न हुआ जान कर सुरेश्वर देवता ने प्रसन्न होकर कहा—बहुत कोटि कल्पों तक जिस (के नाम) का सुनना भी यहाँ दुर्लभ है, अहो, उस मुनीन्द्र को पूजने के लिए हम चलें।

परिपूर्णद्वादशसहस्र मुरद् विशुद्धा
मणिरत्नचूडसमलंकृत ईर्यवन्तः।
कपिलाह्वयं पुरवरं समुपेत्य शीघ्रं
द्वारि स्थिता नरपतेः सुविलम्बचूडाः ॥266॥

पूरे-पूरे बारह सहस्र शुद्धावासकायिक देवता, ईर्यापथ से युक्त हो, अपनी चोटियाँ मणियों और रत्नों से अलंकृत कर, (उन) चोटियों को भलीभाँति लटकाए हुए, श्रेष्ठ कपिलवस्तु नगर में शीघ्र जाकर राजा के द्वार पर खड़े हो गए।

(–114–) ते द्वारपालमवदन् सुमनोज्ञघोषाः
प्रतिवेदयस्व नृपते भवनं प्रविश्य।
दौवारिको वचन श्रुत्व गृहं प्रविष्टः
प्रह्व (:) कृताञ्जलिपुटो नृपतिं बभाषे ॥267॥

अत्यन्त मनोहर बोलने वाले उन सब ने द्वारपाल से कहा कि महल में जा कर राजा से निवेदन करो। द्वारपाल (यह) यह वचन सुन कर महल के भीतर गया और नम्र हो एवं अंजलि बाँध राजा से कहा।

98····98. मूल, गुणसागर-सागरस्य। भोट, योन् तन् र्ग्यम्छो हि् फ रोल् फ्यिन् प, गुणसागरपारग। फलतः शुद्धपाठ गुणसागरपारगस्य होगा।

जय देव नित्यमनुपालय दीर्घमायुः
द्वारे भिथता विपुलपुण्यविशुद्धभासः।
मणिरत्नचूडसुविभूषित ईर्यवन्तः
परिपूर्णचन्द्रवदना शशिनिर्मलाभाः ॥268॥

हे देव, नित्य जय हो। दीर्घ आयु का भोग करें। द्वार पर विपुल पुण्य के कारण विशुद्ध आभा वाले, मणियों एवं रत्नों से चोटियों को अलंकृत किये हुए, ईर्यापथ में स्थित, परिपूर्ण चन्द्रमा के समान बदन वाले एवं चन्द्रमा की जैसी निर्मल छवि के (बहुत से लोग) खड़े हैं।

छायां न तेष नृपते क्वचिदप्यपश्यन्
शब्दं च नैव चरणोत्क्षिपणे श्रृणोमि।
न च मेदिनीं विचरतो रजमुत्क्षिपन्ति
तृप्ति न यान्ति च जना [99]समुदीक्ष तां वै[99] ॥269॥

हे राजन्, उनकी परछाईं कहीं न देखी। पैर उठाने पर पैरों की चाप न सुनी। धरती पर चलते हुए (वे) धूल नहीं उड़ाते। और उन्हें देख कर लोगों का मन नहीं भरता।

कायप्रभा सुविपुला च विभाति तेषां
वाचा मनोज्ञ यथ नास्ति ह मानुषाणां।
गम्भीरश्लक्ष्णसुशिला[100] च सुआकरा च
शङ्का हि मे सुरगणा न हि ते मनुष्याः ॥270॥

उनके शरीर की अत्यन्त विपुल प्रभा विशेष रूप से भा रही है। उनकी वाणी जैसी मनोहर, गंभीर, चिकनी, सुनने में प्रिय तथा सुन्दर आकर की (अर्थात् खरी) है वैसी मनुष्यों की नहीं होती। मुझे संदेह है कि वे देवगण हैं, मनुष्य नहीं।

वरपुष्पमाल्य अनुलेपनपट्टदामा
पाणी गृहीत्वन उदीक्षिषु गौरवेण।
निस्संशयं नृपति द्रष्टु कुमारमेते = 92क =
देवाधिदेव मरुतागत पूजनार्थं ॥271॥

99....99. मूल, समुदीक्षतां वै। शुद्धपाठ, समुदीक्ष तां वै (=समुदीक्ष्य तान् वै)। तुलनीय भोट, दे दग् थोङ् न, तान् दृष्ट्वा।

100. सुशिला को बु० हा० सं० डि० में सुशीला का अपभ्रंश माना गया है। भोट में सृञन् प (=श्रव्य, प्रिय) शब्द से इसका अनुवाद हुआ है। संभवतः सुश्लीला का अपभ्रंश सुशिला है।

श्रेष्ठ पुष्पों की मालाएँ, अनुलेपन (चन्दन आदि) तथा पट्टमालाएँ हाथ में लेकर (वे लोग) गौरव से प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे राजन्, इसमें संदेह नहीं, ये सब देवता देवाधिदेव कुमार के दर्शन और पूजन के लिए आये हुए हैं।

राजा निशाम्य वचनं परमं उदग्रो
गच्छा भणाहि प्रविशन्तु गृहं भवन्तः।
(-115-) न हि मानुषाण इयमीदृश ऋद्धि काचि
यथ भाषसे च गुण तेष यथा च ईर्या ॥272॥

राजा बात सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हो (बोला)। जाओ, बोल दो कि आप-सब महल के भीतर आ जायें। जिस प्रकार उनके गुणों तथा जिस प्रकार उनके ईर्यापथ को तुम कह रहे हो (उससे जान पड़ता है) इस प्रकार की कोई ऋद्धि मनुष्यों में नहीं होती।

दौवारिकः कृतपुटो मरुतैवमाह
प्रविशी भवन्त अनुज्ञातु नराधिपेन।
ते हृष्टतुष्टमनसो वरमाल्यहस्ता
गेहं प्रविस्ट नृपतेरमरालयं वा ॥273॥

द्वारपाल अंजलि बाँध कर देवताओं से यों बोला—आप लोग भीतर जाएँ। राजा ने (आप-सब को) अनुज्ञा दे दी है। (तब) मन में हर्ष एवं संतोष से भर कर, हाथों में श्रेष्ठ मालाएँ लिये हुए, वे अमरावती के समान राजमंदिर के भीतर गये।

दृष्ट्वा च तां सुरवरां प्रविशन्त गेहं
प्रत्युत्थितो नृपतिरञ्जलि संप्रगृह्य।
संविद्ययन्त इम आसन रत्नपादा
अत्रा निषीदत भवन्ननुकम्प्य बुद्धया ॥274॥

उन श्रेष्ठ देवताओं को घर के भीतर आते देख राजा अँजलि बाँध कर खड़े हो गये। (और बोले) ये रत्नों से जड़े पाए वाले आसन यहाँ विद्यमान हैं, हृदय से अनुकम्पा करके इन पर विराजें।

ते मानदर्पविगता स्थित आसनेषु
यस्यार्थि आगत इह नृपते श्रृणुष्व।
पुत्रस्तवातिपृथुपुण्यविशुद्धकायो
जातः सुजातचरणं वय द्रष्टुकामाः ॥275॥

अभिमान और अहंकार से रहित वे-सब आसनों पर बैठे। (और बोले) हे राजन्, जिस प्रयोजन के लिए यहाँ आना हुआ है, उसे सुनें। आपके यहाँ अत्यन्त

अधिक पुण्य के कारण विशुद्ध शरीर के पुत्र का जन्म हुआ है। हम-सब उन पुण्य जन्म वाले (बोधिसत्त्व) के चरणों के दर्शन करना चाहते हैं।

अस्मो विधिज्ञ वरलक्षणलक्षणज्ञा
येषां तथा भवति या गति यः प्रयोगः।
तत्साधु पार्थिववर प्रजहस्व खेदं
पश्याम लक्षणविचित्रविभूषिताङ्गं ।।276।।

(हम लोग) दैवज्ञ हैं (उन) श्रेष्ठ लक्षणों के चिह्नों को पहचानते हैं, जिनके वैसा (होने से) जो गति होती है और (जिसके साथ) जो योग्य होता है। इसलिए हे श्रेष्ठ राजन्, अच्छा हो, (आप) खिन्न न हो। (और हम उन) विचित्र लक्षणों से अलंकृत अंगों वाले (कुमार) के दर्शन करें।

स स्त्रीगणैः परिवृतो नृपतिः प्रहृष्टो
गृह्य कुमारमसमं ज्वलनार्चिवर्णं।
उपनामयन् सुरवरां सुविलम्बचूडां
द्वारात्तु = 92ख = निष्क्रमतु कम्पित त्रिस्सहस्राः ।।277।।

वे राजा स्त्रीगणों से घिरे हुए, अत्यन्त आनन्दित हो, अग्निशिखा के जैसे रंग के अतुलनीय कुमार को लेकर, सुन्दरता से चोटियाँ लटकाए हुए श्रेष्ठ देवताओं के पास ले गये, (जिसके) द्वार से निकलते हुए (विश्वमंडल के) तीनों सहस्र काँप उठे।

(–116–) दृष्ट्वैव ते सुरवरा क्रम नायकस्य
ताम्रां नखां[101] विमलवर्ण[101]-विशुद्धतेजां।
ते उत्थिता त्वरितरूप विलम्बचूडा
मूर्ध्नाभिवन्दिषु क्रमां विमलप्रभस्य ।।278।।

वे श्रेष्ठ देवता नायक के चरणों को, ताम्बे के जैसे लाल, निर्मल रंग के और विशुद्ध तेज वाले नखों को देखते ही, हड़बड़ा कर चोटियाँ लटकाए हुए उठ खड़े हुए। (और उन्होंने) निर्मल प्रभा वाले (बोधिसत्त्व) के चरणों में सिर से वन्दना की।

101⋯101. मूल, विमलपत्र०। भोट, म्दोग् ङ्रि मेद्, विमलवर्णं०।

यथ लक्षणा यथ च दर्शित लक्षिता[102] च
यथ पुण्यतेजि[103] शिरि मूर्धविलोकितं[104] च ।
यथ इर्यनेत्र[105] [106] विमलाप्रभ ऊर्णकोशा[106]
निःसंशयं स्पृशति बोधि विजित्य मारं ॥279॥

जैसे लक्षण हैं और जिस प्रकार लक्ष्मी दीख पड़ती हैं, जैसा पुण्य तेज है, तथा शिर-मस्तक (उठा कर) अवलोकन है, जैसे ईर्या (= शिष्टाचार) से युक्त नेत्र हैं तथा (जैसे) ऊर्णाकोश (भौंहों के बीच की रोमावली) विमलप्रभा से युक्त है, (उससे जान पड़ता है कि ये) मारविजय कर सचमुच बोधिलाभ करेंगे ।

ते तं स्तुवन्ति गुणभूत यथार्थदर्शी
ध्यायी गुणां विगतक्लेशतमोनुदस्य ।
सुचिरेण सत्त्वरतनस्य हि प्रादुर्भावो
जातीजरामरणक्लेशरणंजहस्य ॥280॥

वे क्लेशों से रहित, (अज्ञान रूपी) अन्धकार के नाशक, (बोधिसत्त्व) के गुणों का ध्यान कर, उन यथार्थदर्शी सत्यगुण वाले (बोधिसत्त्व) की स्तुति करने लगे कि अति चिर काल के बाद जाति (= जन्म), जरा, मरण तथा क्लेशों के रण का प्रहाण करने वाले सत्त्वरत्न का प्रादुर्भाव हुआ है ।

आदीप्त सर्वत्रिभवं त्रिभिरग्नितप्तं
संकल्परागविषयारणिउच्छ्रितेन ।
त्वं धर्ममेघ त्रिसहस्र स्फरित्व धीरा
अमृतोदकेन प्रशमेष्यसि क्लेशतापं ॥281॥

संकल्प तथा राग के विषयों की अरणि के उत्पन्न तीन अग्नियों से तप-तप कर (ये) सब तीनों भव जल रहे हैं । हे धीर, तुम धर्ममेघ हो (सब ओर) छाकर अमृत (= मोक्ष) के जल से क्लेशों के ताप को शान्त करोगे ।

---

102. मूल, दर्शित लक्षिता । भोट, लत ब दृपल् चन्, लक्ष्मीतद्दर्शनम् । मूल में लक्षि लक्ष्मी का अपभ्रंश है ।

103. भोट, ब्सोद् नम्स् ग्झि ब्जिद्, पुण्यतेजः ।

104. भोट, स्पिय (= मूर्ध) ग्चुग् म (मूर्ध) म्थोङ् (= विलोकितं)

105. मूल में पाठ असमस्त है । भोट में यह पाठ नहीं है ।

106....106. भोट, म्ज़ोद् स्पु नस नि गर्य छेन् ह.ोद् ह.बयुङ्, विपुलप्रभ ऊर्णकोशः ।

त्वं मैत्रवाक्य करुणान्वित, श्लक्ष्णवाक्य,
ब्रह्मस्वरारचितघोष, मनोज्ञवाणि ।
[107]त्रिसहस्र-आज्ञ, परिविज्ञपनी जगस्य[107]
क्षिप्तं प्रमुञ्च भगवन् महबुद्धघोषं ॥282॥

हे मैत्रमय वचन वाले, हे करुणा से युक्त, हे कोमल वचन वाले, हे ब्रह्मा के स्वर के समान घोष करने वाले, हे हृदयंगम वाणी वाले, हे त्रिसहस्र (विश्व-मण्डल) में विज्ञात, हे जगत् को सब प्रकार से बोध कराने वाले, हे भगवन्, तुम शीघ्र महान् बुद्ध-घोष की घोषणा करो।

भग्ना कुतीर्थिकगणा विपरीतदृष्टिः
[108]भवरागबन्धननिमग्न स्थिता भवाग्रे[108] ।
(–117–) हेतु प्रतीत्य भव शून्य शुणित्व धर्मा
सिंहस्य = 93क = कोष्टुकगणैव पलायिनस्ते ॥283॥

विपरीत (दार्शनिक) दृष्टि वाले, भव-राग के बन्धन में फँसे हुए, भव (--सागर) के (पार करने के लिए) किनारे पर खड़े हुए, कुतीर्थिक-गण (अब) भग्न (ही) हैं। सिंह के (दिख जाने पर) शृगालों के झुंडों की भाँति वे हेतु के प्रत्यय से होने वाले (अतएव सब) धर्मों को शून्य सुन कर भाग पड़ने वाले हैं।

भित्त्वा अविद्यपटलं महक्लेशधूमं
पर्युत्थिता जनतये नियत प्रकाशे ।
ज्ञानार्चिप्रज्ञविद्युविलोकितेन
सर्वं जगे विधमये महदन्धकारं ॥284॥

सब ओर से (व्याकुलतावश) उठी जनता के (व्याकुल करने हारे) महाक्लेशों के धुएँ वाले अविद्या के परदे को भेद कर निश्चय से प्रकाश करने वाले ज्ञान-रूपी ज्वाला, प्रज्ञा-रूपी प्रभा तथा विद्या-रूपी दृष्टि से (हे भगवन्) जगत् के घने अँधेरे को फूँक उड़ाएँ।

107····107. मूल, त्रिहसस्र आज्ञपरिविज्ञपनी जगस्य । बु० हा० सं० डि० में इसे ही ठीक मान लिया है । भोट, **स्तोङ् ग्सुम् कुन् तु गो शिङ् ह्. प्रोव गोर् ह्. ग्युर् व** । त्रिसहस्रविज्ञातम्, ज्यातः परिविज्ञापकम् ।

108····108. मूल, भवरागबन्नानिमग्नस्थिता भवाग्रे । भोट, **स्रिद् प हि. ह्.दोद् छग्स् बृचिङ्स् बियङ्**, भवरागबन्धननिमग्नाः **स्रिद् प हि.छुर् ग्नस् प**, स्थिता भवाग्रे ।

लाभा सुलब्ध विपुला मरुमानुषाणां
यत्रोद्भवोऽद्भुत इहेदृशि शुद्धसत्त्वे।
पिथिता अपायपथ स्फीत मरुत्पथानि
भेष्यन्ति सत्त्वरतनेन विबोधकेन ॥285॥

जहाँ ऐसे अद्भुत शुद्धसत्त्व का जन्म हुआ है, (वहाँ) देवताओं और मनुष्यों को बहुत-बहुत लाभ सुलभ हुआ है। (इन) बोध करने वाले सत्त्वरत्न के द्वारा नरक-पथ बन्द हो जाएँगे तथा स्वर्ग-पथ खुल जाएँगे।

वर्षित्व दिव्यकुसुमां कपिलाह्वयेऽस्मिन्
कृत्वा प्रदक्षिण स्तवित्व च गौरवेण।
बुद्ध सुबुद्ध इति वाक्यमुदीरयन्तः
प्रकान्त ते सुरगणा गगणे सलीलाः ॥286॥इति॥[109]

कपिलवस्तु (नगर) में दिव्य पुष्प बरसा कर, गौरव के साथ स्तुति कर, तथा प्रदक्षिणा कर, बुद्ध-सुबुद्ध इस प्रकार के वचनों को कहते हुए, वे देवता आकाश में लीला के साथ चले गये। इति।

॥ इति श्रीललितविस्तरे जन्मपरिवर्तो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

---

109. 193-286 गाथाओं की संस्कृत छाया—देव शृणु हि मम भाषमाणाया यन्मतं मे ऽचिरम्, चिर-चिरेण जाता उद्यान (गमन) बुद्धिः। यदि च तव न रोषो नैव दोषो न मोहः क्षिप्रमहं व्रजेयं क्रीडोद्यानभूमिम् ॥193॥ त्वमिह तपसि खिन्नो धर्मचित्तप्रयुक्तोऽहं च चिरं प्रविष्टा (= अभ्यन्तरे स्थिता) शुद्धसत्त्वं धारयन्ती। द्रुम-वराः प्रतिबुद्धाः फुल्लिताः शालवृक्षा युक्त भवेद् देव गन्तुम् उद्यानभूमिम् ॥194॥ ऋतुः प्रवरो वसन्तो योषितां मण्डनीयो भ्रमरवरविघुष्टः कोकिलबर्हिगीतः। शुचिरुचिरविचित्रो भ्राम्यति (= उत्पतति) पुष्परेणुः साधुः देह्याज्ञां गच्छाम मा (भूत्) विलम्बः ॥195॥ वचनमिदं श्रुत्वा देव्याः पार्थिवेन्द्रस् तुष्टमुदितचित्तः पारिषद्यानवोचत्। हयगजरथपत्त्या वाहनानि योजयध्वं प्रवरगुणसमृद्धां लुम्बिनीं मण्डयध्वम् ॥196॥ नीलगिरिनीकाशान् मेघवर्णानुबद्धान् विंशतिं च सहस्राणि योजयध्वं गजानाम्। मणिकनकविचित्रान् हेमजालोपगूढान् घण्टा-रुचिरपार्श्वान् षड्विषाणान गजेन्द्रान् ॥197॥ हिमरजतनीकाशान् मुञ्ज-केशान् सुकेशान् विंशतिं च सहस्राणि योजयध्वं हयानां। कनकरचितपार्श्वान् लम्बकिङ्किणीजालान् पवनजविनवेगान् वाहान् (वाहनानि-इति यथारुक्तं च्छाया) पार्थिवस्य ॥198॥ नरगणान् रणशौण्डान् शूरान् संग्रामकामान्

असिधनुःशरशक्तिपाशखड्गाग्रहस्तान् । विंशतिं च सहस्राणि योजयध्वं सुशीघ्रं ।। मायां सपरिवारां रक्षताप्रमत्ताः ।।199।। मणिकनकनिषिक्तां लुम्बिनीं कारयध्वं विविधवसनरत्नैः सर्ववृक्षान् प्रवयत (= प्रावृतान् कुरुत) । विविधकुसुमचित्रं नन्दनमिव सुराणाम् ।। वदत च मम शीघ्रं सर्वमेतद् विधाय ।।200।। वचनमिदं निशम्य पारिषद्यैः क्षणेन वाहनानि कृतानि सज्जानि लुम्बिनी मण्डिता सा । पारिषद्य आह--जय जय हि नरेन्द्र, आयुः पालय दीर्घम्, सर्वं कृतं यथोक्तम्, कालं देव प्रतीक्षस्व ।।201।। स च वर-नरेन्द्रो हृष्टचित्तो भूत्वा वरगृहम् अनु (प्र) विष्टः स्त्रिय एवमाह । यस्या अहं मनःप्रियः या च मे प्रीतिकामा सा मे कुरुताम् आज्ञां मण्डयित्वाऽऽत्मभावम् (=शरीरम्) ।।202।। वरसुरभिसगन्धीनि भावरागाणि विचित्राणि वसनानि मृदूनि मनोज्ञानि प्रावृणुत प्रमुदिताः (उदग्राः इति प्रमुदिता इत्यर्थे बौद्धसंस्कृत एव) । उरसि विगलितानां (= विलम्बितानां) मुक्तानां हारैः (अलंकृताः) भवति, आभरणविभूषां दर्शयताद्य सर्वाः ।।203।। तूणपणवमृदङ्गान् वेणुवीणामुकुन्दान् तूर्यशतसहस्राणि योजयध्वं मनोज्ञान् । भूयः कुरुत हर्षं देव कन्यानां यूयं श्रुत्वा मधुरघोषां देवता अपि स्पृहयेयुः ।।204।। एका रथवरेऽस्मिन् तिष्ठतु मायादेवी मा पुरुषः स्त्री चान्या तत्रारोहेत् । नार्यो विविधवर्माणः तं रथं वाहयन्तां मा प्रतिकूलं मा ऽमनोज्ञं च शृणुयात् ।।205।। हयगजरथपत्ति सैन्यं श्रीमद् विचित्रं द्वारि स्थितं नृपस्य श्रूयते उच्चघोषः क्षुभितजलनिधेरिव श्रूयते (सैष) एव शब्दः । माया यदा गृहतो निर्गता द्वारमूलं घण्टाशतसहस्राणि ताडितानि मङ्गलार्थं ।।206।। स च रथो विचित्रो मण्डितः पार्थिवेन, अपि चामर-सहस्रैर्दिव्यसिंहासनैः । चत्वारो रत्नवृक्षाः पत्रपुष्पोपपेता अभिनदिता मनोज्ञं हंस-क्रौञ्चा मयूराः ।।207।। छत्रध्वजपताकाश्चोच्छ्रिता वैजयन्त्यः किङ्किणी-वरजालैश्छादितं दिव्यवस्त्रैः । अमरवध्वो गगने (ननु गगने ऽस्मिन्) तं रथं प्रेक्षन्ते दिव्यमधुरघोषं श्रावयन्त्यः स्तुवन्ति ।।208।। उपविशति यदा सा माया सिंहासनाग्रे (= सिंहानसस्योपरि) प्रचलिता त्रिसाहस्रा मेदिनी षड्विकारं । पुष्पाण्यमरा अक्षैप्सुः, अम्बदाणि-अबिभ्रमन्, अद्य जगतः श्रेष्ठो जायते लुम्बिन्याम् ।।209।। चत्वारो जगतः पालाः (= लोकपालाः) तं रथं वहन्ते त्रिदशपतिरपीन्द्रो मार्गशुद्धिं करोति । ब्रह्मा पुरतो ऽगच्छत् दुर्जनान् वारयन्, अमरशतसहस्राणि प्राञ्जलीनि नमन्ति ।।210।। नृपतिर्मुदितचित्तो वीक्षते तं व्यूहं तस्य भत्येवं व्यक्तमयं देवदेवः । यस्य चत्वारः पाला ब्रह्मा सेन्द्राश्च देवाः कुर्वते विपुलां पूजां व्यक्तमयं बुद्धो भविता ।।211।। नास्ति त्रिभवे सत्त्वो यः सहेत पूजामेतां देवो ऽथ नागः शक्रो

ब्रह्मा च पालः। मूर्धा तदा फलेज् जीवितं चास्य नश्येद् अयं पुनरतिदेवः सर्वपूजां सहते ॥212॥ शुभविमलविशुद्धप्रभाणां चन्द्रसूर्यप्रभाणां षष्टिदश-सहस्राणि देवाप्सरसां मञ्जुघोषस्वराणाम्। तस्मिन् क्षणे उपेत्य तां लुम्बिनीं मायादेवीमब्रुवन् मा खलु जोजनो विषादं तुष्टा भव-उपस्थायिकास् (=सेविकास्) ते वयम् ॥213॥ वद हि किं करणीयं किं कुर्महे केन कार्यं च ते वयं तव सुसमर्थोपस्थायिकाः प्रेमभावस्थिताः। अपि च भव-उदग्रा (=आनंदिता) हर्षान्विता मा च खेदं जीजनो जरामरणविघातिनं वैद्योत्तमं अद्य देवी अजीजनो लघु (=क्षिप्रं) ॥214॥ यथा द्रुमाः परिफुल्लाः संपुष्पिता शालवृक्षा इमे यथा चामराः सहस्राणि पार्श्वे स्थिताः भ्रामयन्तो भुजान् यथाचाचालीद् ससगरा मेदिनी षड्विकारा इयं दिवि भुवि च विघुष्टं लोकोत्तरं त्वम् अजीजनः सुतं ॥215॥ यथा च प्रभा विशुद्धा विभ्राजते स्वर्णवर्णा शुभा तूर्यशतानि मनोज्ञानि चाघट्टितानि घुष्यन्तेऽम्बरे। यथा च शतहस्राणि शुद्धाः शुभा वीतरागाः सुराः अनंसिषुर् मुदितचित्ता अद्याजीजनः सर्वलोके हितम् ॥216॥ शक्रोऽपि च ब्रह्मा (लोक) पाला अपि चान्या च या देवतास् तुष्टा मुदितचित्ताः पार्श्वे स्थिता नमयन्त्यो भुजान्। स च पुरुषसिंहः शुद्धव्रतो भित्वा कुक्षिं निर्धावितः कनकगिरि-निकाशः शुद्धव्रतो निरक्रमोन्नायकः ॥217॥ शक्रोऽपि च ब्रह्मा तौ पाणिभ्यां संप्रत्यैच्छतां मुनिं, क्षेत्राणि सहस्राणि संकम्पितानि, आभा मुक्ता शुभा। अपि च त्रिषु अपायेषु (=नरक प्रेततिर्यक्षु) सत्त्वाः सुखिनः, नास्ति दुःखं पुनर् अमराः शतसहस्राणि पुष्पाण्यक्षैप्सुः भ्रामयन्तोऽम्बराणि ॥218॥ वीर्यबलोपेतो वज्रात्मिका मेदिनी संस्थिता पद्मो रुचिरचित्रो ऽभ्युद्गतो यत्र पद्भ्यां स्थितो नायकः, सप्त पदानि क्रान्त्वा ब्रह्मस्वरो ऽमुचद् घोषोत्तमं जरामरणविघाती वैद्योत्तमो भविष्यामि सत्त्वोत्तमः। गगनतले स्थित्वा ब्रह्मोत्तमः शक्रो देवोत्तमः शुचिरुचिरप्रसन्नगन्धोदकैर् व्यसिस्नपद् नायकम्, अपि चोरगराजौ शीतोष्णे द्वे वारिधारे शुभे व्यमुञ्चताम् अन्तरिक्षे स्थितौ अमराः शतसहस्राणि गन्धोदकैर् व्यसिस्नपन् नायकं लोकपालाश्च संभ्रान्ता संधारयन्ति करैः शोभनैः ॥219॥ दण्ड-कच्छन्दः ॥ त्रिसहस्रेयं भूमिः कम्पते (स्म) सचराचरा। प्रभा च रुचिरा मुक्ता, अपायाश्च विशोधिताः क्लेशा दुःखाश्च ते शान्ता जाते लोकविनायके ॥220॥ क्षिपन्ति मरुतः पुष्पाणि जातेऽस्मिन् नरनायके क्रमान् सप्तपदान् वीरः क्रमते (स्म) बलवीर्यवान् ॥221॥ पादौ निक्षिपते यत्र भूमौ पद्मवराः शुभाः। अभ्युदगच्छंस्ततो मह्यां सर्वरत्नविभूषिताः ॥222॥ यदा सप्तपदानि

गत्वा ब्रह्मस्वरम् उदाहार्षीत् जरामरणविघातीभिषग्वर इवोद्‌गतः ॥223॥ व्यवलोक्य च विशारदो दिशस् ततो गिरं मुञ्चत्यर्थयुक्तां। ज्येष्ठोऽहं सर्वलोकस्य श्रेष्ठो लोके विनायकः, इयं च जातिर्मम पश्चिमे (ति) ॥224॥ हास्यं च मुक्तं नरनायकेन सलोकपालैरमरैश्च सेन्द्रैः। प्रसन्नचित्तैर्वरगन्धवारिभिः संस्कारितोलोकहितार्थकारी ॥225॥ अपि चोरगेन्द्रैः सहिताः (ते इति शेषः) समग्रैर् गन्धोग्रधाराविसरैर् असिस्नपन् अन्येऽपि देवा नयुतानि अन्तरिक्षेऽसिस्नपन् गन्धाग्रैर् जिनं स्वयंभुवं ॥226॥ श्वेतं च विपुलं छत्रं चामरे च शुभेऽम्बरे (गृहीत्वा इतिशेषः)। अन्तरिक्षे गता देवाः स्नपयन्ति (स्म) नरर्षभम् ॥227॥ पुरुषस्त्वरितो गत्वा शुद्धोदनमब्रवीत् हर्षितो, वृद्धिविपुला, जातो देव सुतो भूषितो लक्षणैः। महाकुलरत्नस्य (वृद्धिर्भूता) व्यक्तोऽसौ चक्रवर्तीश्वरः, न च भवेत् प्रतिशतुर् जम्बुध्वजे एकच्छत्रो भवेत् ॥228॥ द्वितीयः पुरुषो गत्वा (राजानम्) शुद्धोदनं, श्लेषित्वा (=शिलष्ट्वा) क्रमौ (चरणौ) (आह-इति शेषः) वृद्धिविपुला जातो नृपः शाक्यानां कुले। पञ्चविंशतिसहस्राणि जाताः सुताः शाक्यानां गृहे सर्वे बलोपेताः नग्नाः (=नगणाः) समा दुष्प्रधर्षाः परैः ॥229॥ अपरः पुरुष आह देव शृण्वानन्दशब्दं मम छन्दकप्रमुखाणि चेटीसुतानां (यथाक्तं तु चेटीसुताः इति प्रथमैव) जातन्यष्टौ शतानि। अपि च दसहस्राणि जाता हयाः कण्ठकस्य सखायस् तुरगवरप्रधाना हेमप्रभा मञ्जुकेशा वराः ॥230॥ विंशतिश्च सहस्राणि पर्यन्तकाः कोट्टराजास्तथा नृपते (तव) क्रमतले (=चरणतले) चन्वा क्रमिषुः, (आहुश्चेति शेषः) साधु देव जय। आज्ञां खलु देहि (क्व) गच्छाम किं वा करवाम नृप, त्वमिह वशितां (=ऐश्वर्यम्) प्राप्तः, भृत्या वयम्, भर्तृदेव, जय ॥231॥ विंशतिश्च सहस्राणि नागोत्तमा हेमजालोज्वलास् त्वरितमुपागमन् राज्ञो गृहं गर्जन्तो नभसि (नभसः इति भोटानुसारम्)। कृष्णशबलाः वत्सा गोप्रमुखाः जाताः (=प्रसूताः) षष्टिशतानि, इयमपि (प्र) सूते देव देवोत्तमे वृद्धिः राज्ञो गृहे ॥232॥ अपि च नृपते गच्छ प्रेक्षस्व स्वयं सर्वान् एव प्रभो पुण्यतेजःप्रभस्य। नरमरुतः सहस्राणि ये हर्षिता दृष्ट्वा जातस्य गुणान् बोधिं वरामशोकां संप्रस्थितः क्षिप्रं भवेज्जिनः (=अपि च नृपते प्रभो) गच्छ पुण्यतेजःप्रभस्य जातस्य गुणान् दृष्ट्वा ये सहस्राणि नरमरुतो हर्षिताः तान् सर्वानेव स्वयं पश्य। अशोकां वरां बोधिं संप्रस्थितः सः क्षिप्रं जिनो भवेत्—इत्यन्वयः) ॥233॥ × × × × × × ॥ अपायाश्च यथा शान्ताः सुखि सर्वं यथा जगत्। ध्रुवं सुखावहो जातः सुखे स्थापयिता जगत्

॥234॥ यथा वितिमिरा चाभा, रविचन्द्रसुरप्रभाः अभिभूता न भासन्ते ध्रुवं पुण्यप्रभोद्भवः ॥235॥ पश्यन्त्यनयना यद्वच् छ्रोत्रहीनाः शृण्वन्ति च। उन्मत्तकाः स्मृतिमन्तो भविता लोकचैत्यः ॥236॥ न बाधन्ते यथा क्लेशा जातं मैत्रजनं जगत्। निःसंशयं ब्रह्मकोटीनां भविता पूजनार्हः ॥237॥ यथा संपुष्पिताः शाला मेदिनी च समा स्थिता ध्रुवं सर्वजगत्पूज्यः सर्वज्ञोऽयं भविष्यति ॥238॥ यथा निराकुलो लोको महापद्मोद्भवो यथा (यथारूतम्-महापद्मो यथोद्भवः इति अत्र यथा इत्यनेन व्यवधानं समासे)। निःसंशयं महातेजा लोकनाथो भविष्यति ॥239॥ यथा च मृदुका वाता दिव्यगन्धोपवासिताः। शमयन्ति व्याधिं सत्त्वानां वैद्यराजो भविष्यति ॥240॥ वीतरागा यथा चेमे रूपधातौ मरुच्छतानि। कृताञ्जलि नमस्यन्ति दक्षिणीयो भविष्यति ॥241॥ यथा च मनुजा देवान् देवाः पश्यन्ति मानुषान्। हिंसन्ति न चान्योन्यं सार्थवाहो भविष्यति ॥242॥ यथा च ज्वलनः शान्तः सर्वा नद्यश्च विष्ठिताः। सूक्ष्मं च कम्पते भूमिर्भविता तत्त्वदर्शकः ॥243॥ × × × × × × × × × × ॥ वन्दितस्त्वं सुरैः सेन्द्रैर् ऋषिभिश्चासि पूजितः। चैत्यं सर्वस्य लोकस्य वन्देऽहमपि त्वां विभो ॥ (तत्समैवात्रभाषा) 244॥ × × × × × × × × ॥ दृष्ट्वा देवगणान् नभस्तलगतान् बुद्धश्रवोद्गारिणो देवर्षिरसितोऽद्रिकन्दरगतः प्रीतिं परा प्राप्तवान्। बुद्धो नाम पदं (=बुद्ध इति पदं) किमेतदिह भो हर्षावहं प्राणिनां प्रल्हादं मम काय एति (=मम कायःप्रल्हादं एति-प्राप्नोति) सुखितं शान्तं च चित्तं परम् ॥245॥ किं देवस्त्वसुरोऽथवापि स भवेद् गरुडोऽथवा किंनरो बुद्धो नाम किमेतदश्रुतपदं प्रीतिकरं मोदनम्। दिव्यया चक्षुषा प्रेक्षते (स्म) दश दिशः शैलान् महीं सागरान् भूयः पश्यति चाद्भुतं बहुविध भूमौ गिरौ (=गिरिषु) सागरे (=सागरेषु) ॥246॥ इतः पर पद्यं तत्सममेव ॥247॥ भूमिर्भाति यथा च पाणि (—तल—) सदृशी सर्वा समा निर्मला देवाश्चैव यथा प्रहृष्टमनसः खे भ्रामयन्ति-अम्बराणि। यद्वत् सागरे नागराजनिलये रत्नानि प्लवन्तेऽद्भुतानि सुव्यक्तं जिनरत्नस्य जम्बूनिलये (=जम्बूद्वीपे) धर्माकरस्योद्भवः ॥248॥ यद्वच्छान्ता अपाया दुःखविगताः सत्त्वाश्च सौख्यान्विता यद्वद्देवगणा नमस्तलगता गच्छन्ति हर्षान्विताः। यथा च स्निग्धं रवं मनोज्ञं शृणुयाद् दिव्यानां संगीतीनाम् रत्नस्येव प्रादुर्भावस् त्रिभवे यस्य निमित्तानि-इमानि ॥249॥ असितः प्रेक्षते जम्बूसाह्वयमिमं दिव्येन वै चक्षुषा सोऽद्राक्षीत् कपिलाह्वये पुरवरे शुद्धोदनस्यालये। जातो लक्षणपुण्यतेजोभरितो नारायणस्थामवान्

दृष्ट्वा चात्तमना उदयग्रमनाः (= मनसि हृष्टः मनसि तुष्टः) स्थामम् अस्य संवर्धितम् ।।250।। उद्य ुक्तस्त्वरितोऽतिविस्मितमनाश्चासौ स्वशिष्यान्वित आगत्य कपिलाह्वयं पुरवरं द्वारि स्थितो भूपतेः । अनुबद्धानि बहुप्राणि-कोटिनयुतानि दृष्ट्वार्षिजीर्णकोऽवोचत् सारथिं राज्ञ (आ) वेदय लघु द्वारि ऋषिस्तिष्ठति ।।251।। श्रुत्वा चाशु प्रविश्य राजभवनं राज्ञस्तमाख्यातवान् द्वारि देव तपस्वी तिष्ठति महान् जीर्ण ऋषिर्जर्जरः । स चाप्यभिन्दत ऋषिवरः प्रवेष्टुं राज्ञो गृहम् आज्ञा दीयतां तावत् पार्थिववर ददामि प्रवेशं न वा ।।252।। स्थापयित्वा चासनमस्य चाह नृपतिर्गच्छ प्रवेशं देहि, असितः सारथिवाक्यं श्रुत्वा मुदितः प्रीत्या सुखेनान्वितः । शीतं वारि यथाभिकांक्षी (भवति) तृषितो बुभुक्षार्दितश् (= बुभुक्षया पीडितश्चेति यावत् ।) चाशनं तद्वत् सुख्यभिनन्दित ऋषिवरस्तं द्रष्टुं सत्त्वोत्तमम् ।।253।। जय भोः पार्थिव इत्युवाच मुदितश्चायुश्चिरं पालय वृद्धिं कृत्वा निषीद (यथारुतं तु निपण्णो भव) दान्तमनाः शान्तेन्द्रियः सूनृतः । राजा वा अभिवाद्य तं सुनिभृतं प्रोवाच किं कारणम् आगमस्तव पार्थिवेन्द्रनिलये तद् ब्रूहि शीघ्रं मुने ।।254।। पुत्रस्ते वररूपः पारमितां गतो जातो महातेजोवान् द्वात्रिंद्वरलक्षणैः कवचितो नारायणस्थामवान् । तं द्रष्टुं हि ममेप्सितं नरपते सर्वार्थसिद्धं शिशुम् इत्यर्थं समुपागतोऽस्मि नृपते नास्त्यन्यत् कार्यं मम ।।255।। साधु स्वागतम्, याचसे किल, इतः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनाद् एषोऽसौ शयितः कुमारो वरद द्रष्टुं न शक्योऽधुना । साधु तावन्मुहूर्तमागमयस्त्वेह या (व) द् दक्ष्यमि निर्मलं चन्द्रं वै यथा पूर्णमास्यां विमलं तारागणैर्मण्डितम् ।।256।। यदा चासौ प्रतिबुद्धः सारथिवरः परिपूर्णचन्दभस्तदा राजा प्रतिगृह्य वह्निवपुषं सूर्यातिरेकप्रभम् । हन्त पश्य ऋषे, नृदेवमहितं हेमाग्रबिम्बोपमम् असितो दृष्ट (वांश्) च तस्य तौ सुचरणौ चक्राङ्कितौ शोभनौ ।।257।। प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटश्चरणौ स वन्दतेऽङ्के गृहीत्वा महात्मा शास्त्रकुशलो निध्यायन् प्रेक्षते । सोऽपश्यद् वरलक्षणैः कवचितं नारायणस्थामवन्तं शीर्षं कम्पयित्वा स वेदशास्त्रकुशलो द्वे तस्यापश्यद् गती ।।258।। राजा वा भवेत् चक्रवर्ती बलवान् बुद्धो वा लोकोत्तमो वाष्पांस्त्यक्तवान् सुदीनकायमना गम्भीरं निश्वस्य च । उद्विग्नश्च बभूव पार्थिववरः किं ब्रह्मणो रोदिति मा विघ्नं खलु पश्यत्ययमसितः सर्वार्थसिद्धस्य मे ।।259।। भूतं व्याहर किंतु रोदिषि ऋषे श्रेयोऽथ किं पापकं पापं नास्ति न चान्तराय इह भोः सर्वार्थ-सिद्धस्य ते । आत्मानं बहु शोचामि नरपते जीर्णोऽस्मि यज्जर्जरो यदायं भविष्यति बुद्धो लोकमहितो धर्मं यदा वक्ष्यति ।।260।। न द्रक्ष्याम्यहं

लब्धप्रीतिमना इत्यर्थं रोदिम्यहम्, यस्य काये भवन्ति लक्षणानि वराणि द्वात्रिंशन्निर्मलानि । द्वे तस्य गती नान्या तृतीया जानीष्वैवं नृप राजा वा भवेच्चक्रवर्ती बलवान् बुद्धोऽथ लोकोत्तमः ।।261।। नायं कामगुणैरर्थिकः पुनः बुद्धोऽयं भविष्यति श्रुत्वा व्याकरणमृषेः स नृपतिः प्रीतिसुखं लब्धवान् । प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटश्चरणावसौ वन्दते देवैस्त्वं स्वामिपूजितः सुष्ठुलवान् ऋषिभिश्च संवर्णितः ।।262।। वन्दे त्वां वरसार्थवाह त्रिभवे सर्वस्मिन् जगति पूजितम् । असितः प्राह च भागिनेयं मुदितः संश्रूयतां भाषमाणस्य (मे) बुद्धा बोधिर् (इति) यदा श्रृणोषि जगति (प्र) वर्तयति चक्रं ह्ययं (तदा) शीघ्रं प्रव्रज शासनेऽस्य मुने तत् प्राप्स्यसि निर्वृतिम् ।।263।। वन्दित्वा चरणौ ह्यसौ मुनिवरः कृत्वा च प्रदक्षिणां लाभास्ते नृपते सुलब्धा विपुला यस्येदृशस्ते सुतः । एष लोकं सदेवकं समनुजं धर्मेण तर्पयिष्यति निष्क्राम्यन् कपिलाह्वयादृषिवरोऽरण्ये स्थितः स्वाश्रमे ।।264।। इति ।।

जातस्य तस्य गुणसागरपारगस्य ज्ञात्वा सुरेश्वरो मरुद् ब्रूते—उदग्रः । यस्य सुदुर्लभश्रवो बहुकल्पकोट्या हन्तेह तं व्रजाम पूजयितुं मुनीन्द्रम्।।265।। परिपूर्णद्वादशसहस्राणि मरुतो विशुद्धाः मणिरत्नसमलंकृतचूडा ईर्यावन्तः । कपिलाह्वयं पुरवरं समुपेत्य शीघ्रं द्वारि स्थिता नरपतेः सुविलम्बचूडाः ।।266।। ते द्वारपालमवदन् सुमनोज्ञघोषाः प्रतिवेदयस्व नृपतेर्भवनं प्रविश्य । दौवारिको वचनं श्रुत्वा गृहं प्रविष्टः प्रह्वः कृताञ्जलिपुटो नृपतिं बभाषे ।।267।। जय देव नित्यमनुपालय दीर्घमायुर्द्वारि स्थिता विपुलपुण्यविशुद्धभासः । मणिरत्नसुविभूषितचूडा ईर्यावन्त परिपूर्णचन्द्रवदनाः शशिनिर्मलाभाः ।।268।। छायां न तेषां नृपते क्वचिदप्यपश्यम्, शब्दं च नैव चरणोत्क्षेपणे श्रृणोमि । न च मेदिनीं विचरन्तो रज उत्क्षिपन्ति तृप्तिं न यान्ति च जना समुदीक्ष्य तान् वै ।।269।। कायप्रभा सुविपुला च विभाति तेषां वाग् मनोज्ञा यथा नास्ति ह मानुषाणाम् । गंभीरश्लक्ष्णसुश्लीला च स्वाकरा च शङ्का हि मे सुरगणा न हि ते मनुष्याः ।।270।। वरपुष्पमाल्यानि—अनुलेपनपट्टदामानि पाणौ गृहीत्वा-उदैक्षिषत गौरवेण । निस्संशयं नृपते द्रष्टुं कुमारमेते देवाधिदेवं मरुत आगताः पूजनार्थम् ।।271।। राजा निशम्यं वचनं परमम् उदग्रः (=प्रसन्नः) गच्छ वद प्रविशन्तु गृहं भवन्तः । न हि मानुषाणामियमीदृशी-ऋद्धिः काचिद् यथा भाषसे च गुणांस्तेषां यथा चेर्याम् ।।272।। दौवारिकः कृतपुटो मरुत एवमाह प्रविशेयुर्भवन्तो ऽनुज्ञाता नराधिपेन । ते हृष्टतुष्टमनसो वरमाल्यहस्ता गेहं प्रविष्टा

नृपतेरमरालयमिव ।।273।। दृष्ट्वा च तान् सुरवरान् प्रविशतो गेहं प्रत्युत्थितो नृपतिरञ्जलिं संप्रगृह्य । संविशन्तं इमान्यासनानि रत्नपादानि अत्र निषीदत भवन्तोऽनुकम्प्य बुद्ध्या ।।274।। ते मानदर्पविगता स्थिता आसनेषु-यस्यार्थे-आगता इह नृपते शृणुष्व । पुत्रस्तवातिपृथुपुण्यविशुद्धकायो जातः सुजातचरणौ वयं द्रष्टुकामाः ।।275।। स्मां विविज्ञा वरलक्षणलक्षणज्ञा येषां (सतां) भवति या गतिर्यः प्रयोगः । तत्साधु पार्थिववर प्रजहीहि खेद पश्याम विचित्रलक्षणविभूषिताङ्गम् ।।276।। स स्त्रीगणैः परिवृतो नृपतिः प्रहृष्टो गृहीत्वा कुमारमसमं ज्वलनार्चिर्वर्णम् । उपानामयत् (=उपानयत) सुरवरान् सुविलम्बचूडान् द्वारात्तु निष्क्राम्यतः कम्पितानि त्रिःसहस्राणि ।।277।। दृष्ट्वैव ते सुरवराः क्रमौ (=चरणौ) नायकस्य ताम्रान् नखान् विमलवर्णविशुद्धतेजसः । त उत्थिता त्वरितरूपा विलम्बचूडा मूर्ध्नाभ्य-वन्दिषत क्रमौ (=चरणौ) विमलप्रभस्य ।।278।। यथा लक्षणानि यथा च दर्शितक्ष्मीवत्वं च यथा पुण्यतेजः श्रीर्भूर्धविलोकितं च । यथा ईर्या नेत्रे विमलप्रभ ऊर्णाकोशो निःसंशयं स्पृशति बोधिं विजित्य मारम् ।।279।। ते तं स्तुवन्ति गुणभूतं (=भूतगुणं=सत्यगुणं) यथार्थदर्शिनं ध्यात्वा गुणान विगतक्लेशतमोनुदस्य सुचिरेण सत्त्वरत्नस्य हि प्रादुर्भावो जातिजरामरण-क्लेशरणहानकरस्य ।।280।। आदीप्तं सर्वत्रिभवं त्रिभिरग्निभिस्तप्तं संकल्प-रागविषयारण्युछ्रितैः । त्वं धर्ममेघः त्रिसहस्राणि स्फरित्वा धीर, अमृतोदकेन प्रशमयिष्यसि क्लेशतापम् ।।281।। त्वं मैत्रवाक्य करुणान्वित श्लक्ष्णवाक्य ब्रह्मस्वरार्चितघोष मनोज्ञवाणे । त्रिसहस्राज्ञातं परिज्ञापनं जगतः क्षिप्रं प्रमुञ्च भगवन् महाबुद्धघोषम् ।।282।। भग्नाः कुतीर्थिकागणा विपरीत-दृष्टयो भवरागबन्धननिमग्नाः स्थिता भवाग्रे । हेतु प्रतीत्य भवान् (=उत्पन्नान्) शून्यान् श्रुत्वा धर्मान् सिंहस्य (दृष्टस्य) क्रोष्टृगणा इव पला-यिनस्ते ।।283।। भित्त्वाऽविद्यापटलं महाक्लेशधूमं पर्युत्थितताया जनताया नियतं प्रकाशेन (=प्रकाशकेन) ज्ञानार्चिः प्रज्ञाप्रभ विद्याविलोकितेन सर्वं जगति विधमेद् महदन्धकारम् ।।284।। लाभाः सुलब्धा विपुला अमर-मानुषाणां यत्रोद्भवोऽद्भुतस्य इहेदृशस्य शुद्धसत्त्वस्य । पिहिता अपायपथाः स्फीता मरुत्पथा भविष्यन्ति सत्त्वरत्नेन विबोधकेन ।।285।। वर्षयित्वा दिव्यकुसुमानि कपिलाह्वये कृत्वा प्रदक्षिणां स्तुत्वा च गौरवेण । बुद्धसुबुद्ध— इति वाक्यमुदीरयन्तः प्रक्रान्ता ते सुरगणा गगने सलीलाः ।।286।। इति ।।

●

॥ ८ ॥

॥ देवकुलोपनयनपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 117 (पंक्ति 16)–120 (पंक्ति 22)
भोटानुवाद 93क (पंक्ति 5)–95ख (पंक्ति 1)

॥ ८ ॥

॥ देवकुलोपनयनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जिस रात को बोधिसत्त्व का जन्म हुआ, उसी रात में महाशाल-कुल[1] (अर्थात् बड़े-बड़े घर के कुलीन) ब्राह्मण क्षत्रिय, नैगम[2] (= नागरक = रईस) तथा गृहपति (सेठ) लोगों के यहाँ बीस हजार कन्याओं का जन्म हुआ। और उन सबको उनके माता-पिताओं ने बोधिसत्त्व की पूजा-सेवा के लिए दिया। और राजा शुद्धोदन ने बीस हजार कन्याएँ बोधिसत्त्व की सेवा-पूजा के लिए दीं। और बीस हजार कन्याएँ मित्रों ने, अमात्यों ने, (–118–) अपनी जाति के लोगों ने तथा सगे-कुनबे के लोगों ने बोधिसत्त्व की =93ख= सेवा-पूजा के लिए दीं। और अमात्यों के पार्षदों ने अर्थात् अमात्यों की मंडली में बैठने वाले लोगों ने बीस हजार कन्याएँ बोधिसत्त्व की सेवा-पूजा के लिए दीं।

2. और हे भिक्षुओं, उस समय बड़े-बूढ़े शाक्य इकट्ठे होकर राजा शुद्धोदन के पास जाकर बोले—हे देव, (आपको) विदित हो (कि अब) कुमार को देवकुल ले जाना चाहिए। राजा बोले—अच्छा, कुमार को ले जाना है, तो नगर को सजाओ, वीथियों (= मार्गों), चत्वरों (= चौराहों), शृंगाटकों (= तिराहों), [3]रथ्याओं (= दोनों ओर घर से युक्त मार्गों) तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाजारों) के प्रवेश द्वारों[3] को सुशोभित करो। मङ्गल (= शुभ-शकुन) के अयोग्य काने-कुबड़े, अंधे-बहरे, गूँगे, टेढ़े-मेढ़े अंग वाले, बिना रूप के तथा अपूर्ण इन्द्रियों से युक्त लोगों को हटा दो। मंगल (वस्तुओं)

---

1. मूल, ०महासालकुलेषु। भोट, रिग्स् शिङ् स ल छेन् पो नंम्स् सु, महासाल-वृक्षसदृशकुलेषु। वस्तुतः ०महासालकुलेषु (= महाशालकुलेषु) में साल शब्द शाला का समासान्तर्गत रूप है न कि शाल (सालवृक्ष) का।
2. मूल, ०नैगम० भोट में नहीं है।
3....3. मूल, वीथिचत्वरशृङ्गाटकान्तरापणरथ्यामुखानि। भोट, वीथिचत्वर-शृङ्गाटकान्तरापणानि (स्रङ् दङ्, लम्गिय बशि म्दो बङ्, म्दो सुम् बङ्, छोङ् ह्दुस् दग नि)। द्रष्टव्य परिवर्त 7, टिप्पणी 6। वहाँ मुख का समास रथ्या से न करके अन्तरापण से किया गया है।

को लाओ। पुण्य-भेरियाँ बजने दो। मंगल-घंटे घनघनाने दो। श्रेष्ठ नगर के द्वारों को अलंकृत करो। अत्यन्त मनोहर झाँझ-मृदङ्ग बजवाओ। अब अटवियों के राजाओं को एकत्रित करो। सेठ, गृहपति, अमात्य, द्वारपाल, तथा (राजकीय) बैठक में बैठने वाले राजदरबारी लोग इकट्ठे हों। कन्याओं के (बैठने योग्य) रथ जुत जाएँ। जल से भरे कलश रख दिये जाएँ। वेदपाठी ब्राह्मण एकत्रित किये जाएँ। देवकुल अलंकृत कर दिये जाएँ।

3. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जैसा-जैसा (राजा ने) पूर्वोक्त रीति से कहा वैसा-वैसा सब कर दिया गया। तब =94क= राजा शुद्धोदन अपने भवन में प्रवेश कर, महाप्रजापती गौतमी को संबोधन कर, यों कहा—कुमार को अलंकृत करो, (उन्हें) देवकुल ले जाना होगा। अच्छा, यह कह कर महाप्रजापती गौतमी कुमार को अलंकृत करने लगीं।

4. तदनन्तर अलंकृत किये जाते हुए कुमार ने बिना भृकुटि चढ़ाए, हँसी-मुख से, अत्यन्त मीठी बोली में मौसी से पूछा—अम्मा, मुझे कहाँ ले जाया जायगा? (मौसी ने) उत्तर दिया—पुत्र! (तुम्हें) देवकुल (ले जाया जाएगा)। तदनन्तर हँसमुख कुमार मुसकराते हुए मौसी से गाथाओं में बोले—

(बोधिसत्त्व का मातृष्वसा से कथन)

(वसन्ततिलका छन्द)

जातस्य मह्यमिह कम्पित त्रिसहस्रं
शक्रश्च ब्रह्म असुराश्च महोरगाश्च।
(–119–) चन्द्रश्च सूर्य तथ वैश्रवण (:) कुमारो
मूर्ध्ना क्रमेषु निपतित्व नमस्ययन्ति ॥287॥

यहाँ मेरे जनमते त्रिसाहस्र-लोकधातु काँप उठे थे। इन्द्र, ब्रह्मा, असुरगण, महानाग-गण, चन्द्र, सूर्य, कुबेर, तथा कार्तिकेय ने चरणों में गिर कर शिर से (मुझे) नमस्कार किया था।

कतमो ऽन्यु देव मम उत्तरियो विशिष्टो
यस्मिन् मम प्रणयसे त्वमिहाद्य अम्ब।
देवातिदेव अह उत्तमु सर्वदेवैः
देवी न मेऽस्ति सदृशः कुत उत्तरं वा ॥288॥

हे अम्ब, कौन-सा और देवता मुझसे बढ़ा-चढ़ा श्रेष्ठ है, जिसके यहाँ तुम आज मुझे ले जा रही हो। मैं सब देवताओं में उत्तम, देवताओं का भी श्रेष्ठ देवता हूँ। देवता मेरी बराबरी का भी नहीं है, फिर मुझसे बढ़ कर हो ही कैसे सकता है।

लोकानुवर्तन प्रती इति अम्ब यास्ये
दृष्ट्वा विकुर्वित ममा जनता उदग्राः ।
अधिमात्रु गौरव करिष्यति चित्रकारः
ज्ञास्यन्ति देवमनुजा स्वय देवदेवः ।।289।।

हे अम्ब, लोक में जो चलन है उसे रखने के लिए जाऊँगा। मेरा विशेष रूप से किया गया (चमत्कारी कृत्य) देख कर आनन्दित लोग अत्यन्त मान एवं पूजा करेंगे। देवता और मनुष्य जान लेंगे कि ये वही देवों के देवता (भगवान् बुद्ध) हैं।

5. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जब सब प्रकार से स्तुतियाँ तथा मंगल (--ध्वनियाँ) =94ख= हो रही थीं, वीथियाँ (मार्ग), चत्वर (चौराहे), श्रृंगाटक (तिराहे), रथ्याएँ (अर्थात् दोनों ओर घरों से युक्त मार्ग), तथा अन्तरापण (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाजारों) के प्रवेश-द्वार अपरिमित अलंकारों से अलंकृत थे, तब अन्तःपुर में कुमार के रथ को सजा कर, ब्राह्मणों, नैगमों (=नागरकों=रईसों), सेठों, गृहपतियों, अमात्यों, अटवियों के राजाओं, द्वारपालों तथा (राजकीय) बैठक में बैठने वाले राजदरबारी लोगों, मित्रों तथा जाति के बन्धुओं से घिरे हुए राजा शुद्धोदन कुमार को लेकर (उस सजे) मार्ग पर जाने लगे (जिस पर) आगे-आगे धूप दी जा रही थी, मोती और पुष्प बिखेरे हुए थे, हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेना की चहल-पहल हो रही थी, छत्र, ध्वजा तथा पताकाएँ फहरा रही थी एवं नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। शतसहस्र देवता बोधिसत्त्व का रथ खींच रहे थे। अनेकों कोटियों के नियुतों (खर्वों) के शतसहस्रों (की संख्या में) आकाश में स्थित देवपुत्र सहित अप्सराएँ पुष्पवृष्टि कर रही थीं और बाजे बजा रही थीं।

6. हे भिक्षुओं, राजा शुद्धोदन इस प्रकार महान् राजसमूह के साथ, महती राज-समृद्धि तथा महान् राजप्रताप के सहित कुमार को लेकर देवकुल में प्रविष्ट हुए। (प्रविष्ट होने के) साथ-साथ (जब) उस देवकुल में बोधिसत्त्व ने दोनों चरणों में से दाहिने चरण का तलवा रखा, तब वे अचे (--120--) तन देवप्रतिमाएँ—यथा--शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा तथा लोकपालों की प्रतिमाएँ--सबकी सब अपने-अपने स्थानों से उठ कर =95 क= बोधिसत्त्व के चरण-तलों में गिर पड़ीं। उस समय लक्ष-लक्ष देवता तथा मनुष्य मुख से ही-ही करते, किल-कारियाँ मारते, लक्ष-लक्ष बार कलकलनाद करते थे, वस्त्र हिलाते थे। कपिलवस्तु महानगर छह प्रकार से काँप उठा था। दिव्य-पुष्पों की वर्षा हुई थी। बिना बजाए ही लक्ष-लक्ष बाजे बजने लगे थे।

जिन देवताओं की वे प्रतिमाएँ थीं, उन सबने अपना-अपना रूप दिखा कर ये गाथाएँ कहीं—

(देवता गाथाएँ, शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

नो मेरू गिरिराज पर्वतवरो जातू नमे सर्षपे
नो वा सागर नागराजनिलयो जातू नमे गोष्पदे।
चन्द्रादित्य प्रभंकरा प्रभकरा खद्योतके नो नमे
प्रज्ञापुण्यकुलोदितो गुणधरः कस्मान्नमे देवते ॥290॥

पर्वतों में श्रेष्ठ, पर्वतों का राजा सुमेरु कभी सरसों के आगे नहीं झुक सकता। नागराजों का निवास स्थान समुद्र गोष्पद (धरती पर गोके पैर चिन्ह में पड़े जल) के आगे कभी नहीं झुक सकता। चमकती किरणों वाले, प्रकाश करने वाले, चन्द्र एवं सूर्य जुगनू के आगे कभी नहीं झुक सकते। फिर गुणवान्, प्रज्ञा एवं पुण्य तथा (महा--) कुल से प्रादुर्भूत (बोधिसत्त्व) देवताओं के आगे कैसे झुक सकते हैं।

यद्वत् सर्षप गोष्पदे व सलिलं खद्योतका वा भवेत्
एवं च त्रिसहस्रदेवमनुजा ये केचि मानाश्रिताः।
मेरूसागरचन्द्रसूर्यसदृशो लोके स्वयंभूत्तमो
यं लोको ह्यभिवन्द्य लाभ लभते स्वर्गं तथा निर्वृतिं ॥291॥[4]

त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक-धातु में जो कोई मान में भरे देव-मनुष्य हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे सरसों, गोष्पद में जल, अथवा जुगनू। लोक में उत्तम स्वयंभू (भगवान्) सुमेरु, समुद्र, चन्द्रमा तथा सूर्य के समान हैं, जिनकी वन्दना कर लोग स्वर्ग तथा निर्वाण का लाभ पाते हैं।

हे भिक्षुओ, महात्मा बोधिसत्त्व के द्वारा देवकुल में प्रवेश के प्रदर्शन के समय बत्तीस सहस्र देवपुत्रों का अनुत्तर सम्यक् संबोधि के निमित्त बोधिचित्त उत्पन्न हुआ। हे भिक्षुओ, =95ख= यही हेतु है, यही प्रत्यय (=निमित्त) है, जिससे बोधिसत्त्व देवकुल ले जाए जाते हुए उपेक्षक रहते हैं—विरोध नहीं करते।

॥इति श्रीललितविस्तरे देवकुलोपनयनपरिवर्तो नामाष्टमोऽध्यायः॥

---

4. इस परिवर्त में आई हुई 287–291 गाथाओं की संस्कृतच्छाया—जातस्य ममेह कम्पितं त्रिसाहस्रं शक्रश्च ब्रह्मा (च) असुराश्च महोरगाश्च चन्द्रश्च सूर्यस्तथा वैश्रवणः कुमारः (स्कन्दः) मूर्ध्ना क्रमेषु निपत्य नमस्यन्ति (स्म) ॥287॥ कतमोऽन्यो देवो मदुत्तरीयो विशिष्टो यस्मिन् प्रणयसे त्वमिहाद्याम्ब। देवातिदेवो ऽहम् उत्तमः सर्वदेवैः देवो न मे (=मया) ऽस्ति सदृशः कुत

उत्तरो वा ॥288॥ लोकानुवर्तनं प्रतीत्य (=लोकानुवर्तनार्थम्) इति अम्ब यास्यामि दृष्ट्वा विशेषकृतं मम जनता उदग्रा। अधिमात्रं गौरवं करिष्यति चित्रकारं (= पूजनं) ज्ञास्यन्ति देवमनुजाः सोऽयं देवदेवः (इति) ॥289॥ नो मेरुर्गिरिराजः पर्वतवरो जातु नमेत् सर्षपं न वा सागरो नागराजनिलयो जातु नमेत् गोष्पदम्। चन्द्रादित्यौ प्रभाकरौ प्रभकरौ खद्योतकं नो नमेताम्, प्रज्ञापुण्यकुलोदितो गुणधरः कस्मान्नमेद् देवताः ॥290॥ यद्वत् सर्षपो गोष्पदे वा सलिलं खद्योतको वा भवेद् एवं च त्रिसाहस्रदेवमनुजा ये केचिद् मानाश्रिताः। मेरुसागरचन्द्रसूर्यसदृशो लोके स्वयंभूरुत्तमः यं लोको ह्यभिवन्द्य लाभं लभते स्वर्गं तथा निर्वृतिम् ॥291॥

॥ ९ ॥

॥ आभरणपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 121 (पंक्ति 1)—123 (पंक्ति 14)
भोटानुवाद 95ख (पंक्ति 1)—97क (पंक्ति 2)

॥ ९ ॥

॥ आभरणपरिवर्त ॥

1. (–121–) हे भिक्षुओ, तदनन्तर उदायी के पिता उदयन नाम के राज-पुरोहित ब्राह्मण ने पाँच सौ ब्राह्मणों के मंडल के साथ हस्त नक्षत्र के बाद के चित्र नक्षत्र में राजा शुद्धोदन के पास जाकर यों कहा—हे देव, आप को विदित हो कि कुमार के आभरण (गहने) बनने चाहिएँ। राजा ने उन (विप्र) से कहा—हाँ-हाँ, अवश्य बनने चाहिएँ।

2. तब राजा शुद्धोदन तथा पाँच सौ शाक्यों ने पाँच-पाँच सो आभरण बनवाए। यथा—हाथों के आभरण, पैरों के आभरण, शिर के आभरण, कंठ के आभरण, मुद्रिकाओं, (मुँदरियों) के (रूप में बने) आभरण, कर्णिकाएँ अर्थात् कर्णाभरण, केयूर अर्थात् बाजूबन्द, [1] (सुवर्ण की) मेखलाएँ अर्थात् कमरबन्द, सुवर्ण के सूत्र[1], किंकिणियों अर्थात् घुंघुरुओं के जाल, रत्नजाल, जड़ाऊ पादुकाएँ, नाना प्रकार के रत्नों से अलंकृत हार (= मुक्ता-मालाएँ), कटक (= कड़े) अर्थात् हाथों में पहनने के शंख आदि के बने वलय, हर्ष अर्थात् कंठ में पहनने के कंठश्री नामक आभूषण तथा मुकुट। (इन सब आभरणों को) बनवा कर पुष्य नक्षत्र के योग से संयुक्त (मुहूर्त) में वे शाक्य राजा शुद्धोदन के पास जाकर यों बोले—अहो, देव, कुमार का मंडन करें। राजा बोले—बस, (इतने से ही) आप लोगों के द्वारा कुमार अलंकृत एवं पूजित हो गए। = 96क = मैंने भी कुमार के लिए सब आभरण बनवाए हैं। वे (सब) बोले—कुमार सात-सात दिन रात (अर्थात् एक-एक सप्ताह) हम लोगों के (बनवाए हुए) आभरण शरीर पर धारण करें। उससे हम–लोगों (के आभरण बनवाने) का उद्योग सफल हो जाएगा।

3. उस रात के बीत जाने पर, सूर्योदय हो जाने पर, बोधिसत्त्व वहाँ गये, जहाँ विमलव्यूह नाम का उपवन था। वहाँ महाप्रजापती गौतमी बोधिसत्त्व को गोद में लिए हुए थीं। अस्सी हज़ार स्त्रियाँ पास जाकर बोधिसत्त्व का मुख निहारती थीं। दस हज़ार कन्याएँ पास जाकर बोधिसत्त्व के मुख का अवलोकन

1····1. मूल, मेखलासुवर्णसूत्राणि। भोट, ग्सेर् गि्य स्क रग्स् दग् दङ् ग्सेर् स्कुद् दग् दङ्, सुवर्णमेखलाः सुवर्णसूत्राणि।

करती थीं। [2]दस हज़ार शाक्य पास जाकर बोधिसत्त्व का मुख देखते थे[2]। पाँच हज़ार ब्राह्मण पास जाकर (122–) बोधिसत्त्व के मुख का दर्शन करते थे। वहाँ पर शाक्यराज भद्रिक ने जो आभरण बनवाए थे, वे कुमार के शरीर पर धारण कराए गए। वे (आभरण) धारण करने के अनन्तर ही बोधिसत्त्व के शरीर की प्रभा से विवर्ण हो न चमकते थे, न दमकते थे, (और) न शोभा देते थे। जैसे जम्बूनद से उत्पन्न सुवर्ण के सामने रखा गया मषि (अर्थात् काजल) का पिंड न चमकता है, न दमकता है, न शोभा देता है, उसी प्रकार वे आभरण बोधिसत्त्व के शरीर की =96ख= प्रभा के द्वारा [3]छू जाने पर[3] न चमकते थे, न दमकते थे, (और) न शोभा देते थे। इस प्रकार आभरणों की जो-जो कलाकृति बोधिसत्त्व के शरीर पर धारण कराई जाती थी, वह-वह विवर्ण (=फीकी) हो जाती थी, मानों वह [4](जम्बूनद से उत्पन्न सुवर्ण के सामने रखी गई) मषि की पिण्डी हो[4]।

4. उस समय विमला नाम की उद्यान-देवता ने अपने औदारिक (=स्थूल) आत्मभाव (=शरीर) को दिखला कर, सामने खड़ी होकर, राजा शुद्धोदन तथा उस शाक्यगण से गाथाओं द्वारा कहा—

(विमला की गाथाएँ। सप्तदशाक्षर अत्यष्टिजातीय छन्द।)

सर्वयं त्रिसहस्रमेदिनी सनगरनिगमा
पूर्णा काञ्चन संचिता भवेत् सुरुचिर विमला।
एका काकिनि जाम्बुकाञ्चने भवति उपहता
ना भासी इतरः स काञ्चन प्रभासिरिरहितः ॥292॥

नगरों तथा निगमों (=क़सबों) के साथ यह त्रिसाहस्र-महासाहस्रधातु से युक्त सब-की-सब पृथिवी यदि सुवर्ण से भर कर पूर्ण होकर अत्यन्त सुन्दर तथा निर्मल हो जाए, (तो भी वह) एक कौड़ी भर जाम्बूनद के सुवर्ण के साथ (रखी जाने पर चमक-दमक में) दबी-दबी रहेगी। (जाम्बूनद के आगे) दूसरा सुवर्ण शोभा और कांति से रहित हो नहीं चमकता।

2····2. भोट, शाक्य स्तोङ् फ्रग् बचुस् ब्यङ् छुब् सेमस् द्पह्. ब्सु स्ते ग्दोङ् दु ल्त शिङ् ह्. खोद् पर् ग्युर् तो, दश च शाक्य सहस्राणि प्रत्युद्गम्य बोधिसत्त्वस्य वदनं प्रेक्षन्ते स्मः।

3····3. मूल, पृष्टानि (=स्पृष्टानि)। तुलनीय, भोट, फोग् न, स्पृष्टानि।

4····4. मूल, तद्यथापि नाम मसिपिण्डः। भोट, ह्दि ल्त स्ते द्पेर् न, जम्बु छु बो. हि् ग्सेर् ग्यि गन् दु स्नग् छ हि. युग् ब्शग् प शिन् नो, तद्यथापि नाम जाम्बूनदस्य सुवर्णस्य पुरतो मषिपिण्ड उपनिक्षिप्तः।

जाम्बूकाञ्चनसंनिभा पुनर्भवेत् सकर इय मही
रोमे आभ प्रमुक्त नायके हिरिसिरिभरिते।
ना भासी न तपो न सोभते न च प्रभवति
आभाये सुगतस्य कायि नो भवति यथ मसि: ॥293॥

यह सम्पूर्ण पृथिवी यदि जाम्बूनद के सुवर्ण जैसी चमकने लगे तो भी नायक के रोम-रोम से फूटने वाली कोमल शोभा से पूर्ण आभा के सामने न चमकेगी, न तपेगी, न शोभा देगी, और न (सामने) टिक ही सकेगी। सुगत के शरीर की आभा के सामने वह नहीं-सी लगेगी, जैसे (सुवर्ण के सामने) स्याही।

स्वे तेजेन अयं स्वलंकृतो गुणशतभरितो
नो तस्याभरणाविरोचिषू सुविमलवपुष:।
(–123–) चन्द्रसूर्य प्रभश्च ज्योतिषा तथ मणि ज्वलना:
शक्रब्रह्म प्रभा न भासते पुरत शिरिघने ॥294॥

शत-शत गुणों से पूर्ण ये अपने तेज से सुभूषित हैं, इनके अत्यन्त निर्मल शरीर पर आभूषण नहीं फबेंगे। चन्द्र और सूर्य की, तारा (–गण) की, मणि की तथा अग्नि की प्रभा, इन्द्र तथा ब्रह्मा की प्रभा श्रीघन के सम्मुख न जगमगाएगी।

यस्या लक्षणि कायु चित्रित: पुरिमशुभफलै:
किं तस्याभरणेभिरित्वरै: परकृतकरणै:।
अपनेथाभरणा न हेठता अबुध बुधकरं
नायं कृत्तिमभूषणार्थिक परममतिकर: ॥295॥

पूर्व (जन्म) के पुण्यों के फलस्वरूप जिसकी काया लक्षणों से चित्रित है, उसको दूसरों के बनाए हुए क्षणिक (चमक-दमक दिखाने वाले) आभूषणों से क्या? उतार लो आभूषणों को। अरे बुद्धुओं, (इन) बुद्धिमान् बनाने वाले (बोधिसत्त्व को आभूषणों से) मत सताओ। ये परम बुद्धि के देने वाले बनावटी आभूषणों को नहीं चाहते।

चेटस्या =97क= भरणानि देथिमे सुरुचिर विमला
सहजातो य सुभूषि छन्दको नृपतिकुलशुभे।
तुष्टा शाकिय विस्मिताश्च अभवन् प्रमुदितमनसो
वृद्धि: शाक्यकुलनन्दस्य चोत्तमा भविष्यति विपुला ॥296॥[5]

5. इस परिवर्त में आई हुई 292-296 गाथाओं की संस्कृत छाया—सर्वेयं त्रिसहस्रा मेदिनी सनगरनिगमा पूर्णा काञ्चनसंचिता भवेत् सुरुचिरा विमला। एकस्या: काकिण्या जाम्बू (नद) काञ्चनेन भवत्युपहता न भासेत

शुभ राजकुल में जो (बोधिसत्त्व के) साथ छन्दक (नाम का) दास उत्पन्न हुआ है, उसे इन अच्छी बनावट के अत्यन्त सुन्दर (तथा) निर्मल आभूषणों को दे डालो। शाक्य सन्तुष्ट, विस्मित एवं प्रसन्नचित्त हुए। (उनके मन में हुआ) कि शाक्यकुलनन्दन की विपुल एवं उत्तम वृद्धि होगी।

ऐसा कह कर वह देवता बोधिसत्त्व पर दिव्य पुष्पों की वर्षा कर अन्तर्हित हो गई।

॥ इति श्रीललितविस्तरे आभरणपरिवर्तो नाम नवमोऽध्यायः ॥

●

तद् इतरत् काञ्चनं प्रभाश्रीरहितम् ॥292॥ जाम्बू (नद)–काञ्चनसंनिभा पुनर्भवेत् सकलेयं मही रोमभ्य आभायां प्रमुक्तायां नायकेन ह्रीश्रीभरितायाम्—न भासेत न तपेत् न शोभेत न च प्रभवेत् आभायाः सुगतस्य कायस्य (पुरतः) न भवेद् यथा मषिः ॥293॥ स्वेन तेजसायं स्वलंकृतो गुणशतभरितो नो तस्याभरणानि विरोचेरन् सुविमलवपुषः। चन्द्रसूर्ययोः प्रभा च ज्योतिषो मणेर्ज्वलनस्य शक्रब्रह्मणोः प्रभा न भासते पुरतः श्रीघनस्य ॥294॥ यस्य लक्षणैः कायश् चित्रितः पूर्वशुभफलैः किं तस्याभरणैरित्वरैः परकृतकरणैः। अपनयताभरणानि मा पीडयताबुधा बुधकरं नायं कृत्रिमभूषणर्थिकः परममतिकरः ॥295॥ चेटस्याभरणानि ददत्विमानि सुरुचिराणि विमलानि सहजातो यः सुभूषितानि छन्दको नृपतिशुभकुले। तुष्टाः शाक्या विस्मिताश्चाभवन् प्रमुदितमनसो वृद्धिः शाक्यकुलनन्द (न) स्य चोत्तमा भविष्यति विपुला ॥296॥

247

॥१०॥

॥ लिपिशालासंदर्शनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 123 (पंक्ति 15)—128 (पंक्ति 14)
भोटानुवाद 97क (पंक्ति 3)—101क (पंक्ति 2)

248

249

॥१०॥

॥ लिपिशालासंदर्शनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार कुमार जब बड़े हुए, तब उन्हें शतसहस्रों मंगलाचारों के साथ लिपिशाला में ले जाया गया। आदर के साथ दस हजार बालकों द्वारा वे घिरे हुए थे। दस हजार रथ चबाने-खाने तथा स्वाद लेने की वस्तुओं से परिपूर्ण थे, हिरण्य तथा सुवर्ण से भरे-पूरे थे, (उन वस्तुओं की) कपिलवस्तु महानगर की वीथियों (मार्गों) में, चत्वरों (चौराहों) में शृंगाटकों (तिराहों) में, रथ्याओं (अर्थात् दोनों ओर घरों से युक्त मार्गों) में, तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाज़ारों) के प्रवेश-द्वारों पर बौछार की जाती थी, [1]उनका वितरण किया जाता था[1]। साथ-साथ आठ हज़ार बाजे बजते थे तथा फूलों की महावृष्टि होती थी। वितर्दियों (चबूतरों), निर्यूहों (अटारियों), तोरणों (द्वार के बाह्यभागों), गवाक्षों (गोखों अर्थात् हवा जाली वाले झरोखों), (–124–) हर्म्यों (महलों) पर बने कूटागारों (अंटों), घरों तथा प्रासादों (राजभवनों) के तलों पर शत-सहस्रों कन्याएँ सब आभूषणों से भूषित खड़ी थीं। (वे) बोधिसत्त्व को देखती हुई फूल फेंकती थीं। अष्ट सहस्र देवकन्याएँ[2] अभी-अभी मानों गिर ही पड़ेंगे-ऐसे अलंकारों एवं आभूषणों से सजी हुई[2], हाथ में रत्नभद्र (= मंगल रत्न) लिए, मार्ग का = 97ख = शोधन करती हुई, बोधिसत्त्व के आगे-आगे चलती थीं। देवता, नाग, यक्ष, गंधर्व, असुर, गरुड़, किंनर तथा महोरग (ऊपर के) आधे शरीर से प्रकट हो, आकाश से पुष्पमालाएँ तथा पट्टमालाएँ (= रेशमी सूत्र की मालाएँ) लटकाते थे। सब शाक्यगण राजा शुद्धोदन को आगे कर बोधिसत्त्व के आगे-आगे चलते थे। इस प्रकार के बनाव-चुनाव के साथ बोधिसत्त्व को लिपिशाला में ले जाया गया था।

1····1. मूल, अभि विश्राम्यन्ते। यह पाठ संदिग्ध है। सम्भवतः अभिविश्राण्यन्ते पाठ था। भोट, मङोन् पर् ब्यिन् नो, अभिविश्राण्यन्ते (= दीयन्ते)।

2····2. मूल, विगलितालङ्काराभरणालंकृतानि, भोट, र्ग्यन् नम्स् क्यिस् ल्हुग् ल्हुग् पोर् र्ग्यन् ते। विगलित संभवतः विकलित (= धृत) का अपभ्रंश है। द्रष्टव्य पाँचवें परिवर्त की टिप्पणी 54।

2. बोधिसत्त्व को ज्यों ही लिपिशाला में प्रवेश कराया गया, त्यों ही शिशुओं के आचार्य विश्वामित्र बोधिसत्त्व की श्री तथा तेज को न सह पाते हुए धरती पर बैठ मुँह के बल गिर पड़े। उन्हें उस प्रकार गिरा हुआ देख, तुषित लोक के निवासी शुभाङ्ग नाम के देवपुत्र ने दाहिनी हथेली से पकड़ कर उठाया। उठा कर आकाश में ही विराजते हुए राजा शुद्धोदन तथा उस महान् जन-समूह से गाथाओं द्वारा कहा।

(शुभाङ्गदेवपुत्रगाथाएँ। वसन्ततिलका छन्द)
शास्त्राणि यानि प्रचरन्ति मनुष्यलोके
संख्या लिपिश्च गणनापि च धातुतन्त्रं।
ये शिल्पयोग पृथु लौकिक अप्रमेयाः
तेष्वेषु शिक्षितु पुरा बहुकल्पकोट्यः ॥297॥

संख्या, लिपि, गणना, धातुतन्त्र (= अण्ड-पिण्डविज्ञान) आदि जो शास्त्र मनुष्य-लोक में प्रचलित हैं तथा जो बहुत से अप्रमेय शिल्पयोग लोकानुबन्धी हैं, उनमें बहुत कल्प-कोटियों तक इन (बोधिसत्त्व) ने शिक्षा पाई है।

किं तू जनस्य अनुवर्तनतां करोति
लिपिशालमागतु सुशिक्षितः शिष्यणार्थं।
परिपाचनार्थं बहु दारक अग्रयाने
अन्यांश्च सत्त्वनयुतानमृते = 98क = विनेतुं ॥298॥

किं तु (ये) लोकानुवर्तन अर्थात् लोक के बँधे-बँधाए आचार का पालन कर रहे हैं (और इसलिए) सम्यक् शिक्षित होते हुए (भी) बहुत से बालकों को अग्रयान (= बोधिसत्त्वयान) में पक्का करने के लिए, एवं दूसरे खर्ब-खर्ब प्राणियों को अमृत (= मोक्ष) में विनीत करने के लिए, लिपिशाला में सीखने के लिए आए हैं।

(–125–) लोकोत्तरेषु चतुसत्यपथे विधिज्ञो
हेतु प्रतीत्य कुशलो यथ सम्भवन्ति।
यथा चा निरोध क्षयु संस्थितु सीतिभावः
तस्मिन् विधिज्ञ किमथो लिपिशास्त्रमात्रे ॥299॥

(ये) चतुरार्यसत्य के लोकोत्तर मार्ग की विधि जानते हैं। (धर्म) जैसे हेतु के प्रत्यय से उत्पन्न हैं, (उनके ज्ञान में ये) कुशल हैं। और जिस प्रकार (उन धर्मों का) निरोध, क्षय, संस्थिति (= मरण) तथा शीतीभाव होता है, उसकी विधि भी जानते हैं, फिर केवल लिपि-शास्त्र की बात ही क्या ?

नेतस्य आचरिय उत्तरि वा त्रिलोके
सर्वेषु देवमनुजेष्वयमेव जेष्ठः ।
नामापि तेष लिपिनां न हि वित्थ यूयं
यत्रेष शिक्षितु पुरा बहुकल्पकोटय: ।।300।।

तीनों लोकों में अथवा उनसे ऊपर इन (बोधिसत्त्व) का कोई आचार्य नहीं है। ये ही सब देवताओं और मनुष्यों मे ज्येष्ठ हैं। तुम—सब उन लिपियों का नाम भी नहीं जानते हो, जिनको बहुत कल्प-कोटियों तक इन (बोधिसत्त्व) ने पहले सीखा है।

यो[3] चित्तधार जगतां विविधा विचित्रा
एकलक्षणेन अयु जानति शुद्धसत्त्वः।
अदृश्यरूपरहितस्य गतिं च वेत्ति
किं वा पुनोऽथ लिपिनोऽक्षरदृश्यरूपां ।।301।।

लोगों की विविध एवं विचित्र जो चित्तधारा या चित्त-संतति हैं, उसे ये शुद्धसत्त्व एक क्षण में जान जाते हैं। अदृश्य तथा रूपरहित (भाव) की गति जानते हैं। फिर अक्षरों की दिखाई पड़ने वाली, रूपवती लिपियों (के जानने) की बात ही क्या ?

ऐसा कह कर वह देवपुत्र बोधिसत्त्व की दिव्य पुष्पों से पूजा कर वहीं अन्तर्हित हो गये।

3. तब धायों तथा चोटियों का दल वहीं ठहरा रहा, शेष शुद्धोदन आदि शाक्य [4]लौट गए[4]। तब बोधिसत्त्व उरग सारचन्दन के बने, [5]दिव्यरंग के, सुनहले तिलक के[5], चारों ओर मणियों और रत्नों से जड़े हुए लिपिफलक लेकर आचार्य विश्वामित्र से यों कहा—हे उपाध्याय मुझे कौन-सी लिपि = 98ख = सिखायेंगे। (1) ब्राह्मी, (2) खरोष्ठी, (3) पुष्करसारी, (4) अङ्गलिपि, (5) वङ्गलिपि, (6) मगधलिपि, (7) मङ्गल्यलिपि, (8) अङ्गुलीयलिपि, (9) [6]शकारलिपि, (10) ब्रम्हवलिलिपि[6], (11) पारुष्यलिपि, (12) द्राविड़लिपि,

---

3. मूल, सो। भोट, गङ्, यः, या, यन् इत्यादि, जो।

4····4. मूल, प्रक्रामन्तः अर्थ। लौट गए। तुलनीय भोट, **फ्यिर् दोङ् ङो।**

5····5. मूल, दिव्यार्षसुवर्णतिरकं। यह पाठ संदिग्ध है। संभवतः मूल दिव्यवर्ण-सुवर्णतिरकं हो। तुलनीय भोट, **ल्ह हि. छोन् ब्युग् प, ग्सेर् ग्यि यङ् मिग् गिस् ब्तुगस् प**, दिव्यवर्णलिप्तं, सुवर्णतिलखचित्तं।

6····6. मूल, सकारलिपिं ब्रह्मवलिलिपिं। भोट, **शकन् हि. यि गे ह.मु, य-ब-न हि. यि गे ह.मु, ब्कल् ब हि. यि गे ह.मु**, शकनलिपि, यवनलिपिं, भारलिपिं।

(13) किरातलिपि, (14) दाक्षिण्यलिपि, (15) उग्रलिपि, (16) संख्यालिपि, (17) अनुलोमलिपि, (18) अवमूर्धलिपि, (19) दरदलिपि, (20) खाष्यलिपि, (21) चीनलिपि, (22) लूनलिपि, (23) हूनलिपि, (24) मध्याक्षरविस्तर-लिपि, (25) पुष्पलिपि, (=पुष्यलिपि[7]), (26) देवलिपि, (27) नागलिपि, (28) यक्षलिपि, (29) गन्धर्वलिपि, (30) किन्नरलिपि, (31) महोरगलिपि, (32) असुरलिपि, (33) गरुड़लिपि, (34) मृगचक्रलिपि, (35) वायसरुतलिपि, (36) भौमदेवलिपि, (37) अन्तरिक्षदेवलिपि, (38) उत्तरकुरुद्वीपलिपि, (39) अपरगोदानीयलिपि, (40) पूर्वविदेहलिपि, (41) उत्क्षेपलिपि, (42) निक्षेप-लिपि, (43) [8]विक्षेपलिपि, (44) प्रक्षेपलिपि[9], (45) सागरलिपि, (46) वज्रलिपि, (47) [9] लेखनप्रतिलेखलिपि, (48) अनुपद्रुतलिपि, (= अशीघ्रलिपि[9], (49) शास्त्रावर्तलिपि[10], (50) गणनावर्त = 99क = लिपि, (51) उत्क्षेपावर्त-लिपि, (52) निक्षेपावर्तलिपि[11], (53) पादावर्तलिपि,[12], (54) द्विरुत्तरपद-संधिलिपि, यावद्दशोत्तरपदसंधिलिपि, (= दो वर्णों से लेकर दश वर्णों को उत्तरोत्तर एक में मिला कर लिखने की लिपि), (55) अध्याहारिणीलिपि[13], (56) सर्वरुतसंग्रहणीलिपि, (57) विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपि[14], (58)

7·····7. मूल, पुष्पलिपिं, भोट, **ग्र्यल ग्यि यिगे**, पुष्यलिपिं।

8·····8. मूल, विक्षेपलिपिं प्रक्षेपलिपिं। भोट, **ब्स्नन् प हि. यि गे**, प्रक्षेपलिपिं।

9·····9. मूल, लेखप्रतिलेखलिपिं अनुद्रुतलिपिं। भोट, **स्प्रिङ् यिग् दङ् लन् ग्यि यि गे ह्.म्, नंम् ह्. थोर् ग्यि यि गे ह्.म्, रिङ्स् मेद् क्यि यि गे ह्.म्**, लेख-प्रतिलेखलिपिं, विक्षेपलिपिं, अनुपद्रुतलिपिं।

10 मूल, शास्त्रावर्ता। भोट, **ब्स्तन् ब् चोस् ब् स्कोर् ब हि. यि गे**, शास्त्रा-वर्तलिपिं।

11. मूल, (निक्षेपावर्तलिपिं)। यह कोष्ठकान्तर्गत पाठ भोट में है। **ग्शेग् प ब् स्कोर् ब हि. यि गे ह्.म्**।

12. मूल, पादलिखितलिपिं। भोट, **र्कङ् पस् ब्स्कोर् ब हि. यि गे**, पादावर्त-लिपिं।

13. मूल,'मध्यहारिणीलिपिं। भोट, **ब् ल थब् स् सु ब् स्नन् प हि. यि गे ह्.म्**, उपायोत्तरगुणनलिपिं, ऐसी लिपि जिसके द्वारा उत्तरोत्तर उपाय द्वारा गुणन किया जा सके। इस अर्थ को देखते हुए पाठान्तरानुसार अध्याहारिणीलिपिं, संभवतः मूल, पाठ होगा।

14. मूल, विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपिं। भोट, **रिग् प दङ् म्थुन् प हि. यि गे ह्.म्, नंम् पर् ह्.द्रेस् प हि. यि गे ह्.म्**, विद्यानुलोमलिपिं, विमिश्रितलिपिं।

ऋषितपस्तप्ता (= ऋषियों के तप से तपी हुई लिपि), (59) रोचमाना[15] (= देखने में सुन्दर लगने वाली लिपि), (60) धरणीप्रेक्षणोलिपि, (61) गगनप्रेक्षणीलिपि, (62)[15क] सर्वौषधिनिष्यन्दा (–लिपि), (63) सर्वसारसंग्रहणीलिपि तथा (64) सर्वभूतरुतग्रहणीलिपि, [15क] (नाम की) चौंसठ लिपियों में से, हे उपाध्याय, कौन सी लिपि सिखाएँगे।

4. तब बालकों के आचार्य विश्वामित्र विस्मित होकर, मद, मान तथा दर्प (= घमंड) से रहित हो, चेहरे पर हँसी लाकर इन गाथाओं को कहा।

(आचार्य–विश्वामित्रोक्त गाथाएँ)

[16]महाश्चर्यः शुद्धसत्त्वो[16] लोके लोकानुवर्तने[17]।
शिक्षितः सर्वशास्त्रेषु लिपिशालामुपागतः ॥302॥

महान् आश्चर्य वाले, सब शास्त्रों में शिक्षित, (ये) शुद्धसत्त्व लोक में लोक (के आचार का) अनुवर्तन करने के लिए–पालन करने के लिए लिपिशाला में आए हैं।

येषामहं नामधेय लिपीनां न प्रजानमि।
तत्रैष शिषित (:) सन्तो लिपिशालामुपागतः ॥303॥

जिन लिपियों का नाम मैं नहीं जानता, उनमें अनुशासन पा कर (भी) ये लिपिशाला में आए हैं।

वक्त्रं चास्य न पश्यामि मूर्धानं तस्य = 99ख = नैव च।
शिष्ययिष्ये कथं ह्येनं लिपिप्रज्ञाय पारगं ॥304॥

मुझे (तेज की अधिकता के कारण) न तो इनका मुख दिखाई पड़ रहा है, और न शिर ही। इन लिपि—विषयक प्रज्ञा के पारगामी को मैं कैसे सिखाऊँगा ?

---

15. मूल, रोचमाना। भोट, ल्ह ड्स् पहि. यि गे ह्.म्, दिव्यनिर्वचनोलिपिं।

15क⋯15. मूल, सर्वौषधनिष्यन्दां सर्वसारसंग्रहणीं सर्वभूतग्रहणीं। भोट, स्मन् थमस् चद् क्यि ब्यु म्थुन् प हि. यि गे ह्म्, स्निङ् पो थम्स् चद् कुन् तु स्दुद् प हि. यि गे ह्म्, ह्.ब्युङ् बो थम्स् चद् क्यि स्म्र स्दु द् प हि. यिगे ह्.म्, सर्वौषधनिष्यन्दालिपिं, सर्वसार संग्रहणीलिपिं, सर्वभूतग्रहणोलिपिं।

16⋯16. मूल, आश्चर्य शुद्ध-सत्त्वस्य। भोट, सेम्स् चन् दग् पा ङो म्छर् छे, महाश्चर्य शुद्धसत्त्वः।

17. मूल, लोकानुवर्तिनः। भोट, ह्.जिग् तेंन् र्जेस् सु.ग् फ्यिर्, लोकानुवर्तनार्थम्। मूल का शुद्ध पाठ स्यात् लोकानुवर्तने (निमित्तसप्तमी था)।

देवदेवो ह्यतिदेवः सर्वदेवोत्तमो विभुः।
असमश्च विशिष्टश्च लोकेष्वप्रतिपुङ्गलः ॥305॥

ये देवताओं के भी देवता हैं, अतिदेव अर्थात् महादेव हैं, सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं, विभु अर्थात् प्रभु हैं, इनकी समता किसी से नहीं हो सकती, ये विशेष-(–पुरुष) हैं, लोकों में इनकी बराबरी का अन्य पुरुष नहीं है।

(–127–) अस्यैव त्वनुभावेन प्रज्ञोपाये विशेषतः।
शिक्षितं शिष्ययिष्यामि सर्वलोकपरायणं ॥306॥

इन्हीं के प्रभाव से प्रज्ञा तथा उपाय (के विषय) में विशेष रूप से सब लोक को आश्रय देनी वाली शिक्षा को सिखाऊँगा ?

5. हे भिक्षुओं, इस प्रकार दस हज़ार बालक बोधिसत्त्व के साथ लिपि की शिक्षा पाते थे। वहाँ बोधिसत्त्व के अधिष्ठान (संकल्प अथवा मंगल कामना) से मातृका (=वर्णमाला) बाँचते समय वे जब **अ** पढ़ते थे, तब **अनित्य** हैं **सब संस्कार** ऐसा शब्द निकलता था। जब **आ** पढ़ते थे, तब **आत्मपरहित** शब्द निकलता था। **इ** पढ़ने पर **इन्द्रिय विकल** शब्द, **उ** पढ़ने पर **उपद्रव को बहुतायत वाला** जगत्–ऐसा शब्द, **ऊ** पढ़ने पर **ऊनसत्त्व** अर्थात् हीन प्राणियों वाला जगत् ऐसा शब्द, **ए** पढ़ने पर **एषणा (इच्छा) से दोष उपजते हैं** ऐसा शब्द, **ऐ** पढ़ने पर **ऐर्यापथ (ईर्यापथ) श्रेयष्कर** है ऐसा शब्द, **ओ** पढ़ने पर **ओघ** (संसार की बाढ़ से) **उत्तर** (पार होने) का शब्द, **औ** पढ़ने पर **औपपादुक** दिव्य जन्म वाले प्राणी) शब्द, **अं** पढ़ने पर **अमोघोत्पत्ति** (सफलजन्म) शब्द तथा **अः पढ़ने** पर अस्तंगमन (पापों के अस्त हो जाने का) शब्द निकलता था। **क** पढ़ने पर **कर्मवि**=100 **क=पाकावतार** (अर्थात् कर्म-फल में प्रवेश) का शब्द, **ख** पढ़ने पर **खसम** (गगन-तुल्य) **हैं सब धर्म** ऐसा शब्द, **ग** पढ़ने पर **गम्भीरधर्म** (के) **प्रतीत्यसमुत्पाद** (में) **अवतार** (=प्रवेश) का शब्द, **घ** पढ़ने पर **घनपटल** के समान अविद्या, मोह तथा अन्धकार के विध्वंस का शब्द, **ङ** पढ़ने पर **अङ्ग-विशुद्धि** शब्द, **च** पढ़ने पर **चतुरार्यसत्य** शब्द, **छ** पढ़ने पर **छन्द (=इच्छा) राग-प्रहाण** शब्द, **ज** पढ़ने पर **जरामरण से अतिक्रमण** (पार निकलने) का शब्द, **झ** पढ़ने पर **झषध्वज** (अर्थात् काम) **की सेना के निग्रह** का शब्द, **ञ** पढ़ने पर **ज्ञापन** शब्द, **ट** पढ़ने पर **पट** (=ज्ञानवरण) के **उपच्छेद** (नाश) का शब्द, **ठ** पढ़ने पर **उपनीयप्रश्न** (=स्थापनीय प्रश्न अर्थात् व्याख्या के अयोग्य प्रश्न) शब्द, **ड** पढ़ने पर **डमर** (=दंगा वाले) **मार के निग्रह** का शब्द, **ढ** पढ़ने पर **मीढविषय** (मल के तुल्य विषय-भोग हैं ऐसा) शब्द, **ण** पढ़ने पर **रेणु**–(के समान आँखों में धूल झोंकने वाले) **क्लेश** (होते हैं ऐसा) शब्द, **त** पढ़ने पर **तथता असंभेद** अर्थात् द्वैतभाव से अमिश्रित है ऐसा शब्द, **थ** पढ़ने पर **थाम** (=**स्थाम** अर्थात् **स्थिरता**)–बल–

वेग–वैशारद्य (निर्भयता) शब्द, **द** पढ़ने पर **दान-दम--संयम**--[18] सौरभ्य (सौख्य-वाक्पालुता)--शब्द[18], **ध** पढ़ने पर **धन** आर्यों का = 100ख = सात प्रकार का अर्थात् श्रद्धा, शील, ह्री (=आत्मलज्जा) अपत्राप्य (=लोकलज्जा), श्रुत, त्याग तथा प्रज्ञा रूपी सात प्रकार का होता है ऐसा शब्द, **न** पढ़ने पर **नाम** (=चित्त तथा चैत धर्म) **तथा रूप** (भूत तथा भौतिक अर्थ) **की परिज्ञा** (=पूर्णज्ञता) का शब्द, **प** पढ़ने पर **परमार्थ** शब्द, **फ** पढ़ने पर **फल-प्राप्ति** की साक्षातक्रिया (=प्रत्यक्षज्ञान) का शब्द, **ब** बढ़ने पर **बन्धनमोक्ष** शब्द, (–128--) **भ** पढ़ने पर **भव** (=उत्पाद) तथा (**विभव**) (=विनाश) का शब्द, **म** पढ़ने पर **मद तथा मान के उपशमन** (=शान्तिभाव) का शब्द, **य** पढ़ने पर **यथावत्** (=सम्यक् रूप से) **धर्म के प्रतिवेध** (=अन्तः प्रवेश) का शब्द, **र** पढ़ने पर **रति-अरति-परमार्थरति** शब्द, **ल** पढ़ने पर **लता** (तृष्णा-रूपिणी वल्लरी) **के छेदन** का शब्द, **व** पढ़ने वर **वरयान** (=बोधिसत्त्वयान वा महायान) शब्द, **श** पढ़ने पर **शमथ** (=शान्तचित्तता) तथा **विपश्यना** (=तत्त्वदर्शन) का शब्द, **ष** पढ़ने पर **षडायतन** (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा चित्त) **के निग्रहण** (=वशीकरण) तथा **षड्भिज्ञाओं** (अर्थात् दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृति, ऋद्धि, तथा आस्रवक्षयज्ञान) **की विद्या की प्राप्ति** का शब्द, **स** पढ़ने पर **सर्वज्ञ** (=बुद्ध) **ज्ञान** के अभिसम्बोधन (=समझने-बूझने) का शब्द, **ह** पढ़ने पर **हतक्लेश** अर्थात् नष्ट हुए क्लेश वाले **विराग** का शब्द, तथा **क्ष** पढ़ने पर **क्षणपर्यन्त** क्षण में अन्त को प्राप्त होने वाले **सभी अभिलाप्य** (=शब्द-व्यवहार द्वारा प्रकाश्य) **धर्म** हुआ करते हैं ऐसा शब्द निकलता था।

6. हे भिक्षुओं, इस प्रकार उन बालकों के द्वारा मातृका (=वर्णमाला) बाँचते समय बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही प्रमुख-प्रमुख असंख्येय शतसहस्र धर्ममुख अर्थात् धर्म में प्रवेश कराने वाले शब्द निकलते थे।

7. उस समय क्रम से बोधिसत्त्व ने = 101क = लिपिशाला में रहते हुए बत्तीस हजार बालकों को अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि मे पक्का किया। [19]बत्तीस हजार बालिकाओं ने (बोधि) चित्त उपजाया[19]। यही हेतु था यही प्रत्यय

18····18. मूल, ०सौरभ्यशब्दः। पठनीय ०सौख्यशब्दः भोट, **देस् प हि स्ग्र**, सौख्य अर्थात् कृपालुता का शब्द। "स्याद् दयालुः कारुणिकः कृपालुः सूरतः समाः (अमरकोष)"।

19····19. मूल, चित्तान्युत्पादितानि द्वात्रिंशद्दारिकासहस्राणि। भोट में यह पाठ नहीं है।

(=कारण) था जिसके वश शिक्षित होते हुए भी बोधिसत्त्व लिपिशाला में गए थे।[20]

॥ इति श्री ललितविस्तरे लिपिशालासंदर्शनपरिवर्तो नाम दशमोऽध्याय ॥

□

20. इस परिवर्त में आई हुई गाथाओं की संस्कृत छाया आगे दी जा रही है—शास्त्राणि यानि प्रचरन्ति मनुष्यलोके संख्या लिपिश्च गणनापि च धातुतन्त्रम्। ये शिल्पयोगाः पृथवः (=बहवः) लौकिका अप्रमेयास् तेषु-एष शिक्षितः पुरा बहुकल्पकोटीः ॥297॥ किं तु जनस्यानुवर्तनतां करोति लिपिशालामागतः सुशिक्षितः शिक्षणार्थम्। परिपाचनार्थं बहून् दारकान् अग्रयानेऽन्यांश्च सत्त्वनयुतान्यमृते विनेतुम् ॥298॥ लोकोत्तरे चतुःसत्यपथे विधिज्ञो हेतुं प्रतीत्य कुशलो यथा सम्भवति (धर्मा इति शेषः)। यथा च निरोधः क्षयः संस्थितः शीतीभावस् तस्मिन् विधिज्ञः किमथो लिपिशास्त्रमात्रे ॥299॥ नैतस्याचार्य उत्तरे वा त्रिलोके सर्वेषु देवमनुजेष्वयमेव ज्येष्ठः। नामापि तासां लिपीनां न हि वित्थ यूयं यत्रैप शिक्षितः पुरा बहुकल्पकोट्यः ॥300॥ या चित्तधारा (=चित्तसंततिः) जगतां विविधा विचित्रा (ताम् इति शेषः) एकक्षणेनायं जानाति शुद्धसत्त्वः। अदृश्यरूपरहितस्य गतिं च वेत्ति किं वा पुनरथ लिपीरक्षरदृश्यरूपाः ॥301॥ महाश्चर्यः शुद्धसत्त्वो लोके लोकानुवर्तने। शिक्षितः सर्वशास्त्रेषु लिपिशालामुपागतः ॥302॥ यासामहं नामधेयं लिपीनां न प्रजानामि। तत्रैष शिष्टः सन् लिपिशालामुपगतः ॥303॥ वक्त्रं चास्य न पश्यामि मूर्धानम् एतस्य नैव च। शिक्षयिष्ये कथं ह्येनं लिपिप्रज्ञायाः पारगम् ॥304॥ देवदेवो ह्यतिदेवः सर्वदेवोत्तमो विभुः। असमश्च विशिष्टश्च लोकेष्वप्रतिपुद्गलः ॥305॥ अस्यैव त्वनुभावेन प्रज्ञोपाये विशेषतः। शिक्षितं शिक्षयिष्यामि सर्वलोकपरायणम् ॥306॥

257

॥ ११ ॥

॥ कृषिग्रामपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 128 (पंक्ति 15)—136 (पंक्ति 9)
भोटानुवाद 101 क (पंक्ति 2)—105 क पंक्ति 7)

॥ ११ ॥

॥ कृषिग्रामपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार कुमार (सिद्धार्थ) बड़े हुए। अनन्तर किसी अन्य समय कुमार दूसरे कुमारों और मन्त्रिपुत्रों के साथ कृषिग्राम को देखने के लिए गए तथा खेती का काम-काज देख कर उद्यानभूमि में प्रवेश किया। मन में उद्वेग से भरे हुए, दूसरे किसी को साथ न लेकर अकेले घूमते हुए, वहाँ पर बोधिसत्त्व ने एक प्रसन्नता देने वाला देखने में मनोहर जम्बूवृक्ष देखा। वहाँ बोधिसत्त्व छाया में पलथी मार कर बैठ गए।

2. बैठते ही बोधिसत्त्व को चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो गई (–129–)। जिसे पाकर काम-वासनाओं से अलग हुए, अशुभ-पाप धर्मों से अछूते, वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से युक्त, विवेक (=एकान्त) में उत्पन्न प्रीति तथा सुख से युक्त, प्रथम ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

3. वे (फिर) वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन के शान्त हो जाने के कारण अध्यात्म में अर्थात् अपने आत्म के भीतर निर्मल होने से, चित्त की एक-सन्तानता के कारण अर्थात् एक धारा में चित्त के बहने के कारण वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से रहित, समाधि से उत्पन्न[1] प्रीति तथा सुख से युक्त द्वितीय ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

4. वे (फिर) प्रीति में =101ख= राग न रहने के कारण, उपेक्षक हो कर—उदासीन होकर विहार करने लगे। वे स्मृति से युक्त, जानते-पहचानते हुए शरीर द्वारा सुख का अनुभव करने लगे। जिसका बखान आर्य लोग यों करते हैं कि वे उपेक्षक, स्मृतिमान्, सुख से विहार करते हुए प्रीति से रहित तृतीय ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

5. वे (फिर) सुख के परित्याग कर देने से, तथा पहले से ही दुःख का परित्याग हो जाने के कारण सौमनस्य तथा दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से, दुःख

---

1. मूल, समाधितं। भोट, तिङ् ङे्ह् जिन् लस् स्क्येस् प हि्, समाधिजं वैद्यजीने समाधिजं पाठ रख कर लेफमन् का पाठ पाद टिप्पणी में रक्खा है।

से रहित, सुख से रहित, उपेक्षा एवं स्मृति से परिशुद्ध चतुर्थ ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

6. उस समय पाँच (बौद्ध धर्म से) बाहर के ऋषि, जिन्हें पाँच अभिज्ञाएँ प्राप्त थीं, जो ऋद्धिमान् थे, तथा आकाश-मार्ग से जाने का जिनमें सामर्थ्य था, वे दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर जा रहे थे। वे जब उस वन-खण्ड के ऊपर जाने लगे तब न जा पाए, मानों उन्हें किसी ने रोक लिया हो। उनके रोंगटे खड़े हो गए और उन्होंने यह गाथा कही—

(ऋषिजन-कथित गाथा)

(दण्डक-छंद)

वयमिह मणिवज्रकूटं गिरिं
मेरुमभ्युद्गतं तिर्यगत्यर्थवैस्तारिकं,
गज इव सहकारशाखाकुलां
वृक्षवृन्दां प्रदारित्व निर्धावितानेकशः।
वयमिह मरुणां पुरे चाप्यसक्ता गता
यक्षगन्धर्ववेश्मानि चोर्ध्वं नभे निश्रिता.
इम पुन वनखण्डमासाद्य सीदाम भोः
कस्य लक्ष्मी निवर्तेति ऋद्धेर्बलं ।।इति।।307।।

हम यहाँ पर तिरछे अत्यन्त दूर तक फैले हुए, ऊपर उठे हुए मणियों और हीरों की चोटी वाले सुमेरु पर्वत तक उस प्रकार दौड़ कर गए हैं, जिस प्रकार हाथी आम की शाखाओं से भरे-पूरे वृक्षों के झुरमुटों को तोड़-फोड़ कर दौड़ा करते हैं। हम यहाँ देवताओं के नगर में भी बिना किसी रुकावट के, ऊपर आकाश में स्थित यक्षों तथा गन्धर्वों के महलों में गए हैं, पर इस वन-कुञ्ज के ऊपर पहुँच कर हमें रुकना पड़ा है, अहो, यह किसकी लक्ष्मी ऋद्धि के बल को रोक रही है।

7. (–130–) तब (यह गाथा सुन कर) उस वन-कुञ्ज के देवता ने उन ऋषियों को गाथा में (यों) कहा—

(देवता--कथित प्रतिवचन–गाथा)

(दण्डक–छन्द)

नृपतिपति = 102क = कुलोदितः शाक्यराजा-
त्मजो बालसूर्यप्रकासप्रभः
स्फुटितकमलगर्भवर्णप्रभश्
चारुचन्द्राननो लोकज्येष्ठो विदुः।

अयमिह वनमाश्रितो ध्यानचिन्तापरो
देवगन्धर्वनागेन्द्रयक्षार्चितो,
भवशतगुणकोटिसंवर्धितस्
तस्य लक्ष्मी निवर्तेति ऋद्धेर्बलं ॥इति॥308॥

राजाधिराज-वंश में उत्पन्न, शाक्यों के राजा (शुद्धोदन) के पुत्र, प्रभात के सूर्य के आतप के समान प्रभा वाले, खिले हुए कमल के अन्तर्भाग के रंग जैसी रंगीली कान्ति वाले, निर्मल चन्द्र जैसे मुख वाले, लोक में सबसे बड़े विद्वान्, देवताओं, गन्धर्वों, तथा नागेन्द्रों से पूजित, शत-शत जन्मों में कोटि-कोटि पुण्य-गुणों से समृद्ध हुए, ये यहाँ इस वन में बैठे ध्यान-चिन्तन में लगे हुए हैं। इन्हीं की लक्ष्मी ऋद्धिबल को रोक रही है।

8. तब उन्होंने नीचे निहारते हुए तेज और लक्ष्मी से अत्यन्त उज्ज्वल कुमार (सिद्धार्थ) को देखा। उनके मन में यह भाव उठा। यह कौन यहाँ बैठा है। कहीं ये धनाधिपति वैश्रवण न हों। कहीं कामाधिपति मार न हों। ये या तो महानागेन्द्र (शेष) हैं, या वज्रपाणि महेन्द्र हैं, या कुष्माण्डाधिपति रुद्र हैं, अथवा महोत्साही कृष्ण हैं, अथवा देवपुत्र चन्द्र हैं, अथवा सहस्रकिरण सूर्य हैं, हो न हो ये होने वाले चक्रवर्ती राजा हों।

उन्होंने उस समय यह गाथा कही—

(ऋषि जनों की वितर्कमयी गाथा)

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

रूपं वैश्रवणातिरेकवपुषं व्यक्तं कुबेलो ह्ययं
आहो वज्रधरस्य चैव प्रतिमा चन्द्रोऽथ सूर्यो ह्ययं।
कामाग्राधिपतिश्च वा प्रतिकृती रुद्रस्य कृष्णस्य वा
श्रीमान् = 102ख = लक्षणचित्रिताङ्गमनघो
बुद्धोऽथवा स्यादयं ॥309॥

रूप तो वैश्रवण से अधिक (दिव्य) शरीर का है, स्पष्ट ही ये कुबेर हैं, अथवा ये वज्रधर (इन्द्र) की प्रतिभा हैं, अथवा ये चन्द्र या सूर्य हैं या काम के श्रेष्ठ अधिपति (मार) हैं। या फिर ये रुद्र या कृष्ण की चित्रित-छवि हैं, अथवा लक्षणों से विचित्र अंगों वाले ये श्रीधन, निष्पाप, बुद्ध हैं।

10. तब उस वन-देवता ने उन ऋषियों को गाथा में उत्तर दिया—

(वन-देवता की प्रतिवचन-गाथा)

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

या श्री वैश्रवणे च वै निवसते या वा सहस्रेक्षणे
लोकानां परिपालकेषु चतुषु या चासुरेन्द्रश्रिया।

ब्रह्मे या च सहापतौ निवसते कृष्णे च या च श्रिया
सा श्री प्राप्य इमं हि शाक्यतनयं नोपेति कांचित् कलां ।।310।।

जो श्री वैश्रवण (कुबेर) में अथवा इन्द्र में निवास करती है, कि वा जो श्री चारों लोकपालों में अथवा असुराधिराज में निवास करती है, कि वा जो श्री सहापति ब्रह्मा में अथवा कृष्ण में निवास करती है, वह श्री इन शाक्यकुमार के पास पहुँच कर (इनकी श्री की) किसी कला के बराबर भी नहीं पहुँच पाती।

11. (-131-) तब वे ऋषि उस देवता के वचन को सुन कर भूतल पर उतरे और बोधिसत्त्व को शरीर से अचंचल, प्रज्वलित अग्निराशि के समान देखा। वे बोधिसत्त्व का ध्यान करते हुए गाथाओं द्वारा स्तुति करने लगे।

उनमें से एक ने कहा—

लोके क्लेशाग्निसंतप्ते प्रादुर्भूतो ह्ययं ह्लदः।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगद् ह्लादयिष्यति ।।311।।

क्लेश की आग से तपे हुए लोक में ये सरोवर उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो जगत् को आह्लादित करेगा।

एक और ने कहा—

अज्ञानतिमिरे लोके प्रादुर्भूतः प्रदीपकः।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगद् भासयिष्यति ।।312।।

अज्ञान में अँधेरे लोक में (ये) प्रदीप उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे, जो जगत् में उजाला फैलाएगा।

एक और ने कहा—

शोकसागरकान्तारे यान श्रेष्ठमुपस्थितं।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगत् तारयिष्यति ।।313।।

(संसार के इस) कान्तार अर्थात् निर्जन में जहाँ शोक-समुद्र लहरा रहा है वहाँ ये श्रेष्ठ यान बन कर उपस्थित हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो जगत् को तार देगा।

एक और ने कहा—

क्लेशबन्धनबद्धानां प्रादुर्भूतः प्रमोचकः। = 103क =
अयं तं प्राप्स्यते सर्मं यज्जगद् मोचयिष्यति ।।314।।

क्लेश के बन्धन में बँधे लोगों के ये छुड़ाने वाले उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो इस जगत् को मुक्ति दिलाएगा।

एक और ने कहा—

जराव्याधिकिलिष्टानां प्रादूर्भूतो भिषग्वरः।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं जातिमृत्युप्रमोचकं ।।315।।

बुढ़ौती तथा व्याधियों से भुगतने वाले लोगों के लिए ये श्रेष्ठ वैद्य उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो जरा-मरण से मुक्त करेगा।

वे ऋषि बोधिसत्त्व की इन गाथाओं द्वारा स्तुति करने के बाद उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और आकाश से चले गए।

12. राजा शुद्धोदन भी बोधिसत्त्व को न देख, बोधिसत्त्व के बिना, निरानन्द थे। वे बोले—कुमार नहीं दिखाई पड़ रहे हैं, कहाँ चले गए ? तब बहुत से लोग दौड़ पड़े (–132–) कुमार की खोज करते हुए। उस समय एक राजमन्त्री ने बोधिसत्त्व को जम्बूवृक्ष की छाया में पलथी मारकर ध्यान करते हुए देखा। सब पेड़ों की छाया पलट चुकी थी पर जम्बूवृक्ष की छाया बोधिसत्त्व के शरीर को न छोड़ रही थी। उन्हें देखकर उसे अचरज हुआ, वह सन्तुष्ट हुआ, फूला न समाया, (मन कहीं उछल न जाए इसलिए) मन को पकड़े हुए, प्रमोद से पूर्ण, प्रीति और सौमनस्य से भरे हुए उसने जल्दी-जल्दी दौड़ राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर दो गाथाओं द्वारा कहा—

(अमात्य द्वारा कही गईं गाथाएँ)

पश्य देव कुमारोऽयं जम्बूछाया हि ध्यायति।
यथा शक्रोऽथवा ब्रह्मा श्रिया तेजेन शोभते ॥316॥
यस्य वृक्षस्य छायायां निषण्णो वरलक्षणः।
सैनं न जहते छाया = 103ख = ध्यायन्तं पुरुषोत्तमं ॥317॥

देव, देखिए। ये कुमार जम्बूवृक्ष की छाया में ध्यान कर रहे हैं, ये इन्द्र अथवा ब्रह्मा की भाँति श्री तथा तेज से शोभायमान हैं। जिस वृक्ष की छाया में ये उत्तम लक्षण वाले विराजमान हैं, वह छाया ध्यान करते हुए उन पुरुषोत्तम को नहीं छोड़ रही है।

13. तब राजा शुद्धोदन जहाँ पर जम्बूवृक्ष था, वहाँ पर गए। बोधिसत्त्व को श्री तथा तेज से जलते देखा, देखकर उन्होंने इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की आचार्य-भाव से भरी गाथा)

(भद्रौपजाति छन्द) (१२,११,१२,११ अक्षर)

हुताशनो वा गिरिमूर्ध्नि संस्थितः शशीव नक्षत्रगणानुचीर्णः ॥
वेपन्ति गात्राणि मि पश्यतो इमं ध्यायन्तु तेजो नु प्रदीपकल्पं ॥318॥

पर्वत के शिखर पर स्थित अग्नि के समान, नक्षत्रगण जिसके पीछे-पीछे चल रहे हैं, ऐसे चन्द्रमा के समान तथा प्रदीप के समान इस तेज को ध्यान करते हुए देख कर मेरे अंग-अंग काँप रहे हैं।

14. उन्होंने बोधिसत्त्व के चरणों की वन्दना कर इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की वन्दना-गाथा)

यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायसि चार्चिमन्।
एवं द्विरपि[2] ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥

हे मुने, जब तुम उत्पन्न हुए थे, **तब की तरह हो**, (आज) हे तेजोमय **विनायक** जब तुम ध्यान कर रहे हो, मैं तुम्हारे चरणों में दूसरी बार वन्दना कर रहा हूँ।

15. वहाँ पर त्रिफलवाहक (अर्थात् तीन फड़ की बनी मंचिकाएँ ढोने वाले) बालक हल्ला-गुल्ला मचाते थे। उनसे राजमंत्रियों ने कहा। हल्ला-गुल्ला मत मचाओ, हल्ला-गुल्ला मत मचाओ। यह क्यों ? राजमन्त्री बोले—

(राजमन्त्रियों की घटनाप्रकाशिका गाथा)

(प्रहर्षिणी छन्द)

व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डले ऽपि
व्यामाभं[3] शुभवरलक्षणाग्रधारिं।
ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्रपुत्रं
सिद्धार्थं न जहति सैव वृक्षछाया ॥320॥

---

2. मूल, एकद्विरपि। भोट, ह्‌दि ल्तर् लन् ग्‌ञिस् सु, एवं द्वितीयवारम्। भोटानुवाद से जान पड़ता है कि मूल पाठ एवं द्विरपि था।

3. मूल, व्योमाभं। यह पाठ अशुद्ध है व्यामाभं होना चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के प्रभामण्डल का अर्धव्यास व्याम (= लगभग छह फ़ीट) का होता है। भोट, ह्‌ोद् ह्‌दोम् गङ् ब म्ङह्‌ ब, व्यामप्रभावन्तम्। भोट से व्यामाभं पाठ ही सिद्ध होता है।—*इस अध्याय में गाथाएँ दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग में कथा सम्बन्धी फुटकर गाथाएँ विभिन्न छन्दों में हैं। उनको ही गद्य के भीतर गूँथ दिया गया है। ये गाथाएँ संभवतः अत्यन्त पुरानी हैं। दूसरे भाग की गाथाएँ वसन्ततिलका छन्द में हैं तथा इनमें भी वही कथा है जो प्रथम भाग में है। ये गाथाएँ संभवतः एक ही कवि की हैं। प्रथम भाग की गाथाओं से ये पुरानी हैं। अत एव प्रथम भाग की कथा को प्रमाणित करने के लिए इनकी **तत्रेदमुच्यते** (इस विषय में यों कहा जाता है) इस वाक्य द्वारा उद्धृत किया गया है।

सूर्य-मंडल के ढल जाने पर भी व्याम-प्रभ (अर्थात् तिरछे हाथों को फैलाने से जितना प्रदेश मापा जा सकता है उसको अर्धव्यास मान कर जो मण्डल बनता है, उस प्रकार के प्रभामण्डल वाले) शुभ तथा श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के लक्षणों को धारण करने वाले, ध्यान करते हुए पर्वत के समान निश्चल, राजपुत्र सिद्धार्थ को वह वृक्ष की छाया नहीं छोड़ रही है।

16. (–133–) इस विषय में यों कहा जाता है—

(परंपरा द्वारा प्राप्त कृषिग्राम की घटना सम्बन्धी गाथाएँ)

(वसन्ततिलक छन्द)

ग्रीष्मे वसन्त समुदागत ज्येष्ठमासे
संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे ।
क्रोञ्चामयूरशुकसारिकसंप्रघुष्टे
भूयिष्ठ = 104क = साकियसुता अभिनिष्क्रमन्ति ॥321॥

ग्रीष्म और वसन्त (की संधि) में ज्येष्ठ मास के लग जाने पर जब सब ओर फूल-ही-फूल होते हैं, फूल और पत्ते चारों ओर बिखरे हुए होते हैं, सारस, मोर, शुक तथा शारिकाएँ चहचहाती रहती हैं तब, बहुत से शाक्य-कुमार बाहर घूमते निकलते हैं।

छन्दोऽभ्यवाच परिवारितु दारिकेभिः
हन्ता कुमार वनि गच्छम लोचनार्थम् ।
किं ते गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य
हन्त व्रजाम वय चोदन नारिसंघं ॥322॥

लड़कों की मंडली के साथ (आकर) छंद ने कहा। अहो, कुमार चलें, वन देखने के लिए। ब्राह्मण की भाँति तुम्हारे घर में पड़े रहने से क्या? अहो चलें हम भी महिलाओं के समूह पर छींटे छोड़ें।

मध्याह्नकालसमये सुविशुद्धसत्त्वः
पञ्चाशतैः परिवृतैः सह चेटकेभिः ।
न च मातु नैव च पितु प्रतिवेदयित्वा
ऽबुद्ध निष्क्रमिति गच्छि कृषाणग्रामं ॥323॥

वे पवित्र मन वाले (कुमार) दोपहर के समय पाँच सौ लड़कों की मण्डली को साथ लें, न माता को ही और न पिता को ही जना कर, अनजाने में ही निकल कर कृषिग्राम चले गए।

तस्मिञ्च पार्थिववरस्य कृषाणग्रामे
जम्बुद्रुमोऽ भवदनेकविशालशाखः।
दृष्ट्वा कुमार प्रतिबुद्ध[4] दुःखेन चोत्तो[4]
धिक् संस्कृतेति बहुदुःख कृषी करोति ॥324॥

उस श्रेष्ठ राजा के कृषि ग्राम में अनेक विशाल शाखाओं वाला एक जम्बू-वृक्ष था। (उसे) देख कर, धिक्कार है इस बहुत दुःख वाली बनावटी दुनिया को, (जो) दुःख से तपी-तपी खेती करती है, (यों मन में) चेत कर, वे कुमार—

सो जम्बुछायमुपगम्य विनीतचित्तो
तृणकानि गृह्य स्वय संस्तुर संस्तरित्वा।
पर्यङ्कमाभुजिय उज्जु करित्व कायं
चत्वारि ध्यान शुभ ध्यायि स बोधिसत्त्व ॥325॥

वे विनीतचित्त बोधिसत्त्व जम्बूवृक्ष की छाया में जाकर तिनके उठा कर, स्वयं आसन बिछा कर, पलथी मार कर, शरीर को सीधा कर, चार शुभ ध्यानों का ध्यान करने लगे।

(–134–) पञ्चा ऋषि खगपथेन हि गच्छमाना
जम्बूय मूर्ध्नि न प्रभोन्ति पराक्रमेतुं।
ते विस्थिता निहतमानमदाश्च भूत्वा
सर्व समग्र सहिता समुदीक्षयन्तो ॥326॥

पाँच ऋषि आकाश-मार्ग से जाते हुए (उस) जम्बू वृक्ष की चोटी पर से न लाँघ सके। वे सब के सब एक साथ इधर-उधर देखते हुए, अपना मान—मद खो कर, रुक गए।

वय मेरु पर्वतवरं तथ चक्रवाडान्
निर्भिद्य गच्छम जवेन असज्जमानाः।
ते जम्बुवृक्ष =104ख= न प्रभोम अतिक्रमेतुं
को न्वत्र हेतुरयमद्य भविष्यतोह ॥327॥

4····4. दुःखेन चोत्तो इस मूल पाठ के स्थान में पाठान्तर दुःखेन चात्तो है। एड्जेर्टन् महोदय इस पाठान्तर को ही ठीक समझते हैं। दे० उत्त (बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 122)। वस्तुतः उत्तप्त का उत्तत्त हो कर अन्त में उत्त रह गया है। भोट, **अम् थग् स्डुग् बस्ङल् फोग् ग्युर् ते**, श्रान्तिदुःख-पीड़ितः, श्रान्तिदुःखोत्तप्तः श्रान्तिदुःखार्तः इत्यादि।

हम पर्वतराज सुमेरु तथा लोकालोकपर्वतों को भेद कर अपने वेग से कहीं न अटकते हुए जाते हैं, वे आज यहाँ पर (इस) जम्बूवृक्ष को नहीं लाँघ पा रहे हैं। इसका यहाँ क्या हेतु हो सकता है?

अवतीर्य मेदिनि तले च प्रतिष्ठिहित्वा
पश्यन्ति शाक्यतनयं तहि जम्बुमूले।
जम्बूनदार्चिसदृशं-प्रभतेजरश्मिं
पर्यङ्कबन्धु तद् ध्यायतु बोधिसत्त्वं ॥328॥

(आकाश से) उतर कर, भूतल पर ठहर कर, उन्होंने उस समय जम्बूवृक्ष के तले, सुवर्ण के रंग की ज्वाला के समान कान्ति तथा तेज की किरणों वाले, पलथी मार कर ध्यान करते हुए, शाक्यकुमार बोधिसत्त्व को देखा।

ते विस्मिता दश नखा करियान मूर्ध्नि
प्रणता कृताञ्जलिपुटा निपतन् क्रमेषु।
साधो सुजात सुमुखं करुणा जगस्य
शीघ्रं विबुद्ध अमृते विनयस्व सत्त्वान् ॥329॥

वे अचरज में होकर दसों नखों को माथे पर कर अंजलि बाँध कर, प्रणाम करते हुए, पैरों पर पड़ गए। (और बोले) हे साधुपुरुष, हे शोभन जन्म वाले, हे सुमुख (अच्छे रूप वाले), जगत् पर करुणा से शीघ्र बोधि प्राप्त करो (और) प्राणियों को अमृत की ओर ले जाओ।

परिवृत्त सूर्य न जही सुगतस्य छाया
ओलम्बते द्रुमवरं पथ पद्मपत्रं।
देवा सहस्र बहवः स्थित अञ्जलीभिः
वन्दन्ति तस्य चरणौ कृतनिश्चयस्य ॥330॥

सूर्य ढल गया है। छाया सुगत को नहीं छोड़ रही है, (वह) पद्म-पत्र की भाँति (उस) श्रेष्ठ वृक्ष से लटक रही है। बहुत से (संख्या में) हज़ारों देवता खड़े हैं (और) उस (बोधि के लिए) निश्चय किये हुए (बोधिसत्त्व) के चरणों में अञ्जलि बाँधे वन्दना कर रहे हैं।

शुद्धोदनश्च स्वगृहे परिमार्गमानः
संपृच्छते क्व नु गतः स हि मे कुमारः।
(-135-) मातृस्वसा अवचि मार्गत नो लभामि
संपृच्छता नरपते क्व गतः कुमारः ॥331॥

शुद्धोदन अपने घर में ढूंढ़ते हुए पूछ-ताछ करने लगे कि वह मेरा राजकुंवर कहाँ गया ? मौसी (प्रजापती) ने कहा—खोजो, मुझे भी (कुमार) नहीं (ढूंढ़) मिल रहा है। हे राजन्, खोज-बीन करो राजकुवँर कहाँ गया ?

शुद्धोदनस्त्वरित पृच्छति काञ्चुकीयं
दौवारिकं तथपि चान्तजनं समन्तात्।
दृष्टं कुमार मम केनचि निष्क्रमन्तो
शृणुतेवरूपगतु देव कृषाणग्रामं ॥332॥

शुद्धोदन ने तुरन्त कंचुकी, द्वारपाल तथा चारों ओर (खड़े) अन्तःपुर के लोगों से पूछा—क्या मेरे कुमार को किसी ने बाहर निकलते हुए देखा है ? (उन्होंने उत्तर दिया) हे देव, सुनो, आपके (वे) श्रेष्ठ (कुमार) कृषिग्राम गए हुए हैं।

सो शीघ्रमेव त्वरितं सह साकियेभिः
निष्क्रान्तु प्रेक्षि कृषिग्राम[5] शिरिं प्रविष्टं[5]।
यथ सूर्यकोटिनियुतानि समुद्गतानि
तथ प्रेक्षते हितकरं शिरिया ज्वलन्तं ॥333॥

वे झट-पट, जल्दी ही शाक्यों के साथ निकले, कृषिग्राम को श्री में प्रविष्ट अर्थात् शोभा से भरा-पुरा देखा। जैसे खर्व-खर्व कोटि सूर्य उगे हों, वैसे ही श्री से दहकते हितकारी (कुमार सिद्धार्थ) को देखा।

=105क= मुकुटं च खड्ग तथ पादुक छारयित्वा
कृत्वा दशाङ्गुलि शिरे अभिवन्दिते तं।
साधू- सुभूतवचना ऋषयो महात्मा
व्यक्तं कुमार अभिनिष्क्रमि बोधिहेतोः ॥334॥

मुकुट, खाँड़ा, तथा खड़ाऊँ छोड़ कर सिर पर दसों उँगलियों को कर, (शुद्धोदन ने) उनकी वन्दना की (और) बोले, महात्मा ऋषियों की बात ठीक पूरी तरह सच थी। कुमार स्पष्ट ही बोधि के लिए (घर से) निकले हैं।

परिपूर्ण द्वादस शता सुप्रसन्न देवाः
पंचा शता उपगता यथ साकियानां।
दृष्ट्वा च ऋद्धि सुगते गुणसागरस्य
संबोधिचित्तु जनयं दृढ आशयेन ॥335॥

5....5. मूल, ०गिरिं प्रविष्टं। भोट, द्पल् शुग्स् ग्युर् प हि., श्रीव्यापृतं। मूल पाठ निश्चय ही शिरिं प्रविष्टं था।

अत्यन्त प्रसन्न (अर्थात् अत्यन्त श्रद्धा से संपन्न) पूरे बारह सौ देवता, उसी तरह पाँच सौ शाक्य (वहाँ) पहुँचे थे। (उन्होंने) गुणसागर सुगत की ऋद्धि को देख कर दृढ़ हृदय से बोधिचित्त उपजाया।

सो कम्पयित्व त्रिसहस्र अशेषभूमिं
स्मृतु संप्रजानु प्रतिबुद्ध ततः समाधेः।
ब्रह्मस्वरः पितरमालपते द्युतीमान्
उत्सृज्य तात कृषि [6]काम परं[6] गवेष ॥336॥

तीन सहस्र वाली अशेष जगती को कँपा कर वे (बोधिसत्त्व) स्मृतिमान् एवं जानते-बूझते उस समाधि से जगे। (वे) प्रकाशमान् ब्रह्मा के घोष के समान घोष वाले पिता से बोले—तात, खेती छोड़ कर दूसरा काम (परहितकार्य) खोजो।

(--136--) यदि स्वर्ण कार्यु अहु स्वर्ण प्रवर्षयिष्ये
यदि वस्त्र कार्यु अहमेव प्रदास्यि वस्त्रां।
अथ धान्य कार्यु अहमेव प्रवर्षयिष्ये
सम्यक् प्रयुक्त भव सर्वजगे नरेन्द्र ॥337॥

यदि सोने से मतलब हो, मैं सोने की वृष्टि करूँगा। यदि कपड़ों से मतलब हो, मैं ही कपड़े दूँगा, यदि अन्न से मतलब हो, मैं ही अन्न की वर्षा करूँगा। हे नरेन्द्र, सब जगत् (के हित) के लिए अच्छी तरह जुट जाओ।

अनुशासयित्व पितरं जनपारिषद्यां
तस्मिन् क्षणे पुरवरं पुन सो प्रवेक्षी।
अनुवर्तमान जगतः स्थिहते पुरेस्मिन्
नैष्क्रम्ययुक्तमनसः सुविशुद्धसत्त्वः ॥338॥[7]

6····6. शृणुते वस्तुतः शृणु ते है। ते पृथक् पद है। वरूपगतु (वरः उपगतः)। वरः वस्तुतः कुमार के लिए है। यह ग्राम का विशेषण नहीं जैसा कि एड्जेर्टन् साहब के विश्लेषण (वरम् उपगतो, द्रष्टव्य बु० हा० सं० ग्रा० 4/31 पृष्ठ 34 से जान पड़ता है। इस पाद का भोटानुवाद यों है—ल्ह ग्चिग् गसोन् म्छोग् दे शिङ् प हि. ग्रोङ् डु बृशुद् (= देव त्वं शृणु वरः स कृषिग्रामम् उपगतः)।

7····7. मूल, ग्रामभतो। भोट, ग्शन् लस्, कार्यम् अन्यत्, कार्यम् अपरम्, कर्म परम्। संभवतः मूल पाठ काम परं था।

पिता को तथा लोगों की परिषद् को उपदेश दे कर उसी क्षण वे (बोधिसत्त्व) फिर श्रेष्ठ नगर में प्रवेश कर गए। चित्त में (घर से) निकल पड़ने के भाव से युक्त वे अत्यन्त पवित्र मन वाले लोकाचार पालते हुए नगर में रहने लगे।

(इति श्री ललितविस्तरे कृषिग्रामपरिवर्तो नाम एकादशोऽध्यायः)

---

8. इस परिवर्त में आई गाथाओं की छाया दी जा रही है—वयमिह मणिवज्रकूटं गिरिं मेरुमभ्युद्गतं तिर्यग् अत्यर्थं (=अत्यन्त)—वैस्तारिकं, गजा इव सहकारशाखाकुलानि वृक्षवृन्दानि प्रदार्य निर्धाविता अनेकशः। वयमिहामराणां पुरे चाप्यसक्ता गता यक्षगन्धर्ववेश्मानि चौर्ध्वं नभो निश्रितानि, इमं पुनर्वनषण्डमासाद्य सीदामो भोः कस्य लक्ष्मीर्निवर्तयत्य्-ऋद्धेर् बलम् ॥ इति ॥307॥ नृपतिपतिकुलोदितः शाक्यराजात्मजो बालसूर्यप्रकाशप्रभः, स्फुटितकमलगर्भवर्णवभश् चारुचन्द्राननो लोकज्येष्ठो विद्वान्। अयमिह वनमाश्रितो ध्यानचिन्तापरो देवगन्धर्वनागेन्द्रयक्षार्चितो, भवशतगुणकोटिसंवर्धितस् तस्य लक्ष्मीर्निवर्तयत्य् ऋद्धेर्बलम् ॥ इति ॥308॥ रूपं वैश्रवणातिरेकवपुर् व्यक्तं कुबेरो ह्ययम् आहोस्विद् वज्रधरस्य चैव प्रतिमा चन्द्रोऽथ सूर्यो ह्ययम्। कामाग्राधिपतिश्च वा प्रतिकृती रुद्रस्य कृष्णस्य वा श्रीमान् लक्षणचित्रिताङ्गोऽनघो बुद्धोऽथवा स्यादयम् ॥309॥ या श्रीर् वैश्रवणे च वै निवसति या वा सहस्रेक्षणे लोकानां परिपालकेषु चतुर्षु या चासुरेन्द्रे श्रीः। ब्रह्माणि या च सहापतौ निवसति कृष्णे च या च श्रीः सा श्रीः प्राप्येमं हि शक्यतनयं नोपैति कांचित कलाम् ॥310॥ लोके क्लेशाग्निसंतप्ते प्रादुर्भूतो ह्ययं ह्रदः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगद् ह्लादयिष्यति ॥311॥ अज्ञानतिमिरे लोके प्रादुर्भूतः प्रदीपकः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगद् भासयिष्यति ॥312॥ शोकसागरकान्तारे यानश्रेष्ठमुपस्थितम्। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगत् तारयिष्यति ॥313॥ क्लेशबन्धनबद्धानां प्रादुर्भूतः प्रमोचकः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगद् मोचयिष्यति ॥314॥ जराव्याधिक्लिष्टानां प्रादुर्भूतो भिषग्वरः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं (यो) जातिमृत्युप्रमोचकः ॥315॥ पश्य देव कुमारोऽयं जम्बूछायां ध्यायति। यथा शक्रोऽथवा ब्रह्मा श्रिया तेजसा शोभते ॥ यस्य वृक्षस्य च्छायायां निषण्णो वरलक्षणः। सैनं न जहाति च्छाया ध्यायन्तं पुरुषोत्तमम् ॥316॥317॥ हुताशनो वा गिरिमूर्ध्नि संस्थितः शशीव

नक्षत्रगणानुचरितः। वेपन्ते गात्राणि मे पश्यत इमं ध्यायन्तं तेजो नु प्रदीपकल्पम् ॥318॥ यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायस्य अर्चिष्मन्। एवं द्विरपि ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥ व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि व्यामाभं शुभनरलक्षणाग्रधारिणम्। ध्यायन्तं गिरिनिश्चलं नरेन्द्रपुत्रं सिद्धार्थं न जहाति सैव वृक्षच्छाया ॥320॥ ग्रीष्मे वसन्ते (=ग्रीष्मवसन्तयोः संधौ) समुदागते ज्येष्ठमासे संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे कौञ्चमयूर-शुकशारिकासंप्रघुषिते भूयिष्ठाः शाक्यसुता अभिनिष्क्रायन्ति ॥321॥ छन्दोऽभ्युवाच परिवारितो दारकैः हन्त कुमार वनं गच्छाम लोचनार्थम्। किं गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य हन्त व्रजाम वयं च (=अपि) उदानयितुं (=विनोदवचनैरुत्तेजयितुं) नारीसंघम् ॥322॥ मध्याह्नकालसमये सुविशुद्ध-सत्त्वः पञ्चभिः शतैः परिवृतैः सह चेटकैः। न च मातरं नैव च पितरं प्रतिवेद्य सो ऽबुद्धो (=ऽज्ञातो) निष्क्रम्यागच्छत् कर्षणग्रामम् ॥323॥ तस्मिंश्च पार्थिववरस्य कर्षणग्रामे जम्बूद्रुमोऽभवदनेकविशालशाखः। दृष्ट्वा कुमारः प्रतिबुद्धः दुःखेन चोत्तप्तो धिक् संस्कृतम् इति बहुदुखं कृषिं करोति ॥324॥ स जम्बूच्छायमुपगम्य विनीतचित्तस् तृणकानि गृहीत्वा स्वयं संस्तरं संस्तीर्य। पर्यङ्कम् आभुज्य—ऋजुं कृत्वा कायं चत्वारि ध्यानानि शुभानि-अध्यायत् स बोधिसत्त्वः ॥325॥ पञ्चर्षयः खगपथेन हि गच्छन्तो जम्ब्वा मूर्ध्नि न प्रभवन्ति पराक्रमितुम्। ते विष्ठिता निहतमानमदाश्च भुत्वा सर्वे समग्राः सहिताः समुदीक्षमाणाः ॥326॥ वयं मेरुं पर्वतवरं तथा चक्रवालान् निर्भिद्य गच्छामो जवेन असज्यमानाः। ते जम्बूवृक्षं न प्रभवामोऽतिक्रान्तुं को न्वत्र हेतुरयमद्य भविष्यतीह ॥327॥ अवतीर्य मेदिनीतले च प्रतिष्ठाय पश्यन्ति शाक्यतनयं तस्मिन् जम्बूमूले। जम्बूनदार्चिःसदृशप्रभातेजोरश्मिं पर्यङ्कबन्धं तदा ध्यायन्तं बोधिसत्त्वम् ॥328॥ ते विस्मिता दश नखान कृत्वा मूर्ध्नि प्रणताः कृताञ्जलिपुटा न्यपतन् क्रमेषु (=चरणेषु)। साधो सुजात सुमुख करुणया जगतः शीघ्रं विबुध्यस्व विनयस्व सत्त्वान् ॥329॥ परिवृत्तः सूर्यो न—अहासीत् सुगतस्य छाया, अवलम्बते द्रुमवरं यथा पद्मपत्रं। देवाः सहस्राणि बहवः स्थिता अञ्जलिभिः, वन्दन्ते तस्य चरणौ कृतनिश्चयस्य ॥330॥ शुद्धोदनश्च स्वगृहे परिमार्गमाणः संपृच्छते क्व नु गतः स हि मे कुमारः। मातृष्वसावोचद् मार्गथ्वं नो लभे संपृच्छध्वं नरपते क्व गतः कुमारः ॥331॥ शुद्धोदनस्त्वरितं पृच्छति काञ्चुकीयं दौवारिकं तथापि चान्तर्जनं समन्तात्। दृष्टः कुमारो मम केनचिन्निष्क्रामन् शृणु ते वर उपगतो देव कृषाणग्रामम् ॥332॥ स शीघ्रमेव त्वारतं सह शाक्यै निष्क्रान्तः प्रैक्षिष्ट कृषिग्रामं श्रियं प्रविष्टं। यथा सूर्यकोटिनियुतानि

समुद्गतानि तथा प्रेक्षते हितकरं श्रिया ज्वलन्तम् ।।333।। मुकुटं च खड्गं तथा पादुके परित्यज्य, कृत्वा दशाङ्गुलि शिरसि अभिवन्दते (स्म) तम् । साधु-सुभूतवचना ऋषयो महात्मानो व्यक्तं कुमारो ऽभिनिरक्रांस्त बोधिहेतोः ।।334।। परिपूर्णानि द्वादशशतानि सुप्रसन्ना देवाः, पंच शतानि-उपगतानि यथा (= एवम्) शाक्यानाम् । दृष्ट्वा च ऋद्धिं सुगतस्य गुणसागरस्य संबोधि-चित्तम् अजीजनन् दृढेन-आशयेन ।।335।। स कम्पयित्वा त्रिसाहस्राम् अशेषभूमिं स्मृतिमान् संप्रजानन् प्रतिबुद्धस्ततः समाधेः । ब्रह्मस्वरः पितर-मालपति द्युतिमान् उत्सृज्य तत कृषि कर्म परं गवेषस्व ।।336।। यदि स्वर्णेन कार्यम् अहं स्वर्णं प्रवर्षिष्यामि, यदि वस्त्रैः कार्यम् अहमेव प्रदास्ये वस्त्राणि । अथ धान्येन कार्यम् अहमेव प्रवर्षिष्यामि, सम्यक् प्रयुक्तो भव सर्वजगति नरेन्द्र ।।337।। अनुशिष्य पितरं जनपरिषदं तस्मिन् क्षणे पुरवरं पुनः स प्राविक्षत् । अमुवर्तवानो जगतस् तिष्ठति पुरे नैष्क्रम्ययुक्तमनाः सुविशुद्धसत्त्वः ।।338।।

●

॥ १२ ॥

॥ शिल्पसंदर्शनपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 136 (पंक्ति 10)—159 (पंक्ति 18)
भोटानुवाद 105क (पंक्ति 7)—121ख (पंक्ति 2)

॥ १२ ॥

॥ शिल्पसंदर्शनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार कुमार के =105ख= बड़े होने पर एक बार राजा शुद्धोदन शाक्यगण के साथ संस्थागार (=सभाभवन) में बैठे थे। वहाँ जो बूढ़े-बूढ़े शाक्य थे उन्होंने राजा शुद्धोदन से कहा। महाराज को यह जान-बूझ लेना चाहिए कि इन सर्वार्थसिद्ध कुमार के विषय में ज्योतिष जानने वाले ब्राह्मणों ने तथा निश्चितमति वाले देवताओं ने भविष्यवाणी की है कि यदि कुमार घर से निकल (कर साधु हो) जाएँगे तो अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध होंगे, यदि घर से न निकलेंगे तो चतुरंगिणी सेना वाले विजितों (=जीते हुए राष्ट्रों) से युक्त, धार्मिक, धर्म से राज्य करने वाले, सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होंगे। उनके ये सात रत्न होंगे—यथा, चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न, तथा परिणायकरत्न अर्थात् अमात्यरत्न। ये सात रत्न, उनके पूरे हजार पुत्र शूर-वीर, उत्तम अंग-अंग वाले एवं रूपवान्, तथा परायी सेना को मसल डालने वाले होंगे। वे इस पृथिवीमण्डल को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, धर्म से, जीतकर विराजेंगे। (-127-) इसलिए कुमार का (घर) बसा दीजिए (अर्थात् कुमार का विवाह कर डालिए)। वहाँ स्त्रीगणों से घिरे रहने पर=106क=वे रति का अनुभव करेंगे (और) घर से न निकलेंगे। इस प्रकार हमारे चक्रवर्तियों के वंश का उच्छेद न होगा। और सब गढ़ों के स्वामी राजाओं द्वारा पूजित एवं प्रशंसित होते रहेंगे।

2. तब राजा शुद्धोदन ने इस प्रकार कहा। यदि यही बात है तो देखो कौन सी कन्या कुमार के योग्य है। वहाँ पर पाँच सौ शाक्य थे। एक-एक ने इस प्रकार कहा। मेरी बेटी कुमार के योग्य है, मेरी बेटी अत्यन्त रूपवती है। राजा ने कहा। कुमार को पाना कठिन है। अतः कुमार से ही निवेदन करें कि उन्हें कैसी कन्या पसन्द है। तब उन सबने मिल कर यह बात कुमार को बतलाई। कुमार ने उनसे कहा। सातवें दिन (इस बात का) उत्तर (तुम सबको) सुन मिलेगा।

3. तब बोधिसत्त्व के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ—

(छन्द पुष्पिताग्रा)

विदित मम अनन्त कामदोषाः
सरण सवैर सशोक दुःखमूलाः।
भयकर विषपत्रसंनिकाशाः
ज्वलननिभा असिधार तुल्यरूपाः ॥339॥

मुझे पता है कि काम-भोगों में दोष अनन्त होते हैं, इनके कारण ही लड़ाई-झगड़ा होता है, इनके कारण ही बैर होता है, इन्हीं के कारण (लोग) शोक से (जीते) हैं, ये ही दुःखों की जड़ हैं, ये भयानक हैं, विष के पत्तों जैसे हैं, आग के समान (जलाने वाले) हैं, तलवार की धारा जैसे (तीखे) हैं।

(छन्द पुष्पिताग्राविकृति)

कामगुणि न मेऽस्ति छन्दरागो
न च अहु सोभमि इस्त्रिगारमध्ये।
यन्नु अहु वने वसेय तूष्णीं
ध्यानसमाधिसुखेन शान्तचित्तः ॥340॥

कामगुणों में मेरा प्रेम एवं अनुराग नहीं है। अन्तःपुर में मेरी उतनी शोभा नहीं है जितनी कि ध्यानसमाधि के सुख से शान्तचित्त हो वन में मौनी होकर रहने में हैं।

4. वे फिर भी मीमांसा से अर्थात् तर्क द्वारा विचार से (प्राणियों को धर्म में दीक्षित करने के) = 106ख = उपाय की निपुणता को सामने रख, प्राणियों को (धर्म में) पक्का (कैसे किया जाए इस बात) को देखते हुए, महाकरुणा उत्पन्न कर उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छन्द वसन्ततिलका)

संकीर्णि पङ्क्ति पदुमानि विवृद्धिमन्ति
आकीर्ण राज नरमध्यि सभाति पूजां।
(–138–) यद बोधिसत्त्व परिवारबलं[1] लभन्ते
तद सत्त्वकोटिनयुतान्यमृते विनेन्ति ॥341॥

ढेर-ढेर कीचड़ में कमल बढ़ते हैं, झुण्ड-के-झुण्ड लोगों के बीच राजा पूजा पाते हैं, जब बोधिसत्त्व परिवार को प्राप्त करते हैं तब खर्ब-खर्ब कोटि प्राणियों को अमृत के निमित्त विनीत करते हैं।

---

1. मूल का परिवारबलं वस्तुतः परिवारवर का अपभ्रंश है, जिसमें वकार का बकार तथा रेफ का लकार हो गया है। तुलनीय भोट, **ह्खोर् म्छोग्**, परिवारवरम्।

ये चापि पूर्वक अभूद् विदु बोधिसत्त्वाः
सर्वेभि भार्य सुत दर्शित इस्त्रिगाराः ।
न च रागरक्त ने च ध्यानसुखेभि भ्रष्टाः
हृन्तानुशिक्षयि अहं पि गुणेषु तेषां ॥342॥

पहले जो विद्वान् बोधिसत्त्व हो चुके हैं, उन सबने भार्या, पुत्र तथा अन्तः-पुर का (लोक-व्यवहार में) दिखलावा किया है, (फिर भी) वे न तो अनुराग में अनुरक्त रहे हैं और न ध्यान-सुख से ही भ्रष्ट हुए हैं। अहो, मैं भी उनके गुणों से शिक्षा लूँ।

न च प्राकृता मम वधू अनुकूल या स्याद्
यस्या न इष्पतु[2] गुणा सद सत्यवाक्यं ।
या[3] चित्ति मह्यं[3] अभिराधयते ऽप्रमत्ता
रूपेण जन्मकुलगोत्रतया सुशुद्धा ॥343॥

जिसमें ईर्यापथ (अर्थात् खड़े होने, चलने, बैठने और लेटने का) शऊर नहीं है, जो सदा सच बात नहीं बोलती है, वह साधारण स्त्री मेरे अनुकूल नहीं हो सकती। मेरे लिए वह स्त्री अनुकूल हो सकती है, जो प्रमाद न कर मेरे चित्त को अत्यन्त आनन्दित कर सके तथा रूप, जन्म, कुल तथा गोत्र से अत्यन्त शुद्ध हो।

सो गाथ लेख लिखिते गुण अर्थयुक्ता
या कन्य ईदृश भवे मम तां वरेथा।
न ममार्थु प्राकृतजनेन असंवृतेन
यस्या गुणा कथयमी मम तां वरेथा ॥344॥

उन (सिद्धार्थ कुमार ने) गुण तथा अर्थ से उक्त गाथाएँ लेख रूप में लिखीं कि जो कन्या ऐसी हो, उसे मेरे लिए चुनें। मेरा नंगे-लुच्चे साधारण (स्त्री) जन से प्रयोजन नहीं है। जिसमें कहे गुण हों, मेरे लिए उसे चुनें।

या रूपयौवनवरा न च रूपामत्ता
माता स्वसा व यथ वर्तति मैत्रचित्ता।
[1]त्यागे रता श्रमणब्राह्मणदानशीला
तां तादृशां मम वधूं वरयस्व तात ॥345॥

---

2. इष्पतु-गुणा वस्तुतः इष्पतु गुणा है। इस्पतु अपभ्रंश है ईर्यापथ का। भोट, स्प्योद् लम् योन् तन्, ईर्यापथगुणाः।

3....3. मूल, चिन्ति मह्यम्। यह वस्तुतः चित्ति मह्यम् (=चित्तं मम) है। तुलनीय भोट, ब्दग् गि सेम्स् नि, मम चित्तम्।

जो उत्तम रूप और यौवन से युक्त हो, पर रूप से मदगाती न हो, जिसके चित्त में माता तथा बहन के समान मैत्री हो, (जो) त्याग में रत हो, श्रमणों तथा ब्राह्मणों को दान देने का जिसका शील-स्वभाव हो, हे तात, वैसी बहू का मेरे लिए वरण करो।

यस्या न मानु न खिलो न च दोषमस्ति=107क=
न च शाठ्य ईर्ष्य न च माय न उज्जुभ्रष्टा।
स्वप्नान्तरेऽपि पुरुषे न परेऽभिरक्ता
तुष्टा स्वकेन पतिना शयतेऽप्रमत्ता ॥346॥

जिसमें मान न हो, चित्त की कठोरता न हो, द्वेष न हो, शठता न हो, ईर्ष्या न हो, माया न हो, जो सीधी (राह) से गिरने वाली न हो, स्वप्न में भी पर-पुरुष से प्रेम करने वाली न हो, अपने पति से सन्तुष्ट रहने वाली हो, सावधान हो कर सोनेवाली हो।

(–139–) न च गर्विता नपि च उद्धत न प्रगल्भा
निर्मान मानविगतापि च चेटिभूता।
न च पानगृद्ध न रसेषु न शब्द गन्धे
निर्लोभ भिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा ॥347॥

जो घमंडी न हो, चुलबुली न हो, ढीठ न हो, जिसमें मान न हो, जो मान-रहित परिचारिका—जैसी हो, जो न मदिरा में, न जिह्वा के स्वादों में, न शब्द और गन्ध में आसक्त हो, जो लोभ-रहित हो, जो दूसरे की धन-दौलत का ध्यान न कर अपने धन से सन्तुष्ट हो।

सत्ये स्थिता नपि च चञ्चल नैव भ्रान्ता
न च उद्धतोन्नतस्थिता ह्रिवस्त्रछन्ना
न च दृष्टिमंगलरता सद धर्मयुक्ता
कायेन वाच मनसा सद शुद्धभावा ॥348॥

जो सत्य में स्थित हो, जो चंचल न हो, जिसमें भ्रम न हो, जो न चुलबुली ही हो और न घमण्डी ही हो, लज्जा से वस्त्रों में अपने को छिपाए रखती हो, मिथ्या-दृष्टि वश जो मंगल के लिए किए जाने वाले पाखण्डों में न लगती हो, सदा धर्म में जिसका योग रहता है, मन-वचन-कर्म से जो सदा शुद्ध भाव वाली हो।

न च स्त्यानमिद्धबहुला न च मानमूढा
मीमांसयुक्त सुकृता सद धर्मचारी।
स्वश्री च तस्य स्वशुरे यथ शास्तृप्रेमा
दासीकलत्रजनि यादृशमात्मप्रेम ॥349॥

जिसमें अलसाहट तथा नींद बहुत न हो, जो घमण्ड में भूली हुई न हो, जो विचार-युक्त, सत्कर्म करने वाली, तथा सदा धर्मचारिणी हो, जिसकी सास और ससुर में गुरु के समान प्रीति हो, दासी-स्त्रियों तथा दास-पुरुषों में जिसका प्रेम वैसा हो जैसा अपने से हुआ करता है ।

शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव
पश्चात् स्वपेत् प्रथममुत्थिहते च शय्यात् ।
मैत्रानुवर्ति अकुहापि च मातृभूता
एतादृशीं मि नृपते वधुकां वृणीष्व ।।350।।

जो शास्त्र की रीति-नीति जानती हो, गणिका के समान गुणी हो, पीछे सोती हो और सेज से पहले उठ पड़ती हो, जो मैत्री के अनुसार बरतती हो, जिसमें पाखण्ड न हो, जो मातृमयी हो, हे राजन्, मेरे लिए ऐसी बहू चुनें ।

5. इसके अनन्तर राजा शुद्धोदन ने इन गाथाओं को बाँच कर पुरोहित से कहा—हे महाब्राह्मण, आप कपिलवस्तु महानगर में सब घरों में जा-जा कर कन्याएँ = 107ख = देखें । जिसमें ये गुण हों, वह चाहे क्षत्रिय की कन्या हो, चाहे ब्राह्मण की कन्या हो, चाहे वैश्य की कन्या हो, और चाहे वह शूद्र की कन्या हो, उस कन्या के बारे में हमें जताएँ । वह किस कारण ? कुमार कुल नहीं चाहते, गोत्र नहीं चाहते ? कुमार गुण ही चाहते हैं । (-140--) और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

ब्राह्मणीं क्षत्रियां कन्यां वैश्यां सूद्रीं तथैव च ।
यस्या एते गुणा सन्ति तां मे कन्यां प्रवेदय ।।351।।
न कुलेन न गोत्रेण कुमारो मम विस्मितः ।
गुणे सत्ये च धर्मे च तत्रास्य रमते मनः ।।352।।

ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा कन्याओं में से जिसमें ये गुण हो, उस कन्या के बारे में मुझे जनाओ । मेरे कुमार को न कुल से अचरज होता है और न गोत्र से । उनका मन गुण, सत्य, तथा धर्म में रमता है ।

6. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर वह पुरोहित उस गाथा-लेख को लेकर कपिलवस्तु महानगर में घूम-घूम, घर-घर जा कर देख, कन्या खोजने लगा । वैसे गुणों वाली कन्या न देख वह क्रम से (एक-एक घर) छानता हुआ जहाँ दण्डपाणि शाक्य का घर था वहाँ पहुँचा । उस घर में घुस कर उसने कन्या देखी (जो) परम-रूपवती, प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली, देखने योग्य, अत्यन्त उत्तम

रंग की पुष्कलता[4] (= प्रचुरता वा श्रेष्ठता) से युक्त, न बहुत लम्बी, न बहुत नाटी, न बहुत मोटी, न बहुत पतली, न बहुत गोरी, न बहुत काली, नई = 108क = जवानी की अवस्था वाली (थी)। जान पड़ता था कि वह मानो स्त्रीरत्न हो।

7. उस कन्या ने पुरोहित के चरणों को छू कर यों कहा—हे महाब्राह्मण, आपका क्या काम है ? पुरोहित ने कहा—

(पुरोहितवचन, छंद वसन्ततिलका)

शुद्धोदनस्य तनयः परमाभिरूपो
द्वात्रिंशलक्षणधरो गुणतेजयुक्तः।
तेनेति गाथ लिखिता गुणये वधूनां
यस्या गुणास्ति हि इमेस हि तस्य पत्नी ॥353॥

शुद्धोदन के परम-रूपवान्, बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से युक्त, गुणवान् एवं तेजस्वी कुमार (सिद्धार्थ) हैं। उन्होंने स्त्रियों के गुणों के विषय में ये गाथाएँ लिखी हैं। जिसमें ये गुण होंगे वह उसकी पत्नी होगी। (यह कह) उसने वह लेख उस (कन्या) को दिया।

8. उस कन्या ने उस गाथा लेख को बाँच कर मुसकरा कर उस पुरोहित को गाथा-द्वारा कहा—

(कन्यावचन, छंद वसन्ततिलका)

(–141–) मह्येति ब्राह्मण गुणा अनुरूप सर्वे
सो मे पतिर्भवतु सौम्य सुरूपरूपः।
भणहि कुमारु यदि कार्य म हू विलम्ब
मा हीनप्राकृतजनेन भवेय वासः ॥354॥

हे ब्राह्मण, ये सब उत्तम गुण मुझ में हैं। वह सौम्य, परम-रूपवान् मेरा पति हो। कुमार से कहो कि यदि मुझसे कार्य है तो विलम्ब न करना। ताकि साधारण-हीन जन के साथ रहना न पड़े।

9. उनके बाद उस पुरोहित ने राजा शुद्धोदन के पास जाकर उस वृत्तान्त को यों कहा। हे देव, मैंने (ऐसी) कन्या देखी है, जो कुमार के योग्य है।

4. मूल पुष्करतया। यह वस्तुतः पुष्कलतया का अपभ्रंश है जिसमें रेफ के स्थान में लकार हो गया है। तुलनीय भोट, ग्र्यंस् प, पुष्कलता, प्रचुरता एवं श्रेष्ठता।

(राजा ने) पूछा । वह किसकी है ? (पुरोहित ने) कहा—देव, दण्डपाणि शाक्य की बेटी है ।

10. तदनन्तर राजा शुद्धोदन के मन में यह बात आई कि कुमार तक किसी की पहुँच कठिनता से हो सकती है और =108ख= उनकी आस्था शुभ (वस्तु) में है । प्रायः स्त्रियाँ (ऐसे) गुणों के भी अपने में होने का दावा करती हैं, जो उनमें नहीं होते । इसके लिए मैं अशोकभाण्डों (अर्थात् पुरस्कार वस्तुओं) की व्यवस्था करूँ जिन्हें कुमार सब कन्याओं को बाँटें । वहाँ जिस कन्या में कुमार की आँख लग जायगी, उसे मैं कुमार के लिए वर लूँगा ।

11. तब राजा शुद्धोदन ने अशोकभाण्ड बनवाए—सुवर्णमय, रजतमय, विविधरत्नमय । (ऐसा) कर कपिलवस्तु महानगर में डुग्गी पिटवा दी कि आज से सातवें दिन कुमार दर्शन देंगे और कन्याओं को अशोकभाण्ड बाँटेंगे[5] । वहाँ संस्थागार (सभाभवन) में सब कन्याओं को इकट्ठा हो जाना चाहिए ।

12. हे भिक्षुओ, इस प्रकार सातवें दिन बोधिसत्त्व संस्थागार (सभाभवन) में जाकर भद्रासन (=सिंहासन) पर बैठे । राजा शुद्धोदन ने भी छिप-छिप कर देखने वाले पुरुषों को नियुक्त कर आज्ञा दी कि जिस कन्या में कुमार की आँख लगे उसकी सूचना मुझे दो ।

13. (–142–) हे भिक्षुओ, इस प्रकार कपिलवस्तु महानगर में जितनी कन्याएँ थीं वे सब, संस्थागार में जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ, बोधिसत्त्व के दर्शन तथा अशोकभाण्ड लेने पहुँची ।

14. हे भिक्षुओ, यों बोधिसत्त्व जैसे-जैसे कन्याएँ आतीं उन्हें अशोकभाण्ड =109क= देते । वे कन्याएँ बोधिसत्त्व की श्री तथा तेज को न सह पाती थीं । वे अशोकभाण्डों को लेकर जल्दी-जल्दी लौट पड़ती थीं ।

15. तदनन्तर दण्डपाणि शाक्य की बेटी गोपा नाम की शाक्यकुमारी अपनी दासियों से घिरी हुई उनके आगे-आगे चलती हुई संस्थागार (सभाभवन) में जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पहुँच कर एक ओर बोधिसत्त्व को बिना पलक मारे आँखों से देखते हुए खड़ी रही । और जैसे ही बोधिसत्त्व सब अशोकभाण्ड बाँट चुके वैसे ही बोधिसत्त्व के पास पहुँच हँसमुख चेहरे से यों बोधिसत्त्व से कहा—कुमार, मैंने आपका क्या बिगाड़ा जो आप मेरा अपमान कर रहे हैं ।

---

5. मूल, विश्राममिष्यति । भोट, स्बि यन् प ब्ग्येद् क्यिसस्, दास्यति । शुद्धमूलपाठ में देने का अर्थ होना चाहिए, वह विश्राणयिष्यति पाठ होने से संभव है और वही मूल पाठ था । णकार के स्थान में मकार प्रमाद वश हुआ है ।

(कुमार ने) कहा—मैं तुम्हारा अपमान नहीं कर रहा हूँ पर तुम सबसे पीछे आई हो। उन्होंने कई लाखों के दाम की अँगूठी निकाल कर उसे दी, उसने कहा—कुमार क्या मैं आपसे केवल यही पाने के योग्य हूँ। (कुमार ने) कहा—इन मेरे आभूषणों को ग्रहण करो। उसने कहा—हम कुमार को अनलंकृत नहीं करेंगी, हम कुमार को अलंकृत करेंगी। ऐसा कह कर वह कन्या चली गई।

16 =109ख= तब उन गुप्तपुरुषों ने जाकर यह वृत्तान्त राजा शुद्धोदन के आगे निवेदन किया। हे देव, दण्डपाणि शाक्य की बेटी गोपा नाम की शाक्यकुमारी है। उसमें कुमार की आँख लगी है और दोनों का क्षणभर वार्तालाप भी हुआ है।

17. (–143–) इस बात को सुन कर राजा शुद्धोदन ने दण्डपाणि शाक्य के यहाँ पुरोहित को दूत के रूप में भेजकर कहलवाया कि जो तुम्हारी बेटी है वह मेरे कुमार को दो।

18. दण्डपाणि ने कहा—आर्य, कुमार घर में सुख से बढ़े हैं। हमारा यह कुलधर्म है कि कन्या शिल्पज्ञ को देनी चाहिए, अशिल्पज्ञ को नहीं। कुमार शिल्पज्ञ नहीं हैं, वे खाँडा चलाने, धनुष खींचने एवं युद्ध करने का ढंग, तथा कुश्ती के दाँव-पेंचों को नहीं जानते। तब भला अशिल्पज्ञ को मैं कैसे अपनी बेटी दूँ।

19. यह बात राजा को बताई गई। तब राजा के मन में यह विचार आया। यह दूसरा अवसर है जब इसने धर्म की दुहाई देकर मेरी निन्दा की है। जब मैंने कहा था कि राजकुमार की परिचर्या के लिए शाक्यकुमार क्यों नहीं आते? तब भी इसने मुझसे कहा क्या हम मेढ़े की परिचर्या करेंगे। इस अवसर पर भी उसी तरह कहा है। यों सोचते-सोचते गुम-सुम बैठे रहे।

20. बोधिसत्त्व ने यह वृत्तान्त सुना और सुन कर राजा =110क= शुद्धोदन जहाँ थे वहाँ जा कर यों कहा—हे देव, यह क्या? दुःखी मन से क्यों बैठे हैं? राजा ने कहा—कुमार इसे मत पूछो। कुमार ने कहा—देव, कुछ भी क्यों न हो, बताना ही पड़ेगा। इस प्रकार तीन बार बोधिसत्त्व ने राजा शुद्धोदन से पूछा। तब राजा शुद्धोदन ने वह बात बताई। उसे सुन कर बोधिसत्त्व ने कहा—देव, इस नगर में क्या कोई है जो शिल्प दिखाने में अपने शिल्प से मेरे साथ बराबरी कर सके। तब राजा शुद्धोदन ने चेहरे पर हँसी लाकर बोधिसत्त्व से यों कहा—बेटा, क्या तुम शिल्प दिखा सकोगे। उन्होंने कहा—हाँ, सकूँगा। (–144–) इसलिए हे देव, सब शिल्पज्ञों को इकट्ठा करो जिनके सामने मुझे अपना शिल्प दिखाना है।

21. तब राजा शुद्धोदन ने कपिलवस्तु नाम के उत्तम महानगर में डुग्गी पिटवाई कि सातवें दिन कुमार अपना शिल्प दिखाएँगे। वहाँ सब शिल्पज्ञों को इकट्ठा हो जाना चाहिए।

22. उस सातवें दिन पूरे पाँच सौ शाक्य कुमार इकट्ठे हुए। दण्डपाणि शाक्य की बेटी गोपा नाम की शाक्यकुमारी जयपताका ठहराई गई। जो खाँडा चलाने में, धनुष खींचने में, युद्ध में, कुश्ती में = 110ख = जीतेगा, उसकी यह होगी।

23. उस समय सबसे पहले कुमार देवदत्त नगर से बाहर निकले। बहुत-बड़ा श्वेत रंग का हाथी बोधिसत्त्व के लिए नगर के भीतर लाया जा रहा था। तब देवदत्त कुमार ने ईर्ष्या के कारण शाक्य-कुल के अहंकार तथा अपने पराक्रम के अभिमान में मदमत्त हो कर उस श्रेष्ठ हाथी को अपने बाएँ हाथ द्वारा सूँड़ से पकड़ कर दाहिने हाथ के द्वारा चपेटे के एक ही प्रहार से मार डाला।

24. उसके बाद कुमार सुन्दरनन्द निकले। उन्होंने उस श्रेष्ठ हाथी को नगर के द्वार पर मारा गया पड़ा देखा। देख कर पूछा—किसने मारा है? लोगों की भीड़ ने कहा—देवदत्त ने (मारा है)। उन्होंने कहा—यह देवदत्त का काम ठीक नहीं। उन्होंने उस श्रेष्ठ हाथी को पूँछ से पकड़ कर नगर के द्वार से दूर खींच कर डाल दिया।

25. उसके बाद बोधिसत्त्व रथ पर होढ़ कर निकले। बोधिसत्त्व ने उस हाथी को मारा गया पड़ा देखा और देख कर पूछा—किसने मारा है? (लोगों ने कहा) देवदत्त ने (मारा है)। (उन्होंने) कहा (यह) देवदत्त का काम ठीक नहीं। किसने (–145–) फिर नगर के द्वार से दूर खींच कर डाला है? (लोगों ने) कहा सुन्दरनन्द ने। (उन्होंने) कहा—सुन्दरनन्द का यह काम ठीक है पर यह प्राणी बड़े शरीर का है, सड़ेगा तो सारे नगर को दुर्गन्ध से = 111क=व्याकुल कर देगा।

26. तदनन्तर रथ पर बेठे ही बैठे कुमार ने एक पैर फैला कर पैर के अँगूठे से उस श्रेष्ठ हाथी को पूँछ से पकड़ कर सात परकोटे और सात खाइयों के पास नगर के बाहर एक कोस की दूरी पर फेंक दिया। जिस स्थान पर वह हाथी गिरा उस स्थान पर बहुत—बड़ा बिल बन गया जो आज कल हस्तिगर्त कहलाता है।

27. उस समय लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ छोड़ीं, ठहाके मारे और कपड़े हिलाए। आकाश में विराजमान देवपुत्रों ने ये दो गाथाएँ कहीं—

(देवपुत्रों की गाथाएँ, छंद वेगवती)

यथा मत्तगजेन्द्रगतीनां (मा) पादाङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्रं ।
सप्त पुरापरिखा अतिक्रम्य क्षिप्तु बहि सुपुरातु अयं हि ।।355।।
निःसंशयमेष सुमेधा मानबलेन समुच्छ्रितकायान् ।
संसारपुरातु बहिर्धा एक क्षपिष्यति प्रज्ञबलेन ।।356।।

जैसे मतवाले गजराज की चाल वाले इन्होंने गजेन्द्र को सात परकोटों और खाइयों के पार सुन्दर नगर के बाहर फेंका है, वैसे ही ये उत्तम बुद्धिवाले अकेले ही मान-बल से फूले-फाले शरीर वालों को संसार-रूपी नगर के बाहर प्रज्ञाबल से फेंक देंगे ।

28. [6]हे भिक्षुओ, इसके बाद[6] पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार नगर से निकल कर, धरती के उस एक स्थान पर जहाँ शाक्यकुमारों को शिल्प दिखाना था, पहुँचे । राजा शुद्धोदन भी तथा बूढ़े-बूढ़े शाक्य भी, और लोगों का बड़ा दल-बल भी, जहाँ वह धरती का स्थान था वहाँ, बोधिसत्त्व तथा अन्य शाक्य =111ख=कुमारों के विशेष शिल्पों को देखने के मनोरथ से पहुँचे ।

29. वहाँ आरम्भ से ही जो शाक्यकुमार लिपि में चतुर थे (लिपि की) विधियों को जानते थे, जिन्हें बोधिसत्त्व के साथ लिपि में विशेषता दिखानी थी, उनके बीच उस समय उन शाक्यों ने आचार्य विश्वामित्र को साक्षी ठहराया (और कहा) आप देखिए इनमें कौन (–146–) कुमार लेख में अथवा अनेक लिपियों की पारंगतता में विशिष्ट है । तब आचार्य विश्वामित्र ने, जिन्हें बोधिसत्त्व का लिपिज्ञान प्रत्यक्ष था, मुसकराते हुए ये दो गाथाएँ कहीं—

(आचार्य विश्वामित्र की गाथाएँ, छंद उपजाति)

मानुष्य लोकेऽथ च देवलोके
गन्धर्वलोके ऽप्यसुरेन्द्रलोके ।
यावन्ति केचिल्लिपि सर्वलोके
तत्रैष पारंगतु शुद्धसत्त्वः ।।357।।
नामापि यूयं च अहं च तेषां
लिपीन ज्ञानाम न चाक्षराणां ।
यान्येष जानाति मनुष्यचन्द्रो
अहमत्र प्रत्यक्षु विजेष्यतेऽयं ।।358।।

6···6. मूल, इति हि । भोट, **दुगे स्लोङ् वग् दे नस्**, इति हि भिक्षवः । ★करफु शब्द के स्थान में वंद्य का पाठ करकु है ।

(यहाँ) मनुष्यलोक में, देवलोक में, गन्धर्वलोक में, असुरेन्द्रलोक में, (संक्षेप से कहें तो) संपूर्णलोक में जितनी भी लिपियाँ हैं, उनमें ये शुद्धसत्त्व पारंगत हैं। ये मनुष्यों में चन्द्रमा के समान शोभायमान जिन (लिपियों और अक्षरों) को जानते हैं, उन लिपियों और अक्षरों के नाम का भी न तुम्हें पता है और न मुझे। इस विषय में मुझे प्रत्यक्ष है। ये (कुमार सिद्धार्थ ही) जीतेंगे।

30. शाक्यों ने कहा—लिपिज्ञान में कुमार विशिष्ट हों तो हों, संख्याज्ञान में कुमार के विषय में जान लेना चाहिए कि (वे) विशिष्ट हैं (या नहीं) ? उस समय संख्या—गणना में पारंगत शाक्यों के गणकमहामात्र गणित के ज्योतिषी महामन्त्री को जिनका नाम अर्जुन था, साक्षी ठहराया गया (और उनसे कहा गया कि) = 112क = आप देखिए संख्याज्ञान मे कौन कुमार विशिष्ट होता है। उस समय बोधिसत्त्व उद्‌देश करते थे अर्थात् गणित का प्रश्न पूछते थे और एक शाक्यकुमार निक्षेप करता था अर्थात् गणित के प्रश्न को हल करता था। पर बोधिसत्त्व (के उत्तर तक) न पहुँच पाता था। अनन्तर एक, दो, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, यहाँ तक कि पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ निक्षेप करने लगे—हिसाब लगाने लगे पर (अन्त तक) न पहुँच पाते थे। तदनन्तर बोधिसत्त्व ने कहा—तुम-सब उद्‌देश करो—प्रश्न पूछो, मैं निक्षेप करूँगा—हिसाब लगाऊँगा। तब एक कुमार बोधिसत्त्व से उद्देश करता था (निक्षेप करते हुए—हिसाब लगाते हुए बोधिसत्त्व के उत्तर तक) न पहुँच पाता था। (तदनन्तर) दो, तीन, (चार), पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, यहाँ तक कि पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ उद्‌देश करते थे—प्रश्न पूछते थे, पर निक्षेप करते हुए—हिसाब लगाते हुए बोधिसत्त्व (के उत्तर तक) न पहुँच पाते थे।

31. (तदनन्तर) बोधिसत्त्व ने कहा—इस लड़-झगड़ से क्या ? इस समय सब एक होकर मुझसे उद्‌देश करो—प्रश्न पूछो। मैं निक्षेप करूँगा—हिसाब लगाऊँगा। तब पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार (–137–) एक ध्वनि से बोल कर पहले=112ख=से अप्रचिलित उद्‌देश करने लगे, प्रश्न पूछने लगे। बोधिसत्त्व बिना घबराए निक्षेप करने लगे, हिसाब लगाने लगे। इस प्रकार सब शाक्यकुमार (हिसाब के) अन्त तक न पहुँचते, पर बोधिसत्त्व अन्त तक पहुँच जाते थे।

32. तदनन्तर गणकमहामात्र (गणित के ज्योतिषी महामन्त्री) अर्जुन ने अचरज में आकर ये दो गाथाएँ कहीं—

(गणकमहामात्र अर्जुन की गाथाएँ)

ज्ञानस्य शीघ्रता साधु बुद्धे संपरिपृच्छता।
पञ्चमात्रशतान्येते धिष्ठिता गणनापथे ॥359॥
ईदृशी च इयं प्रज्ञा बुद्धिर्ज्ञानं स्मृतिर्मतिः।
अद्यापि शिक्षते चायं गणितं ज्ञानसागरः ॥360॥

वाह ! ज्ञान की इतनी तेज़ी !! (इन) ज्ञानवान् से सब तरह पूछते हुए ये पूरे पाँच सौ (शाक्यकुमार) गणना की राह में ठहर गए--अपनी गाड़ी आगे न चला सके। यह ऐसी प्रज्ञा, (ऐसी) बुद्धि, (ऐसा) ज्ञान, (ऐसी) स्मृति, (ऐसी) मति !!! आज भी ये ज्ञान के सागर गणित की शिक्षा ले रहे हैं।

33. तब तो संपूर्ण शाक्यगण को अचरज हुआ, अत्यन्त विस्मय हुआ। एक कंठ से उन्होंने यह वचन कहा—जय है, अहो जय है, सर्वार्थसिद्ध कुमार की। सब आसन से उठ कर अंजलि बाँध कर, बोधिसत्त्व को नमस्कार कर, राजा शुद्धोदन से बोले—महाराज, लाभ हैं आपके, अत्यन्त सुलाभ हैं (आपके) जो आपका पुत्र प्रश्नों के पूछे जाने पर इस प्रकार की शीघ्र, त्वरित, तेज और अविलम्बित प्रतिभा वाला है।

34. तदनन्तर उन राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व से यों कहा—बेटा, गणकमहामात्र अर्जुन के साथ संख्या-ज्ञान की कुशलता में तथा गणना की रीति-नीति में क्या प्रवेश कर पार पा सकोगे। बोधिसत्त्व ने कहा—हाँ, देव। (पार पा) सकूँगा। (राजा ने) कहा=113क=तब गिनो।

35. तदनन्तर गणकमहामात्र अर्जुन ने बोधिसत्त्व से यों कहा—कुमार, क्या तुम कोटिशतोत्तर गणना की रीति जानते हो? (बोधिसत्त्व ने) कहा—जानता हूँ। (अर्जुन ने) कहा—कोटिशतोत्तर गणना की रीति में कैसे प्रवेश करना होता है।

36. बोधिसत्त्व ने कहा—

सौ कोटियों का नाम अयुत कहा जाता है।
सौ अयुतों का नाम नियुत कहा जाता है।
सौ नियुतों का नाम कङ्कर कहा जाता है।
सौ कंकरों का नाम विवर कहा जाता है।
सौ विवरों का नाम अक्षोभ्य कहा जाता है।
सौ अक्षोभ्यों का (--148--) नाम विवाह कहा जाता है।
सौ विवाहों का नाम उत्सङ्ग कहा जाता है।
सौ उत्संगों का नाम बहुल कहा जाता है।

सौ बह्लों का नाम नागबल कहा जाता है।
सौ नागबलों का नाम तिटिलंभ कहा जाता है।
सौ तिटिलंभों का नाम व्यवस्थानप्रज्ञाप्ति कहा जाता है।
सौ व्यवस्थानप्रज्ञाप्तियों का नाम हेतुहिल कहा जाता है।
सौ हेतुहिलों का नाम करफु कहा जाता है।
सौ करफुओं का नाम हेत्विन्द्रिय कहा जाता है।
सौ हेत्विन्द्रियों का नाम समाप्तलम्भ कहा जाता है।
सौ समाप्तलम्भों का नाम गणनागति कहा जाता है।
सौ गणनागतियों का नाम निरवद्य कहा जाता है।
सौ निरवद्यों का नाम =113ख= मुद्राबल कहा जाता है।
सौ मुद्राबलों का नाम सर्वबल कहा जाता है।
सौ सर्वबलों का नाम विसंज्ञागति कहा जाता है।
सौ विसंज्ञागतियों का नाम सर्वसंज्ञा कहा जाता है।
सौ सर्वसंज्ञाओं का नाम विभूतंगमा कहा जाता है।
सौ विभूतंगमाओं का नाम तल्लक्षण कहा जाता है।

इस प्रकार तल्लक्षण-गणना से लक्षनिक्षेप क्रिया करें—लाख बार हिसाब लगाएँ तो पर्वतराज सुमेरु का परिक्षय (पूरी तरह खातमा) हो जाता है। इससे ऊपर भी ध्वजाग्रवती नाम की गणना है। जिस गणना में गङ्गानदीपालिकासमा (गंगानदी की रेणुओं जितने पदार्थ) लक्षनिक्षेपक्रिया द्वारा—लाख बार हिसाब करने से परिक्षय को प्राप्त हो सकते हैं। इसके ऊपर भी ध्वजाग्रनिशामणि नाम की गणना है। इसके ऊपर भी वाहन प्रज्ञप्ति नाम की। इसके ऊपर भी इङ्गा नाम की। इसके ऊपर भी कुरुटु नाम की। इसके ऊपर कुरुटावी नाम की। इसके ऊपर सर्वनिक्षेपा नाम की गणना है। इस गणना में दस गङ्गानदीवालिकासमा (दस गङ्गा नदियों के रेणुओं जितने पदार्थ) लक्षनिक्षेपक्रियाद्वारा—लाख बार हिसाब करने से परिक्षय को प्राप्त हो सकते हैं। इसके ऊपर भी अग्रसारा नाम की गणना है जिसमें कोटिशत-गङ्गानदीवालिकासमा (सौ करोड़ गंगा नदियों के रेणुओं के जितने पदार्थ) परिक्षय को प्राप्त हो सकते हैं। इसके ऊपर भी परमाणुरजःप्रवेशानुगता नाम की गणना है अर्थात् ऐसी गणना है जिससे परमाणुओं के बराबर के रजःकणों की संख्या में प्रवेश कर उनका अनुगमन किया जा सकता है—उनका हिसाब लगाया जा सकता है। =114क= तथागत को, बोधि के श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के सार तक पहुँचे हुए तथा सब धर्मों के अभिषेक के योग्य बोधिसत्त्व को छोड़ कर और कोई प्राणी (--149--) प्राणियों के समूह में नहीं है, जो इस गणना को जानता हो।

इसके अतिरिक्त मुझे तथा मेरे जैसे, इसी प्रकार अन्तिम जन्म ग्रहण करने वाले, घर के निवास को त्याग निकल पड़े हुए बोधिसत्त्व को (छोड़ कर और कोई नहीं है, जो इस गणना को जानता हो)।

37. अर्जुन ने कहा—कुमार, परमाणुरजः प्रवेशगणना में कैसे प्रवेश किया जाता है ? बोधिसत्त्व ने कहा—

सात परमाणुरज (एक) अणु हैं।

सात अणु (एक) त्रुति (त्रुटि) है।

सात त्रुटि एक वातायन रज हैं।

सात वातायन रज एक शशरज है।

सात शशरज एक एड़करज हैं।

सात एड़करज एक गोरज हैं।

सात गोरज एक लिक्षा[7] हैं।

सात लिक्षाएँ[8] (एक) सर्षप (= सरसों) हैं।

सात सर्षपों का (एक) यव होता है।

सात यवों का (एक) अंगुली-पर्व (= अंगुल) होता है।

बारह अंगुलीपर्व या अंगुल (एक) वितस्ति (= बित्ता) होते हैं।

दो वितस्ति या बित्ते (एक) हस्त (= हाथ) होते हैं।

चार हस्त या हाथ (एक) धनुः (=धनुष) ।

चार धनुष (एक) धनुः (····धनुष) होते हैं।

हजार धनुष (एक) मागधक्रोश[9] (अर्थात् मगध देश का प्रचलित कोस) हैं।

चार क्रोश (=कोस) (एक) योजन हैं।

तुम लोगों में से योजनपिण्ड को कौन जानता है ? उसमें कितने परमाणुरज = 114भ = होते हैं ?

38. अर्जुन ने कहा—कुमार, मैं ही भूल-भूलइया में पड़ गया हूँ। तब जो और अल्पबुद्धि के लोग हैं उनका कहना ही क्या ? कुमार बतलाएँ योजनपिण्ड में कितने परमाणुरज होते हैं ? बोधिसत्त्व ने कहा—योजनपिण्ड में अक्ष्योभ्यों के एक नयुत (=खर्व), कोटि—नयुतों के तीस लक्ष, कोटियों के साठ सैकड़े, बत्तीस कोटि, पाँच दशशतसहस्र अर्थात् पाँच गुने दस लाख, बारह सहस्र

---

7. मूल, लिक्षारजः। भोट, स्रो म, लिक्षा।

8. मूल, लिख्याः। पहले इन शब्द का पाठ लिक्षा आया है। भोट, स्रोम।

9. मूल, मार्गध्वजाकोशः। भोट, युल् म ग ध हि ग्यंड‍ ग्रग्स्, मगधक्रोशः। मूलपाठ 'मागधक्रोशः' होना चाहिए।

परमाणुरज होते हैं। इतना योजनपिण्ड होता है। परमाणुरजोनिक्षेप के परमाणुरजों की गिनती के हिसाब के इस प्रवेशद्वारा जम्बूद्वीप सात सहस्र योजन का है। अपरगोदानीय[10] आठ सहस्र योजन का है। पूर्वविदेह नौ सहस्र योजन का है। उत्तरकुरु दश सहस्र योजन का है। इस (गणना के) प्रवेश-द्वारा चार-द्वीपों-वाले लोकधातु को प्रमुख मान कर पूरे सौ कोटि चारों-द्वीपों-वाले लोकधातुओं को त्रिसाहस्र-महासाहस्र--लोकधातु कहते हैं। जो विशाल एवं विस्तृत है, जिसमें सौ कोटि महासागर हैं। सौ कोटि (--150--) चक्रवाल और (सौ कोटि) महाचक्रवाल हैं। सौ कोटि पर्वतराज[11] सुमेरु हैं। सौ कोटि चातुर्महाराजिक देव हैं। सौ कोटि त्रयस्त्रिंश (देव) हैं। सौ कोटि याम (देव) हैं। सौ कोटि तुषित (देव) हैं। सौ कोटि निर्माणरति (देव) हैं। सौ कोटि परनिर्मितवशवर्ती (देव) हैं। सौ कोटि ब्रह्मकायिक (देव) हैं। सौ कोटि ब्रह्मपुरोहित = 115क = (देव) हैं। सौ कोटि ब्रह्मपार्षद्य (देव) हैं। सौ कोटि महाब्रह्मा (देव) हैं। सौ कोटि परीत्ताभ (अर्थात् स्वल्प प्रभावाले देव) हैं। सौ कोटि अप्रमाणाभ (अर्थात् अपरिमित प्रभावाले देव) हैं। सौ कोटि आभास्वर (देव) हैं। सौ कोटि परीत्तशुभ (अर्थात् अल्प पुण्यवाले देव) हैं। सौ कोटि अप्रमाणशुभ (अर्थात् अपरिमित-पुण्य-वाले देव) हैं। सौ कोटि शुभकृत्स्न (अर्थात् पूरे पुण्य वाले देव) हैं। सौ कोटि अनभ्रक (देव) हैं। सौ कोटि पुण्य-प्रसव (देव) हैं। सौ कोटि बृहत्फल (देव) हैं। सौ कोटि असंज्ञि-सत्त्व (देव) हैं। सौ कोटि अवृह (=अमहान् देव) हैं। सौ कोटि अतप (देव) हैं। सौ कोटि सुदृश (देव) हैं। सौ कोटि अकनिष्ठ देव हैं। उस (त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातु में परमाणुरज) जितने सैकड़ों योजन जितने सहस्रयोजन, जितने कोटि योजन, जितने नयुत योजन, यहाँ तक कि जितने योजन अग्रसारा-गणना से होते हैं वे सब कितने परमाणुरज होते है, ऐसा (कोई कहे तो) कहना होगा कि इनकी गिनती संख्याओं द्वारा की जाने वाली गिनती से परे है, इसलिए उन्हें असंख्येय कहा जाता है। इसलिए त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातु में जो परमाणुरज हैं वे सर्वथा असंख्येय हैं।

39. = 115ख = बोधिसत्त्व ने जब इस गणना के अध्याय का (इस प्रकार) व्याख्यान किया तब गणकमहामात्र अर्जुन तथा संपूर्ण शाक्यगण संतुष्ट हुए, हर्ष से भर गए, मन में फूले न समाये, प्रमुदित हुए, अचरज में भर गए,

---

10. मूल, गोदानीयः। भोट, **नुब् क्यि ब लङ् स्प्योद्**, अपरगोदानीयः।
11. मूल, पर्वतरजानां। भोट, **रि हि, ग्यंल् पो**, पर्वतराज। मूल में राजानां का प्रामादिक पाठ रजानां हो गया है।

अद्‍भुत भाव से ओत-प्रोत हो गए। वे सब एक-एक वस्त्र पहने रह गए और शेष वस्त्रों तथा आभूषणों से बोधिसत्त्व को आच्छादित कर दिया।

40. (–151–) तदनन्तर गणकमहामात्र अर्जुन ने ये दो गाथाएँ कहीं—

(गणकमात्र अर्जुन की गाथाएँ)

(छंद वसन्ततिलका)

कोटीशतं च अयुता अयुतास्तथैव[12]
नियुता नु कङ्करगती तथ बिम्बराश्च।
अक्षोभिणी परम ज्ञानु न मे स्त्यतोर्ध्वं[13]
मत उत्तरे गणनमप्रतिमस्य ज्ञानं ॥361॥

सौ कोटि अयुत होते हैं, उसी प्रकार अयुत, नियुत, कङ्कर, बिम्बर तथा अक्षोभिणी (शतोत्तर) होते हैं। मेरे ज्ञान की परम (सीमा) यही है, इससे ऊपर नहीं। इससे ऊपर की गणना में अनुपम (बोधिसत्त्व) का ज्ञान है।

इसके अतिरिक्त, हे शाक्यों,

(छंद औपच्छन्दसिक)

त्रिसाहस्रि[14] रजाश्च यन्तका[14]
तृष वन ओषधियो जलस्य बिन्दून्।
हुंकारेण न्यसेय एकिनैषो
किं पुनि विस्मयु पञ्चभिः शतेभिः ॥362॥

त्रिसाहस्र (–महासाहस्र-लोक धातु) में, जितने (परमाणुओं के) रज हैं, तिनके हैं, वन हैं, औषधियाँ हैं, जल के बूँद हैं, उनको ये (बोधिसत्त्व) एक हुँकार में अर्थात् हुँ को एक-बार कहने में जितना समय लगता है उतने समय में गिन सकते हैं, फिर पाँच सौ (हुँ-के क्षणों) में (गिन डालें तो) अचरज ही क्या?

---

12. मूल, नयुतस्तथैव। भोटानुसार पाठ अयुतस्तथैव। यही ठीक है। पूर्ण चरण भोट में यों है—ब्ये ब ग्र्य न थेर् .ह्.बुम् थेर् .ह्.बुम् दे ब्शिन् दु, काटीशतं (च) अयुता अयुतस्तथैव।

13. मूल, अतोऽर्थं। भोट, दे गोङ्, तत ऊर्ध्वम्। मूल पाठ निश्चय ही अतोर्ध्वं था।

14····14. मूल, रजाश्चयन्तका। शुद्धपाठ रजाश्च यन्तका (= रजांसि च यावन्ति) होना चाहिए। तुलनीय भोट, दुल् वङ जि स्ञेद् योद् प वङ्, रजांसि च यावन्ति सन्ति। यन्तक के लिए पालि यत्तक संस्कृत यावत्क तुल्नीय हैं।

41. उस समय लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ मारीं, ठहाके छोड़े। आकाश में स्थित देवपुत्रों ने यह गाथा कही।

(देवपुत्रगाथा, छंद वसन्ततिलका)

यावन्त सत्त्व निखिलेन त्रियध्व युक्ताः
चित्तानि चैतसिक संज्ञि वितर्कितानि।
हीनाः प्रणीत तथ संक्षिप विक्षिपा ये
एकस्मि चित्तपरिवर्ति प्रजानि सर्वान् ॥363॥

तीनों कालों में मिलकर जितने प्राणी (हो सकते) हैं (तथा उनके जितने) चित्त, चैत्त (=चित्तवृतियाँ) संज्ञाएँ (=सविकल्पक ज्ञान), और वितर्क हीन, उत्तम, संक्षिप्त, एवं विस्तृत (प्रकार के हो सकते) हैं, उन्हें ये चित्त के एक परिवर्त में जान सकते हैं।

42. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सब शाक्यकुमार = 116क=पराजित हो गए। बोधिसत्त्व ही विशिष्ट निकले। उसके बाद लंघित में अर्थात् लंबी कूद में प्लवित में अर्थात्, ऊँची कूद में, जवित में अर्थात् तेज-दौड़ में बोधिसत्त्व ही विशिष्ट हुए। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने ये गाथाएँ कहीं—

(देवपुत्रगाथाएँ)

(छंद पुष्पिताग्रा)

व्रततपसगुणेन संयमेन
क्षमदममैत्रबलेन कल्पकोट्यः।
अथ कृतु लघु कायचित्त नेता
तस्य जवस्य विशेषतां शृणोथ ॥364॥

व्रत तथा तपश्चर्या के गुण से, संयम से, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, तथा मैत्री के बल से काय एवं चित्त को लघु (हलका) करके करोड़ों कल्प (जिन्होंने) बिताए हैं, उनके वेग की विशेषता को सुनो।

(छंद मालिनी)

(–152–) इह गृहगत युष्मे पश्यथा सत्त्वसारं
अपि च दशसु दिक्षु गच्छतेऽयं क्षणेन।
अपरिमितजिनानां पूजनामेष कुर्वन्
मणिकनक विचित्रैर्लोकधातुष्वनन्ता ॥365॥

यहाँ पर तुम-सब (इन) इन श्रेष्ठ (बोधि) सत्त्व को घर में विराजमान देखते हो। फिर भी ये क्षण-क्षण में दसों दिशाओं में (स्थित) अनन्त लोक-

धातुओं में (वर्तमान) अपरिमित बुद्धों की विचित्र मणियों एवं सुवर्णों से पूजा करते हुए जाते-रहते हैं।

(छंद पुष्पिताग्रा)

न च पुन गति आगतिं च अस्या
यूयं प्रजानथ तावदृद्धि प्राप्तो।
कोऽत्र जविति विस्मयो जनेया
असदृश एष करोथ गौरवोऽस्मिन् ॥366॥

(इन्हें) उतनी ऋद्धि प्राप्त है कि तुम-सब इनके आने-जाने को नहीं जान (सक) ते हो। (तब) इस वेग में यहाँ किसको विस्मय हो सकता है। इनकी बराबरी नहीं हो सकती। इनके प्रति गौरव करो।

इस प्रकार से बोधिसत्त्व ही विशिष्ट (सिद्ध) हुए।

43. तब शाक्यों ने कहा। युद्धविषय में जान लेना चाहिए कि कुमार विशिष्ट हैं (या नहीं)? उस (अवसर) पर बोधिसत्त्व एक ओर खड़े हो गए =116ख= और वे पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ युद्ध करने लगे। इस प्रकार (भी जब बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए तब) बत्तीस शाक्यकुमार मल्लयुद्ध (=कुश्ती) के लिए खड़े हुए। उस समय नन्द और आनन्द कुश्ती के लिए बोधिसत्त्व के सम्मुख आ डटे। उन्हें बोधिसत्त्व ने ज्यों ही हाथ से छुआ त्यों ही वे बोधिसत्त्व के तेज और बल को न सह पा कर धरती पर गिर पड़े। उसके बाद गर्बीले, अभिमानी, बलवान् एवं अकड़वाले,[15] बल के अभिमान से तथा शाक्यकुल के अभिमान से अकड़े हुए[15], बोधिसत्त्व के साथ स्पर्धा करते हुए कुमार देवदत्त समूचे रंगमण्डल (=अखाड़े) की प्रदक्षिणा कर खिलाड़ी-पना दिखाते हुए बोधिसत्त्व पर झपटे। इस पर बोधिसत्त्व बिना घबराए-बिना झट-पटाहट किये ही कुमार देवदत्त को लीला के साथ अपने दाहिने हाथ से पकड़ कर तीन बार आकाश में घुमा कर अभिमान मिटाने के लिए अहिंसा की भावना तथा मैत्री के चित्त से धरती पर डाल दिया, पर शरीर में चोट न लगी।

44. तदनन्तर बोधिसत्त्व ने भी कहा। इस लड़-झगड़ से क्या? सब लोग एक होकर अब कुश्ती लड़ने आ जाओ। (–153–) तब वे सब हर्षित होकर बोधिसत्त्व पर झपटे। बोधिसत्त्व ने =117क= छू भर दिया। वे बोधिसत्त्व

15····15. मूल, शाक्यमानेन च तब्धो॰। भोट, स्तोब्स् क्यि ङ-ग्र्यल् बङ् शाक्यहि. ङ-ग्र्यल् बङ् स्मेम्स् प, बलमानेन शाक्यमानेन च स्तब्धः।

की श्री, तेज, शरीर-बल तथा दृढ़ता को न सह पा कर छूने के साथ ही साथ धरती पर गिर पड़े। लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों हो-हीकार किए, किलकारियाँ मारीं, ठहाके छोड़े। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने पुष्पों की महावर्षा कर एक स्वर से ये गाथाएं कहीं—

(देवपुत्र-गाथाएँ, छन्द वसन्ततिलका)

यावन्त सत्त्वनयुता दशसू दिशासू
ते दुष्टमल महनग्नसमा भवेयुः।
एकक्षणेन निपतेयु (=निपतेत्व)[16] नरर्षभस्य
संस्पृष्टमात्र निपतेयु क्षितीतलेस्मि ॥367॥

दसों दिशाओं में जितने खर्ब-खर्ब प्राणी हैं, वे यदि महानग्न (महाबली रुद्र) के समान प्रतिपक्षी मल्ल (पहलवान) हों तो भी आक्रमण कर एक क्षण में श्रेष्ठ पुरुष के छूने भर से ही भूतल पर गिर पड़ेंगे।

मेरुः सुमेरु तथा वज्रकचक्रवाडाः
ये चान्य पर्वत क्वचिद् दशसू दिशासु।
पाणिभ्य गृह्य मसिचूर्णनिभां प्रकुर्यात्
को विस्मयो मनुजआश्रयके असारे ॥368॥

मेरु या सुमेरु, तथा वज्र-मणिमय चक्रवाल (अर्थात् लोकालोक पर्वत) एवं जो अन्य पर्वत दसों दिशाओं में कहीं पर हैं, उन्हें हाथों से पकड़ कर (ये बोधि-सत्त्व) काजल के चूरा जैसा कर सकते हैं, फिर सार-हीन मनुष्य-शरीर के विषय में अचरज ही क्या ?

एषो द्रुमेन्द्रप्रवरे महदुष्टमल्लं
मारं ससैन्य सबलं [17]सहयं ध्वजाग्रे[17]।
मैत्रीबलेन विनिहत्य हि कृष्णबन्धुं
यावत् पृसिष्यति अनुत्तर बोधि सान्तं ॥369॥

---

16. निपतेयु इस पद का प्रयोग तीसरे तथा चौथे दोनों पादों में हैं। दोनों स्थानों पर वही अर्थ हो तो एक पुनरुक्त है और सम्भवतः अपपाठ है। भोट में प्रथम का अनुवाद **रुब् ग्युर् क्यङ्** (आक्रम्य,–धावित्वा) है तथा दूसरे का (पंक्ति 10) अनुवाद **ह् ग्येल् बर् ग्युर्** (निपतेयुः, अधः पतिता भवेयुः) है। सम्भवतः निपतेयु (पंक्ति 9) निपत्य का ही अपभ्रंश है। निपतेत्व पाठ उचिततर तथा स्पष्ट होता।

17....17. सहयं ध्वजाग्रे का भोटानुवाद **ग्र्यल् म्छन् स्ङर् ब्चस् प** (ध्वजाग्रसहितं) है। जान पड़ता है सहयं शब्द का हय के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं

ये श्रेष्ठ वृक्षों के राजा (पीपल के वृक्ष) के नीचे महान् प्रतिपक्षी मल्ल, कृष्ण-बन्धु (= पाप के भाई) आगे-आगे ध्वजा से युक्त सेना-बल समेत, मार को जीत कर अनुत्तर एवं शान्त बोधि को स्पर्श करेंगे।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए।

45. इसके अनन्तर दण्डपाणि ने शाक्यकुमारों से यह कहा। यह जान लिया और देख लिया। अब बाण फेंकने (की कला) का प्रदर्शन करो। उस समय आनन्द की = 117ख = दो कोस की दूरी पर (–154–) लोहे की बनी भेरी लक्ष्य बना कर स्थापित की गई थी। उसके अनन्तर देवदत्त की बनी भेरी चार कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी। सुन्दरनन्द की लोहे की बनी भेरी छह कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी। दण्डपाणि की लोहे की बनी भेरी दो योजन की दूरी पर स्थापित की गई थी। बोधिसत्त्व की लोहे की बनी भेरी दस कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी। उसके बाद सात ताल (वृक्षों के बराबर) ऊँची लोहे की बनी यन्त्र से युक्त वराह की प्रतिमा स्थापित की गई थी। तब आनन्द ने दो कोस पर की भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ़ सके। देवदत्त ने चार कोस पर स्थित भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ़ सके। सुन्दरनन्द ने छह कोस पर स्थित भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ़ सके। दण्डपाणि ने दो योजन पर स्थित भेरी पर चोट की और उसे भेद डाला, पर आगे न बढ़ सके। (उस समय) वहाँ पर बोधिसत्त्व को जो-जो धनुष दिया जाता था वह-वह (चढ़ाने पर) टूट जाता था। इस कारण=118क=बोधिसत्त्व ने कहा। हे देव, इस नगर में क्या और कोई धनुष है जो मेरा आरोपण (अर्थात् प्रत्यंच का दोनों कोटियों पर चढ़ाया जाना) तथा शरीर-बल के सामर्थ्य को सहन कर सके? राजा ने कहा। हे पुत्र। कुमार ने कहा। हे देव। वह कहाँ है? राजा ने कहा—तुम्हारे पितामह सिंहहनु नाम के थे। उनका जो धनुष था वही इस समय [18]देव-कुल (=मंदिर) में सुगन्ध और पुष्पों से पूजा जाता है। उस धनुष को कोई चढ़ा ही नहीं पाता, खींचने की तो बात ही क्या? बोधिसत्त्व ने कहा—देव, वह धनुष मँगाइए, उसकी हम परीक्षा करना चाहते हैं।

46. तब ज्यों ही धनुष लाया गया त्यों ही सब शाक्यकुमार अत्यन्त यत्न से परिश्रम करते हुए उस धनुष का न चढ़ा सके, खींचने की तो बात ही क्या?

है। सह शब्द के आगे यं फिर भी विचारणीय है। साकं की छाया पर बने सहकं से सहयं व्युत्पन्न जान पड़ता है।

18. मूल, तर्हि। भोट, द ल्तर्, एर्तहि, इस समय।

तब वह धनुष दण्डपाणि शाक्य के पास लाया गया। तदनन्तर दण्डपाणि शाक्य अपने कायबल का पूरा सामर्थ्य लगा कर उस धनुष को चढ़ाने लगे, पर न चढ़ा सके। यों (क्रम से वह धनुष) बोधिसत्त्व के पास लाया गया। (--155--) उसे ले कर आसन से बिना उठे ही, आधी पलथी मार, बाएँ हाथ से पकड़ कर, बोधिसत्त्व ने दाहिने हाथ की एक उँगली के अगले पोर से चढ़ा दिया। चढ़ाए जाते हुए धनुष के शब्द से सम्पूर्ण कपिलवस्तु महानगर में विज्ञापन हो गया। सब नागरिक=118ख=लोग विह्वल हो एक-दूसरे से पूछने लगे, यह ऐसा शब्द किसका है। और लोगों ने कहा। कुमार सिद्धार्थ ने अपने पितामह का धनुष चढ़ाया है। उसका यह शब्द है। तब लाखों देवताओं तथा मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ मारीं, ठहाके छोड़े। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने राजा शुद्धोदन से तथा लोगों की उस बड़ी भीड़ से गाथा-द्वारा कहा—

(देवपुत्रगाथा, छंद तोटक)

यथ पूरित एष धनुर्मुनिना
न च उत्थितु आसनि नो च भुमी।
निःसंशयु पूर्णमभिप्रायु मुनिर्
लघु भेष्यति जित्व च मारचमूं ॥370॥

जिस प्रकार (इन) मुनि ने इस धनुष को बिना आसन से तथा बिना भूमि से उठे ही पूर्ण किया है, (उसी प्रकार) ये निःसन्देह (अपने) मनोरथ को पूर्ण कर शीघ्र ही मारसेना को जीत कर बुद्ध होंगे।

47. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने बाण लेकर धनुष पर चढ़ा कर वैसे बल-सामर्थ्य से उस बाण को फेंका कि वह बाण जो-जो जहाँ-जहाँ आनन्द की, देवदत्त की,—सुन्दरनन्द की, यहाँ तक कि—दण्डपाणि की भेरी थी, उन सब को भेद कर दस कोस दूरी पर स्थित अपनी लोहे की बनी भेरी तथा सात ताल ऊँची यन्त्र-युक्त वराह-प्रतिमा को (भी) भेद कर भूतल में समा कर (ऐसा) अदृश्य हुआ कि उसकी झलक भी न दीख पड़ी। जिस स्थान पर वह बाण भूतल भेद कर भीतर घुस गया था उस स्थान पर कुआँ हो गया, जो आज भी =119क=शरकूप कहलाता है। उस (अवसर) पर लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों बार ही-हीकार किया, किलकारियाँ मारीं, ठहाके छोड़े। समूचे शाक्यगण को विस्मय हुआ, आश्चर्य लगा। अहो, आश्चर्य है (--156--) कि इन्होंने योग्य (विद्या-सिद्धि) न की (फिर भी इनकी) यह ऐसी शिल्प में चतुरता। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने राजा शुद्धोदन से तथा लोगों की

उस बड़ी भीड़ से इस प्रकार कहा। हे मनुष्यों, इसमें विस्मय कौन ? वह किसलिए ?

(देवपुत्रगाथा, छन्द मालिनी)

एष (हि) धरणिमण्डे पूर्वबुद्धासनस्थः
समथ धनु गृहीत्वा शून्यनैरात्मवाणैः।
क्लेश (?किलिश) रिपु निहत्वा दृष्टिजालं च भित्त्वा
शिवविरजमशोकां प्राप्स्यते बोधिमग्र्यां ॥371॥

ये पृथिवी के सार (–भूत गया मंगल में) पूर्व के बुद्धों के आसन पर बैठ, शान्ति के धनुष को पकड़ कर शून्यता तथा नैरात्म्य के बाणों से, क्लेश-शत्रुओं को मार कर, दृष्टियों के जाल को भेद कर, रजोहीन, कल्याण, शोकरहित, उत्तम बोधि को प्राप्त करेंगे।

ऐसा कह कर वे देवपुत्र बोधिसत्त्व को दिव्य पुष्पों से आच्छादित कर चले गए।

48. इस प्रकार जैसे पहले वर्णन किया गया है उसी प्रकार लौकिक तथा देवताओं और मनुष्यों के (ज्ञान से) परे (अलौकिक) इन सब (अनन्तरोक्त) शिल्प-कलाओं में बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए—

1. लंघित में अर्थात् लंबी कूद में।
2. लिपि मे अर्थात् अक्षरविद्या में।
3. मुद्रा में अर्थात् हस्तरेखाविद्या में।
4. गणना में अर्थात् गणितशास्त्र में।
5. संख्या में अर्थात् अंकशास्त्र में।
6. सालम्भ में अर्थात् मल्लविद्या में।
7. धनुर्वेद में अर्थात् दूरवेधविद्या में[19]।
8. जवित में अर्थात् दौड़ में।
9. प्लवित में अर्थात् ऊँची कूद में।
10. तरण में अर्थात् तैरने में।
11. इष्वस्त्र में अर्थात् बाणविद्या में।
12. हस्तिग्रीवा में अर्थात् हाथी की सवारी में।

---

19. मूल, धनुर्वेदे। भोट, **ग्र्यंङ् नस् फोग् प**, दूरवेध। इस प्रकरण में धनुर्वेद, इष्वस्त्र, धनुष्कलाप तीन शब्द पर्याय होते हुए भी अर्थ में कुछ-कुछ भिन्न हैं।

13. अश्वपृष्ठ में अर्थात् घोड़े की सवारी में।
14. रथ में अर्थात् रथ चलाने में ।
15. धनुष्कलाप में अर्थात् धनुर्विद्या सम्बन्धी युक्तियों में।
16. स्थैर्य-स्थाम में अर्थात् स्थिरता एवं सामर्थ्य में।
17. सुशौर्य में अर्थात् शूरता-वीरता में।
18. बाहुव्यायाम में अर्थात् बाहों की कसरत में =119ख=
19. अङ्कुशग्रह में अर्थात् महावत की विद्या में।
20. पाशग्रह में अर्थात् जाल लगाने की विद्या में।
21. उद्यान में अर्थात् ऊपर आक्रमण में।
22. निर्याण में अर्थात् आगे निकलने में।
23. अवयान में अर्थात् पीछे हटने में।
24. मुष्टिग्रह में अर्थात् मुट्ठी की पकड़ में।
25. पदबन्ध में अर्थात् विशेष विधि से क़दम रखने में।
26. शिखाबन्ध में अर्थात् जूड़ा बाँधने में।
27. छेद्य में अर्थात् काटने की कला में।
28. भेद्य में अर्थात् बींधने की कला में।
29. दाल्न (दारण) में अर्थात् छेद करने की कला में।
30. स्फाल्न में अर्थात् उछालने की कला में।
31. अक्षुण्णवेधित्व में अर्थात् बिना वेदना किए बींधने में।
32. मर्मवेधित्व में अर्थात् मर्म के बींधने में।
33. शब्दवेधित्व में अर्थात् शब्द सुन कर लक्ष्य बींधने में।
34. दृढ़प्रहारित्व में अर्थात् दृढ़ आघात करने में।
35. अक्षक्रीड़ा में अर्थात् द्यूत खेलने में।
36. काव्यकरण में अर्थात् कविता की रचना में।
37. ग्रन्थ में अर्थात् गद्य-पद्य की प्रबन्ध रचना में।
38. चित्र में अर्थात् चित्र कला में।
39. रूप में अर्थात् रूप के बोध में।
40. रूपकर्म में अर्थात् रूप के निर्माण में।
41. (अ-) धीत में अर्थात् अध्ययन-कार्य में।
42. अग्निकर्म में अर्थात् अग्नि उत्पन्न करने की युक्तियों में।
43. वीणा में अर्थात् वीणा के बजाने में।
44. वाद्य में अर्थात् सब प्रकार के बाजे बजाने में।
45. नृत्य में अर्थात् नाच की कला में।

46. गीत में अर्थात् गानविद्या में।
47. पठित में अर्थात् ग्रंथ बाँचने की कला में।
48. आख्यान में अर्थात् इतिहास तथा कहानी कहने में।
49. हास्य में अर्थात विनोद करने में।
50. लास्य में अर्थात् सुकुमार नृत्य में।
51. नाट्य में अर्थात् अभिनय-कला में।
52. विडम्बित में अर्थात् स्वांग बनाने में।
53. माल्यग्रंथन में अर्थात् माला गूँथने में।
54. संवाहित में अर्थात् संवाहन या अंगों से दबाने की कला मे।
55. मणिराग में अर्थात् श्वेत मणियों को रँगने में।
56. वस्त्रराग में अर्थात् कपड़ों को रंगने में।
57. मायाकृत में अर्थात् जादूगरी या इन्द्रजाल विद्या में।
58. स्वप्नाध्याय में अर्थात् स्वप्न के फल कहने में।
59. शकुनिरुत में अर्थात् पक्षियों की बोली तथा उसके शुभाशुभ फल कहने में।
60. स्त्री लक्षण में अर्थात् स्त्री के शरीर चिह्नों से भाग्य कहने में।
61. पुरुष लक्षण में अर्थात् पुरुष के शरीर चिह्नों से भाग्य कहने में।
62. अश्वलक्षण में अर्थात् घोड़े के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
63. हस्तिलक्षण में अर्थात् हाथी के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
64. गोलक्षण में अर्थात् गाय-बैल के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
65. अजलक्षण में अर्थात् बकरा-बकरी के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
66. मिशृलक्षण (मेषलक्षण) में[20] अर्थात् भेड़ा-भेड़ी के खरे-खोटे फल के लक्षण कहने में।
67. श्वरलक्षण (=श्वलक्षण) में[21] अर्थात् कुत्ता-कुत्तियों के खरे-खोटे फल के लक्षण कहने में।
68. कौटुभ (=कल्पविद्या) में अर्थात् श्रौत तथा गृह्य कर्मकाण्ड में।

---

20. मूल, मिशृलक्षणे। मिशृ यहाँ मेष का अपभ्रंश है। तुलनीय भोट, **लुग्गि मृछन्** (मेषलक्षणे)। प्रो० एड्जेर्टन् इसे मिण्ढ (=मेढ़ा) की विरूपता समझते हैं। वैद्य जी ने इसे मिश्रलक्षण कर डाला है।

21. मूल, श्वरलक्षणे वस्तुतः श्वलक्षणे का भ्रष्ट पाठ है। तुलनीय भोट, **ख्यि हि. मृछन्** (श्वलक्षणे) द्र० बु० हा० सं० डि० कौटभ (पृष्ठ 193) शब्द पर। मूल ग्रन्थ में कौटुभे पूर्व में है तथा श्वरलक्षणे तदनन्तर है। लेफ़मन तथा वैद्य इन दोनों पदों को पृथक् नहीं करते। यह असाधारण भूल है।

69. निर्घण्ट (= निघण्टु) अर्थात् पदसंकलनात्मक कोशशास्त्र में।
70. निगम में अर्थात् मन्त्र-वचनों में।
71. पुराण में अर्थात् पुरावृत्ति विद्या के पुराण नामक ग्रन्थ समूह में।
72. इतिहास में अर्थात् देव, ऋषि, नृप आदि के चरित्रों में।
73. वेद में अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् ग्रन्थों में विभक्त वाङ्मय में।
74. व्याकरण में अर्थात् शब्दों के वर्गीकरण तथा प्रकृतिप्रत्यय द्वारा विवेचन की विद्या में।
75. निरुक्त में अर्थात् निर्वचन-शास्त्र में।
76. शिष्या (= शिक्षा) में अर्थात् वर्णोच्चारण–विद्या में।
77. छन्दस्विनी में अर्थात् छन्दो विचिति नामक छन्दः शास्त्र में।
78. यज्ञकल्प में अर्थात् यज्ञों की विधि में।
79. ज्योतिष में अर्थात् नक्षत्रों तथा उनके शुभाशुभ फलों की विद्या में।
80. सांख्य में अर्थात् तत्त्वों को गिन कर बतलाने की विद्या में =120क= ।
81. योग में अर्थात् ध्यान-समाधि की विद्या में।
82. क्रियाकल्प में अर्थात् शृंगार करने की विद्या में।
83. वैशिक में अर्थात् गणिकाओं के मायाजाल की विद्या में।
84. वैशेषिक में अर्थात् वैशेषिक-शास्त्र में।
85. अर्थविद्या में अर्थात् अर्थ के अर्जन एवं पालन की विद्या में।
86. बार्हस्पत्य में अर्थात् बृहस्पति के बनाए नीति शास्त्र में।
87. आम्भिर्य में अर्थात् वृष्टि विद्या में।
88. आसुर्य में अर्थात् असुरों की माया में।
89. मृगपक्षिरुत में अर्थात् पशु-पक्षियों की बोली समझने में।
90. हेतुविद्या में अर्थात् तर्कशास्त्र में।
91. जलयन्त्र में अर्थात् दूर जल फेंकने की यन्त्र-विद्या में।
92. मधूच्छिष्टकृत में अर्थात् मोम (और लाख जैसी वस्तुओं) द्वारा किए जाने वाले शिल्प में।
93. सूचीकर्म में अर्थात् सिलाई और कढ़ाई के शिल्प में।
94. बिदलकर्म में अर्थात् नक्काशी (बर्को बूशोग्) के कार्य में।
95. पत्रच्छेद्य में अर्थात् मुख पर शृंगारार्थ फलपत्ते काढ़ने में।
96. गन्धयुक्ति में अर्थात् तेल आदि को सुगन्धित करने के उपाय में।

तथा (–157–) इसी प्रकार की जो-जो कलाएँ हैं (उन सब शिल्प कलाओं) में।

49. तब फिर उस समय दण्डपाणि शाक्य ने अपनी बेटी गोपा नाम की

शाक्यकुमारी को बोधिसत्त्व के लिए अर्पित किया और राजा शुद्धोदन ने (विवाह-विधि के) क्रम से उसका बोधिसत्त्व के लिए वरण किया।

50. वहाँ बोधिसत्त्व चौरासी हज़ार स्त्रियों के बीच रहते हुए अपने-आप को जैसे लोक का व्यवहार है वैसे रमते हुए, खेलते हुए, सेवा किए जाते हुए दिखाते थे। उन सब चौरासी हज़ार स्त्रियों की बीच शाक्यकुमारी गोपा पटरानी के रूप में अभिषिक्त थी।

51. वहाँ शाक्यकुमारी गोपा किसी को देख कर मुँह न ढँकती थी, चाहे वह सास हो या ससुर हो, चाहे भीतर का कोई और (स्त्री-पुरुष) व्यक्ति हो। वे खीझते थे और सोचते थे कि नई बहू सिमटी-सिमटी रहती है यह तो सदा खुल्लमखुल्ला रहती है। = 120ख = तब शाक्यकुमारी गोपा ने यह बात[22] सुन कर भीतर के सब लोगों के सामने खड़ी होकर ये गाथाएँ कहीं—

(गोपा की गाथाएँ)

(अवगुण्ठन-प्रथा का प्रत्याख्यान)

विवृतः शोभते आर्य आसनस्थानचङ्क्रमे।
मणिरत्नं ध्वजाग्रे वा भासमानं प्रभास्वरं ॥372॥

आर्य बैठने, उठने, और टहलने में ध्वजा की नोक पर जड़े हुए चमचमाते चमकीले मणिरत्न के समान खुला ही शोभा देता है।

गच्छन् वै शोभते आर्य आगच्छन्नपि शोभते।
स्थितो वाथ निषण्णो वा आर्यः सर्वत्र शोभते ॥373॥

आर्य जाते हुए भी शोभा देता है और आते हुए भी शोभा देता है। आर्य चाहे खड़ा हो, चाहे बैठा हो, सब जगह शोभा देता है।

कथयं शोभते आर्यस्तूष्णींभूतोऽपि शोभते।
कलविङ्को यथा पक्षी दर्शनेन स्वरेण वा ॥374॥

जैसे कलविङ्क (गौरैया) पक्षी रूप में वा स्वर में शोभा देता है, वैसे ही आर्य बोलता हुआ भी शोभा देता है, मौन रहता हुआ भी शोभा देता है।।

---

22. मूल, प्रकृति। भोट, गृतम् (वृत्तान्त)। जान पड़ता है प्रकृति शब्द शायद प्रवृत्ति का पाठान्तर हो। वृत्तान्तपर्याय प्रवृत्ति शब्द ही प्रसिद्ध हैं, प्रकृति शब्द भी यहाँ यही अर्थ बतलाने के लिए है और वह विशेष ध्यान देने के योग्य है। वृत्तान्त के अर्थ में ही प्रकृति शब्द पहले (पृष्ठ 143 पंक्ति 18) भी आया है तथा आगे भी (पृष्ठ 200 पंक्ति 16) आएगा। इन स्थानों पर भी संभवतः शुद्धपाठ प्रवृत्ति ही है।

कुशचीरनिवस्तो वा मन्दचैलः कृशंतनुः ।
शोभते ऽसौ स्वतेजेन गुणवान् गुणभूषितः ॥375॥

वह चाहे कुशचीर पहने हो, चाहे गुदड़ी के वेश में हो, गुणी, गुण से विभूषित दुबला-पतला अपने तेज से शोभा देता है ।

(–158–) सर्वेण शोभते आर्यो यस्य पापं न विद्यते ।
क्रियद्विभूषितो बालः पापचारी न शोभते ॥376॥

आर्य, जिसमें पाप नहीं है, सब (अवस्थाओं) में शोभा देता है । मूर्ख एवं पापाचारी कितना ही बना-ठना क्यों न हों, शोभा नहीं देता ।

(छंद वसन्ततिलका)

ये किल्विषा स्वहृदये मधुरा सुवाचं
कुम्भी विषस्मि परिषिक्तु यथामृतेन ।
दुस्पर्शशैलशीलवत् कथि(?ठि)नान्तरात्म
सर्पस्य वा बिरसु दर्शन तादृशानां ॥377॥

अपने हृदय में जो पापी हैं, अपनी वाणी में जो मीठे हैं, विष के घट जैसे जो अमृत से सींचे हुए हैं, कठोर स्पर्श की पत्थर शिला जैसा जिनका अन्तरात्म कठिन है, वैसे (लोगों) का दर्शन साँप की भाँति निरानन्द है ।

सर्वेषु ते नमिषु सर्वमुपैति सौम्या
सर्वेषु तीर्थमिव सर्वजगोपजीव्यः ।
दधिक्षीरपूर्णघटतुल्य सदैव आर्या
शुद्धात्म दर्शनु सुमङ्गलु तादृशानां ॥378॥

वे सब (लोगों) के प्रति नम्र होते हैं, सौम्य रहते सब के पास पहुँचते हैं, सब (लोगों) के लिए तीर्थ जैसे हैं, सब जगत के आश्रय हैं, (वे) आर्य दूध-दही से भरे घड़ों के समान शुद्धात्मा हैं । वैसे (आर्यों) का दर्शन शोभन-मंगल है ।

यैः पापमित्र परिर्वाजित दीर्घरात्रं
कल्यानमित्ररतनैश्च=121क=परिगृहीताः ।
पापं विवर्जयि निवेशयि बुद्धधर्मे
सफलं सुमङ्गलु सुदर्शनु तादृशानां ॥379॥

जिन्होंने चिरकाल से पापी मित्र दूर कर रखे हैं, कल्याणमित्र-रूपी रत्नों ने जिन्हें अपना रखा है, (जिन्होंने) पाप छोड़ रखा है, बुद्ध-धर्म में (जो) विश्राम ले रहे हैं, वैसे (आर्यों) का शोभन दर्शन सुमंगल है, सफल है ।

ये कायसंवृत सुसंवृतकायदोषाः
ये वाचा-संवृत सदानवकीर्णवाचः।
गुप्तेन्द्रिया सुनिभृताश्च मनः प्रसन्ना:
किं तादृशान वदनं प्रतिछादयित्वा ॥380॥

जो शरीर को संयम से रखते हैं, शरीर के दोषों को जिन्होंने संयम से भली-भाँति रोक रखा है, जो वाणी को बेलगाम नहीं होने देते, सदा (जो) अंटसंट नहीं बोलते, (जो) जितेन्द्रिय हैं, भलीभाँति शान्त हैं, मन से निर्मल हैं, वैसे (लोगों) का मुँह ढाँपने से क्या ?

वस्त्रासहस्र यदि छादयि आत्मभावं
चित्तं च येषु विवृतं न हिरी न लज्जा।
न च येयु ईदृशगुणा नपि सत्यवाक्यं
नग्ने विनग्नतर ते विचरन्ति लोके ॥381॥

कोई हज़ार वस्त्रों से अपने-आप को ढके पर जो मनके नंगे हैं, जिन्हें (मन ही मन) न शरम है न (दुनिया से जिन्हें) लाज है, न जिनमें ऐसे गुण हैं और न सत्यवाणी है, वे इस नंगे जगत में बहुत अधिक नंगे हो कर विचरते हैं।

(–159–) याश्चित्तगुप्त सततेन्द्रियसंयताश्च
न च अन्यसत्त्वमनसा स्वपतीन तुष्टाः।
आदित्यचन्द्रसदृशा विवृतप्रकाशा
किं तादृशान वदनं प्रतिछादयित्वा ॥382॥

जो मन की मालकिन हैं, निरन्तर इन्द्रियों को वश में रखती हैं, अपना दिल किसी-दूसरे से नहीं लगाती, अपने पति से सन्तुष्ट रहती हैं, चाँद और सूरज जैसी खुली—बिना छुपे रहती हैं, उन-जैसी (स्त्रियों) का मुँह ढकने से क्या ?

इसके अतिरिक्त—

जानन्ति आशयु मम ऋषयो महात्मा
परचित्तबुद्धि कुशलास्तथ देवसंघाः।
यथ मह्य शील गुण संवरु अप्रमादो
वदनावगुण्ठनमतः प्रकरोमि किं मे ॥383॥

दूसरों के मन की बातें जानने में चतुर महात्मा ऋषि तथा देवगण मेरे भीतर की बात जानते हैं (तथा) जैसा मुझमें शील है, गुण है, संयम है, साव-धानता है (उसे भी जानते हैं)। फिर मैं अपना मुंह घूंघट से क्यों ढकूं।

52. हे भिक्षुओं, राजा शुद्धोदन ने शाक्यकुमारी गोपा की इन सब इस प्रकार की प्रतिभा दरसाने वाली गाथाओं को सुना। सुन कर सन्तुष्ट हुए, फूले न समाए, आनन्द से हृदय थाम रह गये, प्रमोद में भर गये, उनमें प्रीति उत्पन्न हुई, मन का सुख उपजा =121ख= और अनेक रत्नों से पिरोए हुए दुशाले तथा लाख करोड़ दाम के मुक्ताहार एवं उत्तम जाति के लोहित-मुक्ताओं (अर्थात् लालमणियों) को पिरो कर बनाई सुवर्णमाला से शाक्यकुमारी गोपा को आच्छादित कर यह उदान (हर्षवाक्य) कहा—

(छंद वंशस्था)

यथा च पुत्रो मम भूषितो गुणैः
तथा च कन्या स्वगुणा प्रभासते।
विशुद्धसत्त्वौ तदुभौ समागतौ
समेति सर्पिर्यथ सर्पिण्डे ॥384॥[23]

जैसा मेरा पुत्र गुणों से विभूषित है, वैसे ही कन्या अपने गुणों से शोभा दे रही है। इस प्रकार दोनों शुद्ध मन के परस्पर यों मिले हैं, ज्यों घी और घी का सार परस्पर मिलते हैं।

॥ इति श्रीललितविस्तरे शिल्पसंदर्शनपरिवर्तो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

●

---

23. इस परिवर्त में आई गाथाओं की छाया यों है—
विदितं मम—अनन्ताः कामदोषाः सरणाः सवैराः सशोकाः दुःखमूलानि। भयंकरा विषपत्रसंनिकाशा ज्वलननिभा असिधारया तुल्यरूपा ॥339॥ कामगुणे न मेऽस्ति छन्दरागो न चाहं शोभे स्त्र्यगार-मध्ये। यन्न्वहं वने वसेयं तूष्णीं ध्यानसमाधिसुखेन शान्तचित्तः ॥340॥ संकीर्णे पङ्के पद्मानि विवृद्धिमन्ति, आकीर्णे राजानो नरमध्ये लभन्ते पूजाम्। यदा बोधिसत्त्वाः परिवारवरं लभन्ते, तदा सत्त्वकोटिनयुतान्यमृते विनयन्ति ॥341॥ ये चापि पूर्वका अभूवन् विद्वांसो बोधिसत्त्वाः सर्वे भार्या सुता दर्शितानि स्त्र्यगाराणि हन्त—अनुशिक्षेय—अहमपि गुणेषु तेषाम् ॥342॥ न च प्राकृता मम वधू अनुकूला या स्याद् यस्यां न ईर्यापथ—गुणा सदा सत्यवाक्यम्। या चित्तं ममाभिराध्नोति (=अभिराध्नोति=आनन्दयति) अप्रमत्ता रूपेण जन्मकुल-गोत्रतया सुशुद्धा ॥343॥ स गाथाः लेखं लिखति (स्म) गुणार्थयुक्ताः, या कन्या—ईदृशी भवेन्मम तां वृणीथाः। न ममार्थ प्राकृतजनेनासंवृतेन, यस्या

गुणान् कथयामि मम तां वृन्वीथाः ॥344॥ या रूपयौवनवरा न च रूप-मत्ता माता स्वसा वा यथा वर्तते मैत्रीचित्ता त्यागे रता श्रमणब्राह्मणदान-शीला तां तादृशीं मम वधूं वरयस्व तात ॥345॥ यस्या न मानो न खिलो (= मनसः कठोरता) न च दोषः (= द्वेषः) अस्ति, न च शाठ्यम् ईर्ष्या न च माया न--ऋजुभ्रष्टा (= आर्जवभ्रष्टा)। स्वप्नान्तरेऽपि पुरुषे न परेऽभि-रक्ता तुष्टा स्वकेन पत्या शेते ऽप्रमत्ता ॥346॥ न न गर्विता नापि चोद्धता न प्रगल्भा निर्माना मानविगतापि च चेटीभूता। न च पाने गृद्धा न शब्दे गन्धे निर्लोभा--अभिध्याविगता स्वधनेन तुष्टा ॥347॥ सत्ये स्थिता नापि च चञ्चला नापि भ्रान्ता न चोद्धतोन्नतस्थिता ह्रीवस्त्रछन्ना। न च मङ्गलरता सदा धर्मयुक्ता कायेन वाचा मनसा सदा शुद्धभावा ॥348॥ न च स्त्यानमिद्धबहुला न च मानमूढा मीमांसायुक्ता सुकृता सदाधर्मचारिणी श्वश्र्वां च तस्याः श्वशुरे यथा शास्तृप्रेमा दासीकलत्रजने यादृशम् आत्मप्रेम ॥349॥ शास्त्रे विधिज्ञा कुशला गणिका यथैव, पश्चाद् स्वपिति प्रथममुत्ति-ष्ठति च शय्यायाः। मैत्र्यनुवर्तिनीअकुहा (= अपाषण्डा) पि च मातृभूता, एतादृशीं मे नृपते वधूं वृणीष्व ॥350॥ ब्राह्मणीं क्षत्रियां कन्यां वैश्यां शूद्रां तथैव च। यस्या एते गुणाः सन्ति तां मे कन्यां प्रवेदय ॥351॥ न कुलेन न गोत्रेण कुमारो मम विस्मितः। गुणे सत्ये च धर्मे च तत्रास्य रमते मनः ॥352॥ शुद्धोदनस्य तनयः परमाभिरूपो द्वात्रिंशल्लक्षणधरो गुणतेजो-युक्तः। तेनैता गाथा लिखिता गुणे वधूनां यस्याः गुणाः सन्ति ह्रीमे सा हि तस्य पत्नी ॥353॥ ममैते ब्राह्मण गुणा अनुरूपाः सर्वे स मे पतिर्भवतु सौम्यः सुरूपरूपः। वद कुमारं यदि कार्यं मा खलु विलम्बस्व मा हीन-प्राकृतजनेन भवेद् वासः ॥354॥ यथा मत्तगजेन्द्रगतिमान् पादाङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्रं। सप्त पुर (= प्रकार) परिखा अतिक्रम्य क्षिप्तवान् बहिः सुपुराद् अयं हि ॥355॥ निःसंशयमेव सुमेधा मानबलेन समुच्छ्रितकायान्। संसारपुराद् बहिर्वा--एकः क्षेप्स्यति प्रज्ञाबलेन ॥356॥ मनुष्यलोकेऽथ च देवलोके गन्धर्वलोकेऽप्यसुरेन्द्रलोके। यावन्त्यः काश्चिल्लिपयः सर्वलोके तत्रैष पारंगतः शुद्धसत्त्वः ॥357॥ नामपि यूयं नाहं च तासां लिपीनां जानीमो न चाक्षराणाम्। या एष जानाति मनुष्यचन्द्रो ऽहमत्र प्रत्यक्षो विजेष्यते ऽयम् ॥358॥ ज्ञानस्य शीघ्रता साधु बुद्धं संपरिपृच्छन्तः। पञ्चमात्रशतान्येते ऽधिष्ठिता गणनापथे ॥359॥ ईदृशी चेदं प्रज्ञा बुद्धि-र्ज्ञानं स्मृतिर्मतिः। अद्यापि शिक्षते चायं गणितं ज्ञानसागरः ॥360॥ कोटिशतं च--अयुतो ऽयुतास्तथैव नियुतो नु कङ्करगतिस्तथा बिम्बरश्च।

अक्षोभिणी (इति मे) परमं ज्ञानं न मेऽस्त्यत ऊर्ध्वम् अत उत्तरं गणनम-प्रतिमस्य ज्ञानम् ॥361॥ त्रिसाहस्रे रजांसि च यावन्ति तृणानि वनानि ओषधयो जलस्य बिन्दवः। (तानि) हुंकारेण न्यस्येद् एकेनैव कःपुनर् विस्मयः पञ्चभिः शतैः ॥362॥ यावन्तः सत्त्वा निखिलेन अध्वना युक्ताश् चित्तानि चैतसिकानि संज्ञा वितर्कितानि। हीनानि प्रणीतानि संक्षिप्तानि विक्षिप्तानि (=असंक्षिप्तानि) यानि—एकस्मिंश् चित्तपरिवर्ते जानीयात् सर्वाणि ॥363॥ व्रततपोगुणेन संयमेन क्षमादममैत्रीबलेन कल्पकोटीः। अथ कृत्वा लघु कायचित्तं नेता तस्य जवस्य विशेषतां शृणुत ॥364॥ इह गृहगतं यूयं पश्यत सत्त्वसारम् अपि च दशसु दिक्षु गच्छत्ययं क्षणेन। अपरिमितजिनानां पूजनामेष कुर्वन् मणिकनकैर्विचित्रैर्लोकधातुष्वनन्तेषु ॥365॥ न च पुनर्गतिमागतिं चास्य यूयं प्रजानीथ तावतीं ऋद्धिं प्राप्तः। कोऽत्र जवे—एतस्मिन् विस्मयं जनयेद् असदृश एष कुरुत गौरवमस्मिन् ॥366॥ यावन्तः सत्त्वनियुता दशसु दिशासु ते द्विष्टमल्लमहानग्न (=महा-बलरुद्र) समा भवेयुः। एकक्षणेन निपत्य (=आक्रम्य) नरर्षभस्य संस्पृष्ट-मात्रा निपतेयुः क्षितितले ॥367॥ मेरुः सुमेरुस्तथा वज्रचक्रवाला ये चान्ये पर्वताः क्वचिद् दशसु दिशासु। पाणिभ्यां गृहीत्वा मषिचूर्णनिभान् प्रकुर्यात् को विस्मयी मनुजाश्रयके (=मनुजशरीरे) असारे ॥368॥ एष द्रुमेन्द्रप्रवरे महाद्विष्टमल्लं मारं ससैन्यं सबलं सहितं ध्वजाग्रेण। मैत्रीबलेन विनिहत्य हि कृष्णबन्धुं यावत् स्प्रक्ष्यति-अनुत्तरां बोधिं शान्ताम् ॥369॥ यथा पूरितमेतद् धनुर्मुनिना न चोत्थितम् आसनाद् न च भूमेः। निःसंशयं पूरयित्वाभिप्रायं मुनिर्लघु भविष्यति जित्वा च मारचमूम् ॥370॥ एष (हि) धरणिमण्डे (=धरणिसारे) पूर्वबुद्धासनेस्थः शमथं धनुर् गृहीत्वा शून्यनैरात्म्यबाणैः। क्लेशरिपून् निहत्य दृष्टिजालं च भित्त्वा शिवविरज-समशोकां प्राप्स्यति बोधिमग्रयाम् ॥371॥ विवृतः शोभत आर्य आसन-स्थानचङ्क्रमे। मणिरत्नं ध्वजाग्रे वा (=इव) भासमानं प्रभास्वरम् ॥372॥ गच्छन् वै शोभत आर्य आगच्छन्नपि शोभते। स्थितो वाथ निषण्णो वार्यः। सर्वत्र शोभते ॥ 373॥ कथयञ्छोभत आर्यस्तूष्णींभूतोऽपि शोभते कलविङ्को यथा पक्षी दर्शनेन स्वरेण वा ॥374॥ कुशचीरनिवसितो वा मन्दचैलः कृशतनुः। शोभते ऽसौ स्वतेजसा गुणवान् गुणभूषितः ॥375॥ सर्वेण शोभत आर्यो यस्य पापं न विद्यते। कियद्विभूषितो बालः पापचारी न शोभते ॥376॥ ये किल्विषाः स्वहृदये मधुराः स्ववाचि कुम्भो विषस्य परिषिक्तो यथामृतेन। दुस्पर्शशैलशिलावत् कठिनान्तरात्मानः सर्पस्येव

विरसं दर्शनं तादृशानाम् ॥377॥ सर्वेषु तेऽनंसिषुः सर्वमुपयन्ति सौम्याः सर्वेषु तीर्थमिव सर्वजगदुपजीव्याः। दधिक्षीरपूर्णघटतुल्याः सदैवार्याः शुद्धात्मानः दर्शनं सुमङ्गलं तादृशानाम् ॥378॥ यैः पापमित्राणि परिवर्जितानि दीर्घरात्रं कल्याणमित्ररत्नैश्च परिगृहीताः। पापं व्यवीवृजन् न्यविक्षन् बुद्धधर्मे सफलं सुमङ्गलं सुदर्शनं तादृशानाम् ॥379॥ ये कायसंवृताः सु-संवृतकायदोषाः ये वाक्-संवृताः सदाऽनवकीर्णवाचः। गुप्तेन्द्रियाः सुनिभृताश्च मनः प्रसन्नाः किं तादृशानां वदनं प्रतिच्छाद्य ॥380॥ वस्त्रसहस्रैर्यदि छादयेद् आत्मभावं (=शरीरं) चित्तं च येषां विवृतं न ह्री न लज्जा। न च येषामीदृशगुणा नापि सत्यवाक्यं नग्नं विनग्नतरास्ते विचरन्ति लोके ॥381॥ याश्चित्तगुप्ताः सततेन्द्रियसंयताश्च न चान्यसत्त्वमनसः स्वपतिना तुष्टाः। आदित्यचन्द्रसदृशा विवृतप्रकाशाः किं तादृशीनां वदनं प्रतिच्छाद्य ॥382॥ जानन्त्याशयं मम ऋषयो महात्मानः परचित्तबुद्धिकुशलास्तथा देवसंघा। यथा शीलं गुणः सवरो ऽप्रमादो वदनावगुण्ठनमतः प्रकरोमि किं मे ॥383॥ यथा च पुत्रो मम भूषितो गुणैस् तथा च कन्या स्वगुणैः प्रभासते। विशुद्धसत्त्वौ तदुभौ समागतौ समेति सर्पिर्यथा सर्पिर्मण्डे ॥384॥

307

॥ १३ ॥

॥ संचोदनापरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 159 (पंक्ति 19)—185 (पंक्ति 17)
भोटानुवाद 121ख (पंक्ति 3)—141क (पंक्ति 7)

309

॥ १३ ॥

॥ संचोदनापरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार जब बोधिसत्त्व अन्तःपुर में रहने लगे तब अपनी-अपनी हर्षध्वनि करते हुए वे अनेक देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किनर, महोरग (–160–) इन्द्र, ब्रह्मा, तथा लोकपाल वहाँ जाया करते थे, जिनकी बोधिसत्त्व की पूजा करने में उत्सुकता हुआ करती थी।

2. तब किसी दूसरे समय हे भिक्षुओं, बहुत से देवताओं, नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुड़ों, किनरों, महोरगों, इन्द्रों और ब्रह्माओं के मन में यह बात आई। =122क = इस सत्पुरुष ने अन्तःपुर में बहुत काल तक रहकर विलम्ब किया है। और ये जो प्राणी लम्बे समय तक चार संग्रह-वस्तुओं के द्वारा, दान के द्वारा, प्रियवचन के द्वारा, अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजनसिद्धि के द्वारा, एवं समानार्थता अर्थात् समान लक्ष्य (में आस्था) के द्वारा (धर्म-भाव में) पक्के हो चुके हैं और (जो ये प्राणी) बोधि प्राप्त कर लेने पर इनके धर्मोपदेश को समझ-बूझ सकेंगे, वे सब धर्म के पात्र (पहले ही) लुप्त हो जाएँगे और ये बोधिसत्त्व पीछे घर से निकल कर अनुत्तर सम्यक्संबोधि प्राप्त करेंगे।

3. तदनन्तर उन लोगों ने गौरव के साथ, पूज्य भाव के साथ, अञ्जलि बाँध कर बोधिसत्त्व को नमस्कार किया और उत्कण्ठा से देखते हुए यह अभिप्राय मन में रख कर खड़े हुए कि वह समय कब आएगा जब हम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ शुद्धसत्त्व को घर से निकलते हुए, उस महान् वृक्षराज के तले बैठ कर, मार को पराजित कर अनुत्तर सम्यक्संबोधि प्राप्त कर विराजमान, [1]तथागत के दसबलों से युक्त, तथागत के चार वैशारद्यों (= निर्भीकताओं) से युक्त, अट्ठारह आवेणिक (=विशेष) बुद्ध धर्मों से युक्त, तेहरे बारह आकार वाले धर्मचक्र को[1] =122ख= प्रवर्तित करते हुए देवताओं, मनुष्यों तथा असुरों के सहित इस लोक को जिसकी जैसी अधिमुक्ति (=श्रद्धा) उसको वैसे ही सुभाषित द्वारा संतुष्ट करते हुए देखेंगे।

4. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व चिरकाल से, असंख्येय कल्पों से लेकर, निरन्तर लगातार सब लौकिक एवं लोकोत्तर धर्मों पर दूसरों के चलाने से नहीं चलते

1····1. दृष्टव्य, महाव्युत्पत्ति अनुच्छेद 7,8,9,64।

आ रहे थे प्रत्युत वे स्वयं सब कुशलों या पुण्यों की मूलभूत धर्मचर्या के आचार्य थे। चिरकाल से वे काल के जानने वाले, वेला के जानने वाले, समय के जानने वाले, भूल-चूक न करने वाले जानकार रहे थे, [2]पाँच अभिज्ञाओं से युक्त रहे थे, ऋद्धिपादों की लीला करने वाले, सब इन्द्रियों में कुशल, [2]काल तथा अकाल के जानकार कालदर्शी[3] महा (= **161** =) सागर की भाँति [4]प्राप्त वेला[4] का अतिक्रमण नहीं करते थे। वे अभिज्ञाओं के ज्ञान के बल से स्वयं ही सब जानते थे कि यह प्रग्रह का-पकड़ का काल है, यह निग्रह का-दण्ड का काल है, यह संग्रह का—मिलाने का काल है, यह अनुग्रह का—दया का काल है, यह उपेक्षा का—चुपचाप रहने का काल है, यह बोलने का काल है, यह मौन रहने का काल है, यह निष्क्रमण का—घर त्यागने का काल है, यह प्रव्रज्या का—संन्यास का काल है, = **123**क = यह स्वाध्याय का काल है, यह योनिशो मनस्कार का—विधिपूर्वक मनन का काल है, यह विवेक का—एकान्त वास का काल है, यह क्षत्रिय—परिषद् में जाने का काल है, यहाँ तक कि यह ब्राह्मणों और गृहपतियों की परिषद् में जाने का काल है, यह देवताओं, नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुड़ों, किंनरों, महोरगों, इन्द्रों, ब्राह्मणों, लोकपालों, भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों, उपासिकाओं की परिषद् में जाने का काल है। यह धर्मदेशना का काल है, यह प्रतिसंलयन का—भीतर कुटी में रहने का काल है। सब जगह, बोधिसत्त्व सब समय काल के जानकार थे, कालेवेषी (= कालावेक्षी)[3] या काल दर्शी थे।

5. फिर इसके अतिरिक्त हे भिक्षुओं, यह धर्मताप्रतिलम्भ है—अर्थात् तथागत—धर्म की मान्यता है कि अन्तिम-जन्म-धारी बोधिसत्त्व के लिए अवश्य ही अन्तःपुर में जाकर दसों दिशाओं की लोकधातुओं में स्थित भगवान् बुद्धों को धर्म की द्वारभूत गाने-बजाने की इन-जैसी ध्वनियों द्वारा प्रेरणा करनी चाहिए।

2....2. द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति, अनुच्छेद 14, 40, 41।

3. मूल, काल्वेषी। यह कालावेक्षी का अपभ्रंश। भोट, दुस् ल ल्त शिङ्, (कालावेक्षी, कालदर्शी)। इस शब्द का प्रयोग पृष्ठ 161 (पंक्ति 11) पर भी है।

4....4. मूल, प्राप्तां वेलां। वेला में श्लेष है। सागर—पक्ष में इसका अर्थ मर्यादा है, काल नहीं। भोट, दुस् रन् प, ठीक समय। यहाँ एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति हो पाई है।

6. इस विषय में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(दशदिग्बुद्धप्रेरणा गाथा, छंद भमरविलसित)

ये सत्त्वाग्रा दशदिग्लोके, तेषु विशेषात् तत्र रति तुरियैः ।=123ख=
गाथा गीता इस रतिमधुरा, संचोदेन्ती नरवरप्रवरं ॥385॥

जो श्रेष्ठ सत्त्व (बुद्ध) दसों दिशाओं में लोक में (विराजमान) थे उनके विशेष (अनुभाव) से वहाँ आनन्द के वाद्यों ने रति (उपजाने वाली), मधुर श्रेष्ठ, पुरुषों में अति श्रेष्ठ पुरुष को प्रेरणा देने वाली, ये गाथाएँ गाईं ।

पूर्वि तुभ्यं अयु कृतु प्रणिधी, दृष्ट्वा सत्त्वान् दुःखशतभरितान् ।
लेनं त्राणं जग-निज-शरणं, भेष्ये नाथो हितकरु परमः ॥386॥

पहले तुमने प्राणियों को सैकड़ों दुःखों से भरा हुआ देख कर यह संकल्प किया था कि मैं जगत् का नित्य-शरण, त्राण, लयन (आलय) एवं हितकर परम नाथ होऊँगा ।

साधो वीर स्मर चरि पुरिमां, या ते आसीज्जगहिवप्रणिधिः ।
कालो वेला अयु तव समयो, निष्क्रम्याही ऋषिवरप्रवरा ॥387॥

हे साधो, हे वीर, पहले की चर्या का तथा जगत् हित के लिए जो संकल्प किया था उसका स्मरण करो । यह तुम्हारा काल है, वेला है, समय है, हे ऋषिवरों में प्रवर ऋषे, घर से निकलो ।

(–162–) यस्यार्थे ते धनवर विविधा, त्यक्ता पुर्वे शिरकरचरणा ।
भेष्ये बुद्धो नरमरुदमको, लोकस्याग्रो गुणशतनिचितः ॥388॥

जिस प्रयोजन के लिए तुमने पहले विविध प्रकार के श्रेष्ठ धनों, (यहाँ तक कि) सिर, हाथ-पैर (आदि अंगों) का दान दिया था (वह प्रयोजन यह था कि मैं) सैकड़ों गुणों से पूर्ण, लोक में सबसे बड़ा, देवताओं और मनुष्यों को विनीत करने वाला बुद्ध होऊँगा ।

त्वं शीलेन व्रततपचरितः, त्वं क्षान्तीये जगहितकरणः ।
त्वं वीर्येणा शुभगुणनिचितो, ध्याने प्रज्ञे न तु समु त्रिभवे ॥389॥

तुमने शीलद्वारा व्रतपालन एवं तपश्चर्या की है, तुमने क्षान्ति (क्षमा) से जगत् का हित किया है, तुमने वीर्य (उद्योग) से शुभ गुणों को जोड़ा-बटोरा है, ध्यान और प्रज्ञा में तुम्हारे समान तीनों भुवनों में नहीं है ।

क्रोधाविष्टा खिलमलबहुला, ते मैत्रीये त्वयि स्फुट सुगता ।
कारुण्यं ते बहुविधमबुधे, मिथ्यात्वेषू शुभगुणरहिते ॥390॥

क्रोध से भभकते हुए, बहुत कठोरता एवं मलिनता वाले जो थे उन्हें हे सुगत, तुमने मैत्री से व्याप्त किया है। शुभ-गुणों से रहित मिथ्या (दृष्टि) वाले, नाना-रंगढंग के अपण्डित (जगत) पर तुम्हारी करुणा है।

पुण्यज्ञाने (?नो) शुभनिचिततात्मा, ध्यानाभिज्ञो प्रतपसि विरजो।
ओभासेसी दश इम दिशतो, मेघामुक्तः शशिरिव विमलः ॥391॥

पुण्यज्ञान वाले, शुभ से भरे आत्मा वाले, रजो (गुण) हीन, ध्यानों से अभिज्ञ, तुम तप रहे हो, इन दसों दिशाओं को मेघों से युक्त चन्द्रमा के समान चमका रहे हो।

एते चान्ये बहुविध रुचिरा, तूर्यैर्=124क=घोषा जिनरुतरवना।
ये चोदेन्ती सुरनरमहितं, निष्क्रम्याहो अयु तव समयु ॥392॥इति॥

बुद्धों के शब्दों को ध्वनित करने वाले, ये तथा दूसरे, बहुत प्रकार के घोष वाद्यों से निकलते थे, जो देवताओं तथा मनुष्यों से पूजित (बोधिसत्त्व) को प्रेरणा देते थे कि यह तुम्हारा समय है, घर से निकलो।

7. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व जिस प्रधान श्रेष्ठ घर में रहते थे, वह सब उपकरणों अर्थात् आवश्यक—वस्तुओं की समृद्धि वाला था, जैसी इच्छा हो वैसे उसमें सुख के साथ अनुकूलता से रहा जा सकता था, वह अमरावती के भवन जैसा प्रकाशमान था, वह वितर्दियों (चबूतरों), निर्यूहों (अटारियों) तोरणों (द्वारा के बाह्य भागों), गवाक्षों (गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों), तथा कूटागारों (सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों) से युक्त श्रेष्ठ अतिश्रेष्ठ प्रासादों (राजनिवास के योग्य भवनों) से संयुक्त था, सब रत्नों की बनी साज-सामग्री से वहाँ नाना प्रकार की सजावट सुघड़ता से की गई थी, ऊँची-ऊँची छतरियों ध्वजाओं पताकाओं तथा अनेक रत्नों की जड़ाऊ किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों से वह विभूषित था, वहाँ लाखों नाना-भाँति की रेशमी धागों से बनी मालाएँ लटक रही थीं, नाना प्रकार के रत्नों से पिरोए मोतियों के हार झूल रहे थे, विविध रत्नों से जड़े पटरों से बने वहाँ पुल थे, रेशम की तथा फूलों की मालाओं के गुच्छे के गुच्छे वहाँ लटक रहे थे, धूपपात्रियों से भली भाँति धूप दी गई थी, अवश्यायपट (अर्थात् ओस रोकने के लिए बने विशेष वस्त्र) के वहाँ चँदवे तने हुए थे, वहाँ सब ऋतुओं के सुन्दर और उत्तम सुगन्ध वाले फूल फैले हुए थे, श्वेत-कमल वन[5] की पुष्करिणियों तथा नलिनियों (अर्थात् लाल कमलों

---

5. मूल नव। भोट में यह शब्द अनूदित नहीं हुआ है। वन पाठ से अर्थ ठीक बैठता है।

की लताओं) के जलाशयों[6] में चारों ओर से खूब आनन्द मनाया जाता था वहाँ पर पत्रगुप्त (=पक्षगुप्त), शुक, सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक, कुणाल (=अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल), कलविङ्क (=चटक वा गौरैया) =124ख= तथा जीवंजीव (=चकोर) आदि नाना प्रकार के पक्षिगण मीठे स्वर से कूजते रहते थे, वैदूर्य—मणि जैसे नीले धरणी-तल का स्थान वहाँ सब ओर से उपभोग में आता था, सब प्रकार के रूप की छाया वहाँ दिखायी पड़ती थी, वहाँ की रमणीयता से आँखों को तृप्ति न होती थी, वहाँ परम प्रीति और प्रमोद उपजा करता था (–163–)। विस्तृत और उत्तम शरण (=छत) वाले भवन में, अमल, विमल, एवं निर्मल-अंग वाले, पुष्प-मालाएँ और आभूषण पहने हुए, अत्यन्त उत्तम सुगन्ध-युक्त अनुलेपन शरीर पर लगाए, शुक्ल वर्ण के मांगलिक निर्मल एवं पवित्र वस्त्र शरीर पर धारण किए हुए, अनेक प्रकार के दिव्य सूक्ष्म भली-भाँति रच-रच करके रखे हुए काचिलिन्द-वस्त्र के समान सुखदायक स्पर्श वाले धूसों (दुशालों) से जिसका प्रत्येक श्रेष्ठ अवयव सजाया गया था ऐसे उत्तम सोने के पलंग के ऊपर लेटे हुए, परम-रूपवती देवाङ्गनाओं के समान सब ओर से अनिन्दनीय और प्रतिकूलभाव रहित दर्शन वाली पवित्र शिष्टाचार का आचरण करने वाली अन्तःपुर की स्त्रियों के बीच विराजते हुए, बोधिसत्त्व शंख, भेरी, मृदङ्ग, पणव, तूणव[7], वीणा, वल्लकी[8] शम्याताल[9] किम्पल[10], नकुल (नेवले के मुख जैसी

---

6. मूल, जालसंस्थान। भोट, छु हि. ग्नस्(जल संस्थान) अर्थात् जलाशय।
7. मूल, तुणव। शुद्ध रूप, तूणव। गाथा 498 के अनुसार तुणव एक प्रकार की तंत्री है। कितने ही लोगों ने इसकी पहँचान मुरली से की है। इस स्थान पर इस शब्द का भोटानुवाद नहीं हुआ है। यहाँ भोट शब्द ह्.खर् ङ (कांस्यढक्का) है। हिन्दी में इसे घडियाल या विजय घंट कहते हैं। देखिए बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 255 पर यह शब्द।
8. मूल, वल्लकि। शुद्ध रूप, वल्लकी। भोट में इसका अनुवाद ग्र्युद् ग्सुम् प (=त्रितन्त्री) शब्द से हुआ है।
9. मूल, सम्पताड। यह शब्द शम्याताल (शम्पाताल) का अपभ्रंश है। यहाँ भोट, शब्द ह्.खर् ब हि. सिल् ख्रोल् (कांस्यझल्लरी) है। भाषा में झाँझ या करताल नाम से प्रसिद्ध बाजे का यह पुराना पर्याय है।
10. मूल, किपिल। भोट, किम्पल। भोट में अनुवाद न कर केवल संस्कृत शब्द का अनुलेखन किया गया है। किम्पल संभवतः मँजारा है।

तुरही), सुघोषक (पुराने समय की शहनाई) तथा वेणु (वंशी) के मधुर-मधुर बजाए जाने से उत्पन्न स्वरों की ध्वनि से एवं नाना प्रकार के बाजों के सम्यक् प्रयोग के साथ गाए गए गानों से जगा करते थे। और जो झुंड की झुंड स्त्रियाँ = 125क = अपने रसीले, मीठे, मनोहर स्वर से वेणु (वंशी) बजा-बजा उसकी स्वर और ध्वनि से बोधिसत्त्व को जगाती थीं, उनके वेणु (वंशी) वाद्यों के बजने से उत्पन्न स्वर—ध्वनियों से दस दिशाओं में स्थित भगवान् बुद्धों के अधिष्ठान (दृढ़ एवं अटल संकल्प) के कारण ये बोधिसत्त्व को प्रेरणा देनेवाली गाथाएँ निकला करती थीं।

(बोधिसत्त्व को प्रेरणा देने वाली गाथाएँ)

(छन्द प्रहर्षिणी)

या नार्यो मुदितमनाः प्रसन्नचित्ता
वेणुभ्यो मधुरमनोरमं रणन्ते।
आवेशाद् दशदिग्गतां जिनोत्तमानां
गाथेमा विविधविचित्रचित्ररूपाः ॥393॥

मनमें आनन्दित एवं चित्त में प्रसन्न जो स्त्रियाँ वेणु मधुर और मनोहर स्वर से बजाती रहती थीं, (उनके वाद्य-स्वरों से) दसों दिशाओं में विराजमान उत्तम–पुरुष बुद्धों के आवेश से ये विविध प्रकार की विचित्र-विचित्र गाथाएँ निकला करती थीं।

पूर्वे ते अयु पणिधी अभूषि वीरा
दृष्ट्वेमां जनत सदा अनाथभूतां।
मोचिष्ये[11] जरमरणात् तथान्यदुःखाद्
बुद्धित्वा पदमजरं परं अशोकं ॥394॥

हे वीर, सदा से अनाथ बनी हुई इस जनता को देख कर पहले तुम्हारी यह प्रणिधि हुई थी (अर्थात् यह दृढ़ संकल्प हुआ था) कि (मैं) शोकरहित, जरारहित, उस परम पद को बोध कर इसे जरामरण तथा अन्य (सब प्रकार के) दुःख से मुक्त करूँगा।

(छन्द मात्रासमक, चौपाई)

तत्साधो पुरवर इत शीघ्रं। निष्क्रम्या पुरिमऋषिभि चीर्णं।
आक्रम्या धरणितलप्रदेशं। संबुद्ध्या असदृश जिनज्ञानं ॥395॥

---

11. मूल, शोचिष्ये। इस पाठ से अर्थ नहीं बैठता पर सम्पादकों ने इस पर प्रश्न चिह्न तक नहीं लगाया है। भोटानुसार पाठ मोचिष्ये होना चाहिए। यहाँ भोट शब्द दग्रोल् है।

इसलिए हे सत्पुरुष, शीघ्र इस उत्तम नगर से निकल कर, पुराने ऋषियों द्वारा विचरे हुए भूतल-प्रदेश पर विजय पा, उस बुद्ध-ज्ञान का सम्यक् बोध करो जिसकी बराबरी का ज्ञान और नहीं है।

(–146–) पूर्वें ते धनरतन विचित्रा। त्यक्ताभूत् करचरणप्रियात्मा।
एषोऽद्या तव समयु महर्षे। धर्मोघं जगि विभज अनन्तां ॥396॥

हे महर्षे, पूर्व (युगों) में तुमने विचित्र धन और रत्न हाथ-पैर प्रिय शरीर तक का त्याग किया है। यह आज तुम्हारा समय है कि जगत् को धर्म का महा-प्रवाह प्रदान करो।

शीलं ते शुभविमलमखण्डं। पूर्वान्ते[12] वर सततमभूषी[13]।
[14]शीलेना न ति सदृशु[14] महर्षे। मोचेही[15] जगु = 125ख = विविध-किलेशैः ॥397॥

हे महर्षे, तुम्हारा अपना शुभ एवं निर्मल शील पूर्व (युगों) में अखण्ड (रह कर) निरन्तर उत्तमता से विभूषित हुआ है। शील में तुम्हारे समान (कोई) नहीं है। जगत को विविध क्लेशों से मुक्त करो।

क्षान्तीये भव शत चरितस्त्वं। क्षान्त्यास्(?क्षान्तास्) ते जगिविविध दुरुक्ताः
क्षान्तीये क्षमदमनिरतात्मा। नैष्क्रम्ये मति कुरु द्विपदेन्द्रा ॥398॥

सौ जन्मों तक तुमने क्षान्तिचर्या की है, विविध प्रकार के (इस) दुनिया के दुर्वचनों को तुमने सहा है, (सब कुछ) सहते-सहते अपने-आपको तुमने क्षमा और विनय में तल्लीन रखा है, हे दो पैर वाले (मनुष्यों) में श्रेष्ठ, घर से निकल पड़ने का मन करो।

---

12. मूल, पूर्वान्ते। यह **पूर्वं ते** इन दो पदों का प्रतिनिधि है। तुलनीय भोट, **स्ङोन् छद् ख्योद् नि** (= पूर्वं त्वं)।
13. अभूषी यह पद भू धातु तथा भूष् धातु दोनों का अद्यतनी (लुङ्) रूप है। भोटभाषान्तर के अनुसार यहाँ धातु भूष् है क्योंकि इसका अनुवाद **ब्र्ग्यन्** (भूष्, अलंकृ, मंड्) शब्द से किया गया है।
14····14. मूल, शीलेनानतिसदृशु। यहाँ पदच्छेद करना चाहिए था। शुद्ध पदच्छेद यों होगा शीलेना न ति सदृशु (= शीलेन न ते सदृशः)। तुलनीय भोट, **ख्यो द् ख्रिम्स् ह्द्र ब मेद्** (त्वच्छीलसदृशो न)।
15. मूल, सोचेही। वैद्य ने इसे सोचेही करने में अपनी कला दिखाई है। यहाँ भोटानुसार पाठ मोचेही होना चाहिए। अर्थसंगति भी उसी से होती है। भोट में **ह्ग्रोल् ब** धातु के **खोल्** इस रूप से यहाँ अनुवाद हुआ है।

वीर्यं ते दृढमचलमकम्प्यं । पूर्वान्ते[16] पृथु सुगत अभूवन् ।
धर्षित्वा नमुचि शठ ससैन्यं । सोषिष्ये त्रय सकल अपायान् ॥399॥

हे सुगत, तुम्हारा वीर्य (वीरभाव, उद्योग) दृढ़, अचल एवं अडिग रहा है, (वह) तुम्हारा (वीर्य) पहले महान् हुआ था (जब तुमने प्रतिज्ञा की थी कि) सेना के सहित धूर्त मार को पराजित कर मैं सम्पूर्ण रूप से तीनों दुर्गतियों (अर्थात् नरकगति, प्रेतगति, और असुरगति) को सुखा डालूँगा ।

यस्यार्थे व्रततप चरितस्त्वं । ध्यायि(?पि) त्वा कलिकलुषकिलेषां ।
त्वं वर्षा अमृतजलममोघं । तर्पेहि चिरतृषित अनाथां ॥400॥

जिसके लिए तुमने कलि की मलिनता वाले क्लेशों को जलाकर व्रत और तप का आचरण किया है (उसका अब समय है) । निष्फल न होने वाली अमृत रूपी जल की वर्षा करो, चिर काल के प्यासे अनाथ (जनों) को तृप्त करो ।

तां पूर्वा गिरवरमनुचिन्त्या । निष्क्रम्या पुरवर इति शीघ्रं ।
बुद्धित्वा पदममृतमशोकं । तर्पिष्ये अमृतरसि तृषार्तां ॥401॥

मैं अमृत और अशोक पद का बोध कर अमृत रस से तृषा से पड़ितों को तृप्त करूँगा—इस पहले की श्रेष्ठ वाणी का अनुचिन्तन कर-स्मरण कर इस श्रेष्ठ नगर से शीघ्र निकल पड़ो ।

प्रज्ञाया परिचरि कुशल त्वं । ज्ञानं ते पृथु विपुलमनन्तं ।
मूढानां विमतिपथस्थितानां । प्रज्ञाभां शुभरुचिर कुरु त्वं ॥402॥

प्रज्ञा की परिचर्या अर्थात् बुद्धि के प्रयोग में तुम पंडित हो, तुम्हारा ज्ञान महान्, विस्तृत और अनन्त है । दुविधा की राह पर खड़े मूढों के लिए प्रज्ञा का शुभ एवं सुन्दर प्रकाश करो ।

मैत्रायां भव शत चरितस्त्वं । कारुण्ये वरमुदित उपेक्षे ।
यामेवा वरचरि चरितस्त्वं । तामेव चरि विभज जगस्य ॥403॥

सैकड़ों जन्म तुमने आचरण किया है मैत्री का, करुणा का, उत्तम मुदिता का, और उपेक्षा का । तुमने जिस उत्तम चर्या का आचरण किया है, वही चर्या जगत को सिखाओ ।

एवं ता दश दिश जिनतेजैः । गाथा वै गुणकुसुमविचित्राः ।
तूर्येभ्यो विविधमनुरवन्ते । = 126क = चोदेन्ती शयनगत कुमारं ॥404॥

---

16. पूर्वान्ते यहाँ भी पूर्व ते का प्रतिनिधि है । द्रष्टव्य टिप्पणी 13/12 । भोटानुवाद यहाँ पूर्व-अन्ते पाठ को मान कर **स्ङोन् म्थर्** हुआ है ।

इस प्रकार दसों दिशाओं के बुद्धों के तेज से गुण रूपी फूलों से विचित्र, सेज पर लेटे कुमार को प्रेरणा देने वाली गाथाएँ बाजों से नानारूप में स्फुटित होती थीं।

(छन्द शरभ अथवा शशिकला=14 लघु+क्षर 1 गुरु अक्षर = मात्राएँ[16])

यद पुन प्रमुदित रतिकर प्रमदा
सुरुचिर सुमधुर प्रभणिषु तुरियैः।
अथ जिन दशदिशि सुरनरदमकाः
गिरि (?र)वरमनुरवि ततु रवि तुरियैः ॥405॥

फिर जब प्रमुदित, रति उपजाने वाली, मदभरी स्त्रियाँ बाजों द्वारा परम मनोहर एवं परम मधुर गाने लगीं तब देवताओं और मनुष्यों को विनीत करने वाले दसों दिशाओं के बुद्धों ने उत्तम वाणी का गान किया तदनन्तर बाजों से वही गान फूट पड़ा।

(–165–) कृत[17] त्वमि हितकर बहुगुण जनतो
निजि[17] नितु जिनगुण विचरति गतिषु।
स्मर स्मर पुरिमक व्रततपचरणा
लघु व्रज द्रुमवरु स्पृश पदममृतं ॥406॥

जनता के हितकारी बहुगुणी तुमने गतियों में विचरण करते हुए नित्य बुद्ध-गुणों को अपना बना लिया है। पूर्व (जन्मों) के व्रतों तथा तपश्चर्याओं का स्मरण करो–(फिर-फिर) स्मरण करो, शीघ्र श्रेष्ठ वृक्ष के पास जाओ, अमृत पद का अनुभव करो।

सुतृषित नरमरु जिनगुणरहितात्वयि मति[18]प्रतिबलु अमृतरसददा।
दशबलगुणधर-बुधजन-महितं लघु त्वयि नरपति विभजहि अमृतं ॥407॥

बुद्ध के गुणों से हीन देवता और मनुष्य बड़े प्यासे हैं, तुम अमृत रस पिला देने में अत्यन्त समर्थ हो। दशबल (बुद्ध) के गुणों को धारण करने वाले पंडित-जनों द्वारा पूजित अमृत को हे मनुष्यों के स्वामी, तुम शीघ्र बाँटो।

17····17. कृत····निजि = कृता निजाः। तुलनीय भोट, **ग्नुग् मर् ब्यस्**, निजीकृताः। निजि के अनन्तर नितु संभवतः नित्याः का प्रतिनिधि है। भोटानुवाद में यह पद अनूदित नहीं हुआ है अतः यहाँ पाठनिश्चय करना कठिन है।

18. मति = अति। तुलनीय भोट, **शिन् तु**।

त्यजि त्वयि पुरि भवि धनमणि कनका
सखि प्रिय सुत महि सनगरनिगमा।
शिरमपि त्यजि स्वकु करचरनयना
जगतिय[19] हितकरु जिनगुणनिरता ॥408॥

तुमने पूर्व-जन्मों में धन, मणि, सुवर्ण, प्रिय-सखी (=पत्नी), प्रिय-पुत्र-पुत्रियों और नगरों तथा निगमों (=कस्बों) से युक्त पृथिवी का त्याग किया है। हे जगती के हित कारक बुद्ध गुणों में रमने वाले तुमने अपने हाथ-पैरों एवं नेत्रों को यहाँ तक कि सिर को भी दे डाला है।

पुरि तुम नरवर सुतु[20] नृपु यदभू
नरु तव अभिमुख इम गिरमवची।
दद मम इम महि सनगरनिगमा
त्यजि तद प्रमुदितु न च मनु क्षुभितो ॥409॥

हे मनुष्यों में श्रेष्ठ, पहले जब तुम पुण्य नृप थे तब एक पुरुष तुम्हारे सम्मुख यह वचन बोला कि मुझे नगरों तथा निगमों (=कस्बों) से युक्त यह पृथिवी दो। उस समय प्रमुदित हो तुमने दे डाला। तुम्हारे मन में क्षोभ न हुआ।

पुरि=126ख=नरपति स्वकु[21] द्विज यदभू
गुरुजनि परिचरि न च द्रुहि परतो।
स्थपयिसु द्विजवर बहुजन कुशले
च्युतु ततु भवगतु मुरुपुरनिलयं ॥410॥

पहले जब तुम सुकृत (=पुण्यवान्) ब्राह्मण नरपति थे तब तुमने गुरुजन की सेवा की, दूसरे से वैर न बाँधा। उत्तम ब्राह्मणों तथा (अन्य) बहुत से लोगों को पुण्य (की राह) में स्थापित किया। वहाँ से शरीर त्याग देवताओं के नगर के स्थान में जन्म ग्रहण किया।

---

19. मुद्रित पाठ जगति य शुद्ध नहीं है। वस्तुतः जगतिय (=जगत्याः) एक पद है। भोटानुवाद ह्ग्रो ल है। य (=यः) पद भोटानुवाद में नहीं है उससे भी यही प्रमाणित होता है।

20. सुतु=शुद्धः। तुलनीय भोट, ग्र्यल् पो दृगे बर् ग्युर् प हि॒ छे (पुण्यनृपभवनकाले)। एड्जेर्टन् साहब के बु० हा० सं० डि० में इस शब्द का संग्रह होना चाहिए।

21. स्वकु=सुकृत्। तुलनीय भोट, ब्रम् झे दृगे बर् ग्युर् ब हि॒ छे (शुभब्राह्मणभवनकाले)। बु० हा० सं० डि० में इस शब्द का भी संग्रह होना चाहिए।

पुरि तुम नृपसुत ऋषिवर यदभू
छिनि तव तनुरुह कलिनृपु रुषितो।
(-166--) कृत त्वयि कलक्रिय[22] न च मनु क्षुभितो
पयु तव स्रवि तद करतलचरणैः ॥411॥

पहले तुम जब राजपुत्र होकर ऋषिवर हो गए थे, तब रुष्ट हुए एक दुष्ट राजा ने तुम्हारे अंग काट डाले थे। उस समय तुम्हारा मन न झुँझलाया था और तुमने कालक्रिया की थी (--शरीर त्याग दिया था), तुम्हारी हथेली और चरणों से दूध बह पड़ा था।

स्यमु पुन ऋषुसुतु त्वयि पुरि यदभू
[23]व्रतरतु गुरुभरु[23] गिरिवरनिलये।
हत भव नृपतिन विषकृत इषुणा
कृप तव तहि नृप न च मनु क्षुभितो ॥412॥

फिर पहले जब तुम ऋषिपुत्र श्याम (--नामक) हुए थे (और) श्रेष्ठ पर्वत के आश्रम में गुरुजन का पालन-पोषण करते व्रत में रमे रहते थे (तब) एक राजा ने विष-बुझे बाण से तुम्हें मारा पर उस राजा पर तुम्हारी कृपा (ही) रही, तुम्हारा मन न बौखलाया।

पुरि तुम गुणधर मृगपति यदभू
गिरिनदिबहुजलि दुयमनु[24] पुरुषो।
हित भव त्वयि नरु स्थलपथि स्थपितो
उपनयि तव अरि न च मनु क्षुभितो ॥413॥

पहले जब तुम गुणवान् मृगराज हुए थे, (तब एक बार एक) आदमी पहाड़ी नदी के बढ़े जल में बहा जा रहा था। हितू हो तुमने आदमी को सूखे में राह पर डाल दिया (पर वह आदमी) तुम्हारे शत्रु को ले आया फिर भी तुम्हारा मन न बौखलाया।

---

22. मूल, कुलक्रिय। इसके स्थान में शुद्धपाठ कलक्रिय (= कालक्रिया) होना चाहिए। तुलनीय भोट, ह् छि बहि् दुस् ब्यस् ते (= मृत्युकालः कृतः)।

23....23. व्रतरत गुरुभरु (= व्रतरतः गुरुभृत्) के लिए भोट में व्रतरतो गुरुरतोऽपि पाठ है। तुलनीय भोट, ब् तु ल् शुगस् दृगह् शिङ् ब्ल म ल यङ् दृगह्।

24. दुयमनु (= दूयमानः) के स्थान में भोट पाठ ख्येर् बर् ग्युर् प न (= उह्यमानः) है। संभवतः दुयमनु अपभ्रंश है उह्यमानः का। दकारागम मुखसुखार्थ है तथा हकार का लोप हो गया है।

पुरि तुम नरवर द्विजसुतु[25] यदभू
मणि तव प्रपतितु जलधरि विपुले।
च्यवयितु क्षपयितु त्वय महउदधि
लभि तद धनमणि दृढबल वृषभी ॥414॥

हे नरश्रेष्ठ, पहले तुम जब ब्राह्मणकुमार हुए थे (तब) तुम्हारी मणि महासागर में गिर पड़ी थी। महासागर में कूदे थके-थकाए हे दृढ़ बलवाले (पुरुष-) पुंगव, तुमने उस समय (उस) महँगी मणि को प्राप्त कर लिया था।

पुरि तुम सुपुरुष ऋषिवरु यदभू
द्विज तव उपगतु भव मम शरणं
मणि=127क=ऋषि द्विजवरु मभ रिपु उपने
त्यजि त्वय स्वकि तनु न च द्विज त्यजसे ॥415॥

हे सुपुरुष, पहले जब तुम महर्षि हुए थे (तब एक) ब्राह्मण तुम्हारे पास आया (और) बोला हे ब्राह्मण श्रेष्ठ, हे ऋषे! मुझे शरण दो, मेरा शत्रु उत्पन्न हुआ है, (तब) तुमने अपना शरीर त्याग दिया पर ब्राह्मण को न त्यागा।

स्यमु ऋषि उपगतु पुरि द्रुमनिलये
रुचि भणि तरुरुह कति इम गणये।
सुविदित सुगणित यथ तहि किशला
तथ तव अवितथ सम गिर रचिता ॥416॥

श्याम (नाम के एक) ऋषि पहले (तुम्हारे) वृक्ष के आवास पर आए और प्रेम से बोले—गिनो पेड़ के पत्ते कितने हैं? उसपर (संख्या में) जैसे—जितने पत्ते थे तुमने (उन्हें) भलीभाँति गिना, भलीभाँति जाना और वैसी नपी-तुली बात कही जो सच निकली।

[26]सुकु लसु गुणधर[26]पुरि द्रुमि वसतो
क्षयगतु न च त्यजि कृतु स्मरि पुरिमं।
मरुपति प्रमुदितु तव गुण स्मरतो
श्रिय करि द्रुमवरि यथरिव पुरिमा ॥417॥

---

25. मूल, त्यजिसुतु। भोट, ब्रम ज़े हि., बुर् नि (= द्विगजसुतः)। वैद्य ने त्यजि को सुतु से पृथक् करके कुछ चातुर्य दिखाया है। पर अर्थ संगति पुत्र त्याग देने से बैठ नहीं सकती।

26····26. सुकु लसु गुणधर (शुकः लसः गुणधर.)। इसे वैद्य ने सुकुल सुगुणधर (=सुकुलः सुगुणधरः) कर डाला है। सल शब्द का अर्थ है भास्वर या हरिद्रावर्ण वाला। यह अलम शब्द का अंशभूत लसशब्द ही तो अर्थ

पहले गुणवान्, हल्दी के रंग के चमकते, शुक (के जन्म में) पेड़ पर बसते हुए तुम क्षीण हो गए (पर पेड़ को) पूर्वोपकार स्मरण करते हुए न छोड़ा। तुम्हारे गुण को स्मरण कर प्रसन्न हुए देवेन्द्र ने उस श्रेष्ठ पेड़ को वैसा ही लक्ष्मीवान् कर दिया, जैसा कि वह पहले था।

इति तव असदृश व्रततपचरणा
बहुगुण गुणधर गुणपथि चरतो।
त्यजि महि सनगरि अयु तव समयो
लघु जगु स्थपयहि जिनगुणचरणे ॥418॥

तुम्हारे व्रत तथा तपश्चरण ऐसे हैं कि उनकी बराबरी किसी से नहीं हो सकती। गुण के मार्ग में विचरते हुए, बहुगुणी, गुणधारी तुम्हारा यह समय है कि नगरसहित पृथिवी का त्याग कर जगत् को शीघ्र बुद्ध गुणों तथा बुद्धचर्या में स्थापित करो।

(छन्द रोला=प्रतिपाद 24 मात्राएँ)
(अथवा छन्द अत्यष्टिगाथा=न ज ज य भ ग ग)

यद प्रमद (ा) रतना-शुभंवस्त्रा-भूषितगात्रा
वर प्रवरु (रू) तुरिया सुमनोज्ञा संप्रभणीषु।
अथ दशसू दिशतो जिनतेजैर्गाथि विचित्रा
इति रविषू मधुरा रुतघोषा तूर्यस्वरेभ्यः ॥419॥

जब रत्नों तथा शुभवस्त्रों से अपने शरीर को सजा महिलाओं ने श्रेष्ठ, अतिश्रेष्ठ, अतिमनोहर वाद्यध्वनि की, तब दसों दिशाओं में विद्यमान बुद्धों के तेज से बाजों के स्वरों से मधुर स्वर ध्वनि वाली विचित्र गाथाएँ यों ध्वनित होने लगीं।

तव प्रणिधी पुरिमे बहुकल्पां लोकप्रदीपा
जरमरणग्रसिते अहु लोके त्रानु भविष्ये /=127ख=
स्मर पुरिम प्रणिधिं नरसिंह या ति अभूषि
अयु समयो त्वमिहा द्विपदेन्द्रा निष्क्रमणाय ॥420॥

अर्थ निरालस भाववाला होगा। द्रष्टव्य मोनियरविलियम का संस्कृत कोष (पृष्ठ 899 पर लस, अलस तथा अलस शब्द) तथा एड्जेर्टन् बु० हा० सं० डि० (पृष्ठ 461) पर लस शब्द)। भोट में इस शब्द का अनुवाद नहीं हुआ। इस पाठ का भोटानुवाद है—ने चो योन् तन् ल्वन् ग्युर् (शुकेः गुणधरः भूतः)।

हे लोक के प्रदीप, पहले बहुत कल्पों तक तुम्हारा दृढ़-संकल्प था कि मैं जरा और मरण के द्वारा कवलीकृत लोक में रक्षक बनूँगा। हे नृसिंह, पहले तुम्हारा जो दृढ़-संकल्प था, उसे तुम स्मरण करो। हे दो पैरों वाले (मनुष्यों) में श्रेष्ठ यहाँ यह तुम्हारे घर से निकलने का समय है।

भवनयुते त्वमिहा बहुदानं दत्तमनेकं
धनकनका रतना शुभवस्त्रा रत्नविचित्रा।
करचरणा नयना प्रियपुत्रा राज्य समृद्धं
त्वयि त्यजितं न च ते खिलदोषा याचनकेषु ॥421॥

यहाँ खर्व-खर्व जन्मों में तुमने धन-सुवर्ण का, मणियों का, शुभ वस्त्रों का, विचित्र रत्नों का, अनेक प्रकार से बहुत-बहुत दान दिया है। हाथ-पैरों का, प्रिय पुत्रों का, भरे-पूरे राज्य का तुमने त्याग किया है। पर याचकों के प्रति तुम्हारे मन में कटुता (कभी) नहीं आई।

शिविनृपति[27] त्वमिहा शशिकेतो आसि सुदंष्ट्रो
कृप करुणामनसो मणिचूडो चन्द्रप्रदीपः।
(--177--) इति प्रमुखा करिया दृढसूरो राज सुनेत्रो
बहु-नृपति(? ती)-नयुता रत दाने त्वं स विकुर्वन् ॥422॥

यहाँ तुम शिबि-नरेश, शशिकेतु, सुदंष्ट्र, करुणा-चित्त के कृप, मणिचूड़, चन्द्रप्रदीप, राजा दृढशूर तथा सुनेत्र इत्यादि खर्व-खर्व राजाओं के बहुत रूप धारण करते हुए दान में रमते रहे हो।

तव सुगता चरितो बहुकल्पां शीलचरोये
मणिरत्ना विमला सदृशाभूच्छीलविशुद्धिः।
त्वयि चरता चमरी यथ बालं रक्षितु शीलं
कृतु त्वमिहा जगति विपुलार्थं शीलरतेना ॥423॥

हे सुगत, बहुत कल्पों तक शीलचर्या का अभ्यास करते हुए तुम्हारा शील विमल मणि-रत्नों जैसा शुद्ध हो गया है। जैसे चमरी-गौ (अपनी) पूँछ की रक्षा करती है वैसे ही (अपने) शील की रक्षा के लिए चर्या करते हुए शील में रत हो तुमने इस दुनिया का महान् प्रयोजन (सिद्ध) किया है।

---

27. मूल, शिशुनृपति। शुद्ध पाठ शिविनृपति जान पड़ता है। भोट, **ग्र्यल् पो श़िबर् ग्युर्** शिवनृपतिभूतः।

गजवरु त्वमिहा रिपु लुब्धे विद्धु इषूणा
कृप करुणा जनियाँ अतिरौद्रे[28] छादितु सो भो[28]।
परित्यजि ते रुचिरा शुभ दन्ता न च त्यजि शीलं
इति प्रमुखा करिया बहु तुभ्यं शीलविकुर्वी ॥424॥

यहाँ तुम गजेन्द्र थे, शत्रु बहेलिए ने (तुम्हें) बाण से बीध डाला, कृपा से अत्यन्त क्रूर पर (भी) करुण उपजा कर (तुमने) बचा लिया। अपने सुन्दर शुभ दाँत त्याग दिए, पर शील न त्यागा। यह प्रमुख (घटना तथा ऐसी ही) बहुत (घटनाएँ) तुम्हारी शील-ऋद्धि की हैं।

–128क– त्वयि सहिता जगतोऽहित नेका दुःखसहस्रा
बहु कटुका वचनं बध-बन्धा क्षान्तिरतेना।
परिचारित पुरिमे नर ये ते सर्वसुखेना
पुन बधकास्तव ते ह अभूवन् तच्च ति क्षांतं ॥425॥

तुमने क्षमा में रमते हुए जगत् के अनेक अत्याचार, सहस्रों दुःख, बहुत कड़ुए बचन, तथा बध-बन्धन सहे। पहले तुमने जिन मनुष्यों की यहाँ सब प्रकार के सुख से सेवा की, वे ही उलटे तुम्हारे हत्यारे होने पर उतारु हुए, पर तुमने (उनका) वह (अपराध) क्षमा कर दिया।

गिरिप्रवरानिलये तुम नाथा ऋक्षु यदासी
हिमकिरणा[29] सलिला भयभीतं त्वं नरु गृह्य।
परिचरसि विविधा फलमूलैः सर्वसुखेना
लघु बधकां स तवा उपनेत्री (? ती) तं च ति क्षान्तं ॥426॥

हे नाथ, श्रेष्ठ पर्वत के आवास पर जब तुम ऋक्ष थे तब हिम से बहते हुए जलसे भयभीत मनुष्य को पकड़ कर विविध फल-फूलों के द्वारा सब प्रकार सुख से सेवा की। (पर) वह शीघ्र तुम्हारे हत्यारे को ले आया। (इस पर भी) तुमने उसे क्षमा कर दिया।

दृढु संस्थितमचलमकम्प्यं वीर्यु तवासीत्
व्रत-तपसा-विविधा-गुण-ज्ञानं (? ने) एषत बोधि
कृतु अब्रलो नमुची वशवर्ती वीर्यबलेना
अयु समयो त्वमिहा नरसिंहा निष्क्रमणाय ॥427॥

28....28. मूल छादितु शोभे। पाठान्तर, छादित सोभो। पाठान्तर ठीक जान पड़ता है। छादित सो भो = छादितः सोऽभूत्। तुलनीय भोट, दे नि स्योबृ क्यिस् बस्क्यबस्, स त्वया रक्षितः।

29. हिमकिरणा सभवतः हिमकीर्णात् का अपभ्रंश है। हिमकीर्णात् = व्याप्तात् तुलनीय भोट, ख ब बब् चिङ् (= हिमावतीर्णात्)।

बोधि खोजते हुए व्रत के लिए, तप के लिए, विविध गुणों के लिए, एवं ज्ञान के लिए तुम्हारा उद्योग दृढ था, पूर्ण स्थिर था, अचल था, अडिग था। (अपने) उद्योग के बल से मार को तुमने निर्बल कर वश में कर लिया था। हे नृसिंह, यह तुम्हारा घर से निकलने का समय है।

(–169–) हयप्रवर त्वमिहा पुरि आसी हेमसुवर्णो[30]
लघु गगणे व्रजसे कृपजातो राक्षसिद्वीपं।
व्यसनगत मनुजान् तद गृह्य क्षेमि थपेसी
इति प्रमुखा करिया बहु तुभ्यं वीर्यविकुर्वा ॥428॥

पहले तुम यहाँ हिम (बर्फ) के जैसे सुन्दर रंग वाले अत्युत्तम अश्व थे। उस समय आकाश में शीघ्र (उड़ते) राक्षसी द्वीप गए। (वहाँ पर) विपत्ति में फँसे मनुष्यों को लेकर कुशल-क्षेम (के स्थान) पर टिकाया। यह प्रमुख (घटना तथा ऐसी) बहुत (घटनाएँ) तुम्हारे वीरभाव की ऋद्धि की हैं।

दमसमथे नियमा हतक्लेशा ध्यायिन अग्रा
लघु चपलं विषये रतिलोलं चित्तु दमित्वा।
कृतु स्वगुणो त्वमिहा जगतोऽर्थे ध्यानरतेना=128ख=
अयु समयो त्वमिहा वरसत्त्वा ध्यानविकुर्वा ॥429॥

संयम तथा शान्ति के नियम से क्लेशों को नष्ट करने वाले, ध्यान करने वालों में श्रेष्ठ, ध्यान में रमने वाले तुमने शीघ्र (–गामी), चंचल विषयों द्वारा रमण करने में लोलुप चित्त का दमन कर अपने गुणों द्वारा जगत् का प्रयोजन (सिद्ध) किया है। हे श्रेष्ठसत्त्व, यह समय है कि तुम यहाँ ध्यान की ऋद्धि करो।

त्वं पुरिमे ऋषि सुस्थितु आसी ध्यानरतीये
नृपरहिता मनुजा त्वमु गृह्या राज्यभिषिञ्ची।
दशकुशली जनि (? न) ता थपिता ते ब्रह्मपथेषु
च्युत मनुजा व्रजिषू तद सर्वे ब्रह्मनिकेतं ॥430॥

पहले तुम ध्यान-रति में भलीभाँति स्थित ऋषि थे। लोग राजा से रहित थे, (उन्होंने) तुम्हें लेकर राज्याभिषेक किया। तुमने जनता को दस कुशलों में तथा ब्रह्मविहारों में स्थापित किया। उस समय शरीर त्याग सब मनुष्य ब्रह्मलोक जाते थे।

---

30. हेमसुवर्णो = हिमसुवर्णो। भोट भाषा में इसका अनुवाद हिमसुवर्णो मान कर ही हुआ है—ख ब्रहि, खदोग् ह्र ब्र बहि, हिमसदृश। हेम शब्द हिम का भी वाचक है।

दिशि विदिशि विविधागतिज्ञाने त्वं सुविधिज्ञो
परचरिता-जगति (? ती) रुतज्ञाने इन्द्रियज्ञाने।
नयविनये विविधामतिधारे पारगतस्त्वं
अयु समयो त्वमिहा नृपसूना निष्क्रमणाय ॥431॥

दिशाओं तथा विदिशाओं में (विद्यमान) विविध (—योनि) के जीवों को जानने के उपाय में तुम भलीभाँति निपुण हो, दूसरों के चरित्रों के एवं जीवों की बोली के ज्ञान में, इन्द्रिय सम्बन्धी या ज्ञान में, शील-विनय तथा विविधप्रकार की मति की धारा में तुम पारंगत हो। हे राजपुत्र, तुम्हारा घर से निकल पढ़ने का यह समय है।

त्वयि पुरिमा जनि (?न) ता इम दृष्ट्वा दृष्टिविपन्ना
जरमरणाविविधा बहुदुःखे कृच्छ्रगता हि।
भवविभवंकरणो ऋजुमार्गे स्वामनुबद्ध्वा[30क]
हततमस त्वमिहा कृतु लोके अर्थु महन्तो ॥432॥

पहले तुमने इस अन्धी जनता को जरा एवं मृत्यु तथा विविध प्रकार के बहुत-बहुत दुःखों में भुगतती हुई देख कर भव अर्थात् जन्म-मरण के चक्र को विभव-करने-वाले अर्थात् नाश-करने वाले अपने सीधे मार्ग को स्वयं बूझकर, हे अन्धकार को नाश करने वाले, तुमने इस लोक का महान् प्रयोजन (सिद्ध) किया।

इति विवधा रुचिरा गुणयुक्ता गाथ विचित्रा
ततु रविषु (?षू) तुरियेभी जिनतेजा चोदयि वीरं।
(–170–) दुःखभरितजनते इह दृष्ट्वा मा त्वमुपेक्षा
अयु समयो त्वमिहा वरबुद्धे निष्क्रमणाय ॥433॥

इस प्रकार सुन्दर तथा गुणों से युक्त विचित्र विविध गाथाएँ बुद्धों के तेज से वाद्यों द्वारा ध्वनित हुईं और वीर (बोधिसत्त्व) को प्रेरित किया कि यहाँ दुःख से पूर्ण जनता को देख कर तुम उपेक्षा मत करो। हे श्रेष्ठ बुद्धि वाले, यह तुम्हारा घर से निकलने का समय है।

30क. मूल, स्वामनुबद्धा। पठनीय, स्वामनुबुद्ध्वा। तुलनीय भोट, रिङ् क्यिस् ख्रोङ् दु छुद् ब्यस् ते। स्वाम् शब्द यहाँ स्वयं के अर्थ में है। द्रष्टव्य आगे गाथा 736।

(छन्द पंचचामर)

= 129क = विचित्रवस्त्ररत्नहारगन्धमाल्यभूषिता
प्रसन्नचित्त प्रेमजात नारियो प्रहर्षिता।
प्रबोधयन्ति येऽग्रसत्त्व तूर्यसंप्रवादितैः
जिनानुभावि एवरूप गाथ तूर्य निश्चरी ॥434॥

विचित्र वस्त्रों, रत्नों, हारों, सुगन्धों, तथा मालाओं से सजी-धजी, निर्मल हृदय की, उत्पन्न-प्रेमवाली, आनन्द से भरी जो महिलाएँ बाजे बजा-बजा श्रेष्ठ-मन-वाले (बोधिसत्त्व) को जगाती थीं, (उनके) बाजों से बुद्ध के प्रताप से इस प्रकार की गाथाएँ निकलती थीं।

यस्यार्थि तुभ्य कल्पनेक त्यक्तु त्याग दुस्त्यजा
सुचीर्ण शीलु क्षान्ति वीर्य ध्यान प्रज्ञ भाविता।
जगद्धितार्थ सो ति कालु सांप्रतं उपस्थितो
नैष्क्रम्यबुद्धि चिन्तयाशु मा विलम्ब नायक ॥435॥

जिसके लिए तुमने अनेक कल्पों तक लोकहितार्थ कठिनता से दिए जाने वाले दान को दिया है, शील का, क्षमा का, वीर्य (= वीरभाव) का सम्यक् आचरण किया है, ध्यान की तथा प्रज्ञा की भावना की है, उसके लिए अब तुम्हारा समय आ गया है। हे नायक, घर से निकलने का विचार शीघ्र चित्त में लाओ, विलम्ब मत करो।

त्यक्तु पूर्वि रत्नकोश स्वर्णरूप्यभूषणा
यष्टा ति यज्ञ नैकरूप तासु तासु जातिषु।
त्यक्त भार्य पुत्र धीत कायु राज्य जीवितं
बोधिहेतुरप्रमेय त्यक्तु दुस्त्यजा त्वया ॥436॥

पहले तुमने रत्नों के कोश का, सोने-चाँदी एवं आभूषणों का दान दिया, उन-उन जन्मों में अनेकों प्रकार के यज्ञों का यजन किया, पत्नी का, पुत्र का, शरीर का, राज्य का, तथा प्राणों का त्याग किया। हे अतुलनीय, तुमने बोधि के लिए कठिनता से दिया जाने वाला (दान) दिया है।

अभूषि त्वं अदीनपुण्य राज विश्रुतश्रियो
निमिंधरो निमिश्च कृष्ण[31] ब्रह्मदत्त केशरी।

---

31. मूल, कृष्ण (बन्धु)। भोट, नग् पो (कृष्णः)। पाठ कृष्ण इतना ही होना चाहिए, छन्दोऽनुकूलता भी इसी में है।

सहस्रयज्ञ धर्मचिन्ति अर्चिमान् दृढधनु
सुचिन्तितार्थ दीनसत्त्वये[32] ति त्यक्त दुस्त्यजा ॥437॥

तुम प्रसिद्ध लक्ष्मी वाले तथा हीन न होने वाले पुण्य के राजा हुए—(जैसे—) निर्मिधर, निमि, कृष्ण, ब्रह्मदत्त, केशरी, सहस्रयज्ञ, धर्मचित्त, अर्चिष्मान्, दृढ़धन, तथा सुचिन्तितार्थ। तुमने कठिनता से दिए जाने वाला दान दीन-हीन प्राणी को दिया।

सुतसोम दीप्तवीर्य पुण्यरश्मि यो सोऽभू
त्यागवन्तु=129ख=स्थामवन्तु यः कृतज्ञः त्वं अभूः।
राजर्षि चन्द्र रूपवन्तु सूर सत्यवर्धनो
(–171–) सुभाषितं-गवेषि राजि असि सुमति न सूरतो ॥438॥
चन्द्रप्रभो विशेषगामि रेणुभू दिशांपति
प्रदानसूर काशिराजु रत्नचूड शान्तगः।
एति चान्यि पार्थिवेन्द्र येभि त्यक्त दुस्त्यजा
यथा ति वृष्ट त्यागवृष्टि एव[33] धर्म वर्षही ॥439॥

सुतसोम, दीपवीर्य, पुण्यरश्मि जो थे सो (तुम) थे, त्यागवान्, स्थामवान्, कृतज्ञ जो थे (सो) तुम थे। राजर्षि चन्द्र, रूपवान्, शूर, सत्यवर्धन, राजा, सुभाषितगवेषी, सुमति, तथा सुरत (तुम) थे, चन्द्रप्रभ, विशेषगामी, रेणुभू, दिशांपति, प्रदानशूर काशिराज, रत्नचूड़ शान्तग—ये तथा अन्य पार्थिवेन्द्र जो कठिनाई से दिए जानेवाले दान देते थे—(उनके रूप में) तुमने जैसे दानवृष्टि की, वैसे (अब) धर्म वृष्टि करो।

वृष्टा ति पूर्व सत्त्वसार गङ्गवालुकोपमा
कृत ति तेष बुद्ध पूज अप्रमेय चिन्तिया।
वराग्रबोधि एषमान सत्त्वमोक्षकारणाद्
अयं स कालु प्राप्तु सूर निष्क्रमा पुरोत्तमात् ॥440॥

प्राणियों की मुक्ति के निमित्त परम उत्तम बोधि चाहते हुए पहले तुमने गंगा की वालुका के जैसे (असंख्य) प्राणियों में सारभूत (तथागत) देखे हैं, चिन्तन से न मापे जाने वाले उन बुद्धों की तुमने पूजा की है। हे शूर, वह (बोधि पाने का) समय आ गया, श्रेष्ठ नगर से निकल पड़ो।

---

32. मूल दीनसत्त्व ये। शुद्ध पाठ दीनसत्त्वये। ये यहाँ चतुर्थी विभक्ति का एक वचन है। तुलनीय भोट, **सेमृस् चन् दृमन् ल** (दीनसत्त्वाय)।

33. मूल, एष। शुद्ध पाठ एव (=एवं)। तुलनीय भोट, **दे बृशिन्** (=एवं)।

प्रथमेन ते अमोघदर्शि शालपुष्प पूजितो
विरोचनः प्रसन्नचित्त प्रेक्षित क्षणान्तरं।
हरीतकी च एक दत्त दुन्दुभिस्वराय ते
तृणोल्क[34] गृह्य धारिता ते दृष्ट चन्दनं गृहं ।।441।।

पहले तुमने अमोघदर्शी की साल के फूलों से पूजा की, दूसरे अवसर पर प्रसन्न-चित्त से विरोचन का दर्शन किया, दुन्दुभिस्वर को तुमने एक हरीतकी दी, चन्दन को देखकर तिनकों की मशाल लेकर तुम (उनके) घर (पहुँचने) तक (उसे) उठाए रहे।

पुरप्रवेशि रेणु दृष्टि क्षिप्तु पूर्णमुष्टिका
धर्मेश्वराय साधु कारु दत्त धर्म भासते।
नमो नमः समन्तदर्शि दृष्ट वाच भाषिता
महार्चिस्कन्धि=130क=स्वर्णमाल क्षिप्त हर्षितेन ते ।।442।।

नगर में प्रवेश करने के अवसर पर रेणु को देख कर चूर्ण की मुट्ठी फेंकी, धर्म का भाषण करते हुए धर्मेश्वर को साधुवाद दिया, समन्तदर्शी को देख कर नमो-नमः शब्द कहे महार्चिः स्कन्ध पर हर्ष में भर कर तुमने सुवर्ण की माला फेंकी।

धर्मध्वजो[35] दशाप्रदानि रोचु[36] मुद्गमुष्टिना
अशोकपुष्पि ज्ञानकेतु यवागुपान सारथिः।
रत्नशिखी च दीपदानि पद्मयोनि ओषधी
सर्वाभिभूश्च मुक्तहारि पद्मदानि सागरो ।।443।।

दशा अर्थात् वस्त्र की किनारी के प्रदान से धर्मध्वज की, मूँग की मुट्ठी से रोच (न) की, अशोक के फूल से ज्ञानकेतु की, यवागू-पान से सारथि की, प्रदीप-प्रदान से रत्नशिखी की, औषधि से पद्मयोनि की, मुक्ताहार से सर्वाभिभू की, पद्मोपहार से सागर की,—

वितानदानि पद्मगर्भि सिंह वर्षसंस्तरे
सालेन्द्रराज सर्पिदानि क्षीरत्यागि पुष्पितो।
(–172–)यशोदत्तु कुरुण्टपुष्पि सत्यदर्शि भोजने
कायुप्रणामि ज्ञानमेरु नागदत्तु चीवरे ।।444।।

---

34. मूल, तृणोत्थ। भोट, चर्व यि मे स्ग्रोन् (तृणोल्का)। मूल में तृणोल्क पढ़ना उचित है।

35. मूल, धर्मध्वज। भोट, होद्, भेर् ग्यंल् मछन् अर्थात् धर्मध्वज।

36. मूल, रोधु। भोट, ग्सल् (= रोचन)। मूल में रोचु पढ़ना उचित है।

वितान अर्थात् चँदवे के दान से पद्मगर्भ की, वर्षा में बिछाने के बिछौने से सिंह की, घी की भेंट से सालेन्द्रराज की, दूध के दान से पुष्पित की, कुरण्टक के फूल से यशोदत्त की, भोजन से सत्यदर्शी की, शरीर द्वारा प्रणाम करने से ज्ञानमेरु की, चीवर से नागदत्त की,—

अत्युच्चगामि चन्दनाग्र तिष्य[37] तीनमुष्टिना[38]
महावियूह पद्मदानि रश्मिराज रत्नभिः।
शाक्यमुनि च सुवर्णमुष्टि इन्द्रकेतु संस्तुतो
सूर्याननो वतंसकेहि स्वर्णपट्टि सूमती ॥445॥

तृण की मुट्ठी से अत्युच्चगामी, चन्दनाग्र, तथा तिष्य की, पद्मोपहार से महाव्यूह की, रत्नों से रश्मिराज की, सोने की मुट्ठी से शाक्यमुनि की, स्तुति से इन्द्रकेतु की, करनफूल से सूर्यानन की, स्वर्णपट्ट अर्थात् सोने के मुकुट से सुमति की,—

नागाभिभू मणिप्रदानि पुष्प दूष्यसंस्तरे
भैषज्यराजु रत्नछत्रि सिंहकेतु आसने।
गुणाग्रधारि रत्नजालि सर्ववादि[39] काश्यपो
गन्धाग्रि चूर्णि मुक्त अर्चिकेतु पुष्पचैत्यके[40] ॥446॥

मणि के समर्पण से नागाभिभू की, दुशाले के आच्छादन से पुष्प की, रत्नमय छत्र से भैषज्यराज की, आसन से सिंहकेतु की, रत्नजाल (= रत्न समूह) से गुणाग्रधारी की, सब (प्रकार के) बाजों, उत्तम-गन्ध, चूर्ण, तथा मोतियों से काश्यप की, पुष्पों के चैत्य (अर्थात् गन्ध कुटी) से अर्चिःकेतु की (पूजा की),

---

37. मूल, तिक्ष्ण। भोट, ह्रोद् ल्दन् (= तिष्य)। प्रथम परिवर्त पृष्ठ 6 पर बुद्ध नामों में तिष्य है। वहाँ पर भोट में यही शब्द है। अतः तिक्ष्ण के स्थान पर तिष्य पढ़ना सप्रमाण (द्रष्टव्य) बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 253 ही है।

38. मूल, लोहमुष्टिना। भोटानुसार पाठ तृणमुष्टिना सिद्ध होता है। तुलनीय भोट, र्च्व-स्पर् र (= तृण-मुष्टि)। सम्भवतः पाठ तीन मुष्टिना था। तीन = तिन (तृण)। यह भाषा में है।

39. मूल, सर्ववादि (= सर्ववाद्य)। तुलनीय भोट, र्गल् तब्यङ् कुन् अर्थात् सर्ववाद्य।

40. पुष्पचैत्यके के स्थान में भोटानुसार पाठ नित्यपुष्पके जान पड़ता है। तुलनीय भोट, र्तग् तु मे तोग् फुल् (= नित्यपुष्पार्पणम्)।

अक्षोभ्यराज कूटागारि माल्य लोकपूजितो
तगरशिखि च राज्यत्यागि सर्वगन्धि दुर्जयो । =130ख=
महाप्रदीप आत्मत्यागि भूषणे पद्मोत्तरो
विचित्रपुष्पि धर्मकेतु दीपकारि उत्पलैः ॥447॥

कूटागार (=अंटे) से अक्षोभ्यराज की, माला से लोकपूजित की, राज्य-दान से तगरशिखी की, सब (प्रकार के) सुगन्ध से दुर्जय की, आत्मसमर्पण से महाप्रदीप की, आभरण से पद्मोत्तर की, विचित्र-पुष्पों से धर्मकेतु की, उत्पलों अर्थात् नीलकमलों से दीपकारी की **पूजा की** ।

एति चान्यि सत्त्वसार ये ति पूर्व पूजिता
नानारूप विचित्र पूजा अन्यजन्य कुर्वता ।
स्मराहि ते अतीत बुद्ध ता च पूज शास्तुनां
अनाथ सत्त्व शोकपूर्ण मा उपेक्षि निष्क्रमा ॥448॥

नाना-प्रकार की विचित्र (इन तथा) अन्य-अन्य पूजाओं को करते हुए तुमने पहले इन तथा अन्य जिन सत्त्वसारों (बुद्धों) की पूजा की है, अतीत के उन बुद्धों का तथा बुद्धों की उन पूजाओं का स्मरण करो। प्राणी अनाथ और शोकाकुल है। उपेक्षा मत करो। (घर से) निकल पड़ो।

दीपंकरे ति दृष्टिमात्रि लब्ध क्षान्ति उत्तमा
अभिज्ञ पञ्च अच्युता ति लब्ध आनुलोमिका ।
अत्तोत्तरेण एकमेक-बुद्ध-पूज-चिन्तिया
प्रवर्तिता असंख्यकल्प सर्वलोकधातुषू ॥449॥

दीपंकर के देखने भर से तुम्हें क्षमा का लाभ हुआ, तुमने न च्युत होने वाली एवं अनुकूल पाँच अभिज्ञाएँ पालीं। इसके अनन्तर एक-एक बुद्ध की पूजा करने की चिंता में सब लोक-धातुओं में असंख्यकल्पों भर तक का चक्कर लगाया।

(–173–) क्षीणा ति कल्प अप्रमेय ते च बुद्ध निर्वृता
तवापि सर्व आत्मभावि ते च नाम क्व गता ।
क्षयान्तधर्मि सर्वि भावु नास्ति नित्यु संस्कृते
अनित्य काम राज्यभोग निष्क्रमा पुरोत्तमात् ॥450॥

वे न मापे जा सकने वाले कल्प नष्ट हो गए, वे बुद्ध परिनिर्वृत्त हो गए, तुम्हारे भी वे सब आत्मभाव अर्थात् शरीर पता नहीं कहाँ गए। सब भावों (=पदार्थों) का धर्म (=स्वभाव) क्षीण होने का एवं अन्त होने का है, (इस) संस्कृत (बनावटी जगत्) में (कुछ भी) नित्य नहीं है। काम तथा राज्य-भोग अनित्य हैं। उत्तम नगर से निकल पड़ो।

जरा च व्याधि मृत्यु एन्ति दारुणो महाभया
हुताशनो व उग्रतेज भीम कल्पसंक्षये ।
क्षयान्तधर्मि सर्वि भावु नास्ति नित्यु संस्कृते
[41]सुकृच्छ्रप्राप्त सत्त्व दृष्ट[41]-131क-निष्क्रमा गुणंधरा॥451॥

कल्पान्त की उग्र-तेज-वाली एवं भयावह अग्नि के समान बड़े भय वाली एवं क्रूर बुढ़ापा, व्याधि, और मृत्यु आती हैं। सब भावों का धर्म (=स्वभाव) क्षीण होने का एवं अन्त होने का है, (इस) संस्कृत (बनावटी जगत्) में (कुछ भी) नित्य नहीं है। अत्यन्त दुःख भुगतने वाले प्राणियों को देख कर, हे गुणधर, (घर से) निकल पड़ो।

(छन्द तोटक)

यदा नारिगणस् तुणवै (वे) णु[42] रवैः
विविधैस्तुरियैः प्रतिबोधयिषु ।
सुखशयनगतं मनुजाधिपतिं
तद तूर्यरवौ (वो) अयु निश्चरते ॥452॥

जब महिला-गण ने एकतार, मुरली तथा विविध वाद्यों के शब्दों से सुख देने वाली सेज पर सोए मनुष्यों के अधिपति (बोधिसत्त्व) को जगाया, तब यह वाद्यध्वनि निकल पड़ी।

ज्वलितं त्रिभवं जरव्याधिदुखैः
मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदं ।
[43]भवनिस्सरणे[43] सद मूढ जगत्
भ्रमती भ्रमरो यथ कुम्भगतो ॥453॥

41....41. मूल, सुकृच्छ्रप्राप्तसत्त्व। भोट, शिन् तु स्डुग् ब्स्ङल् सेम्स् चन् ल्तोस (=अतिदुःखितसत्त्वान् दृष्ट्वा)। एवं पाठोद्धार यों होगा—सुकृच्छ्रप्राप्त-सत्त्व दृष्ट।

42. भोट, ग्लिङ् बु ग्युद् गचिग् (=वेण-एकतन्त्रा)। मूल का क्रम अनुवाद में नहीं है। भोटानुवाद यदि ठीक है तो तुण (तूण) एकतारा का पुराना नाम है। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ २५५ पर तुण शब्द। तुण तंत्रीवाद्य है, इसमें 498 वीं गाथा प्रमाण है।

43....43. मूल, भवनि सरणे (वैद्य का पाठ, भवनि शरणे)। भोटानुसार पाठ भवनिस्सरणे। तुलनीय, स्रिद् लस् ह् ब्युङ् ब। यही उचित पाठ है।

त्रिलोक बुढ़ापा और रोग के दुःखों से जल रहा है, (यह) मृत्यु की आग से भभक रहा है, यह अनाथ है। भव अर्थात् जरा-मरण के चक्र से निकल पाने में नित्य–मूढ़ (यह) जगत् घड़े में बन्द भौंरे के समान भरम रहा है।

अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं
नटरङ्गसमा जगि-रूर्मि[44]-चुति
गिरि नद्यसमं लघुशीघ्रजवं
व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे ॥454॥

तीनों भव शरद-ऋतु के मेघों के समान न टिकने वाले हैं। जगत् में भीड़ का जुटना और बिखरना नटों के तमाशे के (जमावड़े के) जैसा है। जगत् में आयु पहाड़ी नदी के समान शीघ्र-शीघ्र वेगवाली, आकाश में बिजली के समान (क्षण भर की) है।

भुवि देवपुरे त्रिअपायपथे
भवतृष्णाअविद्यवशा जनता।
परिवर्तिषु पञ्चगतिष्वबुधाः
यथ कुम्भकरस्य हि चक्रभ्रमि ॥455॥

धरती पर, देवताओं के लोक में, दुर्गति के तीनों (तिर्यक्-प्रेत-नरक रूपी) मार्गों में, (एवं इन) पाँच गतियों में अज्ञानी, भवतृष्णा तथा अविद्या के वश में पड़ी हुई जनता कुम्हार के चाक के समान चक्कर लगाती पलथे खा रही है।

प्रियरूपवरै सह स्निग्धरूतैः
शुभगन्धरसै वरस्पर्शसुखैः।
परिषक्तम्[45] इदं कलिपाश जगत्
मृगलुब्धकपाशि यथैव कपि ॥456॥

श्रेष्ठ प्रिय रूपों, स्नेहभरे शब्दों, शोभन गन्ध-रसों तथा उत्तम स्पर्श-सुखों के साथ यह जगत् कलि के पाश में वैसे फँसा है जैसे वानर बहेलिए के पाश में फँसा होता है।

---

44. मूल, रूर्मि (= र्-ऊर्मि)। पाठान्तर, जन्मि (= जन्म)। पाठान्तर का समर्थन भोट पाठ से होता है। यद्यपि हमारे जाइलो–ग्राफ़ में इस पद्य का पूरा दूसरा पाद टूटा है तो भी बु० हा० सं० डि० में भोट पाठ स्क्ये दिया है। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 150, शब्द ऊर्मि।
45. मूल, परिषिक्तम्। भोट, थोग्स् (सक्तम्)। शुद्ध पाठ परिषक्तम् इस प्रकार प्रमाणित होता है।

सभया सरण सद वैरकराः
बहुशोक–उपद्रव कामगुणाः।
असिधारसमा विषपत्रनिभा
जहितार्यजनैर्यथ मीढघटाः ॥457॥

काम–गुण भयवाले, क्लेश वाले, सदा वैर-बंधवाने वाले, शोक तथा उपद्रव को बहुत करने वाले, खाँड़े की धार जैसे (तीखे), विष-पत्र जैसे (मारक) आर्य-जनों द्वार मल-मूत्र-भरे घड़ों के समान त्यागे जा चुके हैं।

स्मृति शोककरास्तमसीकरणाः
भयहेतुकरा दुखमूल सदा।
भवतृष्णलताय विवृद्धकराः
सभया सरणा सद कामगुणाः ॥458॥

काम-गुण स्मरण से (भी) शोककारी, (बुद्धि को) अन्धा बनाने वाले, भय के हेतुओं के कर्ता, सर्वदा दुःखों के निदान, भवतृष्णा की लता को विशेष रूप से बढ़ाने वाले, भयवाले तथा सदा क्लेशवाले होते हैं।

(–174–) यथ = 131ख = अग्निरवदा ज्वलिता सभयाः
तथ काम इमे विदितार्यजनैः।
महपङ्कसमा असिसुन्धुसमाः[46]
मधुदिग्ध इव क्षुरधार यथा ॥459॥

जैसे जलता हुआ अग्नि-कुण्ड भयावह होता है, वैसे ये काम हैं (ऐसा) आर्य जनों ने जाना है। (ये) बड़े दलदल जैसे, असिसूना अर्थात् कसाई के छुरे से काट-कूट करने के आधारभूत काष्ठ जैसे (कठोर), मधु से लिपटी हुई छुरे की धारा के समान (घातक) हैं।

---

46. असिसुन्धुसमाः इस पद में सुन्धु शब्द सूना (तुलनीय **असिसूनूपा** मज्झिम-निकाय, अगलद्दूपसुत्त, पृष्ठ174, 176) अथवा सूद (ना) का अपरूप है। भोट, **ग्शोग् ग्नस्** अर्थात् कर्तनस्थान (द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 599 पर सुन्धु शब्द)। यह अपरूपता कैसे हुई है, बतलाना कठिन कार्य है—सूना सून सूनु सुनु सुन्नु सुन्धु यह क्रम सम्भव है। सूद शब्द से सूदु सुदु, तदनन्तर सुदु सुन्दु सुन्धु यह क्रम सम्भव है। हमारे जाइलो ग्राफ़ का भोटपाठ, **ग्शेग्स् नस्**, निश्चय ही अशुद्ध है।

यथ सर्पिसरो[47] यथ मीढघटाः
तथ काम इमे विदिता विदुषां।
तथ सूलसमा द्विजपेशिसमा
यथा स्वान करङ्क सवैरमुखा ॥460॥

जैसे साँप का सिर (भयावह) होता है, जैसे मल-मूत्र भरे घड़े (घिनौने) होते हैं, वैसे ये काम हैं, (ऐसा) विद्वानों ने जाना। तथा (उन्होंने यह भी जाना है कि ये काम) **भाले-बर्छी** की नोक के समान (तीखे) हैं, पक्षी (के मुँह में गई) मांस-पेशी के समान (घातक) हैं (एक पक्षी मांस का लोथड़ा लेकर उड़ जाता है तो दूसरा उस मांस के लोथड़े को लेने के लिए झपटता है, झपट कर या तो उससे मांस का लोथड़ा छीन लेता है, यदि दूसरा मांस का लोथड़ा न छोड़े तो उसे मार डालता है। यही अवस्था एक के काम भोग को छीनने के लिए लोगों में भी होती है।) जैसे कुत्ते मुर्दे के लिए वैर बाँध आमने-सामने खड़े हो झगड़ते हैं वैसे ही—कामों के लिए लोग भी झगड़ते हैं)।

उदचन्द्रसमा इमि कामगुणाः
प्रतिबिम्ब इवा गिरिघोष यथा।
प्रतिभाससमा नटरङ्गसमाः
तथ स्वप्नसमा विदितार्यजनैः ॥461॥

आर्य-जनों ने इन काम-गुणों को जल में (प्रतिफलित हुए) चन्द्रमा के समान, परछाईं के जैसा, पर्वत पर (सुनाई पड़ने वाली) प्रतिध्वनि के सदृश, (मृगतृष्णा आदि के) प्रतिभास के तुल्य तथा स्वप्न के समान (मिथ्या) जाना है।

क्षणिका वसिका[48] इमि कामगुणाः
तथ मायमरीचिसमा अलिकाः।
उद्‌बुद्‌बुदफेनसमा वितथा
परिकल्पसमुच्छ्रित बुद्ध बुधैः ॥462॥

---

47. सर्पिसरो = सर्पसिरो। यह वर्णव्यत्यास का सुन्दरतम उदाहरण है। तुलनीय भोट, **स्बुल् ग्यि म्गो** (= सर्पशिरः)। द्रष्टव्य मज्झिमनिकाय, अगलद्दूपमसुत्त पृष्ठ 174 और 176 पर **सप्पसिरूपमा कामा**।

48. वसिका (संस्कृत वशिकाः) = शून्याः। शून्यं तु वशिकं तुच्छरिक्तके (अमरकोश)। इसी अर्थ को लक्ष्य कर भोटानुवाद **य म ब्र्ल** (= शून्य, तुच्छ) हुआ है। अमरकोश में शून्यार्थ में वशिक शब्द का संग्रह उस काल में इस शब्द के प्रचलन का उत्कृष्ट प्रमाण है।

बुद्धिमानों ने इन काम-गुणों को क्षणिक, शून्य, माया एवं मृगतृष्णा के समान असत्य, पानी के बुलबुले एवं फेन के समान तत्वहीन तथा परिकल्पना से उत्पन्न होने वाले कहा है।

प्रथमे वयसे वररूपधरः
प्रिय इष्ट मतो इय बालचरी।
जरव्याधिदुःखै हततेजवपुं
विजहन्ति मृगा इव शुष्कनदीं ॥463॥

प्रथम वयस में (अर्थात् नए यौवन में आदमी) उत्तम-रूपवान् होता है, (उसकी) यह प्यारी, मनचाही और मनभाई बचपन की सखी होती है। उस (आदमी) का जब बुढ़ापा, रोग और दुःख शरीर (का रूप) एवं तेज मार देते हैं, तब (यह सखी भी) उसे वैसे छोड़ देती है, जैसे मृग सूखी नदी को छोड़ देते हैं।

धनधान्यवरो बहुद्रव्य बली
प्रिय इष्ट मतो इय बालचरी।
परिहीनधनं पुन कृच्छ्रगतं
विजहन्ति नरा इव शून्यटवीं ॥464॥

(आदमी) उत्तम धन-धान्य वाला, बहुत पैसे वाला और बलवान् होता है, (उसकी) यह प्यारी, मनचाही और मनभाई बचपन की सखी होती है। उस (आदमी) का फिर जब धन नष्ट हो जाता है, वह कठिनाई में पड़ जाता है, तब (यह सखी भी) उसे वैसे छोड़ देती है, जैसे मनुष्य सुनसान जंगल को छोड़ देते हैं।

यथ पुष्पुदमो सफलेव द्रुमो
नरु दानरतस्तथ प्रीतिकरो।
धनहीन जरार्ति तु याचनको
भवते तद अप्रियु गृध्रसमः ॥465॥

दानरत मनुष्य वैसा ही प्रीति उपजाने वाला होता है, जैसा फूलों वाला पेड़ और फलों वाला पेड़ प्रीति उपजाता है। पर जब वह धन हीन एवं बुढ़ापे से भुगतता हुआ मँगता बन जाता है तब (सबको) गीध-जैसा घिनौना लगता है।

प्रभु[49] द्रव्यबली वररूपधरः = 132क =
प्रिय संगमनेन्द्रियप्रीतिकरो।
जरव्याधिदुःखार्दितु क्षीणधनो
भवते तद अप्रियु मृत्युसमः ॥466॥

---

49. मूल, प्रभु। भोट, छो़ वृपोन् (– सार्थ प्रभु)।

(सार्थ का) मालिक, धन-दौलत वाला, बलवान् उत्तम-रूपशाली समागम के समय प्यारा लगने वाला और इन्द्रियों को आनन्द देने वाला, जब धन से हीन एवं बुढ़ापे से, रोग से तथा दुःख से भुगतने लगता है, तब मौत-जैसा अप्रिय लगता है।

जरया जरितो समतीतवयो
द्रुम विद्युहतेव यथा भवति।
जरजीर्ण अगारु यथा सभयो
जरनिःसरणं लघु ब्रूहि मुने ॥467॥

बुढ़ापे से घिसा-पिटा, बीती उमर का आदमी वैसा ही होता है, जैसे बिजली से झुलसा पेड़ होता है। बुढ़ापे से जीर्ण हुआ (आदमी) ऐसे घर-जैसा होता है (जिसके गिरने का सदा) डर लगा रहता है। हे मुने, बुढ़ापे से निकलने का उपाय शीघ्र बताओ।

जर शोषयते नरनारिगणं
यथ मालुलता घनशालवनं।
जर वीर्यपराक्रमवेगहरी
जर पङ्कनिमग्न यथा पुरुषो ॥468॥

जैसे घने साल-वन को मालुलता सुखा देती है, वैसे ही बुढ़ौती नर-नारी-गण को सुखा देती है। बुढ़ौती वीर्य, पराक्रम और वेग को हर लेती है। बुढ़ौती का आदमी कीचड़ में डूबे (आदमी) जैसा होता है।

जर रूपसुरूपविरूपकरी
जर तेजहरी बलस्थामहरी।
सह सौख्यहरी परिभावकरी
जर मृत्युकरी जर ओजहरी ॥469॥

बुढ़ापा रूप को—सुन्दर रूप को विरूप बना देता है। बुढ़ापा तेज हर लेता है, बल-पौरुष हर लेता है, साथ में सुख हर लेता है, पराजय कर देता है। बुढ़ापा मौत ले आता है। बुढ़ापा ओज हर लेता है।

(–175–) बहुरोगशतै घनव्याधिदुःखैः
उपसृष्ट जगज्ज्वलतेव मृगाः।
जरव्याधिगतं प्रसमीक्ष्व जगत्
दुःखनिःसरणं लघु देशयहि ॥470॥

यह जगत् दावाग्नि में झुलसते मृगों की भाँति, नानाप्रकार के सैकड़ों रोगों से, रोगों के घने दुःखों से हैरान हो रहा है। जगत् को बुढ़पा से एवं रोगों से सताया देखो और शीघ्र दुःख से निकलने का उपाय बताओ।

शिशिरे हि यथा हिमवातु[50] महान्
तृणगुल्मवनौषधिओजहरो ।
तथ ओजहरो अहु व्याधिजरो
परिहीयति इन्द्रियरूपबलं ॥471॥

जैसे शिशिर-ऋतु में अति शीत-वायु तृणों का, झाड़ियों का, तथा वनौषधियों का ओज हर लेती है, अहो वैसे ही व्याधि तथा जरा भी ओज को हर लेती है, (एवं) इन्द्रियों की, रूप की, तथा बल की परिहाणि होती है ।

धनधान्यमहार्थक्षयान्तकरो
परितापकरो सह[51] व्याधिजरो ।
प्रतिघातकरः प्रियुद्वेषकरः
परिदाहकरो यथ सूर्य नभे ॥472॥

व्याधि और जरा (लोगों के) धन-धान्य को, महान् अर्थ को क्षय कर-कर समाप्त कर डालती है (अर्थात् उनकी धन-दौलत चिकित्सकों के हाथों चली जाती है और वे खाली हाथ हो जाते हैं) साथ-साथ में ये बुरी तरह सताती (भी) रहती हैं, सब ओर से हानि करती हैं, इनके कारण प्रिय (वस्तुओं से भी) द्वेष हो जाता है । जैसे आकाश का सूर्य जलाता है, वैसे (ये भी) दाह-पीड़ा उपजाती रहती हैं ।

मरणं = 132ख = च्यवनं चुति कालक्रिया
प्रियद्रव्यजनेन वियोगु सदा ।
अपुनागमनं च असंगमनं
द्रुमपत्रकला नदिस्रोत यथा ॥473॥

मरना-गिरना, गिराव, काल करना (तथा) सदा के लिए प्यारे धन-धाम एवं साथियों से बिछुड़ना पेड़ से गिरे फल-पत्तों जैसा (तथा) नदी के प्रवाह जैसा है जहाँ फिर लौटना तथा मिलना नहीं हो पाता ।

मरणं वशितामवशीकुरुते
मरणं हरते नदि दारु यथा ।
असहायु नरो व्रजतेऽद्वितियो
स्वककर्मफलानुगता विवशः ॥474॥

---

50. मूल, हिमधातु । भोट, लुंङ् बङ् ख ब (= हिम और वात) । फलतः हिमवातु ठीकपाठ है ।
51. सह के स्थान में भोटानुसार पाठ सद । तुलनीय भोट, तंग् तु (= सदा) । सह पाठ में प्रयोग वैचित्र्य है । उसकी रक्षा होनी चाहिए ।

मृत्यु जहाँ वश है वहाँ वश चलने नहीं देती, मृत्यु (प्राणि को) वैसे ले जाती है, जैसे नदी लकड़ी को बहा ले जाती है। बेबस, बिचारा आदमी अपने कर्म के फल के अनुसार अकेला जाता है।

मरणो ग्रसते बहुप्राणिशतं
मकरेव जलाहरि भूतगणं।
गरुडो उरगं मृगराजु गजं
ज्वलनेन तृणोषधिभूतगणं ॥475॥

मृत्यु उस तरह सैकड़ों बहुत जीवों को खा जाती है, जिस तरह मगरमच्छ जल लेने के लिए गए जीवों के समूह को, गरुड़ सर्प को, सिंह हाथी को, तथा जैसे (वन की) आग घास-फूस, ओषधि, तथा जीवों के समूह को खा जाती है।

इम ईदृशकै बहुदोषशतैः
जगु मोचयितुं कृत या प्रणिधि।
स्मर तां पुरिमां प्रणिधानचरीं
अयु कालु तवा अभिनिष्क्रमितुं ॥476॥

इस प्रकार के इन बहुत-बहुत सैकड़ों-सैकड़ों दोषों से जगत् को मुक्ति दिलाने का जो संकल्प किया था उस, तथा संकल्प के पूरा करने के लिए की गई पहले की उस चर्या का स्मरण करो। घर से निकलने का यह तुम्हारा समय है।

(छन्द वैतालीय)

यद नारिगण प्रहर्षितो
बोधयती तुरियैर्महामुनिं।
तद गाथ विचित्र निश्चरी
तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः ॥477॥

जब महिलाओं के समूह ने वाद्यों से महामुनि को जगाया, तब बुद्धों की महिमा वश वाद्यों के शब्द से विचित्र गाथाएँ ध्वनित हुईं।

लघु तद्भञ्जति सर्वसंस्कृतं
अचिरस्थायि नभेव विद्युतः।
अयु कालु तवा उपस्थितः
समयो निष्क्रमणाय सुव्रत ॥478॥

यह सब संस्कृत (=बनावटी-जगत्) शीघ्र टूट जाता है, आकाश की बिजली जैसे क्षण-भर टिकने वाली है। हे उत्तम-व्रत वाले, तुम्हारे घर से निकलने का यह काल है—(यह) समय है।

संस्कार अनित्य अध्रुवाः
आमकुम्भोपम भेदनात्मकाः ।
परकेरकयाचितोपमाः
पांशुनगरोपम तावकालिकाः ॥479॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) एक जैसे न रहने वाले, न टिकने वाले, कच्चे घड़े के जैसे टूटने के स्वभाववाले, दूसरे से उधार लिए जैसे, धूल से बनाए नगर के समान क्षणिक हैं ।

संस्कार = 133क = प्रलोपधर्मिमे
वर्षाकालि चलितं व लेपनं ।
नदिकूप इवा सवालुकं
प्रत्ययाधीनस्वभावदुर्बलाः ॥480॥

इन संस्कारों (=बनावटी पदार्थों) का धर्म (=स्वभाव) लोप होने का अर्थात् नष्ट होने का है । (ये) वर्षाकाल में किए गए लेपन-पोतन के जैसे मिट जाने वाले, बालुका वाले नदी के किनारे के जैसे ढह जाने वाले, प्रत्ययों अर्थात् कारण सामग्री के अधीन रहने वाले, स्वभाव से दुर्बल (=भंगुर) हैं ।

(-176-) संस्कार प्रदीपर्अचिवत्
क्षिप्रउत्पत्तिनिरोधधर्मिकाः ।
अनवस्थित मारुतोपमाः
फेनपिण्डेव असार दुर्बलाः ॥481॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) प्रदीप की शिखा के समान शीघ्र उत्पन्न हो-हो कर निरुद्ध हो जाने वाले, वायु के समान अस्थिर, फेन के पिण्डों जैसे सार-हीन एवं दुर्बल हैं ।

संस्कार निरीह शून्यकाः
कदलीस्कन्धसमा निरीक्षतः ।
मायोपमचित्तमोहना
बालउल्लापनरिक्त[52] मुष्ठिवत् ॥482॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) चेष्टाहीन, शून्य, कदली-काण्ड के समान परीक्षा करने पर निःसार, माया के जैसे चित्त को मोहित करने वाले, बच्चों की बूझ-बुझौवल में रीती मुट्ठी के तुल्य हैं ।

---

52. मूल, उक्तमुष्टिवत् । शुद्धपाठ रिक्तमुष्टित् । तुलनीय भोट, **लग् बूचङ्स् स्तोङ् पस्** । द्रष्टव्य शिक्षा-समुच्चय पृष्ठ 338 पर उद्धृत यही गाथा ।

हेतुभि च प्रत्ययेभि चा
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते।
अन्योन्यप्रतीत्यहेतुतः
तदिदं बालजनो न बुध्यते ॥483॥

सब संस्कारों (= बनावटी-पदार्थों) में (जो कुछ) होता है (वह) हेतु-प्रत्ययों अर्थात् कारण-सामग्री से होता है। (यह सारी हल-चल) परस्पर के हेतु-प्रत्यय के कारण से है, यह (बात) बाल-जन (= मूढ-जन) नहीं समझ-बूझ पाते।

यथ मुञ्ज प्रतीत्य वल्वजं
रज्जु व्यायामबलेन वर्तिता।
घटियन्त्र सचक्र वर्तते
एष एकैकस नास्ति वर्तना ॥484॥

जैसे मूंज या बैंज के प्रत्यय से (= उपादान-सामग्री से) श्रम के बल से रस्सी बट ली जाती है, (और उस रस्सी से) रहँट चाके के साथ घूमता है। यह घूमना एक-एक का (स्वतन्त्र) नहीं।

तथ सर्वभवाङ्गवर्तिनी
अन्यमन्योपचयेन निश्रिता।
एकैकस तेषु वर्तिनी
पूर्वपरान्तत नोपलभ्यते ॥485॥

वैसे ही भव के सब अंगों की प्रवृत्ति परस्पर की सामग्री पर निर्भर रहती है, उनमें एक-एक की प्रवृत्ति पूर्वकोटि से भी नहीं मिलती पर कोटि से भी नहीं मिलती। [भव के द्वादश अंगों का आर्यशालिस्तम्बसूत्र में वर्णन है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, तथा जाति ये द्वादश अंग हैं।]

बीजस्य सतो यथाङ्कुरो
न च यो बीज स चैव अङ्कुरो।
[53]न च अन्य ततो[53]न चैव तत्
एवमनुच्छेद – अशाश्वत – धर्मता ॥486॥

उदाहरण : बीज होने पर अंकुर होता है, पर जो बीज है वही अंकुर नहीं है। किंच न उस (बीज) से भिन्न और ही तथा न वही ही (अंकुर) होता है।

53····53. मूल, न च ततो। वैद्य का भी पाठ यही है। शिक्षासमुच्चय पृष्ठ 238 पर यह गाथा उद्धृत है, वहाँ पर यह पाठ **न च अन्य ततो** है। भोटानुवाद भी यही साक्ष्य देता है—**दे लस् ग्शन् मिन्**।

इस प्रकार (अंकुर की तथा अंकुरोपम सब पदार्थों की) अनुच्छेद-धर्मता अर्थात् अनश्वरता एवं अशाश्वतधर्मता अर्थात् अनित्यता (सिद्ध) होती है।

संस्कार अविद्यप्रत्यया:
ते संस्कारे न सन्ति तत्त्वत: । =133ख=
संस्कार अविद्य चैव हि
शून्य एके प्रकृती निरीहका: ॥487॥

अविद्या के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) संस्कार होते हैं, इसलिए वे संस्कार वस्तुत: नहीं है। संस्कार और अविद्या एक-एक (=अपने आप) स्वभाव-शून्य हैं, चेष्टा-रहित हैं।

मुद्रात्प्रतिमुद्र दृश्यते
मुद्रसंक्रान्ति न चोपलभ्यते।
न च तत्र [54]न चैव अन्यतो[54]
एव संस्कारानुच्छेद अशाश्वता:[55] ॥488॥

मुद्रा से की गई छाप दिखाई पड़ती है पर (उस छाप में) मुद्रा का जाना नहीं ढूंढ मिलता। उस (छाप) वह (मुद्रा) नहीं है और न किसी अन्य से (वह छाप हुई है)। उसी प्रकार संस्कार न तो उच्छिन्न होते हैं और न नित्य होते हैं।

अक्षुश्च प्रतीत्य रूपत:
चक्षुविज्ञानमिहोपजायते।
न चक्षुषि रूपनिश्रितं
रूपसंक्रान्ति न चैव चक्षुषि ॥489॥

चक्षु तथा रूप के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) यहाँ चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। (यद्यपि) चक्षु न तो रूप के आश्रित है और न चक्षु में रूप का संचार ही होता है।

नैरात्म्यशुभाश्च धर्मिमे
पुनरात्मेति शुभाश्च कल्पिता:।
विपरीतमसद्विकल्पितं
चक्षुविज्ञान ततोपजायते ॥।490॥

ये धर्म (=पदार्थ) आत्म-हीन तथा शुभ-हीन हैं, फिर भी उन्हें आत्मा और शुभ सोचा जाता है। (यह) उलटी एवं असत्य कल्पना है। उस (कल्पित वस्तु) से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।

54⋯54. मूल, न चैव शाश्वतो। यह भूल है। भोट, **गशन् लस् मयिन् ते,** अन्यतो नास्ति। मूल में शाश्वतो के स्थान में अन्यतो पढ़ना ठीक है।

55. मूल, शाश्वता: भोट, **तंग् मेद्** (अशाश्वता:)।

विज्ञाननिरोधुसंभवं
विज्ञानोत्पादव्ययं विपश्यति।
अर्काहि च गतं अनागतं
शून्य मायोपम योगि पश्यति ॥491॥

(एक) विज्ञान के निरोध से उत्पन्न (दूसरे) विज्ञान को (लोग) उत्पत्ति और व्यतीत-वस्तु के रूप में देखते हैं। पर योगी (पदार्थ मात्र को) कहीं न आने वाला, न जाने वाला, शून्य, माया के समान देखता है।

(-177-) अरणिं च यथोत्तरारणिं
हस्तव्यायाम त्रयेभि संगति।
इति प्रत्ययतोऽग्निर् जायते
जातु कृतार्थ लघु निरुध्यते ॥492॥

(अन्य) उदाहरण—अधरारणि, उत्तरारणि, तथा हाथों का उद्योग (इन) तीन के संयोग के प्रत्यय से अग्नि उत्पन्न होती है और उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर शीघ्र निरुद्ध हो जाती है।

अथ पण्डितु कश्चि मार्गते
कुतयं आगतु कुत्र याति वा।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गते
नागति नास्य गतिश्च लभ्यते ॥493॥

अनन्तर कोई पण्डित खोजता है कि यह (अग्नि) कहाँ से आई और कहाँ चली गई। दिशाओं और विदिशाओं में सब जगह खोजते हुए उस (अग्नि) के न आने का पता चलता है और न जाने का ही पता चलता है।

[56]स्कन्धायतनानि धावतः[56]
तृष्ण अविद्य इति कर्म प्रत्यया।
सामग्रि तु सत्त्वसूचना
स च परमार्थतु = 134क = नोपलभ्यते ॥494॥

(उपादान—) स्कन्ध, आयतन, तथा धातुओं की तृष्णा, अविद्या एवं कर्म के प्रत्यय से गठित सामग्री ही तो जीव (अर्थात् आत्मा) कह कर प्रकाशित की जाती है, पर वह परमार्थतया नहीं जाना जाता है।

---

56. मूल, स्कन्धधात्वायतनानि धातवः। यहाँ मध्य का धातु अधिक है। तुलनीय भोट, फुङ्‌ पो दग् स्क्ये मछेद् खम्स् नंम्स् किय।

कण्ठोष्ठ प्रतीत्य तालुकं
जिह्वापरिवर्ति अक्षरा।
न च कण्ठगता न तालुके
अक्षरैकैक तु नोपलभ्यते ॥495॥

(अन्य उदाहरण–) कण्ठ, ओष्ठ, तालु के प्रत्यय से जिह्वा के परिवर्तन से **अक्षर उत्पन्न** होते हैं, (वे) न कण्ठ में होते हैं और न तालु में ही। एक-एक अक्षर तो नहीं जाना जाता।

सामग्रि प्रतीत्यश्च सा
वाच मनबुद्धिवशेन निश्चरी।
मनवाच अदृश्यरूपिणी
बाह्यतोऽभ्यन्तरतो नोपलभ्यते ॥496॥

सामग्री अर्थात् कारणसमूह के प्रत्यय से वह वाणी मन और बुद्धि के आधिपत्य से निकली है। मन और वाणी दोनों का रूप अदृश्य है, उसकी उपलब्धि न तो (शरीर के) बाहर होती है और न भीतर ही।

उत्पादव्ययं विपश्यतो
वाचरुतघोषस्वरस्य पण्डितः।
क्षणिकां वशिकां तदा दृशो
सर्वा वाच प्रतिश्रुतकोपमां ॥497॥

(जब) वाणी, ध्वनि, घोष एवं स्वर के उत्पन्न होने और अतीत होने को पंडित देखता है तब वाणी-मात्र को प्रतिध्वनि के समान क्षणिक और शून्य देखता है।

यथ तन्त्रि प्रतीत्य दारु च
हस्तव्यायाम त्रयेभि संगति।
तुणवीणसुघोषकादिभिः
शब्दो निश्चरते तदुद्भवः ॥498॥

(अन्य) उदाहरण—तन्त्री, काष्ठ, तथा हाथों का उद्योग, (इन) तीन के संयोग के प्रत्यय से, एकतारा, वीणा, तथा सुघोषक आदि द्वारा, उनसे उत्पन्न हुआ शब्द निकलता है।

अथ पण्डितु कश्चि मार्गते
कुतयं आगतु कुत्र याति वा।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गतः
शब्दगमनागमनं न लभ्यते ॥499॥

अनन्तर कोई पण्डित खोजता है कि यह (शब्द) कहाँ से आया और कहाँ चला गया। दिशाओं और विदिशाओं में सब जगह खोजते हुए (उस) शब्द के न आने का पता चलता है, न जाने का ही पता चलता है।

तथ हेतुभि प्रत्ययेभि च
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते।
योगी पुन भूतदर्शनात्
शून्य संस्कार निरीह पश्यति ॥500॥

उसी प्रकार हेतु-प्रत्ययों द्वारा संस्कार-गत (=बनावट से बनने वाली) सब (वस्तुओं) की प्रवृत्ति (=उत्पत्ति और निरोध की गति) होती रहती है। पर योगी भूतपूर्व अर्थात् परमार्थ दर्शन के कारण संस्कारों को शून्य तथा चेष्टा-हीन देखता है।

स्कन्धायतनानि धातवः
शून्य अध्यात्मिक शून्य बाह्यकाः।
सत्त्वात्मविविक्तमनालया
धर्माकाशस्वभावलक्षणाः ॥501॥

स्कन्ध, आयतन, धातु, शरीर के भीतर के भी शून्य हैं, (एवं) शरीर के बाहर के भी शून्य हैं, (वे) जीव से आत्मा से अछूते हैं, (वे) आलय अर्थात् स्थान से रहित हैं। (वे) धर्म के लक्षण वाले हैं, (वे) आकाश के स्वभाव वाले हैं।

=134ख= इय ईदृश धर्मलक्षणा
बुद्ध दीपंकरदर्शने त्वया।
अनुबुद्ध स्वयं यथात्मना
तथ बोधेहि सदेव मानुषां ॥502॥

यह ऐसा। धर्म का लक्षण तुमने दीपंकर का दर्शन पाने पर समझा-बूझा था। जैसे अपने-आपने तुमने फिर समझा-बूझा है, वैसा ही देवताओं और मनुष्यों सहित (लोक) को समझाओ-बुझाओ।

विपरीत अभूतकल्पितैः
रागदोषैः परिदह्यते जगत्।
कृपमेघ समाम्बुशीतलां
मुञ्च धाराममृतस्य नायकां ॥503॥

उलटी-पलटी मिथ्या-कल्पनाओं से उत्पन्न राग और द्वेष से जगत् जल रहा है। हे नायक, कृपारूपी मेघ से शान्तिरूपी जल की शीतल अमृत-धारा छोड़ो।

त्वयि यस्य कृतेन पण्डिता
दत्तु दानं बहुकल्पकोटिषु ।
संप्राप्य हि बोधिमुत्तमां
आर्यधन संग्रह करिष्ये प्राणिनां ॥504॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा—
न्-आर्यधनहीन[57] दरिद्र दुःखितां
मा उपेक्षहि सत्त्वसार थे
आर्यधन संग्रहि तेषु कुर्वहि ॥505॥

उत्तम बोधि का लाभ कर मैं प्राणियों का आर्यधन से संग्रह करूँगा (ऐसा संकल्प कर) जिसके लिए, हे पण्डित, तुमने अनेक-कोटि कल्पों तक दान दिया है, उस पूर्व (काल) की चर्या का फिर से स्मरण करो, आर्यधन से हीन, दरिद्र, दुःखितों की, हे प्राणियों के सारथि, उपेक्षा मत करो। आर्यधन से उनका संग्रह करो।

त्वयि शील सदा सुरक्षितं
पिथनार्थाय अपायभूमिनां ।
स्वर्गामृतद्वारमुत्तमां
दर्शयिष्ये बहुसत्त्वकोटिनां ॥506॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
बद्ध्वा द्वार निरयाय-भूमिनां ।
स्वर्गामृतद्वार मुञ्चही
ऋद्ध्यहि शीलवतो(वि)चिन्तितं ॥507॥

अनेक-कोटि प्राणियों को मैं स्वर्ग का उत्तम द्वार दिखाऊँगा (यह संकल्प) तुमने नरकभूमियों को ढँक देने के लिए सदा शील की रक्षा की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का फिर से स्मरण करो। नरक-भूमियों के द्वारों को बंद कर, स्वर्ग और अमृत के द्वारों को खोलो। (तुम्हारा) शीलवान् होने का सोचा-विचारा (संकल्प) सिद्ध हो।

त्वयि क्षान्ति सदा सुरक्षिता
प्रतिधक्रोधसमार्थ देहिनां ।
भावार्णव सत्त्व तारिया
स्था (? स्थ) पयिष्ये सिवि क्षेमि निर्ज्वले ॥508॥

---

57. नार्यधनहीन में आर्य से पूर्व नकारागम मुखसुखार्थ है। भोटानुवाद ह्. फग्स् प हि. नोर् ग्यिस् द्मन् (=आर्यधनहीन) से भी यही सिद्ध होता है।

तां पूर्वचरीमनुस्मरा
वैरव्यापादविहिंसआकुलां । = 135क =
मा उपेक्ष विहिंसचारिण:
क्षान्तिभूमीय स्थपे इमं जगत् ।।509।।

भवसागर से प्राणियों को तार कर शान्ति में, कुशल-क्षेम में, आरोग्य में, स्थापित करूँगा (यह संकल्प कर) तुमने प्राणियों के हिंसाभाव और क्रोध को शान्त करने के लिए सर्वदा क्षमा की रक्षा की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। वैर से, हत्या करने के भाव से, हिंसा से व्याप्त हिंसा का आचरण करने वालों की उपेक्षा मत करो। इस जगत् को क्षमा-भूमि पर स्थापित करो।

त्वयि वीर्य तदर्थ सेवितं
धर्मनावं समुदानयित्वना।
उत्तार्य जगद्भवार्णवात्
था (?थ) पयिष्ये सिवि क्षेमनिर्ज्वले ।।510।।
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
चतुरोघैरिव-म्-उह्यते जगत्।
लघु वीर्य बलं परक्रमा
सत्त्व संतारयही अनायकां ।।511।।

धर्म की नौका गढ़ कर लोक को भवसागर से उतार कर शान्ति में, कुशल-क्षेम में, आरोग्य में, स्थापित करूँगा (यह संकल्प कर) जिसके अर्थ तुमने वीर्य (= वीर भाव से उद्योग) का आचरण किया है, (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। (इस) जगत् को (काम, भव, दृष्टि और अविद्या नामक) चारों ओघ मानो बहाए ले जा रहे हैं। शीघ्र (अपने) वीर्य से, बल से, पराक्रम से अनाथ प्राणियों को तारो।

त्वय ध्यान किलेशधर्षणा[58]
भाविता यस्य कृतेन सूरता।
भ्रान्तेन्द्रिय प्रकृतेन्द्रियां
कपिचित्ता[59]ऽर्थपथे स्थपेष्यहं ।।512।।

---

58. मूल, किलेशध्येषणा। भोट, **ञोन् मोङ्स् ब्शिल् प हि.** (=क्लेशधर्षणा-)।
59. मूल, क्वपि चित्ता। भोट, **स्प्रेह .ह् ब्र हि. सेम्स्** (= कपिचित्त)।

तां पूर्वचरीमनुस्मरा
क्लेशजालैरिह-म्-आकुलं जगत् ।
मा उपेक्षहि क्लेशपद्रुतां
ध्यानैकाग्रि स्थपेहिमां प्रजां ॥513॥

जिनकी इन्द्रियाँ भ्रम में पड़ी हैं, जिनकी इन्द्रियाँ प्राकृत (=संस्कारहीन) हैं, जिनके चित्त वानर के समान (चंचल) हैं, उनको मैं अर्थपथ पर—प्रयोजन वाले मार्ग पर स्थापित करूँगा, (ऐसा संकल्प कर) जिसके लिए हे सूरत (= कारुणिक), तुमने क्लेशों को पराजित करने वाले ध्यान की भावना की है, (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। क्लेशों के उपद्रव में पड़े हुओं की उपेक्षा मत करो। अद्वितीय एवं श्रेष्ठ ध्यान में इस प्रजा को स्थापित करो।

(–179–) त्वयि प्रज्ञा पुरा सुभाविता
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे ।
बहुधर्मशताभिलोकने
दास्ये चक्षुषि तत्त्वदर्शनं ॥514॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे ।
ददही वर प्रज्ञा सुप्रभा
धर्मचक्षु विमलं निरञ्जनं ॥515॥

बहुत से सैकड़ों धर्मों को देखने वाले, मोह तथा अविद्या के अन्धकार से ढके हुए जगत् को मैं तत्त्वदर्शी नेत्र दूँगा, (यह संकल्प कर) तुमने पूर्व (काल) में प्रज्ञा की सम्यक् भावना की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। मोह और अविद्या के अन्धकार से ढके हुए जगत् को उत्तम एवं शोभन प्रभा-वाली प्रज्ञा, निर्मल एवं निरञ्जन (=क्लेश रहित) धर्म चक्षु दो।

इयमीदृश गाथ निश्चरी
तूर्यसंगीतिरवातु नारिणां=135ख=
यं श्रुत्व मिद्धं विवर्जिया
चित्तु प्रेषेति ब्रराग्रबोधये ॥516॥

ये इस प्रकार की गाथाएँ महिलाओं के गीतवाद्य के घोष से निकलीं। जिन्हें सुन कर (अपनी) तन्द्रा छोड़ कर चित्त श्रेष्ठ एवं उत्तम बोधि के लिए चल पड़ते हैं।

8. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व अन्तःपुर के बीच विराजते हुए धर्म के श्रवण से रहित न थे, धर्म के चिन्तन से रहित न थे। वह किस कारण से ? हे भिक्षुओं, उसका कारण यह है कि बोधिसत्त्व चिरकाल से धर्म में, धर्म की कथा करने वालों में गौरव करने वाले थे। (अपनी) अन्तरात्मा से धर्म के प्रार्थी, धर्म के अभिलाषी, धर्म के अनुराग में रमने वाले, धर्म की खोज में अतृप्त रहने वाले, सुने हुए धर्म को जैसा पाया वैसा प्रकाशित करने वाले, धर्म के दान देने में सबसे बढ़ कर महान् अधिपति, निरामिष (=निःस्वार्थ) भाव से धर्म का उपदेश करने वाले, धर्म का दान देने में कृपणता न करने वाले, आचार्यमुष्टि (अर्थात् शिष्यों से विद्या छिपाने के स्वभाव) से रहित, धर्म की अनुसरण करते धर्म की साधना करने वाले, धर्म के लिए उद्योग करने में शूर, धर्म के आश्रय से रहने वाले, धर्म को अपना रक्षक मानने वाले, धर्म की शरण जाने वाले, धर्म का प्रतिशरण (अर्थात् भरोसा) करने वाले, धर्म में अत्यन्त लगन रखने वाले, [60]धर्म की निध्याति अर्थात् निश्चित चिन्तन से (प्राप्त) क्षमा के द्वारा (साधारण लोगों से ऊपर हो कर) निकले हुए[60], प्रज्ञापारमिता का आचरण किए हुए, उपाय की कुशलता की गति-विधि को बूझने वाले थे।

9. भिक्षुओं, वहाँ पर बोधिसत्त्व ने उपाय की परम कुशलता की लीला से सम्पूर्ण अन्तःपुर को जिसकी जैसी अधिमुक्ति अर्थात् रुचि थी उसको वैसा—ईर्यापथ अर्थात् वैसी दिन चर्या = 136क = दिखला कर, पूर्व (काल) के बोधिसत्त्वों की, जो कि लोक के विषयों से सर्वथा दूर चल गए थे अर्थात् वीतराग थे उनकी, लोकाचार पालन करने की धर्मता (अर्थात् स्वभाव) का अनुसरण कर, चिर काल तक काम के दोषों को भलीभाँति जानते हुए (भी) प्रणियों को (धर्म मार्ग पर) पक्का करने के लिए, कामना न होते हुए भी कामों का उपभोग दिखला कर, अपरिचित कुशलों अर्थात् शुभों के मूल की वृद्धि से बढ़े पुण्य की परिपूर्णता के विशेष बल से अनुपम लोक-प्रभुता दिखला कर, देवताओं और मनुष्यों की पहुँच से बाहर के, सारवान्, मूल्यवान्, विविध और विचित्र प्रकार के रूपों से शब्दों से गन्धों से, रसों से, स्पर्शों से, उत्तम रति देने में रमणीय काम–रति के सुख को दिखला कर, सब कामों की (–180–) रति के जो विषय हैं, उनके अनन्त होने से अपने चित्त की वशवर्तिता (वश में होने

60····60. मूल, धर्मनिध्याप्तिः क्षान्तिनिर्यातः (= धर्मनिध्याप्तिक्षान्तिनिर्यातः)। तुलनीय भोट, ङेस् पर् सेमस् प हि. बझोद् पस् ङेस् पर बयुङ् ब। समास के भीतर यहाँ प्रथमाविभक्ति नहीं है प्रत्युत विसर्ग व्यंजनभक्ति है। निध्याप्ति, तुलनीय पालि का निज्झत्ति। निध्याति, निश्चित ध्यान वा चिन्तन।

की भावना) को दिखला कर, पूर्व (काल) के संकल्प को बल की सहायता से जिनके कुशलमूल की वृद्धि हो गई है ऐसे प्राणियों को साथ-साथ रहने के द्वारा पूरी तरह पक्का कर, लोक के क्लेश-रूपी मलों से क्लेशरहित–बिना कालिख के चित्त होने के कारण अन्तःपुर के बीच रहते हुए, जीवों के जगत् को (मोक्ष के लिए) जैसा पहले निमंत्रण दिया था उसके अनुसार उनके (धर्ममार्ग में) पूर्ण रूप से पक्के होने के समय की प्रतीक्षा करते हुए पहले की प्रतिज्ञा का उस समय अत्यन्त-अत्यन्त स्मरण किया। =136ख=बोधिसत्त्व ने बुद्धधर्मों को (अपने) सामने किया, प्रणिधान अर्थात् संकल्प के बल का अभिनिर्हार किया (–सत्त्वकार्यार्थ सिद्ध किया), सत्त्वों के मोक्ष (लाभ के विषय) पर चिन्तन किया, सब सम्पत्तियों का अन्त विपत्ति में होता है—ऐसा विचारा, संसार को अनेकों उपद्रवों से युक्त बहुत-बहुत भय वाला देखा, मारके कलि के पाशों को काट डाला, संस्कार के अटूट-प्रवाह से अपने को उतारा, निर्वाण में चित्त को ठीक-ठीक लगाया।

10. हे भिक्षुओं, यहाँ पर बोधिसत्त्व पूर्वकोटि से ही संसार के दोषों को सम्यक् जानते हुए अपनी अन्तरात्मा से संस्कृत अर्थात् बनावटी जगत् से अपना प्रयोजन न रखने वाले, सब (प्रकार के) उपादानों के परिग्रह करने से प्रयोजन न रखने वाले, [61]बुद्ध के धर्म से प्रयोजन रखने वाले[61], निर्वाण के सम्मुख रहने वाले, संसार से विमुख रहने वाले, [62]तथागत के विषय–क्षेत्र में अत्यन्त रमने वाले[62], मार के विषय–क्षेत्र से मिसामिसी न करने वाले, (राग-द्वेष से) जल रहे भव में (=संसार में) दोष देखने वाले, तीनों (काम, रूप तथा अरूप) धातुओं से निकलने की बात सोचने वाले, संसार के दोषों तथा आदीनवों (अर्थात् गलतियों या भूल–चूकों) से निकलने में कुशल, प्रवज्या में =137 क=अभिलाषा–वाले, घर से निकलने की बात सोचने वाले, दुनिया से अलग रहने की ओर झुके हुए, दुनिया से अलग रहने की ओर नमे

61····61. मूल, बुद्धधर्म–। यहाँ पढ़ना चाहिए—बुद्धधर्मेणार्थिकः। तुलनीय भोट, **सङ्स् ग्र्यस् क्यि छोस् दोन् दु ग्ञेर् ब यिन्**।

62····62. मूल तथागतगोचराभिरतः। इससे अगले वाक्य (मारविषयगोचरा संसृष्टः, भोट, **बुदुद् क्यि स्प्योद् युल् दङ् म .ह् द्रेस् प यिन्** में केवल गोचर शब्द न होकर विषयगोचर शब्द है। भोट में दोनों स्थलों का अनुवाद **स्प्योद् युल्** शब्द से किया गया है। प्रक्रम समता के अनुसार यहाँ भी तथागतविषयगोचराभिरतः (भोट दे **ब्शिन् ग्शेग्स् प हि स्प्योद् युल् मङोन् दु द्गा ह् ब यिन्**) पढ़ना चाहिए।

हुए, दुनिया से अलग रहने पर उतारू हुए, बन—बागों की ओर मुँह करने वाले, एकान्त और शान्ति को चाहने वाले, अपने तथा पराए के हित में लगने वाले, अनुत्तर (मोक्ष) के उद्योग में शूर, लोक के इच्छुक, हित के इच्छुक, सुख के इच्छुक, लोक के ऊपर कृपालु, हितबुद्धि वाले, मैत्री से रहने वाले-महाकरुणा वाले, संग्रह की (चारों) वस्तुओं (दान, प्रियवचन, अर्थचर्या, एवं समानार्थता या समदुःखसुखता) में कुशल, सर्वदा-निरन्तर खेद से रहित मन वाले, प्राणियों को (धर्म में) पक्का करने तथा विनय सिखाने में निपुण, सब प्राणियों के विषय में इकलौते बेटे में होने वाले प्रेमभाव से सोचने वाले, सब वस्तुओं का बिना (किसी स्वार्थ की) अपेक्षा से परित्याग करने वाले, दान को भलीभाँति बाँटने में प्रीति-वाले, दान देने में उदार, खुले-हाथ-वाले, त्यागशूर, यज्ञों को पूर्ण कर चुकने वाले, पुण्यों की सुन्दर-समृद्धि वाले, [63]पुण्यों के परिष्कारों (=पदार्थों) का सुन्दर संग्रह वाले,[63] (–181–) मलिनता तथा मक्खीचूसी से रहित, चित्त को भलीभाँति अपनी में पकड़ रखने वाले, जिस (दान) से बढ़ कर और कोई दान नहीं हो सकता ऐसे दान के महाप्रभु, = 137ख = दान-देकर (भी) उसके फल की चाह न करने वाले, दानवीर, इच्छा, महेच्छा, लोभ, द्वेष, मद, मान, मोह, मात्सर्य (कृपणता) जिनमें प्रधान हैं, ऐसे सब के वैरी क्लेश-समूह-रूपी शत्रुओं का निग्रह करने के लिए उठे हुए, [64]सर्वज्ञता (=बुद्धता) के लिए उपजाए हुए चित्त की परंपरा (निरन्तर बनाए रखने) से न-डिगने-वाले[64], महान्, त्याग करने के चित्तरूपी कवच से भलीभाँति नधे-नधाये हुए, लोक पर दया करने वाले, हित के चाहने वाले, वीर्य (=वीरभाव) का कंचुक पहने हुए, वीर्य (वीर-भाव) का कवच पहने हुए, प्राणियों की भलीभाँति मुक्ति दिलाने के आलंबन पर डटे हुए, महाकरुणा के-बलके-विक्रम के-पराक्रम के धनी, पीछे न लौटने वाले, सब प्राणियों के प्रति एक समान चित्त वाले, त्याग-रूपी-शस्त्र-वाले, जिस (प्राणी) का जैसा अभिप्राय, उस प्राणी के हृदय को वैसा संतोष देने वाले, बोधि के पात्र बने हुए, काल के द्वारा वेधन न किए जा सकने वाले धर्म का वेधन करने वाले

63....63. मूल, सुसंगृहीतपुण्यः परिष्कार। परिष्कार को लेफ़मन् ने अगले वाक्यांश के साथ समास करके पढ़ा है। वैद्य ने उसी का अनुकरण किया है। वस्तुतः यह पाठ अर्थ दृष्टि से सुसंगृहीतपुण्यपरिष्कारः है। तुलनीय भोट, **ब्सोद् नमस् यो ब्यद् शिन् तु ब्झुङ् ब यिन्**। ग्रन्थ में जो पाठ है उसकी विचित्रता के लिए रक्षा होनी चाहिए। समास का अन्तिम पद विभक्ति-रहित है, तथा मध्य के पद में एक प्रथमा विभक्तियन्त पद आ गया है।

64. मूल, अच्चलित (=अचलित)। तुलनीय भोट, **मि ग्यो ब यिन्**।

अर्थात् धर्म के भीतर प्रवेश कर उसका मर्म जानने वाले, अपने संकल्प को बोधि में परिणत करने वाले, (धर्म) के झण्डे को न झुकने देने वाले, त्रिमण्डल अर्थात् दातृ-प्रति-ग्रहीतृ-दानचित्त रूपी तीनों मंडलों की पवित्रता के साथ दान देने वाले, उत्तम ज्ञान के वज्र का दृढ़ शस्त्र (धारण करने) वाले, क्लेशरूपी शत्रुओं का भलीभाँति निग्रह कर चुकने वाले, शील, =138क= गुण, तथा सच्चरित्रता के व्रती, भली भाँति काय के, वचन के, तथा मन के कर्मों की रक्षा करने वाले, अणु-भर भी बुराई में भय देखने वाले, सब ओर से अति शुद्ध शील वाले, अमल, विमल, एवं निर्मल चित्त वाले, सब (प्रकार के) कुभाषितों के, कुभाव से कहे वचन—पथ के कोसने के, गाली-गलौज के, निन्दा के, मार-पीट के, धमकी-घुड़की के, बध-बन्धन के तथा पकड़-धकड़ के क्लेशों से चित्त में विचलित न होने वाले, चित्त में व्याकुल न होने वाले, क्षमा तथा सौरभ्य (=सौरत्य, सूरत-भाव, करुणा) की सम्पदा वाले, चित्त में हानि पहुँचाने के, हनन करने के, हत्या करने के भाव से रहित, सब प्राणियों के हित के लिए गरमागरमी से वीरता का काम करने वाले, दृढ़-समादान (=दृढ़व्रत) वाले, सब कुशलों के मूलभूत धर्मों की सिद्धि करने में पीछे न लौटने वाले, स्मृतिमान्, उत्तम प्रज्ञा वाले, उत्तम समाधि वाले, अचंचल मन वाले, अद्वितीय एवं उत्तम ध्यान का चिन्तन करने वाले, धर्म का विश्लेषण करने में कुशल, प्रकाश पा चुकने वाले, अन्ध करने वाले, अन्धेरे से विहीन, अनित्य के, दुःख के, अनात्मा के[65] =138ख= तथा अशुभ के प्रकारों के द्वारा सब ओर से चित्त को भावित कर चुकने वाले, स्मृत्युपस्थानों में सम्यक्-प्रहाणों में, ऋद्धि-पादों में, इन्द्रियों में, बलों में, बोध्यङ्गों में, मार्ग में, आर्यसत्यों में, तथा सब बोधिपाक्षिक धर्मों में सुपरिकर्म के साथ (—खूब तैयारी के साथ) चिन्तन कर चुकने वाले, शमथ (शान्तिभाव में स्थिति) के द्वारा तथा विपश्यना (दार्शनिक विशिष्टता) के द्वारा सब ओर से अत्यन्त शुद्ध बुद्धि वाले, प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करने वाले, सत्य के निजी अनुभव के कारण दूसरे पर (धर्म के विषय में) निर्भर न रहने वाले, तीनों (शून्यता, वनिमित्त और अप्रणिहित) विमोक्षों में सुख से क्रीड़ा करने वाले, माया के समान, मृगतृष्णा के समान, स्वप्न के समान, जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा के समान, प्रतिध्वनि के समान, प्रतिभास (अर्थात् असद्—वस्तु की झलक) के समान (मान कर) सब धर्मों में न्याय से (=औचित्य से) प्रवेश करने वाले थे।

---

65. मूल, ०आत्मा०। यहाँ पढ़ना चाहिए ०अनात्मा०। तुलनीय भोट, दग् मेद् प।

11. (–182-) हे भिक्षुओ, यों[66] वे बोधिसत्त्व स्वभाव से[67] ऐसे[68] थे, (वे स्वभाव से) ऐसे धर्मविहारी थे, (वे स्वभाव से)[68] ऐसे ज्ञानविहारी थे, (वे स्वभाव से) ऐसे गुण-माहात्म्यविहारी थे, (वे स्वभाव से) ऐसे प्राणियों के अर्थ = प्रयोजन) के निमित्त उद्योगविहारी थे। दसों दिशाओं में स्थित बुद्धों के अधिष्ठान (अचल संकल्प) से वाद्यों की संगीति द्वारा निकली इन गाथाओं से प्रेरणा पा उन्होंने उस समय अन्तिम–जन्मधारी पहले के बोधिसत्त्वों के अन्तःपुर को (धर्ममार्ग में) पक्के करने वाले चार धर्म के मुखों (= द्वारों) को अपने सम्मुख किया। कौन से चार ? यह जो दान है, प्रियवचन है, अर्थ-क्रिया (प्रयोजनसिद्धि) है, = 139क = समानार्थकता (=समसुखदुःखता) है। इन चारों संग्रह वस्तुओं के प्रयोग तथा निर्हार (= सिद्धि) की विशुद्धि जहाँ होती है ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। तीनों रत्नों के वंश को[69] भलीभाँति धारण करने के[69] अभिप्राय का जिसमें अविप्रणाश[70] होता है (कभी नाश नहीं होता) ऐसे सर्वज्ञता अर्थात् बुद्धता (प्राप्ति करने) के चित्त-प्रणिधान (मन के संकल्प) में बल का आधान (स्थापन) करने के विषय में, जहाँ पीछे लौटाना नहीं होता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। सब प्राणियों का अपरित्याग करने के अर्थात् अपनालेने के उत्तम आशय से जहाँ महाकरुणा में प्रवेश किया जाता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। सब बोधिपाक्षिक धर्मों के (बताने वाले) पदों का प्रभेद कर (=विश्लेषण

66⋯66. मूल, बोधिसत्त्वस्यैवं। यह बोधिसत्त्व (:) स एवं का संधिवश रूप है। तुलनीय भोग, **ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह् दे नि दे ल्तर्**। बोधिसत्त्व स्मैवं (बोधिसत्त्वः स्म एवं) पाठ संभवतः मूल का था, लिपि के हेर-फेर से स्मैवं का स्यैवं हो गया है। यह मेरा विचार है। यद्यपि इसे प्रमाणित करना इस अवस्था में सम्भव नहीं है।

67. मूल, प्रतिकृत्या (प्रतिकृत्येव = प्रतिकृत्या एवं)। शुद्ध पाठ, प्रकृत्या, तुलनीय भोट, **रङ् ब्शिन् ग्यिस्**। वैद्य का पाठ यहाँ प्रतिकृतिः वस्तुतः ग्रन्थ का सत्यानाश है।

68⋯68. भोट, **देल्तर् ये शेस् ल ग्नस् प यिन्** (= एवं ज्ञानविहारी)। मूल में यह पाठ छूटा हुआ है पर पाठान्तर में है।

69⋯69. मूल साधरणा (= सधारणा), तुलनाय भोट, **यङ् दग् पर् ह् जिन् प हि्**। सम्यक् धारणा।

70. मूल, विप्रणाश। शुद्ध पाठ, अविप्रणाश मूल में अभिप्राया विप्रणाश पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, **छुद् मि झ् ब हि्.**।

कर) अर्थ का पूर्णरूप से निश्चय करने के ज्ञान के संभार[71] का (= ज्ञान के संचय का) विशेष बल जहाँ सिद्ध होता है, जहाँ (उस बल का) महान् व्यूह बनाया जाता है, ऐसे नामी धर्मसुख को अपने सम्मुख किया। इन चारों धर्ममुखों को अपने सम्मुख कर बोधिसत्त्व ने सम्पूर्ण अन्तःपुर को (धर्ममार्ग में) पक्का करने के लिए उस समय वैसा ऋद्धि का चमत्कार कर दिखाया, जैसे ऋद्धि के चमत्कार से चमत्कृत हो बोधिसत्त्व के प्रभाव से उन संगीत की ध्वनियों से ये इस प्रकार के लाखों धर्ममुख निकल पड़े। यथा—

(वाद्यों से धर्ममुख-शब्दों की अभिव्यक्ति)

(छन्द उपजाति)

उदार छन्देन च आशयेन
अध्याशयेना करुणाय प्राणिषु।
उप्पद्यते चित्तु वराग्रबोधये
[72]शब्देव रूपस्[72] तुरियेभि निश्चरी ॥517॥

उदार इच्छा (= दरियादिली) से, (उदार) भाव से, उत्तम भाव से, प्राणियों के प्रति करुणा से, श्रेष्ठ उत्तम बोधि के लिए चित्त उत्पन्न होता है। इस प्रकार का शब्द वाद्यों से निकल पड़ा।

= 139ख = श्रद्धा प्रसादो अधिमुक्ति गौरवं
निर्माणता ओनमना गुरूणां।
परिपृच्छता किं–कुशलं–गवेषणा
अनुस्मृती भावनु शब्द निश्चरी ॥518॥

श्रद्धा, प्रसाद (= चित्त की निर्मलता), अधिमुक्ति (= अभिरुचि अथवा विश्वास) परिपृच्छा (जिज्ञासा के लिए प्रश्न), कुशल क्या है—इसकी खोज, अनुस्मृति और भावना का शब्द निकल पड़ा।

(–183–) दाने दमे संयम शीलशब्दः
क्षान्तीय शब्दस्तथ वीर्यशब्दः।
ध्यानाभिनिर्हारसमाधिशब्दः
प्रज्ञा उपायस्य च शब्द निश्जरी ॥519॥

---

71. मूल, संसार। शुद्ध पाठ संभार, तुलनीय भोट, छोग्स् (= संभार, संचय, समूह)।

72....72. मूल, शब्दे च रूपस्। पठनीय, शब्ददेवरूपस् (= शब्द एवं रूपस्), तुलनीय भोट, दे ह्र हि. स्प्र।

दान, दम (=विनय), संयम, (और) शील का शब्द, क्षमा का शब्द तथा वीर्य का शब्द, ध्यान, सिद्धि एवं समाधि का शब्द, प्रज्ञा और उपाय का शब्द निकल पड़ा।

मैत्राय शब्दः करुणाय शब्दो
मुदिता उपेक्षाय अभिज्ञशब्दः।
चतुसंग्रहावस्तुविनिश्चयेन
सत्त्वान परिपाचनशब्द निश्चरी ॥520॥

मैत्री का शब्द, करुणा का शब्द, मुदिता का, उपेक्षा का, अभिज्ञा का शब्द, चार संग्रह-वस्तुओं के विशेष रूप से निश्चय के द्वारा प्राणियों को (धर्म-मार्ग में) पक्का करने का शब्द निकल पड़ा।

स्मृतेरुपस्थानप्रभेदशब्दः
सम्यक्प्रहाणास्तथ ऋद्धिपादाः।
पञ्चेन्द्रिया पञ्च बलप्रभेदा
बोध्यङ्ग शब्दस्तुरियेभि निश्चरी ॥521॥

स्मृत्युपस्थान के पृथक्-पृथक् भेदों का शब्द, सम्यक्-प्रहाण, ऋद्धिपाद, पंच इन्द्रिय, बल के पंच प्रभेद, बोधि के अङ्ग (इत्यादि-प्रकारक) शब्द वाद्यों से निकल पड़ा।

अष्टाङ्गिको मार्गबलप्रभेदः[73]
समथस्य शब्दोऽथ विपश्यनायाः।
अनित्यदुःखार्त्तिअनात्मशब्दः
अशुभार्तिशब्दो तुरियेभि निश्चरी ॥522॥

आठ अंगों वाले उत्तम मार्ग के प्रभेद का, शमथ (=शान्ति) का, और विपश्यना (=तत्त्वदर्शन) का शब्द, अनित्य, दुःख, आर्ति (=पीड़ा), एवं अनात्मा का शब्द, अशुभ एवं आर्ति (=पीड़ा) का शब्द वाद्यों से निकल पड़ा।

---

73. मूल, का मार्गबलप्रभेदः वस्तुतः मार्गवरप्रभेदः का अपभ्रंश है। वर शब्द के अन्तःस्थ वकार के स्थान में ओष्ठ्य-स्पर्श बकार हो गया है तथा रेफ के स्थान में लकार हो गया। इस प्रकार के अपभ्रंश पाठ की रक्षा होनी चाहिए। भोटानुवाद काल में बल वस्तुतः वर का अपभ्रंश है यह ज्ञात था अतएव वहाँ अनुवाद हुआ है—**लम्-मछोग्-द्ब्ये** (मार्ग-वर-प्रभेद)। वर= **म्छोग्**। बल शब्द का भोट में अनुवाद **स्तोब्स्** शब्द से किया जाता है।

विरागशब्दश्च विवेकशब्दः
क्षयज्ञानशब्दो अनुत्पादशब्दः ।
अनिरोधशब्दश्च अनालयं च
निर्वाणशब्दस्तुरियेभि निश्चरी ॥523॥

विराग का शब्द और विवेक (= जनसंसर्ग से पृथग्भाव) का शब्द, (क्लेशों के) क्षय के ज्ञान का शब्द, (क्लेशों के) अनुत्पाद का शब्द, अनिरोध (= निरोध-रहित मोक्ष) का शब्द और अनालय (= आलय-रहित मुक्ति) का एवं निर्वाण का शब्द वाद्यों से निकल पड़ा ।

इम एवरूपास्तुरियेभि शब्दः
[74]संबोधिसत्त्वस्यनुभाव[74] निश्चरी ।
यं श्रुत्व सर्वा प्रमदानुशिक्षिता
वराग्रसत्त्वे प्रणिधेन्ति बोधये ॥524॥

ये इस प्रकार के शब्द संबोधिसत्त्व के प्रभाव से निकले । जिनका श्रवण कर सब महिलाओं ने श्रेष्ठ एवं उत्तम सत्त्व (राजकुमार सिद्धार्थ) का अनुसरण करने की शिक्षा ली (और स्वयं) बोधि (प्राप्ति करने) के लिए (चित्त में) प्रणिधान (= संकल्प) किया ।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार = 140क = बोधिसत्त्व ने अन्तःपुर के भीतर रहते हुए उन चौरासी हजार (महिलाओं) को तथा (उन) लाखों देवताओं को जो वहाँ पर पहुँचे हुए थे अनुत्तर-सम्यक्-संबोधि (पाने के मार्ग) में पक्का किया ।

12. इस-के-बाद[75] बोधिसत्त्व के घर से निकलने के उस समय तुषित-देवनिकाय के ह्रीदेव नामक देवपुत्र को अनुत्तर-सम्यक्-सम्बोधि[76] (पाने के पथ में) अवैवर्तिक (अर्थात् पीछे न लौटने वाला था) वह[77] प्रशान्त हो रही रात में[77] बत्तीस हजार देवपुत्रों की मंडली के साथ आगे-आगे चल जहाँ बोधिसत्त्व

74....74. मूल, सम्बोधिसत्त्वश्चनुभाव । पठनीय, सम्बोधिसत्त्वस्यनुभाव । तुलनीय भोट, जोंग्स् प हि. ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पहि. म्थु यिस् (—बोधिसत्त्वस्यानुभावेन) ।

75. मूल, तथा० । पठनीय, अथा० । तुलनीय भोट बे नस् । (वाक्यांश मूल में तथाभिनिष्क्रमणकाले है, उसे अथाभिनिष्क्रमणकाले पढ़ना होगा) ।

76. मूले, सम्यक्संबोधेः । पठनीय, सम्यक् संबोधेः अवैवर्तिकः । तुलनीय भोट, जोंग्स् प हि. ब्यङ् छुब् लस् फ्यिर् मि ल्दोग् प ।

77....77. मूल, रात्रौ प्रशान्तायाम् । भोट, म्छ. न् मो मि जल् चम् न । द्रष्टव्य प्रथम परिवर्त में टिप्पणी 62....62 ।

का उपस्थान प्रसाद (अर्थात् दरबार) था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर गगन-तल में ही रह कर बोधिसत्त्व से गाथाओं द्वारा यों बोला।

(तुषित–देवनिकाय के देवपुत्र ह्रीदेव की गाथाएँ)

(छन्द आर्या)

च्युति दर्शिता अतिशया[78] जन्म च संदर्शित पुरुषसिंह।
अन्तःपुरं विदर्शितु कृतानुवृत्तिस्त्वया लोके ॥525॥

हे पुरुषसिंह, तुमने (तुषित लोक से अपना) अवतरण चमत्कार से दिखाया, जन्म भी खूब दिखाया, रनिवास (भी) विचित्रता से दिखाया। (इस प्रकार) लोकाचार का पालन कर लिया।

(–184–) परिपाचिता ति बहवो देव मनुज लोकि धर्ममनुप्राप्य।
अयमद्य कालसमयो निष्क्रम्ये मति विचिन्तेहि ॥526॥

तुमने लोक में धर्म पाकर बहुत से देवताओं और मनुष्यों को (धर्म-मार्ग पर) पक्का किया है। आज यह काल है—समय है, (घर से) निकलने की बात पर मन में सोचो।

न हि बद्ध मोचयाती न चान्धपुरुषेन दर्शियति मार्गः।
मुक्तस्तु मोचयाती सचक्षुषा दर्शियति मार्गः ॥527॥

(स्वयं) बन्धन में पड़ा (दूसरे को) मुक्त नहीं करता और अन्धा आदमी (दूसरे को) मार्ग नहीं दिखाता (स्वयं) मुक्त ही (दूसरे को) मुक्त करता है, (तथा) आँखों वाला (दूसरे को) मार्ग दिखाता है।

ये सत्त्व कामदासा गृहे-धने-पुत्र-भार्य-परिश्रद्धाः।
ते तुभ्य शिष्यमाणा=140ख=नैष्कम्यमतौ स्पृहां कुर्युः ॥528॥

जो प्राणी काम-भोग के दास हैं, जिनकी घर में, धन में, पुत्र में, एवं पत्नी में सब ओर आसक्ति है, वे तुमसे शिक्षा ले कर (घर से) निकलने की बात पर मन में लालायित होंगे।

ऐश्वर्य कामक्रीडा चतु द्वीपा सप्त रत्न विजहित्वा।
निष्क्रान्त त्वां विदित्वा स्पृहयेत् सनरामरो लोकः ॥529॥

---

78. मूल, अतियशा। पठनीय, अतिशया। तुलनीय भोट, शिन् तु (=अति, अत्यन्त, अतिशय)।

प्रभुता, भोगविलास, चारों द्वीपों तथा सात रत्नों का त्याग कर तुम्हें (घर से) निकला जान कर देवताओं तथा मनुष्यों से युक्त (यह) लोक लालायित होगा।

किं चापि ध्यानसौख्यैर्विहरसि धर्मैर्न चासि कामरतः।
अथ पुन चिरप्रसुप्तां बोधय मरुमानुषशतानि ॥530॥

इसके अतिरिक्त (तुम) धर्म-कर्मों से एवं ध्यानसुखों से विहार करते हो, कामपरायण नहीं हो। तब फिर (यही अच्छा है कि) चिरकाल से सोए हुए सैंकड़ों देवताओं और मनुष्यों को जगा दो।

अतिपति (?त) त (?ति) यौवनमिदं गिरिनदि यथ चञ्चलप्रचलवेगा।
गतयौवनस्य भवतो नैष्क्रम्यमतिर्न शोभते ॥531॥

यह जवानी अत्यन्त चलते-चलते हुए वेग वाली पहाड़ी नदी जैसी बीती जा रही है। जवानी बीत जाने पर (घर से) निकलने की बात आपको सूझी भी तो (दुनिया की आँखों में) अच्छी न लगेगी।

तत्साधु तरुणरूपे प्रथमे वरयौवने ऽभिनिष्क्रम्य।
उत्तारय प्रतिज्ञां[79]) कुरुष्व चार्थं सुरगणानां ॥532॥

इसलिए अच्छा (यही है कि) तरुणाई-के-रूप-वाली नई-नई उत्तम जवानी में (घर से) निकल कर (अपनी) प्रतिज्ञा को पार करो तथा देवगणों आ अर्थ सिद्ध करो।

न च कामगुणरतीभिस्तृप्तिर्लवणोदर्धैर्यथाम्भोभिः।
ते तृप्त येष प्रज्ञा आर्या लोकोत्तरा विरजा ॥533॥

खारे समुद्र के पानी की तरह कामगुणों में रमने से तृप्ति नहीं होती। जिनकी प्रज्ञा आर्य, लोकोत्तर एवं रजोगुणहीन होती है, वे ही तृप्त होते हैं।

त्वमिह प्रिया मनापो राज्ञः शुद्धोदनस्य राष्ट्रस्य।
शतपत्रसदृशवदना नैष्क्रम्यमतिं विचिन्तेहि ॥534॥

तुम राजा शुद्धोदन को तथा राष्ट्र को प्रिय हो, मन में भाने वाले हो। हे कमल के समान वदन वाले, (घर से) निकलने की बात सोचो।

आदीप्त क्लेशतापैर् अग्निः सरणैर्गाढबन्धनैर्बद्धां।
शीघ्रं प्रमोक्षमार्गे स्थापय शान्ते असमवीरा ॥535॥

हे अनुपम वीर, क्लेशों की गरमी से सब ओर से जलते हुए तथा निकलने की राह न पाते हुए, दृढ़ बन्धनों द्वारा बँधे (लोगों) को शीघ्र शान्त एवं उत्तम मोक्ष के मार्ग पर स्थापित करो।

---

79. भोटानुवाद **युगस् बम्** प्रतिज्ञां पाठ का ही समर्थक है

त्वं वैद्य धातुकुशलश्चिरातुरां सत्त्व रोगसंस्पृष्टां ।
भैषज्यधर्मयोगैर्निर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रं ॥536॥

तुम धातुओं में (रोगनिवारक धातुओं से भेषज्य निर्माण में) कुशल वैद्य हो । चिरकाल से पीड़ित रोगों की छूत से छुतियाए प्राणियों को धर्मरूपी भैषज्यों के योगों से शीघ्र निर्वाण के सुख में स्थापित करो ।

(–185–)अन्धातमा अनयना मोहाकुल दृष्टिजाल-(विनि) बद्धाः ।
=145क=प्रज्ञाप्रदीप चक्षुः शोधय शीघ्रं नरमरूणां ॥537॥

घने अँधेरे में आँखों के बिना (अपनी) मूढ़ता से व्याकुल, बुरी दृष्टियों के जाल में बँधे हुए, देवताओं और मनुष्यों की आँख प्रज्ञा के प्रदीप से शीघ्र शोध दो ।

समुदीक्षन्ते बहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः ।
द्रक्ष्यामो बोधिप्राप्तं निरुत्तरं धर्म श्रोष्यामः ॥538॥

बहुत से देवता, असुर, नाग, यक्ष तथा गन्धर्व प्रतीक्षा कर रहे हैं कि (कब) बोधि पा चुके हुए (तुमको) देखना नसीब होगा और कब सर्वोत्तम धर्म सुनने को मिलेगा ।

द्रक्ष्यति च भुजगराजो भवनं अवभाषितं तव शिरीये ।
करियति अनन्तपूजा पूरेहि व्रताशयस्तस्य ॥539॥

नागराज को (अपना) भवन तुम्हारी श्री के प्रकाश से भरा हुआ (कब) देखने को मिलेगा, (और उससे तुम्हारी) अनन्त पूजा (कब) की जा सकेगी । (उसने जिस मतलब से व्रत किया है उसके) व्रत का (वह) मतलब पूरा करो ।

चत्वारि लोकपालाः ससैन्यकास्ते तव प्र-द्-ईक्षन्ते ।
दास्याम चतुरि पात्रां बोधिध्वजि पूर्णमनसस्य ॥540॥

वे चारों लोकपाल (अपनी-अपनी) सेना के साथ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि (हम कब) बोधिध्वज (=बोधिवृक्ष) के नीचे पूर्णमनः (कामना) वाले (तुमको) चार (भिक्षा–) पात्र देंगे ।

ब्रह्म प्रशान्तचारी उदीक्षते मैत्रवा-क्-करुणलाभी ।
अध्येषिष्ये नरेन्द्रं वर्तेन्ति निरुत्तरं चक्रं ॥541॥

अत्यन्त शान्त चर्या वाले, मैत्री से युक्त, करुणा के लाभी ब्रह्मा प्रतीक्षा कर रहे हैं कि सर्वोत्तम (धर्म–) चक्र के प्रवर्तन करने में मनुष्यों के स्वामी से (कब) प्रार्थना करूँगा ।

बोधिपरिपाचिका[80]–पि च देवत अभिवुस्त[81] बोधिमण्डेस्मिन् ।
उत्पत्स्ये ऽयं सत्य ति द्रक्ष्याम्यभिबुध्यतो बोधिं ॥542॥

बोधि (के मार्ग) को पक्का करने वाले, तथा बोधि के सार में निवास करने वाले देवता (प्रतीक्षा में) हैं कि इनके उत्पन्न हो जाने पर (हम इनको) बोधिका अभिसंबोधन (=साक्षात्कार) करते हुए सचमुच देखें।

सत्यं भि (?सि)[82] बोधिसत्त्व अन्तःपुरिये क्रिया विदर्शेन्ति ।
पूर्वंगम भव त्यं मा भेष्यसि पश्चिमस्तेषां ॥543॥

(यह बात) सच है कि बोधिसत्त्व अन्तःपुर की रानी के साथ (भोग-विलास-लीला की) क्रिया दिखाते हैं। तुम उनके अगुआ बने रहो, उनके पिछलग्गू मत रहो।

मञ्जुरुत मञ्जुघोषा स्मराहि दीपंकरस्य व्याकरणं ।
भूतं तथा अवितथा जिनघोषरुतमुदीरेहि ॥544॥[83]

हे मनोहर शब्द वाले, हे मनोहर वचन वाले, (तथागत) दीपंकर की भविष्य-वाणी का स्मरण करो। बुद्ध के शब्द को-बुद्ध के वचन को यथार्थ एवं सत्य कर दिखाओ।

॥ इति ललितविस्तरे संचोदनापरिवर्तो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

●

---

80. बोधिपरिपाचिका के स्थान में भोटानुसार पाठ बोधिपरिचारिका होगा। तुलनीय **ब्यङ् छुब् प्स्ञेन् ब्कुर् ब्येद् प** ।

81. अभिवुस्त पाठ का शोधन पृष्ठ 446 पर अभितुस्तुवु है। भोटानुवाद **ग्नस् गंमस्** से स्पष्ट है कि यहाँ धातु वस् है। अभि-वस्-त = अभिवुस्त (वकार का संप्रसारण 5 एवं व्यंजनभक्ति वकार) यह शुद्ध रूप था। संस्कृत रूप अध्युषित है।

82. मूल, मि। पठनीय, भि अथवा सि। तुलनीय भोट, **मृछिस्** (=अस्ति, सन्ति)। द्रष्टव्य बु० हा० सं० ग्रा० पृष्ठ 205 जहाँ सि आदि प्रयोगों का संग्रह है। भोटानुवाद से इस बात पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि यहाँ धातु अस्त्यर्थक है। भेष्यति आदि में भि धातु दीख पड़ता है अस् धातु भी अनेक रूपों में सकारमात्र है। पर भि तथा सि रूपों पर यत्न करना चाहिए। वैद्यपाठ हि अपनी मनगढ़न्त है।

83. **इस परिवर्त में आई गाथाओं की छाया यों है....**

ये सत्त्वाग्रा दशदिग्लोके तेषु विशेषात् तत्र रतितूर्यैः। गाथागीता इमा रतिमधुरा संचोदयन्त्यो नरवरप्रवरम् ॥385॥ पूर्वं त्वया कृतोऽयं प्रणिधिर् दृष्ट्वा सत्त्वान् दुःखशतभरितान्। लयनं त्राणं जगद्-निजं (= नित्यं) शरणं भविष्यामि नाथो हितकरः परमः ॥386॥ साधो वीर स्मर चर्यां पूर्वां यस्ते-आसीज्जगद्धितप्रणिधिः। कालो वेला-अयं तव समयो निष्क्राम्य ऋषिवरप्रवर ॥387॥ यस्यार्थे ते (=त्वया) धनवराणि विविधानि त्यक्तानि पूर्वं शिरः करचरणाः। भविष्यामि बुद्धो नरामरदमनो लोकस्याग्रो गुणशतनिचितः ॥388॥ त्वं शीलेन व्रततपश्चरितः (= चरितव्रततपाः) त्वं क्षान्त्या जगद्धितकरणः। त्वं वीर्येण शुभगुणनिचितः (= निचितशुभगुणः) ध्याने प्रज्ञायां न तव समस्त्रिभवे ॥389॥ क्रोधाविष्टाः खिलमलबहुलास् ते मैत्र्या त्वया स्फुरिताः (= व्याप्ताः) सुगत। कारुण्यं ते बहुविधेऽबुधे मिथ्यात्ववति शुभगुणरहिते ॥390॥ पुण्यज्ञानः शुभनिचितात्मा ध्यानाभिज्ञः प्रतपसि विरजाः। अवभासयसि दशेमा दिशः मैत्रैर्मुक्तः शशीव विमलः ॥391॥ एते चान्ये बहुविधरुचिरास् तूर्यैर्घोषा जिनरुतरवनाः (= जिनशब्द ध्वननाः)। ये चोदयन्ति सुरनरमहितं निष्क्राम्यायं तव समयः ॥392॥

या नार्यो मुदितमनाः प्रसन्नचित्ताः वेणुभिर् मधुरमनोरमं रणन्ति। आवेशाद् दशदिग्गतानां जिनोत्तमानां गाथा इमा विविधा विचित्ररूपाः ॥393॥ पूर्वं तेऽयं प्रणिधिरभूद् वीर, दृष्ट्वेमां जनतां सदा-अनाथभूताम्। मोचिष्ये जरामरणात्तथान्यदुःखाद् बुद्ध्वा पदमजरं परम् अशोकम् ॥394॥

तत् साधो पुरवराद् इतः शीघ्र निष्क्रम्य पूर्वर्षिभिश्चरितम्। आक्रम्य धरणीतलप्रदेशं संबुध्यस्वासदृशजिनज्ञानम् ॥395॥ पूर्वं त्वया धनरत्नानि विचित्राणि, त्यक्तान्यभवन् करचरणप्रियात्मानः। एषोऽद्य तव समयो महर्षे धर्मोघं जगतिविभजयानन्तम् ॥396॥ शीलं ते शुभविमलमखण्डम्, पूर्वं ते वरं सततमभूषीत्। शीलेन न ते सदृशो महर्षे मोचय जगद् विविधक्लेशेभ्यः ॥397॥ क्षान्त्या भवानां शतं चरितस्त्वम्, क्षान्तानि ते जगति विविधानि दुरुक्तानि। क्षान्त्या क्षमादमनिरतात्मा, नैष्क्रम्ये मतिं कुरु द्विपदेन्द्र ॥398॥ वीर्यं ते दृढमचलमकम्प्यं, पूर्वं ते पृथु सुगत, अभूत्। धर्षयित्वा नमुचिं शठं ससैन्यं, शोषयिष्ये त्रीन् सकलान् अपयान् ॥399॥ यस्यार्थे व्रततपश्चरितः (= व्रततपश्चरितवान्) त्वं, दग्ध्वा कलिकलुषक्लेशान्। त्वं वर्ष-अमृतजलम् अमोघं, तर्पय चिरतृषितानानाथान् ॥400॥ तां पूर्वां गिरं वराम् अनुचिन्त्य, निष्क्राम्य पुरवराद् इतः शीघ्रं। बुद्ध्वा पदममृतमशोकं, तर्पयिष्ये ऽमृतरसे (= अमृतरसेन) तृषार्तान् ॥401॥ प्रज्ञायाः य परिचर्याकुशलस्त्वम्,

ज्ञानं ते पृथु विपुलमनन्तम् । मूढानां विमतिपथस्थितानां, प्रज्ञाभां शुभरुचिरां कुरु त्वम् ॥402॥ मैत्र्यां भवशतानि चरितस्त्वं कारुण्ये वरमुदितायामुपेक्षायाम् । यामेव वरचर्यां चरितस्त्वं, तामेव चर्या विभज जगतः ॥403॥ एवं ता दशदिशां जिनतेजोभिः, गाथा वै गुणकुसुमविचित्राः । तूर्येभ्यो विविधमनुरुवन्ति, चोदयन्त्यः शयनगतं कुमारम् ॥404॥

यदा पुनः प्रमुदिता रतिकराः प्रमदाः सुरुचिरं सुमधुरं प्राभाणिषुस्तूर्यैः । अथ जिना दशदिशि (=दशसु दिक्षु) सुरनरदमनाः । गिरं वराम् अनु-अराविषुस् ततोऽराविषुस्तूर्यैः ॥405॥ कृतास्त्वया हितकरेण बहुगुणेन जनतायाः, निजा नित्या जिनगुणा विचरता गतिषु । स्मर स्मर पूर्वाणि व्रततपश्चरणानि लघु व्रज द्रुमवरं स्पृश पदममृतम् ॥406॥ सुतृषिता नरामरा जिनगुणरहितास् त्वम् अतिप्रतिबलो ऽमृतरसदः । दशबलगुणधर-बुधजन-महित लघुं त्वं नरपते विभजामृतम् ॥407॥ अत्यजस्त्वं पुरा भवे धनमणिकनकानि, सखीं प्रियान् सुतान् महीं सनगरनिगमाम् । शिरोऽप्यत्यजः स्वकं करचरणनयनानि जगत्या हित करजिनगुणनिरत ॥408॥ पुरा त्वं नरवर शुद्धो नृपो यदाभूः, नरस्तवाभिमुखम् इमां गिरमवोचत् । देहि मह्यम् इमां महीं सनगरनिगमाम् अत्यजस्तदा प्रमुदितो न च मनः क्षुब्धम् ॥409॥ पुरा त्वं नरपतिः सुकृद् द्विजो यदाभूः, गुरुजनं पर्यचरो न च अद्रुहः परम् (=परस्मै) । अतिष्ठिपो द्विजवरान् बहुजनान् कुशले, च्युतो ततो भगवतो ऽमरपुरनिलयम् ॥410॥ पुरा त्वं नृपसुत ऋषिवरो यदाभूः, अच्छिदत् तव तनुरुहाणि (=अङ्गानि) कलिनृपो रुष्टः । कृता त्वया कालक्रिया न च मनः क्षुब्धं, पयस्तव-असुस्नुवत् तदा करतलचरणाभ्याम् ॥411॥ श्यामः पुनर् ऋषिसुतस् त्वं पुरा यदाभूः, व्रतरतो गुरुभृद् गिरिवरनिलये । हतोऽभवो नृपतिना विषकृतेन-इषुणा, कृपा तव तस्मिन् नृपे न च मनः क्षुब्धम् ॥412॥ पुरा त्वं गुणधरो मृगपतिर्यदाभूः, गिरिनदीबहुजले दूयमानः (अथवा उह्यमानः) हितो ऽभवस् त्वया नरः स्थापितः स्थलपथे, उपानैषीत् तव-अरिं न च मनः क्षुब्धम् ॥413॥ पुरा त्वं नरवर, द्विजसुतो यदाभूः, मणिस्तव प्रपतितो जलधरे विपुले । च्युतः क्षीणः त्वं महोदधिम् अलमथा धनमर्णि दृढबल वृषभ ॥414॥ पुरा त्वं सुपुरुष ऋषिवरो यदाभूः, द्विजस्तव (समीपं) उपागतो भव मम शरणम् (इति) अभाणीत् ऋषे द्विजवर मम रिपुरुत्पन्नः । अत्यजस्त्वं स्वकां तनुं न च द्विजमत्यजः ॥415॥ श्याम ऋषिरुपगतः पुरा द्रुममनिलये, रुष्या ऽभाणीत् तुरुरहाः कति-इमे गणयेः । सुविदिता

सुगणिता यथा तस्मिन् किसलयास् तथा तव-अवितथा समा गिरा रचिता ॥416॥ शुको लसो (=भास्वरो हरिद्रावर्णो वा) गुणधरः पुरा द्रुमे वसन् क्षयं गतो न चात्यजः कृतम् अस्मरः पूर्वम् । मरत्पतिः प्रमुदितस् तव गुणं स्मरन् श्रियाकरोद् द्रुमवरं यथैव पूर्वम् ॥417॥ इति तव-असदृशानि व्रतपश्चरणानि बहुगुणस्य गुणधरस्य गुणपथे चरतः । (परि) त्यज्य महीं सनगराम् अयं तव समयो लघु जगत् स्थापय जिनगुण (।) चरणे ॥418॥

यदा प्रमदा रत्नशुभवस्त्रभूषितगात्राः, वरप्रवराणि तूर्याणि सुमनोज्ञानि सम्प्राभाणिषुः । अथ दशसु दिक्षु जिनतेजोभिर्गाथा विचित्रा इत्यराविषुर्मधुरास् तूर्यस्वरेभ्यः ॥419॥ तव प्रणिधिः पूर्व बहुकल्पान् लोकप्रदीप जरामरणग्रस्तेऽहं लोके त्राणं भविष्यामि । स्मर पूर्वं प्रणिधिं नृसिंह यस्ते ऽभूत्, अयं समयस्त्वमिह द्विपदेन्द्र निष्क्रमणाय ॥420॥ भवनयुते त्वमिह बहुदानं दत्तवान् अनेकं धनकनकानि रत्नानि शुभवस्त्राणि रत्नानि विचित्राणि । करचरणौ नयने प्रियपुत्रा राज्यं समृद्धं त्वया त्यक्तं न च ते खिलदोषो याचकेषु ॥421॥ शिविनृपतिस्त्वमिह शशिकेतुर् आसीत् सुदंष्ट्रः कृपः करुणामना मणिचूडश्चन्द्रप्रदीपः । इति प्रमुखीकृत्य दृढशूरो राजा सुनेत्रो बहु-नृपति नयुतो रतो दाने त्वं स विकुर्वन् (=विविधरूपं धारयन्) ॥422॥ तव सुगत चरतो बहुकल्पान् शीलचर्यां मणिरत्नसदृशी विमलाभूच् (अथवा विमलमणिरत्नसदृशी-अभूच्) छीलविशुद्धिः त्वया चरता चमर्या यथा बालं (=पुच्छं) रक्षितुं शील कृतस् त्वया-इह जगते विपुलार्थः शीलरतेन ॥423॥ गजवरस्त्वमिह रिपुणा लुब्धेन विद्ध इषुणा कृपया करुणां जनयित्वा अतिरौद्रे छादितः (=रक्षितः) सोऽभूत् । पर्यत्यजस्ते रुचिरौ शुभौ दन्तौ न चात्यजः शीलम् इति प्रमुखीकृत्य बहुस् तव शील-विकुर्वणता (=शील-ऋद्धिः) ॥424॥ त्वया सोढानि जगतोऽहितानि अनेकानि दुःखसहस्राणि बहूनि कटुकवचनानि बधो बन्धश्च क्षान्तिरतेन । परिचारिताः पूर्वं नरा ये ते (=त्वया) सर्वसुखेन पुनर् वधकास् (=घातकास्) ते-इह-अभूवन् तच्च ते क्षान्तम् ॥425॥ गिरिप्रवरनिलये त्वं नाथ ऋक्षो यदासीर् हिमकीर्णाद् (=हिम-व्याप्तात्) सलिलाद् भयभीतं त्वं नरं गृहीत्वा परिचरसि । (पर्यचारीर्) विविधैः फलमूलैः सर्वसुखेन, लघु बधकांस्तव-उपनयति (उपानैषीत्) स च ते क्षान्तः ॥426॥ दृढं संस्थितमचलमकम्प्यं वीर्यं तवासीद् व्रततपोविविधगुणज्ञाने । कृतोऽबलो नमुचिर् वशवर्ती वीर्यबलेन, अयं समयस्तवेह नृसिंह निष्क्रमणाय ॥427॥

हयप्रवरस् त्वमिह पुरासीर्हेमसुवर्णो लघु गगने व्रजसि जातकृपो राक्षसीद्वीपम्। व्यसनगतान् मनुजान् तदा गृहीत्वा क्षेमेऽतिष्ठिपः, इति प्रमुखीकृत्य बहवस्तव वीर्य-विकुर्वणताः ॥428॥ दमशमथे नियमाद् हतक्लेशो ध्यायिनाम् अग्रो लघु चपलं विषयैर्-रतिलोल चित्तं दान्त्वा (दमित्वा)। कृतः स्वगुणैस् त्वमिह जगतोऽर्थो ध्यानरतेन, अयं समयस् त्वमिह वरसत्त्व ध्यानविकुर्वणताः (कुर्याः) ॥429॥ त्वं पूर्वम् ऋषिः सुस्थित आसीर ध्यानरतौ नृपरहिता मनुजास् त्वां गृहीत्वा राज्येऽभ्यषिञ्चन्। दश-कुशले जनता स्थापिता ब्रह्मपथेषु च्युता मनुजा अव्राजिषुस् तदा सर्वे ब्रह्म-निकेतम् ॥430॥ दिशि विदिशि विविधगतिज्ञाने त्वं सुविधिज्ञः परचरित-जगती-रुतज्ञाने, इन्द्रियज्ञाने। नयविनये विविधमतिधारायां पारगतस्त्वम् अयं समयस् त्वमिह नृपसूनो निष्क्रमणाय ॥431॥ त्वया पूर्वं जनतामिमां दृष्ट्वा दृष्टिविपन्नां जरामरणविविधबहुदुःखे कृच्छ्रगतां हि। भवविभवंकरणे (=भवविनाशने) ऋजुमार्गं स्वयमनुबुध्य हत तमस् त्वयेह कृतो लोकेऽर्थो महान् ॥432॥ इति विविध रुचिरा गुणयुक्ता गाथा विचित्रा ततोऽराविषुस् तूर्यैर्जिनतेजसाऽचूचुदन् वीरम्। दुःखभरित (=पूर्ण) जनताम् इह दृष्ट्वा मा त्वमुपेक्षस्व, अयं समयस्तवेह वरबुद्धे निष्क्रमणाय ॥433॥

विचित्रवस्त्ररत्नहारगन्धमाल्यभूषिता प्रसन्नचिता जातप्रेमाणो नार्यः प्रहर्षिताः। प्रबोधयन्ति या अग्रसत्त्वं तूर्यसंप्रवादितैर् जिनानुभावेन--एवंरूपा गाथास् तूर्येभ्यो निरचारिषुः ॥434॥ यस्यार्थे त्वया कल्पान् अनेकान् त्यक्तस् त्यागो दुस्त्यजः, सुचरितं शीलं क्षान्तिर् वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा भाविता। जगद्धितार्थं स ते कालः सांप्रतमुपस्थितः, नैष्क्रम्यबुद्धिं चिन्तयाशु मा विलम्बस्व नायक ॥435॥ त्यक्तः पूर्वं रत्नकोशः स्वर्णरूप्यभूषणानि, इष्टा ते यज्ञा नैकरूपास् तासु तासु जातिसु। त्यक्ता भार्या पुत्रो दुहिता कायो राज्यं जीवितम्, बोधिहेतोरप्रतेय त्यक्तो दुस्त्यजस्त्वया ॥436॥ अभूस्त्वम् अदीनपुण्या राजा विश्रुतश्रीः, निमिंधरो निमिश्च कृष्णो ब्रह्मदत्तः केशरी। सहस्रयज्ञो धर्मचित्तो अर्चिष्मान् दृढधनः सुचिन्तितार्थो दीनसत्त्वाय ते त्यक्तो दुस्त्यजः ॥437॥ सुतसोमो दीप्तवीर्यः पुण्यरश्मिः यः सोऽभूः, महात्याग-वान् स्थामवान् यः कृतज्ञस् त्वमभूः। राजर्षिश् चन्द्रो रूपवान् शूरः सत्य-वर्धनः, सुभाषितंगवेषी राजा ऽऽसीः सुमतिश्च सुरतः ॥438॥ चन्द्रप्रभो विशेषगामी रेणुभूर् दिशांपतिः प्रदानशूरः काशिराजो रत्नचूडः शान्तगः। एते चान्ये पार्थिवेन्द्रा यैस्त्यक्तो दुस्त्यजः, यथा ते वृष्टा त्यागवृष्टिः, एवं धर्मं वर्ष ॥439॥ दृष्टास्ते पूर्वं सत्त्वसारा गङ्गावालुकोपमाः कृता ते

तेषां बुद्धानां पूजा-अप्रमेयानां चिन्तया। वराग्रबोधिम् इच्छता सत्त्वमोक्ष-कारणाद् अयं स कालः प्राप्तः शूर निष्क्राम पुरोत्तमात् ॥440॥ प्रथमं ते ऽमोघदर्शी शालपुष्पैः पूजितः, विरोचनः प्रसन्नचित्तेन प्रेक्षितः क्षणान्तरे। हरीतकी चैका दत्ता दुन्दुभिस्वराय ते तृणोल्का गृहीत्वा धारिता ते दृष्टवा चन्दनं गृहम् ॥441॥ पुरप्रवेशे रेणु दृष्टवा क्षिप्ता चूर्णमुष्टिका धर्मेश्वराय साधुकारो दत्तो धर्म भाषमाणाय। नमोनमः (इति) समस्तदर्शिनं दृष्ट्वा वाग् भाषिता; महार्चिःस्कन्धे स्वर्णमाला क्षिप्ता हर्षितेन ते ॥442॥ धर्मध्वजो दशाप्रदानेन रोधो मुद्गमुष्ट्या, अशोकपुष्पेण ज्ञानकेतुर् यवागूपानेन सारथिः। रत्नशिखी च दीपदानेन पद्मयोनिर् औषधेन सर्वाभिभूश्च मुक्ताहारेण पद्मदानेन सागरः ॥443॥ वितानदानेन पद्मगर्भः, सिंहो वर्षसंस्तरेण सालेन्द्रराजो सर्पिदानेन क्षीरत्यागेन पुष्पितः। यशोदत्तः कुरण्टकपुष्पेण सत्यदर्शी भोजनेन कायप्रणामेन ज्ञानमेरुर् नागदत्तश् चीवरेण ॥444॥ अत्युच्चगामी चन्दनाग्रस् तिष्यस् तृणमुष्टिना, महाव्यूहः पद्मदानेन रश्मिराजो रत्नैः। शाक्यमुनिः सुवर्णमुष्ट्या, इन्द्रकेतुः संस्तुतेन, सूर्याननो ऽवतंसकैः स्वर्णपट्टेन सुमतिः ॥445॥ नागाभिमुर् मणिप्रदानेन पुष्यश् चित्रपट (दूष्य) संस्तरेण भैषज्यराजो रत्नच्छत्रेण सिंहकेतु रासनेन गुणाग्रधारी रत्नजालेन सर्ववाद्येन काश्यपो गन्धाग्रेण चूर्णेन मुक्ताभिः, अर्चिःकेतुः पुष्पचैत्यकेन ॥446॥ अक्षोभ्यराजः कूटागारेण माल्येन लोकपूजितः, तगरशिखी च राज्यत्यागेन सर्वगन्धेन दुर्जयः। महाप्रदीप आत्मत्यागेन भूषणेन पद्मोत्तरः, विचित्रपुष्पैर्धर्मकेतु दीपकारी-उत्पलैः॥447॥ एते चान्ये सत्त्वसारा ये ते पूर्वं पूजिताः, नानारूपा विचित्राः पूजा अन्यान्याः कुर्वंता। स्मर तेऽतीतबुद्धा तांश्च पूजाः शास्तृणाम् अनाथाः सत्त्वाः शोकपूर्णा मा--उपेक्षथा निष्क्राम ॥448॥ दीपंकरे ते दृष्टमात्रे लब्धा क्षान्तिरुत्तमा, अभिज्ञाः पञ्च-अच्युता से लब्धा आनुलोमिकाः। अत उत्तरम् एकैकबुद्धपूजाचिन्तया प्रवर्तिता असंख्यकल्पाः सर्वलोकधातुषु ॥449॥ क्षीणास्ते कल्पा अप्रमेयास्ते च बुद्धा निर्वृतास् तवापि सर्वे-आत्मभावाः (=कायाः) ते च नाम क्व गताः। क्षयान्तधर्माणः सर्वे भावा नास्ति नित्यः संस्कृतेऽनित्याः कामा राज्य भोगा निष्क्राम पुरोत्तमात् ॥450॥ जरा च व्याधिर् मृत्युर् आयन्ति दारुणा महाभया हुताशन इवोग्रतेजा भीमः कल्पसंक्षये। क्षयान्तधर्माणः सर्वे भावा नास्ति नित्यः संस्कृते सुकृच्छप्राप्तसत्त्वान् दृष्ट्वा निष्क्राम गुणधर ॥451॥

यदा नारिगणस् तूणवेणुरवै विविधैस्तूर्यैः प्रत्यबोधि। सुखशयनगतं मनुजाधिपतिं तदा तूर्यरवो ऽयं निश्चरति (स्म) ॥452॥ ज्वलितं त्रिभवं

जराव्याधिदुःखैर् मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम् । भवनिःसरणे सदा मूढं जगत् भ्रमति-भ्रमरो यथा कुम्भगतः ॥453॥ अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं रटरङ्ग-समा जगत्यूर्मिच्युतिः । गिरिनदीसमं लघुशीघ्रजवं व्रजत्यायुर्जगति यथा विद्युन्नभसि ॥454॥ भुवि देवपुरे त्र्यपायपथे भवतृष्णाविद्यावशा जनता। पर्यवर्तिष्ट पंचगतिष्वबुधा यथा कुम्भकारस्य हि चक्रभ्रमिः ॥455॥ प्रियरूपवरैः सह स्निग्धरुतैः शुभगन्धरसैर् वरस्पर्शसुखैः । परिषक्तमिदं कलिपाशे जगद् मृगलुब्धकपाशे यथैव कपिः ॥456॥ सभयाः सरणाः सदा वैरकरा बहुशोकोपद्रवाः कामगुणाः । असिधारासमा विषयपत्रनिभाः, हीनाः (=त्यक्ताः) आर्यजनैर्यथा मीढघटाः (=मलमूत्रघटाः) ॥457॥ स्मृत्या शोककरास्तमःकरणा भयहेतुकरा दुःखमूलानि सदा। भवतृष्णालताया विवृद्धिकराः सभयाः सरणाः सदा कामगुणाः ॥458॥ यथा—अग्निखाता ज्वलिता सभयास् तथा कामा इमे विदिता आर्यजनैः । महापङ्कसमा असि सूनासमा मधु-दिग्धा-इव क्षुरधारा यथा ॥459॥ यथा सर्पशिरो यथा मीढघटास् तथा कामा इमे विदिता विदुषाम् । तथा शूलसमा द्विजपेशीसमा यथा श्वानः करङ्के सवैरमुखाः ॥460॥ उदकचन्द्रसमा इमे कामगुणाः प्रतिबिम्बम् इव गिरिघोषो यथा । प्रतिभाससमा नटरङ्गसमास् तथा स्वप्न-समा विदिता आर्यजनैः ॥461॥ क्षणिका वशिका इमे कामगुणास् तथा मायामरीचिसमा अलीकाः । उदकबुद्बुदफेनसमा वितथाः परिकल्पसमुच्छ्रिता बुद्धाः बुधैः ॥462॥ प्रथमे वयसि वररूपधरः प्रिया—इष्टा मता—इयं बालचरी । जराव्याधिदुःखैर्हततेजोवपुषं विजहति मृगा इव शुष्कनदीम् ॥463॥ धनधान्यवरो बहुद्रव्यो बली प्रिया-इष्टा मता-इयं बालचरी। परिहीणधनं पुनः कृच्छ्रगतं विजहति नरा इव शून्याटवीम् ॥464॥ यथा पुष्पद्रुमः सफल इव द्रुमो नरो दानरतस्तथा प्रीतिकरः । धनहीनो जरार्तस्तु याचको भवति तदा ऽप्रियो गृध्रसमः ॥465॥ प्रभुर् द्रव्यबली वररूपधरः प्रियः संगमने-इन्द्रियप्रीतिकरः । जराव्याधिदुःखार्दितः क्षीणधनो भवति तदा ऽप्रियो मृत्युसमः ॥466॥ जरया जीर्णः समतीतवया द्रुमो विद्युद्धत इव यथा भवति । जराजीर्णो ऽगारं यथा सभयं जरानिःसरणं लघु ब्रूहि मुने ॥467॥ जरा शोषयति नरनारीगणं यथा मालुलता घनशालवनम् । जरा वीर्यपराक्रमवेगहरा जरायां पङ्कनिमग्नो यथा पुरुषः ॥468॥ जरा रूपसुरूपविरूपकरी जरा तेजोहरा बलस्थामहरा सह सौख्यहरा परिभवकरी जरा मृत्युकरी जरा-ओजोहरा ॥469॥ बहुरोगशतैर् घनव्याधिदुःखैर् उपसृष्टं जगज् ज्वलन्त इव मृगाः । जराव्याधिगतं प्रसमीक्षस्व जगद्

दुःखनिःसरणं लघु देशय ।।470।। शिशिरे हि यथा हिमवातो महान् तृणगुल्मवनौषध्योजोहरः । तथौजोहरम् अहो व्याधिजरं परिहीयते— इन्द्रियरूपबलम् ।।471।। धनधान्यमहाथक्षयान्तकरं परितापकरं सह व्याधिजरम् । प्रतिघातकरं प्रियद्वेषकरं परिदाहकरं यथा सूर्यो नभसि ।।472।। मरणं च्यवनं च्युतिः कालक्रिया प्रियद्रव्यजनेन वियोगः सदा । अपुनरागमनं, असंगमनं द्रुमपत्रफलं नदीस्रोतो यथा ।।473।। मरणं वशिताम् अवशीकुरुते मरणं हरते नदी दारु यथा । असहायो नरो व्रजति-अद्वितीयः स्वकर्मफलानुगतो विवशः ।।474।। मरणं ग्रसते बहुप्राणिशतं मकर इव जलाहारिणं भूतगणम् । गरुड उरगं मृगराजो गजं ज्वलन इव तृणौषधिभूतगणम् ।।475।। एभ्य ईदृशेभ्यो बहुदोषशतेभ्यो जगद् मोचयितुं कृतो यः प्रणिधिः । स्मर तां पूर्वा प्रणिधानचर्याम् अयं कालस् तवाभिनि-ष्क्रमितुम् ।।476।।

यदा नारीगणः प्रहर्षितो, बोधयति तूर्यैर्महामुनिं । तदा गाथा विचित्रा निरचारिषुः, तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः ।।477।। लघु तद् भज्यते सर्वसंस्कृतम्, अचिरस्थायि नभसीव विद्युत् । अयं कालस्तवोपस्थितः, समयो निष्क्रमणाय सुव्रत ।।478।। संस्कारा अनित्या अध्रुवा आमकुम्भोपमा भेदनात्मकाः । परकीययाचितोपमाः पांशुनगरोपमास् तावत्कालिकाः ।। 479।। संस्काराः प्रलोपधर्माण इमे वर्षाकाले चलितमिव लेपनम् । नदीकूल-मिव सबालुकं प्रत्ययाधीनाःस्वभावदुर्बलाः ।।480।। संस्कारा प्रदीपार्चिर्वत् क्षिप्रोत्पत्तिनिरोधधर्मकाः । अनवस्थिता मारुतोपमाः फेनपिण्डा इवासारा दुर्बलाः ।।481।। संस्कारा निरीहाः शून्यकाः कदलीस्कन्धसमा निरीक्षातः (=परीक्षातः) । मायोपचित्तमोहना बालोल्लापन-रिक्तमुष्टिवत् ।।482।। हेतुभिश्च प्रत्ययैश्च सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते । अन्योन्यप्रतीत्यहेतुतस् तदिदं बालजनो न बुध्यते ।।483।। यथा मुञ्जं प्रतीत्य बल्बजं रज्जुर्व्यायामबलेन वर्तिता । घटीयन्त्रं सचक्रं वर्तते, एतदेकैकशो नास्ति वर्तनम् ।।484।। तथा सर्वभवाङ्गवर्तिता अन्योन्योपचयेन निश्रिताः । एकैकशस् तेषु वर्तनं पूर्व-परान्तत नोपलभ्यते ।।485।। बीजस्य सतो यथाङ्कुरो न च यद् बीजं स चैवाङ्कुरः । न चान्यस्ततो न चैव तत् (=न च तदेव) एवमनुच्छेदाशाश्व-तधर्मता ।।486।। संस्कारा अविद्याप्रत्ययास् ते संस्कारा न सन्ति तत्त्वतः । संस्कारा अविद्या चैव हि शून्या एके प्रकृत्या निरीहकाः ।।487।। मुद्राया प्रति-मुद्रा मुद्रासंक्रांतिर्नचोपलभ्यते । न च तत्र न चैवान्यतः, एवं संस्कारा अनुच्छेदा अशाश्वताः ।।488।। चक्षुश्च प्रतीत्य रूपं च चक्षुर्विज्ञानमिहोपजायते । न

चक्षु रूपनिश्रितं रूपसंक्रान्तिर्न चैव चक्षुषि ॥489॥ नैरात्म्याशुभाश्च धर्मा इमे पुनर् आत्मेति शुभाश्च कल्पिताः। विपरीतमसद्विकल्पितं चक्षुर्विज्ञानं तत उपजायते ॥490॥ विज्ञाननिरोधसम्भवं विज्ञानमुत्पादव्ययं विपश्यति। अगतं कुह चानागतं शून्यं मायोपमं योगी पश्यति ॥491॥ अरणिं यथा चोत्तरारणिं हस्तव्यायामं त्रिभिः संगतिं। इति प्रत्ययतोऽग्निर् जायते। कृतार्थो लघु निरुध्यते ॥492॥ अथ पण्डितः कश्चिद् मृगयते कुतोऽयम् आगतः कुत्र याति वा। विदिशो दिशः सर्वाः मृग्यतो नागतिर्नास्य गतिश्च लभ्यते ॥493॥ स्कन्धायतनानि धातवस् तृष्णा, अविद्या, कर्म इति प्रत्ययाः। सामग्री तु सत्त्वसूचना स च परमार्थतो नोपलभ्यते ॥494॥ कण्ठोष्ठं प्रतीत्य तालुकं जिह्वापरिवर्ते ऽक्षराणि। न च कण्ठगतानि न तालुके ऽक्षरमेकैकं तु नोपलभ्यते ॥495॥ सामग्रीं प्रतीत्य च सा वाग् मनोबुद्धिवशेन निश्चारीत्। मनोवाचावदृश्यरूपे बाह्यतो ऽभ्यन्तरतो नोपलभ्येते ॥496॥ उत्पादव्ययं विपश्यन् वाग्रुतघोषस्वरस्य पण्डितः। क्षणिकां वशिकां तदादर्शत् सर्वां वाचं प्रतिश्रुतकोपमाम् ॥497॥ यथा तन्त्रीं प्रतीत्य दारु च हस्तव्यायामं त्रिभिः संगतिम्। तुणवीणासुघोषकादिभिः शब्दो निश्चरति तदुद्भवः ॥498॥ अथ पण्डितः कश्चिद् मृगयते कुतोऽयमागतः कुत्र याति वा। विदिशो दिशः सर्वा भृग्यतो शब्दगमनागमनं न लभ्यते ॥499॥ तथा हेतुभिः प्रत्ययैश्च सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते। योगी पुनर्भूतदर्शनात् शून्यान् संस्कारान् निरीहान् पश्यति ॥500॥ स्कन्धायतनानि धातवः शून्या अध्यात्मिकाः शून्या बाह्यकाः। सत्त्वात्मविविक्तमनालया धर्माकाशस्वभावलक्षणाः ॥501॥ इदमीदृशं धर्मलक्षणं बुद्धं दीपंकरदर्शने त्वया। अनुबुद्धं स्वयं यथात्मना यथा बोधय सदेवमानुषान् ॥502॥ विपरीताभूतकल्पितैः, रागदोषैः (=रागद्वेषैः) परिदह्यते जगत्। कृपामेघात् शमाम्बुशीतलां मुञ्च धाराममृतस्य नायक ॥503॥ त्वया यस्य कृते पण्डितं दत्तं दानं बहुकल्पकोटिषु। संप्राप्य हि बोधिमुत्तमाम् आर्यधनेन संग्रहं करिष्ये प्राणिनाम् ॥504॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर, आर्यधनहीनान् दरिद्रान् दुःखितान् मोपेक्षस्व सत्त्वसारथे, आर्यधनेन संग्रहं तेषां कुरु ॥505॥ त्वया शीलं सदा सुरक्षित पिधानार्थायापायभूमीनाम्। स्वर्गामृतद्वारमुत्तमं दर्शयिष्ये बहुसत्त्वकोटीनाम् ॥506॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर बद्ध्वा (=आवृत्य) द्वारं निरयभूमीनाम्। स्वर्गामृतद्वारं मुञ्च (=विवृणु) ऋध्य (तु) शीलवतो विचिन्तितं ॥507॥ त्वया क्षान्तिः सदा सुरक्षिता प्रतिघक्रोधशमार्थं देहिनाम्। भवार्णवात् सत्त्वान् तारयित्वा

स्थापयिष्ये शिवे क्षेमे निर्ज्वरे ॥508॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर वैरव्यापाद-विहिंसाकुलान् मोपेक्षस्व विहिंसाचारिणः क्षान्तिभूमौ स्थापयेदं जगत् ॥509॥ त्वया वीर्यं तदर्थं सेवितं धर्मनावं समुदानीय (= संसाध्य, निर्माय)। उत्तीर्य जगत् भवार्णवात् स्थापयिष्ये शिवे क्षेमे निर्ज्वरे ॥510॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर चतुरोघैरिवोह्यते जगत्। लघु वीर्येण बलेन पराक्रमेण सत्वान् संतारयानायकान् ॥511॥ त्वया ध्यानं क्लेषधर्षणं भावितं यस्य कृते सूरत। भ्रान्तेन्द्रियान् प्राकृतेन्द्रियान् कपिचित्तान् अर्थपथे स्थापयिष्ये-ऽहम् ॥512॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर क्लेशजालैरिहाकुलं जगत्। मोपेक्षस्व क्लेशोपद्रुतान् ध्यान एकाग्रे स्थापयेमां प्रजाम् ॥513॥ त्वया प्रज्ञा पुरा सुभाविता मोहाविद्यान्धतमोवृताय जगते बहुधर्मशताभिलोकनाय दास्ये चक्षुस् तत्त्वदर्शनम् ॥514॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर मोहाविद्यान्तमोवृताय जगते। देहि वरां प्रज्ञां सुप्रभां धर्मचक्षुर्विमलं निरञ्जनम् ॥515॥ इमा ईदृश्यो गाथा निरचारिषुस् तूर्यसंगीतिरवाद् नारीणाम्। याः श्रुत्वा मिद्धं (=तन्द्रां) विवर्ज्य चित्तं प्रेष्यति वराग्रबोधये ॥516॥

उदारेण छन्देन चाशयेन, अध्याशयेन करुणया प्राणिषु उत्पद्यते चित्तं वराग्रबोधये शबद् एवं रूपस्तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥517॥ श्रद्धा प्रसादो ऽधिमुक्तिगौरवं निर्मानिताऽवनमनं गुरूणाम्। परिप्रश्नता किंकुशलंगवेषणा, अनुस्मृतिभवना (इति) शब्दो निरचारीत् ॥518॥ दानं दमः संयमः शीलशब्दः, क्षान्त्याः शब्दस् तथा वीर्यशब्दः। ध्यानभिनिर्हारसमाधिशब्दः प्रज्ञाया उपायस्य च शब्दो निरचारीत् ॥519॥ मैत्र्याः शब्दः करुणायाः शब्दो, मुदिताया उपेक्षाया अभिज्ञाशब्दः। चतुःसंग्रहवस्तुविनिश्चयेन सत्त्वानां परिपाचनशब्दो निरचारीत् ॥520॥ स्मृतेरुपस्थानप्रभेदशब्दः सम्यक्प्रहाणास्तथा ऋद्धिपादाः पञ्चेन्द्रिभाणि पञ्च बलप्रभेदा बोध्यङ्गानि (इति) शब्दस्तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥521॥ अष्टाङ्गिकमार्गवरप्रभेदः शमथस्य शब्दोऽथ विपश्यनायाः। अनित्यदुःखार्त्यनात्मशब्दोऽशुभातिशब्दस् तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥522॥ विरागशब्दश्च विवेकशब्दः क्षयज्ञानशब्दो ऽनुत्पादशब्दः। अनिरोधशब्दश्चानालयं च निर्वाणशब्दस् तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥523॥ इमे-एवंरूपास्तूर्तेभ्यः शब्दाः संबोधिसत्त्वस्यानुभावेन निरचारिषुः। याश्श्रुत्वा सर्वाः प्रमदा अनुशिक्षिता वराग्रसत्त्वे प्रणिदधति बोधये ॥524॥

च्युतिर् दर्शिताऽतिशया जन्म च संदर्शितं पुरुषसिंह। अन्तःपुरं विदर्शितं कृतानुवृत्तिस्त्वथा लोके ॥525॥ परिपाचितास् ते बहवो देवा

मनुजा लोके धर्ममनुप्राप्य। अयमद्य कालसमयो नैष्क्रम्ये मतौ विचिन्तय ॥526॥ न हि बद्धो मोचयते न चान्धपुरुषेण दर्श्यते मार्गः। मुक्तस्तु मोचयते सचक्षुषा दर्श्यते मार्गः ॥527॥ ये सत्त्वाः कामदासा गृहधनपुत्र-भार्यापरिश्रद्धाः। ते त्वच् छिक्षमाणा नैष्क्रम्यमतौ स्पृहां कुर्युः ॥528॥ ऐश्वर्यं कामक्रीडां चतुरो द्वीपान् सप्तरत्नानि विहाय। निष्क्रान्तं त्वां विदित्वा स्पृहयेत् सनरामरो लोकः ॥529॥ किं चापि ध्यानसौख्यैर्विहरसि धर्मैर्नचासि कामरतः। अथ पुनश् चिरप्रसुप्तान् बोधय मरु-मानुष (=देवमानुष) शतानि ॥530॥ अतिपतति (यथारुतं तु अतिपतितं) यौवनमिदं गिरिनदी यथा चञ्चलप्रचलवेगा। गतयौवनस्य भवतो नैष्क्रम्य-मतिर्न शोभते ॥531॥ तत् साधु तरुणरूपे प्रथमे वरयौवनेऽभिनिष्क्रम्य। उत्तारय प्रतिज्ञां कुरुष्व चार्थं सुरगणानाम् ॥532॥ न च कामगुणरतिभिस् तृप्तिर्लवणोदधेर्यथाम्भोभिः। ते तृप्ता येषां प्रज्ञा, आर्या लोकोत्तरा विरजाः ॥5?3॥ त्वमिह प्रियो मनोज्ञो राज्ञः शुद्धोदनस्य राष्ट्रस्य। शतपत्रसदृश-वदन, नैष्क्रम्यमतिं विचिन्तय ॥534॥ आदीप्तान् क्लेशतापैर् अनिःसरणैर् गाढबन्धनैर्बद्धान्। शीघ्रं प्रमोक्षमार्गे स्थापय शान्तेऽसमवीर ॥535॥ त्वं वैद्यो धातुकुशलश् चिरातुरान् सत्त्वान् रोगसंस्पृष्टान्। भैषज्यधर्मयोगै-र्निर्वाणसुखे स्थापय शीघ्रम् ॥536॥ अन्धतमसानाम् अनयनानां मोहाकुलानां दृष्टिजालबद्धानाम्। प्रज्ञाप्रदीपेन चक्षुः शोधय नरामराणां (अथवा नरमरुताम्) ॥537॥ समुदीक्षन्ते बहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः। द्रक्ष्यामो बोधिप्राप्तं निरुत्तरं धर्मं श्रोष्यामः ॥538॥ द्रक्ष्यति च भुजगराजो भवनमभासितं तव श्रिया। क्रियते ऽनन्तपूजा पूरय व्रताशयस्तस्य ॥539॥ चत्वारो लोकपालाःससैन्यकास्ते तव प्रेक्षन्ते (=प्रतीक्षन्ते) दास्यामश् चत्वारि पात्राणि बोधिध्वजे पूर्णमनसः ॥540॥ ब्रह्मा प्रशान्तचारी, उदीक्षते मैत्रीवान् करुणालाभी। अध्येषयिष्ये नरेन्द्रं वर्तयन्तं निरुत्तरं चक्रम् ॥541॥ बोधिपरिपाचिका अपि च देवता अभ्युषिता बोधिमण्डे। उत्पत्स्यतेऽयं सत्यमिति द्रक्ष्यामोऽभिबुध्यन्तं बोधिम् ॥542॥ सत्यम् अस्ति बोधिसत्त्वाः अन्तःपुरिकायां क्रिया विदर्शयन्ति। पूर्वंगमो भव त्वं मा भूः (यथारुतु तु भविष्यसि) पश्चिमस्तेषाम् ॥543॥ मञ्जुरुत मञ्जुघोष स्मर दीपंकरस्य व्याकरणम्। भूतं तथा ऽवितथं जिनघोषरुतमुदीरय ॥544॥

●

371

॥ १४ ॥

॥ स्वप्नपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 185 (पंक्ति 18)—197 (पंक्ति 21)
भोटानुवाद 141क (पंक्ति 7)—148 (पंक्ति 5)

5+3

॥ १४ ॥

॥ स्वप्नपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, उस देवपुत्र के द्वारा प्रेरित हो बोधिसत्त्व ने राजा शुद्धोदन को यह स्वप्न दिखाया =141 ख= जिसको सोये हुए स्वप्न के भीतर पड़े हुए राजा शुद्धोदन ने देखा। (उन्होंने) बोधिसत्त्व को[1] प्रशान्त हो रही रात में[1] देवगणों से घिरे-घिरे (घर से) निकले हुए (–186–) तथा (घर से) निकल कर काषाय वस्त्र धारण कर प्रव्रजित होते हुए देखा। वे जग पड़े। झटपट कञ्चुकी से पूछा। कुमार अन्तःपुर में हैं न ? उसने कहा। हे देव हैं। तब अन्तःपुर में (विराजमान होते हुए भी) राजा शुद्धोदन के हृदय में शोक का काँटा चुभ गया। (उनके मन में आया कि) ये जो पहले से ही निमित्त दिखाई पड़ रहे हैं (वे इस बात की मानो सूचना दे रहे हैं कि) ये कुमार अवश्य (घर से) निकलेंगे।

2. उन्होंने सोचा। कुमार को कभी भी उद्यान भूमि की ओर निकल कर नहीं जाना चाहिए। स्त्रीगण के बीच आसक्त होकर यहीं ही रमण करते रहेंगे (तो घर से) नहीं निकलेंगे।

3. इसके बाद राजा शुद्धोदन ने कुमार के सब प्रकार से भोग-विलास के लिए ऋतु-ऋतु के अनुकूल तीन महल बनवाए—ग्रैष्मिक (गर्मी में रहने का) वार्षिक (वर्षा में रहने का), हैमन्तिक (शीतकाल में रहने का)। उनमें जो गर्मी में रहने का महल था, वह खूब ठंडा था, वर्षा में रहने का जो महल था, वह साधारण अर्थात् न ठंडा न गरम था, शीतकाल में रहने का जो महल था वह स्वभाव से उष्ण था। एक-एक महल की सीढ़ियों को पाँच-पाँच सौ आदमी उठाकर लगाते थे और नीचे रखते थे। उनको यों उठाकर लगाने तथा नीचे रखने का =142 क= शब्द आधे योजन तक सुनाई पड़ता था। इससे कुमार का अनजाने (घर से) निकलना न हो सकता था। नैमित्तिकों (निमित्त के जानकारों) तथा वैपञ्चिकों (भविष्य की व्याख्या करने वालों) ने भविष्यवाणी

1...1. मूल, प्रशान्तायां रात्रौ। भोट, म्छन् मो मि जल् चंम् न्। द्रष्टव्य प्रथम परिवर्त की टिप्पणी 62....62।

कर रक्खी थी कि कुमार मंगलद्वार से निकलेंगे। इसलिए राजा ने मंगलद्वार के लिए बड़े-बड़े किवाड़े बनवाए। एक-एक किवाड़े को पाँच-पाँच सौ आदमी खोलते और बंद करते थे। उनका शब्द आधे योजन तक जाता था। और उन (बोधिसत्त्व) के लिए अनुपम पाँच कामगुणों (की सामग्री) को इकट्ठा किया गया था। गाने-बजाने-नाचने से सदा ही युवतियाँ (उनकी) सेवा करती थीं।

4. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर बोधिसत्त्व ने सारथि से कहा—हे सारथे, रथ जोड़ो। उद्यानभूमि जाऊँगा। तब सारथि ने राजा (–187–) शुद्धोदन के पास जाकर यों कहा—हे देव, कुमार उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने वाले हैं।

5. तदनन्तर राजा शुद्धोदन ने सोचा। मैंने सुन्दर भूमि देखने के लिए कुमार को कभी भी उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने नहीं दिया है। अब मुझे कुमार को उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने देना चाहिए। उससे स्त्रीगण के साथ घिरे हुए कुमार को आनन्द मिलेगा। (और वे घर से) न निकलेंगे।

6. तब फिर राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व के स्नेह से, (उनके प्रति होने वाले) बहुमान के कारण नगर में डुग्गी पिटवाई कि कुमार सुन्दर भूमि को देखने के लिए (आज से) सातवें दिन उद्यानभूमि की ओर =**142**ख= बाहर निकलेंगे। इसलिए आप लोगों को चाहिए कि मन को न भाने वाली सब (वस्तुएँ) हटा दें, ताकि कुमार अच्छी न लगने वाली (वस्तु) न देखें। मन को भाने वाली एवं विषयों में रमाने वाली (वस्तुओं) को जुटाएँ।

(प्रथम निमित्त वृद्ध पुरुष-दर्शन)

7. उसके बाद सातवें दिन सब-का-सब नगर सजाया गया। उद्यानभूमि भी सजाई गई। नाना प्रकार के रंगीन धूसों से बने चँदवे लगाए गए। छतरियों से, ध्वजाओं तथा पताकाओं से उसे विभूषित किया गया। जिस मार्ग से बोधिसत्त्व को जाना था, उस मार्ग पर जल का छिड़काव किया गया, झाड़ा-पोंछा गया, सुगन्धित जल सब ओर डाला गया, मोती जैसे फूल बिखेरे गए, अनेक गन्ध-घटियों के द्वारा धूप दी गई, जलपूर्ण कलश सजाए गए, केले के वृक्ष रोपे गए, अनेक विचित्र वस्त्रों के बने चँदवे ताने गए, रत्नों से जड़ी हुई छोटी-छोटी घंटियों के जाल, हार एवं अर्धहार लटकाए गए तथा चतुरंगिणी सेना रची गई। अन्तःपुर में कुमार को (उनका) परिवार (=सेवक-सेविका-समूह) सजाने लग गया (और शुद्धवास निकाय के देवगण बोधिसत्त्व को उड़ाने की बात सोचने लग गए)। उस समय जब बोधिसत्त्व बड़े दल-बल के साथ नगर के पूर्व द्वार से

उद्यानभूमि के लिए बाहर निकल रहे थे, तब बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही शुद्धावासनिकाय के देहपुत्रों ने उस मार्ग में, मार्ग के सामने, एक पुरुष दिखाया, जो जीर्ण, बूढ़ा, बड़ी आयु का, नसों से भरे शरीर वाला, पोपला (–188–), झुर्री भरी देह वाला, पके केश वाला, कुबड़ा, काठ की मेहराब जैसा टेढ़ा, टूटे (शरीर) का, लाठी टेके हुए, =143क= व्याकुल, बीती जवानी का खरखराहट से रुँधे कण्ठ वाला, शरीर के अगले भाग से लाठी का सहारा ले कर सब अंगों और प्रत्यङ्गों से थर-थरा रहा था।

8. इसके बाद बोधिसत्त्व ने जानते हुए ही सारथि से यह कहा—

(छन्द वसन्ततिलका)

किं सारथे पुरुष दुर्बल अल्पस्थामो
उच्छुष्कमांसरुधिरत्वच स्नायुनद्धः।
स्वेतंशिरो विरलदन्त कृशाङ्गरूपो
आलम्ब्य दण्ड व्रजते असुखं स्खलन्तः ॥545॥

हे सारथे, दुबला, थोड़े सामर्थ्यवाला, सूखे मांस, लोहू, एवं खाल का, नसों से बँधा हुआ, सफ़ेद सिर का, बिरले दाँतों वाला, दुबले-पतले अंगों वाला, (वह) आदमी क्यों लाठी टेक कर दुःख के साथ गिरता-पड़ता जा रहा है।

9. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो जरयाभिभूतः
क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो बलवीर्यहीनः।
बन्धूजनेन परिभूत अनाथभूतः
कार्यासमर्थ अपविद्धु वनेव दारुः ॥546॥

हे देव, यह पुरुष बुढ़ापे से हार खाया हुआ, क्षीण इन्द्रियों का, अत्यन्त दुःखी, बल से तथा पौरुष से हीन, बन्धु जनों द्वारा ठुकराया गया, अनाथ हुआ, कुछ भी करने-धरने में असमर्थ, वन में फेंक दिए गए काठ जैसा (निकम्मा) है।

10. बोधिसत्त्व ने कहा—

कुलधर्म एष अयमस्य हि तं भणाहि
अथवापि सर्वजगतोऽस्य इयं ह्यवस्था।
शीघ्रं भणाहि वचनं यथ भूपमेतत्
श्रुत्वा तथार्थमिह योनिश चिन्तयिष्ये ॥547॥

बोलो, इसका यह क्या कुलधर्म है ? अथवा क्या सारे जगत् का यही हाल है ? यहाँ जैसा सच हो (वैसी) बात शीघ्र कह डालो। सुन कर यहाँ यथार्थ (=सत्यवस्तु) का आमूल चिन्तन करूँगा।

11. सारथि ने कहा—

नैतस्य देव कुलधर्म न राष्ट्रधर्मः
सर्वे जगस्य जर यौवनु धर्षयाति।
(–189–) तुभ्यं पि मातृपितृबान्धवज्ञातिसंघो
जरया अमुक्त न हि अन्य गतिर्जनस्य ॥548॥

हे देव, यह इसका न तो कुलधर्म है, और न राष्ट्रधर्म। सारे लोक की जवानी को बुढ़ापा दबोच बैठता है। तुम्हारे माँ-बाप, भाई-बन्द, और जात-जमात को भी (इससे) छुटकारा नहीं है। पैदा होने वाले की और गति नहीं है।

12. बोधिसत्त्व ने कहा—

धिक सारथे अबुधबालजनस्य बुद्धिः
=143ख= यद्यौवनेन मदमत्त जरां न पश्येत्।
आवर्तयाशु मि रथं पुनरहं प्रवेष्ये
किं मह्य कीडरतिभिर्जरयाश्रितस्य ॥549॥

हे सारथे, मूर्ख एवं बच्चे—जैसे लोक की बुद्धि को धिक्कार है, जो जवानी के नशे में मतवाला होकर बुढ़ापा नहीं देखता। मेरे रथ को लौटाओ, फिर मैं (नगर में) प्रवेश करूँगा। बुढ़ौती का अड्डा बनने वाले का—मेरा खेल-कूद में मौज उड़ाने में क्या?

(द्वितीय निमित्त रोगिपुरुष-दर्शन)

13. हे भिक्षुओ, इसी प्रकार दूसरे काल में—दूसरे समय में नगर के दक्षिणी द्वार से बड़े दल-बल के साथ उद्यानभूमि की ओर बाहर निकलते हुए बोधिसत्त्व ने मार्ग में व्याधियों को छूत से छुतियाए हुए, पेट की जलन से हारे हुए, दुबले शरीर के, अपने ही मल-मूत्र में डूबे हुए, बिना रक्षा के, बिना शरण के कठिनाई से साँस लेते और निकालते हुए, (एक) आदमी को देखा। देख कर जानते-बूझते हुए भी फिर सारथि से यों कहा—

किं सारथे पुरुष रुष्यविवर्णगात्रः
सर्वेन्द्रियेभि विकलो गुरु प्रस्वसन्तः।
सर्वाङ्गसुष्क उदराकुल कृच्छ्रप्राप्तो
मूत्रे पुरीषि स्वकि तिष्ठति कुत्सनीये ॥550॥

हे सारथे, (यह) व्रणों से बिगड़े रंग-रूप वाले शरीर का, सब इन्द्रियों से क्षीण, भारी साँस लेने वाला सब अंगों में सूखा, पेट के रोग से पीड़ित, कष्ट पाने वाला, आदमी क्यों घिनौने अपने मल-मूल में पड़ा हुआ है?

14. सारथी ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो परमं गिलानो
व्याधीभयं उपगतो मरणान्तप्राप्तः।
आरोग्यतेजरहितो बलविप्रहीनो
अत्राणद्वीपशरणो ह्यपरायणश्च ॥551॥

हे देव, यह आदमी बहुत बीमार है, व्याधियों से घबराया हुआ है, मरने-मरने को हो रहा है, नीरोगता और तेज से रहित, बल को बिलकुल खो चुका है, बिना रक्षा-द्वीपशरण का है, और इसका सहारा नहीं रहा है।

15. (–190–) बोधिसत्त्व ने कहा—

आरोग्यता च भवते यथ स्वप्नक्रीडा
व्याधीभयं च इममीदृशु घोररूपं।
=144क= को नाम विज्ञपुरुषो इम दृष्ट्ववस्थां
क्रीडारतिं च जनयेच्छुभसंज्ञतां वा ॥552॥

आरोग्य स्वप्न की क्रीड़ा जैसा (क्षण भर का) है, और व्याधि का यह ऐसा दुस्तर भय (सदा के लिए) है। इस अवस्था को देख कर कौन बुद्धिमान पुरुष क्रीड़ा में रम सकता है और (इस दुनिया को) अच्छा अच्छा समझ सकता है।

हे भिक्षुओ, इसके बाद उत्तम रथ को लौटवा कर बोधिसत्त्व ने फिर उत्तम नगर में प्रवेश किया।

(तृतीय निमित्त मृतपुरुष–दर्शन)

16. हे भिक्षुओ, इसी प्रकार दूसरे काल में दूसरे समय में नगर के पश्चिमी द्वार से बड़े दल-बल के साथ उद्यानभूमि की ओर निकलते हुए बोधिसत्त्व ने आदमी को देखा जो मर गया था, काल कर गया था, मंच पर रख दिया गया था, वस्त्र का चँदवा ऊपर से लगा दिया गया था, चारों ओर से अपनी अपनी बिरादरी के लोगों के समूह से घिरा था, और सब लोग रोते हुए, चिल्लाते हुए, विलाप करते हुए, (अपने सिर के) केशों को फैलाए हुए, सिर पर धूल लपेटे हुए, छाती पीटते हुए, जोर से बोल-बोल कर शोक मनाते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे। (उसे देख कर) जानते हुए भी बोधिसत्त्व ने सारथि से यह कहा—

किं सारथे पुरुष मञ्चपरि गृहीतो
उद्धूतकेश नर[2] पांशु शिरे क्षिपन्ति।
परिचारयित्व विहरन्त्युरस्ताडयन्तो
नानाविलापवचनानि उदीरयन्तः ॥553॥

---

2. मूल, नख। पठनीय नर। तुलनीय भोट, मि द ग् (=नराः)।

हे सारथे, आदमी को क्यों मंच के ऊपर ले रक्खा है ? और लोग क्यों केश फैलाए हुए सिर पर धूल फेंक रहे हैं, क्यों छाती पीटते हुए, नाना प्रकार के विलापवचनों को बोल-बोल परिचर्या कर रहे हैं ?

17. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो मृतु जम्बूद्वीपे
न हि भूयु मापितृ द्रक्ष्यति पुत्रदारां ।
अपहाय भोगगृहमित्रज्ञातिसंघं[3]
परलोकप्राप्तु न हि द्रक्ष्यति भूयु ज्ञातीं ॥554॥

हे देव, यह आदमी मर गया है, जम्बूद्वीप में फिर (अपने) माँ-बाप तथा स्त्री-पुत्रों को न देख पायेगा । (यह) भोगों को, घर को, मित्रों को, और नाते के लोगों के समूह को छोड़ कर परलोक चला गया है, (अब) फिर नाते के लोगों को न देख पायेगा ।

18. (–191–) बोधिसत्त्व ने कहा—

धिग् यौवनेन जरया समभिद्रुतेन
=144ख=आरोग्य धिग् विविधव्याधिपराहतेन ।
धिग् जीवितेन विदुषा नचिरस्थितेन
धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसङ्गैः ॥555॥

(उस) जवानी को धिक्कार है, (जिस पर) बुढ़ौती हमला कर देती है, (उस) आरोग्य को धिक्कार है, (जिसे) नानाप्रकार की व्याधियाँ कुचल डालती हैं, विद्वानों के (उस) जीवन को धिक्कार है, (जो) चिर काल तक नहीं ठहरता, पण्डित पुरुष के (भोगविलासों में) रमने की आसक्तिों को धिक्कार है ।

यदि जर न भवेया नैव व्याधिर्न मृत्युः
तथापि च महदुःखं पंचस्कन्धं धरन्तो ।
किं पुन जरव्याधिर्मृत्यु नित्यानुबद्धाः
साधु प्रतिनिवर्त्या[4] चिन्तयिष्ये प्रमोक्षं ॥556॥

---

3. मूल, भोगगृह (मातृपितृ) मित्रज्ञातिसंघं । कोष्ठकपाठ भोट में नहीं है । तुलनीय, **लोङ्स् स्प्योद् ख्यिम् दङ् म्जह् ग्ञ्न् छोग्स्** ।

4. प्रतिनिवर्त्या (=लीट् प्रतिनिवर्तस्व) । तुलनीय भोट, **स्लर् ज़्लोग्** । यही पदे यदि ल्यबन्त हो तो उसका भोटानुवाद **स्लर् ब्ज़्लोग् स्ते** होता है । (द्रष्टव्य लेफमन ललितविस्तर 191 पृष्ठ पर दसवीं पंक्ति तथा भोटानुवाद 144ख पंक्ति 3) ।

यदि बुढ़ौती न होती, व्याधि न होती, और मौत भी न होती, तो भी पञ्चस्कन्ध के ढोने वाले का दुःख बहुत (ही) होता। सदा साथ में लगे रहने वाली बुढ़ौती, व्याधि, और मौत के होने पर (दुःख का) कहना ही क्या ? अच्छा, लौट चलो। (मैं) उत्तम मोक्ष का चिन्तन करूँगा।

हे भिक्षुओ, इसके बाद उस उत्तम रथ को लौटवा कर बोधिसत्त्व ने फिर नगर में प्रवेश किया।

(चतुर्थनिमित्त प्रव्रजितपुरुष-दर्शन)

19. हे भिक्षुओं, इसी प्रकार दूसरे काल में—दूसरे समय में नगर के उत्तरी द्वार से उद्यानभूमि की ओर बाहर निकलते हुए बोधिसत्त्व के उस मार्ग में बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही देवपुत्रों ने (एक) भिक्षु का अभिनिर्माण किया। बोधिसत्त्व ने शान्त, विनयी, संयमी, ब्रह्मचारी, अचंचल नेत्र वाले, जुए भर की (लगभग तीन हाथ की) दूरी तक देखने वाले, प्रसन्न करने वाले ईर्यापथ (=चर्या-विधि) से युक्त, प्रसन्न करने वाली आगे की ओर बढ़ने तथा पीछे की ओर लौटने की पैरों की चाल से युक्त, प्रसन्न करने वाली आगे-पीछे दाएँ-बाएँ पड़ने वाली निगाह से, प्रसन्न करने वाले (अंगों के) समेटने तथा फैलाने से, प्रसन्न करने वाले संघाटी सहित पात्र और चीवर के धारण करने से युक्त उस भिक्षु को मार्ग में खड़ा देखा। देख कर जानते हुए भी बोधिसत्त्व ने सारथि से यों कहा—

किं सारथे पुरुष शान्तप्रशान्तचित्तो
नोत्क्षिप्तचक्षु व्रजते युगमात्र दर्शी। (–192–)
=145क=काषायवस्त्रवसनो सुप्रशान्तचारी,
पात्रं गृहीत्व न च उद्धतु उन्नतो वा। 557॥

हे सारथे (वह) पुरुष क्यों शान्त-चित्त-से अतिशान्त-चित्त से, बिना आँख उठाए, जुए भर की (लगभग तीन हाथ की) दूरी तक देखते हुए, काषाय वस्त्र पहने, अत्यन्त शान्त चर्या के साथ, पात्र लेकर, बिना ऐंठ और बिना घमण्ड के साथ जा रहा है।

20. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो इति भिक्षु नामा
अपहाय कामरतयः सुविनीतचारी।
प्रव्रज्यप्राप्तु सममात्मन एषमाणो
संरागद्वेषविगतोऽन्वेति पिण्डचर्या॥558॥

हे देव, इस पुरुष को भिक्षु कहते हैं। काम (भोगों) के आनन्दों को छोड़ अत्यन्त विनयाचार वाला, प्रव्रज्या लेकर, आत्मशान्ति खोजता हुआ, राग और द्वेष से हीन यह भिक्षा के लिए जा रहा है।

21. बोधिसत्त्व ने कहा—

साधू सुभाषितमिदं मम रोचते च
प्रव्रज्य नाम विदुभिः सततं प्रसस्ता।
हितमात्मनश्च परसत्त्वहितं च यत्र
सुखजीवितं सुमधुरं अमृतं फलं च ॥559॥

साधु, यह सुभाषित मुझे पसन्द है। विद्वानों ने (उस) प्रव्रज्या की सदा प्रशंसा की है, जिसमें अपना हित होता है, दूसरे प्राणियों का हित होता है, जीवन सुख का तथा बहुत मिठास का होता है, और (अन्त में) अमृत का फल मिलता है।

हे भिक्षुओ, इसके बाद उस उत्तम रथ को लौटवा कर बोधिसत्त्व ने फिर उत्तम नगर में प्रवेश किया।

22. हे भिक्षुओ, इस प्रकार राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व की इस प्रकार की यह सत्प्रेरणा देख-सुन कर अधिक मात्रा में सब ओर से बोधिसत्त्व की रक्षा के लिए परकोटे बनवाए, खाइयाँ खुदवाईं, द्वारों को मजबूत करवाया, पहरेदार तैनात किए और शूरों को (सावधान रहने के लिए) प्रेरित किया, वाहनों को सजवाया, कवचों को पहनवाया। नगर के चारों द्वारों तथा तिराहों पर चार बड़ी सेनाओं की मोर्चा-बन्दी बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए करवाई, जो इनकी रात-दिन रखवाली करती थीं कि बोधिसत्त्व निकल कर बाहर न जाने पाएँ = 145 ख = अन्तःपुर में आज्ञा दी कि कभी भी (–193–) संगीत न बन्द किया जाए, सब प्रकार के आनन्दों की क्रीड़ाओं को जुटाया जाए, स्त्री-मायाओं को दिखाया जाए, कुमार को ऐसा प्रेमीचित्त का बना कर बाँध रक्खा जाए कि प्रव्रज्या के निमित्त बाहर न निकल पाएँ।

23. इस (विषय) में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(छन्द शार्दूलविक्रीड़ित)

द्वारे स्थापित युद्धशौण्डपुरुषाः खड्गायुधापाणयो
हस्ती-अश्व-रथाश्च वर्मितनरा आरुढ नामावली।
परिखा खोटक तोरणाश्च महता प्रकार उच्छ्रापिता
द्वारा वद्ध सुगाढबन्धनकृता क्रोशस्वरामुञ्चनाः ॥560॥

द्वार पर हथियार बन्द हाथ में तलवार लिए युद्ध में होशियार आदमियों को तथा हाथी जुते एवं घोड़े जुते रथों पर, हाथियों की कतारों पर चढ़े हुए कवच पहने हुए मर्दों को तैनात किया। खाइयों को, (आना-जाना, रोकने के) बाडों को, फाटकों को और बड़े-बड़े परकोटों को बनवाया, खूब मज़बूत साँकलें लगवा कर, (खोलन और बन्द करने में) कोस भर तक सुनाई पड़ने वाले शब्द को करने वाले दरवाजों को लगवाया।

सर्वे शाक्यगणा विषण्णमनसो रक्षन्ति रात्रिदिवं
निर्घोषश्च बलस्य तस्य महतः शब्दो महा श्रूयते।
नगरं व्याकुलु भीतत्रस्तमनसो मा स्माद व्रजेत् सूरतो
मा भूच्छाक्यकुलोदितस्य गमने छिद्येत वंशो ह्ययं ॥561॥

सब शाक्यगण विषाद भरे मन से रात-दिन रक्षा करने लगे, उस बड़ी सेना की बड़ी आवाज गूँजती हुई सुनाई पड़ने लगी, मन में डर से और घबराहट से नगर परेशान रहने लगा कि कहीं करुणावन्त (कुमार) यहाँ से चले न जाएँ और कहीं ऐसा न हो कि शाक्यकुल से उगे हुए (कुमार) के जाने पर शाक्यवंश खतम हो जाए।

आज्ञाप्तो युवतोजनश्च सततं संगीति मा छेत्स्यथा
वस्थानं प्रकरोथ क्रीडरतिभिः निर्बन्धथा मानसं।
ये वा इस्त्रिय-माय नेकविविधा दर्शेथ चेष्टां बहुं
आरक्षां प्रकरोथ विघ्न कुरुथा मा खु व्रजेत् सुरतः ॥562॥

जवान-महिला-लोगों को आज्ञा दी कि कभी भी संगीत मत बन्द करना, क्रीड़ा के विनोदों से खूब रिझाना, मन बाँध लेना, और जो स्त्रियों की अनेक ढंग-ढंग की मायाएँ हैं, चालें हैं, उन्हें बहुत-बहुत दिखाना, रखवाली करना और रुकावट डालना ताकि करुणावन्त (कुमार) न जाएँ।

तस्या निष्क्रमिकालि सारथिवरे पूर्वे निमित्ता इमे
हंसाक्रोञ्चमयूरसारिकशुका नो ते रवं मुञ्चिषु। = 146क =
प्रासादेषु गवाक्षतोरणवरेष्वातालमञ्चेषु च
जिह्माजिह्म[5] सुदुर्मना असुखिता ध्यायन्त्यधोमूर्धकाः ॥563॥

उन उत्तम सारथि (बोधिसत्त्व) के निकलने के अवसर पर ये पूर्वनिमित्त थे। हंस, सारस, मोर, सारिकाएँ, और सुए महलों पर, गोखों पर, तोरणों पर

---

5. मूल, जिह्माजिह्व। पठनीय, जिह्माजिह्म (=जिह्म-जिह्म। यहाँ जिह्म शब्द का आम्रेडन है। तुलनीय भोट, द्मन् शिङ् द्मन् ल्। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 243 पर जिह्म शब्द।

और अटारियों के मचानों पर (बैठे) दीन-हीन, बहुत अनमन, वे-सुख के साथ, माथा नीचा किए, सोचते थे और (अपनी) बोली न बोलते थे।

पुडिनीपुष्करिणीषु पद्म रुचिरा म्लानानि म्लायन्ति च
वृक्षा शुष्कपलाश पुष्परहिताः पुष्पन्ति भूयो न च।
(–194–) वीणावल्लकिवंश तन्त्रिरचिता छिद्यन्त्यकस्मात्तदा
भेरीश्चैव मृदंग पाप्यभिहता भिद्यन्ति नो वाद्यिषु ॥564॥

ताल-तलाइयों में सुन्दर कमल (यातो) मुरझा गए थे (या) मुरझा रहे थे, पेड़ों के पत्ते सूख गए थे; फूल गिर गए थे, और फिर फूल नहीं फूल रहे थे। उस समय वीणा, वल्लकी, वंश (एक तार लगा वाद्य दण्ड[6]) तार से रचे जाने पर अकस्मात् टूट जाते थे, तथा भेरियाँ और मृदंग हाथ की थपक से फूट जाते थे, बजते न थे।

सर्वं व्याकुलमासि तच्च नगरं निद्राभिभूतं भृशं
नो नृत्ते न च गायिते न रमिते भूयो मनः कस्यचित्।
राजापी परमं सुदीनमनसः चिन्तापरो ध्यायते
हा धिक् शाक्यकुलस्य ऋद्धि विपुला मा हैव संधक्ष्यते ॥565॥

वह नगर सब-का-सब व्याकुल था, (सब का) नींद से बहुत बुरा हाल था, किसी का मन न अधिक गान में लगता था और न नाच में। राजा भी बहुत अधिक दीन मन से चिन्ता के मारे सोचा करते थे कि हाय-हाय, यह कैसी मुसीबत है, शाक्यकुल की बढ़ी हुई समृद्धि कहीं यहाँ ही भस्म न हो जाए।

(गोपा का स्वप्नदर्शन)

एकस्मिन् शयने स्थिते स्थितमभूद् गोपा-तथा-पार्थिवौ
गोपा रात्रियि अर्धरात्रसमये स्वप्नानिमां पश्यति।
सर्वेयं पृथिवी प्रकम्पितमभूच् शैला-स-कूटावटी[7]
वृक्षामारुतएरिता क्षिति पती उत्पाट्य मूलोद्धृताः ॥566॥

---

6. वंश वस्तुतः बाँसुरी है, भोट में ग्लि ङ् बु शब्द भी बाँसुरी का ही वाचक है। यहाँ तन्त्रीवाद्यों के प्रसंग में वंश सम्भवतः एक तारा है क्योंकि उसका दण्ड भी प्रायः वंश का होता है।

7. मूल, शैला सकूटावटी। यह प्रयोग बहुत दुर्लभ है। कूटावटी वस्तुतः कूटवती है। कूट (प्रकृति) वत् (प्रत्यय)—ई (स्त्रीप्रत्यय)। स (सहित) का मध्यनिपात इस अपभ्रंश में ही सम्भव है। शैला यह बहुवचन है जिसको समास के भीतर भी बचा लिया गया है। कूटवत् का सम्बन्ध शैल से है क्योंकि शैल ही कूटवत् (शिखरवत्) यहाँ अभिप्रेत हैं। यों अर्थ दृष्टि से

एक ही पड़े पलंग पर गोपा तथा पृथिवीपति (सिद्धार्थ) विराजते थे। रात में आधीरात के समय गोपा ने इन स्वप्नों को देखा कि यह सब पृथिवी चोटी-वाले पहाड़ों के सहित काँप उठी, हवा से झकझोरे वृक्ष मूल से उखड़ गए और उखड़ कर धरती पर गिर गए।

चन्द्रासूर्य नभातु भूमिपतितौ सज्योतिषालंकृतौ
केशानद्दशि लून दक्षिणि भुजे मुकुटं च विध्वंसितं।
हस्तौ छिन्न तथैव छिन्न चरणौ नग्नादृशी आत्मनं
मुक्तहार तथैव मेखलमणी छिन्नादृशी आत्मनः ॥567॥

तारों की साज-बाज के साथ चाँद और सूरज को आसमान से धरती पर गिरा-पड़ा देखा, दाहिने हाथ से केशों को काटा हुआ देखा, मुकुट को तहस-नहस किया हुआ देखा, हाथों को कटा हुआ, पैरों को कटा हुआ, और अपने-आप को नंगा देखा, अपने मोतियों के हार को, तथा करधनी के मनकों को अलग-अलग देखा।

शयनस्यादृशि छिन्न पाद=146ख=चतुरो धरणीतलेस्मिंछयो
छत्रे दण्डु सुचित्र श्रोम रुचिरं छिन्नादृशी पार्थिवे।
सर्वे आभरणा विकीर्ण पतिता-म्-उह्यन्ति ते वारिणा
भर्तुश्चाभरणा सवस्त्रमुकुटा शय्यागता व्याकुला ॥568॥

पलंग के चारों पावों को टूटा हुआ देखा, (मैं स्वयं) धरती पर सोई हूँ (ऐसा देखा), पृथिवीपति (सिद्धार्थ) के छत्र में लगे उत्तम चित्र कढ़े हुए, शोभाशाली, मन को भाने वाले दण्ड को टूटा हुआ देखा। सब आभूषण गिरे हुए हैं, बिखरे हुँए हैं, और उन्हें पानी बहाए ले जा रहा है, और पति के वस्त्र तथा मुकुट समेत सब आभूषण सेज पर इधर-उधर बिखरे पड़े हैं (ऐसा देखा)।

उल्कां पश्यति निष्क्रमन्त नगरात् तमसाभिभूतं पुरं
छिन्नां[8] जालिकम(द्)दृशाति सुपिने रतनामिकां[8] शोभनां।
मुक्ताहारु प्रलम्बमानु पतितः क्षुभितो महासागरं
मेरुं पर्वतराजममद्दशि तदा स्थानातु संकम्पितं ॥569॥

संस्कृतज्ञ इस समास को **सकूटवच्छैला** पढ़ेगा। जो कि भूमि का विशेषण है। भोट में इसी प्रकार के अर्थं को दृष्टि में रख कर अनुवाद है—**चे मोर् ल्दन् प हि. रि वङ् बूचस् ते** (= शिखरवत्पर्वतसहिता)।

8····8. जालिकं····रतनामिका ।—मक (स्त्रीलिंग-मिका) का मूल-आत्मक (स्त्रीलिंग-आत्मिका) शब्द जान पड़ता है। प्रोफ़ेसर एड्जेर्टन्-मय प्रत्यय को-मक का मूल समझते हैं (द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 450 पर

स्वप्न में नगर से निकलती हुई उल्काओं (मशालों) के तथा नगर को अँधेरे से हार खाया हुआ देखा, रत्नों की बनी सुन्दर जालीदार कंठश्री को टूटा हुआ देखा, लटके हुए मोतियों के हार को गिरा हुआ, महासागर को खौलता हुआ, पर्वतों के राजा मेरु के उस समय (अपने) स्थान से बुरी तरह हिल-डुल गया हुआ देखा।

–195–एतानीदृश शाक्यकन्य सुपिनां सुपिन्नान्तरे आदृशी
दृष्ट्वा सा प्रतिबुद्ध रू (?रु) ण्णनयना स्वं स्वामिनं अब्रवीत्।
देवा किं मि भविष्यते खलु भणा सुपिनान्तराणीदृशा
भ्रान्ता मे स्मृति नो च पश्यमि पुनः शोकार्दितं मे मनः ॥570॥

शाक्यकन्या (गोपाने) सपनाने के बीच ऐसे-ऐसे इन सपनों को देखा, देख कर वह जग पड़ी, आँखों में आँसू बहाती हुई अपने मालिक से बोली—हे देव, बोलो तो, मेरा क्या होगा ? सपनाने की बातें ऐसी हैं, मेरी स्मृति भ्रम में पड़ गई है, और मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है, मेरा मन शोक से पीड़ित है।

श्रुत्वासौ कलविङ्कदुन्दुभिरुतो ब्रह्मस्वरः सुस्वरो
गोपामालपते भव प्रमुदिता पापं न ते विद्यते।
ये सत्त्वा कृतपुण्यपूर्वचरिता तैषेति स्वप्ना, इमे
कोऽन्यः पश्यति नैकदुः खविहितः[9] स्वत्नान्तराणीदृशा ॥571॥

सुन कर, चटका जैसे चहचहाने वाले, दुंदुभि के समान (गम्भीर) ध्वनि वाले, ब्रह्मा के समान (पवित्र) घोष वाले, उत्तम, स्वर वाले उन बोधिसत्त्व ने गोपा से कहा कि (तुम) अत्यन्त आनन्दित रहो, तुम्हारा अकल्याण नहीं है। जिन प्राणियों द्वारा पहले पुण्य का आचरण किया हुआ होता है, उनके ये स्वप्न

रतनामक शब्द)। यह अधिक भाषाविज्ञानानुकूल जान पड़ता है। प्राकृत रयणामय (स्त्रीलिंग रयणामिया) से रतनामक (स्त्रीलिंग में रतनामिका) पर पहुँचना सहज ही है। रतनामिका का मूल रत्नात्मिका हो चाहे रयणामिया हो अर्थ एक ही है। भोट में यों अर्थानुवाद किया गया है— **रिन् पो छे लस् ब्यस् प हि. द्र ब** (= रत्नकृतजालिकां)।

9. मूल, नैकदुः खविहितः। इस पाठ में विहित (वि-धा से क्त-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न रूप) अर्थ को स्पष्ट नहीं करता भोटानुवाद से तुलना करने पर यहाँ विहित (वि-हन्-त) पाठ उचिततर जान पड़ता है। तुलनीय, **स्दुग बस्ङल् बु मस् जेन प** (= नानादुःखैरार्तः)। औपचारिक प्रयोग विहित से आर्त, पीड़ित आदि का बोध होता है।

होते हैं। इस प्रकार को इन सपनाने की बातों को नाना प्रकार के दुःखों की मार खाया हुआ कोई ऐरां-गैरा नहीं देखता।

(बोधिसत्त्व द्वारा गोपा के स्वप्नों का फल-कथन)

(छंद शालिनी)

यत्ते दृष्टा मेदिनी कम्पमाना
कूटाशैला मेदिनीये पतन्ता।
देवा नागा राक्षसा सूतसंघाः
सर्वे तुभ्यं पूज्य श्रेष्ठां करोन्ति ॥572॥

तुमने जो देखा कि धरती काँप रही है, चोटियों के साथ पहाड़ धरती पर गिर रहे हैं, (वे) सब देवता, नाग, राक्षस और भूतगण (हैं जो) तुम्हारी पूजा कर (तुमको अपना/ जेठा बना रहे हैं।

यत्ते दृष्टा वृक्ष मूलोद्धृतानि
केशां लूनां दक्षिणेनादृशासि।
क्षिप्रं गोपे=147क=क्लेशजालं छिनित्वा
दृष्टीजालं उद्धरी संस्कृतातः ॥573॥

तुमने जो देखा कि पेड़ जड़ से उखड़े पड़े हैं (तथा जो) दाहिने हाथ से केशों को काटा हुआ है, सो हे गोपा (तुम) शीघ्र ही क्लेशों का जाल काट कर (इस) बनावटी (जगत्) से दृष्टि का जाल उठा सकोगी।

यत्ते दृष्टौ चन्द्रसूर्यौ पतन्तौ
दृष्टा नक्षत्रा ज्योतिषा नीपतन्तः।
क्षिप्रं गोपे क्लेशशत्रू निहत्वा
पूज्या लोके भाविनी त्वं प्रशस्या ॥574॥

जो तुमने चाँद-सूरज गिरते देखे, तारे-नक्षत्र गिरते देखे, सो हे गौपे, शीघ्र क्लेश रूपी शत्रु को मार कर तुम लोक में प्रशंसा के योग्य (तथा) पूजा के योग्य हो जाओगी।

यत्ते दृष्टा मुक्तहारं विशीर्णं
नग्नं भग्नं सर्वकायादृशासि।
क्षिप्रं गोपे इस्त्रिकायं जहित्वा
पुरुषस्त्वं वै भेष्यसे नोचिरेण ॥575॥

जो तुमने मोतियों हार बिखरा हुआ देखा, (अपने) सब शरीर को नंगा और टूटा-टाटा देखा, सो हे गोपे, शीघ्र ही स्त्री शरीर का त्याग कर तुम बिना-विलम्ब के निश्चय से पुरुष हो जाओगी।

यत्ते दृष्टं मञ्चकं छिन्नपादं
छत्रे दण्डं रत्नचित्रं प्रभग्नं ।
क्षिप्रं गोपे ओघ चत्वारि तीर्त्वा
मां द्रष्टासी एकछत्रं त्रिलोके ।।576।।

जो तुमने पलँग को टूटे पाँवों वाला देखा, छत्र के रत्नों से चित्र-विचित्र दण्ड को टूटा हुआ देखा, सो हे गोपे, शीघ्र ही चारों ओघों को पार कर त्रिलोक में मुझे एक छत्र वाला देखोगी ।

यत्ते दृष्टा भूषणा उह्यमाना
चूडा वस्त्रा मह्य मञ्चेऽदृशासि ।
क्षिप्रं गोपे लक्षणैर्भूषिताङ्गं
मां संपश्यी सर्वलोकै स्तुवन्तं ।।577।।

जो तुमने भूषण बहाए ले जाते हुए देखे, मेरे पलँग पर मुकुट और वस्त्र (बिखरे पड़े) देखे, सो हे गोपे, लक्षणों से भूषित शरीर वाले मुझको सब लोगों के द्वारा स्तोत्र पढ़ कर पूजित शीघ्र ही देख सकोगी ।

यत्ते दृष्टा दीपकोटीशतानि
नगरान्निष्क्रान्ता तत्पुरं चान्धकारं ।
क्षिप्रं गोपे मोहविद्यान्धकारे
प्रज्ञालोके कुर्वमी सर्वलोकं ।।578।।

जो तुमने नगर से निकली सैकड़ों करोड़ों दीपिकाएँ तथा वह नगर अँधेरा देखा है, सो हे गोपे, मोह और अविद्या के अँधेरे वाले सम्पूर्ण लोक को मैं प्रज्ञा के प्रकाश में शीघ्र (स्थापित) करूँगा ।

(–196–) यत्ते दृष्टं मुक्तहारं प्रभग्नं
छिन्नं चैव स्वर्णसूत्रं विचित्रं ।
क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छिनित्वा
संज्ञा सूत्रं उद्धरी संस्कृतातः ।।579।।

जो तुमने मोतियों के हार को टूटा-टाटा तथा विचित्र सोने की करधनी को छिन्न-भिन्न देखा है, सो हे गोपे, शीघ्र ही क्लेशों के जाल को काट कर (इस) बनावटी (जगत्) से संज्ञा के अर्थात् शुभ एवं सुन्दर देखने की धारणा के सूत्र को निकाल फेंकोगी ।

यत्ते गोपे चित्ति (?त्रि) कारं करोषि
नित्यं पूजां गौरवेणोत्तमेन ।
नास्ती तुभ्यं दुर्गती नैव शोकः
क्षिप्रं भोही प्रीतिप्रामोद्यलब्धा ।।580।।

हे गोपे, जो तुम (मेरा) सम्मान करती हो, सर्वदा उत्तम गौरव के साथ पूजा करती हो, सो तुम्हारे लिए न दुर्गति हैं और न शोक। तुरन्त प्रीति और प्रमोद का लाभ करने वाली हो जाओ।

=147ख=पूर्वे मह्यं दानु दत्तं प्रणीतं
शीलं चीर्णं भाविता नित्य क्षान्ति।
तस्मान्मह्य ये प्रसादं लभन्ते
सर्वे भोन्ती प्रीतिप्रामोद्यलाभाः ॥581॥

पहले मैंने उत्तम दान दिया है, शील का आचरण किया है, क्षमा का सर्वदा अभ्यास किया है, इसलिए मुझमें जिनकी प्रसन्नता (श्रद्धा) पाई जाती है, (वे) सब प्रीति और प्रमोद के लाभी होते हैं।

कल्पा कोटी संस्कृता मे अनन्ता
बोधीमार्गो शोधितो मे प्रणीतः।
तस्मान्मह्यं ये प्रसादं करोन्ति
सर्वे छिन्ना तेषु त्रीण्यप्यपायाः ॥582॥

अनन्त-कोटि कल्पों तक (इस) बनावटी (जगत्) में मैंने उत्तम बोधिमार्ग का शोधन किया है, इसलिए जो मुझसे प्रसन्नता (श्रद्धा) करते हैं, उनके सबके सब तीनों अपाय (तिर्यक्, प्रेत, तथा नरक) कट जाते हैं।

हर्षं विन्दा मा च खेदं जनेहि
तुष्टिं विन्दा संजनेहो च प्रीतिं।
क्षिप्रं भेष्ये प्रीतिप्रामोद्यलाभी
सेही गोपे भद्रका ते निमित्ता ॥583॥

हर्ष का लाभ करो, खेद न उपजाओ, संतोष की प्राप्ति करो और प्रीति उपजाओ, हे गोपे, (मैं) शीघ्र ही प्रीति का और प्रमोद का लाभी होऊँगा, तुम्हारे (स्वप्नों के) निमित्त कल्याणकारी हैं, (अब) सो जाओ।

(बोधिसत्त्व के स्वप्न)

(छंद वसन्ततिलका)

सो पुण्यतेजभरितो सिरितेजगर्भो
पूर्वे निमित्तसुपिने इमि अदृशासि।
ये भोन्ति पूर्वशुभकर्मसमुच्चयानां
नैष्क्रम्यकालसमये नरपुङ्गवानां ॥584॥

उन पुण्य के तेज से पूर्ण, लक्ष्मी के तेज के सार से युक्त (बोधिसत्त्व) ने पहले से ही होनहार को सूचित करने वाले इन स्वप्नों को देखा, जो पूर्व (जन्मों)

के शुभ कर्मों की राशि वाले श्रेष्ठ पुरुषों के (घर से) निकलने के काल में—समय में दिखाई पड़ा करते हैं।

सो अदृशासि कराच्चरणाद्धताना
महसागरेभि चतुर्भिजल लोलयन्ता।
सर्वामिमां वसुमतीं शयनं विचित्रं
मेरुं च पर्वतवरं शिरसोपधानं ॥585॥

उन्होंने (अपने) हाथ-पैरों से खलभलाए चारों महासागरों के जल को मथा जाता हुआ देखा, (और देखा कि) समूची पृथिवी (उनका) विचित्र पलँग बनी है तथा पर्वतों के राजा सुमेरु सिरहाने के तकिया बने हुए हैं।

आभा प्रमुक्त सुपिने तद अदृशासि
लोके विलोकितु महातमसान्धकारं।
छत्रोद्गतं धरणिये स्फरते त्रिलोकं
आभाय स्पृष्टविनिपातदुःखा प्रशान्ता ॥586॥

उस समय स्वप्न में देखा कि लोक में अंधे करने वाले बड़े अँधेरे में साफ़-साफ़ देखने के लिए उन्होंने प्रकाश उपजाया है, धरती से छत्र निकला है और त्रिलोक के ऊपर फैल गया है, प्रकाश के पड़ने से नरकों के दुःख अत्यन्त शान्त हो गये हैं।

(–197–) कृष्णा-शुभ चतुरि प्राणक पाद लेखी
चतुवर्ण एत्व सकुना-द्-भुत एकवर्णाः।
मीढंगिरी परमहीन जुगुप्सनीया = 148क =
अभिभूय चङ्क्रमति तत्र च नोपलिप्तो ॥587॥

(उन्होंने देखा कि) काले-सफेद चार प्राणी (उनके) चरणों को खुरच रहे हैं, चार रंग के पक्षी (उनके पास) आकर एक रंग के हो रहे हैं, बहुत गन्दे और घिनौने मैले के पहाड़ पर चढ़ कर (वे) घूम रहे हैं फिर भी (मैलें से) गदले नहीं हो रहे हैं।

भूयोऽदृशी सुपिनि नद्य जलप्रपूर्णा
बहुसत्त्वकोटिनयुतानि च उह्यमाना।
सो नाव कृत्व प्रतरित्व परां प्रतार्य
स्थापेति सो स्थलवरे अभये अशोके ॥588॥

उन्होंने फिर स्वप्न में देखा कि जल से अत्यन्त बढ़ी हुई नदी बहुत से खर्व-खर्व कोटि प्राणियों को बहाए ले जा रही है, और वे नौका बना कर स्वयं तर

कर तथा औरों को तार कर उत्तम, भय से दूर, एवं शोक से रहित स्थल पर स्थापित कर रहे हैं ।

भूयोऽदृशाति बहु आतुर रोगस्पृष्टां
आरोग्यतेजरहितां बलविप्रहीनां ।
सो वैद्य भूत्व बहु औषध संप्रयच्छा
मोचेति सत्त्वनयुतां बहुरोगस्पृष्टां ।।589।।

फिर देखा कि रोग की छूत वाले, स्वास्थ्य और तेज रहित, पूरी तरह बलहीन बहुत से बीमार हैं और वे वैद्य होकर बहुत दवादारू बाँट कर बहुत से रोगों की छूत लगे खर्व-खर्व प्राणियों को (रोग–) मुक्त कर रहे हैं ।

सिंहासने व(? च) हि निषण्ण सुमेरुपृष्ठे
शिष्यां कृताञ्जलिपुटानमरान् नमन्तां ।
संग्राममध्यि जयु अदृशि आत्मनश्च
आनन्दशब्दममरां गगने ब्रुवन्तः ।।590।।

और देखा कि सुमेरु के तल पर (वे स्वयं) सिंहासन पर बैठे हैं, देवता शिष्य होकर अँजलि बाँधे नमस्कार कर रहे हैं, तथा युद्ध के बीच उनकी अपनी जय हो रही है, और आकाश में देवता आनन्द की ध्वनि कर रहे हैं ।

एवं विधा सुपिनि अदृशि बोधिसत्त्वो
मङ्गल्यसोभनव्रतस्य च पारिपूरिं ।
यां श्रुत्व देवमनुजा अभवन् प्रहृष्टा
न चिराद् भविष्यति अयं नरदेवदेवः ।।591।।[10]

बोधिसत्त्व ने मंगलकारी एवं उत्तम व्रत की परिपूर्णता के (सूचक) ऐसे स्वप्नों को देखा, जिन्हें सुन कर देवता और मनुष्य अत्यन्त आनन्दित हुए (और बोले कि) ये बिना विलम्ब के ही नरदेवों के भी देव हो जाएँगे ।

।। इति श्रीललितविस्तरे स्वप्नपरिवर्तो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।

●

---

10. इस परिवर्त में आई गाथाओं की छाया यों है—किं सारथे पुरुषो दुर्बलोऽल्पस्थामा, उच्छुष्कमांसरुधिरत्वचः स्नायुनद्धः । श्वेतशिरा विरलदन् कृशाङ्गरूप आलम्ब्य दण्डं व्रजत्यसुखं, स्खलन् ।।545।। एष हि देव पुरुषो जरयाभिभूतः क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो बलवीर्यहीनः बन्धुजनेन परिभूतोऽनाथभूतः कार्यासमर्थोऽपविद्धो वन इव दारु ।।546।। कुलधर्म एषोऽयमस्य हि तं वद

(भण) अथापि सर्वजगतोऽस्येवं ह्यवस्था । शीघ्रं वद (भण) वचनं यथा भूतमेतत्, श्रुत्वा तथार्थमिह योनिशश्चिन्तयिष्ये ।।547।। नैतस्य देव कुल-धर्मो न राष्ट्रधर्मः, सर्वस्य जगतो जरा यौवनं घर्षयति, तथापि मातापितृ-बान्धवज्ञातिसंघो जरयाऽमुक्तो न ह्यन्या गतिर्जनस्य ।।548।। धिक् सारथे-ऽबुधबालजनस्य बुद्धि यो यौवनेन मदमत्तो जरां न पश्येत् । आवर्तयाशु मे रथं पुनरहं प्रवेक्ष्यामि किं मम क्रीडारतिभिर्जरयाश्रितस्य ।।549।। किं सारथे पुरुषोऽरुविवर्णगात्रः सर्वेन्द्रियैर्विकलो गुरु प्रश्वसन् । सर्वाङ्गशुष्क उदराकुलः कृच्छ्रप्राप्तो मूत्रे पुरीषे स्वके तिष्ठति कुत्सनीये ।।550।। एष हि देव पुरुषः परमं ग्लानः, व्याधिभयमुपगतो मरणान्तप्राप्तः । आरोग्य-तेजोरहितो बलविप्रहीणोऽत्राणद्वीपशरणो ह्ययपरायणश्च ।।551।। आरोग्यं भवति यथा स्वप्नक्रीडा व्याधिभयं चेदमीदृशं घोररूपम् । को नाम विज्ञपुरुष इमां दृष्ट्वावस्थां क्रीडारतिं च जनयेच्छुभसंज्ञतां वा ।।552।। किं सारथे पुरुषो मञ्चोपरि गृहीतः, उद्धूतकेशा नरा पांसु शिरसि क्षिपन्ति । परिचार्य विहरन्त्युरस्ताडयन्तो नानाविलापवचनान्युदीरयन्तः ।।553।। एष हि देव पुरुषो मृतो जम्बूद्वीपे न भूयो मातापितरौ द्रक्ष्यति पुत्रदारान् । अपहाय भोगगृहमित्रज्ञातिसंघं परलोकप्राप्तो न हि द्रक्ष्यति भूयो ज्ञातीन् ।।554।। धिग् यौवनं जरया समभिद्रुतम् आरोग्यं धिग् विविधव्याधिपराहतम् । धिग् जीवितं विदुषो न-चिरस्थितं धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसङ्गान् ।।555।। यदि जरा न भवेन्नैव व्याधिर्न मृत्युस् तथापि च महादुःखं पञ्चस्कन्धं धरतः । किं पुनर् जराव्याधिमृत्युषु नित्यानुबद्धेषु साधु प्रतिनिवर्तस्व चिन्तयिष्ये प्रमोक्षम् ।।556।। किं सारथे पुरुषः शान्तप्रशान्तचित्तो नोत्क्षिप्त-चक्षुर्व्रजति युगमात्रदर्शी । काषायवस्त्रवसनः सुप्रशान्तचारी पात्रं गृहीत्वा न चोद्धत उन्नतो वा ।।557।। एष हि पुरुषो भिक्षुरितिनामाऽपहाय कामरतीः सुविनीताचारी । प्रव्रज्याप्राप्तः शममात्मन एषमाणः संरागद्वेषविगतोऽन्वेति पिण्डचर्याम् ।।558।। साधु सुभाषितमिदं मह्यं रोचते च प्रव्रज्या नाम विद्वद्भिः सततं प्रशस्ता । हितमात्मनश्च पर सत्त्वहितं च यत्र सुखजीवितं सुमधुरम्, अमृतं फलं च ।।559।। द्वारे स्थापिता युद्धशौण्डपुरुषाः खड्गायुध-पाणयो हस्त्यश्वरथांश्च वर्मितनरा आरूढा नागावलीः । परिखाः खोडकास् तोरणाश्च महान्तः प्राकारा उच्छ्रापिताः, द्वाराणि सुगाढबन्धनकृतानि क्रोशस्वरमोचनानि ।।560।। सर्वे शाक्यगणा विषण्णमनसो रक्षन्ति रात्रिं-दिवं निर्घोषश्च बलस्य तस्य महतः शब्दो महाञ्छ्रूयते । नगरं व्याकुलं भीतत्रस्तमनो माऽस्माद् व्रजेत्सूरतो मा भूच्छाक्यकुलोदितस्य गमने छिद्येत

वंशो ह्ययम् ।।561।। आज्ञप्तो युवतिजनस्य सततं संगीतिं मा छिन्त, उपस्थानं प्रकुरुत क्रीडारतिभिः, निबध्नीत मानसम्। या वा स्त्रीमाया नैकविविधा दर्शयत चेष्टा बहु, आरक्षां प्रकुरुत, विघ्नं कुरुत मा खलु व्रजेत् सूरतः ।।562।। तस्य निष्क्रमकाले सारथिवरस्य पूर्वाणि निमित्तानीमानि हंसक्रौञ्चमयूरसारिकाशुका न ते रवम् अमुचन्। प्रासादेषु गवाक्षतोरण-वरेष्वट्टालमञ्चेषु च जिह्मजिह्माः सुदुर्मनसोऽसुखिता ध्यायन्त्यधोमूर्धकाः ।।563।। पुटिनीपुष्करिणीषु पद्मानि रुचिराणि म्लानानि म्लायन्ति च वृक्षाः शुष्कपलाशाः पुष्परहिता पुष्प्यन्ति भूयो न च। वीणा-वल्लकी-वंशास् तन्त्रीरचिताश् छिद्यन्तेऽकस्मात् तदा भेर्यश्चैव मृदङ्गाः पाण्यभिहता भिद्यन्ते नावादिषुः ।।564।। सर्वं व्याकुलमासीत् तच्च नगरं निद्राभिभूतं भृशं नो नृत्ते न च गीते रमते भूयो मनः कस्यचित्। राजापि परमं सुदीनमनाश् चिन्तापरो ध्यायति हा धिक् शाक्यकुलस्य ऋद्धिविपुला मा—इहैव संधाक्षीत् (यथारुतं तु संधक्ष्यति, लुङर्थे लृट्) ।।565।। एकस्मिञ्छयने स्थिते स्थितावभूतां गोपा-पार्थिवौ तथा, गोपा रात्रावर्धरात्रसमये स्वप्नानिमान् पश्यति। सर्वेयं पृथिवी प्रकम्पिताऽभूत सकूटवच्छैला। वृक्षा मारुतेरिताः क्षितावपप्तन्न् उत्पाट्य मूलोद्धृताः ।।566।। चन्द्रसूर्यौ नभसो भूमिपतितौ सज्योतिरलंकृतौ केशान् अदर्शल् लूनान् दक्षिणेन भुजेन मुकुटं च विध्वस्तम्। हस्तौ छिन्नौ तथैव छिन्नौ चरणौ नग्नामदर्शदात्मानं मुक्ताहारं तथैव मेखलामणीन् छिन्नानदर्शदात्मनः ।।567।। शयनस्यादर्शत् छिन्नान् पादांश् चतुरः, धरणीतलेऽशयिष्ट, छत्रे दण्डं सुचित्रं श्रीमद् रुचिरं छिन्नमदर्शत् पार्थिवस्य। सर्वाण्याभरणानि विकीर्णानि पतितान्युह्यन्ते तानि वारिणा, भर्तुश्चाभरणानि सवस्त्रमुकुटानि शय्यागतानि व्याकुलानि ।।568।। उल्काः पश्यति निष्क्रामन्तीर् नगरात् तमसाभिभूतं पुरं छिन्नां जालिकामदर्शत् स्वप्ने रत्नात्मिकां (रत्नमयीं) शोभनाम्। मुक्ताहारं प्रलम्बमानं पतितं क्षुब्धं महासागरं मेरुं पर्वतराजमदर्शत् तदा स्थानात् संकम्पितम् ।।569।। एतानीदृशान् स्वप्नान् स्वप्नान्तरेऽदर्शत्, दृष्ट्वा सा प्रतिबुद्धा रुदितनयना स्वं स्वामिनमब्रवीत्। देव किं मे भविष्यति खलु भण, स्वप्नान्तराणीदृशानि, भ्रान्ता मे स्मृतिर्न च पश्यामि पुनः शोकार्दितं मे मनः ।।570।। श्रुत्वासौ कलविङ्कदुन्दुभिरुतो ब्रह्मस्वरः सुस्वरो गोपामालपति भव प्रमुदिता पापं न ते विद्यते। ये सत्त्वाः कृतपुण्यपूर्वचरितास्तेषामेते स्वप्नाः, इमानि कोऽन्यः पश्यति नैकदुःखविभीतः स्वप्नान्तराणीदृशानि ।।571।। यत्ते दृष्टा मेदिनी कम्पमाना कूटशैलाः (=कूटसहितशैलाः) मेदिन्यां पतन्तः। देवा नागा

राक्षसा भूतसंघा सर्वे त्वां पूजयित्वा श्रेष्ठां कुर्वन्ति ।।572।। यत्ते दृष्टा वृक्षा मूलोद्धृताः केशान् लूनान् दक्षिणेनादर्शः क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छित्वा वृष्टिजालमुद्धरेः संस्कृतात् ।।573।। यत्ते दृष्टौ चन्द्रसूर्यौ पतन्तौ दृष्टानि नक्षत्राणि ज्योतींषि निपतन्ति । क्षिप्रं गोपे क्लेशशत्रुं निहत्य पूज्या लोके भाविनी त्वं प्रशस्या ।।574।। यत्ते दृष्टो मुक्ताहारो विशीर्णो नग्नं भग्नं सर्वकायमदर्शः । क्षिप्रं गोपे स्त्रीकायं विहाय पुरुषस्त्वं वै भविष्यसि नचिरेण ।।575।। यत्ते दृष्टो मञ्चकश् छिन्नपादश् छत्रे दण्डो रत्नचित्रः प्रभग्नः । क्षिप्रं गोपे, ओघांश् चतुरस् तीर्त्वा मां द्रष्टास्येकछत्रं त्रिलोके ।।576।। यत्ते दृष्टानि भूषणान्युह्यमानानि चूडां वस्त्राणि मम मञ्चेऽदर्शः । क्षिप्रं गोपे लक्षणैर् भूषिताङ्गं मां संपश्येः सर्वलोकैः स्तूयमानम् ।।577।। यत्ते दृष्टानि दीपकोटिशतानि नगराग्निष्क्रान्तानि तत्पुरं च (स)ान्धकारम् । क्षिप्रं गोपे मोहाविद्यान्धकारं प्रज्ञालोके करोमि सर्वलोकम् ।।578।। यत्ते दृष्टो मुक्ताहारः प्रभग्नश् छिन्नं चैव स्वर्णसूत्रं विचित्रम् । क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छित्वा संज्ञायाः सुत्रम् उद्धरेः संस्कृतातः ।।579।। यत् त्वं गोपे चित्तीकारं (चित्रीकारं = संमानं) करोषि नित्यं पूजां गौरवेणोत्तमेन । नास्ति तुभ्यं दुर्गतिर्नैव शोकः क्षिप्रं भव प्रीतिप्रामोद्यलब्धा ।।580।। पूर्वं मया दानं दत्तं प्रणीतं (= उत्तमं) शीलं चरितं भाविता नित्यं क्षान्तिः । तस्मान्मयि ये प्रसादं लभन्ते सर्वे भवन्ति प्रीतिप्रामोद्यलाभाः ।।581।। कल्पान् कोटीः संस्कृते मेऽनन्तान् बोधिमार्गः शोधितो मे प्रणीतः । तस्मान्मयि ये प्रसादं कुर्वन्ति सर्वे छिन्नास्तेषां त्रयोऽप्यपायाः ।।582।। हर्षं विन्द मा च खेदं जनय तुष्टिं विन्द संजनय च प्रीतिम् । क्षिप्रं भविष्ये प्रीतिप्रामोद्यलाभी शेष्व गोपे भद्रकाणि ते निमित्तानि ।।583।। स पुण्यतेजोभृतः श्रीतेजोगर्भः पूर्वान् निमित्तस्वप्नानिमान् अदर्शत् । ये भवन्ति पूर्वशुभकर्मसमुच्चयानां नैष्क्रम्यकालसमये नरपुङ्गवानाम् ।।584।। सोऽदर्शच्च करेण चरणेन (च) आहतानां महासागराणां चतुर्णां जलं लोलत् । सर्वामिमां वसुमतीं शयनं विचित्रं मेरुं च पर्वतवरं शिरस उपधानम् ।।585।। आभां प्रमुक्तां स्वप्ने तदादर्शत्, लोके विलोकयितुं महातमोन्धकारम् । छत्रमुद्गतं धरण्यां स्फरति त्रिलोकम् आभया स्पृष्टानि विनिपातदुःखानि प्रशान्तानि ।।586।। कृष्ण-शुभाश् चत्वारः प्राणकाः पादावलेखिषुश् चतुवर्णा एत्य शकुना भूता एकवर्णाः । मीढ (= मल) गिरिं परमहीनं जुगुप्सनीयम् अभिभूय चङ्क्रमं ति तत्र च नोपलिप्तः ।।587।। भूयोऽदर्शत् स्वप्नं नद्यो जलप्रपूर्णा बहुसत्त्वकोटिनयुतानि चोह्यमाना । स नावं कृत्वा प्रतीर्य प राश्च प्रतार्य

स्थापयति स स्थलवरेऽभयेऽशोके ॥588॥ भूयोऽदर्शद् बहून् आतुरान् रोगस्पृष्टान् आरोग्यतेजोरहितान् बलविप्रहीणान् । स वैद्यो भूत्वा बहून्यौषधानि संप्रदाय मोचयति सत्त्वनयुतानि बहुरोगस्पृष्टानि ॥589॥ सिंहासने च हि निषण्णं सुमेरुपृष्ठे शिष्यान् कृताञ्जलिपुटानमरान् नमतः संग्राममध्ये जयमदर्शदात्मनश्चानन्दशब्दममरान् गगने ब्रुवतः ॥590॥ एतादृशान् स्वप्नान् अदर्शद् बोधिसत्त्वो मङ्गल्यशोभव्रतस्य च परिपूर्णतायाः (यथारूतं तु परिपूर्णताम्) । यान् श्रुत्वा देवमनुजा अभवन् प्रहृष्टा न चिराद् भविष्यत्ययं नरदेवदेवः ॥591॥

॥ १५ ॥

॥ अभिनिष्क्रमणपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 198 (पंक्ति 1)—237 (पंक्ति 17)
भोटानुवाद 148क (पंक्ति 6)—174ख (पंक्ति 5)

397

॥ १५ ॥

॥ अभिनिष्क्रमणपरिवर्त ॥

1. (–198–) हे भिक्षुओ, इसके बाद बोधिसत्त्व के मन में यह हुआ कि यह मेरे लिए उचित न होगा, यह मेरी अकृतज्ञता होगा, यदि मैं (अपने) पिता महाराज शुद्धोदन से बिना निवेदन किए ही, तथा (उनकी) अनुमति बिना पाए ही (घर से) निकल पड़ू। वे [1]प्रशान्त हो रही रात में[1] अपने उपस्थान-प्रासाद (दरबार) से उतर कर राजा शुद्धोदन के महल के नीचे जा = 148ख = ठहरे।

1....1. मूल, रात्रौ प्रशान्तायाम्। यह प्रयोग पहले कई बार आ चुका है। इसका भोट में **नुब् मो मिजल चम् न** (द्रष्टव्य प्रथम परिवर्त टिप्पणी 62....62 अथवा **मछन् मो मि जल् चम् न** (जैसे यहाँ पर तथा पूर्व में द्रष्टव्य टिप्पणी 13/77....77;14/1....1) वाक्यांशों से अनुवाद हुआ है। दो स्थानों पर **नुब् मो मि जल् नस्** (द्रष्टव्य 6/22क....22क; 27....27....) वाक्यांश से अनुवाद हुआ है। वहाँ मूल संस्कृत रात्र्यां प्रशान्तायां तथा प्रशान्तायां रात्र्यां क्रम से है। इन सब स्थानों में भोटानुवाद जिस अर्थ को प्रकट करता है उसे यदि संस्कृत में कहें तो असुप्तमात्रायां रात्रौ अथवा असुप्तायां रात्रौ होगा। भाव सर्वत्र यही है रात में जब लोग तो नहीं रहे थे। इस वाक्यांश से यहाँ पर रात के प्रथम प्रहर से अभिप्राय है क्योंकि आगे कंचुकी कहता है कि अभी आधी रात भी नहीं बीती (रजन्या उपार्धं नातिक्रान्तं)। भोटप्रकाश में विधुशेखर भट्टाचार्य प्रशान्तायां को अशुद्ध मान कर अशान्तायां पाठ मानते हैं (द्रष्टव्य पृष्ठ 122, 288)। यह शोधन चिन्त्य है। वस्तुतः प्रशान्तायां पाठ औपचारिक है। सायंकाल में भोजनादि पकाने के कारण ग्रामों के ऊपर धुआँ छा जाता है, गोदोहनादि का शब्द होता है, इधर-उधर से निकलते लोगों की ओर कुत्ते भूँकते हैं, भिखारी भी भिक्षा के लिए धुन करते हैं यों एक प्रकार का कोलाहल सा रहता है। यह कोलाहल खा-पीकर लेट रहने पर शान्त हो जाता है यद्यपि लेटते-लेटते लोग तुरन्त सो नहीं जाते। सन्ध्याकाल के परवर्ती काल को यहाँ पर **प्रशान्तायां रात्रौ** से कहा-गया है। इस वाक्यांश से प्रकट होने वाले व्यापक अर्थ के एक अंश का भोट में अनुवाद है।

बोधिसत्त्व के वहाँ पर ठहरते ही वह सब-का-सब महल प्रकाश से चमक उठा। वहाँ पर जगे हुए राजा ने उस प्रकाश को देखा। देख कर झट-पट कंचुकी को बुलाया। हे कंचुकिन्, क्या सूर्य निकल आया जिससे प्रकाश विराज रहा है। कंचुकी ने कहा। [2]हे देव, अब तक भी[2] रात आधी (भी) नहीं बीती। इसके अतिरिक्त हे देव,

(छंद वसन्ततिलका)

सूर्यप्रभाय भवते द्रुमकुड्यछाया
संतापयाति च तनुं प्रकरोति धर्मं।
हंसामयूरशुककोकिलचक्रवाकाः
प्रत्यूषकालसमये स्वरुता रवन्ति ॥592॥

सूर्य के प्रकाश में पेड़ों की और दीवालों की छाया (धरती पर) पड़ने लगती हैं, (सूर्य का प्रकाश) शरीर को खूब तपाने लगता है, गर्मी पैदा करता है, सबेरे के समय हंस, मोर, सुग्गे, कोयलें तथा चकवा-चकई अपनी-अपनी बोली बोलने लगते हैं।

आभा इयं तु नरदेव सुखा मनोज्ञा
प्रह्लादनी शुभकरी न करेति दाहं।
कुड्या च वृक्ष अभिभूय न चास्ति छाया
निस्संशयं गुणधरो इह अद्य प्राप्तः ॥593॥

हे नरदेव, यह प्रकाश तो सुखदायी, मन को भाने वाला, अत्यन्त आनन्द देने वाला, मंगलकारक है, जलन नहीं पैदा कर रहा है, दीवालों और वृक्षों को दबाकर विराज रहा है और (इसमें) छाया (धरती पर) नहीं पड़ रही है। निःसन्देह गुणवान् (बोधिसत्त्व) आज यहाँ आ पहुँचे हैं।

सो प्रेक्षते दश दिशो नृपती विषण्णो
दृष्टश्च सो कमललोचन शुद्धसत्त्वः।
(–199–) सो ऽभ्युत्थितुं शयनि इच्छति न प्रभोति
पितृगौरवं जनयते वरशुद्धबुद्धिः ॥594॥

वे घबराए हुए राजा (शुद्धोदन) दसों दिशाओं की ओर निहारते हैं और उन कमलों के जैसे नेत्रों वाले, शुद्ध मन वाले (बोधिसत्त्व) को देखते हैं, वे पलँग से उठना चाहते हैं पर उठ नहीं पाते (क्योंकि) उत्तम और पवित्र बुद्धि वाले (बोधिसत्त्व को इस प्रकार) पिता का गौरव कर दिखाना (इष्ट) है।

2....2. मूल, अद्यापि तावदेव। पठनीय, अद्यापि ताव देव (=अद्यापि तावद् देव)। तुलनीय भोट ल्ह द्वइ द्नु।

सो च स्थिहित्व पुरतो नृपतिं अवोचत्
मा भूयु विघ्न प्रकरोहि म चैव खेदं।
नैष्क्रम्यकालसमयो मम देव युक्तो
हन्त क्षमस्व नृपते सजनः सराष्ट्रः ॥595॥

वे सामने खड़े होकर राजा से बोले—अब और निघ्न न करो, न और खेद ही करो, हे देव, (यह घर से) निकलने का मेरा ठीक समय है, अहो राजन्, राष्ट्र के सहित (स्व) जनों के सहित क्षमा करो।

तं अश्रुपूर्णनयनो नृपती बभाषे
किंचित् प्रयोजनु भवेद् विनिवर्तने ते।
किं याचसे मम वरं वद सर्वु दास्ये
=149क=अनुगृह्ण राजकुलु मां च इदं च राष्ट्रं ॥596॥

आँखों में आँसू भर कर राजा ने उनसे कहा—क्या किसी प्रयोजन से तुम्हारा लौटना हो सकता है ? मुझसे कोई वर माँगते हो तो बोलो, सब दूँगा, राजकुल पर, मुझ पर और इस राष्ट्र पर अनुग्रह करो।

तद बोधिसत्त्व अवची मधुरप्रलापी
इच्छामि देव चतुरो वर तान् मि देहि।
यदि शक्यसे ददितु मह्य वसे ति यत्र
तद् द्रक्ष्यसे सद गृहे न च निष्क्रमिष्ये ॥597॥

तब मीठी बोली बोलने वाले बोधिसत्त्व ने कहा—हे देव, चार वर चाहता हूँ, यदि मुझे दे सकते हो तो मुझे दे दो, तब तुम्हारे यहाँ रहूँगा, सदा मुझे घर में देखोगे और (घर से) न निकलूँगा।

इच्छामि देव जर मह्य न आक्रमेय्या
शुभवर्ण-यौवन स्थितो भवि नित्यकालं।
आरोग्यप्राप्तु भवि नो च भवेत् व्याधिः
[3]अमितायुषश्च भवि नो च भवेद् विपत्तिः[3] ॥598॥

हे देव, चाहता हूँ कि जरा मुझपर आक्रमण न करे, सुन्दर रंग-रूप और जवानी हमेशा बनी रहे, आरोग्य का लाभी रहूँ और व्याधि न हो, अमित-आयु वाला होऊँ और विपत्ति न हो।

3....3. मूल, अमितायुषश्च भवि नो च भवेत मृत्युः (संपत्तितश्च विपुला नु भवेद्विपत्तिः)। भोट, छे द्पग् म म्छिस् प दङ् गुंद् पर् मि हूग्युर हूछल्। एवं भवेत मृत्युः (संपत्तितश्च विपुलानु) इतना पाठ क्षेपक है।

राजा श्रुणित्व वचनं परमं दुःखार्तो
अस्थानु याचसि कुमार न मेऽत्र शक्तिः।
(–200–) जरव्याधिमृत्युभयतश्च विपत्तितश्च
कल्पस्थितीय ऋषयोऽपि न जातु मुक्ताः ॥599॥

बात को सुन कर राजा दुःख से अत्यन्त पीड़ित हुए। कुमार, तुम्हारी माँग बे ठिकाने की है। इस पर मेरा बस नहीं है। जरा, व्याधि और मृत्यु के भय से तथा विपत्ति से कल्प तक ठहरने वाले ऋषि भी कभी मुक्त नहीं हुए।

[4]पिता का वचन सुन कर कुमार बोले[4]।

यदि दानि देव चतुरो वर नो ददासि
जरव्याधिमृत्युभयतश्च विपत्तितश्च।
हन्तः श्रृणुष्व नृपते अपरं वरैकं
अस्माच्च्युतस्य प्रतिसंधि न मे भवेया ॥600॥

हे देव, अब जरा, व्याधि तथा मृत्यु से और विपत्ति से (मुक्ति के) चार वर नहीं देते हो, तो अहो राजन्, एक और वर सुनो—यहाँ से देह त्यागने पर मेरा पुनर्जन्म न हो।

श्रुत्वैव चेम वचनं नरपुङ्गवस्य
तृष्णां तनुं च करि छिन्दसि पुत्रस्नेहं।
अनुमोदनी हितकरा जगतः प्रमोक्षं
अभिप्रायु तुभ्य परिपूर्यतु यन्मतं ते ॥601॥

महापुरुष के ऐसे वचन को सुन कर ही (राजा ने) तृष्णा को कमकर पुत्र-स्नेह काट डाला। हित करने वाली जगत् की मुक्ति का अनुमोदन (कर कहा) तुम्हारा जो मन चाहा अभिप्राय है (वह) पूरी तरह पूरा हो।

1. हे भिक्षुओं, इसके बाद बोधिसत्त्व लौट कर अपने महल पर चढ़ कर पलँग पर जा बैठे। उनके आने जाने का = 149 ख= और किसी को पता न चला।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार उस रात के बीतने पर राजा शुद्धोदन ने सारे शाक्यगण को इकट्ठा कर यह बात[5] बताई कि कुमार (घर से) निकलने वाले हैं,

4....4. मूल, (श्रुत्वा वचनमत्र पितुः कुमारोऽवचि)। यह पाठ भोट में नहीं है।
4क मूल, प्रकृतिम्। प्रकृतिम् को प्रवृत्तिम् शब्द द्वारा शोधन का यत्न किया गया है (भोटप्रकाश 129)। वृत्तान्त के अर्थ में पकति शब्द पालि में है। यहाँ प्रकृति उसी अर्थ में है। शोधन बेकार है।

5. मूल, अडकवती। यह शब्द संस्कृत के अलकावती और अटकावती के लिए है। भोट, ल्चङ् लो चन्। शरत् चन्द्र दास की टिबेटन् इंग्लिश् डिक्शनरी में इस शब्द के उक्त दोनों संस्कृत प्रतिशब्द दिए हैं। वैद्य महोदय अडकवती पाठ का प्रत्याख्यान कर अकलवती पढ़ते हैं।

अब क्या करना होगा ? शाक्यों ने कहा—हे देव, रखवाली करेंगे। वह किस हेतु ? यह शाक्यगण महान् है और वे हैं अकेले। उनकी क्या ताक़त जो ज़बरदस्ती निकल भागें।

3. वहाँ पर उन शाक्यों ने तथा राजा शुद्धोदन ने अस्त्र-शस्त्र चलाने में पक्के, योग्यताप्राप्त, धनुर्वेद में शिक्षा पाए हुए, महानग्न (अर्थात् महारुद्र अथवा महान् गण) के बल से युक्त पाँच सौ शाक्य—कुमार नगर के पूरबी द्वार पर बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए तैनात किए। एक-एक (–201–) शाक्यकुमार पाँच सौ रथों के सहित, तथा एक-एक रथ पाँच सौ पैदल—जवानों के सहित बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए तैनात किया गया था। इसी प्रकार नगर के दक्खिनी, पच्छिमी और उत्तरी द्वार पर भी अस्त्र-शस्त्र-चलाने में पक्के, योग्यताप्राप्त, धनुर्वेद में शिक्षा पाए महानग्न (अर्थात् महारुद्ध अथवा महान् गण) के बल से युक्त पाँच-पाँच सौ शाक्यकुमार, एक-एक शाक्यकुमार पाँच सौ रथों के सहित, तथा एक-एक रथ पाँच-पाँच सौ पैदल-जवानों के सहित बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए तैनात किए गए थे। बड़े-बूढ़े शाक्य सब चौराहों पर, तिराहों पर, भीड़-भाड़ वाली सड़कों पर = 150क = रखवाली के लिए डटे खड़े हो गए थे। और राजा शुद्धोदन घोड़ों और हाथियों पर चढ़ कर डटे हुए पाँच सौ शाक्यकुमारों के साथ घेरा डाले अपने घर के द्वार पर सबसे आगे विराजते हुए जाग रहे थे।

4. तथा महाप्रजापती गौतमी दासियों के समूह को संबोधन कर कह रही थीं—

(छंद आर्या)

ज्वालेथ दीप विमलां ध्वजाग्रि मणिरत्न सर्वि स्थापेथ।
ओलम्बयाथ हारां प्रभां कुरुत सर्वि गेहेस्मिन् ॥602॥

निर्मल दीपक जलाओ, सब मणि-रत्नों को ध्वजाओं की चोटी पर स्थापित करो, मोतियों के हारों को लटकाओ, सब घर में उजाला कर दो।

संगीति मोजयेथा जागरथ अतिन्द्रिता इमां रजनां।
प्रतिरक्षथा कुमारं यथा अविदितो न गच्छेया ॥603॥

गाना-बजाना जमा दो, बिना झपकी लिए यह रात जागते रहो, कुमार की रखवाली करो ताकि चुपके से निकल न जाएँ।

वर्मित कलापहस्ता असिधनुशरशक्तितोमरगृहीताः।
प्रियतनयरक्षार्थं करोथ सर्वे महायत्नं ॥604॥

सब (लोग) कवचधारी, हथियारबन्द, तलवार, तीर-कमान, बरछी-भाले ले प्यारे पुत्र की रखवाली करने के लिए खूब कोशिश करो।

द्वारा पिथेथ सर्वा सुयन्त्रितानिर्गडां दृढ़कपाटां।
मुञ्चथ मा च अकाले मा अग्रसत्त्व इतु न व्रजेया ॥605॥

मजबूत किंवाड़ों के, भलीभाँति अर्गल लगे हुए द्वारों को बन्द कर दो। बिना समय (उन्हें) मत खोलना, (देखो) मत खोलना। उत्तम मन (के बोधिसत्त्व) यहाँ से जाने न पाएँ।

मणिहार मुक्तहारां मुखपुष्पके अर्धचन्द्र संश्रृखलाः।
मेखल कर्णिक मुद्रिक सुनिबद्धां नूपुरां कुरुत ॥606॥

मणिहार, मुक्ताहार, मुखपुष्पक (ललाटाभरण), श्रृंखला (अर्थात् चेन) के साथ अर्धचन्द्र (नामक शिरोभूषण) मेखला (करधनी) कर्णिका (करनफूल) मुद्रिका (अँगूठी) तथा नूपुर (पायजेब) भली-भाँति धारण कर लो।

यदि सहस्र निष्क्रमेया नरमरुहित मत्तवारणविचारी।
तथ तथ पराक्रमेया यथा विघात न विन्देया ॥607॥

यदि देवताओं और मनुष्यों के हितकारी, मत्त गज (राज) समान विचरने हारे हठ करके निकलने लगें तो जैसे उन्हें तकलीफ़ न मिले उस-उस तरह पराक्रम करना।

या नारि शक्तिधारी शयनं परिवारयन्तु विमलस्य। =150ख=
म च भवथ मिद्धविहताः पतङ्ग इव रक्षथा नेत्रैः ॥608॥

जो स्त्रियाँ बरछीबन्द हैं, वे निर्मल (बोधिसत्त्व) के सोने के स्थान को घेर लें, नींद के मारे न घबराएँ, पखेरू जैसे (अपने बच्चों की) रखवाली करती हैं, वैसे आँखों से (बोधिसत्त्व की) रखवाली करें।

छादेथ रतनजालै इदं गृहं पार्थिवस्य रक्षार्थं।
वेणूरवांश्च रवथा इमां रजनि रक्षथा विरजां ॥609॥

पृथिवी के उत्तराधिकारी (बोधिसत्त्व) की रखवाली करने के लिए इस घर को रत्नों के जाल से छादो, बंशी की ध्वनि गुँजा दो, इस रात भर रजोगुणहीन (निर्मल बोधिसत्त्व) की रखवाली करो।

अन्योन्य बोधयेथा मव सयथा रक्षथा इमां रजनीं।
माहु अभिनिष्क्रमेया विजह्य राष्टं च राज्यं च ॥610॥

एक-दूसरे को जगाते रहना, बिल्कुल मत सोना, इस रात भर रखवाली करना, देश और राज्य का त्याग कर (कुमार घर से) न निकलने पाएँ।

एतस्य निर्गतस्या राजकुलं सर्विमं निरभिरम्यं।
उच्छिन्नश्च भवेया पार्थिववंशश्चिरनुबद्धः ॥61१॥

इनके (घर से) निकल जाने पर यह सबका सब राजकुल निरानन्द हो जाएगा, और चिरकाल से चले आए इस राजवंश (की परंपरा) का उच्छेद हो जाएगा ॥इति॥

5. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर यक्षों के अट्ठाईस सेनापति, जिनमें यक्ष सेनापति पाञ्चिक प्रधान थे, तथा पाँच सौ हारीतीपुत्र एक जगह इकट्ठे होकर यों सलाह करने लगे कि हे मार्षो (=हे साथियो) आज बोधिसत्त्व (घर से) निकलेंगे, उनकी पूजा करने के लिए तुम-सबको तैयार रहना चाहिए।

6. और चारों महाराज (अर्थात् उत्तर के लोकपाल कुबेर, पूर्व के धृतराष्ट्र, दक्षिण के विरूढ़क, तथा पश्चिम के विरूपाक्ष) राजधानी अलकावती[5] में प्रवेश कर उस बड़ी यक्षमण्डली को संबोधन कर बोले। हे मार्षो (=हे साथियों), आज बोधिसत्त्व (घर से) निकलेंगे। तुम सबको उन्हें (उनके) उत्तम अश्व के चरणों को (हाथों पर) लेकर निकलना चाहिए।

7. यक्षों की वह मण्डली बोली—

(छंद दंडक)

वज्रदृढ़ अभेद्य नारायणो आत्मभावो, गुरु,
वीर्यबलउपेत सोऽकम्पियो सर्वसत्त्वोत्तमः। =151क=
गिरिवर महमेरु उत्पाट्य शक्यं नभे धारितुं केन चित्,
न तु जिनगुणमेरु शैलैर्गुरुः,
पुण्यज्ञानाश्रितः शक्य नेतुं क्वचित् ॥612॥

उनका शरीर विष्णु के समान भारी है, वज्र के समान दृढ़ है, अभेद्य है। सब प्राणियों में उत्तम, बल और वीर्य के धनी वे (बोधिसत्त्व) अकम्प्य है। उत्तम पर्वत महामेरु को उखाड़ कर कोई आकाश में उठाए रह सकता है। परंतु पहाड़ों से भी भारी, बुद्धगुणों को सुमेरु, पुण्य और ज्ञान के आश्रय (बोधिसत्त्व) को कहीं ले जाया नहीं जा सकता।

8. (–203–) वैश्रवण (कुबेर) बोले—

(छंद वसन्ततिलका)

ये मानगर्वित नरा गुरु तेषु शास्ता
ये प्रेमगौरवस्थिता लघु ते विजानि।

अध्याशयेन अभियुज्यथ गौरवेण
लघु तं हि वेत्स्यथ खगा इव तूल पेसि ॥613॥

जो लोग बड़े होने के अहंकार में भरे हैं, उनके लिए (धर्म के) शास्ता भारी हैं। जो प्रेम और गौरव में स्थित हैं, उनको वे हलके जान पड़ेंगे। उत्तम अभिप्राय और गौरव के साथ उनसे लगन लगाए रहे तो जैसे पक्षी को माँस का टुकड़ा रुई जैसा हलका लगता है, वैसे ही वे भी तुम्हें हलके जान पड़ेंगे।

अहं च पुरतो यास्ये यूयं च वहथा हयं।
नैष्क्रम्ये बोधिसत्त्वस्य पुण्यमार्जयामो बहुं ॥614॥

मैं आगे चलूँगा, तुम-सब घोड़े को उठाए लेते चलो। बोधिसत्त्व के (घर से) निकलने के अवसर (हम-सब) बहुत कमाएँ।

9. हे भिक्षुओं, इसके बाद देवताओं के राजा शक्र ने त्रयस्त्रिंश-लोक के देवताओं को संबोधन कर कहा—हे मार्षो (हे साथियो) आज बोधिसत्त्व (घर से) निकलेंगे, उनकी पूजा करने के लिए तुम सबको तैयार रहना चाहिए।

10. वहाँ शान्तिमति नाम के देवपुत्र थे। वे इस प्रकार बोले—मैं महानगर कपिलवस्तु में सब स्त्री-पुरुषों, बच्चे-बच्चियों को सुला दूँगा।

11. ललितव्यूह नाम के देवपुत्र थे। वे इस प्रकार बोले—मैं भी हाथी-घोड़ों, ऊँट-गदहों, स्त्री-पुरुषों, बच्चे-बच्चियों के—सबके शब्द का अन्तर्धान कर दूँगा।

12. व्यूहमति नाम के देवपुत्र थे। वे इस प्रकार बोले—बोधिसत्त्व जिस मार्ग से घर से निकल कर जाएँगे मैं आकाश-तल में = 151ख = उस मार्ग को सजाऊँगा जो माप में इतना चौड़ा होगा कि जिस पर सात रथ चल सकें, जिसके दोनों ओर रत्नों की वेदिकाएँ बनी हों, सूर्यकान्त-मणिरत्न के प्रकाश से जो चमकता हो, जिसके किनारे ध्वजाएँ और पताकाएँ फहराती हों, जिस पर अनेक फूल बिखरे हों, और अनेकों गन्ध-घटिकाओं से जिसे धूपा गया हो।

13. ऐरावण नाम के नागराज थे। वे इस प्रकार बोले—मैं भी अपनी सूँड़ में बत्तीस योजन लम्बा-चौड़ा कूटागार (अर्थात् अंटा) बनाऊँगा। जिस पर (--204--) चढ़कर अप्सराएँ बाजों पर स-र-ग-म अलापती हुई बड़े गाने-बजाने के साथ बोधिसत्त्व की पूजा-सेवा करती-करती चलेंगी।

14. स्वयं देवताओं के राजा शक्र बोले—मैं द्वार खोल दूँगा और भली भाँति मार्ग दिखाऊँगा।

15. धर्मचारी देवपुत्र बोले—मैं अन्तःपुर को विकृत अर्थात् घिनौना कर दिखाऊँगा।

16. संचोदक देवपुत्र बोले—मैं बोधिसत्त्व को पलँग से उठाऊँगा।

17. वहाँ पर वरुण नाम के नागराज, मनस्वी नागराज, सागर नागराज, अनवतप्त नागराज, तथा नन्द और उपनन्द नागराज एवं बोले—हम भी बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए समयानुकूल मेघ ऋद्धि से बना कर उरगसार नामक चन्दन के चूर्ण की = 152क = वर्षा बरसा देंगे।

18. हे भिक्षुओं, इस प्रकार देवताओं, नागों, यक्षों और गंधर्वों ने यह इस प्रकार के निश्चय का विचार मन में किया और (उसमें) लग गए। इसी प्रकार धर्म-चिन्ता में मग्न, संगीत हो रहे महल में सुखदायक पलँग पर विराजे, अन्तःपुर (की स्त्रियों) के बीच विराजमान, पूर्वकाल के बुद्धों के चरित्र का चिन्तन करते हुए, सब प्राणियों के हित की बात सोचते हुए बोधिसत्त्व के (मनके) सम्मुख पहले किए गए चार प्रणिधान (संकल्प) आए। कौन से चार ? पहले मैंने स्वयम्भू (–बुद्धों) की प्रभुताई चाहते हुए सर्वज्ञता की प्रार्थना करते हुए प्राणियों को दुःख देखकर इस प्रकार कमर कसी थी कि अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं आवागमनरूपी महाकारागार के बंधन में पड़ी हुई लोकस्थिति के आवागमन-चक्र को तोड़ कर बंधन से सर्वथा मुक्ति होने का नारा लगाऊँ और तृष्णा की हथकड़ी-बेड़ियों में मज़बूती से बँधे प्राणियों को छुड़ाऊँ। यह पहले किया गया प्रथम प्रणिधान (मन के) सम्मुख आया।

19. (–205–) अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं आवागमनरूपी महान अविद्या की अँधेरी गुहा में पड़े, अज्ञान के अँधेरे परदे से ढँके हुए नेत्र के, प्रज्ञा के नेत्र से सर्वथा रहित, अविद्या और मोह से अन्धे लोक के लिए धर्म का महान् आलोक करूँ, ज्ञान का प्रदीप का उपहार दूँ, [6]तीन विमोक्षों (=अर्थात् शून्यता-विमोक्ष, अनिमित्त-विमोक्ष एवं अप्रणिहित-विमोक्षों) के = 152ख = द्वार-भूत[6] ज्ञान की औषधि के प्रयोग द्वारा प्रज्ञा और उपाय के ज्ञान की सम्यक् युक्ति से महान् तिमिर (रोग) के परदे वाली मलिनता को दूर कर, अविद्या के अँधे बनाने वाले अँधेरे से मारे गए प्रज्ञा के नेत्र को शुद्ध करूँ। यह पहले किया गया द्वितीय प्रणिधान (मन के) सम्मुख आया।

20. अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं मान की ध्वजा फहराने वाले अहंता और

6····6. मूल, त्रिविमोक्षसुख। पठनीय, त्रिविमोक्षमुख। तुलनीय भोट, **र्नम् पर् थर् प हि. स्गो गसुम्।**

ममता के हठी, [7]आत्मा और आत्मीय[7] के आग्रह के पीछे चलने वाले मन के, संज्ञा (अर्थात् पदार्थ के स्वरूप की कल्पना) के विपर्यास (विपरीत भाव) से, चित्त (अर्थात् चिन्तन) के विपर्यास से, दृष्टि (बँधी-बँधाई मानसिक धारणा) के विपर्यास से विपर्यस्त हुए अर्थात् उलटा-पलटा सोचते हुए, [8]असम्यक् आग्रह[8] पकड़े हुए, लोक की अस्मि-मान-ध्वजा को आर्यमार्ग के उपदेश से गिरा दूँ। यह पहले किया गया तृतीय प्रणिधान (मन के) सम्मुख आया।

21. अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं अत्यन्त-अशान्त[9], तन्द्रा से व्याकुल हुए, सूत की लच्छी की तरह (दुनिया में) उलझे हुए, आजवंजव (दुनिया की दौड़-धूप) में लगे हुए, इस लोक से पर लोक तक परलोक से इस लोक तक दौड़ते हुए, (जन्म-मरण के बीच) सरकते हुए, (जन्म-मरण रूपी) संसार से [10]न मुड़ने वाले[10] अलात चक्र (जलती-लकड़ी के घुमाने से बने आग के चक्कर पर) चढ़े हुए लोक के लिए उपशम (= शान्ति) देने वाले, प्रज्ञा को तृप्त करने वाले धर्म को प्रकाशित करूँ। यह पहले किया गया चतुर्थ प्रणिधान (मन के) सम्मुख आया।

7....7. मूल, आत्मनीय। पठनीय, आत्मात्मनीय। पूरे आत्मात्मनीग्राहानुगमानसस्य का भोटानुवाद यों है—**ब्दग् दङ् ब्दग् गिर् ह् जिन् प वङ् ल्दन् प हि यिद् चन्** (= आत्मात्मीयग्राहवन्मनसः)।

8. मूल, असंग्रह। असंग्रह=असम्यक्-ग्रह (= ग्राह अर्थात् हठ)। तुलनीय भोट, **ब्झ्ुङ् ब ङन् पहि, ह्झिन् प ल** (= कुत्सिताग्रहग्राहिणः)। यह भोटानुवाद पूरे वाक्य असंग्रहगृहीतस्य का है।

9. मूल, व्युपशान्तस्य। व्युपशान्त से पूर्व पद अहं (मैं) है। अनुस्वार के अनन्तर अकार लोप के द्वारा मूल पद जो अव्युपशान्तस्य था वह केवल व्युपशान्तस्य रह गया। अव्युपशान्त पाठ का यहाँ भोटानुवाद यों है—**नंम् पर् म शि ब।**

10....10. मूल, अभिनिवृत्तस्य। अभिनिवृत्तस्य = अ--भिनिवृत्तस्य; भिनिवृत्त के पूर्व अकार प्रतिषेधवाचक है। भिनिवृत्त शब्द की निष्पत्ति अभि उपसर्ग के अकार-लोप द्वारा हुई है। अव तथा अपि उपसर्गों के अकार का लोप संस्कृत में देखा जाता है। अभि उपसर्ग के अकार का लोप भी उसी अनुकरण पर हुआ है। अ-भिनिवृत्त का भोटानुवाद **मि ल्दोग् प** (= अनिवृत्ति, अनिवृत्त, अनिवर्तन) शब्द से किया गया है, जिसमें प्रतिषेधवाच अकार का **मि** शब्द द्वारा अनुवाद है।

22. और उस क्षण में धर्मचारी देवपुत्र ने तथा शुद्धवासकायिक देवपुत्रों ने =153क=अन्तःपुर को विकृत-विगलित (बिगड़ा-बिगड़ाया) दिखाया। विसंस्थित (=अस्त-व्यस्त) और बीभत्स (=घिनौना) दिखा कर गगन-तल पर ठहरे हुए उन (देव पुत्रों) ने गाथा द्वारा बोधिसत्त्व से कहा—

(छंद उपजाति)

अथाब्रुवन् देवसुता महर्द्धयो
विबुद्धपद्मायतलोचनं तं।
कथं तवास्मिन्नुपजायते रतिः
श्मशानमध्ये समवस्थितस्य ॥615॥

तदनन्तर बड़ी ऋद्धि के देवपुत्र खिले हुए कमल के समान विशाल लोचन वाले उन (बोधिसत्त्व) से बोले—इस श्मशान के बीच रहते हुए तुम्हें कैसे आनन्द लगता है ?

–206– संचोदितः सोऽथ सुरेश्वरेभिः
निरीक्षते ऽन्तःपुर तं मुहूर्तं।
संप्रेषते पश्यति तां बिभत्सां
श्मशानमध्ये वसितोऽस्मि भूतं ॥616॥

देव-प्रभुओं से प्रेरणा पा उन्होंने तब क्षणभर उस अन्तःपुर को निहारा, निहारते हुए उस घिनौने पन को देखा, उनको लगा कि (मैं) श्मशान के बीच रह रहा हूँ।

23. बोधिसत्त्व ने सब-के-सब स्त्रीसमूह को निहारा। निहारते हुए देखा। वहाँ कोई थीं, जिनके वस्त्र गिरे हुए थे। कोई थीं, जिनके केश अस्त-व्यस्त थे। कोई थीं, जिनके आभूषण बिखरे पड़े थे। कोई थीं, जिनके मुकुट खिसक गए थे। कोई थीं, जिनके कन्धे नीचे झुक गए थे। कोई थीं, जिनके शरीर ढँके हुए नहीं थे। कोई थीं, जिनके मुख बेढंगी हालत में थे। कोई थीं, जिनकी आँखें उलटी हुई थीं। कोई थीं, जिनके (मुँह से) लार बह रही थी। कोई थीं, जो (जोर-जोर) साँस ले रही थीं। कोई थीं, जो हँस रही थीं। कोई थीं, जो खाँस रहीं थीं। कोई थीं, जो दाँत कटकटा रही थीं। कोई थीं, जिनके मुँह बदरंग थे। कोई थीं, जिनका रूप बेढंगा था। कोई थीं, जिनकी बाँहें लटकी हुई थीं। कोई थीं, जिनके पैर अस्त-व्यस्त थे। कोई थीं, जो सिर उघाड़े हुए थीं। कोई थीं, जिनके सिर पर घूंघट थे। कोई थीं, जो अपने मुखमंडल पीछे घुमाए हुए थीं। कोई थीं, जिनके शरीर बिगड़ गए थे। कोई थीं, जिनके शरीर टूटे-

फूटे थे। कोई थीं, जो औंधे मुख पड़ी खुर-खुरा रही थीं। = 153ख = कोई थीं, जो मृदंगों से लिपटी हुई अपना शरीर घुमाए हुए थीं। कोई थीं, जिनके हाथ वीणा एवं वल्लकी आदि में लगे हुए थे। कोई थीं, जो बंशी को दाँतों से कटकटा रही थीं। कोई थीं, जो किम्बल, नकुल, शम्याताल (झाँझ) वाद्ययंत्रों को खींच रही थीं। कोई थीं, जो मुँह फैलाए हुए थीं। इस प्रकार के धरणीतल पर विद्यमान घिनौने अन्तःपुर को देख बोधिसत्त्व के मन में श्मशान संज्ञा उत्पन्न हुई।

24. उस (विषय) में यह कहा जाता है—

(छंद उपजाति)

तां दृष्ट्व उद्विग्न स लोकनाथः
करुणं विनिश्वस्य इदं जगाद
अहो वता कृच्छ्रगता प्रजेयं[11]
कथं रतिं विन्दति राक्षसीगणे ॥617॥

उनको देख घबराए हुए उन लोकनाथ (बोधिसत्त्व) ने करुणा से साँस लेकर यह कहा—अहो कितने कष्ट में यह प्रजा पड़ी है, राक्षसीगण के भीतर आनन्द की प्राप्ति कैसे ?

(छंद द्रुतविलम्बित)

अतिव[12] मोहतमावृत दुर्मती[13]
[14]निगुण कामगुणैर्[14] गुणसंज्ञिनः।
विहग पञ्जरमध्यगता यथा
न हि लभन्ति कदाचि विनिःसृतिं ॥618॥

---

11. मूल, व्रजेयं। पठनीय, प्रजेयं। तुलनीय भोट, स्क्ये द्गु द्गु नि (=प्रजाः)।
12. मूल, अति। छन्द की दृष्टि से अति को अतिव (= अतीव अति-इव) किया गया है।
13. मूल, दुर्मति। यहाँ शब्द को छन्द तथा व्याकरण दोनों के आश्रय से दीर्घान्त किया गया है।
14....14. मूल, कामगुणैर्निगुणौः। छन्द की दृष्टि से निगुण कामगुणैः उचित है तथा ठीक गाथा-संस्कृत की भाषा के अनुकूल है। मैंने यहाँ निगुणौः के स्थान केवल निगुण कर केवल स्थान परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन से पद यथास्थान हो गए हैं, जो कभी लिपिकरप्रमाद से अपना छन्दोऽनुकूल स्थान खो बैठे थे।

मोह के अँधेरे से अत्यन्त ढके हुए, मलिन मति के, गुणों से रहित, काम के गुणों में गुण-बुद्धि रखते हुए (लोग), पिंजरे के बीच पड़े हुए पक्षियों के समान कभी भी (दुःख से) बाहर नहीं निकल पाते।

25. (--207--) इसके अनन्तर बोधिसत्त्व इस धर्म-प्रकाश के द्वार से फिर अन्तःपुर (की स्त्रियों) को देखते हुए, महाकरुणा के विलाप से, प्राणियों को लक्ष्य कर विलाप करने लगे—(1) यहाँ वे बच्चे (=अज्ञानी) कसाई खाने में मारे जाने वाले (जानवरों) की तरह मारे जाते हैं, (2) यहाँ वे बच्चे (भीतर) गंदगी से भरे (ऊपर) चित्र—आँके घड़ों की चाह वाले मूर्खों की तरह प्रेम में फँस जाते हैं, (3) यहाँ वे बच्चे =154क= पानी के बीच हाथी की तरह डूब जाते हैं, (4) यहाँ पर वे बच्चे जेलखाने में चोरों की तरह बंद रक्खे जाते हैं, (5) यहाँ वे बच्चे मैले के बीच सुअरों की तरह आनन्दित होते हैं, (6) यहाँ वे बच्चे हड्डियों के पंजर में कुत्तों की तरह लालच करते हैं, (7) यहाँ वे बच्चे दीप की शिखाओं में पतिङ्गों की तरह गिरते हैं, (8) यहाँ वे बच्चे लासे से बंदरों की तरह बाँध लिए जाते हैं, (9) यहाँ वे बच्चे जाल में फाँस कर निकाल लिए गए जल के जीवों-मच्छकच्छों की तरह भूने जाते हैं, (10) यहाँ वे बच्चे कसाई की कुटनी पर भेंड़ों की तरह कूटे जाते हैं, (11) यहाँ वे बच्चे सूली पर पापकारियों की तरह चढ़ाए जाते हैं, (12) यहाँ वे बच्चे दलदल में बूढ़े हाथियों की तरह (फँस कर) फँसे (ही) रहते हैं, (13) यहाँ वे बच्चे महासागर में टूटे जहाज़ (के यात्रियों) की तरह (डूब) मरते हैं, (14) यहाँ वे बच्चे बड़े खड्ड में जन्म के अंधों की तरह गिरते हैं, (15) यहाँ पर वे बच्चे पाताल की सेंधों में गए पानी की तरह खतम हो जाते हैं, (16) यहाँ वे बच्चे कल्प के अन्त की महापृथिवी की तरह धुआँते हैं, =154ख= (17) इनके द्वारा (वे) बच्चे कुम्हार के वेग से चक्कर खाते चाक की तरह घुमाए जाते हैं, (18) यहाँ वे बच्चे पहाड़ (की गुहा) के भीतर पहुँचे जन्म के अंधों की तरह सब ओर से भरमते रहते हैं, (19) यहाँ वे बच्चे[14क] गर्दूल (चमड़े की रस्सी) से बँधे[14क] कुत्तों की तरह (यहीं) चक्कर काटते रहते हैं, (20) यहाँ वे बच्चे गर्मी के दिनों में घास-फूस और वनस्पतियों की तरह मुरझाते है, (21) यहाँ वे बच्चे अँधेरे पाख के चन्द्रमा की तरह छीज जाते हैं, (22क) इनके द्वारा (वे) बच्चे गरुड़ के द्वारा साँपों की तरह खा फेंके जाते हैं, (22ख) इनके द्वारा (वे) बचचे बड़े मगर

14क....14क. मूल शर्दूलबद्धा। पठनीय, गर्दूलबद्धा। यह पाठान्तर से प्रमाणित है। गर्दूल चमड़े की रस्सी (नध्री, हिन्दी नाधा) का नाम है। भोट, **स्तुङ् गिस् ब्तग्स् प** (रज्जुबद्धाः)।

के द्वारा नौका की भाँति ग्रस लिए जाते हैं, (23) इनके द्वारा वे बच्चे चोरों के दल के द्वारा करावान की तरह लूट लिए जाते हैं, (24) इनके द्वारा (वे) बच्चे हवा से शालवृक्ष की तरह उखाड़ फेंके जाते हैं, (25) इनके द्वारा (वे) बच्चे साँपों से जानवरों की तरह मार डाले जाते हैं, (--208--) (26) मजे के ख्याल से (वे) बच्चे इनके द्वारा उसी तरह घायल किए जाते हैं, जिस तरह अनजान (लोग) शहद से लिपटी छुरे की धार चाट घायल होते हैं, (27) इनके द्वारा (वे) बच्चे बाढ़ से लकड़ी के ढेर की तरह बहा ले जाये जाते हैं, (28) इनके साथ (वे) बच्चे अपने मल-मूल से खेलने वाले अबोध शिशुओं की तरह खेलते हैं, (29) इनके द्वारा (वे) बच्चे अंकुश द्वारा हाथियों की तरह घुमा लिए जाते हैं, (30) इनके द्वारा (वे) बच्चे धूर्तों से =155क= अनजान लोगों की तरह [15]ठग लिए जाते हैं[15], (31) यहाँ वे बच्चे कुशलमूल का उस तरह सत्यानाश कर डालते हैं, जैसे जुआरी धन का, (32) इनके द्वारा वे बच्चे उस तरह खा डाले जाते हैं, जैसे राक्षसियों द्वारा बंजारे। इन बत्तीस प्रकारों से अन्तःपुर (की स्त्रियों) की सब ओर से तुलना कर बोधिसत्त्व काय (के विषय) में अशुभ संज्ञा (अर्थात् अपवित्रता का भाव) मन में लाते हुए, प्रतिकूल संज्ञा (अर्थात् प्रतिकूलता का भाव) निश्चित करते हुए, जुगुप्सा संज्ञा (अर्थात् घिनौने-पन का भाव) उपजाते हुए, [16]अपने काय को प्रेत के समान सोचते हुए[16], काय-दोष देखते हुए, काय से कायविषयक आसक्ति को हिलाते हुए, शुभसंज्ञा (अर्थात् इष्ट या पवित्र होने का भाव) भंग करते हुए, अशुभसंज्ञा (अर्थात् अनिष्ट या अपवित्र होने का भाव) भरते हुए, (काय को) नीचे पैर के तलवों से लेकर ऊपर माथे तक अशुचि से उठा हुआ, अशुचि से बना हुआ, नित्य अशुचि टपकाने वाला देखा। और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छन्द शार्दूलविक्रीड़ित)

(सार्धयुग्मक)

कर्मक्षेत्ररुहं तृषासलिलजं सत्कायसंज्ञीकृतं
अश्रुस्वेदकफार्द्र मूत्रविकृतं शोणीतविन्द्वाकुलं।
वस्तीपूयवसासमस्तकरसैः पूर्णं तथा किल्विषै
नित्यप्रस्रवितं ह्यमेध्यसकलं दुर्गन्धनानाविधं ॥619॥

15....15. मूल, बध्यन्ते। पठनीय, वंचयन्ते। तुलनीय भोट, स्लु ब स्ते।

16....16. मूल, स्वकायं प्रतिविभावयन्। पठनीय, स्वकायं प्रेतसदृशं प्रतिविभा-वयन्। तुलनीय भोट, रङ् गि लुस् ल ह्रुवद् दङ् ह्.ब्र ब र्नम् पर् स्गोम्।

अस्थीदन्तसकेशरोम = 155ख = विकृतं चर्मावृतं लोमसं
अन्तः[17]-प्लीह-जकृद्[18]-वपोष्णरसनैर्[19]एभिश्चितं दुर्बलै।
मज्जास्नायुनिबद्धयन्त्रसदृशं मांसेन शोभीकृतं
नानाव्याधिप्रकीर्णसोककलिलं क्षुत्तर्षसंपीडितं।
जन्तूनां निलयं अनेकसुषिरं मृत्युंजरां चाश्रितं
दृष्टवा को हि विचक्षणो रिपुनिभं मन्ये शरीरं स्वकं ॥620॥

कर्म के खेत में उगा हुआ, तृष्णा के पानी से पनपा हुआ, सत्काय (अर्थात् टिकाऊ ढेर) नामधारी, आँसू, पसीना और कफ से गीला, मूत्र से मैला, लोहू की बूँदों से गड़बड़ाया, पेशाब की थैली, पीब, चरबी, माथे के भेजे (= मगज़) से तथा मैले से भरा हुआ, नित्य बहने वाला, सब (प्रकार की) गंदगी का (घर) तरह-तरह की बदबू वाला—

हड्डी, दाँन्त, केश तथा रोओं से घिनौना, खाल से ढका हुआ, रोओं वाला, कमज़ोर आँत, तिल्ली, कलेजे, चरबी और लार से पूरित, मज्जा और स्नायुओं (नसों) से बाँध कर यंत्र के समान, माँस से सुशोभित किया गया, नाना व्याधियों से व्याप्त, शोक से लत-पत, भूख-प्यास से पीड़ित, जन्तुओं का घर, अनेक छेदों वाला, मौत और बुढ़ौती का बसेरा शत्रु जैसा (यह) शरीर देख कौन बुद्धिमान् है, जो इसे अपना माने ।

(–209–) इस प्रकार बोधिसत्त्व काम में कायानुस्मृति अर्थात् काम-विषयक जागरूकता के साथ विहार करते थे ।

---

17. मूल का **अन्तः** शब्द वस्तुतः संस्कृत के **अन्त्र** शब्द का अपभ्रंश है । हिन्दी में यह और भी बदल कर **आँत** हो गया । इस शब्द के आगे विसर्ग केवल मुख सुखार्थ आगम है । इसका संस्कृत के **अन्तर** शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है । **अन्त्र** शब्द को ही मन में रख कर इसका भोटानुवाद **ग्युं म** हुआ है । इस शब्द का बु० हा० सं० डि० में संकलन होना चाहिए था ।

18. जकृत् शब्द यकृत् का अपभ्रंश है, भोट में **म्छिन् य** शब्द से इसका अनुवाद हुआ है । प्रो० एड्जेर्टन् ने इसे अपने कोष (बु० हा० सं० डि०) में स्थान देकर बहुत उत्तम कार्य किया है । वैद्य का ललितविस्तर-संस्करण, जो वस्तुतः ललितविस्तर को ध्वंसलीला है, यकृत् पाठ का समर्थक है ।

19. उष्णरसन शब्द का अर्थ है उष्णस्वादवाला । भोटानुवाद **ख छु** से स्पष्ट है कि यह शब्द यहाँ लाला (हिन्दी लार) का पर्याय है । इस अग्राम्य शब्द का संग्रह संस्कृत कोषों में होना चाहिए ।

26. आकाशतल पर विराजमान देवपुत्र धर्मचारी देवपुत्र से यों बोले। हे मार्ष (हे साथी) यह क्या (बात) है कि सिद्धार्थ विलंब कर रहे हैं, अन्तः—पुर (की स्त्रियों) को देख रहे हैं,[20] और मुसकरा रहे हैं[20], तथा चित्त को दुखी कर रहे हैं और बारम्बार निगाह गड़ा रहे हैं। अथवा ये लहराते समुद्र के समान गहरे हैं। इनकी माप-जोख नहीं हो सकती। अथवा, क्या वीतराग का मन विषय-भोग में नहीं फँसता ? देवताओं से प्रेरित क्या पहले की प्रतिज्ञा नहीं भूलता ?

27. धर्मचारी (देवपुत्र) बोले यह क्या कह रहे हो ? तुम (सब) को तो प्रत्यक्ष ही है।[21] कि बोधि के लिए (शील दानादि की) चर्या करते हुए पहले ही (घरसे) निकलने में तथा त्याग (=दान) में इनकी वैसी अनाशक्ति थी, इस समय कहना ही क्या। अन्तिम-जन्म में स्थित (इनमें) आसक्ति का होना कैसा।

28. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर बोधिसत्त्व =156क= निश्चय पर तुले, मन में बे-चैन हुए, बुद्धि को स्थिर किये हुए, विलम्ब न कर लीला के साथ पलँग से उतर कर, संगीति के महल में पूरब की ओर मुँह कर खड़े हो कर, दाहिने हाथ से रत्न की जाली का (परदा) उतार कर महल के ऊपर पहुँच, दस नखों से (उपलक्षित उँगलियों द्वारा) अंजलि बाँध, सब बुद्धों का ध्यान कर, सब बुद्धों को नमस्कार कर, गगन तल निहारने लगे। उन्होंने गगनतल पर विराजमान देवताओं के अधिपति सहस्र आँखों वाले (इन्द्र) को लाखों देवताओं से घिरे हुए, पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, चूर्ण, चीवर (=वस्त्र) छत्र, ध्वजा, पताका, अवतंसक (कर्णभूषण), रत्नों के हार तथा मालाएँ लिए हुए, शरीर को झुकाए, बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए देखा। और यक्ष, राक्षस, गंधर्व, तथा नागों के गणों से घिरे हुए दृढ़ वर्म एवं कवचों से नधे हुए, तलवार, धनुष, बाण बरछी, भाला तथा त्रिशूल हाथ में लिए हुए, लीला के साथ सिर पर मणियों के जड़ाऊ मुकुटों को झुलाते, हुए बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए, चारों लोकपालों को खड़ा देखा। चन्द्र तथा सूर्य देवपुत्रों को भी (–210–)

20....20. मूल, स्म। तं चोपदर्शयति। पढनीय, स्मितं चोपदर्शयति।

21....21. मूल, ननु यूयमस्य प्रत्यक्ष (इसके बाद पूर्णविरामार्थक दंड अपेक्षित है।) शुद्ध संस्कृत में-ननु यूयं स्थ प्रत्यक्षाः। भोट, **ख्येद् ल म्ङोन् सुम दु ग्युर् प यिन् न**। मूल में **अस्य** अस् धातु का रूप (द्रष्टव्य बु० हा० सं० ग्रा० २९।४१ पृष्ठ) है। यह प्रयोग यहाँ मध्यम पुरुष बहुवचन में है। संभवतः **अस्य** मूल अपभ्रंश **अस्थ** था। सं० **स्थ**, अप्रभ्रंश **अस्थ**।

बाएँ और दाहिने पासों में खड़ा देखा। नक्षत्रों के अधिपति पुण्य का उदय हुआ, आधीरात का समय आ गया (यह सब) देख =156ख= बोधिसत्त्व ने छन्दक को पुकार कर कहा—

(छंद रथोद्धता)

छन्दका चपलु मा विलम्बहे
अश्वराज दद मे अलंकृतं।
सर्वसिद्धि मा एति मङ्गला
अर्थसिद्ध ध्रुवमद्य भेष्यति ॥621॥

हे छन्दक, झटपट देर मत करो, सजा कर अश्वराज (कन्थक) मुझे दो। मेरा मंगल पूर्ण सिद्धि को प्राप्त होने वाला है, आज निश्चय ही अर्थसिद्धि (प्रयोजन की सफलता) होने वाली है।

29. तब इस वचन को सुन कर मन में अकुला कर छन्दक यों बोला—

(छन्द षट्पदी)

क्व गमिष्यसे विकसितभ्रू कमलदलशुभलोचन । क ।
नृपसिंह शरदिन्दुपूर्ण कुमुदशशाङ्कमुदित । ख ।
नवनलिनकोमलविबुद्धपद्मवदना । ग ।
हाटक सुधान्त[22])—रवितरुण—विमलशशितेज
घृताहुतिरर्चिरग्निमणिविद्युत्प्रभोज्ज्वलिततेजो । घ ।
वारणमत्तलीडगजगामि । ङ ।
गोवृषमृगेन्द्रहंसक्रम सुक्रमा सुचरणा । च ॥622॥

कहाँ जाओगे ? हे हँसती भौंहों वाले, कमल की पंखड़ियों जैसे निर्मल जैसे निर्मल नेत्रों वाले, नृपों में सिंह के समान (बली), शरद की पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान (निर्मल) चन्द्रमा से खिले कुमुद के समान (आनन्द देने वाले), नए कमल के समान कोमल और खिले कमल के समान खिले चेहरे वाले, पानी चढ़ाए गए सोने के समान, बाल-सूर्य के समान, तथा निर्मल चन्द्रमा के समान तेज वाले, घी में आहुति देने से निकलने वाली ज्वालाओं से युक्त अग्नि, मणि, तथा बिजली की आभा के समान उज्ज्वल दीप्ति वाले, मतवाले हाथी की लीला तथा

---

22. **हाटकसुधान्त** शुद्ध संस्कृत में **सुधौतहाटक**। तुलनीय भोट, **स्ब्यङ्स प हि. ग्सेर्**। सुधान्त = सु–धौ–त। धौ का अपभ्रंश धान् विचारणीय है। एड्जेर्ट् न् महोदय के कोष (बु० हा० सं० डि०) में यह शब्द नहीं है।

(मतवाले) हाथी की चाल वाले, वृषभ, सिंह, तथा हंस के समान पदक्षेप करने वाले, सुन्दर पदक्षेप करने वाले, सुन्दर चरण वाले।

30. बोधिसत्त्व बोले—

(छन्द षट्पदी)

छन्दक यस्य अर्थि मयि पूर्व त्यक्त करचरणनयन।क।
तथ उत्तमाङ्ग तनय भार्य प्रियाश्च राज्यधनकनकवसन
रत्नपूर्णरथ[23]गज तुरगानिलजववेग विक्रमबला:[24]।ख।
शीलु मि रक्षि क्षान्ति परिभाव।ग।
वीर्यबल[25]ध्यानप्रज्ञानिरतश्चास्मि बहुकल्पकोटिनयुता।घ।
किं तु स्पृशित्व बोधि शिव शान्तिं।ङ।
जरामरणपञ्जरनिरष्ट[26]सत्त्वपरिमोचनस्य
समयो ऽद्युपस्थितु मम।च। ॥623॥

हे छन्दक, जिसके लिए मैंने पहले त्यागे हैं—हाथ, पैर, नेत्र, तथा उत्तमाङ्ग (=सिर) प्रिय पुत्र, स्त्री, राज्य, धन, सुवर्ण, वस्त्र, रत्नों से पूर्ण रथ, हाथी, हवा के जैसे फुर्तीले और दौड़ने वाले, पराक्रम में श्रेष्ठ घोड़े; शील की मैंने रक्षा की, क्षमा की मैंने सब ओर से भावना की; खर्ब-खर्ब बहुत करोड़ कल्पों तक वीर्य, वरध्यान (उत्तमध्यान), तथा प्रज्ञा में अत्यन्त रमा रहा हूँ; परन्तु मंगलमयी शान्ति बोधि का अनुभव कर; जरा और मरण के पिंजरे में डाले गए प्राणियों को मुक्त करने का समय मेरे लिए आज उपस्थित हुआ है।

---

23. मूल, रत्नपूर्ण। पठनीय, रत्नपूर्णरथ। तुलनीय भोट, **रिन् छेन् गङ् ब हि शिङ् र्त।**

24. विक्रमबला: वस्तुत: विक्रमवरा: है। वर के दन्त्योष्ठ्य का ओष्ठ्य तथा मूर्धन्य का दन्त्य होकर यह अपभ्रंश हुआ है। बल वस्तुत: वर है इसका समर्थन भोटानुवाद से होता है—**र्चल् म्छोग् ल्दन्** (=वरविक्रमवन्त:)।

25. बल यहाँ पर भी वस्तुत: वर है। यद्यपि भोट में यहाँ **स्तोब्स्** (=बल) है तथापि छह पारमिताओं के प्रसंग में वीर्य से पृथक बल की गणना नहीं की जा सकती। **वीर्यबल** यह एक शब्द मानना होगा या बल को वर मान कर ध्यान का विशेषण करना होगा।

26. **निरष्ट** वस्तुत: **न्यस्त** है। तुलनीय भोट, **छुद् प** (= प्रविष्ट, निक्षिप्त)। संस्कृतवर्णविन्यास के पक्षपाती वैद्यजी ने निरष्ट को निरस्त करने का यत्न नहीं किया है।

31. (–211) छन्दक =157क = बोला—हे आर्यपुत्र, मैंने सुना है कि जब तुम उत्पन्न ही हुए थे तुम्हें (शुभाशुभ—) निमित्त जानने वाले ब्राह्मणों को दिखाने के लिए उपस्थित किया गया था। उन्होंने राजा शुद्धोदन के आगे भविष्यवाणी की थी कि हे देव, तुम्हारे राजकुल की वृद्धि है। (राजा) बोले। कैसे ? वे (ब्राह्मण) बोले—

(छंद उपजाति वंशस्था तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

अयं कुमारः शतपुण्यलक्षणो
जातस्तवा आत्मज पुण्यतेजितः।
स चक्रवर्ती चतुद्वीप ईश्वरो
भविष्यती सप्तधनैरुपेतः ॥624॥

यह कुमार सैंकड़ों शुभलक्षणों वाला, पुण्य के तेज से युक्त, तुम्हारा पुत्र हो कर उत्पन्न हुआ है। यह चारों (पूर्वविदेह, अपरगोदानीय, उत्तरकुरु तथा जम्बूद्वीप नामक) द्वीपों का सात धनों अर्थात् सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होगा ?

सचेत् पुनर्लोकमवेक्ष्य दुःखितं
विजह्य-म्-आन्तः पुरि निष्क्रमिष्यति।
अवाप्य बोधिं अजरामरं पदं
तर्पेष्यते धर्मजलैरिमां प्रजां ॥625॥

वह यदि इस लोक को दुःखी देख कर, अन्तःपुर का त्याग कर (घर से) निकलेगा, तो अजर और अमर रूपी बोधि पा कर इस प्रजा को धर्म के जल से तृप्त करेगा।

35. अहो आर्यपुत्र, है ऐसी ही भविष्यवाणी, यह न हो ऐसी बात नहीं। पर मेरे (–जैसे) हित चाहने वाले की बात सुनो। (बोधिसत्त्व) बोले—क्या बात ? (छन्दक) बोला हे देव, यहाँ कितने ही लोग अनेक प्रकार के व्रत और तप करते हैं, मृगचर्म, जटामय मुकुट, चीवर, तथा बल्कल धारण कर, लम्बे-लम्बे नख केश, लम्बी-लम्बी दाढ़ी-मूछें रख शरीर को सब ओर से तपाने का यत्न करते हैं, चारों ओर से तपाने का यत्न करते हैं, तीव्र व्रत तथा तपस्या करते हैं, क्यों वे देवसंपत्ति तथा मनुष्यसंपत्ति पाना चाहते हैं। जिसके लिए (यह सब करते हैं) संपत्ति हे आर्यपुत्र, तुम्हें प्राप्त है। यह राज्य है, (धन से) समृद्ध, =157ख = और (धान्य से) भरा-पूरा, क्षेम (प्राप्त की रक्षा से युक्त), सुभिक्ष (अकाल से रहित) रमणीय (सुखदायक) और बहुत लोगों से—बहुत मनुष्यों

से व्याप्त। और ये उपवन हैं, जो उत्तम हैं, अत्युत्तम हैं, नाना प्रकार के पुष्पों से तथा फलों से विभूषित हैं, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी कलरव करते हैं। और पुष्करिणियाँ उत्पलों से (रात में खिलने वाले नीले कमलों से) पद्मों से (दिन में खिलने वाले लाल कमलों से) कुमुदों से (रात्रिविकासी श्वेतकमलों से) तथा पुंडरीकों से (दिनविकासी श्वेत कमलों से) सुशोभित हैं, उनमें हंस, मोर, कोयल, क्रौंच नामक बगुले और सारस कूज रहे हैं, उनके किनारे आम, अशोक, चम्पा, झिण्टी, तिलक तथा बकुल आदि नानाप्रकार के पेड़ लगे हैं और फूल रहे हैं,[27] नाना भाँति के रत्नमय वृक्षों की वीथी[27] से वे विभूषित हैं, वहाँ चौपड खेलने के पाटे जड़े हुए हैं, चारों ओर (बैठने के लिए) रत्नमयी वेदिकाएँ बनी हुई हैं, रत्नमयी जालियाँ लगी हुई हैं, जैसा ऋतु हो वैसा उनका उपभोग किया जा सकता है, वहाँ गरमी के दिनों में, वर्षा के दिनों में तथा सर्दी के दिनों में सुख से रहा जा सकता है। और ये शरद् ऋतु के मेघों के समान (उज्ज्वल), कैलास पर्वत के समान (श्वेत और ऊँचे-ऊँचे) (–212–) इन्द्र के दिव्य-भवन वैजयन्त इन्द्र की दिव्य-सभा धर्मा और सुधर्मा के समान शोकरहितता आदि (गुणों) से युक्त बड़े-बड़े राजमहल वितर्दियों (चबूतरों) निर्यूहों (अटारियों) तोरणों (द्वार के बाह्यभागों) गवाक्षों (गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों), कूटागारों (महलों के सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों) प्रासादों (राजनिवास के योग्य भवनों) के तलों (छत के खुले आँगनों) से भलीभाँति से अलंकृत हैं, रत्नों की किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों वाली जालियाँ (=झालरें) वहाँ झूल रही हैं। और हे आर्यपुत्र, यह अन्तःपुर (का स्त्री-समूह) तुणव (=मुरली), पणव (=भेरीविशेष) वीणा, =158क= वेणु, शम्पाताल (झाँझ या करताल) किम्पल =मंजीरा) नकुल (नेवले के मुखवाली तुरही) सुघोषक मृदङ्ग, पटह (नक्कारा) नामक बाजों से, नाच-गान से, बाजों पर संगीति (सरगमपधनि-स्वरों) के प्रयोग से भलीभाँति शिक्षा पाया हुआ है, हास्य में, लास्य (श्रृंगार के नृत्य) में, क्रीड़ा में रमण करने में पूर्णरूप से मधुर व्यवहार करने वाला है। और हे देव, तुम भी जवान हो, जवानी अभी चढ़ी भी नहीं है, नयी (–वयस) है, कम (–वयस) है,

---

27. मूल, नानारत्नवृक्षवातिका। यहाँ वातिका शब्द वाटिका का अपरूप है। वैद्यजी ने इस पाठ को दूर कर वाटिका ही पाठ रखा है वृक्षवाटिका यहाँ वृक्षवीथी (ऐसी वीथी जिसके दोनों ओर वृक्ष हों) के अर्थ में हैं। तुलनीय भोटानुवाद, **रिन् पो छेहि् शिङ् ल्न छोग्स् क्यि फ्रेङ्**। भोटानुवाद में वाटिका के स्थान में जो **फ्रेङ्** शब्द है, वह माला या श्रेणी या पंक्ति का वाचक है।

कच्ची (—वयस है), शरीर सुकुमार है, (अभी) लड़के (ही) हो, केश काले हैं, काम के खेल भी अभी नहीं खेले हो। अभी तो देवताओं के अधिपति, सहस्र नेत्र वाले, देवराज (इन्द्र) की भाँति आनन्द मनाओ, फिर बाद में जब बूढ़े हो जाएँगे तब (घर से) निकलेंगे। और उस अवसर पर यह गाथा कही—

(छंद आर्या)

रमतां च रतिविधिज्ञां अमराधिपतिर्यथा त्रिदशलोके
पश्चाद् वृद्धीभूता व्रततपसं आरभिष्यामः ॥626॥

हे रमण की विधियों के जानकार, (अभी) देवलोक में देवेन्द्र की तरह रमण करो, पीछे बूढ़े होने पर व्रत-तप करेंगे।

33. बोधिसत्त्व बोले। छन्दक, (ऐसा) मत (बोलो)। ये काम तो अनित्य हैं, टिकाऊ नहीं हैं, सदा एक रूप रहने वाले नहीं हैं, स्वभाव से ही बदलने वाले हैं, रफू-चक्कर होने वाले हैं, चंचल हैं, पहाड़ी नदी के वेग जैसे (फिर न लौटने वाले) हैं, ओस की बूँद के समान देर तक न ठहरने वाले हैं, (बच्चों की) खाली मूठ की बुझौवल के समान सारहीन हैं, केले के खम्भे के समान कमजोर हैं, कच्चे बर्तन =158ख= की तरह टूट जाने वाले हैं, शरद् ऋतु के मेघों के समान होकर क्षण भर में मिटने वाले हैं, आकाश में बिजली की तरह देर तक न ठहरने वाले हैं, विष-मिले अन्न के समान अन्त में दुःख देने वाले हैं, मालु-लता जैसे असुख देने वाले हैं, बच्चों की जैसी बुद्धि वालों का इनमें अभिलाष होता है[28] पानी के बुलबुलों के समान झटपट मिट जाने के स्वभाव वाले हैं, माया और मृगतृष्णा के समान संज्ञाविपर्यास अर्थात् प्रत्यक्षाभाव के कारण उत्पन्न होने वाले हैं, माया अर्थात् इन्द्रजाल के समान चित्तविपर्यास अर्थात् चित्त के विभ्रम से सिद्ध होने वाले हैं, स्वप्न के समान दृष्टिविपर्यास अर्थात् मन में बैठे उलटे-पलटे विचारों द्वारा [29]चारों ओर से पकड़ने वाले हैं[29] (अपने सं-) योग से तृप्ति न करने वाले हैं, समुद्र की भाँति कठिनाई से भरे जाने वाले हैं, खारे पानी जैसे प्यास लगाने वाले हैं, साँप के सिर की तरह

28. मूल, अभिलिखित। पठनीय, अभिलखित (=अभिलषित)। भोट, **ह्दोद् पर ब्य ब** (अभिलषित)। षकार के दैशिक उच्चारण खकार की रक्षा हस्तलिखित ग्रन्थ में की गई है। अति यत्न से संग्रह योग्य शब्द है।

29....29. मूल, परिग्रह। पठनीय, परिग्रहा। तथा इसी पर विराम करने के लिए पदच्छेद आवश्यक है। भोट, **योङ्सु ज़िन् प** (परिग्रह)। भोट में यहीं पर विराम है।

छुए जाने के लायक नहीं है, (--213-) पंडितों ने गिरावट वाले बड़े खड्ड की तरह इन्हें त्याग रक्खा है, ये भय वाले हैं, ये झगड़ा कराने वाले हैं, ये अपराध कराने वाले हैं, ये दोष लगाने वाले हैं—ऐसा समझ बुद्धिमानों ने इन्हें छोड़ रक्खा है, विद्वानों ने इन्हें लताड़ रक्खा है, आर्यों को इनसे घृणा रहती है, पंडितों ने इन्हें दुत्कार रक्खा है, (केवल) अपंडितों ने पकड़ रक्खा है, बच्चे (= मूर्ख) इनकी सेवा कर रहे हैं। और उस समय यह गाथा कही—

(छंद उपजाति वंशस्थ तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

विवर्जिता सर्पशिरो यथा बुधै
विगर्हिता मीढघटो यथाशुचिः ।
विनाशका सर्वशुभस्य छन्दका
ज्ञात्वा हि कामान् न मि जायते रतिः ॥627॥

पंडित लोगों ने जैसे साँप के सिर को दूर छोड़ रक्खा है, जैसे मलमूत्र के अपवित्र घड़े को निन्दित (= अछूत) बना रक्खा है, (ये काम भी वैसे ही त्यागने के योग्य हैं, न छूने के योग्य हैं)। हे छंदक, काम सब (प्रकार के) शुभ के नाशक हैं, यह जान कर (इनमें) मेरी रति नहीं हो रही है।

34. उस समय छंदक तीर से बींधे गए की तरह=159क= दहाड़ मारकर वाक्य बोला—

(छंद दंडक)

(क) देवा यस्यार्थि केचिदिहा तीव्रनेकेविधा आरभन्ते
व्रतान् अजिनजटाधर सुदीर्घ-केशा-नखा-स्मश्रु
चीराल्-तथा-वल्कलाधार शुष्काङ्गनेके व्रताना
श्रिता, शाकश्यामाकगर्दूल[30] भक्षाश्च ओ-
मूर्धकाश्चापरे गोव्रतां संश्रिताः ।
(ख) किं तु वय भवेम श्रेष्ठा विशिष्टा जगे चक्रवर्ती-
वरा लोकपालास्तथा शक्र वज्रंधरा याम
देवाधिपा निर्मिता, ब्रह्मलोके च ध्याना-सुखाकांक्षिणः ।

---

30. मूल के गर्दूल का भोट में **म दुस् ह.ब्रस** शब्द से अनुवाद है। इससे जान पड़ता है कि यह शालि (चावल) का कोई भेद है। शालि का कभी बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। वह ब्रीहि नहीं भी हो सकता है। सम्भवतः यह मड़ुआ या कोदो है।

(ग) तदिद नरवरिष्ठ राज्यं तव स्फीतमृद्धं सुभिक्षं
तथा, आरामोद्यानप्रासाद-उच्छ्रेपितं वैजयन्तासमं।
(घ) इस्त्रिगार स्वयं वेणुवीणारवै गीतवाद्यै रती
नृत्यसंगीति-संयोगि-संशिक्षितं।
भुञ्ज कामानिमान् मा व्रजा सूरता ॥628॥

हे देव, जिसके लिए यहाँ कितने ही लोग अनेक प्रकार के कठोर व्रत करते हैं, मृगचर्म पहनते हैं और जटाएँ रखते हैं, केश, नख तथा दाढ़ी-मूछ खूब बढ़ाते हैं, (वृक्ष की) छाल और बल्कल पहनते हैं, अनेक व्रतों का सहारा ले अंगों को सुखा डालते हैं, साक-पात, साँवा तथा मडुआ खाते हैं, माथा लटकाए रहते हैं, गो-व्रत का आचरण करते हैं, (अर्थात् हाथों का उपयोग बिना किए मुख से भोजन ग्रहण करते हैं)।

वह इसलिए कि हम जगत में श्रेष्ठ हों, विशेष पुरुष माने जाएँ, उत्तम चक्रवर्ती हों तथा लोकपाल हों, वज्रधारी इन्द्र हों, देवताओं के अधिपति याम (--नामक) तथा (पर) निर्मित (वशवर्ति-नामक-देवता) हों, ध्यान सुख की अभिलाषा करने वाले (हम) ब्रह्मलोक में रहें।

हे पुरुषोत्तम, वह (सब तुम्हें प्राप्त हैं), यह तुम्हारा राज्य (धन से) समृद्ध है, (धान्य से) भरा-पूरा है तथा सुकालवाला है, उद्यानों और आरामों से युक्त महलों से यह (इन्द्र के भवन) वैजयन्त के समान ऊँचा उठा है।—

अन्तःपुर (का स्त्रीगण) अपने-अपने वेणु और वीणा की ध्वनि से गीत से, वाद्य से, रमण (--विधि) से नृत्य से, संगीति (के स र ग म प ध नि स्वरों) के प्रयोग से पूर्णरूप में शिक्षा पाया हुआ है। हे करुणावन्त, इन कामों को भोगो, मत (घर से) जाओ।

35. (--214--) बोधिसत्त्व बोले—

(छंद दंडक)

(क) छन्दक शृणु यानि दुःखाशाता-म्-अर्पिता पूर्वि
जन्मान्तरे बन्धना रुन्धना ताडना तर्जना कामहेतोर्मया,
=159ख= नो च निर्विण्णभूत संस्कृते मानसं।
(ख) प्रमदवशगतं[31] च मोहाकुलं दृष्टिजालावृतं अन्धभूतं पुरा, आत्मसंज्ञाग्रहकारका वेदनावीतिवृत्ता
इमे धर्म अज्ञानतः संभूता।

---

31. मूल, प्रमदवशमतं (=प्रमादवशगतं)। तुलनीय भोट, बग् मेद् द्बङ् दु सोङ्।

(ग) चलचपल ऽनित्यं मेघैः समा विद्युभिः सदृशाः,
ओसविन्दूपमा ऋ (? रि)क्त तुच्छा असारा अनात्मा च
शून्यस्वभावा इमे सर्वशः।

(घ) न च मम विषयेषु संरज्यते मानसं, देहि मे
छन्दका कण्ठकालंकृतं अश्वराजोत्तमं, पूर्ण
मे मङ्गलायै पुरा चिन्तिता, भेष्यि सर्वाभिभूः
सर्वधर्मेश्वरो धर्मराजो मुनिः ॥629॥

छंदक, सुनो काम के लिए यद्यपि मैंने पूर्व जन्मों में बन्धन, रोकथाम, मार फटकार (आदि) सैंकड़ों दुःख भोगे पर (इस) बनावटी (दुनिया) से विरक्त न हुआ है।—

(यह मन) पहले प्रमाद के वश में रहा, मोह से व्याकुल रहा, दृष्टियों (=मिथ्या विचारों) के जाल से ढँका रहा, अन्धा बना रहा। ये धर्म (पदार्थ) अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, वेदना से (अनुभूति से) रहित हैं, आत्मसंज्ञा (मैं हूँ इस भावना) के ग्रहण करने वाले हैं।—

सब प्रकार से ये (धर्म) चंचल हैं, अस्थिर हैं, अनित्य हैं, (उपमा से कहें तो ये) मेघों के समान हैं, बिजली के जैसे हैं, ओस की बूँदों के सरीखे हैं, खाली हैं, खोखले हैं, सार-हीन हैं, आत्मा से रहित हैं, स्वभाव से शून्य हैं।—

मेरा मन विषयों में नहीं लग रहा है। हे छन्दक, मुझे उत्तम अश्वराज कण्ठक सजा कर दो। मैंने पूर्ण मंगल के लिए पहले सोचा था कि (मैं) सबको अपने वश में करने वाला, सब धर्मों का ईश्वर, धर्म का राजा मुनि होऊँगा।

36. छन्दक बोला—

(छंद उपजाति वंशस्था तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

इमां विबुद्धाम्बुजपत्रलोचनां
विचित्रहारा मणिरत्नभूषितां।
घनप्रमुक्तामिव विद्युतां नभे
नोपेक्षसे शयनगता विरोचतीं ॥630॥

खिले कमल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाली, विचित्र हार वाली, मणियों और रत्नों से विभूषित, आकाश में मेघों से निकली बिजली के समान सेज पर चमकती हुई इस (रूपवती) की उपेक्षा न करो।

इमांश्च वेणून पणवां सुघोषकां
मृदङ्गवंशांश्च सगीतवादितां ।
चकोरसोरां करविङ्कनादितां
यथालयं किन्नरिणां-व-इहास्यसे[32] ॥631॥

किन्नरियों के घर जैसे इन (महलों) में रहना, (जहाँ) ये वेणु, पणव, सुघोषक (विजयघंट) मृदंग और वंश (बाँसुरी बाजे) गति के साथ बज रहे हैं, (मानो) चकोर स्वर भर रहे हों और चटक चहचहा रहे हों।

सुमनोत्पलां वार्षिकचम्पकांस्तथा
सुगन्धमालांगुणपुष्पसंचयां ।
कालागुरुनुत्तमगन्धधूपनां
नोपेक्षसेताननुलेपनान्वरान् ॥632॥

सुमना (=चमेली), कमल, वर्षा में खिलने वाली चमेली, चम्पा (आदि के) चुने हुए फूलों की गूँथी हुई उत्तम गन्ध की मालाओं, उत्तम गन्ध से धूप करने वाले काले अगरों तथा उन उत्तम अनुलेपनों की उपेक्षा न करो।

सुगन्धगन्धांश्च रसां प्रणीतां=160क=
सुसाधितां व्यञ्जनभोजनांस्तथा ।
सशर्करां पानरसां सुसंस्कृतां
नोपेक्षसे देव कहिं गमिष्यसि ॥634॥

उत्तम गन्धों से सुगन्धित श्रेष्ठ रस के भलीभाँति सिद्ध किए गए व्यञ्जन और भोजनों, शर्करा के साथ उत्तम रीति से बनाए गए पानक-रसों की उपेक्षा न कर (यहीं रहो), हे देव और कहाँ जाओगे।

(-215-) शीते च उष्णाननुलेपनाम्बरां
उष्णे च तानुरगसारचन्दनां ।
तां काशिकावस्त्रवरम्बरां शुभां
नोपेक्षसे देव कहिं गमिष्यसि ॥634॥

शीत (काल) में गरमाने वाले अनुलेपनों और वस्त्रों तथा उष्ण (काल) में (ठंडक पहुँचाने वाले) उन उरगसार—चन्दन (वाले विलेपनों) तथा उन काशी

32. मूल, विहास्यते। यह वस्तुतः व्-इह-आस्यसे है। अनुस्वार तथा स्वर के मध्य वकारागम मुखसुखार्थ है। क्रिया पद में धातु आस् है जिसका भोट में लगुस् (=यिन् प, ह्ग्युर् ब) शब्द से उल्था हुआ है जो अस् या भू का वाचक है।

के बने उत्तम और मांगलिक वस्त्रों और कपड़ों की उपेक्षा न कर (यहीं रहो), हे देव और कहाँ जाओगे ।

[33]इमे च ते[33] कामगुणा हि पञ्च
समृद्ध देवेष्विव देवतानां ।
रमस्व तावद् रतिसौख्य-अन्वितः
ततो वनं यास्यति शाक्यपुङ्गवः ।।635।।

ये पाँच (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी) कामगुण देव (लोकों) में देवताओं की तरह तुम्हारे लिए भलीभाँति जुट गए हैं, अभी रति के सुख से युक्त होकर आनन्द मनाओ, फिर (किसी और समय पर) शाक्य-पुंगव बन जाना ।

37. बोधिसत्त्व बोले—

(छंद दंडक)

(क) अपरिमितानन्तकल्पा मया छन्दका, भुक्त कामानि
रूपाश्च शब्दाश्च गन्धा रसा स्पर्शा नानाविधा,
दिव्य ये मानुषा नो च तृप्तीरभूत् ।
(ख) नृपतिवरसुतेन ऐश्वर्यं कारापितं चातुर्द्वीपे,
यदा राजभूच्चक्रवर्ती समन्वागतः सप्तभिः रत्नभिः,
इस्त्रिगारस्य मध्ये गतः ।
(ग) त्रिशेपति सुयामदेवाधिपत्यं च कारापितं,
येभ्यश्चाहं च्यवित्वा इहाभ्यागतो निर्मितो निर्मितेषु,
मानो-आत्मिका च श्रिया उत्तमा भुक्त पूर्वं मया ।
(घ) सुरपुरि वशर्वार्ति-मारेश्वरत्नं च कारापितं, भुक्त
कामाः समृद्धा वरा नो च तृप्तीरभूत, किं पुनो अद्यमां
हीन संसेवतस्तृप्ति गच्छे-द्-अहं स्थानमेतन्न संविद्यते ।।636।।

हे छन्दक, अपरिमित अनन्त कल्पों तक मैंने नाना प्रकार के दिव्य और मानुष रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी काम-भोग भोगे, पर तृप्ति न हुई ।

चारों (पूर्वविदेह, अपरगोदानीय, उत्तरकुरु तथा जंबूद्वीप नामक) द्वीपों में श्रेष्ठ राजपुत्र हो, मैंने (उस समय) राज्य किया, जब मैं चक्रवर्ती राजा हुआ था, सात रत्नों से युक्त था, अन्तःपुर के बीच विहरता था ।

33....33. मूल, इमे च ते (देव) । कोष्ठकान्तर्गत पाठ भोट में नहीं है । भोट में केवल ह्द्वि बग् (इमे) है ।

(मैंने) देवताओं का स्वामित्व तथा सुयाम-देवों का आधिपत्य किया, उनमें से च्युत होकर इस (संसार) में मैं निर्मित देवों के बीच निर्मित होकर आया और मनोमयी उत्तम लक्ष्मी का पूर्व में भोग किया।

देवलोक में वशवर्ती कामदेव होकर मैंने राज्य किया, भलीभाँति जुटे हुए उत्तम काम-भोग भोगे, पर तृप्ति न हुई, फिर आज इस हीन (मानवी) के साथ में तृप्त हो जाऊँ—इसका ठौर-ठिकाना नहीं (ही) है।

(छंद दंडक)

(क) अपि च = 160ख = इमु जगं अपेक्षाम्यहं छंदका दुःखितं शोक-
कान्तारमध्ये स्थितं, क्लेशव्याडा[34]कुलेनोपायासेन उह्यमानं सदा।

(ख) (–216–) अशरणमपरायणं मोहविद्यान्धकारे जराव्याधि-
मृत्यूभयैः पोडितं, जन्मदुःखैः समभ्याहतं, व्याहतं शत्रुभिः।

(ग) अहमिह समुदानिया धर्मनावं महात्यागशीलव्रतक्षान्तिवीर्या-
बलांदारु-संभारसंघातितां, सारमध्याशयैर्वज्रकैः संगृहीतां दृढ़ां।

(घ) स्वयमहमभिरुह्य नावमिमामात्मनोऽवर्तीय संसार-
ओघे अहं तारयिष्ये अनन्तं जगत्, शोकसंसार-
कान्ताररोषोर्मिरागग्रहवर्तवैराकुले दुस्तरे, एव चित्तं
मम ॥637॥

हे छन्दक, इसके अतिरिक्त, इस जगत् को मैं दुःखी, शोक के निर्जन वन में (आई हुई बाढ़) के बीच फँसा, क्लेशरूपी विषधरों भरे नैराश्य के (प्रवाह के) द्वारा बहाया ले जाया जाता हुआ देखता हूँ—

(यह जगत्) बिना शरण का, बिना सहारे का, मोह और अविद्या के अँधेरे में जरा, रोग और मृत्यु के भय से पीड़ित, जन्म (लेने) के दुःखों की मार खाया हुआ, शत्रुओं की रोक-टोक में पड़ा है।

मैं यहाँ महान् त्याग, शील, व्रत, क्षमा तथा वीर्य रूपी उत्तम काठ की सामग्री से गढ़ी हुई, उत्तम आशयों से सार वाली, मानो वज्रों से (हीरों से) जड़-जड़ कर बनी हो ऐसी दृढ़ धर्म की नौका प्राप्त कर।

इस नौका पर स्वयं चढ़ कर, अपने-आप पार होकर, शोक के तथा आवागमन के निर्जन वन वाले, रोष की लहरों वाले, राग के मगरों वाले, वैर के भँवरों से क्षुब्ध, दुस्तर संसार के ओघ से अनन्त जगत् को तारूँगा। ऐसा मेरा मन है।

---

34. मूल, क्लेशव्याडाकुले। पठनीय, क्लेशव्या-डाकुलेनोपायासेन। तुलनीय भोट, **ञोन् मोङ्स् गदुग् पस् द् क्रुग्स् शिङ् जम् ङ्स्।**

(छंद वंशस्थ)

तदात्मनोत्तीर्य इदं भवार्णवं
सर्वैरदृष्टिग्रहक्लेशराक्षसं ।
स्वयं तरित्वा च अनन्तकं जगत्
स्थले स्थपेष्ये अजरामरे शिवे ॥638॥

इसलिए वैर-युक्त दृष्टियों के (= अनुचित विचारों के) मगरों वाले, क्लेश के राक्षसों वाले इस संसारसागर को स्वयं तैर कर, अपने-आप पार कर, अनन्त जगत् को अजर-अमर एवं शिव (कल्याण) भूमि पर स्थापित करूँगा ।

38. उस समय छन्दक और अधिक मात्रा में रोता हुआ यों बोला, हे देव, यह करने का निश्चय है ।

बोधिसत्त्व बोले—

(छंद गाथा)
(1, 3 पाद वियोगिनी, 2, 4, पाद रथोद्धता)

शृणु छन्दक मह्य निश्चयं
मोक्षसत्त्वार्थ-हितार्थमुद्यतं ।
अचलाचलमव्ययं दृढं=161क=
मेरुराजेव यथा सुदुश्चलं ॥639॥

हे छन्दक, सुनो, प्राणियों के मोक्ष के लिए, प्राणियों के हित के लिए मेरा निश्चय अचल है, अटल है, न बदलने वाला है, दृढ़ है, जैसे पर्वतराज सुमेरु बिलकुल नहीं हिलते-डुलते वैसे ही यह (न हिलने-डुलने वाला) है । छंदक बोला । आर्यपुत्र का निश्चय किस प्रकार का है ।

बोधिसत्त्व बोले—

(छंद वसन्ततिलका)

वज्राशनिः परशुशक्तिशराश्च वर्षे
विद्युत्प्रतानज्वलितः क्वथितं च लोहं ।
आदीप्तशैलशिखरा प्रपतेय मूर्ध्नि
नैवा अहं पुन जनेय गृहाभिलाषं ॥640॥

चाहे बाज-गाज, फरसे, बर्छी-तीर एवं बिजली की लच्छियों की तरह जलते हुए गले-गलाए लोहे की वर्षा हो, चाहे जलती हुई पहाड़ों की चोटियाँ सिर पर गिरें, पर मैं अब फिर घर की कामना नहीं करूँगा ।

(छंद आर्या)

(--217--) तदा अमर नभगता, किलकिला मच्छिषु कुसुमवृष्टिः ।
जय हे परममतिधरा, जगति अभयदायका नाथ ॥641॥

उस समय आकाश में विराजमान देवताओं ने किलकारियाँ मारीं, फूलों की वर्षा बरसाई, (और बोले) हे परममतिमान्, जगत् में अभय देने वाले, नाथ, (तुम्हारी) जय हो।

(छंद रुचिरा)

न रज्यते पुरुषवरस्य मानसं
नभो यथा तमरजधूमकेतुभिः।
न लिप्यते विषयसुखेषु निर्मलो
जले यथा नवनलिनं समुद्भवं ॥642॥

जैसे आकाश अन्धकार से, धूल से और धूमकेतु से नहीं रंगता, वैसे ही श्रेष्ठ पुरुष का मन (राग से) नहीं रंगता। जल में उत्पन्न हुआ नया कमल जैसे (जल से) लिप्त नहीं होता, वैसे ही निर्मल (पुरुष) विषय सुखों में (रहता हुआ भी विषय सुखों से) लिप्त नहीं होता।

39. हे भिक्षुओं, इसके बाद बोधिसत्त्व के निश्चय को जानकर देवपुत्र शान्तिमति तथा देवपुत्र ललितव्यूह ने महानगर कपिलवस्तु में सब स्त्री और पुरुषों, लड़की और लड़कों को निद्रा में डाल दिया, सब शब्दों का अन्तर्धान कर दिया।

40. हे भिक्षुओं, इसके बाद 'नगर के सब लोगों को सोया समझ कर, = **161**ख = आधी रात का समय उपस्थित हुआ जान कर, नक्षत्र के अधिपति पुष्य का योग बूझ कर, (घर से) निकलने का यह समय है—यह ख्याल कर, बोधिसत्त्व ने छंदक को पुकारा। छंदक, मुझे अब और न सताओ। कंठक को सजाकर मुझे दो और विलम्ब मत करो।

41. ज्यों ही बोधिसत्त्व ने यह बात कही, त्यों ही तत्क्षण बोधिसत्त्व का वचन सुन कर, चारों लोकपाल अपने-अपने भवन जाकर, बोधिसत्त्व की पूजा के लिए अपनी-अपनी मण्डली रच कर, फिर महानगर कपिलवस्तु में आ पहुँचे।

42. वहाँ गन्धर्वों के अधिपति महाराज धृतराष्ट्र, अनेकों लाखों खर्ब-खर्ब कोटि (संख्यक) नाना प्रकार के बाजों पर संगीति (स र ग म प ध नि) स्वर बजाते हुए, गन्धर्वों के साथ पूर्वदिशा से आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे वैसे ही पूर्व दिशा में जाकर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

43. महाराज विरूढक, अनेकों लाखों खर्ब-खर्ब कोटि (–संख्यक), नाना प्रकार मोतियों के हार हाथों में लटकाए, (–218–) नाना प्रकार के मणि और रत्न लिए हुए, विविध प्रकार के सुगन्धित जल से भरे हुए कलशों को उठाए हुए, कुम्भाण्डों के साथ दक्षिण दिशा से आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, =162क= जैसे आये थे, वैसे ही दक्षिण दिशा में जाकर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

44. महाराज विरूपाक्ष, अनेकों लाखों खर्ब-खर्ब कोटि (–संख्यक), नाना प्रकार के मोतियों के हार हाथों में लटकाए, नाना प्रकार के मणि और रत्न लिए हुए, सुगन्धित चूर्ण और पुष्पों की वर्षा करने वाले मेघों को उमड़ाते हुए, मदुल और सुगन्धित नाना प्रकार के पवनों को बहाते हुए, नागों के साथ पश्चिम दिशा से आए, आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे, वैसे ही पश्चिम दिशा में जाकर, बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

45. महाराज कुबेर, अनेकों लाखों खर्ब-खर्ब कोटि (–संख्यक), ज्योतिरस (नामक नाग–) मणियों और रत्नों को लिए, हाथों में बत्तियाँ उठाए हुए, हाथों में जलती हुई मशालें लिए हुए, धनुष-तीर, तलवार, बर्छी, भाला, त्रिशूल, चक्र, कनय (कान लगे भाले,) भिन्दिपाल (हाथ के बराबर फेंके जाने वाले सींग के बने बरछे) आदि नाना प्रकार के हथियार लिए हुए, वर्म और कवच कस कर बाँधे हुए, यक्षों के साथ उत्तर दिशा से आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे, वैसे ही उत्तर दिशा में जाकर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

46. देवताओं के इन्द्र शक्र, देव लोक के पुष्पों, गन्धों, =162ख=मालाओं, विलेपनों, चूर्णों, चीवरों, वस्त्रों, छत्रों, ध्वजाओं, पताकाओं, अवतंसकों (= कर्णाभरणों) तथा अन्य आभूषणों को लिए हुए त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं के साथ आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे, वैसे ही अपनी मंडली के साथ ऊपर आकाश में बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

47. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व के वचन को सुनकर आँखों में आँसू भर कर छंदक बोधिसत्त्व से यों बोला। हे आर्यपुत्र, तुम काल के जानकार हो, वेला के जानकार हो, समय के जानकार हो। यह (तुम्हारे) जाने का काल नहीं है, (तुम्हारे जाने का) समय नहीं है। [35]किसलिए फिर ऐसी आज्ञा दे रहे हो[35]।

35....35. मूल, (तत्किमाज्ञापयसि) इति। कोष्ठक के विनाही पठनीय, तत्किमेवमाज्ञापयसीति। तुलनीय भोट, चि हि स्लद् दु ब्कह्, दे स्कद् स्वल्।

बोधिसत्त्व बोले। हे छंदक, यही वह काल है।

(–219–) छन्दक बोला। हे आर्यपुत्र, किस (बात) का (यह) काल है। बोधिसत्त्व बोले।

(छंद उपजाति)

यत्तन्मया प्रार्थित दोर्घरात्रं
सत्त्वानमर्थं परिमार्गता हि।
अवाप्य बोधिं अजरामरं पदं
मोचे जगत्तस्य क्षणो उपस्थितः ॥643॥

चिरकाल तक प्राणियों का हित खोजते हुए जो मैंने कामना की थी कि अजर-अमर पद रूपी बोधि पाकर मैं जगत् को मुक्त करूँगा, उसका क्षण आ पहुँचा है।

यहाँ यह धर्मता (होनहार) है।

48. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा गया है—

(अभिनिष्क्रमण के अवसर पर देवताओं का उत्साह)

(छंद उपजाति)

भौमान्तरीक्षाश्च तथैव पालाः
शक्रश्च देवाधिपतिः सपक्षः[36]।
यामाश्च देवास्तुषिताश्च निर्मिताः
परनिर्मितोद्युक्त तथैव देवाः ॥644॥

पृथिवी के (देवता), अन्तरिक्ष के (देवता), तथा लोकपाल, (अपने) पक्षवाले (देवताओं) के साथ देवताओं के अधिपति शक्र, यामदेवता, तुषित (--देवता), निर्मित (–देवता), तथा परनिर्मित-देवता उत्साह से भरे हैं।

वरुणो मनस्वी अमि नागराजा
अनावतप्तश्च=163क=तथैव सागरः।
अभियुक्त ते चाप्यभिपूजनार्थं
नैष्क्रम्यकाले नरपुङ्गवस्य ॥645॥

मनस्वी वरुण और नागराज, अनवतप्त (मानसरोवर) और समुद्र, ये—सब (घर से) निकलने के अवसर पर पुरुषोत्तम (बोधिसत्त्व की) भलीभाँति पूजा करने के लिए उत्साह से भरे हैं।

---

36. मूल, सयक्षः। पठनीय, सपक्षः। तुलनीय, भोट, रङ् गि फ्योग् स् बङ् बूचस्।

ये चापि रूपावचरेषु देवाः
प्रशान्तचारी सद[37] ध्यानगोचराः।
अभियुक्त ते चाप्यभिपूजनार्थं
त्रैलोक्यपूज्यस्य नरोत्तमस्य ॥646॥

जो देवता रूपावचर (ध्यानपरायण रूप-धातु नामक) लोक में सदा ध्यान-विषय में लगे अत्यन्त शान्त चर्या वाले हैं, वे भी तीनों लोकों में पूज्य पुरुषोत्तम की उत्तम पूजा के लिए उत्साह से भरे हैं।

दशादिशोऽभ्यागत शुद्धसत्त्वाः
सहायकाः पूर्वचर्रि चरन्तः।
दक्ष्यामहे निष्क्रमणं जिनस्य
पूजां करिष्यामि तथानुरूपां ॥647॥

पहले (बोधि--) चर्या का अभ्यास करने के सहायक शुद्ध-मन वाले (बोधि-सत्त्व) दसों दिशाओं से (इसलिए) आए हुए हैं कि जिनका (घर से) निकलना देखेंगे और उनकी (समय--) अनुरूप पूजा करेंगे।

स चापि गुह्याधिपतिर्महात्मा
प्रदीप्तवज्रो नभसि प्रतिस्थितः।
संनद्धगात्रो बलवीर्यविक्रमः
करेण गृह्य ज्वलमानु वज्रं ॥648॥

और वे यक्षों के महात्म स्वामी, जलते हुए वज्रायुध वाले, बलवीर्य और पराक्रम वाले, शरीर पर सनाह (कवच) पहने हाथ में जलता हुआ वज्र लिए आकाश में खड़े हैं।

चन्द्रश्च सूर्यो उभि देवपुत्रौ
प्रदक्षिणं वामकु सुप्रतिस्थितौ।
दशाङ्गुली अञ्जलिभिर् गृहीत्वा
नैष्क्रम्यशब्दोऽनुविचारयन्ति ॥649॥

चन्द्र और सूर्य दोनों देवपुत्र दाहिने और बाएँ दसों उँगलियों से अंजलि बाँध कर खड़े हुए (घर से) निकलने की आहट पर ध्यान लगाए हुए हैं।

पुष्यश्च नक्षत्र सपारिषद्यो
औदारिकं निर्मिणि आत्मभावं।
स्थित्वाग्रतस्तस्य नरोत्तमस्य
मनोज्ञघोषाभिरुतं प्रमुञ्चत् ॥650॥

---

37. मूल सह। पठनीय, सद। तुलनीय भोट, तँग् तु (=सदा)।

(अपनी सभा के) सभ्यों के सहित पुष्य-नक्षत्र अपना शरीर बना कर, उन पुरुषोत्तम के आगे खड़े होकर, मनोहर स्वर से शब्द कर रहे हैं।

सर्वेऽद्य सिद्धाः शुभ तूभ्य मङ्गलाः
पुष्यश्च युक्तः समयश्च गन्तुं।
अहं पि यास्यामि त्वयैव सार्धं
अनुत्त (?नन्त) रायो भव रागसूदनः ॥651॥

आज तुम्हारे लिए सब शुभ-मंगल सिद्ध हो गए हैं, जाने के लिए इस समय पुष्य का योग है, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा, हे वीतराग, निर्विघ्न रहो।

(–220–) संचोदकश्चोदयि देवपुत्र = 163ख =

उत्तिष्ठ शीघ्रं बलवीर्यउद्गतः।
दुःखैःहतांस्तारय सर्वसत्त्वान्
नैष्क्रम्यकालः समुपस्थितस्ते ॥652॥

संचोदक (नाम के) देवपुत्र ने प्रेरणा दी कि बल और वीर्य से उन्नत (तुम) शीघ्र उठो, दुःख की मार खाए हुए सब प्राणियों का उद्धार करो, तुम्हारे (घर से) निकलने का समय आ पहुँचा है।

समागता देव सहस्रकोटयः
प्रवर्षमाणा कुसुमान् मनोज्ञान्।
स चापि पर्यङ्कवरे निषण्णो
देवैर्वृतो भ्राजति दीप्ततेजः ॥653॥

सैकड़ों-करोड़ों देवता आए, मनोहर फूलों की उत्तम वर्षा की, और वे उज्ज्वल तेज वाले, उत्तम पलँग पर बैठे हुए (बोधिसत्त्व) देवताओं से घिरे विराजने लगे।

(अभिनिष्क्रमण के पूर्वक्षणः सोए नगर में हलचल)
(छंद शार्दूलविक्रीडित)

नगरे इस्त्रिक दारकाश्च पुरुषा याश्चाभवन् दारिका
सर्वे ते शयिता किलान्तमनसो ईर्यापथेभ्यश्च्युताः।
हस्ती[38] अश्व गवाश्च सारिक शुकाः क्रोञ्चा मयूरास्तथा
सर्वे ते शयिता किलान्तमनसः पश्यन्ति रूपं न ते ॥654॥

नगर में जो स्त्रियाँ और पुरुष, लड़कियाँ और लड़के थे, वे सब मन से थके-माँदे अपनी चर्या से च्युत हुए सो रहे थे। (जो) हाथी, घोड़े, गाय-बैल, शुक और सारिकाएँ, क्रौंच तथा सारस (थे), वे सब मन से थके-माँदे सो रहे थे, वे (बाहर जो कुछ हो रहा था उसका) रूप न देख रहे थे।

ये चा ते दृढवज्रतोमरधराः शाक्यै सुता स्थापिता
हस्ती[38]अश्व रथेषु तोरणवरे ते चाप्यवस्वापिताः।
राजा राजकुमार पार्थिवजनः सर्वे प्रसुप्ताभवन्
अपि चा नारिगणा वितग्नवसना सुप्तान ते बुद्धिषू ।।655।।

शाक्यों ने वज्र के समान दृढ़ तोमरो के धारण करने वाले जिन (अपने) पुत्रों को हाथियों पर, घोड़ों पर, रथों पर, तथा बाहर के द्वारों पर तैनात किया था, उन्हें भी देवताओं ने सुला दिया था। राजा, राजपुत्र तथा राजकीय जन सब सो गए और नारीगण बिना-वस्त्र नंग-धड़ंग नींद में पड़ गए, उन्हें (बाहर का कुछ) पता न रहा।

सो च ब्रह्मरुतो मनोज्ञवचनः कलविङ्कघोषस्वरो
रात्रौ निर्गत अर्धरात्रसमये तं छन्दकं चाब्रवीत।
साधू छन्दक देहि कण्ठक मम स्वालंकृतं शोभनं
मा विघ्नं कुरु मे ददाहि चपलं यदि मे प्रियं मन्यसे ।।656।।

वे ब्रह्मा के समान स्वर वाले, मनोहर वचन वाले, चटक जैसे चहचहाने वाले (बोधिसत्त्व) रात को आधी रात के समय निकल छन्दक से बोले—भले छन्दक, अच्छे कण्ठक को सजाकर मुझे दो, विघ्न मत करो, यदि मेरा प्रिय चाहते हो तो (उसे) शीघ्र दो।

श्रुत्वा छन्दक अश्रुपूर्णनमनस्तं स्वामिनं अब्रवीत्
क्व त्वं यास्यसि सत्त्वसारथिवरा किं अश्वकार्यं च ते।
कालज्ञः=154क=समयज्ञ धर्मचरणो कालो न गन्तुं क्वचित्
द्वारास्ते पिथिता दृढार्गलकृता को दास्यते तान् तव ।।557।।

सुन कर, आँखों में आँसू भर कर, छन्दक (अपने) उन मालिक से बोला—से प्राणियों के श्रेष्ठ सारथि, तुम कहाँ जाओगे, घोड़े से तुम्हारा क्या काम है। (तुम) काल के जानकार हो, समय के जानकार हो, धर्म का आचरण करने वाले हो, कहीं भी जाने का (यह) समय नहीं है, मज़बूत आर्गल लगा कर द्वार बन्द कर दिए गए हैं, उन्हें तुम्हारे लिए कौन खोल देगा?

शक्रेण मनसाथ चेतनवशात् ते द्वारा मुक्ता कृताः
दृष्ट्वा छन्दक हर्षितो पुन दुःखी अश्रूणि सोऽवतयी।
(–221–) हा धिक् को मि सहायु किं तु (? नु) कुरुमी धावामि कां
वादिशं उग्रं तेजुधारेण वाक्यु भणितं शक्यं न संधारितुं ।।658।।

38....38. मूल, हस्ति। दीर्घान्तपाठ छन्द तथा भाषा दोनों दृष्टियों से उत्तम है।

इन्द्र ने तब मन की चेतना के वशीभाव द्वारा उन द्वारों को उघाड़ डाला, (यह) देख कर छन्दक (पहले तो) प्रसन्न हुआ और फिर आँसू बहाने लगा। हायराम! मेरे सहायक कौन? (मैं) क्या करूँ? किस दिशा में दौड़ूँ? तेजस्वी (बोधिसत्त्व) ने बड़ी कड़ी बात कही है, जो सही नहीं जाती।

सा सेना चतुरङ्गिनी बलवती [39]किं सू[39] करोतीह हा
राजा राजकुमार पार्थिवजनो नेमं हि बुद्ध्यन्ति ते।
स्त्रीसंघः शयितस्तथा यशवती [40]ओस्वापिता दैवतैः
हा धिग् गच्छति सिद्धतेऽस्य प्राणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः ॥659॥

हाय, वह बलवाली चतुरङ्गिणी सेना क्या कर रही है, वे राजा, राजकुमार तथा राजकीय जन यह नहीं जानते हैं, स्त्रीसमूह सोया हुआ है, देवताओं ने यशोधरा को सुला दिया है, हाय राम, (यह) जा रहे हैं, इनका सोचा पहले का संकल्प सिद्ध होने जा रहा है।

देवाः कोटिसहस्र हृष्टमनसस्तं छन्दकं अब्रुवन्
साधू छन्दक देहि कण्ठक वरं मा खेदयी नायकं।
भेरीशङ्खमृदङ्गतूर्यनयुता देवासुरैर्वादिताः
नैवेदं प्रतिबुद्ध्यते पुरवरं ओस्वापितं देवतैः ॥660॥

मन में आनन्दित हुए सहस्रों करोड़ देवता छंदक से बोले—भले छन्दक, उत्तम (अश्व) कण्ठक (लाकर) दो, नायक (बोधिसत्त्व) को मत सताओ। देवताओं और असुरों ने खर्ब-खर्ब नक्कारे, मृदङ्ग और तुरहियाँ बजाईं, पर यह श्रेष्ठ नगर देवताओं ने (ऐसा) सुला दिया कि जग नहीं रहा है।

पश्य छन्दक अन्तरीक्ष विमलं दिव्या प्रभा शोभते
पश्य त्वं बहुबोधिसत्त्वनयुतां ये पूजानायागताः।
शक्रं पश्य शचीपतिं बलवृतं द्वारस्थितं भ्राजते
देवांश्चाप्यसुरांश्च किन्नरगणां ये पूजनार्थागताः ॥661॥

छंदक निर्मल आकाश देखो, (कैसी) दिव्य छटा छाई हुई है, तुम अनेक खर्ब-खर्ब बोधिसत्त्वों को देखो, जो पूजा के लिए आए हैं, सेना से घिरे हुए शचीपति इन्द्र को देखो, (जो) द्वार पर खड़े शोभा पा रहे हैं, देवताओं, असुरों तथा किन्नर गणों को देखो, जो पूजा के अर्थ आए हुए हैं।

39....39. मूल, किं भू। पठनीय, किं सू (=किं स्वित्)। भोट, **चि शिग्।**
40. मूल, शयवती। पठनीय, यशवती। भोट, **ग्रग्स् ल्दन्।** यहाँ यशवती शब्द यशोधरा के लिए आया है।

श्रुत्वा छन्दक देवतान = 164ख = वचनं तं कण्ठकं आलपी
एष्व् आ गच्छति सत्त्वसारथिवरस् त्वं ताव हेषिष्यसे।
सो तं वर्षिकुवर्ण काञ्चनखुरं स्वालंकृतं कृत्वना
उपनेती गुणसागरस्य वहनं रोदन्तको दुर्मना ॥662॥

छन्दक देवताओं की बात सुनकर उस कंठक से बोला—आ:, ये प्राणियों के श्रेष्ठ सारथि जा रहे हैं, तुम अब हिनहिनाना। दुःखी मन से रोता हुआ वह बरसाती चमेली जैसे (श्वेत) रंग के सुनहले खुरों वाले उस घोड़े को भलीभाँति सजा कर गुणों के सागर (बोधिसत्त्व) के पास लाया।

एषो ते वरलक्षणा हितकरा अश्वः सुजातः शुभो
गच्छ (।) सिध्यतु तुभ्य एष प्रणिधिर्येश्चिन्तितः पूर्वशः।
ये ते विघ्नकरा व्रजन्तु प्रशमं[41]) आसां व्रतं[41]) सिध्यतां
भवही सर्वजगस्य सौख्य ददनः सर्गस्य शान्त्यास्तथा ॥663॥

हे श्रेष्ठ—लक्षण-वाले, हे हितकारी, यह तुम्हारा शुभ और उत्तम जाति का अश्व है। जाओ, तुम्हारा पहले का जो सोचा संकल्प है, वह सिद्ध हो। जो विघ्न डालने वाले हैं, वे शान्त हों। (तुम्हारी) आशाएँ और व्रत सफल हों। (तुम) सकल जगत् को सुख, स्वर्ग, तथा शान्ति के देने हारे होओ।

(-222-) सर्वा कम्पित षड्विकार धरणी शयनाद्यका सोत्थितः
आरूढः शशिपूर्णमण्डलनिभं तं अश्वराजोत्तमं।
पाला पाणि विशुद्धपद्मविमला न्यसर्यिसु अश्वेत्तमे
शक्रो ब्रह्म उभौ च तस्य पुरतो दर्शयन्ति मार्गो ह्ययं ॥664॥

जब वे (बोधिसत्त्व) सोने के पलंग से उठे और चन्द्रमा के पूर्ण मण्डल के समान (सुन्दर) उस उत्तम अश्वराज पर सवार हुए तब सब धरती छह प्रकार से काँप उठी, (लोक-) पालों ने अत्यन्त शुद्ध कमलों जैसे हाथ (उस) उत्तम अश्व (के पैरों के) नीचे लगा दिये, इन्द्र और ब्रह्मा दोनों ही उनके आगे (इधर-उधर) यह मार्ग है (यों कह कर) (मार्ग) दिखाने लगे।

आभा तेन प्रमुक्त अच्छविमला ओभासिता मेदिनी
सर्वे शान्त अपाय सत्त्व सुखिता क्लेशैर्न वाध्यी तदा।
पुष्पा वर्षिषु तूर्यकोटि रणिषू देवासुरास्तुष्टुवुः
सर्वे कृत्व प्रदक्षिणं सुरवरं गच्छन्ति हर्षान्विताः ॥665॥

41....41. आसां व्रतं = आशाव्रतं। तुलनीय, भोट, **ह्गोङ्स् प हि ब् तुंल् शुगस्** (अथरार्थ आशा का व्रत)।

उन (बोधिसत्त्व) ने स्वच्छ और निर्मल ज्योति छोड़ी, (जिससे) धरती प्रकाशित हो उठी, सब नरक शान्त हो गए, प्राणी सुखी हो गए, क्लेशों द्वारा (कोई) न सताया गया। (उस समय) फूल बरसे, करोड़ों तुरहियाँ बजीं, देवताओं और असुरों ने स्तुति की, और सब (उस) श्रेष्ठ नगर की प्रदक्षिणा कर हर्ष के साथ चलने लगे।

(कपिलवस्तु नगर के अधिष्ठाता देवता का विलाप)

(छन्द प्रमिताक्षरा)

पुरवरोत्तमि देवत दीनमना
उपगम्य गच्छति महापुरुषे।
पुरतः स्थिता करुणदीनमना
गिरया = 165क = समालपति पद्ममुखम् ॥666॥

महापुरुष के चल पड़ने पर, उस श्रेष्ठ एवं उत्तम नगर का (अधिष्ठातृ-) देवता मन में दीन हो, पास जाकर, सामने खड़े होकर, दया एवं दीनता से भरे मन के साथ, कमलमुख (बोधिसत्त्व) से (यह) वचन बोला—

तमसाकुलं भुविमु सर्वपुरं
नगरं न शोभति त्वया रहितम्।
न ममात्र काचि रति प्रीतिकरी
त्यक्तं त्वया च यदिदं भवनं ॥667॥

धरती के इस समूचे नगर पर अँधेरा छा गया है, तुम से रहित (यह) नगर नहीं सोहा रहा है। तुमने जो यह भवन त्याग दिया है, उसमें अब प्रीति उपजाने वाला आनन्द मेरे लिए नहीं रहा है।

न पुनः श्रुणिष्य रुतु पक्षिगणे
अन्तःपुरे मधुर वेणुरवं।
मङ्गल्यशब्द तथा गीतरवं
प्रतिबोधनं तव अनन्तयशः ॥668॥

अब फिर पक्षिगण का चहचहाना, अन्तःपुर (की स्त्रियों) की मीठी वंशीध्वनि, (शंख आदि के) मांगलिक शब्द, तथा गीतालाप जो तुम्हें जगाया करते थे, हे अनन्तयश, मुझे सुनने को न मिलेंगे।

दर्शे न भूयु सुरसिद्धगणां
कुर्वन्त पूजा तव रात्रिदिवं।
घ्रायिष्य गन्ध न च दिव्य पुनः
त्वयि निर्गते निहतक्लेशगणे ॥669॥

(अब) फिर रातदिन तुम्हारी पूजा करते हुए देवताओं और सिद्धों के गण देखने को न मिलेंगे। जिसके क्लेश-समूह नष्ट हो चुके हैं ऐसे तुम्हारे घर से निकल जाने पर अब फिर दिव्य गन्ध सूँघने को न मिलेगा।

निर्भुक्तमाल्यमिव पर्युषितं
त्यक्तं त्वयाद्य भवनं हि तथा।
नटरङ्गकल्प प्रतिभायति मे
त्वयि निर्गते न भूयु तेजशिरी ॥670॥

भोग कर ली गई बासी माला की तरह आज तुमने यह भवन त्याग दिया है। तुम्हारे चले जाने पर यहाँ फिर तेज और श्री न रहेंगे। (यह भवन) मुझे (उजड़े हुए) नटों के रंगमंच जैसा लगेगा।

ओजो बलं हरसि सर्वपुरे
न च शोभते अटवितुल्यमिदं।
वितथं ऋषीण वचनाद्य भुतं
येही वियाकृतु भुवि चक्रबलो ॥671॥

समूचे नगर का ओज और बल हरे लिए जा रहे हो, यह जंगल जैसा नहीं सोहा रहा है। आज (उन) ऋषियों का वचन झूठा हो गया, जिन्होंने भविष्य-वाणी की थी कि (तुम) चक्रवर्ती बलवान् (राजा) होओगे।

अबलंबलं भुविमु शाक्यबलं
उच्छिन्न वंश इह राजकुले।
आसा प्रनष्ट इह शाक्यगणे
त्वयि निर्गते महति पुण्यद्रुमे ॥672॥

पुण्य के महावृक्ष तुम्हारे (घर से) निकल जाने के बाद पृथिवी पर शाक्यों का बल अबलाओं का बल हो गया है, इस राजकुल का वंशच्छेद हो गया है, शाक्यगण की आशाएँ नष्ट हो गई हैं।

(–223–) अहमेव तुभ्य गति गच्छयमी
यथ त्वं प्रयासि अमला विमला।
अपि चा कृपाकरुण संजनिय =165ख=
व्यवलोकयस्व भवनं त्वमिहं ॥673॥

हे अमल, हे विमल, जैसे तुम जा रहे हो (वैसे) मैं भी तुम्हारी गति जाऊँगा। फिर भी कृपा कर करुणा उपजा कर तुम इस भवन पर निगाह तो डाल लो।

व्यवलोक्य चैव भवनं मतिमान्
मधुरस्वरो गिरमुदीरितवान् ।
नाहं प्रवेक्षि कपिलस्य पुरं
अप्राप्य जातिमरणान्तकरं ।।674।।

बुद्धिमान् (बोधिसत्त्व) ने भवन को निहार कर मीठे स्वर के साथ (यह) वचन कहा—मैं कपिल के (इस) नगर में बिना जन्म-मरण के अन्त करने वाली (बोधि) को प्राप्त किए प्रवेश न करूँगा।

स्थानासनं शयनचङ्क्रमणं
न करिष्य ऽहं कपिलवस्तुमुखं ।
यावन्त लब्ध वरबोधि मया
अजरामरं पदवरं ह्यमृतं ।।675।।

जब तक उत्तम बोधि रूपी जरामरण से रहित श्रेष्ठ अमृत पद नहीं मिलता, तब तक कपिलवस्तु की ओर मुँह करके न मैं खड़ा होऊँगा, न बैठूँगा, न सोऊँगा और न टहलूँगा।

(अप्सराओं द्वारा बोधिसत्त्व की स्तुति)

(छंद गाथा, षोड़शाक्षरी अष्टिजातीया)

यदसौ जगत्प्रधानो निष्क्रान्तु बोधिसत्त्वो
तस्या नमे व्रजन्तो स्तवयिसु अप्सराणां ।
एष महदक्षिणीयो एष महपुण्यक्षेत्रं
पुण्यार्थिकान क्षेत्रं अमृताफलस्य दाता ।।676।।

जब जगत् के प्रधान वे बोधिसत्त्व (घर से) निकले तब आकाश (मार्ग से) जाते हुए उनकी स्तुति अप्सराओं ने (यों) की—ये दक्षिणा के महान् पात्र हैं, ये पुण्य के महान् क्षेत्र हैं, (ये) पुण्य चाहने वालों के लिए (धर्म-) क्षेत्र हैं और अमृत का फल देने हारे हैं।

एन बहुकल्पकोटी दानदमसंयमेना
समुदानिता ऽस्य बोधिः सत्त्व करुणायमाना ।
एष परिशुद्धशीलो सुव्रत अखण्डचारी
न च काम नैव भोगां प्रार्थेन्तु शीलरक्षी ।।677।।

अनेक कोटि कल्पों तक दान, विनय और संयम के द्वारा इन्होंने प्राणियों पर करुणा कर बोधि-साधना की है, ये अत्यन्त शुद्ध शील वाले हैं, उत्तम व्रत वाले हैं, अखण्डित चर्या वाले हैं, शील की रक्षा करने वाले ये काम-भोगों के प्रार्थी नहीं हैं।

एष सद क्षान्तिवादी छिद्यन्ति अङ्गमङ्गे
न च क्रोधु नैव रोषः सत्त्वपरित्रायणार्थं ।
एष सद वीर्यवन्तो अविखिन्न कल्पकोट्यः
समुदानिता ऽस्य बोधिर्यष्टा च यज्ञकोटीः ।।678।।

ये सर्वदा क्षान्तिवादी (क्षमा की मतिवाले) रहे हैं। अंग-प्रत्यङ्ग काटे जाने पर भी इन्होंने न क्रोध किया है और न रोष। प्राणियों की रक्षा के लिए सदा उद्यमी और न थकने वाले इन्होंने करोड़ों कल्पों तक बोधिसाधना की है। करोड़ों (दान–) यज्ञों का यजन किया है।

एष सद=166क=ध्यानध्यायी शान्तप्रशान्तचित्तो
ध्यायित्व सर्वक्लेशां मोचेष्यि सत्त्वकोटीः ।
एषो असङ्गप्राज्ञः कल्पैर्विकल्पमुक्तो
कल्पैर्विमुक्तचित्तो जिनु भेष्यते स्वयंभूः ।।679।।

ये नित्य ध्यान-चिन्तन वाले, चित्त में शान्त और अत्यन्त शान्त, सब क्लेशों का दाह कर, कोटि-कोटि प्राणियों को मुक्त करेंगे। ये अनासक्ति मति वाले, कल्पनाओं की दुविधा से मुक्त, कल्पनाओं से विमुक्त चित्त वाले, स्वयंभू जिन (बुद्ध) होंगे।

एष सद मैत्रचित्तो करुणाय पार प्राप्तो
मुदितो-उपेक्ष-ध्यायी ब्राह्मे पथि विधिज्ञः ।
एषोऽतिदेवदेवो देवेभि पूजनीयो
शुभविमलशुद्धिचित्तो गुणनियुतपारप्राप्तः ।।680।।

ये सर्वदा मैत्री-भावना के चित्त वाले हैं, करुणा की परम कोटि पर पहुँचे हुए हैं, मुदिता और उपेक्षा का ध्यान करने वाले हैं, ब्रह्मविहार की विधि के जानकार हैं। ये देवताओं द्वारा पूज्य देवताओं में महान् देवता हैं, पवित्र, निर्मल एवं शुद्ध चित्त के (ये) खर्ब-खर्ब गुणों में पारंगत हैं।

शरणं भयार्दितानां दीपो अचक्षुषाणां
लयनो उपद्रुतानां वैद्यश्चिरातुराणां ।
राजेव धर्मराजो इन्द्रः सहस्रनेत्रो
ब्रह्म स्वयंभुभूतः कायप्रशब्धचित्तो ।।681।।

ये भय से घबराए हुए (लोगों) की शरण हैं, जिनकी आँखों से ज्योति नहीं, उनकी ये ज्योति हैं, आक्रमण किए गए लोगों के छिपने के स्थान हैं, चिर काल के रोगियों के ये वैद्य हैं। धर्मराज के समान ये राजा हैं, इन्द्र के समान ये सहस्र नेत्र वाले हैं, ब्रह्मा के समान अपने आप ही ये उत्पन्न हुए हैं, इनके शरीर और मन (दोनों) शान्त हैं (–क्षोभ से रहित हैं)।

धीरः प्रभूतप्रज्ञो वीरो विविक्तचित्तः
शूरः किलेशघाती अजितंजयो जितारिः।
सिंहो भयप्रहीनो नागः सुदान्तचित्तो
ऋषभो गणप्रधानः क्षान्तः प्रहीनकोपः ॥682॥

(ये) स्थिर हैं, बहुत प्रज्ञा वाले हैं, वीर हैं, वीतराग चित्त के हैं, शूर हैं, क्लेशों को नष्ट करने वाले हैं, इन्होंने शत्रुओं को जीत लिया है। (ये) सिंह जैसे भयरहित हैं, हाथी जैसे विनीत चित्त के हैं, ऋषभ (गोपति) के समानगण के स्वामी हैं, क्षमावान् हैं, कोपरहित हैं।

चन्द्रः प्रभासयन्तः सूर्योऽवभासकारी
उल्का प्रद्योतकारी = 166ख = [42] तारा तमोविमुक्तः[42]।
पद्मं अनोपलिप्तं पुष्पं सुशीलपत्रं
मेरुरकम्पि शास्ता पृथिवी यथोपजीव्यो
रत्नाकरो अक्षोभ्यः ॥683॥

(ये) चन्द्रमा के समान चमकने वाले हैं, सूर्य के समान प्रकाश करने वाले है, उल्का (मशाल) के समान दमकने वाले हैं, तारा के समान अन्धकार से मुक्त हैं। (ये) कमल के समान निर्लेप, पुरुष के समान शील की सुन्दर पंखड़ी वाले हैं, मेरु के समान स्थिर शिक्षक हैं, पृथिवी के समान (सब कें) जीवन-दाता हैं, रत्नाकर (समुद्र) समान अक्षोभ्य हैं।

एन जितु क्लेशमारो एन जितु स्कन्धमारो
एन जितु मृत्युमारो निहतोऽस्य देवमारो[43]।
एष महासार्थवाहो कुपथप्रस्थितानां
अष्ठाङ्गमार्ग श्रेष्ठं देशेष्यते नचिरेणा ॥684॥

इन्होंने क्लेश-मार को जीत लिया है, इन्होंने स्कन्धमार को जीत लिया है, इन्होंने मृत्यु-मार को जीत लिया है, इन्होंने देवमार को खंडित कर डाला है। ये महान् सार्थवाह हैं, (जो) कुमार्ग पर चलने वालों को उत्तम अष्टांगिक (–आर्य–) मार्ग का बिना विलम्ब के उपदेश करेंगे।

(–225–) जरमरणक्लेशघाती तमतिमिरविप्रमुक्तो
भुवि दिवि च संप्रघुष्टो जिनु भेष्यते स्वयंभूः।
स्तुत स्तवितु अप्रमेयो बरपुरुषरूपधारी
यत् पुण्य त्वां स्तवित्वा भोम यथ वादिसिंहः ॥685॥

42⋯42). मूल, सर्वतमोविमुक्तः। भोट, स्कर् मत्त बुर् मुन् प ब्रल् (=तारासदृशस्तमोमुक्तः)। पठनीय—तारातमोविमुक्तः।

43. मूल, देव (पुत्र) मारो। पठनीय, देवमारो। तुलनीय, भोट, ल्ह यि बुदुद्।

(ये) जरा और मृत्यु रूपी क्लेशों का नाश करने वाले, अन्धेरे और धुन्ध से अत्यन्त मुक्त, पृथिवी और स्वर्ग पर भलीभाँति (जिनके नाम की) घोषणा हो चुकी है, स्वयंभू (अपने आप उद्‌भूत हुए) जिन (बुद्ध) होंगे। पुरुषोत्तम रूपधारी, अनुपमेय (बोधिसत्त्व) की स्तोत्र द्वारा स्तुति की है। (हे महासत्त्व) तुम्हारी स्तुति करके जो पुण्य (कमाया है उससे हम तुम्हारे जैसे) वादियों में सिंह के समान (निर्भीक) हों।

49. हे भिक्षुओं, इस बोधिसत्त्व घर से निकले। शाक्य (–देश) निकल कर क्रोड्य (–देश) अर्थात् कोलियों का देश निकल कर, मल्ल (–देश) निकल कर, मैनेय (–क्षत्रियों) के अनुवैनेय (नामक) निगम (कस्बे) पर सात योजन (दूर पहुँचने) पर वहाँ बोधिसत्त्व की रात बीत कर सबेरा हुआ। उसके बाद बोधिसत्त्व कण्ठक (–घोड़े) पर से उतर कर, धरती के ऊपर खड़े होकर देवताओं के, नागों के, यक्षों के, गन्धर्वों के, असुरों के, गरुणों के, किंनरों के, महोरगों के उस महासंघ को बिदा किया। और बिदा करके उनके मन में यह बात आई कि इन आभूषणों को = 167क = तथा कण्ठक को छंदक के हाथ वापस भेज दूँ।

50. तब बोधिसत्त्व छन्दक को सम्बोधन करके बोले। हे छन्दक, तुम इन आभूषणों तथा कंठक को लेकर जाओ—लौट जाओ। जिस जगह से छन्दक लौटा वहाँ चैत्य की प्रतिष्ठापना हुई। आज भी वह चैत्य छन्दक निर्वतन (नाम से लोक में) प्रसिद्ध है।

51. और फिर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि चूड़ा (केश) और प्रव्रज्या (एक साथ) कैसे? उन्होंने तलवार से चूड़ा काट कर आकाश में फेंक दिया। उसे त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं ने पूजा के लिए ले लिया। आज भी त्रयस्त्रिंशलोक के देवताओं में चूड़ा—उत्सव मनाया जाता है। वहाँ पर भी चैत्य की प्रतिष्ठापना हुई। आज भी उसकी चूड़ा—प्रतिग्रहण नाम से ख्याति है।

52. फिर और भी बात बोधिसत्त्व के मन में आई कि प्रव्रज्या और काशी के वस्त्र (एक साथ) कैसे? यदि मुझे वनवास के अनुकूल काषायवस्त्र मिलते तो अच्छा होता।

(–206–) तब शुद्धावासकायिक देवताओं के मन में यह बात आई। काषाय (वस्त्रों) से बोधिसत्त्व का कार्य है। उनमें से एक देवपुत्र = 167ख = दिव्य रूप का अन्तर्धान कर, बहेलिए का रूप धर काषायवस्त्र पहन, बोधिसत्त्व के आगे आ खड़ा हुआ।

तब बोधिसत्त्व उससे बोले। हे मार्ष (मित्र) यदि तुम काषायवस्त्र (मुझे) दो तो मैं तुम्हें ये काशी के वस्त्र दूँगा।

वह बोला । वे वस्त्र तुम्हें सोहाते हैं और ये मुझे ।

बोधिसत्त्व बोले । मैं तुमसे याचना करता हूँ । तब उस बहेलिए के रूप वाले देवपुत्र ने बोधिसत्त्व को काषायवस्त्र दे दिए और काशी के वस्त्र ले लिए ।

इसके बाद वह देवपुत्र भक्ति में भर कर दोनों हाथों से उन वस्त्रों को माथे पर रखकर उनकी पूजा के लिए देवलोक गया । छन्दक ने वह (=सब) देखा । वहाँ पर भी चैत्य की प्रतिष्ठापना हुई । आज भी वह चैत्य काषायग्रहण इस नाम से प्रसिद्ध है ।

53. जिस समय बोधिसत्त्व ने चूड़ा काट कर काषायवस्त्र पहने उस समय हर्ष में भरे, सन्तुष्ट हुए मन में फूल न समाए, मन की मौज में आए हुए, अत्यन्त आनन्दित, मन में प्रीति और प्रमोद से भरे हुए लाखों देवपुत्रों ने ही नाद किया, किलकारियाँ मार-मार आवाज़ की, ठट्ठे लगा-लगा कर शब्द किया कि हे मार्षो (सुहृदों) सिद्धार्थ कुमार प्रव्रजित हो गए, ये अनुत्तर सम्यक् संबोधि पाकर धर्मचक्रप्रवर्तन करेंगे, अनगिनत जातिधर्म के (=जनमने के स्वभाव वाले) = 168क = प्राणियों को जाति से अर्थात् जन्म से मुक्त करेंगे, यहाँ तक कि, जरासे, व्याधि से, मरण से, शोक से, परिदेवन (=विलाप) से, दुःख से, दौर्मनस्य से (=अनमनपन से), उपायास से (= मन की व्याकुलता से) मुक्त कर, संसार सागर से पार कर, अत्युत्तम क्षेम के भयरहित शोकहीन (–227–) उपद्रवों से दूर शिव (कल्याण) एवं अमृत, रज से रहित, धर्मधातु में प्रतिष्ठापित करेंगे । वह शब्द-शब्द की परम्परा से अर्थात् एक शब्द से उस जैसे दूसरे शब्द के अनुरणन की परम्परा से अकनिष्ठ लोक तक ऊपर जा पहुँचा ।

54. तदनन्तर अन्तःपुर की स्त्रियाँ[44] कुमार को न देख[44] गरमी में बरसात में सरदी में रहने के महलों में तथा कमरों में अच्छी तरह खोज जब (कुमार को कहीं) न देख पाई तब इकट्ठी होकर कुररी (–पक्षियों) की भाँति रोने-चिल्लाने लगीं । उनमें कोई स्त्रियाँ शोक से अत्यन्त व्याकुल होकर, हाय बेटा—कह कर रोती-चिल्लाती थीं, कोई (हाय) भ्राता कह कर कोई (हाय) भर्ता कह कर रोती-चिल्लाती थीं । कोई हाय नाथ कह कर, कोई हाय स्वामी कह कर रोती-चिल्लाती थीं । कोई नाना प्रकार के प्रियवचनों के द्वारा विलप-विलप कर, कोई नाना प्रकार से शरीर द्वारा सरक-सरक कर रोती थीं । कोई माथा पटक-पटक कर कोई एक-दूसरे का मुँह देख-देख कर=168ख = रोती थीं ।

44....44. मूल, (कुमारमपश्यन्तीभिः) । इसका कोष्ठक हीन पाठ होना चाहिए । यह भोट में है—ग्शोन् नु म्थोङ् नस् (कुमारमदृष्ट्वा) ।

कोई आँखें पलट-पलट कर, कोई वस्त्रों से मुँह ढाँप-ढाँप कर रोती थीं। कोई हाथों से जाँघें पीट-पीट कर, कोई हाथों से छाती मार-मार कर, कोई हाथों से भुजाएँ पीट-पीट कर, कोई (हाथों से) सिर (पीट-पीट कर), कोई सिर पर धूल डाल-डाल कर, रोती थीं। कोई केश फैला-फैला कर, कोई केश नोच-नोच कर, कोई भुजाएँ उठा-उठा कर ज़ोर-ज़ोर रोती-चिल्लाती थीं। कोई विष-बुझे तीर से बींधी गई हिरनियों की तरह अचानक दौड़कर रोती थीं। कोई हवा से हिलती कदलियों की तरह काँप-काँप कर रो रही थीं। कोई धरती के ऊपर गिरी हुई थोड़ी साँस ले-लेकर, कोई जाल में से उठा कर (भूमि पर) डाली गई मछलियों की तरह धरती पर तड़प-तड़प कर रोती थीं। कोई जड़ से कटे पेड़ों की तरह अकस्मात् धरती के ऊपर गिर-गिर कर रोती थीं।

55. राजा ने उस शब्द को सुनकर शाक्यों को पुकार कर कहा—अन्तःपुर से यह ज़ोर-ज़ोर से क्या शब्द सुनाई पड़ रहा है। शाक्यों ने मालूम करके कहा—कुमार (–228–) अन्तःपुर में नहीं दिखाई पड़ रहे हैं महाराज। राजा ने कहा—नगर के द्वार झट-पट बन्द कर दो, (ताकि हम सब) कुमार की भीतर खोज करें।

वे भीतर-बाहर खोजने लगे। भीतर-बाहर खोजते हुए (उन्हें) न देखा।

महाप्रजापती गौतमी विलाप करती हुई धरती के ऊपर लोटने-पोटने लगीं और राजा शुद्धोदन से यों बोलीं—महाराज, जल्दी मुझे मेरे बेटे से मिलाओ।

56. तब राजा ने चारों दिशाओं में घुड़सवार दूत (यह कहते हुए) भेजे कि =169क= जब तक कुमार को न देखना तब तक न लौटना।

निमित्त तथा सगुन के जानकार ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि बोधिसत्त्व मंगलद्वार से बाहर निकलेंगे। मंगल द्वार से जाते हुए उन्होंने देखा कि मार्ग के बीच धूलों की वर्षा हुई है। उनके मन में यह बात आई कि इस मार्ग से कुमार निकल कर गए हैं।

कुछ दूर जाकर उन्होंने उस देवपुत्र को बोधिसत्त्व के बनारसी कपड़ों को माथे पर रख कर आता हुआ देखा। उनके मन में यह बात आई। ये निश्चय से कुमार के ही बनारसी कपड़े हैं। कहीं इसने इन कपड़ों के लिए कुमार को जान से न मार डाला हो। इसे पकड़ लो। फिर (उन्होंने) देखा कि उसके पीछे कंठक तथा (कुमार के) आभूषणों को लेकर छन्दक आ रहा है। तब उन्होंने आपस में बातचीत की। भाई, बिना सोचे कोई काम न करना। कंठक को लेकर यह देखो छन्दक आ रहा है। पहले इसी से पूछें।

57. उन्होंने छन्दक से पूछा। हे छन्दक, कहीं इस आदमी ने बनारसी

कपड़ों के लिए कुमार को जान से न मार डाला हो ? (–229–) छन्दक बोला। यह बात नहीं। किंतु इसने कुमार को काषाय वस्त्र दिए और कुमार ने इसे ये बनारसी कपड़े दिए।

उसके बाद=169ख=वह देवपुत्र उन वस्त्रों को दोनों हाथों से माथे पर रख कर उनकी पूजा के लिए वहीं से देवलोक चला गया।

58. इस प्रकार उन्होंने फिर छंदक से पूछा। छंदक, (तुम) क्या सोचते हो, हम जाएँ ? क्या कुमार को वापस लाना सम्भव है ? उसने कहा—नहीं-नहीं, कुमार दृढ़ वीर्य और पराक्रम वाले हैं, उन्होंने ऐसा कहा है कि जब तक अनुत्तर सम्यक् संबोधि नहीं प्राप्त होती तब तक मैं महानगर कपिलवस्तु में नहीं प्रवेश करूँगा, और जैसा कुमार ने कहा है, वैसा ही होगा क्योंकि कुमार दृढ़ वीर्य और पराक्रम वाले हैं, उन्हें वापस नहीं लाया जा सकता।

59. उसके बाद कंठक और आभूषणों को लेकर छंदक ने अन्तःपुर में प्रवेश किया। तदनन्तर उन आभूषणों को बहुत समय तक शाक्य कुमार भद्रिक, महानाम और अनिरुद्ध ने पहने। वे (आभूषण) महानारायण के समान गठीले शरीर के लिए (बने) थे, उन्हें[45] अर्ध नारायण के समान गठीले[45] दूसरे लोग न धारण कर पाते थे। जब उन्हें दूसरे लोग न धारण कर सके तब महाप्रजापती गौतमी ने सोचा कि जब तक मैं इन आभूषणों को देखती रहूँगी, तब तक हृदय में शोक होता रहेगा, क्यों न मैं इन आभूषणों को पुष्करिणी में डाल दूँ। तदनन्तर महाप्रजापती=170क= गौतमी ने उन आभूषणों को पुष्करिणी में डाल दिया। आज भी वह (पुष्करिणी) आभरणपुष्करिणी के नाम से प्रसिद्ध है।

60. इस (विषय) में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(छंद गाथा, अतिजगतीजातीया)

(अन्तःपुर विलाप)

निष्क्रान्तु शूरो यद विदु बोधिसत्त्वो
नगरं विबुद्धं कपिलपुरं समग्रं।
(–230–) मन्यन्ति सर्वे शयनगतो कुमारो
अन्योन्य हृष्टाः प्रमुदित आरभन्ते ॥686॥

45⋯45. मूल, (नारायणसंहनना)। पठनीय, अर्धनारायणसंहनना। तुलनीय, भोट, स्रेद् मेद् क्यि बु फ्येद् लतर् म्ख्रेग्स् प।

जब शूर एवं विद्वान् बोधिसत्त्व (घर से) निकल गए तब कपिलपुर नाम का समूचा नगर जग गया। सब यही सोचते थे कि कुमार सेज पर सोये हुए हैं (और) हर्ष से आनन्द से एक दूसरे का आलिङ्गन कर रहे थे।

गोपा विबुद्धा तथ अपि इस्त्रिगारा
शयनं निरीक्षी न च दृशि बोधिसत्त्वं।
उत्क्रोसु मुक्तो नरपतिनो अगारे
हा वञ्चिता स्मः कहि गतु बोधिसत्त्वो ॥687॥

गोपा की नींद टूटी तथा अन्तःपुर (की महिलाओं की) भी (नींद) टूटी। सेज को निहारा पर बोधिसत्त्व को न देखा। राजभवन में रोना-चिल्लाना मच गया। हाय ठग लिए गए। बोधिसत्त्व कहाँ गए ?

राजा श्रुणित्वा धरणितले निरस्तो
उत्क्रोसु कृत्वा अहो मम एकपुत्रो।
सो स्तेमितो ही जलघटसंप्रसिक्तो
आश्वासयन्ती बहुशत शाकियानां ॥688॥

सुन कर, हाय मेरे इकलौते बेटे, (यों) चिल्ला कर राजा धरती ऊपर मूर्छित हो गए। अनेक—शत शाक्यों द्वारा घटजल छिड़कने पर गीले हो वे (फिर) साँस लेने लगे।

गोपा शयातो धरणितले निपत्य
केशां लुनाती अवशिरि भूषणानि।
अहो सुभाष्टं मम पुरि नायकेना
सर्वप्रियेभि नचिरतु विप्रयोगः ॥689॥

गोपा सेज से धरती के ऊपर गिर कर केश नोचने लगीं, आभूषण उतार फेंके (और विलाप करने लगीं), अहो, पहले ही मेरे नायक ने सुभाषित कहा था कि सभी प्रियों से शीघ्र वियोग होने वाला है।

रूपा सुरूपा विमलविचित्रिताङ्गा
अच्छा विशुद्धा जगति प्रिया मनापा।
धन्या प्रसस्ता दिवि भुवि पूजनीया
क्व त्वं गतोऽसी मम शयि छोरयित्वा ॥690॥

हे रूपवान्, हे सुन्दर रूपवाले, हे निर्मल और (लक्षणोंसे) विचित्रित अंग वाले, हे स्वच्छ, हे विशुद्ध, हे जगत् के प्यारे, हे मन में बसे हुए, हे धन्य, हे प्रशस्त

(=हे उत्तम), हे स्वर्ग और धरती पर पूजनीय, तुम मेरी सेज छोड़ कर कहाँ चले गए हो ।

=170ख= न पास्यि पानं न मधु न प्रमादं
भूमौ शयिष्ये जटमुकुटं धरिष्ये ।
स्नानं जहित्वा व्रततप आचरिष्ये
यावन्न द्रक्ष्ये गुणधरु बोधिसत्त्वं ॥691॥

जब तक मैं गुणधर बोधिसत्त्व को न देख लूँगी तब तक न मद्यपान करूँगी, न मधुपान, न मादकरसपान । भूमि पर सोऊँगी, जटामुकुट धारण करूँगी, (श्रृंगारोचित) स्नान छोड़ व्रत और तप का आचरण करूँगी ।

(–231–) उद्यान सर्वे अफल अपत्रपुष्पा
हारा विशुद्धा तमरजपांशुतुल्याः ।
वेस्मं न शोभी अटवि पुरं प्रकासं
यत्तेन त्यक्तं नरवरपुङ्गवेन ॥692॥

सब उद्यान बिना फलके, बिना फूल—पत्रों के हो गए हैं, अत्यन्त निर्मल हार अँधेरे धूल और कूड़े जैसे (मैले) हो गए हैं, उन पुरुषोत्तम—(उन नर—) पुंगव के द्वारा त्यागा गया (यह) नगर (और यह) घर जंगल जैसा (उजड़ा) बिना शोभा का हो गया है ।

हा गीतवाद्याः सुमनोहरमञ्जुघोषाः
हा इस्त्रिगारा विगडित भूषणाभिः ।
हा हेमजालैः परिस्फुटमन्तरिक्षं
न भूयु द्रक्ष्ये गुणधरविप्रहीणा ॥693॥

हाय सुन्दर, मनोहर और मन्जुल घोष वाले गीत—वाद्य, हाय आभूषणों से ढीले-ढाले-सजे अन्तःपुर, हाय सुवर्ण के जालों से जगमगते आकाश (अब) फिर गुणधर (बोधिसत्त्व) के विरह में पड़ी (मैं तुम सब को) न देख पाऊँगी ।

मातृस्वसा च परमसुकृच्छ्रप्राप्ता
आश्वासयाती म रुदहि शाक्यकन्ये ।
पूर्वे च उक्तं नरवरपुङ्गवेन
कर्तास्मि लोके जरामरणात् प्रमोक्षं ॥694॥

अत्यन्त दारूण कष्ट में पड़ी मौसी (प्रजापती) ने ढाढस बँधाया, हे शाक्पुत्रि, मत रोओ । पुरुषोत्तम ने—(नर–) पुंगव ने पहले ही कह दिया था कि (मैं) जरामरण से इस जगत् को मुक्त करने वाला हूँ ।

(छंदक निवर्तन)

सो चा महर्षी कुशलसहस्रचीर्णः
षड्योजनानी प्रतिगतु रात्रिशेषे।
छन्दस्य देती हयवरु भूषणानि
छन्दा गृहीत्वा कपिलपुरं प्रयाहि ॥695॥

सहस्रों कुशलों (= पुण्यों) का आचरण कर चुकने वाले वे महर्षि रात समाप्त होने तक छह योजन दूर निकल गए। उत्तम अश्व और आभूषण छन्दक को दिए (और बोले)—हे छन्दक, (इन्हें) लेकर कपिलपुर लौट जाओ।

मातापितॄणां मम वचनेन पृच्छे
गतः कुमारो न च पुनः शोचयेथा।
बुद्धित्व बोधिं पुनरिदृमागमिष्ये
धर्मं श्रुणित्वा भविष्यथ शान्तचित्ताः ॥696॥

माता और पिता को मेरे वचन से (कुशल-क्षेम) पूछना (और कहना) कुमार चला गया इस (बात) का और अधिक शोक न करना। बोधिलाभ कर मैं फिर वहाँ आऊँगा और धर्म सुनकर (तुम सब) शान्तचित्त होओगे।

छन्दो रुदन्तो प्रतिभणि - 171क = नायकस्य
न मेऽस्ति शक्तिर् बलत पराक्रमो वा।
(-232-) हनेयु मह्यं नरवरज्ञातिसंघाः
छन्दा क्व नीतो गुणधरु बोधिसत्त्वो ॥697॥

रोते हुए छन्दक ने नामक (बोधिसत्त्व) को उत्तर दिया कि (कपिलपुर लौटने की) न मुझमें शक्ति है (न) बल है अथवा (न) पराक्रम है। छन्दक (तू) गुणधर बोधिसत्त्व को कहाँ ले गया (ऐसा कह कर) पुरुषोत्तम की जाति के (शाक्य-) संघ मुझे मार डालेंगे।

मा भाहि[46] छन्दा प्रतिभणि बोधिसत्त्वो
तुष्टा भवित्वा अपि मम ज्ञातिसंघाः।
शास्तारसंज्ञा त्वयि सद भावयिष्यन्ति
प्रेमेण मह्यं त्वयमपि वर्तिष्यन्ते ॥698॥

46. मूल, ताहि। पठनीय पाठान्तर में विद्यमान भाहि। तुलनीय भोट, **ह्जिग्स् शिग्** (=बिभीहि)।

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—छन्दक डरो मत। मेरे नाते के संघ संतुष्ट हो कर तुम्हें गुरुभाव से सर्वदा मन में रक्खेंगे, जैसे मुझसे (उनका प्रेमव्यवहार है) वैसे ही तुमसे भी उनका प्रेमव्यवहार होगा।

छन्दो गृहीत्वा हयवरु भूषणानि
उद्यान प्राप्तो नरवरुपुङ्गवस्य।
उद्यानपालः प्रमुदितु वेगजातो
आनन्दशब्दं प्रतिभणि शाकियानां ॥699॥

छन्दक उत्तम अश्व और आभूषणों को लेकर श्रेष्ठ नरेन्द्र (शुद्धोदन) के उद्यान में पहुँचा। उद्यानपाल ने खुश हो, दौड़ कर शाक्यों से आनन्द-समाचार कहा।

अयं कुमारो हयवरु छन्दकश्च
उद्यान प्राप्तो न च पुन शोचितव्यो।
राजा श्रुणित्वा परिवृतु शाकियेभिः
उद्यान प्राप्तो प्रमुदितु वेगजातो ॥700॥

यह कुमार, उत्तम अश्व और छन्दक उद्यान में आ पहुँचे हैं, अब और शोक न कीजिए। सुन कर प्रसन्न हो शाक्यों से घिरे हुए राजा जल्दी से उद्यान पहुँचे।

गोपा विदित्वा दृढमति बोधिसत्त्वं
नो चापि हर्षी न च गिरं श्रद्दधाति।
अस्थानमेतद् विनिगतु यत्कुमारो
अप्राप्य बोधिं पुनरिह आगमेया ॥701॥

बोधिसत्त्व के स्थिर निश्चय को जानकर गोपा न तो खुश हुई और न उन्होंने समाचार पर विश्वास किया। कुमार (घर से) निकल बिना बोधि प्राप्त कर लौटें यह बेठौर-ठिकाने की बात है।

दृष्ट्वा तु राजा हयवरु छन्दकं च
उत्क्रोसु कृत्वा धरणितले निरस्तो।
हा मह्य पुत्रा सुकुशलगीतवाद्या = 171ख =
क्व त्वं गतोऽसी विजहिय सर्वराज्यं ॥702॥

उत्तम अश्व और छंदक को देख राजा चिल्ला कर रोए और धरती ऊपर गिर पड़े। हाय मेरे गीत और वाद्य में अत्यन्त चतुर बेटे, तुम सब राज्य छोड़ कर कहाँ चले गए हो।

(–233–) साधू भणाही वचन ममेह छन्दा
किं वा प्रयोगः क्व च गतो बोधिसत्त्वः।
केनाथ नीतो विवरित केन द्वारा
पूजा च तस्या कथ कृत देवसंघैः ॥703॥

हे छन्दक, मुझसे ठीक-ठीक बात कहो। (यह) कैसे जोग बैठा? बोधिसत्त्व कहाँ गए? कौन (उन्हें) ले गए? और किसने द्वार खोला? देवसंघों ने उनकी पूजा कैसे की?

छन्दो भणाती श्रृणु मम पार्थिवेन्द्रा
रात्रौ प्रसुप्ते नगरि सबालवृद्धे।
सो मञ्जुघोषो मम मणि बोधिसत्त्वो
छन्दा ददाही मम लघु अश्वराजं ॥704॥

छन्दक बोला। हे राजेन्द्र मेरी बात सुनो। रात को बच्चों और बूढ़ों के सहित जब (सारा) नगर सोया हुआ था, उन मञ्जुघोष बोधिसत्त्व ने मुझसे कहा–छन्दक, मुझे अश्वराज लाकर दो।

सोबोधयामी नरगणि नारिसंघं
सुप्ता प्रसुप्ता न च गिर ते श्रुणन्ति।
सो रोदमानो ददि अहु अश्वराजं
हन्ता व्रजाही हितकर येन कामं ॥705॥

मैंने पुरुषगणों को और स्त्रीगणों को जगाया, वे सोये हुए बेखबर सोए हुए (मेरी) आवाज़ न सुन पाए। मैंने रोते हुए अश्वराज दिया (और कहा) अहो, हितकारी, जहाँ चाहते हो जाओ।

शक्रेण द्वारा विवरित यन्त्रयुक्ताः
पालाश्चतस्रो हयचरणे शिलिष्टाः।
आरूढि शूरे प्रचलित त्रिसहस्राः
मार्गो नभेस्मिन् सुविपुल येन क्रान्तो ॥706॥

इन्द्र ने यन्त्र लगे द्वार खोल दिए, चारों (लोक–) पाल घोड़े के चरणों में चिपक गए, शूर (बोधिसत्त्व जब घोड़े पर) सवार हुए तब त्रिसाहस्र (लोक-धातु) डगमगा उठे, आकाश में जिस (मार्ग) से (वे) गए, वह अति विशाल मार्ग था।

आभा प्रमुक्ता विहततमोऽन्धकारा
पुष्पा पतिसु तुरियशता रणिसु।
देवा स्तविसु तथपि हि चाप्सराणी
नभसा प्रयातो परिवृतु देवसंघैः ॥707॥

प्रकाश प्रादुर्भूत हुआ जिससे धुंध और अन्धेरा मिट गया, पुष्प बरसे, सैकड़ों बाजे बजे, देवताओं और अप्सराओं ने स्तुति की, देवगणों से घिरे (वे) आकाश से चले गए।

छन्दो गृहीत्वा हयवरु भूषणानि
अन्तःपुरे सो उपगतु रोदमानो।
(–234–) दृष्ट्वा तु गोपा–172क– हयवर छन्दकं च
संमूर्छयित्वा धरणितले निरस्ता ॥708॥

उत्तम अश्व तथा आभूषणों को लेकर रोता हुआ छन्दक अन्तःपुर में गया। उत्तम अश्व और छन्दक को देख कर गोपा बिल्कुल मूर्छित होकर धरती के ऊपर गिर पड़ी।

उद्युक्त सर्वा सुविपुलनारिसंघाः
वारिं गृहीत्वा स्नपयिसु शाक्यकन्यां।
मा हैव कालं करिष्यति शोकप्राप्ता
द्वाभ्यां प्रियाभ्यां बहु भवि विप्रयोगः ॥709॥

बहुसंख्यक सब स्त्रीगणों ने यत्न कर पानी लेकर शाक्यकन्या पर छिड़का कि कहीं शोकप्राप्त (यह) काल न कर जाए, (कहीं) दो प्रियों से चिर वियोग न हो जाए।

स्थामं जनित्वा सुदुःखितः शाक्यकन्या
कण्ठेऽवलम्ब्या हयवर अश्वराजे।
अनुस्मरित्वा पुरिमक कामक्रीड़ां
नानाप्रलापी प्रलपति शोकप्राप्ता ॥710॥

अत्यन्त दुःखी शाक्यपुत्री (गोपा) धीरज धर कर, अश्वों में उत्तम (उस) अश्वराज के गले से लटक कर, पहले की प्रेमलीला का स्मरण कर, शोक में भरी नाना प्रकार के प्रलापों से विलाप करने लगी।

(गोपाविलाप)

(छंद आर्यागीति)

हा मह्य प्रीतिजनना हा मम नरपुङ्गवा विमलचन्द्रमुखा।
हा मम सुरूपरूपा हा मम वरलक्षणा विमलतेजधरा ॥711॥

हाय मेरे प्रीति उपजाने हारे, हाय मेरे पुरुषपुंगव, निर्मल चन्द्रमा जैसे वदन वाले, हाय मेरे सुन्दर रूप के रूप वाले, हाय मेरे उत्तम लक्षण वाले निर्मल तेजधारी।

हा मम अनिन्दिताङ्गा सुजातः अनुपूर्वउद्गता असमा।
हा मम गुणाग्रधारिं नरमुरभिः पूजिता परमकारुणिका ॥712॥

हाय मेरे अनिन्दनीय अंग-प्रत्यंग वाले, दिव्य जन्म वाले, क्रम से उन्नत (शरीर वाले), अनुपम, हाय मेरे उत्तम-गुण-धारी, देव और मनुष्यों से पूजित, परमकारुणिक।

हा मम बलोपेता नारायणस्थामवन् निहतशत्रुगण।
हा मम सुमञ्जुघोषा कलविङ्कुरुतस्वरा मधुरब्रह्मरुता ॥713॥

हाय मेरे बलवन्त- नारायण की शक्ति वाले, शत्रु गण का नाश कर चुकने वाले, हाय मेरे, सुन्दर मनोहर बोली बोलने वाले, चटक जैसे चहचहाने वाले, ब्रह्मा के से मधुर शब्द वाले।

हा मम अन्तकीर्ते शतपुण्यसमुद्गता विमलपुण्यधरा।
हा मम अनन्तवर्णा गुणगणप्रतिमण्डिता ऋषिगणप्रीतिकरा ॥714॥

हाय मेरे अनन्त कीर्ति वाले, सैकड़ों पुण्यों से उन्नत, निर्मल पुण्यधारी, हाय मेरे अन्त न होने के वर्णन वाले, गुणों के समूह से विभूषित, ऋषिगण की प्रीति उपजाने वाले।

–172–ख हा मम सुजातजाता लुम्बिनिवन उत्तमे भ्रमरगीतरुते।
हा मम विघुष्टशब्दा दिवि भुवि अभिपूजिता विपुलज्ञानद्रुमा ॥715॥

हाय मेरे भौरों के गान से गूँजते हुए उत्तम लुम्बिनी वन में दिव्य-जन्म से जनमने वाले, हाय मेरे विख्यात नाम वाले, धरती और देवभूमि में अत्यन्त पूजित ज्ञान के विशाल विटप।

हा मम रसरसाग्रा बिम्बोष्ठा कमललोचना कनकनिभा।
हा मम सुशुद्धदन्ता गोक्षीरतुषारसंनिभसहितदन्ता ॥716॥

हाय मेरे रसों में उत्तम रस वाले, कुंदुरू के समान (लाल) होंठ वाले, कमल जैसी आँखों वाले, सोने के जैसे रंग वाले, हाय मेरे उत्तम और शुद्ध दाँतों वाले, गाय के दूध और हिम के जैसे (श्वेत एवं) जुड़े हुए अर्थात् छिद्र-रहित दाँतों वाले।

(–235–) हा मम सुनास सुभ्रू ऊर्णा-भ्रूमुखान्तरे-स्थिता-विमला।
हा मम सुवृत्तस्कन्धा चापोदर ऐणेयजङ्घ वृत्तकटी ॥717॥

हाय मेरे सुन्दर नासिक वाले, सुन्दर भौंहों वाले, भौंहों के बीच में स्थित निर्मल उर्णा (=रोम) वाले, हाय मेरे गोल-गोल स्कंधों वाले, चाप के समान (अल्प) उदर वाले, कृष्णमृग (की जंघाओं) के समान जंघाओं (घुटनों और टखनों के बीच के अंगों अर्थात् नखों) वाले, गोल-कटि वाले।

हा मम गजहस्तोरू करचरणविशुद्धशोभना ताम्रनखा।
इति तस्य भूषणानि पुण्येहि कृतानि पार्थिवे प्रीतिकरा ॥718॥

हाय मेरे हाथी की सूँड़ के जैसे उरुओं वाले, अत्यन्त शुद्ध एवं शोभाशाली हाथ-पैरों वाले, ताँबे के (रंग) जैसे (लाल रंग के) नखों वाले। पुण्यों से (शरीर पर बने) ऐसे राजा के प्रीतिकर आभूषण उनके थे।

हा मह्य गीतवाद्या वरपुष्पविलेपना शुभऋतु-प्रवरे।
हा मह्य पुण्यगन्धा अन्तःपुरि गीतवादितैर्हर्षकरा ॥719॥

हाय मेरे गीत और वाद्य, उत्तम पुष्प और विलेपन, शुभ ऋतुओं के अति श्रेष्ठ (ऋतु), हाय मेरे पवित्रगन्ध, गाने-बजाने से अन्तःपुर को हरषाने वाले।

हा कण्ठका सुजाता मम भर्तु सहायकस्त्वया क्व नीतो।
हा छन्दका निकरुणा न बोधयसि गच्छमानके नरवरिष्ठे ॥720॥

हाय उत्तम जाति के कण्ठक (तुम) मेरे स्वामी के सहायक रहे हो, (उन्हें तुम) कहाँ ले गए। हाय निर्दयी छन्दक, परम पुरुषोत्तम के जाते समय नहीं जगाया।

गच्छत्ययं हितकरो एका गिर तस्मिन्नन्तरि नभसि कस्मात्।
इतु अद्य पुरवरातो गच्छति नरदम्यसारथिः कारुणिकः ॥721॥

आज इस श्रेष्ठ नगर से कारुणिक, मनुष्यों के विनीत करने वाले, सारथी जा रहे हैं, ये हितकारी जा रहे हैं—यह एक वचन उस अवसर पर क्यों नहीं बोला?

कथ वा गतो हितकरो =173क= केन च निष्क्रामितो इतु स राजकुलात्।
कतमां दिशमनुगतो धन्या वनगुल्मदेवता यास्य सखी ॥722॥

हितकारी कैसे गए? इस राजकुल से उन्हें किसने निकाला? किस दिशा में (वे) गए? वनगुल्म की देवियाँ धन्य हैं जो कि इनकी (अब) सखियाँ हैं।

अतिदुःख मह्य छन्दा निधि दर्शिय नेत्र उद्धृता चक्षुददा।
सर्वैर्जिनैश्च[47] मातापितृ नित्य वर्णिता पूजनीयाः ॥723॥

---

47. मूल, सर्वैर्जनैश्च। पठनीय, सर्वैर्जिनैश्च। तुलनीय भोट, **ग्यल् ब कुन ग्यिस्**।

हे छंदक, मुझे बहुत दुःख है, निधि दिखाकर निगाह देने वाली आँखें निकाल लीं।

सब बुद्धों ने माता-पिता को सर्वदा पूजनीय बखाना है—

तानपि जहित्व निर्गतु किं पुनरिम इस्त्रि कामरति।
हा धिक् प्रियैर्वियोगो नटरङ्गस्वभावसंनिभा अनित्या ॥724॥

उनको भी छोड़ कर (वे) चले गए, फिर इस कामसुख की स्त्री की बात ही क्या ?

हाय राम, प्यारों का वियोग (कैसा कष्टदायक) है। (संयोगतो) नटों के तमाश दिखाने के जमावड़े जैसे स्वभाव का न टिकने वाला है।

संज्ञाग्रहेण बाला दृष्टिविपर्यास निश्रिता जन्मच्युति।
प्रागेव तेन भणितं नास्ति जरामरणसंस्कृते काश्चि सखा ॥725॥

संज्ञाग्रह के कारण अर्थात् प्रत्यक्ष से जैसी वस्तु ऊपर-ऊपर से दिखाई देती है उसको वैसा ही मान लेने के कारण, उलटी पलटी दृष्टि (=धारणा) होने से बच्चे (मूढ़ लोग) जन्म-मरण में ठहरे हुए हैं। उन्होंने पहले ही कहा था कि जरामरण के इस बनावटी जगत् में कोई साथी नहीं है।

परिपूर्यतोऽस्य आसा स्पृशतु वरबोधिमुत्तमां द्रुमवरिष्ठे।
बुद्धित्व बोधि विरजां पुनरपि एतु इहा पुरवरे अस्मिन् ॥726॥

उनकी आशा पूरी हो, सर्वोत्तम वृक्ष के नीचे उत्तम श्रेष्ठ बोधि का (वे) अनुभव करें, रजोहीन बोधि का साक्षात् कर (वे) इस श्रेष्ठ नगर में यहाँ आयें।

(छंदक समाश्वासन)

(छंद रथोद्धता)

छन्दकः परमदीनमानसो
गोपिकाय वचनं श्रुणित्वना।
साश्रुकण्ठ गिर संप्रभाषते
साधु गोपि निश्रृणोहि मे वचः ॥727॥

गोप का वचन सुन कर छन्दक मन में बहुत दीन-दुःखी हुआ। आँसू-भरे रुँधे गले से (वह) वचन बोला—हे गोप मेरा वचन अच्छी तरह सुनो।

(–236–) रात्रिये रहसि यामि मध्यमे सर्वनारिगण संप्रसुप्तके।
सो तदा च शतपुण्यउद्गतो आलपेति मम देहि कंठकं ॥728॥

रात के बिचले पहर में, अकेले में जब कि सब स्त्रियाँ सोई पड़ी थीं, तब सैकड़ों पुण्यों से उन्नत हुए उन्होंने पुकार कर कहा कि मुझे कण्ठक दो।

=173= तं निशाम्य वचनं तदन्तरं
तुभ्य प्रेक्षमि शयानि सुप्तिकां।
उच्चघोषु अहु तत्र मुञ्चमि
उत्थ गोपि अयु याति ते प्रियो ॥729॥

उस वचन को सुन कर, उस अवसर पर तुम्हें सेज पर सोया देखा। उस समय मैं जोर से चिल्लाया—हे गोप, उठो, यह तुम्हारा प्रियतम जा रहा है।

देवता वचनु तं निरोधयी
एक इस्त्रि नपि काचि बुध्यते।
रोदमान समलंकरित्वना
अश्वराजु ददमी नरोत्तमे ॥730॥

देवताओं ने उस वचन को रोक लिया, कोई एक भी स्त्री न जगी। रोते हुए मैंने सजाकर अश्वराज पुरुषोत्तम को दे दिया।

कण्ठको ह्रिषति उग्र तेजस्वी
क्रोशमातु स्वरु तस्य गच्छति।
नो च कश्चि छ्णुते पुरोत्तमे
वदेताभि ओस्वापनं कृतं ॥731॥

तेजस्वी कंठक उग्रता से हिनहिनाया, उसका स्वर कोस भर तक गूँज गया। पर उत्तम नगर में किसी ने सुना (क्यों कि) देवताओं ने सबको सुला दिया था।

स्वर्णरूप्यमणिकोटिता मही
कण्ठकस्य चरणैः पराहता।
सा रणी मधुरभीष्मशोभना
नो च केचि छ्णुवन्ति मानुषाः ॥732॥

सोने-चाँदी और मणियों से मढ़ी हुई वह धरती कण्ठक के खुरों की खूंद पाकर मीठे, भयंकर और मनोहर स्वर से ठनठना उठी, पर कोई आदमी (उसे) न सुन पाया।

पुष्प युक्त अभु तस्मि अन्तरे
चन्द्र-ज्योतिष नभे प्रतिस्थिता।
देवकोटि गगणे कृताञ्जली
ओनमन्ति शिरसा ऽभिवन्दिषू ॥733॥

उस अवसर पर पुष्ययोग था, चन्द्रमा और नक्षत्र आकाश में विराज रहे थे, गगन में कोटि-कोटि देवता सिर झुकाए अंजलि बाँध वन्दना कर रहे थे।

यक्षराक्षसगणैरुपस्थिता
लोकपाल चतुरो महर्धिकाः।
कण्ठकस्य चरणां करे न्यसी
पद्मकेशरविशुद्धनिर्मलं ॥734॥

यक्षों और राक्षसों के गणों के साथ महाऋद्धि के चारों लोकपाल उपस्थित हो अपने कमल-केशर जैसे अत्यन्त शुद्ध और निर्मल एक-एक हाथ पर कण्ठक के चरणों को रख लिया।

सो च पुण्यशततेजउद्गतो
आरुही कुमुदवर्षिकोपमं।
षडविकार धरणी प्रकम्पिता
बुद्धक्षेत्र स्फुट आभ निर्मला ॥735॥

वे सैकड़ों पुण्यों के तेज से ऊपर उठे हुए (उस) कुमुद और वार्षिक (बरसाती चमेली) जैसे (श्वेत अश्व पर) सवार हुए। धरती छह प्रकार से काँप उठी, बुद्धक्षेत्र निर्मल प्रकाश से जगमगाने लगे।

शक्र देव (तगुरुः) शचीपतिः = 174क =
स्वाम द्वार विवरी तदन्तरे।
देवकोटिनयुते पुरस्कृतो
सो व्रजी अमरनागपूजितो ॥736॥

देवताओं में ज्येष्ठ, शचीपति, शक्र ने उस अवसर पर स्वयं द्वार खोल दिया। खर्ब-खर्ब कोटि देवताओं द्वारा आगे किये हुए, देवताओं और नागों से पूजित, वे चले गये।

संज्ञमात्र इह जाति कण्ठको
लोकनाथ वहती नभोऽन्तरे।
देवदानवगणा सइन्द्रिकाः
ये वहन्ति सुग तस्य गच्छतः ॥737॥

लोकनाथ को आकाश के बीच ले जा रहा है—इस बात में कण्ठक तो केवल नाम था, (वस्तुतः) जो जाते हुए सुगत को ले जा रहे थे, वे इन्द्र-सहित देव-दानव गण थे।

अप्सरा कुशल गीतवादिते
बोधिसत्त्वगुण भाषमानिकाः।
कण्ठकस्य बलु ते ददन्तिकाः
मुञ्चि घोषु मधुरं मनोरमं ॥738॥

गाने-बजाने में चतुर अप्सराएँ, बोधिसत्त्व के गुण-गान करती हुईं, कण्ठक को बढ़ावा देती हुईं, मधुर और मनोहर ध्वनि करती थीं।

(–237–) कण्ठका वहहि लोकनायकं
शीघ्रशीघ्र व जनेहि खेदतां।
नास्ति ते भयमपायदुर्गति
लोकनाथमभिराधयित्वना ॥739॥

हे कण्ठक, जल्दी-जल्दी लोकनायक को ले चलो, खेद मत करो, लोकनाथ की सेवा कर तुम्हारे लिए दुर्गति में गिरने का भय नहीं रहा।

एकमेक अभिनन्दते सुरो
वाहनं स्मि अहु लोकनायके।
नो च किंचिदपि देशु विद्यते
देवकोटिचरणैर्न मर्दितं ॥740॥

मैं लोकनायक का वाहन हूँ—(ऐसा सोच) एक-एक देवता आनन्दित हो रहा था, कोई जगह न थीं, जो कोटि-कोटि देवताओं के चरणों से मसली न गई हो।

पश्य कण्ठक नभोऽन्तरे इमं
मार्गु संस्थितु बिचित्रशोभनं।
रत्नवेदिक विचित्र मण्डितं
दिव्य—सारवर—गन्ध धूपितं ॥741॥

हे कण्ठक, आकाश के बीच बने—ठहरे अद्भुत, सुन्दर, विचित्र रत्नमयो वेदिकाओं से विभूषित, उत्तम सार वाले देवलोक के गन्ध से धूपे गए, इस मार्ग को देखो।

एन कण्ठक शुभेन कर्मणा
त्रायत्रिंशभवने सुनिर्मितो ।
अप्सरै परिवृतः पुरस्तकृतो=174ख=
दिव्यकामरतिभी रमिष्यसे ।।742।।

हे कण्ठक, इस शुभ कर्म से त्रयस्त्रिंश-भवन में इच्छानुसार सुन्दर शरीर धारण कर, अप्सराओं से घिरे हुए, आगे किए हुए, (तुम) दिव्य कामसुख भोगोगे ।

साधु गोपि म खु भूयु रोदही
तुष्ट भोहि परम प्रहर्षिता ।
द्रक्षसे न चिरतो नरोत्तमं
बोधिप्राप्तममरै पुरस्कृतं ।।743।।

हे साध्वी गोपे, अब और न रोओ, अत्यन्त आनन्दित हो कर सन्तुष्ट होओ, बिना विलम्ब के ही बोधि-प्राप्त, देवताओं से पूजित (उन) पुरुषोत्तम को देखोगी ।

ये नराः सुकृतकर्मकारकाः
ते न गोपि सद रोदितव्यकाः ।
सो च पुण्यशततेजउद्‌गतो
हर्षितव्य न स रोदितव्यकः ।।744।।

हे गोपे, जो मनुष्य पुण्य कर्म करने वाले हैं, उनके लिए कभी भी न रोना चाहिए । सैकड़ों पुण्यों के तेज से ऊपर उठे हुए उनके लिए हर्षित होना चाहिए, उनके लिए रोना न चाहिए ।

सप्तरात्र भणमानु गोपिके
सा वियूह नपि शक्य क्षेपितुं ।
या वियूह अभु तत्र पार्थिवे
निष्क्रमन्ति नरदेवपूजिते ।।745।।

हे गोपे, उन मनुष्यों और देवताओं द्वारा पूजित पृथिवीपति के (घर से) निकलने के समय जो सज-धज हुई थी, उस सज-धज का वर्णन सप्ताह भर तक बखाना जाए तो भी समाप्त नहीं हो सकता ।

लाभास्तुभ्य परमा अचिन्तिया
यं त्युपस्थितु जगे हितंकरो।
मह्य संज्ञ स्वकमेव वर्तते
त्वं हि भेष्यसि यथा नरोत्तमः ॥इति ॥746॥[48]

तुम्हें अचिन्तनीय परम लाभ (प्राप्त) होंगे, जो तुमने जगत् के हितकारी (बोधिसत्त्व) की सेवा की है। मुझमें अपने आप से यह भान हो रहा है कि तुम भी पुरुषोत्तम के समान (लोकपूज्य) होओगी।

॥ इति श्रीललितविस्तरेऽभिनिष्क्रमणपरिवर्तो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥

●

---

48. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—सूर्यप्रभायां भवति द्रुमकुड्य-छाया संतापयति च तनुं प्रकरोति धर्मम्। हंसमयूरशुककोकिलचक्रवाकाः प्रत्यूषकालसमये स्वरुतानि रुवन्ति ॥592॥ आभेयं तु नरदेव सुखा मनोज्ञा प्रह्लादनी शुभकरी न करोति दाहम्। कुड्यानि च वृक्षान् अभिभूय न चास्ति छाया निःसंशयं गुणधर इहाद्य प्राप्तः ॥593॥ स प्रेक्षते दश दिशो नृपति-विषण्णो दृष्टश्च स कमललोचनः शुद्धसत्त्वः। सो ऽभ्युत्थातुं शयनाद् इच्छति न प्रभवति पितृगौरवं जनयति वरशुद्धबुद्धिः ॥594॥ स च स्थित्वा पुरतो नृपतिम् अवोचद् मा भूयो विघ्नं प्रकुरु मा चैव खेदम्। नैष्क्रम्यकालसमयो मम देव युक्तो हन्त क्षमस्व नृपते (त्वं) सजनः सराष्ट्रः ॥595॥ तमश्रु-पूर्णनयनो नृपतिर्बभाषे किंचित् प्रयोजनं भवेद् विनिवर्तने ते। कं याचसे मां वरं वद सर्वं दास्ये, अनुगृहाण राजकुलं मां चेदं च राष्ट्रम् ॥596॥ तदा बोधिसत्त्वोऽवोचद् मधुरप्रलापी, इच्छामि देव चतुरो वरान् मे देहि। यदि शक्नोषि दातुं मह्यं वसामि ते (=तव पार्श्वे) तत्र, तद् द्रक्ष्यसि सदा गृहे न च निष्क्रंस्ये ॥597॥ इच्छामि देव जरा मां नाक्राम्येत् शुभवर्ण-यौवने स्थिते भवेतां नित्यकालम्। आरोग्यप्राप्तो च भवेय न भवेद् व्याधिर् अमितायुश्च भवेयं न च भवेद् विपत्तिः ॥598॥ राजा श्रुत्वा वचनं परमं दुःखार्तो ऽस्थानं याचसे कुमार न मेऽत्र शक्तिः। जराव्याधिमृत्युभयतश्च विपत्तितश्च कल्पस्थितय ऋषयोऽपि न जातु मुक्ताः ॥599॥ यदीदानीं देव चतुरो वरान् न ददासि जराव्याधिमृत्युतश्च विपत्तितश्च (मुक्तेः)। हन्त शृणुष्व नृपते ऽपरं वरमेकम् अस्माच्च्युतस्य प्रतिसंधिर्न मे भवेत् ॥600॥ श्रुत्वैव चेदं वचनं नरपुङ्गवस्य तृष्णां तनुं च कृत्वा छिनत्ति पुत्रस्नेहम्। अनुमोदनो हितकरं जगतः प्रमोक्षम् अभिप्रायस्तव परिपूर्यतां यो मतस्ते ॥601॥

ज्वलयत दीपं विमलं ध्वजाग्रे मणरत्नानि सर्वाणि स्थापयत । अवलम्बयत हारान् प्रभां कुरुत सर्वस्मिन् गेहे ॥602॥ संगीतिं योजयत जागृतातन्द्रिता इमां रजनीम् । प्रतिरक्षत कुमारं यथाऽविदितो न गच्छेत् ॥603॥ वर्मिताः कलापहस्ता असिधनुःशरशक्तितोमरगृहीताः । प्रियतनयरक्षणार्थं कुरुत सर्वा महायत्नम् ॥604॥ द्वाराणि पिधत्त सर्वाणि सुयन्त्रितार्गलानि दृढकपाटानि । मुञ्चत (= विवृणुत) मा चाकाले माग्रसत्त्व इतो व्रजेत् ॥605॥ मणिहारान्, मुक्ताहारान् मुखपुष्पकाणि, अर्धचन्द्रान् सशृंखलान् । मेखलाः कर्णिका मुद्रिका सुनिबद्धानि नूपुराणि कुरुत ॥606॥ यदि सहसा निष्क्रामेन्नराम-रहितो (अथवा नरमरुद्धितो) मत्तवारणविचारी । तथा तथा पराक्रमन्तां यथा विघातं न विन्देत् ॥607॥ या नार्यः शक्तिधरिण्यः शयनं परिवार-यन्तु विमलस्य । मा च भवत मिद्ध(= तन्द्रा)विहता पतङ्गा इव रक्षत नेत्रैः ॥608॥ छादयत रत्नजालैरिदं गृहं पार्थिवस्य रक्षार्थम् । वेणुरवांश्च रुवीत्, इमां रजनीं रक्षत विरजसम् ॥609॥ अन्योन्यं बोधयत मैव शेध्वं रक्षतेमां रजनीं । मा खल्वभिनिष्क्रामेद् विहाय राष्ट्रं च राज्यं च ॥610॥ एतस्य निर्गतस्य राजकुलं सर्वमिमं निरभिरम्यम् । उच्छिन्नश्च भवेत् पार्थिववंशश् चिरानुबद्धः ॥611॥

वज्रदृढोऽभेद्यो नारायण (इव) आत्मभावः (= कायः) गुरुर्वीर्यबलोपेतः सोऽकम्प्यः सर्वसत्त्वोत्तमः । गिरिवरो महामेरुर् उत्पाट्य शक्यो नभसि धारयितुं केनचिद्, न तु जिनगुणमेरुः शैलेभ्यो गुरुः पुण्यज्ञानाश्रितः शक्यो नेतुं क्वचित् ॥612॥ ये मानगर्विता नरा गुरुस्तेषु शास्ता ये प्रेमगौरवस्थिता लघुं ते विजानीयुः । अध्याशयेनाभिमुञ्चध्वं गौरवेण लघुं तं वेदिष्यथ खगा इव तूलं पेशीम् ॥613॥ अहं च पुरतो यास्यामि यूयं च वहत हयम् । नैष्क्रम्ये बोधिसत्त्वस्य पुण्यमर्जयामो बहु ॥614॥ अथाब्रुवन् देवसुता महर्द्धयो विबुद्धपद्मायतलोचनं तम् । कथं तवास्मिन्नुपजायते रतिः श्मशानमध्ये सम-वस्थितस्य ॥615॥ संचोदितः सोऽथ सुरेश्वरैर्निरीक्षते ऽन्तःपुरं तन्मुहूर्तम् । संप्रेक्षमाणः पश्यति तां बीभत्सां श्मशानमध्य उषितोऽस्मि (इति) भूतम् ॥616॥ ता दृष्ट्वोद्विग्नः स लोकनाथः करुणं विनिःश्वस्येदं जगाद । अहो बत कृच्छ्रगता प्रजेयं कथं रतिं विन्दन्ति राक्षसीगणे ॥617॥ अतीव मोहत-मआवृतदुर्मतयः निर्गुणेषु कामगुणेषु गुणसंज्ञिनः । विहगाः पञ्जरमध्यगता यथा नहि लभन्ते कदाचिद् विनिःसृतिम् ॥618॥ कर्मक्षेत्ररुहं तृट्सलिलजं सत्काय-संज्ञीकृतम् अश्रुस्वेदकफार्द्रमूत्रविकृतं शोणितविन्द्वाकुलम् । वस्तिपूय-वसासमस्तकरसैः पूर्णं तथा किल्बिषैर् नित्यप्रसुतं ह्यमेध्यसकलं दुर्गन्धिनाना-

विधम् ॥619॥ अस्थिदन्तसकेशरोमविकृतं चर्मावृतं लोमशम् अन्त्रप्लीह-यकृद्वपोष्णरसनैर् एभिश्चितं दुर्बलैः। मज्जस्नायुनिबद्धयन्त्रसदृशं मांसेन शोभीकृतं नानाव्याधिप्रकीर्णशोककलिलं क्षुत्तर्षसंपीडितम्। जन्तूनां निलयम् अनेकसुषिरं मृत्यं जरां चाश्रितं दृष्टवा को हि विचक्षणो रिपुनिभं मन्ये शरीरं स्वकम् ॥620॥ छन्दक चपलं (क्षिप्रं) मा बिलम्बस्व, अश्वराजं देहि मेऽलंकृतम्। सर्वसिद्धि ममैति मंगलम् अर्थसिद्धर्ध्रुवमद्य भविष्यति ॥621॥ क्व गमिष्यसि विकसितभ्रूः कमलदलशुभलोचन। नृपसिंह पूर्ण-शरदिन्दो शशाङ्कमुदितकुमुद नवनलिनकोमलविबुद्धपद्मवदन। सुधौतहाटक-तरुणरविविमलशशितेजः, घृतहुतार्चिरग्निमणिविद्युत्प्रभोज्ज्वलिततेजः। मत्त-वारणलीलगजगामिन्। गोवृषमृगेन्द्रहंसक्रम सुचरण ॥622॥ छन्दक यस्यार्थं मया पूर्वं त्यक्तानि करचरणनयनानि। तथोत्तमाङ्गं तनयो भार्या प्रियाणि राज्य[illegible]नकवसनानि रत्नपूर्णंरथाः गजा तुरगा अनिलजववेगा विक्रमवराः। शा[illegible] मयारक्षि क्षान्ति, पर्यभावयिषि। वीर्यवरध्यानप्रज्ञा-निरतश्चास्मि बहुकल्पकोटिनयुतानि। किं तु स्पृष्ट्वा बोधिं शिरां शान्ति। जरामरणपञ्जरनिरस्तसत्त्वपरिमोचनस्य समयोऽद्योपस्थितो मम ॥623॥ अयं कुमारः शतपुण्य-लक्षणो जातस्तवात्मजः पुण्यतेजाः। स चक्रवर्ती चतुर्द्वी-पस्येश्वरो भविष्यति सप्तधनैरुपेतः ॥624॥ स चेत् पुनर्लोकमवेक्ष्य दुःखितं विहायान्तःपुरं निष्क्रमिष्यति। अवाप्य बोधिमजरामरं पदं तर्पयिष्यति धर्म-जलैरिमां प्रजाम् ॥625॥ रमतां च रतिविधिज्ञ, अमराधिपतिर्यथा त्रिदश-लोके। पश्चाद् वृद्धीभूता व्रततप आरप्स्यामहे ॥626॥ विवर्जितं सर्वशिरो यथा बुधैर्विगर्हितो मीढ (=मलमूत्र) घटो यथाशुचिः। विनाशकान् सर्वशुभस्य च्छन्दक ज्ञात्वा हि कामान् न मे जायते रतिः ॥627॥

(क) यस्यार्थे केचिदिह तीव्रान् अनेकविधान् आरभन्ते व्रतान् अजिनजटाधराः सुदीर्घकेशनखश्मश्रवस्तथा चीरवल्कलधराः शुष्काङ्गा अनेकान् व्रतानाश्रिताः शाकश्यामाकगर्दूल (= मडुआ-इति भाषायाम्) भक्षाश्चावमूर्धकाश्चापरे गोव्रतं संश्रिता (ख) किं तु वयं भवेम श्रेष्ठा विशिष्टा जगति चक्रवर्तिवरा लोक-पालास्तथा शक्रा वज्रधरा यामा देवाधिपा निर्मिता ब्रह्मलोके च ध्यानसुखा-काङ्क्षिणः। (ग) तदिदं नरवरिष्ठ राज्यं तव स्फीतमृद्धं सुभिक्षं तथा, आरामोद्यानप्रासादोच्छ्रायितं वैजयन्तसमम्। (घ) स्त्र्यगारं स्वयं वेणुवीणा-रवैर्गीतवाद्यैरतिनृत्यसंगीतिसंयोगसंशिक्षितं, भुंक्ष्व कामानिमान् मा व्रज सूरत ॥628॥ (क) छन्दक शृणु यानि दुःखशतान्यर्पितानि (= अनुभूतानि) पूर्वं जन्मान्ते बन्धनं रोधनं ताडनं तर्जनं कामहेतोर्मया, न च निर्विण्णमभूत्

संस्कृते (=संसारे) मानसम् । (ख) प्रमादवशगतं च मोहाकुलं दृष्टिजाला-वृतमन्धभूतं पुरा, आत्मसंज्ञाग्रहकारका वेदनाव्यतिवृत्ता इमे धर्मा अज्ञानतः संभूताः । (ग) चलचपला अनित्या मेघैः समा विद्युद्भिः सदृशाः, अवश्याय-बिन्दूपमा रिक्तां तुच्छा असारा अनात्मनश्च शून्यस्वभावा इमे सर्वशः। (घ) न च मम विषयेषु संरज्यते मानसं देहि मे छन्दक कण्ठकमलं-कृतमश्वराजमुत्तमं, पूर्णाय मे मङ्गलाय पुरा चिन्तितं, भविष्यामि सर्वाभिभूः सर्वधर्मेश्वरो धर्मराजो मुनिः ॥629॥ इमां विबुद्धाम्बुज-पत्रलोचनां विचित्रहारां मणिरत्नभूषिताम् । घनप्रमुक्तामिव विद्युतं नभसि नोपक्षसे शयनगतां विरोचमानाम् ॥630॥ इमांश्च वेणून् पणवान् सुघोषकान् मृदङ्गवंशांश्च सगीतवादितान् । चकोरस्वरान् कलविङ्क-नादितान् यथा लयान् किंनरीणाम् इहा (ध्या) स्से ॥631॥ सुमनोत्पलानि वार्षिकचम्पकानि तथा सुगन्धमाला गुणपुष्पसंचयाः । कालागुरूनुत्तमगन्ध-धूपनान् नोपेक्षसेताननुलेपनान् वरान् ॥632॥ सुगन्धगन्धांश्च रसान् प्रणीतान् (उत्तमान्) सुसाधितानि व्यञ्जनभोजनानि तथा । सशर्करान् पानरसान् सुसंस्कृतान् नोपेक्षसे देव कुत्र गमिष्यसि ॥633॥ शीते च-उष्णान्यनुलेपनाम्बराणि, उष्णे च तान्युरगसारचन्दनानि । तानि काशि-कानि वरवस्त्राम्बराणि शुभानि नोपेक्षसे देव कुत्र गमिष्यसि ॥634॥ इमे चे ते कामगुणा हि पंच समृद्धा देवष्विव देवतानाम् । रमस्व तावद्रति-सौख्यान्वितस्ततो वनं यास्यति शाक्यपुंगवः ॥635॥ (क) अपरिमितान-न्तकल्पान् मया छन्दक, भुक्ताः कामा रूपाणि च शब्दाश्च गन्धा रसा स्पर्शा नानाविधाः दिव्या ये मानुषाः, न च तृप्तिरभूत् । (ख) नृपतिवर-सुतेनैश्वर्यं कृतं चतुर्द्वीपे, यदा राजाभूवं (यथारुतं तु राजाभूत्) चक्रवर्ती समन्वितः सप्तमी रत्नैः, स्त्र्यगारस्य मध्ये स्थितः (ग) त्रिदश(-धि)पत्यं सुयामदेवाधिपत्यं च कृतं, येभ्यश्चाहं च्युत्वेहाभ्यागतो निर्मितो निर्मितेषु मन आत्मिका च श्रीरुत्तमा भुक्ता पूर्वं मया । (घ) सुरपुरे वशवर्तिमारेश्वत्वं च कृतं भुक्ताः कामाः समृद्धा वरा न च तृप्तिरभूत्, किं पुनरद्येमां हीनां संसेवमानस्तृप्तिं गच्छेयमहं, स्थानमेतन्न संविद्यते ॥636॥ (क) अपि चेदं जगद् अवेक्षेऽहं छन्दक दुःखितं शोककान्तारसंसारमध्ये स्थितं क्लेशव्यालाकुले-नोपायासेनोह्यमानं सदा । (ख) अशरणमपरायणं मोहविद्यान्धकारे जरा-व्याधिमृत्युभयैः पीड़ितं, जन्मदुःखैः समभ्याहतं व्याहतं शत्रुभिः । (ग) अहमिह समुदानीय धर्मनावं महात्यागशीलव्रतक्षान्तिवीर्य-वरदासंघटितां सार (-वतीम्) अध्याशयैः वज्रकैः संगृहीतां दृढाम् । (घ) स्वयमहमभिरुह्य

नावमिमामात्मना ऽवतीर्य संसारौघेऽहं तारयिष्येऽनन्तं जगत्, शोकसंसार-कान्ताररोषोर्मिरागग्रहवैरावर्तकाकुले दुस्तरे, एवं चित्तं मम ॥637॥ तदात्मनोत्तीर्येमं भवार्णवं सवैरदृष्टिग्रहक्लेशराक्षसम् । स्वयं तीर्त्वा चानन्तकं जगत् स्थले स्थापयिष्ये ऽजरामरे शिवे ॥638॥ शृणुच्छन्दक मम निश्चयं सत्त्वमोक्षार्थ-हितार्थमुद्यतम् । अचलाचलमव्ययं दृढं मेरुराजमिव यथा सुदुश्चलम् ॥639॥ वज्राशनिः परशुशक्तिशराश्च वर्षेयुरविद्युत-प्रतानज्वलितः क्वथितश्च लोहः । आदीप्तशैलशिखराणि प्रपतेयुर्मूर्ध्नि नैवाहं पुनर्जनयेयं गृहाभिलाषम् ॥640॥ तदामरा न भोगताः किलकिलामुचन् । जय हे परममतिधर, अभयदायक, नाथ ॥641॥ न रज्यते पुरुषवरस्य मानसं नभो यथा तमोरजोधूमकेतुभिः । न लिप्यते विषयसुखेषु निर्मलो जले यथा नवनलिनं समुद्भवत् ॥642॥ यत्तन्मया प्रार्थितं दीर्घरात्रं सत्त्वानामर्थं परिमार्गतो हि । अवाप्य बोधिमजरामरं पदं मोचयेयं जगत् तस्य क्षण उपस्थितः ॥643॥ भौमा अन्तरिक्षाश्च तथैव (लोक-) पालाः शक्रश्च देवाधिपतिः सयक्षः। यामाश्च देवास् तुषिताश्च निर्मिताः परनिर्मिता उद्युक्तास्तथैव देवाः ॥644॥ वरुणो मनस्व्यपि नागराजः अनवतप्तश्च तथैव सागरः । अभियुक्ता ते चाप्यभिपूजनार्थं नैष्क्रम्यकाले नरपुङ्गवस्य ॥645॥ ये चापि रूपावचरेषु देवाः प्रशान्तचारिणः सदा ध्यानगोचराः । अभियुक्तास्ते चाप्यभिपूजनार्थं त्रैलोक्यपूज्यस्य नरोत्तमस्य ॥646॥ दशदिग्भ्य आगताः शुद्धसत्त्वाः सहायकाः पूर्वचर्यां चरतः । द्रक्ष्यामो निष्क्रमणं जनस्य पूजां करिष्यामि (=करिष्यामः) तथानुरूपाम् ॥647॥ स चापि गुह्याधिपतिर्महात्मा प्रदीप्तवज्रो नभसि प्रतिष्ठितः । संनद्धगात्रो बलवीर्यविक्रमः करेण गृहीत्वा ज्वलन्तं वज्रम् ॥648॥ चन्द्रश्च सूर्यश्चोभौ देवपुत्रो प्रदक्षिणं वामकं सुप्रतिष्ठितौ । दशाङ्गुलिभिर् अञ्जलिं गृहीत्वा (=बद्ध्वा) नैष्क्रम्यशब्दमनुविचारयन्ति ॥649॥ पुष्यश्च नक्षत्रं सपारिषद्यः औदारिकं निर्मायात्मभावम् । स्थित्वाग्रतस्तस्य नरोत्तमस्य मनोज्ञघोषाभिरुतं प्रामुञ्चत् ॥650॥ सर्वाण्यद्य सिद्धानि शुभानि तुभ्यं मङ्गलानि पुष्यश्च युक्तः (अथवा पुष्येण च युक्तः) समयश्च गन्तुम् । अहमपि यास्यामि त्वयैव सार्धम् अनन्तरायो भव रागसूदन ॥651॥ संचोदकश्चाचूचुदद् देवपुत्रः, उत्तिष्ठ शीघ्रं बलवीर्योद्गतः दुःखैहतांस्तारय सर्वसत्त्वान् नैष्क्रम्यकालः समुपस्थितस्ते ॥652॥ समागता देवाः सहस्रकोटयः प्रवर्षन्तः कुसुमानि मनोज्ञानि । स चापि पर्यङ्कवरे निषण्णो देवैर्वृतो भ्राजते दीप्ततेजाः ॥653॥ नगरे स्त्रियो दारकाश्च पुरुषा याश्चाभवन् दारिकाः सर्वे

ते शयिताः क्लान्तमनस ईर्यापथेभ्यच्युताः । हस्तिनो ऽश्वा गावश्च सारिकाः शुकाः क्रौञ्चा मयूरास्तथा सर्वे ते शयिताः क्लान्तमनसः पश्यन्ति रूपं न ते ॥654॥ ये च ते वज्रदृढ़तोमरधराः शाक्यैः सुताः स्थापिताः, हस्त्यश्वरथेषु तोरणवरे ते चाप्यवस्वापिताः । राजा राजकुमाराः पथिवजनः सर्वे प्रसुप्ता अभवन्, अपि च नारीगण नग्नविवसनाः सुप्ता न ते ऽभूत्सत ॥655॥ स च ब्रह्मरुतो मनोज्ञवचनः कलविङ्कघोषस्वरो रात्रौ निर्गतोऽर्धरात्रसमये तं छन्दकमब्रवीत् । साधो छन्दक, देहि कण्ठकं मम स्वलंकृतं शोभनं मा विघ्नं कुरु मे देहि चपलं यदि मे प्रियं मन्यसे ॥656॥ श्रुत्वा छन्दको ऽश्रुपूर्णनयनस्तं स्वामिनमब्रवीत् क्व त्वं यास्यसि सत्त्वसारथिवर किमश्वकार्यं च ते । कालज्ञः समयज्ञो धर्मचरणः कालो न गन्तुं क्वचिद् द्वाराणि ते पिहितानि दृढार्गलाकृतानि को दास्यति तानि तव ॥657॥ शक्रेण मनसोऽथ चेतनावशात्तानि द्वाराणि मुक्तानि कृतानि, दृष्ट्वा छन्दको हृष्टः पुनर् दुःखी, अश्रूणि सोऽवर्तयत् । हा धिक् को मे सहायः किं नु धावामि कां वा दिशम् उग्रं तेजोधरेण वाक्यं भणितं शक्यं न संधारयितुम् (=सोढुम्) ॥658॥ सा सेना चतुरङ्गिणी बलवती किं स्वित् करोतीह हा राजा राजकुमाराः पथिवजनो नेदं हि बुध्यन्ति ते । स्त्रीसंघः शयितस्तथा यशोवती (=यशोधरा) अवस्वापिता दैवतैः, हा धिग् गच्छति सिध्यत्यस्य प्रणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः ॥659॥ देवाः कोटिसहस्राणि हृष्टमनसस्तं छन्दकमब्रुवन्, साधो छन्दक देहि कण्ठकवरं मा खेदयेर्नायकम् । भेरीशङ्खमृदङ्गतूर्यनयुतानि देवासुरैर्वादितानि नैवेदं प्रतिबुध्यते पुरवरम् अवस्वापितं दैवतैः ॥660॥ पश्य च्छन्दक, अन्तरिक्षं विमलं दिव्या प्रभा शोभते पश्य त्वं बहुबोधिसत्त्वनयुतान् ये पूजनायागताः । शक्रं पश्य शचीपतिं बलवृतं द्वारस्थितं भ्राजते देवांश्चाप्यसुरांश्च किंनरगुणान् ये पूजनार्थमागताः ॥661॥ श्रुत्वा छन्दक देवतानां वचनं तं छन्दकमलापीत् एषः आः गच्छति सत्त्वसारथिवरः त्वं तावद् हेषिष्यसे । स तं वार्षिकवर्णं काञ्चनखुरं स्वलंकृतं कृत्वा, उपनयति गुणसागरस्य वाहनं रुदन् दुर्मनाः ॥662॥ एष ते वरलक्षण, हितकर, अश्वः सुजातः शुभो गच्छ सिद्धयतु तवैष प्रणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः । ये ते विघ्नकरा व्रजन्तु प्रशमम् आशा-व्रतं सिध्यतां भव सर्वजगतः सौख्यस्य दाता स्वर्गस्य शान्त्यास्तथा ॥663॥ सर्वा कम्पिता षड्विकारं धरणी शयनाद् यथा स उत्थितः आरूढः शशिपूर्णमण्डलनिभं तमश्वराजमुत्तमम् । पालाः पाणीन् विशुद्धपद्मविमलान् न्यास्थन्नश्वोत्तमे शक्रो ब्रह्मा चोभौ तस्य पुरतो दर्शयन्ति मार्गो ह्ययम् (इति) ॥664॥ आभा तन

प्रमुक्ताऽच्छविमलाऽवभासिता मेदिनी सर्वे शान्ता अपायाः सत्त्वाः सुखिताः क्लेशैर्नाबाधि तदा । पुष्पाण्यवर्षिषुस् तूर्यकोटयोऽराणिषुर् देवा सुरास्तुष्टुवुः सर्वे कृत्वा प्रदक्षिणां पुरवरस्य गच्छन्ति हर्षान्विताः ॥665॥

पुरवरोत्तमस्य देवता दीनमना उपगम्य महापुरुषे । पुरतः स्थिता करुणदीनमना गिरं समालपति पद्ममुखम् ॥666॥ तमसाकुलं भुवीदं सर्वपुरं नगरं न शोभते त्वया रहितम् । न ममात्र काचिद् रतिः प्रीतिकरी त्यक्तं त्वया च यदिदं भवनम् ॥667॥ न पुनः श्रोष्ये रुतं पक्षिगणस्य, अन्तःपुरस्य मधुरं वेणुरवम् । माङ्गल्यशब्दं तथा गीतरवं प्रतिबोधनं तवानन्तयशाः ॥668॥ पश्येयं न भूयः सुरसिद्धगणान् कुर्वतस्तव पूजां रात्रिंदिवम् । घ्रास्यामि गन्धं न च दिव्यं पुनस् त्वयि निर्गते निहतक्लेशगणे ॥669॥ निर्भुक्तमाल्यमिव पर्युषितं त्यक्तं त्वयाद्य भवनं हि तथा । नटरङ्गकल्पं प्रतिभाति मे त्वयि निर्गते न भूयस्तेजःश्रीः ॥670॥ ओजो बलं हरसि सर्वपुरस्य न शोभतेऽटवीतुल्यमिदम् । वितथम् ऋषीणां वचनमद्य भूतं यैर्व्याकृतो भवेश्चक्रबलः ॥671॥ अबला बलं भुवीदं शाक्यबलम् उच्छिन्नो वंश इह राजकुलस्य । आशा प्रनष्टेह शाक्यगणस्य त्वयि निर्गते महति पुण्यद्रुमे ॥672॥ अहमेव तव गतिं गच्छामि यथा त्वं प्रयास्यमल विमल । अपिच कृपां—संजन्य व्यवलोकयस्व भवनं त्वमिदम् ॥673॥ व्यवलोक्य चैव भवनं मतिमान् मधुरस्वरो गिरमुदीरितवान् । नाहं प्रवेक्ष्यामि कपिलस्य पुरम् अप्राप्यजातिमरणान्तकरम् ॥674॥ स्थानासनं शयनचङ्क्रमणं न करिष्येऽहं कपिलवास्तुमुखम् । यावन्न लब्धा वरा बोधिर्मयाऽजरामरं पदवरं ह्यमृतम् ॥675॥

यदासौ जगत्प्रधानो निष्क्रान्तो बोधिसत्त्वम्, तस्य नभसि व्रजतोऽस्ताविषुरप्सरसः । एष महादक्षिणीय एष महापुण्यक्षेत्रं पुण्यार्थिकानां क्षेत्रम्, अमृतफलस्य दाता ॥676॥ अनेन बहुकल्पकोटीर् दानदमसंयमेन समुदानीताऽनेन (यथारुतं तु अस्य) बोधिः सत्वेषु करुणायमानेन । एष परिशुद्धशीलः सुव्रतोऽखण्डचारी न च कामान् नैव भोगान् प्रार्थयन् (अस्ति) शीलरक्षी ॥677॥ एष सदा क्षान्तिवादी छिद्यमानोऽङ्गाङ्गे न क्रोधो नैव रोषः सत्त्वपरित्राणार्थम् । एष सदा वीर्यवान् अविखिन्नः कल्पकोटिः समुदानीताऽनेन (यथारुतं तु अस्य) बोधिर् इष्टाश्च यज्ञकोटयः ॥678॥ एष सदा ध्यायी शान्त-प्रशान्तचित्तो दग्ध्वा सर्वक्लेशान् मोचयिष्ये सत्त्वकोटीः । एषोऽसंगप्रज्ञकल्पैर्विकल्पमुक्तः कल्पैर् विमुक्तचित्तो जिनो भविष्यति स्वयंभूः ॥679॥ एष सदा मैत्रीचित्तः करुणायाः पारं प्राप्तो मुदितोपेक्षाध्यायी ब्राह्मस्य पथो

विधिज्ञः । एषोऽतिदेवदेवो देवैः पूजनीयः शुभविमलशुद्धचित्तो गुणनियुतपारप्राप्तः ॥680॥ शरणं भयार्दितानां दीपोऽचक्षुषां लयनमुपद्रुतानां वैद्यश्चिरातुराणाम् । राजेव धर्मराज इन्द्रः सहस्रनेत्रो ब्रह्मा स्वयंभूभूत प्रस्रब्दकायचित्तः ॥681॥ धीरः प्रभूतप्रज्ञो वीरो विविक्तचित्तः शूरक्लेशघाती, अजितंजयो जितारिः । सिंहो भयप्रहीनो नागः सुदान्तचित्त ऋषभो गणप्रधानः क्षान्तः प्रहीनकोपः ॥682॥ चन्द्रः प्रभासमानः, सूर्योऽवभासकारी, उल्का प्रद्योतकरी, तारा तमोविमुक्ता । पद्मनुपलिप्तं, पुष्पं सुशीलपत्रं, मेरुरकम्प्यः शास्त्रा, पृथिवी यथोपजीव्यः, रत्नाकरोऽक्षोभ्यः ॥683॥ अनेन जितः क्लेशमारोऽनेन जितः स्कन्धमारोऽनेन् जितो मृत्युमारो निहतोऽनेन (यथारुतं तु अस्य) देवमारः । एष महासर्थवाहः कुपथप्रस्थितानाम् अष्टांङ्गमार्गं श्रेष्ठं देशयिष्यति न चिरेण ॥684॥ जरामरणक्लेशघाती तमस्तिमिरविप्रमुक्तो भुवि दिवि च संप्रघुष्टो जिनो भविष्यति स्वयंभूः । स्तुतेन स्तुतोऽप्रमेयो वरपुरुषरूपधारो यत्पुण्यं त्वां स्तुत्वा (तेन) भवामो यथा वादिसिंहः ॥685॥

निष्क्रान्तः शूरो यदा विद्वान् बोधिसत्त्व नगरं विबुद्धं कपिलपुरं समग्रम् । मन्यन्ते सर्वे शयनगतं कुमारम् अन्योन्यं हृष्टाः प्रमुदिता आरभन्ते (=आलिङ्गन्ति) ॥686॥ गोपा विबुद्धा तथापि स्त्यगारं शयनं निरैक्षिष्ट न चादर्शन् बोधिसत्त्वम् । उत्क्रोशो मुक्तो नरपतेरगारे हा वञ्चिताः स्मः क्व गतो बोधिसत्त्वः ॥687॥ राजा श्रुत्वा धरणीतले निरस्त उत्क्रोशं कृत्वाहो ममैकपुत्र । स स्तेमितो हि जलघटसंप्रसिक्त आश्वसन् बहुशतैः शाक्यानाम् ॥688॥ गोपा शय्यातो धरणीतले निपत्य केशांल्लुनाति, अवाशारीद् भूषणानि । अहो सुभाषितं मम पुरा नायकेन सर्वप्रियैर् न चिराद् विप्रयोगः ॥689॥ रूपसुरूपविमलविचित्रिताङ्ग अच्छविशुद्धजगतः प्रिय मनोगत । धन्य प्रशस्त दिवि भुवि पूजनीय क्व त्वं गतोऽसि मम शय्यां त्यक्त्वा ॥690॥ न पास्ये पानं न च मधु न प्रमादं भूमौ शयिष्ये जटामुकुटं धारयिष्ये । स्नानं हित्वा व्रततणसी आचरिष्यामि यावन्न द्रक्ष्यामि गुणधरं बोधिसत्त्वम् ॥691॥ उद्यानानि सर्वाण्यफलान्यपत्रपुष्पाणि हारा विशुद्धास्तमोरजः पंशुतुल्याः । वेश्म नाशोभि पुरम् अटवि-प्रकाशम् ॥692॥ हा गीतवाद्य सुमनोहरमञ्जुघोषहास्त्र्यगार विगलित भूषणैः । हा हेमजालैः परिस्फुटान्तरीक्ष न भूयो द्रक्ष्यामि गुणधरविप्रहीना ॥693॥ मातृष्वसा च परमसुकृच्छ्रप्राप्ता, आश्वासयति मा रुदिहि शाक्यकन्ये । पूर्वं चोक्तं नरवरपुङ्गवेन कर्तास्मि लोकस्य जरामरणात् प्रमोक्षम् ॥694॥ स च महर्षिः कुशलसहस्र-

चरितः (=चरितकुशलसहस्रः) षड्योजनानि प्रतिगतो रात्रिशेषम्। छन्द (क) स्य ददाति हयवरं भूषणानि छन्द (क) गृहीत्वा कपिलपुरं प्रयाहि ॥695॥ मातापितॄन् (=मातापितरौ) मम वचनेन पृच्छेः, गतः कुमारो न पुनः शोचत। बुद्ध्वा बोधिं पुनरिहमागमिष्यामि धर्मं श्रुत्वा भविष्यथ शान्तचित्ताः ॥696॥ छन्द (को) रुदन् प्रत्यभाणीन्नायकं, न मेऽस्ति शक्तिर् बलं पराक्रमो वा। हन्युर्मां नरवरज्ञातिसंघाश् छन्द (क) क्व नीतो गुणधरो बोधिसत्त्वः ॥697॥ मा बिभेहि छन्दक प्रत्यभाणीद् बोधिसत्त्वस् तुष्टा भूत्वापि मम ज्ञातिसंघाः। शास्तृसंज्ञां त्वयि सदा भावयिष्यन्ति प्रेम्णा मयि (इव) त्वय्यपि वर्त्स्यन्ति ॥698॥ छन्द (को) गृहीत्वा हयवरं भूषणानि उद्यान प्राप्तो नरवरपुङ्गवस्य। उद्यानपालः प्रमुदितो वेगजातः, आनन्दशब्दं प्रत्यभाणीच् छाक्यानाम् ॥699॥ अयं कुमारो हयवरश्छन्दकश्च उद्यानं प्राप्तो न च पुनः शोचितव्यः। राजा श्रुत्वा परिवृतः शाक्यैर् उद्यानं प्राप्तः प्रमुदितो वेगजातः ॥700॥ गोपा विदित्वा दृढमतिं बोधिसत्त्वं न चाप्यहृषन्न च गिरं श्रद्दधाति (स्म)। अस्थानमेतद् विनिगतो यत्कुमारोऽप्राप्य बोधिं पुनरिहागच्छेत् ॥701॥ दृष्ट्वा तु राजा हयवरं छन्दकं च, उत्क्रोशं कृत्वा धरणीतले निरस्तः। हा मम पुत्र गीतवाद्यसुकुशल क्व त्वं गतोऽसि विहाय सर्वराज्यम् ॥702॥ साधु भण वचनं ममेह छन्द (क), किमिव प्रयोगः क्व च गतो बोधिसत्त्वः। केनाथ नीतो विवृतं केन द्वारं पूजा च तस्य कथं कृता देवसंघैः ॥703॥ छन्द (को) भणति शृणु पार्थिवेन्द्र रात्रौ प्रसुप्ते नगरे सबालवृद्धे। स मञ्जुघोषो ममाभाणीद् बोधिसत्त्वश्छन्द (क) देहि मम लघ्वश्वराजम् ॥704॥ सो (ऽहं) बोधयामि नरगणं नारीसंघं सुप्ताः प्रसुप्ता न च गिरं ते शृण्वन्ति। स रुदन्नदामहमश्वराजं हन्त व्रज हितकर येन (यत्र) कामः ॥705॥ शक्रेण द्वाराणि विवृतानि यन्त्रयुक्तानि पालाश्चत्वारो हयचरणेषुश्लिष्टाः आरूढे शूरे प्रचलितस् त्रिसहस्रः (=लोकधातुः) मार्गो नभसि सुविपुलो येन क्रान्तः ॥706॥ आभा प्रमुक्ता विहततमोऽन्धकारा, पुष्पाण्य् अपप्तन् तूर्यशतान्य् अरणिषुः। देवा अस्ताविषुस्तथापि हि चाप्सरसो नभसा प्रयातः परिवृतो देवसंघैः ॥707॥ छन्द (को) गृहीत्वा हयवरं भूषणानि, अन्तःपुरं स उपगतो रुदन्। दृष्ट्वा तु गोपा हयवरं छन्दकं च संमूर्छ्य धरणीतले निरस्ता ॥708॥ उद्युक्ताः सर्वे सुविपुलनारिसंघाः, वारि गृहीत्वासिस्नपांङ्म्लाक्यकन्याम्। मा हैव कालं कार्षीत् (यथारुतं तु करिष्यति) शोकप्राप्ता द्वाभ्यां प्रियाभ्यां बहु (=चिरं) भवेद् विप्रयोगः ॥709॥ स्थाम जनयित्वा सुदुःखिता शाक्यकन्या कण्ठेऽवलम्ब्य हयवरस्या-

श्वराजस्य। अनुस्मयं पूर्वां कामक्रीड़ां नानाप्रलापान् प्रलपति शोकप्राप्ता ॥710॥

हा मम प्रीतिजनन हा मम नरपुङ्गव विमलचन्द्रमुख। हा मम सुरूप-रूप हा मम वरलक्षण विमलतेजोधर ॥711॥ हा ममानिन्दिताङ्ग, सुजात, अनुपूर्वोद्गत, असम। हा मम गुणाग्रधारिन्, नरमरुद्भिः पूजित, परमकारुणिक ॥712॥ हा मम बलोपेत, नारायणस्थामवन्, निहतशत्रुगण। हा मम सुमुञ्जुघोषा कलविङ्करुतस्वर मधुरब्रह्मरुत ॥713॥ हा ममानन्त-कीर्ते, शतपुण्यसमुद्गत विमलपुण्यधर हा ममनन्तवर्ण, गुणगणप्रतिमण्डित, ऋषिगणप्रीतिकर ॥714॥ हा मम सुजातजात लम्बिनीवन उत्तमे भ्रमर-गीतरुते। हा मम विघुष्टशब्द, दिवि भुव्य अभिपूजित–विपुलज्ञानद्रुम ॥715॥ हा मम रसरसाग्र बिम्बोष्ठ कमललोचन कनकनिभ। हा मा सुशुद्धदन्त गोक्षीरतुषारसंनिभसहितदन्त ॥716॥ हा मम सुनास, सुभ्रूर भ्रूमुखान्तरे-स्थित–विमलोर्ण। हा मम सुवृत्तस्कन्ध, चापोदर, एणेयजङ्घ, वृत्तकटे ॥717॥ हा मम गजहस्तोरो विशुद्धशोभनकरचरण ताम्रनख। इति तस्य भूषणानि पुण्यैः कृतानि पार्थिवस्य प्रीतिकराणि ॥718॥ हा मम गीतवाद्य वरपुष्पविलेपन शुभर्तु–प्रवर। हा मम पुष्पगन्ध, अन्तःपुरस्य गीत-वादितैर्हर्षकर ॥719॥ हा कण्ठक सुजात मम भर्तुः सहायकस् त्वया क्व नीतः। हा छन्दक निष्करुण नबोर्धी गच्छति नरवरिष्ठे ॥720॥ गच्छ-त्ययं हितकर एकां गिरं तस्मिन्नन्तरे नाभाषिष्ठाः कस्मात्। इतोऽद्य पुरवराद् गच्छति नरदम्यसारथिः कारुणिकः ॥721॥ कथं वा गतो हितकरः केन च निष्क्रामित इतः स राज-कुलात्। कतमां दिशमनुगतो धन्या वनगुल्म-देवता या अस्य सखी ॥722॥ अतिदुःखं मम छन्द (क) निधिं दर्शयित्वा नेत्रे उद्धृते चक्षुर्दे। सर्वेजिनैश्च छन्द (क) मातापितरौ नित्यं वर्णितौ पूजनियौ ॥723॥ तानपि हित्वा निर्गतः किं पुनरिमां स्त्रियं कामरतिम्। हा धिक् प्रियैर्वियोगम्, नटरंगस्वभावसंनिभो अनित्यः (संयोगः) ॥724॥ संज्ञाग्रहेण बाला दृष्टिविपर्यासेन निश्रिता जन्मच्युतिम्। प्रागेव तेन भणितं नास्ति जरामरणसंस्कृते कश्चित् सखा ॥725॥ परिपूर्यताम् अस्याशा स्पृशतु वरबोधिमुत्तमां द्रुमवरिष्ठे। बुद्ध्वा बोधिं विरजसं पुनरप्योत्विह पुरवेऽस्मिन् ॥726॥

छन्दकः परमदीनमानसो गोपिकाया वचनं श्रुत्वा साश्रुकण्ठं गिरं संप्रभाषते साधु गोपे निश्रृणु मे वचः ॥727॥ रात्रौ रहसि यामे मध्यमे सर्वनारीगणे संप्रसुप्ते। स तदा च शतपुण्योद्गत आलपति मम देहि कण्ठकम्

।।728।। तन्निशम्य वचनं तदन्तरं त्वां प्रेक्षे शयने प्रसुप्ताम् । उच्चघोष-महं तत्रामुञ्चम् उत्तिष्ठ गोपेऽयं याति ते प्रियः ।।729।। देवता वचनं तन्न्यरुधन्, एकापि भर्त्री नापि काचिद् बुध्यते । रुदन् समलंकृत्य, अश्व-राजमदां (यथारुतं तु ददामि) नरोत्तमाय ।।73 ।। कण्ठको हेषते उग्रंतेजस्वी क्रोशमात्रं स्वरस्तस्य गच्छति। न च कश्चिच् छृणुते पुरोत्तमे देवताभि-रुस्वापनं कृतम् ।।731।। स्वर्णरूप्यमणिगुण्ठिता मही कण्ठकस्य चरणैः पराहता । साऽरणीद् मधुरभीष्मशोभनं न च केचिच्छृण्वन्ति मानुषाः ।।732।। पुष्यो युक्तोऽभूत् तस्मिन्नन्तरे चन्द्र-ज्योतींषि नभसि प्रतिष्ठि-तानि । देवकोटयो गगने कृताञ्जलयोऽवनमन्तः शिरांस्यभिवन्दिषत ।।733।। यक्षराक्षसगणैरुपस्थिता लोकपालाश् चत्वारो महर्द्धिकाः । कण्ठकस्य चरणान् करे न्यास्थन् पद्मकेसरविशुद्धनिर्मले ।।734।। स च पुण्यशततेजउद्गत आरु-क्षत् कुमुदवार्षिकोपमम् । षड्विकारं धरणी प्रकम्पिता बुद्धक्षेत्राणि स्फुटा-न्याभया निर्मलया ।।735।। शक्रो देव (ता) गुरुः शचीपतिः स्वयं द्वारं व्यवारीत् । देवकोटिनयुतैः पुरस्कृतः सोऽव्राजीद् अमरनागपूजितः ।।736।। संज्ञामात्र इह जातः कण्ठको लोकनाथं वहति नभोऽन्तरे । देव-दानवगणाः सेन्द्रा ये वहन्ति सुगतं गच्छन्तम् (यथारुतं तु षष्ठी-सुगतस्य गच्छतः इति) ।।737।। अप्सरसः कुशला गीतवादिते बोधिसत्त्वगुणान् भाषमाणाः । कण्ठकस्य बलं ता ददत्योऽमुञ्चन् घोषं मधुरं मनोरमम् ।।738।। कण्ठक वह लोकनायकं शीघ्रशीघ्रं मा जनय खेदम् । नास्ति ते भयम् अपायदुर्गतें (यथारुतं तु अपाय दुर्गतिम्) लोकनाथम् अभिराध्य ।।739।। एकैकोऽभिनन्दति सुरो वाहनमस्म्यहं लोकनायकस्य । न च कश्चिदपि देशो विद्यते देवकोटिचरणैर्न मृदितः ।।740।। पश्य कण्ठक नभोऽन्तर इमं मार्गं संस्थितं विचित्रशोभनम् । रत्नवेदिकाभिर्विचित्राभिर् मण्डितं दिव्य-सारवर-गन्धधूपितम् ।।741।। अनेन कण्ठक शुभेन कर्मणा त्रयस्त्रिंश–भवने सुनि-र्मितः । अप्सरोभिः परिवृतः पुरस्कृतो दिव्यकामरतिभी रंस्यसे ।।742।। साध्वि गोपे मा खलु भूयो रुदिहि तुष्टा भव परमं प्रहर्षिता । द्रक्ष्यसि न चिरान्नरोत्तमं बोधिप्राप्तममरैः पुरस्कृतम् ।।743।। ये नराः सुकृतकर्म-कारकस् ते न गोपे सदा रोदितव्याः । स च पुण्यशततेजउद्गतो हर्षितवयो न स रोदितव्यः ।।744।। सप्तरात्रं भणता गोपिके स व्यूहो न शक्यः क्षपयितुम् । यो व्यूहोऽभूत् तत्र पार्थिवे निष्क्रामति नरदेवपूजिते ।।745।। लाभास्तुभ्यं परमा अचिन्त्याः, यस्ते (= त्वया) उपस्थितः (=सेवितः) जगतो हितकरः । ममापि संज्ञा स्वयमेव वर्तते त्वं हि भविष्यसि यथा नरोत्तमः ।।इति।।746।।

466

591

॥१६॥

॥ बिम्बिसारोपसंक्रमणपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 237 (पंक्ति 19)—243 (पंक्ति 14)
भोटानुवाद 174ख (पंक्ति 5)—178ख (पंक्ति 7)

9169

॥ १६ ॥

॥ बिम्बिसारोपसंक्रमणपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार छंदक ने बोधिसत्त्व के संकल्प से राजा शुद्धोदन के, शाक्यपुत्री गोपा के समूचे अन्तःपुर (की स्त्रियों) के और सम्पूर्ण शाक्यगण के शोक को दूर करने के लिए बात कही।

2. (–238–) हे भिक्षुओ, यों बोधिसत्त्व = 175क = बहेलिए का रूप धरे हुए देवपुत्र को बनारसी कपड़े देकर, उसके पास से काषाय वस्त्र लेकर, दुनिया के साथ अनुकूलता से बरतने के लिए, प्राणियों पर करुणा करने के लिए, प्राणियों को (धर्म की राह पर) पक्का करने के लिए, अपने-आप प्रव्रज्या ले ली।

3. इसके अनन्तर बोधिसत्त्व जहाँ शाकी ब्राह्मणी का आश्रम था, वहाँ पहुँचे। उसने बोधिसत्त्व को निवास और भोजन के लिए निमंत्रित किया।

4. तदनन्तर बोधिसत्त्व पद्मा ब्राह्मणी के आश्रम पर गए। उसके द्वारा भी बोधिसत्त्व निवास और भोजन के लिए निमंत्रित हुए।

5. उसके अनन्तर (वे) ब्रह्मर्षि रैवत के आश्रम पर गए। उन्होंने भी बोधिसत्त्व को उसी तरह निमंत्रित किया। उसी तरह दण्डिक के दत्रिम (दान में प्राप्त) पुत्र राजक ने भी बोधिसत्त्व को निमंत्रित किया।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार क्रम से बोधिसत्त्व महानगरी वैशाली पहुँचे।

6. उस समय कालाप (कलापगोत्रज ऋषि) अराड वैशाली के पास बासा बना तीन सौ शिष्यों के महाश्रावकसंघ के साथ निवास कर रहे थे। वे शिष्यों को आकिंचन्यायतन (नामक ध्यान) के सहव्रत (=अनुकूलव्रत) का धर्मोपदेश करते थे। दूर से ही बोधिसत्त्व को आते हुए देख, अचरज में भर कर, उन्होंने शिष्यों को सम्बोधन कर कहा। = 175ख = अरे, देखो-देखो, इसके रूप को। वे बोले, हाँ-हाँ, हम इन्हें देख रहे हैं, ये अत्यन्त विस्मय उपजाने वाले हैं।

7. हे भिक्षुओं, उसके बाद मैं जहाँ अराड कालाप थे, वहाँ जाकर, अराड कालाप से बोला। अये, मैं क्या अराड कालाप के पास ब्रह्मचर्य का आचरण करूँ। वे बोले। हे गौतम, जिसमें श्रद्धावान् कुलपुत्र स्वल्प क्लेश से पूर्णज्ञान पा लेता है, उस प्रकार के धर्म के अनुशासन में (ब्रह्मचर्य का) आचरण करो।

8. (–239–) हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई। मुझमें लगन है, उद्योग है, स्मृति है, समाधि (एकाग्रचित्तता) है, प्रज्ञा है। क्यों न मैं अकेला, सावधान, आतापी (=जोश में भरा हुआ), सबसे अलग हो, उस धर्म लाभ के लिए–साक्षात्कार के लिए विहरण करूँ।

9. हे भिक्षुओं, उसके बाद सावधान, जोश में भर, सबसे अलग हो विहरण करते हुए मैंने स्वल्पक्लेश से ही उस धर्म का ज्ञान कर लिया—साक्षात्कार कर लिया।

10. हे भिक्षुओं, उसके बाद मैं जहाँ अराड कालाप थे, वहाँ जाकर बोला। हे अराड, तुमने इतने ही धर्म का ज्ञान किया है—साक्षात्कार किया है। वे बोले। हे गौतम, इतना ही। मैंने उनसे कहा—अये, मैंने भी इस धर्म का ज्ञान कर लिया है—साक्षात्कार कर लिया है। वे बोले—हे गौतम, जो धर्म मैं जानता हूँ, आप भी उसे =176क= जानते हैं, जो आप जानते हैं, मैं भी उसे जानता हूँ, इसलिए हम दोनों ही इस शिष्यगण को शिक्षा दें।

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार अराड कालाप ने उत्तम पूजा से मेरी पूजा की तथा अन्तेवासियों (=शिष्यों) के बीच मुझे समानार्थता के साथ—अर्थात् आहारव्यवहार आदि में अपनी बराबरी के साथ बैठाया।

12. हे भिक्षुओं, मेरे मन में बात आई कि यह अराड का धर्म संसार से पार करने वाला नहीं है, सम्यक्-प्रकार से दुःख-क्षय के निमित्त[1] उसके करने वाले का[1] संसार से उद्धार नहीं होता। क्यों न मैं इससे ऊपर की खोज करता हुआ विचरूँ।

13. हे भिक्षुओं, इसके बाद वैशाली में जब तब मन रमा तब तक विहरण कर मगध-देश चला गया। मगध देश में (चरण–) चर्या करता हुआ अर्थात् पैदल विचरता हुआ, जहाँ मागध लोगों का राजगृह नगर था, तथा उस नगर से सटा जहाँ पाण्डव पर्वतराज था, वहाँ पर पहुँचा। वहाँ मैं पाण्डव पर्वतराज के पास, अकेला, बिना किसी दूसरे साथी–सहायक के, केवल अनेक लाखों खर्ब-खर्ब कोटि देवताओं के द्वारा सुरक्षित हो विहरण करने लगा।

14. (–240–) तदनन्तर मैं सबेरे-सबेरे (अन्तर्वासक) पहने, चीवर (ओढ़), (भिक्षा–) पात्र ले तपोद (नामक) द्वार से महानगर राजगृह में पिण्ड (=भिक्षान्न) के लिए, प्रसन्न करने वाले, आगे की और पैर रखने के साथ,

1....1. मूल, तत्कतरस्य। पठनीय, तत्करस्य। तुलनीय भोट, दे ब्येद् प।

पीछे की ओर से पैर उठाने के साथ, सामने-तथा-इधर-उधर देखने के साथ, (शरीर के) सिकोड़ने एवं फैलाने के साथ, प्रसन्न करने वाले, संघाटी (दोहर) के, पट (वस्त्र) के, (भिक्षा–) पात्र के चीवर (–मुनिवस्त्र) के धारण करने के साथ, अचंचल की इन्द्रियों के साथ, = 176ख = बाहर की ओर से विमुख मन के साथ, ऋद्धि के द्वारा बने जैसे की भाँति तेल भरे बर्तन ले जाने वाले के समान, केवल युग (बैलों के कंधों पर रखे जाने वाले जुए नामक काष्ठ) की जितनी दूरी तक देखता हुआ मैं प्रविष्ट हुआ। वहाँ मुझे देखकर राजगृह के मनुष्य अचरज में भर गए कि ये कहीं ब्रह्मा न हों, कहीं देवताओं के अधिपति इन्द्र न हों, कहीं वैश्रवण (कुबेर) न हों, कहीं कोई गिरिदेवता न हों।

15. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छन्द पुष्पिताग्रा)

अथ विमलधरो ह्यनन्ततेजो
स्वयमिह प्रव्रजियान बोधिसत्त्वः।
शान्तमनु दान्त ईर्यवन्तो
विहरति पाण्डवशैलराजपार्श्वे ॥747॥

इसके बाद अनन्त-निर्मल-तेज के धारण करने वाले बोधिसत्त्व यहाँ स्वयं प्रव्रजित होकर, मन में शान्त, (शरीर से) विनीत, ईर्यापथ (=चाल-ढाल) से युक्त, पाण्डव पर्वतराज के पास विहरण करने लगे।

रजनि विगतु ज्ञात्व बोधिसत्त्वः
परमसुदर्शनियं निवासयित्वा।
पात्र प्रतिगृहीय नीचमानो[2]
प्रविशति राजगृहं स पिण्डपात्रं ॥748॥

रात बीती जान कर, अत्यन्त सुन्दर ढंग से पहन-ओढ़ कर, पात्र लेकर, नम्र मन के साथ, वे बोधिसत्त्व पिण्डपात (= भिक्षा) के लिए राजगृह में प्रविष्ट हुए।

कनकमिव सुधातुजातरूपं
कवचितु लक्षणत्रिंशता द्विभिश्च।
नरगण तथ नारि प्रेक्षमाणो
न च भवते क्वचि तृप्ति दर्शनेन ॥749॥

---

2. नीचमानो = नीचमनाः। तुलनीय भोट, द्मह् बहि यिद् क्यिस् (=नम्र-मनसा)।

शोधित सुन्दर वर्ण वाले कनकधातु के समान गोरे, बत्तीस लक्षणों से नधे हुए (शरीर वाले उन बोधिसत्त्व) को, देख-देख पुरुषगण तथा स्त्रीगण किसी भी तरह दर्शन से तृप्त नहीं हो रहे थे ।

वीथि रचित रत्नवस्त्र धार्यँ
अवशिरिया जनु याति पृष्ठतोऽस्य ।
को नु अयु अदृष्टिपूर्वसत्त्वो
यस्य प्रभाय पुरं विभाति सर्वं ॥750॥

पहले ये नहीं दिखे हैं, ये हैं कौन, जिसकी प्रभा से यह नगर जगमगा उठा है ? धारण करने योग्य रत्नों और वस्त्रों से अलंकृत लोग श्रीहीन हो इनके पीछे मार्ग में चल रहे हैं ।

उपरि स्थिहिय नारिणां सहस्रा
तथरिव द्वारि तथैव वातयाने ।
रथ्य भरित गेहि शून्य कृत्वा
नखर प्रेक्षितु ते अनन्यकर्माः ॥751॥

हजारों स्त्रियाँ ऊपर ठहर रही थीं, उसो तरह द्वारों पर उसी तरह खिड़कियों में, उन्होंने और काम छोड़ कर, घरों को सूना कर, पुरुषोत्तम के देखने के लिए, गली-कूचों को भर दिया था ।

= 177क = न च भूयु क्रमविक्रयं करोन्ती
न च पुन सौण्ड पिबन्ति मद्यपानं ।
न च गृहि न च वीथिये रमन्ते
पुरुषवरस्य निरीक्षमाण रूपं ॥752॥

(लोग) न और खरीद रहे थे, न और बेच रहे थे, न शराबी ही शराब पी रहे थे । पुरुषोत्तम का रूप निहारने वालों के मन न घर में लग रहे थे न बाज़ार में ।

पुरुष त्वरितु गच्छि राजगेहं
अवचिषु राज स बिम्बसार तुष्टो ।
देव परम तुभ्य लब्ध लाभा
स्वयमिह ब्रह्म पुरे चराति पिण्डं ॥753॥

आदमी दौड़े-दौड़े राजभवन गए और खुश होकर राजा बिम्बसार से बोले—हे देव, तुम्हें उत्तम लाभ प्राप्त हुए हैं, इस नगर में साक्षात् ब्रह्मा भिक्षा के लिए विचर रहे हैं ।

(–241–) केचि अवचि शक्र देवराजो
अपरि भणन्ति सुयाम देवपुत्रः।
तथ अपि संतुषितं व निर्मितश्च
अपरि भणन्ति सुनिर्मितेषु देवः ।।754।।

कुछ (लोगों) ने कहा—(ये) देवराज इन्द्र हैं, औरों ने कहा—(ये) देवपुत्र सुयाम हैं, उसी तरह दूसरों ने कहा (ये) या तो संतुषित (देव) हैं, या निर्मित्त (देव हैं,) या ये सुनिर्मित देव हैं।

केचि पुन भणन्ति चन्द्रसूर्यौ
तथपि च राहु बलिश्च वेमचित्री।
केचि पुन भणन्ति वाचमेवं
अयु सो पाण्डवशैलराजवासी ।।755।।

कितने ही (लोगों) ने कहा (ये) चन्द्र या सूर्य हैं, उसी तरह (औरों ने कहा कि ये) राहु, बलि, या वेमचित्री (असुर पुत्र) हैं, कुछ (लोगों) ने यों बात कही कि ये वे हैं जो पाण्डव शैलराज पर ठहरे हुए हैं।

वचनमिमु शुणित्व पार्थिवोऽसौ
परमउदग्रमना स्थितो गवाक्षे।
प्रेक्षति वरसत्त्व बोधिसत्त्वं
ज्वलतु शिरीय सुधातुकाञ्चनं वा ।।756।।

वे पृथिवीपति यह बात सुन कर, मन में अत्यन्त उल्लसित होकर खिड़की के पास खड़े हो शोधित सुवर्ण-धातु की भाँति श्री से जाज्वल्यमान उत्तम चित्त के बोधिसत्त्व को देखने लगे।

पिण्ड ददिय राज बिम्ब (?म्बि) सारः
पुरुषमवोचन्निरीक्ष क्व प्रयाति।
दृष्ट्व गिरिवरं स गच्छमानो
अवचिषु देव गतः स शैलपार्श्वं ।।757।।

राजा बिम्बिसार ने भिक्षा देकर आदमी को (भेजा) और कहा देखना (ये) कहाँ जाते हैं? उत्तम पर्वत की ओर जाता (उन्हें) देख (उसने) कहा—हे देव, वे पर्वत के पास गए हैं।

रजनि विगतु ज्ञात्व बिम्बिसारो
महत जनैः परिवारितो नरेन्द्रः।
उपगमि पाण्डवशैलराजमूले
शिरिय ज्वलन्तु तमदृशाति शैलं ।।758।।

रजनी बीती जान कर, नरेन्द्र बिम्बसार बहुत लोगों से घिरे हुए पाण्डव शैलराज की तलहटी में पहुँचे और उस पर्वत को श्री से जाज्वल्यमान देखा।

= 177ख = [3] चरणि व्रजितु[3] यानि ओरुहित्वा
परमसुगौरव प्रेक्षि बोधिसत्त्वं।
मेरुरिव यथा ह्यकम्प्यमानो
न्यसिय तृणानि निषण्ण सोस्तिकेन ॥759॥

(वे) रथ से उतर कर पाँव-पाँव गए, (और) सुमेरु की भाँति अचंचल, तृण बिछाकर पलथी मार कर बैठे हुए बोधिसत्त्व को अत्यन्त उत्तम गौरव के साथ देखा।

शिरसि चरणि वन्दयित्व राजा
विविधकथां समुदाहरित्ववोचत्।
ददमि तव उपार्धु सर्वराज्याद्
रम इह कामगुणैरहं[4] म पिण्डं[4] ॥760॥

सिरसे चरणों की वन्दना कर, विविध प्रकार की बातचीत कर, राजा बोले—मैं तुम्हें (अपने) समूचे राज्य का आधा देता हूँ, यहाँ काम-गुणों का सुख भोगो, (पिण्डचर्या) मत (करो)।

प्रभणति गिरि बोधिसत्त्व श्लक्ष्णं
धरणिपते चिरमायु पालयस्व।
अहमपि प्रविजह्य राज्यमिष्टं
प्रव्रजितो निरपेक्षि शान्तिहेतोः ॥761॥

बोधिसत्त्व ने स्नेह—वचन से उत्तर दिया—हे पृथिवीपते, दीर्घ आयु तक (प्रजा—) पालन करो। मैं भी प्रिय राज्य को छोड़, ममता को त्याग, शान्ति के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ।

दहरु तरुण यौवनैरुपेतः
शुभतनुवर्णनिभोऽसि वेगप्राप्तः।
विपुलधन प्रतीच्छ नारिसंघं
इह मम राज्यि वसाहि भुङ्क्ष्व कामां ॥762॥

3....3. मूल, धरणि व्रजितु। पठनीय, चरणि व्रजितु। तुलनीय भोट, **कँङ् क्यिस् सोङ्**।

4....4. मूल, च पिण्डं। पठनीय, म पिण्डं (= मा पिण्डं **चर**)। तुलनीय भोट, **मह् फ्यन्** (मा भ्रम, मा चर पिण्डमिति शेषः)।

छोटे हो, कच्ची उमर के हो, जवानी से भरे हो, शरीर का रूप-रंग क्या ही सुन्दर है, फुर्तीले हो, बहुत सी धन-दौलत और महिलागण को स्वीकार करो, यहाँ मेरे राज्य में बस जाओ, और काम (—सुख) भोगो।

परमप्रमुदितोऽस्मि दर्शनात् ते
ऽस्चिषु स मागधराज बोधिसत्त्वं।
भवहि मम सहायु सर्वराज्यं
अहु तव दास्यि प्रभूत भुङ्क्ष्व कामां ॥763॥

मागधों के राजा बोधिसत्त्व से बोले—तुम्हारे दर्शन से परम प्रसन्न हुआ हूँ, सम्पूर्ण राज-काज में मेरे सहायक रहो, मैं तुम्हें बहुत-कुछ दूँगा, काम (—सुख) भोगो।

मा च पुन वने वसाहि शून्ये
म भुयु तृणेषु वसाहि भूमिवासं।
षमसुकुमार तुभ्य कायो
इह मम राज्यि वसाहि भुङ्क्ष्व कामां ॥764॥

सूने बन में अब और वास न करो, धरती पर बिछे तृणों पर अब और निवास न करो, तुम्हारा शरीर अत्यन्त सुकुमार है, यहाँ मेरे राज्य में बस जाओ, काम (—सुख) भोगो।

(—242—) प्रभणति गिरि बोधिसत्त्व श्लक्ष्णं
अकुटिल प्रेमणिया हिताऽनुकम्पी।
स्वस्ति धरणिपाल तेऽस्तु नित्यं
न च अहु काम गुणेभिरर्थिकोऽस्मि ॥765॥

बोधिसत्त्व ने सीधी-सादी, प्रेमभरी, हितकारिणी, दयापूर्ण, स्नेहमयी वाणी में उत्तर दिया—हे पृथिवीपालक, तुम्हारा नित्य कल्याण हो, मैं कामगुणों का प्रार्थी नहीं हूँ।

काम विषसमा अनन्तदोषा
= 178क = नरक प्रपातन प्रेततिर्यग्योनौ।
विदुभि विगर्हित चाप्यनार्य कामा
जहित मया यथ पक्वखेटपिण्डं ॥766॥

काम विष-जैसे हैं, अनन्त दोषों से भरे हैं, नरक प्रेत, तथा पशुपक्षियों की योनि में गिराने वाले हैं, विद्वानों द्वारा निन्दित हैं, और अनार्य हैं। पके हुए कफ के पिंड की भाँति मैंने कामों को थूक दिया है।

काम द्रुमफला यथा पतन्ती
यथमिव अभ्र वलाहका व्रजन्ती।
अध्रुव चपलगामि मारुतं वा
विकिरण सर्वशुभस्य वञ्चनीया ॥767॥

काम पेड़ में लगे फलों की भाँति पतनशील हैं, आकाश में मेघों जैसे चलनशील हैं, पवन के समान अस्थिर एवं चंचल गति के हैं, सब शुभों को बिखरा देने वाले तथा छलने वाले हैं।

काम अलभमान दह्यन्ते
तथ अपि लब्धु न तृप्ति विन्दयन्ती।
यद पुन अवश्य भक्ष्यन्ते
तद महद्दुःख जनेन्ति घोर कामाः ॥768॥

काम न मिलने पर जलन पैदा करते हैं, मिलने पर भी सन्तोष नहीं लेने देते। जब (अपने) वश में न रह कर क्रूर काम (कामभोगी को) खाने लगते हैं, तब बड़ा दुःख देते हैं।

काम धरणिपाल ये च दिव्या
तथ अपि मानुष काम ये प्रणीता।
एकु नरु लभेत सर्वकामां
न च सो तृप्ति लभेत भूयु एषन् ॥769॥

हे पृथिवीपालक, जो देवलोक के काम हैं, तथा जो मनुष्य लोक के उत्तम काम हैं, (उन) सब कामों को यदि एक पुरुष पा जाए, तो भी उसे तृप्तिलाभ न होगा (क्योंकि वह) और अधिक की खोज करने लगेगा।

ये तु धरणिपाल शान्त दान्ता
आर्य अनाश्रव धर्मपूर्णसंज्ञा।
प्रज्ञविदुष तृप्त ये सुतृप्ता
न च पुन कामगुणेषु काचि तृप्तिः ॥770॥

हे पृथिवीपालक, जो शान्त हैं, विनीत हैं, आर्य हैं अर्थात् संसारी लोगों से ऊपर उठे हुए हैं, अनास्रव हैं अर्थात् निर्मल हैं, धर्म से भरी हुई जिनकी संज्ञा (=समझ) है, जो ज्ञान की कुशलता से तृप्त हैं, वे सचमुच तृप्त हैं, कामगुणों में तो कुछ भी तृप्ति नहीं है।

काम धरणिपाल सेवमाना
पुरिम न विद्यति कोटि संस्कृतस्य।
लवणजल यथा हि नाह पित्वा
भुयु तृष वर्धति काम सेवमाने ॥771॥

हे पृथिवीपालक, कामभोग भोगते हुए (इस) बनावटी जगत् की पूर्वकोटि का–पहले छोर का पता नहीं है। खारा पानी पीकर आदमी की प्यास जैसे और बढ़ती है, (वैसे) कामभोग भोगने वाले की तृष्णा और बढ़ती है।

अपि च धरणिपाल पश्य कायं
अध्रुवमसारकु दुःखयन्त्रमेतत्।
नवभि व्रणमुखैः सदा श्रवन्तं
न मम नराधिप कामछन्रागः ॥772॥

हे पृथिवीपालक, निगाह तो डालो इस शरीर पर। (यह) न टिकने वाला है, इसमें कुछ भी सार नहीं है, यह दुःख का यन्त्र है, नौ व्रण जैसे द्वारों से सदा बहता रहता है। हे नरेन्द्र, कामों में मेरा अनुराग-भाव नहीं है।

अहमपि विपुलां विजह्य कामां
तथपि च = 178ख = इस्त्रिसहस्र दर्शनीयां।
अनभिरतु भवेषु निर्गतोऽहं
परमशिवां वरबोधि प्राप्तुकामः ॥773॥

मैं भी बहुत-बहुत कामों को, तथा दर्शनीय सहस्रों स्त्रियों को छोड़कर, संसार में मन न लगने से (घर से) बाहर निकला हूँ। मैं परम-कल्याणमयी उत्तम बोधि को प्राप्त करना चाहता हूँ।

राजा बोले—

कतम दिशि कुतोऽऽगतोऽसि भिक्षो
क्व च तव जन्म क्व ते पिता क्व माता।
क्षत्रिय अथ ब्राह्मणोऽथ राजा
परिकथ भिक्षु यदी न भारसंज्ञा ॥774॥

हे भिक्षो, किस दिशा से कहाँ से आए हो? कहाँ तुम्हारा जन्म हुआ है? पिता कहाँ हैं? माता कहाँ हैं? क्षत्रिय हो, अथवा ब्राह्मण हो, अथवा राजा हो? हे भिक्षो, यदि भार न जान पड़े तो सब कुछ कहो।

बोधिसत्त्व बोले—

श्रुतु ति धरणिपाल शाकियानां
कपिलपुरं परमं सु-ऋद्धि-स्फीतं।
पितु मम शुद्धोदनेति नाम्ना
तनु[5] अह्‌ प्रव्रजितो गुणाभिलाषी ॥775॥

हे पृथिवी पालक, शाक्यों के अत्यन्त सुन्दर धनधान्य संपन्न कपिलपुर (का नाम) तुमने सुना होगा। नाम से मेरे पिता शुद्धोदन (कहलाते) हैं। गुणों का अभिलाषी मैं वहीं से प्रव्रजित हुआ हूँ।

राजा बोले—

साधु तव सुदृष्ट दर्शनं ते
यनु[6] तव जन्म वयं पि तस्य शिष्याः।
अपि च मम क्षमस्व आशयेन
यमपि निमन्त्रितु काम वीतरागो ॥776॥

वाह, तुम्हारा दर्शन शुभदर्शन है, जिनसे तुम्हारा जन्म हुआ है, उनके ही हम शिष्य हैं। और क्या, हृदय से मुझे क्षमा करो, जो वीतराग को कामों से निमंत्रित किया।

यदि त्वय अनुप्राप्तु भोति बोधिः
तद मम सेति भोति, धर्मस्वामिं।
अपि च मम पुरा सुलब्ध लाभा
मम विजिते वससीह यत्स्वयंभो ॥777॥

जब बोधि तुम पा चुकोगे तब वह मेरी (भी) होगी (उसमें मेरा भी अंश होगा) हे धर्मस्वामिन्, हे स्वयंभू, और क्या, मेरे राज्य में यहाँ बसोगे, तो मेरे लिए लाभों का सुलभ होगा।

---

5. तनु शब्द संभवतः ततः (= ततो = ततु = तनु) अथवा ततोनु शब्द का विकार है। भोट में इसका उल्था **देर्** (= तत्र) शब्द से हुआ है। द्रष्टव्य अनन्तर को टिप्पणी 6।

6. यनु वस्तुतः यतः (= यतो = यतु = यनु) अथवा यतोनु का अपभ्रंश है। भोटानुवाद में **गङ् लस्** शब्द है, जो ठीक-ठीक यतः का प्रतिनिधि है। इससे पूर्व के तनु शब्द का उद्‌गम इसी प्रकार ततः है। यद्यपि वह **देर्** (= तक) भोट-शब्द से उतना स्पष्ट नहीं है।

पुनरपि चरणानि वन्दयित्वा
कृत्वा प्रदक्षिणु गौरवेण राजा।
स्वकजनपरिवारितो नरेन्द्रः
पुनरपि राजगृहं अनुप्रविष्टः ॥778॥

गौरव से फिर चरणों में वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर, अपने लोगों से घिरे हुए, राजा ने फिर राजगृह में प्रवेश किया।

मगधपुरि प्रवेशि लोकनाथो
विहरिय शान्तमना यथाभिप्रायं।
अर्थ करिय देवमानुषाणां
उपगमि तीरु निरञ्जनां नरेन्द्रः ॥779॥[7]

मगधपुर में प्रवेश कर, इच्छानुसार शान्त मन से विहरण कर, देवताओं और मनुष्यों का प्रयोजन पूर्ण कर, लोकनाथ मनुष्यों के स्वामी निरञ्जना नदी के तीर पर पहुँचे।

॥ इति श्री ललितविस्तरे बिम्बिसारोपसंक्रमणपरिवर्तो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥

7. इस परिवर्त में आई हुई गाथाओं की छाया यों है—
अथ विमलानन्ततेजोधरो हि स्वयमिह प्रव्रज्य बोधिसत्त्वः। शान्तमना दान्त ईर्यावान् विहरति पाण्डवशैलराजपार्श्वे ॥747॥ रजनीं विगतां ज्ञात्वा बोधिसत्त्वः परमसुदर्शनीयं निवास्य। पात्रं प्रतिगृह्य नीचमनः (नम्रमनाः) प्रविशति राजगृहं स पिण्डपाताय ॥748॥ कनकमिव सुधातुजातरूपं कवचित्तं लक्षणत्रिंशता द्वाभ्यां च। नरगणस्तथा नार्यः प्रेक्षमाणा न च भवन्ति क्वचित् (=कथमपि) तृप्ता दर्शनेन ॥749॥ वीथ्यां रचितो रत्नवस्त्रैः धार्यैर् अपश्रीर् जनो याति पृष्ठतोऽस्य। कोऽन्वयदृष्टपूर्वसत्त्वो यस्य प्रभया पुरं विभाति सर्वम् ॥750॥ उपरि स्थित्वा नारीणां सहस्राणि तथैव द्वारे तथैव वातायने। रथ्या भरितवन्ति गेहाञ् छून्यान् कृत्वा नखरं प्रेक्षितुं तान्य् अनन्यकर्माणि ॥751॥ न च भूयः क्रयविक्रयं कुर्वंति न च पुनः सौण्डाः पिबन्ति मद्यपानम्। न च गृहे न च वीथ्यां रमन्ते पुरुषवरस्य निरीक्षमाणां रूपम् ॥752॥ पुरुषास्त्वरिता अगच्छन् राजगेहम्, अवोचंस्ते राजानं बिम्बिसारं तुष्टाः। देव परमास्त्वया लब्धा लाभाःस्वयमिह ब्रह्मा

पुरे चरति पिण्डम् ॥753॥ केचिद् अवोचन् छक्रो देवराजः, अपरे भणन्ति सुयामो देवपुत्रः । तथापि संतुषितं वा निर्मितश्च, अपरे भणन्ति सुनिर्मित एष देवः ॥754॥ केचित् पुनर्भणन्ति चन्द्रसूर्यौ, तथापि च राहुर्बलिश्च वेमचित्री । केचित्पुनर् भणन्ति वाचमेवम् अयं स पाण्डवशैलराजवासी ॥755॥ वचनमिदं श्रुत्वा पार्थिवोऽसौ परमोदग्रमताः स्थितो गवाक्षे प्रेक्षते वरसत्त्वं बोधिसत्त्वं ज्वलन्तं श्रिया सुधातुकाञ्चनमिव (यथारूतं वा उपमा-वाचकः) ॥756॥ पिण्डं दत्वा राजा बिम्बिसारः पुरुषमवोचन्निरीक्षस्व क्व प्रयाति । दृष्ट्वा गिरिवरं तं गच्छन्तम् अवोचद् देव गतः स शैलपार्श्वम् ॥757॥ रजनी विगतां ज्ञात्वा बिम्बिसारो महद्भिर्जनैः परिवारितो नरेन्द्रः । उपागमत् पाण्डवशैलराजमूलं श्रिया ज्वलन्तं तम् अदर्शच् छैलम् ॥758॥ चरणाभ्यां व्रजितो यानादवरूह्य परमसुगौरवेण प्रैक्षिष्ट बोधि-सत्त्वम् । मेरुमिव यथा ह्यकम्प्यमानो न्यस्य तृणानि निषण्णं स्वस्तिकेन (=पर्यङ्कबन्धेन) ॥759॥ शिरसा चरणयोः वन्दित्वा राजा विविधकथां समुदाहृत्यावोचत् । ददामि तवोपार्धं सर्वराज्याद् रमस्वेह कामगुणैर् अहं मा पिण्डं (चर इति शेषः) ॥760॥ प्रभणति गिरं बोधिसत्त्वः श्लक्ष्णां धरणी-पते चिरमायुः पालयस्व । अहमपि प्रविहाय राज्यमिष्टं प्रव्रजितो निरपेक्षः शान्तिहेतोः ॥761॥ दहरस्तरूणो यौवनैरूपेतः शुभतनुवर्णनिभोऽसि वेग-प्राप्तः । पिपुलधनं प्रतीच्छ नारीसंघम् इह मम राज्ये वस भुङ्क्ष्व कामान् ॥762॥ परमप्रमुदितोऽस्मि दर्शनात्तेऽवोचत्स मागधराजो बोधिसत्त्वम् । भव मम सहायः सर्वराज्येऽहं तव दास्यामि प्रभूतं भुङ्क्ष्व कामान् ॥763॥ मा च पुनर्वने वस शून्ये मा भूयस्तृणेषु वस भूमिवासम् । परमसुकुमारस्तव काय इह मम राज्ये बस भुङ्क्ष्व कामान् ॥764॥ प्रभणति गिरं बोधिसत्त्वः श्लक्ष्णाम् अकुटिलां प्रीणनीयां हितामनुकम्पिनीम् । स्वस्ति धरणीपाल तेऽस्तु नित्यं न चाहं कामगुणैरर्थिकोऽस्मि ॥765॥ कामा विषमा अनन्तदोषा प्रपातना नरक-प्रेत-तिर्यग्योनौ । बिद्वद्भिर् विगर्हिताश् चाप्यनार्याः कामा हता मया यथा पक्वखेटपिण्डः ॥766॥ कामा द्रुमफलानि यथा पतन्ति यथेवाभ्र बलाहका व्रजन्ति । अध्रुवाश् चपलगामिनो मारुतो वा (=इव विकिरणाः सर्वशुभस्य वञ्चनकाः ॥767॥ कामा अलभ्यमाना दाहयन्ति तथापि लब्धा न तृप्तिं विन्दयन्ति । यदा पुनर् अवश्या भक्षयन्ति तदा महादुःखं जनयन्ति घोराः कामाः ॥768॥ कामा धरणीपाल ये च दिव्या तथापि मानुषाः कामा ये प्रणीताः (उत्तमाः) । एको नरो लभेत सर्वकामान् न च स तृप्ति लभेत भूय एषमाणः ॥769॥ ये तु धरणीपाल शान्ता दान्ता

आर्या अनास्रवा धर्मपूर्णसंज्ञाः । प्रज्ञावैदुष्येण तृप्तास्ते सुतृप्ता न च पुनः कामगुणेषु काचित् तृप्तिः ।।770।। कामान् धरणीपाल सेवमानस्य पूर्वा कोटिर्न विद्यते संस्कृतस्य । लवणजलं यथा हि नरस्य पीत्वा भूयस्तृड् वर्धते कामान् सेवमानस्य ।।771।। अपि च धरणीपाल, पश्य कायम् अध्रुवमसारकं दुःखयन्त्रमेतम् । नवभिर् व्रणमुखैः सदा स्रवन्तं न मम नराधिप कामछन्दरागः ।।772।। अहमपि विपुलान् विहाय कामांस् तथापि च स्त्रीसहस्राणि दर्शनीयानि । अनभिरतो भवेषु निर्गतोऽहं परमशिवां वरबोधिं प्राप्तुकामः ।।773।। कतमस्या दिशः कुतः (स्थानाद् इति शेषः) आगतोऽसि भिक्षो क्व च तव जन्म क्व ते पिता क्व माता । क्षत्रियोऽथ ब्राह्मणोऽथ राजा परिकथय भिक्षो यदि न भारसंज्ञा ।।774।। श्रुतं ते धरणीपाल शाक्यानां कपिलपुरं परमं स्वृद्धि (सु-ऋद्धि) स्फीतम् । पिता मम शुद्धोदन इति नाम्ना (प्रसिद्ध इतिशेषः) ततोऽहं प्रव्रजितो गुणाभिलाषी ।।775।। साधु तव सुदृष्टं दर्शनं ते यतस्तव जन्म वयमपि तस्य शिष्याः । अपि च मां क्षमस्वाशयेन यदपि निमन्त्रितः कामैर्वीतरागः ।।776।। यदा त्वयानुप्राप्ता भवति बोधिस्तदा मम सा-इति भवति, धर्मस्वामिन् । अपि च मम पुरा सुलब्धा लाभा मम विजिते वससीह यत् स्वयंभूः ।।777।। पुनरपि चरणौ वन्दित्वा कृत्वा प्रदक्षिणां गौरवेण राजा । स्वकजनपरिवारितो नरेन्द्रः पुनरपि राजगृहमनुप्रविष्टः ।।778।। मगधपुरं प्रविश्य लोकनाथो विहृत्य शान्तमना यथाभिप्रायम् । अर्थं कृत्वा देवमानुषाणाम् उपागमत् तीरं निरञ्जनाया नरेन्द्रः ।।779।।

483

॥ १७ ॥

॥ दुष्करचर्यापरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 243 (पंक्ति 15)—260 (पंक्ति 16)
भोटानुवाद 178ख (पंक्ति 7)—192ख (पंक्ति 2)

485

॥ १७ ॥

॥ दुष्करचर्यापरिवर्त ॥

1. ❀हे भिक्षुओं, =179क= उस समय रामपुत्र रुद्रक नाम के (ऋषि) राजगृह महानगर के पास बासा बना सात सौ शिष्यों के महाशिष्यसंघ के साथ निवास कर रहे थे। वे उनको नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (नामक ध्यान) के सहव्रत (=अनुकूलव्रत) का धर्मोपदेश करते थे। हे भिक्षुओं, राजपुत्र रुद्रक को गणमें गणधर, गण का आचार्य, विख्यात, (सब का) इष्ट, बहुजन पूजित तथा पंडितों द्वारा माना गया देख बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई—ये राजपुत्र रुद्रक गण में गणधर, गण के आचार्य। (सब के) इष्ट तथा पंडितों द्वारा माने हुए हैं, यदि (–244–) मैं इनके पास पहुँच कर व्रत और तप करने लगूँ, तो मेरे पास की विशेषता को ये न समझेंगे, और न संस्कृत (बनावटी) सास्रव (रागादि क्लेशयुक्त) सोपादान (बंधनसहित) ध्यान एवं समाधियों की समापत्तियों (योगप्राप्ति की अनुभूतियों) को प्रत्यक्षज्ञान से जाना जा सकेगा और न उनका दोष कहा जा सकेगा। इससे मुझे वैसा उपाय करना चाहिए कि जिससे इनका प्रत्यक्ष हो और ध्यानगोचर (ध्यान के विषयभूत)—समपत्यालम्बन (योगप्राप्ति को अनुभूतियों की आधार)—वाली लौकिक समाधियों की =179ख= अनिःसरणता अर्थात् संसार से उद्धार न कर सकने की प्रकृति को दिखाया जा सके। इसलिए मैं रामपुत्र रुद्रक के पास जाकर अपने समाधिगुण की विशेषता को प्रकट करने के लिए (उनकी) शिष्यता स्वीकार कर संस्कृत (बनावटी) समाधियों की असारता दिखाऊँ।

2. हे भिक्षुओं, इसके बाद इस प्रयोजन के वश से बोधिसत्त्व जहाँ रामपुत्र रुद्रक थे, वहाँ पहुँच कर, रामपुत्र रुद्रक बोले—हे मार्ष (सुहृद) तुम्हारा शास्ता (गुरु) कौन है? किसके उपदेशित धर्म को पूरा-पूरा जानते हो?

❀ पालि ये दुष्करचर्या परिवर्त की बहुत सी वर्णना=वस्तु मज्झिमनिकाय के महासीहनादसुत्त (मूलपण्णासक सुत्त 12) महासच्चकसुत्त (मूलपण्णासक, सुत्त 36) कुक्कुरवतिकसुत्त (मज्झिमपण्णसक, सुत्त 7) आदि में हैं।

ऐसा कहने पर रामपुत्र रुद्रक बोधिसत्त्व से यों बोले । हे मार्ष (सुहृद) मेरा कोई शास्ता (गुरु) नहीं है । पर मैंने स्वयं ही इसका साक्षात्कार किया ।

बोधिसत्त्व बोले । आपने किसका साक्षात्कार किया है ? (वे) बोले—नैव-संज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति के मार्ग का (साक्षात्कार किया है) ।

बोधिसत्त्व बोले । आपके पास से हमें [1]इस समाधि के मार्ग की अववादानु-शासनी (उपदेश और शिक्षा)[1] मिले । (वे) बोले । हाँ-हाँ, क्यों नहीं और अव-वाद (उपदेश) दे दिया ।

3. तब बोधिसत्त्व एकान्त में जाकर पलथी मार कर बैठ गए । बैठने के साथ ही बोधिसत्त्व के पुण्यविशेष से = 180क = ज्ञानविशेष से, पूर्व (जन्मों) के सुचरित की चर्या (अभ्यास) के फलविशेष से, तथा सब समाधियों में हुए परिचय-विशेष से उनके चित्त के वश में होने के कारण, ध्यान-प्रधान सब लौकिक और लोकोत्तर सैकड़ों समापत्तियों (योग-प्राप्ति की अनुभूतियों) का अपने प्रकारों और भेदों के साथ साक्षात्कार हुआ । (–245–) तदनन्तर बोधिसत्त्व स्मृतिमान् जानते-बूझते हुए आसन से उठकर जहाँ रामपुत्र रुद्रक थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर रामपुत्र रुद्रक से यों बोले—हे मार्ष (सुहृद) क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की समापत्ति के मार्ग से ऊपर भी कुछ है ? वे बोले—नहीं है ।

तब बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि रुद्रक में ही श्रद्धा, वीर्य (उद्योग), स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नहीं है, मुझमें भी श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा है ।

4. तदनन्तर (किसी समय) बोधिसत्त्व रामपुत्र रुद्रक से यों बोले । हे मार्ष (सुहृद), मैंने भी उस धर्म को साक्षात् कर लिया है, जिसमें तुम बढ़ चुके हो । वे बोले—इसलिए आओ, तुम और हम (दोनों) इस संघ को शिक्षा दें, और बोधिसत्त्व को समान–अर्थ में अर्थात् अपनी बराबरी के साथ आहार-व्यवहार में तथा आचार्य के = 180ख = स्थान में स्थापित किया । बोधिसत्त्व बोले—हे मार्ष (सुहृद), यह मार्ग निवृत्ति के लिए नहीं है, विराग के लिए नहीं है, निरोध के लिए नहीं है, उपशम (शान्ति) के लिए नहीं है, अभिज्ञा (उत्तम-ज्ञान) के लिए नहीं है, संबोधि (उत्तम बूझ) के लिए नहीं है, श्रमणभाव के लिए नहीं है, ब्राह्मणभाव के लिए नहीं है, निर्वाण के लिए नहीं है ।

1....1. मूल, अववादानुशासनीयस्य समाधेमार्गं (= अववदादानुशासनीय्–अस्य समाधेर्मार्गस्य) पाठान्तर में य् के स्थान में म् भी है । तुलनीय भोट, **तिङ् ङे ज़िन् ग्यि लम् ग्यि ग्दम्स् ङग् दङ् र्जेस् सु ब्स्तन् प (= समाधेर् मार्गस्य अववादम् अनुशासनीं च) ।**

हे भिक्षुओं, इस प्रकार शिष्यों के सहित रामपुत्र रुद्रक का[2] अनुनय-विनय कर[2], बस-बस इतना भर बहुत है, पर इससे मेरा (प्रयोजन सिद्ध) नहीं होता, ऐसा (कह) चल पड़े।

5. उस समय पाँच भद्रवर्गीय रामपुत्र रुद्रक के पास ब्रह्मचर्य का आचरण करते थे। उनके मन में यह बात आई कि जिस प्रयोजन के लिए हम बहुत समय से लगे हुए हैं, उद्योग कर रहे हैं, पर उसका ओर-छोर नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं, उसका श्रमण गौतम ने थोड़े प्रयास से लाभ कर साक्षात्कार कर लिया है। पर वह उनको पसन्द नहीं है। और भी ऊपर की खोज कर रहे हैं, निश्चय ही ये लोक के शास्ता (गुरु) होंगे। जिस (तत्त्व) का ये साक्षात्कार करेंगे, उसका अंश हमें भी देंगे। ऐसा सोच कर पाँचों भद्रवर्गीय रामपुत्र रुद्रक के पास से अलग होकर बोधिसत्त्व के पीछे हो लिए।

(–246–) हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व राजगृह में इच्छानुसार विहरण कर पाँचों =181क= भद्रवर्गीयों के साथ मगधदेश में चारिका के लिए चल पड़े।

उस समय राजगृह और गया के बीच जो—एक गण उत्सव मना रहा था, उस गण ने बोधिसत्त्व को पाँचों भद्रवर्गीयों के साथ निवास और भोजन के लिए निमंत्रित किया।

6. हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व मगधदेश में चारिका करते हुए जहाँ मागध-लोगों की गया है, उसकी ओर चल कर, वहाँ पहुँच गए। हे भिक्षुओं, वहाँ भी बोधिसत्त्व प्रहाणार्थी (=कामभोग के परिवर्जन के अभिलाषी) गयाशीर्ष पर्वत पर विहरण करते थे। वहाँ पर विहरण करते हुए उन्हें तीन उपमाएँ सूझीं, जिन्हें पहले न किसी ने सुना था और न जाना था। कौन सी तीन ? जो कोई श्रमण और ब्राह्मण कामों से अपना शरीर बिना खींचे विहरण करते हैं; कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी

2....2) आवर्जनीकृत्वा। प्रो० एड्जेर्टन का सुझाव है कि आवर्जनां कृत्वा पाठ करना चाहिए क्योंकि रुद्रकस्य रामपुत्रस्य सशिष्यस्यावर्जनीकृत्वा में षष्ठी का योग ठीक नहीं बैठता, साथ ही दो पाठान्तर **आवर्जनां कृत्वा** पाठ के समर्थक हैं (बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 107 पर आवर्जना शब्द)। भोट, **.ह्. दुन् पर ब्यस् नस्** (आवर्जनां कृत्वा) है। वस्तुतः आवर्जनी पृथक् पद है। विभक्तिहीन पद किसी भी विभक्ति में जा सकता है। अतः यह उत्तम पाठ ही है।

शान्त नहीं हुई हैं; इसके अतिरिक्त अपने-आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई हृदय को न भाने वाली दु:खमयी वेदना का अनुभव करने हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी=181ख = गीले काठ को लेकर गीली उत्तर–अरणि (अग्न्युत्पादक काष्ठमय यन्त्र के ऊपरी भाग) को पानी में डाल कर मथे तो वह अग्नि के उत्पन्न करने में तेज **की चिनगारी** को प्रकट करने में असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामों से अपना शरीर बिना खींचे, कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; (–247) इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली दु:खमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य—धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते हैं। यह बोधिसत्त्व को प्रथम उपमा सूझी।

7. उनके मनमें फिर यह बात आई। जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को बिना खींचे विहरण करते हैं, और जो कामों में उनकी रति **(कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में विपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली दु:खमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, जोति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी)** गीले काठ को ले कर सूखी-जमीन पर रखकर गीली उत्तर-अरणि को मथे तो वह अग्नि को उत्पन्न करने में **(तेज की चिनगारी को प्रकट करने में)** असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण **[कामों से अपना शरीर बिना खींचे, कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ुई, हृदय**

को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं), वे = 182क = मनुष्य धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते हैं। यह दूसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

8. और भी। जो ये पूज्य श्रमण ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, (**कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में** उन्माद, **कामों के निमित्त जलन एवं** कामों **में उत्कण्ठा है**) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ई (हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी सूखा काठ लेकर सूखी उत्तर-अरणि को सूखी जमीन पर रख कर मथे, तो वह अग्नि को उत्पन्न करने में, तेज **की चिनगारी** को प्रकट करने में समर्थ होता है; वैसे जो ये पूज्य श्रमण और ब्राह्मण (**कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर कड़ुई, हृदय को न भाने वाली, दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं**) वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता की साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकते हैं। यह तीसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

9. (-248-) हे भिक्षुओं, = 182ख = इसके बाद बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। मैं इस समय कामों से शरीर को खींच कर, मन को खींच कर विहरण करता हूँ, और जो कामों में मेरी रति, (**कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है**) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की (**तीव्र, कठोर, कड़ई, हृदय को न भाने वाली**) दुःखमयी वेदना का अनुभव करता हूँ। मैं मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकता हूँ।

10. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व इच्छानुसार गया में गयाशीर्ष पर्वत

पर विहरण कर, क्रम से पाँव-पाँव चलते हुए, जहाँ उरुविल्वा (नाम का) सेनापति ग्राम था, उस ओर चल कर, वहाँ पहुँच गए। वहाँ नौरंजना नदी को देखा, जिसका जल स्वच्छ था, जिसके उपतीर्थ (घाट और पुल) सुन्दर थे, जिसके किनारे प्रसन्नता देने वाले पेड़ तथा (तृण और झाड़ियों के) झुरमुट थे, जिसके चारों ओर गोचरग्राम थे अर्थात् ऐसे ग्राम थे जहाँ भिक्षा सुलभ थी। वहाँ बोधिसत्त्व का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह भूमि प्रदेश सम है, रमणीय है, प्रतिसंलयन अर्थात् एकान्त-ध्यान-विहार के लिए अनुकूल है, यह प्रहाणार्थी (कामभोग के परिवर्जन के अभिलाषी) के लिए पर्याप्त है, और मैं प्रहाणार्थी हूँ, क्यों न मैं यहीं ठहरूँ।

11. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। =183क= मैंने जम्बूद्वीप में (आयु के, दृष्टि के, क्लेश के, सत्त्व के, तथा कल्प के) पाँच कषायवाले (ह्रास के) समय में अवतार लिया है। हीन-अधिमुक्ति अर्थात् ओछी-रुचि वाले, तैर्थिक-वर्गों से अर्थात् नाना धर्म मत के प्रचारक गणों से व्याप्त, नाना प्रकार की दृष्टियों में गिरे-पड़े हुए, कायपिण्डग्राह में अर्थात् शरीर ही सब कुछ है, इस धारणा में हठ से डटे हुए प्राणियों के बीच अत्यन्त मूढ़-लोग नाना प्रकार की कष्ट साधनाओं एवं कठोर तपस्याओं द्वारा काय की शुद्धि खोजते हैं, (काय की शुद्धि) बतलाते हैं। यथा मंत्रविचारक से (अर्थात् मंत्र-साधना से), हस्तप्रलेहक से (अर्थात् करपात्री होकर रहने से) अयाचनक से अर्थात् बिना भिक्षा किए जो भी सुलभ हो उस पर निर्वाह करने से) अनामंत्रण से (अर्थात् बिना सम्बोधन किए जो मिले उस पर निर्वाह करने से) अनेकमूलिक से (अर्थात् नाना प्रकार के कन्द-मूलों पर निर्वाह करने से) अमत्स्य-मांसक से (अर्थात् निरामिष भोजन से) अवार्षिक से (अर्थात् वर्षा से उत्पन्न छत्राक आदि के न सेवन करने से) सुरा तथा तुषोदक (=काञ्जी, सुवीरकपान) के परित्याग से, (नियम करके) एक, तीन, पाँच अथवा सात कुलों में भिक्षा ग्रहण करने से, मूल के फल के शैवाल (सिवार) के, कुश के, पत्र के, गोमय (गोबर) के, गोमूत्र के, पायस (खीर) के, दधि के, सर्पिः (घृत) के, फाणित (राब) के, आमपिष्टक (कच्चे पीठे) के खान-पान से, सारस, कपोत (कबूतर आदि पक्षियों) के द्वारा कुतर कर छोड़े हुए (फल आदि) का प्रक्षालन (कर खाने) से ग्राम्यारण्यक वृत्ति से (अर्थात् गाँवों और जंगलों में सुलभ शाक-पात, सत्तू, साँवाँ आदि अन्न द्वारा निर्वाह करने से) गोव्रत मृगव्रत (कक्कुरव्रत) वराहव्रत वानरव्रत तथा हस्तिव्रत से*, स्थान (खड़े रहने) **मौन (चुप रहने) तथा वीरासन (दाहिने-पैर को

---

* इन पशुव्रतों में पशुओं के स्वभाव का अनुकरण किया जाता है। जैसे-श्वव्रत

बाएँ उरुप्रदेश पर तथा बाएँ पैर को दाहिने उरु प्रदेश पर रखकर बैठने) से, (नियम बनाकर) एक आलोप (कवल) से लेकर (अधिक से अधिक) सात आलोप (कवल) खाने से[3], एक भक्त से (अर्थात् प्रतिदिन एकाहट से), एक अहोरात्र (दिन-रात) के समय के अन्तर पर (अर्थात् बीच में एक दिन छोड़ कर हर दूसरे दिन पर), चार, = 183ख–पाँच या छह (अहोरात्रों के) समय के अन्तर पर (अर्थात् बीच में चार या पाँच या छह दिन रात छोड़कर प्रति पाँचवें या छठे या सातवें दिन पर) भोजन करने से (–249–) पाख बिताकर अथवा मास बिताकर ★★★(भोजन करने एवं) चान्द्रायण व्रत से, गिद्ध या उल्लू के पंख को (मुकुट की तरह) धारण करने से, फलक अर्थात् काठ के पत्तरों के मूँज के [4]असनबल्कल (असन की छाल) के[4] कुश के, बल्बज (= बैज) के ऊँट की ऊन से बने कंबल्ल के, बकरी के रोमों से बने कम्बल के, केशों से बने कंबल के खाल के वस्त्र पहनने से, आर्द्रपट (जल से भिगोए वस्त्र) पर आस्तोपक[5] (अर्थात्

में घुटने और कोहनी टेक केवल जीभ के सहारे भूमि पर रक्खे भोजन को खाना होता है (कुक्कुरवतिको छमानिक्खितं भोजनं भुञ्जति, कक्कुरव्रतिकः क्षमा (= भूमि) निक्षिप्तं भोजनं भुङ्क्ते, मज्झिमनिकाय, मज्झिमपण्णासक, कुक्कुरवतिकसुत्त 7)। मृगव्रत में आदमी अपने को मानुष सम्पर्क से सर्वथा छिपा कर रखता है और घने जंगल में इसलिए रहता है कि मनुष्य उसे कहीं देख न लें (मिगो मनुस्से दिस्वा वनेन वनं संपतति एवमेव अहं वनेन वनं संपतामि मा मं ते अद्दसंसु, मृगो मनुष्यान् दृष्ट्वा वनाद् वनं संपतति, एवमेवाहं वनाद् वनं संपतामि मा मं ते दर्शन्, मज्झिमनिकाय, मूलपण्णासक सुत्त 12, महासीहनादसुत्त)। ★★ 1968 की जनवरी (15, 16, 17) में कुशीनगर में एक तापस देखा जो आठ वर्ष से लेटा या बैठा नहीं है, खड़ा रहना, चलना या छाती भर ऊँचे मंच पर माथा-हाथ टेक खड़े-खड़े सोना बस यहीं उसकी चर्या है। दो वर्ष और वह इस तप में रहेगा। ★★★ मास भर के उपवास का प्रचलन नेपाली बौद्धों में आज भी है।

3. मूल, एकालापकैर्यावत्सप्तालापकैः। पठनीय, एकालोपकैर्यावत्सप्तालोपकैः। तुलनीय भोट, **खम् गचि ग् ज़् ब दङ् खम् बदुन् गिय बर् दु ज़् ब दङ्।**
4....4. असनवल्कल का अनुवाद भोट में **ज़र् महि् शुन् प** (= अतसीत्वक्, असली की त्वचा) है।
5. आस्तोपक का भोटानुवाद **स्तेगस् बु हि स्तेङ्** (= फलत पर, पटरे पर) है। **बु० हा० सं० डि०** (पृष्ठ १११) में आस्तोमक पाठान्तर दिया है। संभवतः

पानी में डूबने के लिए पानी में डाले लकड़ी के पटरे) पर, पानी में शयन करने से, भस्म के ऊपर,बालू के ऊपर,पत्थर के ऊपर,(काष्ठ–)फलक के ऊपर, काँटों के ऊपर, तृणों के ऊपर, मूसलों के ऊपर शयन करने से, नीचे की ओर माथा लटका कर, उकड़ूँ बैठकर, स्थंडिल (अर्थात् चबूतरे) पर शयन करने से, (नियम बना कर) एक वस्त्र, दो वस्त्र, तीन वस्त्र, चार वस्त्र, पाँच वस्त्र, छह् वस्त्र, सात वस्त्र, पहनने से (अथवा) नग्न रहने से, [6]स्नान करने या स्नान न करने के नियम से[6], केश, नख, और दाढ़ी-मूछ बढ़ा कर जटामुकुट धारण करने से, एक बेर का एक तिल का (अथवा) एक चावल का आहार करने से, भस्म के, काजल के [7]फेंके हुए फूलों के[7], तमोरज (कालीधूल) के पांशु (कूड़े–कचरे) के, कीचड़ के (शरीर पर) मलने से, लोभ, मुण्ड[8] (=नर-कपाल) केश, नख, चीवर[9] (=गुदड़ी), पञ्जर (=शरीरास्थि), करङ्क (कपाल का बना कमण्डलु **अघोरी बन कर**) धारण करने से, उष्णजल, चावल का धोवन,=184क=परिस्रावित-काम्बलिक[10] अर्थात् छनी हुई विलेपी, स्थालीपानीय (अर्थात् बटलोई आदि भोजन सिद्ध करने के बर्तनों के धोवन) पीने से, अंगार के (=कोयले के) धातु के (गेरु आदि रंग के कषाय के (फूल-पत्ती आदि का काढा बना कर बनाए रंग के) त्रिदण्ड के (काय, वाक् तथा मनःसंबन्धि दमन के), मुण्डिका के (=सिर के मुण्डन के) कुण्डिका के (=कूँड़ी के), कमाल के (मनुष्य के सिर के खप्पर के) खद्वाङ्ग के (=नरपञ्जर अर्थात् मनुष्य शरीर की अस्थि के) धारण करने से मूढ़-जन शुद्धि

आस्तोकप का अपभ्रंश आस्तोपक है। स्तोक=जलबिन्दु (शब्दस्तोममहानिधि)। पानी में डूबने से बचने के लिए पानी में तैरते फलक से अभिप्राय जान पड़ता है।

6....6. मूल, स्थानास्थानविधिभिश्च। पठनीय, स्नानास्नानविधिभिश्च। तुलनीय भोट, **ह्ख्रुब दङ् मि .ह्ख्रु ब हि. छो ग चन छङ्**।

7....7. मूल, निर्मालोद्धृत (=निर्माल्य उज्झित)। भोट, **मेतोग् स्पयद् स्पयद् प दङ्**। (=मुक्तमुक्तमाल्य, मुक्तोज्झितमाल्य)।

8. मूल, मुञ्ज। पठनीय, मुण्ड। तुलनीय भोट, **मि हि. थोद् प** (नरपाल)

9. चीवर का अनुवाद भोट, में व्याख्यानात्मक है—**छल् बु हि स्मद् ग्यो स्** (अर्थात् पेवंद लगा कर बना अधोवस्त्र), गुदड़ी या कन्था (कथरी) के लिए चीवर शब्द यहाँ है।

10. परिस्रावित काम्बलिक अर्थ है छानी हुई विलेपी। माँड वाली कणों सहित चावल या जौ की बनी पतली पेय वस्तु को विलेपी कहते हैं, उसी का अत्यन्त पुराना नाम काम्बलित है। भोटानुवाद यहाँ **ह्.खर् ब चग्.स् प** है।

में विश्वास करते हैं। धूम-पान के द्वारा, अग्नि-पान के द्वारा, आदित्यनिरीक्षण अर्थात् सूर्य की ओर देखते रहने के द्वारा, पञ्चतप अर्थात् पञ्चाग्नि तापन के द्वारा, ऊपर की ओर एक पैर अथवा एक बाहु उठा कर रखने से, एक पैर से (एक जगह पर) खड़े रहने से तप का संचय करते हैं। भूसी आदि के दहकते-अंगारों में जल-मरने से, घड़े में (खौलते पानी के) साधन से पक-मरने से, शिलाओं (ईंट-पत्थरों) को दहका कर (उनमें) जल-मरने से आग में प्रवेश कर मरने से, जल में डूब कर मरने से, [11]उपवेशन (निराहार) द्वारा मरने से[11] मरु (–स्थल) में जाकर मरने से, (गंगा आदि) तीर्थों पर जाकर मरने से इष्टगति (की प्राप्ति) खोजते हैं। ओम्, वौषट् स्वधा, स्वाहा, स्वस्ति, स्तुति, (अग्नि–) चयन, (देवता–) आवाहन के मंत्रों का जप, अध्ययन (पाठ), धारण (कंठस्थी करण) करने में शुद्धि समझते हैं। और अपने-आप को शुद्ध मान कर इनका आश्रय लेते हैं। जैसे—ब्रह्मा का, इन्द्र का, रुद्र का, विष्णु का, देवी (गौरी) का, कुमार (स्कन्द) का, मातृकाओं (स्कन्द को दूध पिलाने वाली धात्रियों और रक्षिकाओं) का, कात्यायनी का, चन्द्र का, सूर्य का, वैश्रण (कुबेर) का, वरुण का, वसु-गण का, =184ख= अश्विनीकुमारों का, नागों का, यक्षों का, गन्धर्वों का, असुरों का, गरुड़ों का, किन्नरों का, महोरगों (महासर्पों) का, राक्षसों का, प्रेतों का, भूतों का, कुभांडों का, पार्षदों (शिवगणों) का, गणपति का, पिशाचों का, देवऋषियों का, राजऋषियों का, ब्रह्मर्षियों का। इनको नमस्कार करते हैं, और इनमें सार समझते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश का आश्रय लेते हैं। [12]पर्वत, दरी (कंदरा)[12], नदी, उत्स (झरना), सर, ह्रद (अथाह-जल का जलाशय), तालाब, सागर, सरोवर (झील), पल्लव (गड़ही), पुस्करिणी (कृत्रिम कमल आदि लगाने के लिए बनाया गया जलाशय), कुआँ, वृक्ष, गुल्म (झुरमुट), लता, तृण, स्थाणु (थून्हा), गोष्ठ (गोशाला), श्मशान, चत्वर (चौतरा), शृंगाटक (तिराहा) अन्तरापण (बाजार) आदि का आश्रय लेते हैं। (देवताओं के प्रतीक के रूप में) घर को, खम्भे को, बट्टे को, मूसल को, खांडे को, फरसे को, बाण को, बरछी को और त्रिशूल को नमस्कार करते हैं। दही, घी, सरसों, जौ, प्रतिसर (सुत का

11....11. प्रवेशन (लेफ़मन् ललितविस्तर, 239 पृष्ठ पर 12 वीं पंक्ति में) के अनन्तर मूल में उपवेशन पाठ भोटानुसार होना चाहिए। भोट में है—**ज़स् मि ज़ब दङ्** (आहार न खाने से, उपवेशन से)।

12....12. मूल, गिरिनदी०। पठनीय, गिरिदरी०। तुलनीय भोट, **रि दङ् रि सुल् दङ्** (गिरिं च दरीं च)।

बना रक्षासूत्र), दूर्वा, मणि, सुवर्ण रजत (–250–) आदि के द्वारा मंगल होने का विश्वास करते हैं। संसार के भय से घबराए हुए तीर्थ्य–लोग इस प्रकार की इन वस्तुओं का आश्रय लेते हैं।

12. यहाँ कितने ही लोग इस लोक के बाद हमारा स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) इनसे होगा ऐसा =185क= मानते हैं। (ये) मिथ्यामार्ग में चलते हुए अशरण को शरण समझते हैं, अमांगलिक को मांगलिक समझते हैं, अशुद्धि के द्वारा शुद्धि होना मानते हैं। मैं क्यों न वैसा विशेष तप और व्रत करूँ जिससे सब दूसरे प्रवादी परास्त हो जाएँ, जिन प्राणियों में (उचित) कर्म करने की भावना नष्ट हो गई है, उन्हें कर्म करने की भावना का अविनाश दिखाऊँ, रूप, धातु में विचार करने वाले ध्यान-विषय में लगे देवताओं को ध्यान-विशेष दिखला कर अपनी ओर झुकाऊँ।

13. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व यों सोच कर छह वर्ष की महाघोर' अत्यन्त दुष्कर होने के कारण सुदुष्कर व्रत और तप की दुष्करचर्या करने लगे। किस कारण से (यह चर्या) दुष्करचर्या कही जाती है? यह करने में दुष्कर होती है, इसलिए दुष्करचर्या कही जाती है? प्राणियों के समूह में ऐसा कोई मनुष्य या अमनुष्य प्राणी नहीं है जो वैसी दुष्करचर्या कर सके। इसमें अपवाद केवल अन्तिम जन्मधारी बोधिसत्त्व हैं, जो आस्फानक-ध्यान-समापन्न होते हैं। किस कारण से (यह ध्यान) आस्फानक कहा जाता है? आदि से ही चतुर्थध्यान-समापन्न हो वे =185ख= आश्वास और प्रश्वास को रोकते हैं—पूर्णतया रोकते हैं। उस ध्यान में न स्थूल कल्पना होती है और न सूक्ष्म कल्पना होती है, न इञ्जना (चंचलता) ही होती है,[13] न चिन्तना (=चित्तक्रिया) होती है[13], न स्पन्दना (=परिवृत्ति) होती है, (वह ध्यान) सर्वव्यापक (होते हुए भी) बिना किसी आलम्बन के होता है, शैक्ष, अथवा अशैक्ष (=अर्हत्) अथवा प्रत्येक बुद्ध, अथवा (बोधि के लिए) चर्यावान् बोधिसत्त्व कोई भी पहले उस ध्यान से समापन्न नहीं हुआ है, इसलिए वह नाम से आस्फानक (अ-स्फानकम् एव आस्फानकम्-स्थूल-भावरहित) कहलाता है। आकाश जो अस्फरण (फड़कनरहित) अकरण (क्रिया-रहित) और अविकरण (विकाररहित) है, उस सबको वह (ध्यान) स्फरण (व्यापन) करता है, इसलिए आकाश के समान होने के कारण वह ध्यान आस्फानक (आ=चारों ओर से सब को स्फानक=व्याप्त करने वाला) कहा जाता है।

13....13. मूल, अपनीतम्। पठनीय, अचिन्तितम्। तुलनीय भोट, **सेम्स् प मेद्** (=**अचिन्तनम्, अचिन्तितम्**)।

14. हे भिक्षुओं, इसके बाद लोक को आश्चर्य दिखाने के लिए, तीर्थिकों के घमण्ड को चूर करने के लिए, परपक्ष के प्रवादियों को परास्त करने के लिए, और देवताओं को (–251–) अपनी ओर झुकाने के लिए, जिन प्राणियों की कर्म करने की भावना नष्ट हो गई थी, उन्हें कर्म करने की भावना में उतारने के लिए, पुण्य के फल को उपजाने के लिए, ज्ञान का फल दिखलाने के लिए, ध्यान के अंगों को विभक्त करने के लिए, शरीरबल की स्थिरता दिखलाने के लिए, चित्तशूरता को उत्पन्न करने के लिए, अनलंकृत (नंगी) धरती पर बोधिसत्त्व =186क= पलथी मार कर बैठ गए और बैठ कर अपने शरीर को चित्त से वश में किया, दबाया।

15. हे भिक्षुओं, तदनन्तर हेमन्त की आठ रातों में उस प्रकार शरीर को वश में करते हुए, दबाते हुए दोनों बाहुमूलों से भी पसीना टपकता था, माथे से भी पसीना टपकता था, भूमि पर गिरता था, मानों ओस पड़ रही हो, उमस निकल रही हो, भाप बाहर निकल रही हो। जैसे दुबले-पतले आदमी को बलवान् आदमी गर्दन पकड़ कर उमेठे वैसे ही भिक्षुओं, इस शरीर को यों चित्त से वश में करते हुए, दबाते हुए मेरे दोनों बाहुमूलों से भी पसीना टपकता था, माथे से भी पसीना टपकता था, भूमि पर गिरता था, मानों ओस पड़ रही हो, उमस निकल रही हो, भाप बाहर हो रही हो।

16. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न आस्फानक-ध्यान का ध्यान करूँ। हे भिक्षुओं, तदनन्तर आस्फानक-ध्यान का ध्यान करते हुए मुख और नासिका से श्वास का आना और श्वास का जाना रुक गया था। कान के छेदों से ऊँची-ध्वनि निकलती थी—बड़ी-ध्वनि निकलती थी। जैसे धौंकी जाती हुई कर्मारगर्गरी अर्थात् लोहार की धौंकनी से ऊँची-ध्वनि निकलती हो, ठीक वैसे ही हे भिक्षुओं, मुख और नासिका से श्वास का आना और श्वास का जाना रुक गया था। कान के छेदों से ऊँची-ध्वनि निकलती थी, बड़ी-ध्वनि निकलती थी।

17. हे भिक्षुओं,=186ख= मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न और भी अधिक आस्फानक-ध्यान का ध्यान करूँ। हे भिक्षुओं, उससे मेरे मुख का, नासिका का, तथा कानों का अवरोध (–252–) हो गया था। उनके रुँध जाने पर वायु सिर के कपाल पर ठोकर मारती थी। हे भिक्षुओं, जैसे कोई आदमी कुण्ठित बरछी से सिर के कपाल पर ठोकर दे रहा हो, ठीक वैसे ही हे भिक्षुओं, मुख के, नासिका के, तथा कानों के रुँध जाने पर भीतर जाने वाले एवं बाहर निकलने वाले श्वास ऊपर सिर के कपाल पर ठोकर मारते थे।

18. बोधिसत्त्व की उस अवस्था को देख कर कुछ देवता यों बोले—अहो (बड़े) कष्ट की बात है, ये सिद्धार्थ कुमार काल कर गए। दूसरे (देवता) यों बोले—ये काल नहीं कर गए हैं, प्रत्युत् यह इस प्रकार का अर्हतों का ध्यान विहार (ही) है। और उस समय (उन्होंने) ये गाथाएँ कहीं—

(छंद उपजाति)

मा खल्वयं शाक्यनरेन्द्रगर्भो ह्यपूर्णसंकल्प इहैवरण्ये।
कृत्वा त्रिलोकं दुखितं ह्यनाथं कालं करिष्यत्यकृतार्थ एव ॥780॥

ये शाक्यराज के पुत्र इसी वन में अपना मनोरथ पूरा न कर, सफलता को न पा, त्रिलोक को दुःखित और अनाथ कर कहीं काल न कर जाएँ।

हा सत्त्वसारा सदृढप्रतिज्ञा सद्धर्मयज्ञेन निमन्त्रिताऽभू।
वयं पुरा ते तुषितेषु नाथा क्व सा प्रतिज्ञा तव शुद्धसत्त्व ॥781॥

हाय रे, हे प्राणियों के सारभूत, हे उत्तम और दृढ़प्रतिज्ञा वाले, हे शुद्ध मन के नाथ, तुषित-लोक में (तुमने) सद्धर्म के यज्ञ में पहले से ही हम सबको निमंत्रित कर रखा है, वह तुम्हारी प्रतिज्ञा (आज) कहाँ गई ?

इसके अनन्तर उन देवपुत्रों ने त्रयस्त्रिंश (लोक के) देवताओं में जा कर मायादेवी को =187क= यह बात सुनाई कि कुमार काल कर गए।

19. तदनन्तर मायादेवी अप्सराओं के समूह से घिरी हुई आधी रात के समय नैरञ्जना (नदी) के तीर पर जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पहुँची (और) बोधिसत्त्व को देखा जिनका शरीर सूख गया था। (उन्हें) काल कर गया जैसा देख कर आँसुओं से गद्‌गदकण्ठ हो रोने लगीं। और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

यदा जातोऽसि मे पुत्र वने लुम्बिनिसाह्वये।
सिंहवच्चागृहीतस्त्वं प्रकान्तः सप्त पदा स्वयं ॥782॥

हे मेरे पुत्र, जब तुम लुम्बिनी नाम के वन में उत्पन्न हुए थे, तब बिना कुछ पकड़े अपने-आप से सिंह की भाँति सात पैर चले थे।

दिशां चा लोक्य चतुरे वाचा ते प्रव्याहृता शुभा।
इयं मे पश्चिमा जातिः सा ते न परिपूरिता ॥783॥

चारों दिशाओं को देख कर तुमने शुभ वाणी कही थी कि यह मेरा अन्तिम जन्म है। उस (वाणी) को तुम न पूरी कर पाए।

(–253–) असितेनाभिनिर्दिष्टो बुद्धो लोके भविष्यसि।
क्षुण्णं व्याकरणं तस्य [14]न दृष्टा तेनऽनित्यता[14] ॥784॥

असित (ऋषि) ने भविष्यवाणी की थी कि (तुम) लोक में बुद्ध होओगे। उनकी वह भविष्यवाणी क्षीण हो गई, उन्होंने (इस) अनित्यता को न देखा था।

चक्रवर्तिश्रयं पुत्र नपि भुक्ता मनोरमा।
न च बोधिमनुप्राप्तो यातोऽसि निधनं वने ॥785॥

न तो मनोहर चक्रवर्ती (राजा) की श्री का ही भोग किया और न बोधि को ही प्राप्त किया। हाय पुत्र, वन में तुम्हारा निधन हो गया।

पुत्रार्थे कं प्रपद्यामि कं वा क्रन्दामि दुःखिता।
को मे द्येकपुत्रस्य किं चित्प्राणस्य जीवितम् ॥786॥

पुत्र के लिए किसकी शरण जाऊँ, (मैं) दुःखिनी किसको पुकारूँ, थोड़े बचे हुए प्राणों वाले मेरे इकलौते बेटे को कौन जीवनदान दे।

20. बोधिसत्त्व बोले—

(छन्द उपजाति)

कैषा अति त्वां करुणं रुदासि
प्रकीर्णकेशा विनिवृत्तशोभा।
पुत्रं ह्यतीवा परिदेवयन्ती
विचेष्टमाना धरणीतलस्था ॥787॥

यह तुम कौन हो? करुण स्वर से फूट-फूट कर रो रही हो, (तुम्हारे) केश बिखरे हुए हैं, (तुम्हारी) शोभा चली गई है, पुत्र-पुत्र कह कर अत्यन्त (विलाप) कर रही हो। धरती के ऊपर तड़प रही हो। = 187ख =

21. मायादेवी बोलीं—

मया तु दश मासां वै कुक्षौ वज्र इवा धृतः।
सा तेऽहं पुत्रका माता विलपामि सुदुःखिता ॥788॥

मैंने ही दस मास तुम्हें (अपनी) कोख में वज्र (हीरकमणि) की तरह धारण किया है, हे पुत्रक, मैं वही तुम्हारी माता हूँ, अत्यन्त दुःखिनी होकर विलाप कर रही हूँ।

14....14. मूल, न दृष्टा तेन नित्यता। यहाँ नित्यता के स्थान में भोट-अनुवादानुसार अनित्यता पाठ होना चाहिए, मूल में इसे अवग्रह के साथ पढ़ लेना चाहिए। तुलनीय भोट, **मि र्तग् देस् म म्थोङ्** (=अनित्यता तेन न दृष्टा)।

22. तदनन्तर बोधिसत्त्व ढाढस बँधाते हुए बोले। हे पुत्र के ऊपर ममता वाली, डरो मत। तुम्हारे श्रम को सफल करूँगा। बुद्ध होने के लिए दिया गया दान सार्थक होगा। असित (ऋषि) के कथन को प्रत्यक्ष कर दिखाऊँगा, (भगवान्) दीपंकर की भविष्यवाणी को प्रत्यक्ष कर दिखाऊँगा।—

अपि शतधा वसुधा विकीर्येत
मेरुः प्लवे चाम्भसि रत्नशृङ्गः।
चन्द्रार्कतारागण भू पतेत
पृथग्जनो नैव अहं म्रियेयं।
तस्मान्न शोको त्वयि अत्र कार्यो
न वै चिराद् द्रक्ष्यसि बुद्धबोधिं ॥789॥

चाहे धरती सौ टूक हो बिखर जाए, चाहे रत्नों के शिखरों वाला सुमेरु पानी में डूब जाए, चाहे चन्द्रमा, सूर्य तथा तारागण धरती पर गिर पड़ें, पर मैं पृथग्जन (साधारण-लौकिक पुरुष) की भाँति नहीं ही मरूँगा। इसलिए इस विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, मुझे बिना चिर के ही बोधि-पाया बुद्ध देखोगी।

23. (यह) सुनने के साथ ही मायादेवी आनन्द से रोमांचित हो उठीं, दिव्य वाद्यों के गाजे-बाजे के साथ बोधिसत्त्व के ऊपर मन्दारपुष्पों की वृष्टि कर, उनकी तीन बार प्रदक्षिणा कर, जहाँ अपना भवन था, वहाँ चली गयीं।

24. (–254–) हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि कितने ही श्रमण और ब्राह्मण अल्पाहार से शुद्धि का होना मानते हैं। क्यों न मैं अल्पाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, मुझे अभिज्ञान है कि मैं केवल एकही-अद्वितीय बदरफल खाकर रहा। हे भिक्षुओं, = 183क = तुम्हारा यह ख्याल हो कि उस समय का बदरफल बहुत बड़ा होता होगा, तो वैसा न सोचना चाहिए। उस समय का बदरफल भी इतना ही बड़ा होता था (जितना बड़ा कि आजकल होता है)। हे भिक्षुओं, केवल एक-अद्वितीय बदरफल का भोजन करते हुए मेरा शरीर अत्यन्त दुबला-पतला हो गया। हे भिक्षुओं, जैसे आसीत (नील) की गाँठें हों अथवा काला (मंजिष्ठ) की गाँठें हों, वैसे ही मेरे अंग-प्रत्यंग हो गए थे। जैसे केकड़े की पसलियाँ हों, वैसे ही मेरी पसलियाँ हो गई थीं। जैसे दोनों ओर से खुली पुरानी घोड़साल और हथसाल के छप्पर के ढाँचे के बीच-बीच के बाँस चमकते हों, झलकते हों, वैसे ही मेरे शरीर में दोनों ओर पसलियाँ चमकती थीं, झलकती थीं। जैसे गाँठों वाली रस्सी ऊँची-नीची और सम-विषम (ऊबड़-खाबड़) होती है, वैसे ही पीठ का कंटक अर्थात् मेरुदण्ड

ऊँचा-नीचा और समविषम (ऊबड़-खाबड़) हो गया था। जैसे कच्ची तोड़ी हुई कड़ुई (तुम्बी बनाने की) लौकी मुरझा जाती है, सूख जाती है, पिचक जाती है, वैसे ही मेरा सिर मुरझा गया था, सूख गया था, पिचक गया था। जैसे ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम मास में कूपतारे (कूप में प्रतिबिंबित तारे) दूर चले जाते हैं, कठिनाई से उनकी झलक मिलती है, =188ख= वैसे ही मेरी आँखों की पुतलियाँ गहरी धँस गई थीं, कठिनाई से उनकी झलक मिल पाती थी। जैसे बकरे के खुर हों अथवा ऊँट के खुर हों, वैसे ही मेरे कक्ष (कटिप्रदेश), कोख और वक्षःस्थल हो गए थे। तब हे भिक्षुओं, जब मैं हाथ से कोख छुऊँ यह सोच कर (छूता) तो पीठ का कंटक अर्थात् मेरुदण्ड ही छू जाता था। उठूँ यह सोच कर यत्न करता तो उसी तरह गुटमुटा कर लम्बा पड़ जाता। तदनन्तर कठिनाई से उठ पाकर भी (–255–) धूल भरे अंगों को हाथ से झाड़ता तो पूति-रोम (अर्थात् ऐसे रोएँ जिनकी जड़ें सड़-गल गई थीं) शरीर से गिर पड़ते थे। और मेरी जो मेरी पुरानी शुभ वर्णवाली देह थी, वह भी नहीं रह गई थी, जैसे रूक्ष प्रधान (अर्थात् रूखे तप) में तन-मन से लगे तपस्वी की नहीं रह जाती है। चारों ओर गोचरग्रामों (भिक्षा देनेवाले ग्रामों) के निवासी लोग मुझे यों जानते-बूझते (कहा करते) थे कि अहो श्रमण गौतम काले हो गए हैं, अहो श्रमण गौतम साँवले हो गए हैं, अहो श्रमण गौतम मद्गुर (मागुर-मछली) के रंग के हो गए हैं, इनकी जो पहले शुभ-वर्ण-वाली आभा थी वह भी नहीं रह गई है।

25. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न और भी अधिक मात्रा में अल्पाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, मुझे अभिज्ञान है कि मैं केवल एक ही अद्वितीय तण्डुल खाकर रहा। हे भिक्षुओं, तुम्हारा ख्याल हो कि उस ससय का तण्डुल बहुत बड़ा होता होगा, तो वैसा न सोचना चाहिए। उस समय का तण्डुल =189क= भी इतना ही बड़ा होता था (जितना कि बड़ा आजकल होता है)। हे भिक्षुओं, केवल एक-अद्वितीय तण्डुल का भोजन करते हुए शीघ्र (ही मेरा) शरीर (और भी दुबला-पतला) हो गया था····(चारों ओर गोचर-ग्रामों के निवासी मुझे यों जानते बूझते कहा करते थे कि) अहो श्रमण गौतम मद्गुर (मागुर मछली) के रंग के हो गए हैं, इनकी जो पहले शुभवर्ण-वाली देह थी वह भी नहीं रह गई है।

26. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न और भी अधिक मात्रा में अल्पाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, मुझे अभिज्ञान है कि मैं केवल एक ही—अद्वितीय तिल खाकर रहा (इससे मेरा शरीर और भी दुबला-पतला हो गया) था····(चारों ओर गोचर ग्रामों के निवासी मुझे यों जानते-बूझते

कहा करते थे कि) अहो श्रमण गौतम मद्गुर-मागुर मछली के रंग के हो गए हैं, इनकी जो पहले शुभ-वर्ण-वाली देह थी वह भी नहीं रह गई है।

27. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि कितने ही श्रमण और ब्राह्मण हैं, जो अनाहार से शुद्धि मानते हैं। मैं क्यों न पूरी की पूरी अनाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, तदनन्तर मैं निराहार रहने लगा। हे भिक्षुओं, निराहार रहने से मेरा शरीर अत्यन्त सूख गया, दुबला-पतला हो गया। जैसे आसीतकी (नील) की गाँठें हों, अथवा काला (मंजिष्ठा) की गाँठें हों (वैसे ही मेरे अंग-प्रत्यंग हो गए), उनसे भी दूने, तिगुने, चौगुने, पँचगुने, दसगुने मेरे अंग-प्रत्यंग दुबले हो गए। जैसे केकड़े की पसलियाँ हों (–256–) घोड़साल के =189ख= छप्पर का ढाँचा हो, वैसे (मेरी) पसलियाँ हो गईं। मेरी पीठ-कंटक (=मेरुदंड) दोहरी गाँठों वाली रस्सी के जैसा (ऊबड़-खाबड़) हो गया। सिर का कपाल कडुई तूंबी का जैसा हो गया। आँखों की पुतलियाँ कूपतारों जैसी हो गईं। हे भिक्षुओं, अच्छी तरह उठूँ, यह सोचकर अंगों से यत्न करता हुआ मैं गुट-मुटा कर गिर पड़ता था। कठिनाई से उठ धूल भरे अंगों को झाड़ता तो पूतिरोम (अर्थात् ऐसे रोएँ जिनकी जड़ें सड़गल गई थीं) गिर पड़ते थे। और जो मेरी शुभ-वर्ण-वाली देह की आभा थी, वह भी नहीं रह गई थी, जैसे रूक्षप्रधान (अर्थात् रूखे तप) में तन-मन से लगने के कारण (तपस्वी की) नहीं रह जाती है। और चारों ओर गोचर ग्रामों (भिक्षा देनेवाले ग्रामों) के निवासी लोग यों जानते-बूझते (कहा करते) थे कि अहो श्रमण गौतम काले हो गए हैं, श्रमण गौतम साँवले हो गए हैं, अहो श्रमण गौतम मद्गुर (मागुर मछली) के रंग के हो गए हैं, इनकी जो पहले शुभ-वर्ण-वाली आभा थी, वह भी नहीं रह गई है।

राजा शुद्धोदन भी उस समय दिन-प्रतिदिन बोधिसत्त्व के पास दूत भेजते रहते थे।

28. हे भिक्षुओं, इस प्रकार लोक को आश्चर्य का कार्य दिखाने के लिए (तीर्थिकों के घण्मड को चूर करने के लिए, परपक्ष के प्रवादियों को परास्त करने के लिए, और देवताओं को अपनी ओर झुकाने के लिए) जिन प्राणियों की कर्म करने की भावना नष्ट हो गई थी, उन्हें कर्म करने की भावना में उतारने के लिए, पुण्यसंचय को उपजाने के लिए, महाज्ञान के गुणों को दिखाने के लिए, ध्यान के अंगों को विभक्त करने के लिए एक बेर, =190क= एक तण्डुल, तथा एक तिल से छह वर्ष की दुष्करचर्या का आचरण करना बोधिसत्त्व ने दिखाया। अदीन मनसे छह बरसों तक बोधिसत्त्व पलथी मार कर बैठे रह गए और ईर्यापथ से (अर्थात् चर्या से) च्युत न हुए। धूप से न छाया में गए और न

छाया से धूप में (गए)। धूप, हवा और पानी से (अपने-आप को) न बचाया और न डाँस, मच्छर और सरकने वाले जन्तुओं को हटाया। न मल, मूत्र, थूक, नाक (मल) का त्याग किया और न (अंगों को) सिकोड़ा-फैलाया। (दोनों) पासों व पेट से और पीठ से बैठने में सहारा लिए बिना बैठे रहे। और जो बदली थी, बड़ी बदली थी, पानी, बिजली, सरदी, (–257–) गरमी तथा पाला था, वह सब बोधिसत्त्व के शरीर पर गिरता था, पर बोधिसत्त्व हाथ तक से भी (अपने को) न ढँकते थे। न इन्द्रियों को (विषयों) से छिपाते थे, न (इन्द्रियों से) इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करते थे। जो गाँव के लड़के, गाँव की लड़कियाँ, ग्वाले, चरवाहे, घसियारिनें, लकड़हारिनें, या गोबर बटोरने वालियाँ थीं, वे बोधिसत्त्व को पांशुपिशाच (अर्थात् धूल का बना भूत का पुतला) समझती थीं, उनसे खेलती थीं, और उन्हें धूल से मसलती थीं।

29. वहाँ बोधिसत्त्व = 190ख = उन छह वर्षों में उतने रूखे दुबले-पतले शरीर के हो गए कि उनके कान के छेदों में तिनके की तूली डाल कर नाक के छेदों से निकाल ली जाती थीं, और नाक के छेदों में डाल कर कान के छेदों से निकाल ली जाती थीं, कान के छेदों में डाल कर मुँह के द्वार से निकाल ली जाती थी, मुँह के द्वार से डाल कर कान और नाक के छेदों से निकाल ली जाती थी, नाक में डाल कर कान और नासिका तथा मुख के द्वार से निकाल ली जाती थीं।

30. और जो देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किन्नर, महोरग[15] बोधिसत्त्व के गुणों के प्रत्यक्षदर्शी थे, वे रात-दिन बैठे बोधिसत्त्व की पूजा करते थे, (और उनके जैसा होने का) प्रणिधान (संकल्प) करते थे।

31. वहाँ छह वर्षों में दुष्कर-चर्या दिखलाते हुए बोधिसत्त्व ने पूरे बारह खर्ब देवताओं और मनुष्यों को तीन (प्रकार के अर्थात् श्रावक, प्रत्येक बुद्ध, तथा सम्यक्संबुद्ध के) यानों के द्वारा (धर्म में) पक्का किया।

32. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छन्द आर्या)

तस्य च गुणान्वितस्य पुराद् विनिष्क्रम्य बोधिसत्त्वस्य।
चिन्ता उपाययुक्ता सत्त्वार्थहिताय उत्पन्ना ॥790॥

---

15. मूल, ०महोरगा (मनुष्यामनुष्या) कोष्ठक का पाठ भोट में उपलब्ध नहीं है, अनपेक्षित भी है।

नगर से निकल कर (प्रव्रजित हुए) उन गुणों से युक्त बोधिसत्त्व के मन में प्राणियों का हित करने का उपायसहित विचार उपजा।

पञ्चसु कषायकाले [16]होने धर्माधिमुक्तिके लोके[16]।
जातोऽस्मि जम्बुद्वीपे धर्मक्रिया-उद्धुरे लोके ॥791॥

(आयु के, दृष्टि के, क्लेश के, सत्त्व के, तथा कल्प के) पाँच कषाय-वाले (ह्रास के) समय में हीन-धर्म में रुचि वाले लोगों के बीच, धर्म क्रिया के **प्रति आस्था** उठ जाने वाले लोक के भीतर **जम्बूद्वीप में** उत्पन्न हुआ हूँ।

(–258–) आकीर्ण तीर्थिकगणै कौतुहलमङ्गलैरिमे युक्ता।
कायोपक्रमकरणै मन्यन्ते बालिशाः शुद्धि ॥792॥

तीर्थिकों के संघों से व्याप्त, पर्व-त्योहार मनाने में लगे हुए, मूढ़ लोग काया को सताने के द्वारा शुद्धि का होना मानते हैं।=191क=

अग्निप्रवेश-मरु-प्रताप-पांशुभस्मादिम्रक्षिता नग्नाः।
कायापरितापनार्थं पञ्चा-तप-योगमनुयुक्ताः ॥793॥

(वे) काया को सताने के लिए पाँच प्रकार की तपस्या में जुट कर लगे रहते हैं—अग्नि में प्रवेश करते हैं, मरुभूमि में चले जाते हैं, प्रपात से गिर जाते हैं, धूल और भस्म आदि मलते हैं, नंगे रहते हैं।

मन्त्रा-विचार-करणा[17] केचिद्धस्तावलेहका अबुधाः।
न च कुम्भमुखकरोटान्न द्वारमुशलान्तराच्च[18]गृह्णन्ति ॥794॥

कितने ही नासमझ मन्त्रविचार (अर्थात् मन्त्रसाधना) करते हैं, हस्ताव-लेहक (करपात्री होकर) रहते हैं, न घड़े के मुँह से (निकल कर दी गई भिक्षा) लेते

16....16. मूल, हीनेऽधर्माधिमुक्तिके लोके। ऽधर्म० के स्थान में **धर्म०** पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, **छोस् दमन् मोस् प हि ह् जिग् र्तेन् पो** (=होने धर्माधिमुक्तिके लोके)।

17. मन्त्रा-विचार-करणा के स्थान में भोट पाठ हस्तप्रसारचरणाः (हाथफैलाकर चलने वाले) हैं—**लग् प ब् क्र्यंङ् स्ते ग्र्यु ब दङ्**। यह पाठ भी उत्तम है। पाठान्तर मन्त्राविचारकरणा (अर्थात् भोजन की मात्रा का ख्याल रखने वाले) संभवतः मूल पाठ था, जिसकी यहाँ पर ठीक संगति बैठती है।

18. मूल न धारकुशलान्तराच्च गृह्णन्ति (पाठान्तर न द्धारकुशलान्तराच्च गृह्णन्ति)। शुद्ध पाठ, न द्वारमुशलान्तराच्च गृह्णन्ति था। तुलनीय भोट, **स्गो दङ् क बस् छोद् मि लेन** (=न द्वारस्तम्भान्तराच्च गृह्णन्ति।

हैं, न खप्पर से (निकाल कर दी गई भिक्षा लेते हैं), न द्वार (की देहली) के बीच में रहने से (भिक्षा) लेते हैं, न मूसल के बीच में रहने से (भिक्षा) लेते हैं।

न च यत्र स्वानु भवती न चाहितं ते न तिष्ठवाक्यस्य।
कुलभिक्ष एक गृह्या शुद्धं मन्यन्तिहात्मानं ॥795॥

जहाँ कुत्ता होता है (वहाँ से भिक्षा) नहीं लेते हैं, तुम्हारे लिए (भिक्षा) रक्खी है (ऐसा बोलने वाले की भिक्षा) नहीं लेते हैं, ठहरो (ऐसा) बोलने वाले की (भिक्षा) नहीं लेते हैं, (केवल) कुल से एक—भिक्षा लेकर अपने-आप को शुद्ध मानते हैं।

वर्जेन्ति सर्पितैलं फाणितदधिदुग्धमत्स्यमांसानि।
स्यामाकसाकभक्षा मृणाल-गर्डुलकणाभक्षाः[19] ॥796॥

(कोई) घी-तेल, फाणित (राब) दही-दूध, मछली-मांस का त्याग करते हैं, सावां और साग-पात खाते हैं, मृणाल और गर्डुल-कण (तृणधान्यों के तण्डुल) खाते हैं,

फलमूलपत्रभक्षाः कुशचीवरचर्मकम्बलधराश्च।
अपरे भ्रमन्ति नग्नाः सत्यमिदं मोहमन्यदिति मूढाः ॥797॥

(कोई) फल, मूल और पत्र खाते हैं, कुश, गुदड़ी, चर्म, तथा कम्बल पहनते हैं। दूसरे नंगे घूमते हैं और मोह में पड़े हुए सोचते हैं कि यही सत्य है, और सब मिथ्या है।

धारेन्ति ऊर्ध्वहस्ता ऊर्ध्वं केशा जटांश्च धारेन्ति।
मार्गा नु अतिप्रनष्टा आमार्गसंस्था सुगतिगमनकामाः ॥798॥

(कोई) हाथ ऊपर उठा कर रहते हैं, केश और जटाएँ ऊपर (बढ़ाकर) रखते हैं, मार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट हैं, सुगति की ओर जाना चाहते हैं पर राह पर नहीं हैं।

---

19. गर्डुलकणाभक्षाः का भोट में ग्झेगस् वङ् ब लङ् ल्चि ब ज्ञ् (=कणगोमयभक्षाः)। गर्डुल संभवतः कोई निम्न कोटि का चावल है, आयुर्वेद में हीन कोटि के चावलों में दर्दुर (अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, 6/9) का उल्लेख है। पर यदि गर्डुलकण सचमुच गोमयकण हो तो वह गुबरीला अन्न है अर्थात् गाय भैंस के गोबर को पानी धो कर जो अन्न के कण बच रहते हैं, उनसे यहाँ अभिप्राय है। पुरातन काल के तपस्वी ऐसा अन्न खाते हों तो कोई विशेष बात नहीं पर मगध में कुछ दरिद्रवर्गों में यह आचार आज भी प्रचलित है। शब्दसाम्य की दृष्टि से दर्दुर नामक चावल गर्डुल जान पड़ता है। यह शब्द और भी विचारणीय है।

तृणमुसलभस्मशयनाः कण्टकशयनाश्च उत्कुटध्यायि ।
स्थित केचिदेकपादे ऊर्धमुखाश्चन्द्रसूर्यं पश्यन्तः ॥799॥

(कोई) तृणों पर, मुसलों पर, भस्म पर सोते हैं और (कोई) काँटों पर सोते हैं, (कोई) उकड़ूँ ध्यान लगाते हैं, कोई एक पैर पर खड़े-खड़े ऊपर मुँह कर चन्द्र और सूर्य देखते रहते हैं ।

उत्सां सरस्तडागां सागरसरितश्च चन्द्रसूर्यौ च ।
वृक्षगिरिशैलशिखरां कुम्भं धरणीं नमस्यन्ति ॥800॥

झरनों को, झील और तालाबों को, समुद्र और नदियों को, तथा चन्द्र और सूर्य को, वृक्ष, पर्वत और पर्वत शिखरों को, कलश को एवं धरती को नमस्कार करते हैं ।

विविधैश्च कारणैस्ते[20] कायं परिशोषयन्ति[21] संमूढाः ।
मिथ्यादृष्टिपरीताः क्षिप्रं प्रपतन्त्यपायेषु ॥801॥

वे नासमझ नाना प्रकार की यातनाओं से (अपना) शरीर सुखाते हैं, मिथ्या दृष्टियों से घिरे हुए शीघ्र ही दुर्गतियों में गिरते हैं ।

यन्नूनमहं व्रत-तप-दुष्करचर्यां = 191ख = समारभे घोरां ।
यं दुष्करं न शक्यं चरितुं देवैर्मनुष्यैर्वा ॥802॥

मैं क्यों न व्रत और तप की (उस) घोर दुष्कर-चर्या का आरम्भ करूँ, जिस दुष्कर की चर्या मनुष्य अथवा देवता (भी) न कर सकें ।

(–259–) आस्फानकं च ध्यानं ध्यायेयं वज्रकल्पदृढ़स्थामं ।
यं ध्यानं न समर्थाः प्रत्येकजिनापि दर्शयितुं ॥803॥

वज्र (हीरे) के समान दृढ़ और स्थिर (मैं वह) आस्फानक ध्यान ध्याऊँ, जिस ध्यान को प्रत्येकबुद्ध भी कर दिखाने में समर्थ नहीं होते हैं ।

सन्तीह देवमनुजाः तीर्थिक-लूहव्रतेन हृष्यन्ते ।
तेष परिपाकहेतो दुष्करव्रततप रमेय सूतीव्रं ॥804॥

यहाँ मनुष्य और देवता हैं, जो तीर्थिकों के रूक्षव्रत से आनन्दित होते हैं, उनको (धर्म में) पक्का करने के लिए अत्यन्त घोर दुष्कर व्रत-तप का मैं आरम्भ करूँ ।

---

20. कारणैस् पद में कारण शब्द कारणा (= यातना) का अपभ्रंश है । भोटानुवाद कारणा शब्द को मान कर हुआ है—**ग्नोद् मङ् गिस् ।**

21. मूल, परिशोधयन्ति । पठनीय, परिशोषयन्ति । तुलनीय भोट, **योङ्स् तु स्कम्स् पर ब्येद् ।**

पर्यङ्कमाभुजित्वा उपविष्टोऽभूत् स्थले असंस्तीर्णे ।
कोलतिलतण्डुलेना आहारविधि विदर्शयति ॥805॥

बिना आसन की भूमि पर (बोधिसत्त्व) पलथी मार कर बैठ गए, (एक) बेर, तण्डुल और तिल से भोजन की विधि दिखलाई ।

आश्वासविप्रहीनः प्रश्वासवर्जितु न चेञ्जते बलवान् ।
षड् वर्षाणि प्रवरं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥806॥

बलवान् (बोधिसत्त्व) ने साँस छोड़नी बन्द कर दी, साँस लेना छोड़ दिया, हिले-डुले तक नहीं, छह वर्ष तक उत्तम आस्फानक-ध्यान का ध्यान करते रहे ।

कल्पं नो न विकल्पं न चेञ्जनं [22]नापि मन्येन प्रचारं[22] ।
आकाशधातुस्फरणं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥807॥

न संकल्प किया न विकल्प किया, न चंचलता की और न मन से गति की, (केवल) आकाश-धातु तक व्यापक आस्फानक ध्यान ध्याते रहे ।

न च आतपातु छायां छायाया नातपं गतश्चासौ ।
मेरुरिव निष्प्रकम्प्यो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥808॥

वे न धूप से छाया में गए और न छाया से धूप में गए, सुमेरु (पर्वत) के समान अडिग रहते हुए आस्फानक-ध्यान ध्याते रहे ।

न च वातवृष्टिच्छदनं न दंशयशकासरीसृपा त्राणं ।
अविकोपितया चर्या ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥809॥

न हवा-पानी से (बचने के लिए) आच्छादन किया, न डाँस-मच्छर और सरकने वाले जन्तुओं से (अपनी) रक्षा की, क्षोभ रहित चर्या से आस्फानक ध्यान ध्याते रहे ।

न च केवलमात्मार्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ।
अन्यत्र करुणचित्तो=192क=भावी लोकस्य विपुलार्थं ॥810॥

केवल अपने हित के लिए आस्फानक ध्यान नहीं ध्याते रहे, (प्रत्युत्) दूसरों पर करुणा-चित्त के साथ लोक का बहुत हित करने के लिए भावना करते रहे ।

ये ग्रामदारकाश्च गोपालाः काष्ठहार तृणहाराः ।
पांशुपिशाचकमिति तं मन्यन्ते पांशुना च म्रक्षन्ति ॥811॥

22....22. **नापि मन्येन प्रचारं** इस पाठ में मन्येन पद मन्येन (=मनसा) के अर्थ में हैं । तुलनीय भोट, **सेमस् ग्युं गेव** (न चित्तप्रचरणम्) ।

जो गाँव के लड़के, कठिहारे और घसियारे थे, वे उनको पांशुपिशाच अर्थात् धूल का बना भूत का पुतला समझते थे और धूल से मलते थे ।

असुचीना च क्रिरन्ते विविधास्ते कारणाश्च कारेन्ति ।
न च इञ्जते भ्रमति वा ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥812॥

वे गन्द (ऊपर) फेंकते थे, तरह-तरह से सताते थे, (फिर भी बोधिसत्त्व) हिलते-डुलते थे, या चलते-फिरते न थे, आस्फानक-ध्यान ध्याते रहते थे ।

न च नमति नो विनमते न काय परिरक्षणा स्पृशति ।
किं चिन्नोच्चारप्रस्रवं शब्देषु न संत्रसी न पर प्रेक्षी ॥813॥

(वे) न ऊँचे होते थे, न झुकते थे, न रक्षा के लिए शरीर छूते थे, न कुछ मल-मूत्र करते थे, न शब्दों से डरते थे, न दूसरे को देखते थे । (--260--)

संशुष्क मांसरुधिरं चर्मस्नाय्वस्थिकाश्च अवशिष्टा ।
उदाराच्च पृष्ठिवंशो विदृश्यते वर्तिता यथा वेणी ॥814॥

(उनका) मांस और लोहू बिलकुल सूख गया था, हाड़-चाम और नसें बच रही थीं, पेट से पीठ की रीढ़ ऐसे दिखाई देती थी मानो बटी वेणी हो ।

ये ते कृताधिकारा देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः[23] ।
प्रत्यक्ष गुणधरस्या करोन्ति पूजां दिवा रात्रौ ॥815॥

जो देवता, असुर, नाग, यक्ष और गन्धर्व (धर्म के) अधिकारी थे (और) गुणशाली (बोधिसत्त्व) जिन के प्रत्यक्ष थे, वे दिन-रात पूजा करते थे ।

प्रणिधिं च कुर्वते ते वयमपि तादृश भवामहे क्षिप्रं ।
यथ एष गगणचित्तो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥816॥

वे प्रणिधि (संकल्प) करते थे कि हम भी शीघ्र वैसे ही हो जाएँ जैसे ये आकाश के समान (व्यापक) चित्त के साथ आस्फानक-ध्यान ध्याते रहे हैं ।

न च केवलमात्मार्थं न ध्यानस्वादनान्न सुखबुद्धया ।
अन्यत्र करुणबुद्धध्या करिष्यत्यर्थं विपुल लोके ॥817॥

(ये) अपने हित के लिए ध्यान नहीं कर रहे हैं, ध्यान का रस चखने के लिए ध्यान नहीं कर रहे हैं, सुख के भाव से ध्यान नहीं कर रहे हैं, (प्रत्युत्) दूसरों पर कृपा के भाव से, लोक का बहुत हित करना है, इसलिए ध्यान कर रहे हैं ।

---

23. मूल, देवाः सुर० । पठनीय, देवासुर० । तुलनीय भोट, ल्ह वङ् ल्ह मिन् ।

निहताः परप्रवादा ध्यामोकृत तीर्थिका मतिविहीनाः ।
कर्मक्रिया च दर्शित या प्रोक्ता काश्यपे वाचा ॥818॥

दूसरे प्रवादियों को परास्त कर दिया, मति से रहित तीर्थिकों को निस्तेज कर दिया, (भगवान्) काश्यप से जो वचन कहा था (तदनुसार) कर्मक्रिया कर दिखाई । = 192ख =

क्रकुच्छन्दकस्य बोधि बोधिरिह सुदुर्लभा बहुभि कल्पैः ।
जनताया इत्यर्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥819॥

(भगवान्) क्रकुच्छन्द को (मिली) बोधि यहाँ पर बहुत कल्पों में बड़ी कठिनाई से मिलने वाली बोधि है, जनता को यह **(बताने) के लिए (वे बोधिसत्त्व)** आस्फानक ध्यान ध्याते रहे ।

द्वादश नयुता पूर्णा विनीत मरुमानुषास्त्रिभिर्यानैः ।
एतदधिकृत्य सुमति ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥820॥[24]

पूरे बारह खर्ब देवता और मनुष्य तीन (श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, तथा सम्यक्-संबुद्ध) यानों के द्वारा (धर्म में) विनीत हों—इसके लिए (वे) सुमति (बोधिसत्त्व) आस्फानक ध्यान ध्याते रहे ।

॥ इति श्रीललितविस्तरे दुष्करचर्यापरिवर्तो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

●

---

24. इस परिवर्त को गाथाओं की छाया यों है—

मा खल्वयं शाक्यनरेन्द्रगर्भो ह्यपूर्णसंकल्प इहैवारण्ये । कृत्वा त्रिलोकं दुःखितमनाथ कालं कार्षीत् (यथाकृतं नु करिष्यति) अकृतार्थ एव ॥780॥ हा सत्त्वसार सद्दृढप्रतिज्ञ सद्धर्मयज्ञेन निमन्त्रिता अभूम । वयं पुरा ते तुषितेषु नाथ क्व सा प्रतिज्ञा तव शुद्धसत्त्व ॥781॥ यदा जातोऽसि मे पुत्र वने लुम्बिनीसाह्वये । सिंहवच्चागृहीतस्त्वं प्रक्रान्तः सप्त पदानि स्वयं ॥782॥ दिशश्चालोक्य चतस्रो वाक् ते प्रव्याहृता शुभा । इयं मे पश्चिमा जातिः सा त न परिपूरिता ॥783॥ असितेनाभिनिर्दिष्टो बुद्धो लोके भविष्यति । क्षुण्णं (=विनष्टं, हीनं) व्याकरणं तस्य न दृष्टा तेनानित्यता ॥784॥ चक्रवर्तिश्रीः पुत्र नापि भुक्ता मनोरमा । न च बोधिमनुप्राप्तो यातोऽसि निधनं वनं ॥785॥ पुत्रार्थं के प्रयद्ये कं वा क्रन्दामि दुःखिता । को मे दद्याद् एकपुत्रस्य किंचित्प्राणस्य जीवितम् ॥786॥ कैषाति त्वं करुणं रोदिषि प्रकीर्णकेशा विनिवृत्तशोभा । पुत्रं ह्यतीव परिदेवमाना विचेष्टमाना धरणीतलस्था ॥787॥ मया तु दश मासान् वै कुक्षौ वज्र इव धृतः । सा तेऽहं

पुत्रक माता विलपामि सुदुःखिता ॥788॥ अपि शतधा वसुधा विकीर्येत मेरु प्लवेत चाम्भसि रत्नशृङ्गः। चन्द्रार्कतारागणो भुवि पतेत् पृथग्जनो नैवाहं म्रियेय। तस्मान्न शोकस्त्वयात्र कार्यो न वै चिराद् द्रक्ष्यसि बुद्ध-बोधिम् ॥789॥

तस्य च गुणान्वितस्य पुराद् विनिष्क्रम्य बोधिसत्त्वस्य। चिन्तोपाययुक्ता सत्त्वार्थहितायोत्पन्ना ॥790॥ पञ्चानां कषायाणां काले हीने धर्मेऽविमुक्तिके लोके। जातोऽस्मि जम्बूद्वीपे, उद्धृतधर्मक्रिये लोके ॥791॥ आकीर्णास्तीर्थिकगणैः कौतूहलमङ्गलैरिमे युक्ताः। कायोपक्रमकरणैर्मन्यते बालिशाः शुद्धिम् ॥792॥ अग्निप्रवेशमरु-प्रपात-पांशुभस्मादिम्रक्षिता नग्नाः। कायपरितापनार्थं पञ्चतपोयोगमनुयुक्ताः ॥793॥ मन्त्र-विचार-करणाः केचिद्धस्तावलेहका अबुधाः। न च कुम्भमुखकरोटाद् न द्वारमुसलान्तराच्च गृह्णन्ति ॥794॥ न च यत्र श्वा भवति न चाहितं ते न तिष्ठवाक्यस्य। कुलभिक्षामेवां गृहीत्वा शुद्धं मन्यन्त इहात्मानम् ॥795॥ वर्जयन्ति सर्पिस्तैलं फाणितदधिदुग्धमत्स्यमांसानि। श्यामाकशाकभक्षा मृणालगर्दूलकणभक्षाः (दर्दुरकणभक्षाः) ॥796॥ मूलफलपत्रभक्षाः कुशचीवरचर्मकम्बलधराश्च। अपरे भ्रमन्ति नग्नाः सत्यमिदं मोहनमन्यदिति मूढाः ॥797॥ धारयन्त्यूर्ध्वहस्तम् ऊर्ध्वं केशान् जटाश्च धारयन्ति। मार्गाद् अतिप्रनष्टा अमार्गसंस्थाः सुगतिगमनकामाः ॥798॥ तृणमुसलभस्मशयनाः कण्टकशयनाश्चोत्कुटध्यायिनः। स्थिताः केचिदेकपादे, ऊर्ध्वमुखाश्, चन्द्रसूर्यौ पश्यन्तः ॥799॥ उत्सान् सरस्तटाकान् सागरसरितश्च चन्द्रसूर्यौ च। वृक्षगिरिशैलशिखराणि कुम्भं धरणीं नमस्यन्ति ॥800॥ विविधाभिश्च कारणाभिस्ते कायं परिशोषयन्ति संमूढाः। मिथ्यादृष्टिपरीताःक्षिप्रं प्रपतन्त्यपायेषु ॥801॥ यन्नूमहं व्रततपोदुष्करचर्यां समारमेय घोराम्। यद् दुष्करं न शक्यं चरितुं देवैर्मनुष्यैर्वा ॥802॥ आस्फानकं च ध्यानं ध्यायेयं वज्रकल्पदृढस्थाम। यद् ध्यानं न समर्थाः प्रत्येकजिना अपि दर्शयितुम् ॥803॥ सन्तीह देवमनुजास्तीर्थिकरुक्षव्रतेन हृष्यन्ति। तेषां परिपाकहेतोर् दुष्करव्रततप आरभेय सुतीव्रम् ॥804॥ पर्यङ्कमाभुज्योपविष्टोऽभूत् स्थलेऽसंस्तीर्णे। कोलतिलतण्डुलेनाहारविधिं विदर्शयति ॥805॥ आश्वासविप्रहीनः प्रश्वासवर्जितो न चेजते बलवान्। षड् वर्षाणि प्रवरं ध्यायत्स्फानक ध्यानम् ॥806॥ कल्पं (=कल्पनां) नो, न विकल्पं, न चेञ्जनं नापि मनसा प्रचारं (चकार)। आकाशधातुस्फरणं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥807॥ न चातपाच्छायां छायायां नातपं गतश्चासौ। मेरुरिव निष्प्रकम्प्यो ध्यायत्यास्फानकं

ध्यानम् ।।808।। न च वातवृष्टिच्छदनं न दंशमशकसरीसृपात् त्राणम् । अवि-कोपितया चर्यया ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।809।। न च केवलमात्मार्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् । अन्यत्र करुणचित्तोऽत्रोभवत् (=भावयति स्म) लोकस्य विपुलार्थम् ।।810।। ये ग्रामदारकाश्च गोपालाः काष्ठहारास् तृण-हाराः । पासुपिजाचकमिति तं मन्यन्ते पांशुना च म्रक्षन्ति ।।810।। अशु-चिना च किरन्ति विविधास्ते यातनाश्च कुर्वन्ति । न चेङ्गति भ्रमति वा ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।812।। न च (उद्) नमति नो विनमति न कायं परिरक्षणाय स्पृशति । किंचिन्नोच्चारप्रस्रावं, शब्देभ्यो न समत्रसीत्, न परं प्रैक्षिष्ट ।।813।। संशुष्कं मांसरुधिरं चर्मस्नाय्वस्थिकाश्चावशिष्टाः । उद-राच्च पृष्ठवंशो विदृश्यते वर्तिता यथा वेणी ।।814।। ये ते कृताधिकारा देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः । प्रत्यक्षा गुणधरस्य कुर्वन्ति पूजां दिवा रात्रौ ।।815।। प्रणिधिं च कुर्वते ते वयमपि तादृशा भवाम क्षिप्रम् । यथैव गगन-चित्तो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।816।। न च केवलमात्मार्थं न ध्यान-स्वादान्न सुखबुद्ध्या । अन्यत्र करुणाबुद्ध्या करिष्यत्यथ विपुलं लोकस्य ।।817।। निहताः वरप्रवादा श्यामीकृताः (यथारुतं तु ध्यामीकृताः=दग्धाः) तीर्थिका मतिविहीनाः । कर्मक्रिया च दर्शिता या प्रोक्ता काश्यपाय वाचा ।।818।। क्रकुच्छन्दकस्य बोधिर् बोधिरह सुदुर्लभा बहुभिः कल्पैः । जनताया इत्यर्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।819।। द्वादश नयुताः पूर्णा विनीता अमर-मानुषाः (यथा रुतं तु मरुन्मानुषाः) त्रिभिर्यानैः । एतदधिक्रत्म सुमतिर ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।820।।

॥ १८ ॥

॥ नैरञ्जनापरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 260 (पंक्ति 2)—272 (पंक्ति 7)
भोटानुवाद 192ख (पंक्ति 2)—00ख (पंक्ति 5)

॥ १८ ॥

॥ नैरञ्जनापरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, बड़ा पापी मार छह वर्षों तक दुष्करचर्या का आचरण करने वाले बोधिसत्त्व के पीछे-पीछे दोष देखने की ताक में, दोष ढूंढ़ने की ताक में निरन्तर लगा रहा पर उसे कभी कोई दोष न हाथ लगा, वह दोष हाथ न लगने से खीझता हुआ, पछताता हुआ चला गया ।

2. (–261–) उस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

रमणीयान्यरण्यानि वनगुल्माश्च वीरुधाः ।
प्राचीनमुरुविल्वायां यत्र नैरञ्जना नदी ॥821॥

उरुविल्वा के पूर्व की ओर जहाँ रमणीय अरण्य, वनगुल्म (झाड़ी-झुरमुट), लताएँ तथा नैरञ्जना नदी है—

प्रहाणायोद्यतं तत्र सततं दृढविक्रमं ।
परक्रमन्तं वीर्येण योगक्षेमस्य प्राप्तये ॥822॥

वहाँ प्रहाण (=संसारपरित्याग) के लिए निरन्तर दृढ़ विक्रम से उद्यमी तथा योगक्षेम (=निर्वाण) की प्राप्ति के लिए वीर-भाव से पराक्रमी (बोधिसत्त्व) के पास—

नमुचिर्मधुरां वाचं भाषमाणो उपागमत् ।
शाक्यपुत्रा समुत्तिष्ठ कायखेदेन किं तव ॥823॥

मार मीठी बोली बोलता हुआ पहुँचा (और यों बोला) हे शाक्यपुत्र उठो, काया को यातना देने से तुम्हारा क्या (बनेगा) ?

जीवतो जीवितं श्रेयो जीवन्धर्मं चरिष्यसि ।
जीवं हि तानि कुरुते यानि कृत्वा न सोचति ॥824॥

जीवित रहो, जीना अधिक अच्छा है । जीते हुए धर्म करोगे । जीते हुए को वह-सब करना चाहिए जो-सब कर के पछताना न पड़े ।

कृशो विवर्णो दीनस्त्वं अन्तिके मरणं तव ।
सहस्रभागे मरणं एकभागे च जीवितं ॥825॥

तुम दुबले हो, विरूप हो, दयनीय हो, तुम्हारी मृत्यु समीप है, हज़ार भागों में मौत घर कर चुकी है, एक भाग में केवल जीवन बचा है ।

ददतः सततं दानं =193क= अग्निहोत्रं च जुह्वतः।
भविष्यति महत्पुण्यं किं प्रहाणेन करिष्यसि ॥826॥

निरन्तर दान देते हुए, अग्निहोत्र करते हुए महान् पुण्य होगा, प्रहाण (=संसारपरित्याग) से क्या करोगे ?

दुःखं मार्गं प्रहाणस्य दुष्करं चित्तनिग्रहं।
इमां वाचं तदा मारो बोधिसत्त्वमथाब्रवीत् ॥827॥

प्रहाण (=संसारपरित्याग) की राह दुःख की है, चित्त को वश में रखना अत्यन्त कठिन है। यह बात मार ने उस समय बोधिसत्त्व से कही।

तं तथावादिनं मारं बोधिसत्त्वस्ततोऽब्रवीत्।
प्रमत्तबन्धो पापीयं स्वेनार्थेन त्वमागतः ॥828॥

तदनन्तर उस तरह बोलने वाले उस मार से बोधिसत्त्व बोले—हे प्रमाद के साथी (धोखा खाने में साथ देने वाले) बड़े पापी, तू अपने स्वार्थ के लिए आया है।

अनुमात्रं हि मे पुण्यैरर्थो मार न विद्यते।
अर्थो येषां तु पुण्येन तानेवं वक्तुमर्हसि ॥829॥

हे मार, पुण्यों से मेरा अणु-भर भी प्रयोजन नहीं है, जिनका पुण्य से प्रयोजन हो, उनसे ऐसा कहना चाहिए।

नैवाहंऽमरणं[1] मन्ये मरणान्तं हि जीवितं।
अनिवर्ती भविष्यामि ब्रह्मचर्यपरायणः ॥830॥

मैं न-मरने की कल्पना नहीं करता, जीवन का अन्त मरने में है, ब्रह्मचर्य में रत रहता हुआ मैं पीछे लौटने वाला नहीं हूँ।

(-262-) स्रोतांस्यपि नदीनां हि वायुरेष विशोषयेत्।
किं पुनः शोषयेत्कायं-शोणितं प्रहितात्मनां ॥831॥

यह वायु नदी के स्रोतों को भी सुखा सकती है, फिर अपनी लगन में लगे (तपस्वियों) के शरीर का रक्त सुखा डाले तो बात ही क्या ?

शोणिते तु विशुष्के वै ततो मांसं विशुष्यति।
मांसेषु क्षीयमानेषु भूयश्चित्तं प्रसीदति॥
भूयश्छन्दश्च वीर्यं च समाधिश्चावतिष्ठते ॥832॥

1. मूल, मरणं भोट, मि ह्छि (=अमरणं)। वस्तुतः शब्द यहाँ अमरणं है। मध्यभारती के व्याकरणानुसार अकार का अनुस्वार के अनन्तर लोप हो गया है।

रक्त के सूख जाने पर फिर मांस सूखने लगता है, मांसों का क्षय होते हुए चित्त और भी निर्मल होने लगता है, छन्द (= रुचि), वीर्य (= उद्योग) तथा समाधि और भी स्थिर होने लगते हैं।

तस्यैव(˙) मे विहरतः प्राप्तस्योत्तचेतना[2]।
चित्तं नावेक्षते कायं[3] पश्य सत्त्वस्य शुद्धतां ।।833।।

इस प्रकार, उत्तम चेतना पा, विहार करते हुए मेरा चित्त काया को देखता तक नहीं, सत्त्व की–जीवकी (इस) शुद्धता को देख।

अस्ति छन्दं तथा वीर्यं प्रज्ञापि मम विद्यते। = 193ख =
न तं पश्याम्यहं लोके वीर्याद् यो मां विचालयेत् ।।834।।

मुझमें छन्द (=रुचि) है, वीर्य (=उद्योग) है, तथा प्रज्ञा भी है, लोक में ऐसे किसी को मैं नहीं देखता जो मुझे उद्योग से डिगा सके।

वरं मृत्यु प्राणहरो धिग्ग्राम्यं नोपजीवितं।
संग्रामे मरणं श्रेयो यच्च जीवेत्पराजितः ।।835।।

प्राण ले लेने वाली मृत्यु उत्तम है, धिक्कार के योग्य गवाँरू जीवन नहीं। हार खाकर जो जीना है, उससे युद्ध में मरना कहीं अच्छा है।

नाशूरो जायते[4] सेनां, जित्वा चैना न मन्यते—
शूरस्तु जायते[4] सेनां, लघु मार जयामि ते ।।836।।

अ-शूर (= कायर) सेना को नहीं जीतता है। शूर सेना जीतता है और उसे जीत कर अभिमान नहीं करता है। हे मार, मैं तेरी (सेना) शीघ्र जीत लूँगा।

---

2. उत्तमचेतनां के स्थान में भोटपाठ **छोर् ब दम् प** अर्थात् उत्तमवेदना है। एक पाठान्तर तथा पालि भी उत्तमवेदनां पाठ के समर्थक हैं। पालि यों है—तस्स मेवं विहरतो पत्तस्सुत्तमवेदनं। कामे नापेक्खते चित्तं पस्स तत्तस्स सुद्धतं ।। सुत्तनिपात, पधानसुत्त, गाथा—11 ।।

3. कायं के स्थान में भोट **लुस् बङ् स्रोग् ल** अर्थात् कायजीवितं है, पालि यहाँ पर कामे (= कामान्) है।

4....4. जायते पद जि-धातु का रूप है, प्रयोग अनुपम है, यहाँ वृद्धि छन्द के कारण नहीं। बु० हा० सं० ग्रा० में इसका संग्रह किया है। वैद्यजी ने इस पद का ध्वंस कर जयते पाठ रक्खा है। भोटानुवाद, **ग्र्यल ते, ग्र्यल् बर् ह्.ग्युर।**

कामास्ते प्रथमा सेना द्वितीया अरतिस्तथा।
तृतीया क्षुत्पिपासा ते तृष्णा सेना चतुर्थिका ॥837॥

तेरी प्रथम सेना काम हैं, तथा दूसरी (सेना) अरति (=बेचैनी) है, तीसरी (सेना) भूख-प्यास है, तथा तेरी चौथी सेना तृष्णा है।

पञ्चमी स्त्यानमिद्धं ते भयं षष्ठी निरुच्यते।
सप्तमी विचिकित्सा ते क्रोधम्रक्षौ तथाष्टमी ॥838॥

तेरी पाँचवीं (सेना) निद्रा-तंद्रा हैं, छठी (सेना) भय (नाम से) कही जाती है, तेरी सातवीं सेना संशय है, तथा आठवीं (सेना) क्रोध और म्रक्ष (=दूसरे के गुणों के प्रति तुच्छता का भाव) है।

[5]लाभश्लोकौ च सत्कारो[5] मिथ्यालब्धं च यद् यसः।
आत्मानं यश्च उत्कर्षेद् यश्च वै ध्वंसयेत् परां ॥839॥
एषा हि नमुचेः सेना कृष्णबन्धो प्रतापिनः।
अत्रावगाढा दृष्यन्ते एते श्रमणब्राह्मणाः ॥840॥

लाभ, श्लोक (स्तोत्र), सत्कार तथा मिथ्या (के द्वारा) प्राप्त जो यश एवं जो अपने आप की मानोन्नति तथा औरों की मान-हानि करना है, यह (सब) अत्यन्त संताप देने, पाप के भाई-बंद, मार की सेना हैं, इसी में ये सब श्रमण-ब्राह्मण डूबे दिखाई पड़ते हैं।

या ते सेना धर्षयति लोकमेनं सदेवकं। (-263-)
भेत्स्यामि प्रज्ञया तां ते आमपात्रमिवाम्बुना ॥841॥

तेरी जो सेना इस देवताओं के सहित लोक को दबोच रही है, उस तेरी (सेना) को प्रज्ञा से भेद डालूँगा, जैसे कच्चा बर्तन पानी से भेद डाला जाता है।

स्मृतिं सूपस्थितां कृत्वा प्रज्ञां चैव सुभावितां।
संप्रजानं चरिष्यामि किं करिष्यसि दुर्मते ॥842॥

स्मृति को सम्यक् उपस्थित कर तथा प्रज्ञा को सम्यक् भावित कर जानते-बूझते विचरूँगा। हे दुष्टमति वाले (मार) तू (मेरा) क्या कर लेगा।

ऐसा कहने पर बड़ा-पापी मार दुःखी, खिन्न-मन, अप्रसन्न-चित्त =194क= पछताता हुआ वहीं पर तिरोहित हो गया।

5....5. मूल, लोभश्लोकौ च संस्कारौ। भोट, ह्थोब् दङ् छिग्स् ब्चद् ब्कुर् स्ति दङ्....(लाभश्लोकौ च सत्कारौ....)। तुलनीय पालि-लाभो सिलोको सक्कारो (सुत्तनिपात, पधानसुत्त, गाथा 14)।

3. हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि अतीत, अनागत और वर्तमान काल में जो भी श्रमण और ब्राह्मण अपनी तपस्या से काया को तपा कर जो तीव्र, खर, कटु एवं असह्य दुःखानुभूति करते हैं, वह दुःखानुभूति अधिक से अधिक इतनी ही होती है।

4. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि इस चर्या से भी-इस प्रतिपदा (मार्ग) से भी मुझे कोई विशेष मनुष्य-धर्म से ऊपर का पूर्ण आर्य-ज्ञानदर्शन प्रत्यक्षगोचर नहीं हुआ है, (इसीलिए) यह मार्ग बोधि का नहीं है, यह मार्ग उत्तर-काल में निरन्तर होने वाले जन्म, जरा तथा मरण के अस्त हो जाने का मार्ग नहीं है। बोधि का तथा उत्तर-काल में निरन्तर होने वाले जन्म, जरा तथा मरण के अस्त हो जाने का मार्ग कोई और ही होना चाहिए।

5. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि मैंने पिता के उद्यान में जम्बू (वृक्ष) की छाया में बैठे काम वासनाओं से अलग हुए, अशुभ-पाप धर्मों से अछूते, वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से युक्त, विवेक (=एकान्त) में उत्पन्न प्रीति तथा सुख से युक्त =194ख= प्रथम ध्यान को पाकर विहार किया था....(द्रष्टव्य कृषिग्रामपरिवर्त)....चतुर्थ ध्यान को पाकर विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधि का, निरन्तर होने वाले जाति,- जरा और मरण के अस्त हो जाने का मार्ग हो, उसके अनुसार मुझे ज्ञान हुआ कि वही मार्ग बोधि का है।

6. मेरे मन में यह बात आई कि इस प्रकार दुर्बल हुए (व्यक्ति) के द्वारा उस मार्ग का पूर्णतया सम्यक् बोध नहीं हो सकता। यदि मैं केवल अभिज्ञान (=दिव्यज्ञान) के बल से ही, इस प्रकार रूखे-दुबले शरीर से, बोधिमण्डप (--264--) पर पहुँचूं तो यह आने वाली जनता के ऊपर करुणा न होगी। यह मार्ग बोधि का नहीं है। क्यों न मैं स्थूल अन्न का भोजन कर, शरीर में बल और दृढ़ता उत्पन्न करने के पश्चात् बोधिमण्डप पर पहुँचूँ।

7. हे भिक्षुओं, वहाँ पर जो रूखी (तपश्चर्या) में रुचि वाले देवपुत्र थे, वे (अपने) चित्त से मेरे चित्त का विचार जान कर जहाँ मैं था, वहाँ पहुँच कर, मुझसे यों बोले—हे सत्पुरुष, तुम स्थूल अन्न का भोजन मत करो, हम रोम-कूपों द्वारा ओज तुम में भर देंगे।

8. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई। मैं निराहारी रहूँगा, ऐसी मेरी-अपनी प्रतिज्ञा है और चारों ओर गोचरग्रामों (=भिक्षा देने वाले ग्रामों) के निवासी लोग भी ऐसा ही जानते रहे हैं कि श्रमण गौतम =195क= निराहारी

रह रहा है। इस अवस्था में यदि रूखी (तपश्चर्या) में रुचि वाले देवपुत्र रोमकूपों द्वारा मुझमें ओज भर दें तो मेरी (निराहार रहने की बात) अत्यन्त झूठी बात होगी। तदनन्तर बोधिसत्त्व झूठ बोलने का कलंक न लगने पाए, इसलिए उन देवपुत्रों को मना कर, स्थूल अन्न का भोजन करने के लिए (अपने) चित्त को नमाया।

9. हे भिक्षुओं, इस प्रकार छह वर्ष का व्रत और तप पार कर बोधिसत्त्व उस आसन से उठ कर (मैं) स्थूल अन्न—यथा राव, मूँग का जूस, मटर का जूस, मथ्य (=मट्ठा), ओदन (=भात), तथा कुल्माष (घुघरी) भोजन में ग्रहण करूँगा।

10. हे भिक्षुओं, तब पाँचों भद्रवर्गीयों के मन में बात आई कि उस चर्या से भी, उस प्रतिपदा (मार्ग) से भी श्रमण गौतम कोई विशेष मनुष्य धर्म से ऊपर का पूर्ण आर्य-ज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार न कर सके, फिर अब स्थूल अन्न का भोजन करते हुए, मौज करने के जोड़-तोड़ में लग कर विहार करते हुए क्या कर पाएँगे। स्पष्ट ही ये (अभी) बच्चे हैं। ऐसा सोच-समझ बोधिसत्त्व के पास से चल गए। वाराणसी जाकर ऋषिपतन मृगदाव में विहरने लगे।

11. (–265–) यहाँ आरम्भ से ही दुष्कर-चर्या का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व के पास दस कुमारी ग्राम नेताकी पुत्रियाँ दर्शन के लिए, वन्दना के लिए, =195ख—उपासना के लिए जाया करती थीं। वे पाँचों भद्रवर्गीय भी उपस्थान (=सेवा) करते थे, एक बेर, एक तण्डुल और एक तिल दान दिया करते थे। ग्रामनेता की पुत्री कुमारियों के नाम बला, बलगुप्ता, सुप्रिया, विजयसेना, अतिमुक्तकमाला,[6] सुन्दरी, कुम्भकारी, उलविल्लिका, जटिलिका तथा सुजाता थे। इन सब कुमारियों ने वे सब प्रकार के जूस बना कर बोधिसत्त्व को दिए, जिन्हें खा-पीकर बोधिसत्त्व क्रम से गोचरग्रामों (=भिक्षा देने वाले ग्रामों) में भिक्षा करते हुए रूपवान् और बलवान् हो गए। तब से लेकर बोधिसत्त्व महाश्रमण एवं सुन्दर-श्रमण कहे जाने लगे।

12. हे भिक्षुओं, वहाँ पर ग्राम नेता की पुत्री सुजाता बोधिसत्त्व की दुष्कर चर्या के आरम्भ से ही व्रत एवं तप में बोधिसत्त्व के उत्तीर्ण होने के लिए तथा शरीर की पुष्टि के लिए प्रतिदिन आठ सौ ब्राह्मणों को भोजन कराती थी और मनौती मनाती थी कि मेरा भोजन करके बोधिसत्त्व सम्यक्-संबोधि को भलीभाँति बूझें।

---

6. मूल, अतिमुक्तकमाला। पठनीय, अतिमुक्तकमाला। तुलनीय भाट, अ-ति-
मु-क्त-क ि.ह फ्र ङ् ब चन् दङ्।

13. हे भिक्षुओं, छह वर्ष बीत जाने पर मेरे काषाय वस्त्र अत्यन्त जीर्ण हो गए थे। हे भिक्षुओं, =196क=मेरे मन में बात आई कि यदि मुझे कौपीन-प्रच्छादन (अंग ढँकने के लिए वस्त्र) मिले तो अच्छा हो।

14. उस समय हे भिक्षुओं, ग्राम नेता की पुत्री सुजाता की दासी, जिसका नाम राधा था, काल कर गई थी। उसे सन् के वस्त्र में लपेट कर, श्मशान में ले जाकर छोड़ दिया गया था। वही मुझे पांसुकूल (धूल में फेका वस्त्र) दिखाई पड़ा। तदनन्तर मैं उस पांसुकूल पर बायाँ पैर रख, दाहिना हाथ फैला, लेने के लिए झुका।

15. (–266–) तदनन्तर धरती के देवताओं ने आकाश के देवताओं को घोषणा कर सुनाई—मार्षो (=साथियो) यह अचरज है, मार्षो (=साथियो) यह अद्भुत है, जो महाराज कुल में उत्पन्न, चक्रवर्ति राज्य का परित्याग करने वाले का चित्त पांसुकूल की ओर झुका। आकाश के देवताओं ने धरती के देवताओं का शब्द सुन कर चातुर्महाराजिक देवताओं को घोषणा कर सुनाई, चातुर्महाराजिकों ने त्रायस्त्रिंश देवताओं को, त्रायस्त्रिंशों ने यामों को, यामों ने तुषितों को, तुषितों ने निर्माणरतियों को, निर्माणरतियों ने परनिर्मितवशवर्तियों को, परनिर्मितवशवर्तियों ने ब्रह्मकायिकों को। हे भिक्षुओं, उसी क्षण, उसी लव, उसी मुहूर्त, अकनिष्ठ-भुवन तक एक-घोष, एक साथ बड़ा नाद उठा कि मार्षो (=साथियो) यह अचरज है, मार्षो (=साथियों) यह अद्भुत है, जो महाराज कुल में उत्पन्न, =196ख= चक्रवर्ति राज्य का परित्याग करने वाले का चित्त पांसुकूल की ओर झुका।

16. अनन्तर बोधिसत्त्व के मन में बात आई—मुझे पांसुकूल मिल गया, पानी मिलता तो अच्छा होता। तदनन्तर वहाँ पर ही देवता ने हाथ से भूमि को धक्का दिया। वहाँ पुष्करिणी प्रकट हो गई। आज भी वह पाणिहता-पुष्करिणी के नाम से पुकारी जाती है।

17. फिर बोधिसत्त्व के मन में और भी बात आई-मुझे पानी मिल गया, शिला मिलती, जहाँ इस पांसुकूल को धोता, तो अच्छा होता। तब वहीं पर उसी क्षण इन्द्र ने शिला ला कर डाल दी। तदनन्तर बोधिसत्त्व ने पासुकूल धोया।

18. तब देवताओं के राजा इन्द्र बोधिसत्त्व से बोले। हे सत्पुरुष, यह मुझे दो, मैं धो दूँगा। पर बोधिसत्त्व ने प्रव्रज्या में आत्मनिर्भरता दिखाने के लिए वह पासुकूल इन्द्र को न देकर स्वयं धोया।

19. (–267–) उन्होंने (पुष्करिणी में) घुस कर श्रम किया, उनका शरीर थक गया, पुष्करिणी से उन्होंने निकलना चाहा। पर ईर्ष्या-भाव से व्याप्त बड़े

पापी मारने पुष्करिणी के किनारे बहुत ऊँचे कर डाले। उस पुष्करिणी के तीर पर (एक) बड़ा अर्जुन का पेड़ था। उस पर की देवता से बोधिसत्त्व =197क= लोकाचार पालन करने के लिए तथा (इस) देवता पर अनुग्रह करने के लिए बोधिसत्त्व बोले—हे देवते, पेड़ की डाली (झुका) दो। उसने पेड़ की डाली झुका दी। उसका सहारा लेकर बोधिसत्त्व (निकल कर) ऊपर आ गए। ऊपर आकर उस अर्जुन वृक्ष के नीचे पांसुकूल को संघाटी (=कन्था) बना कर सिया। आज भी वह स्थान पांसुकूलसीवन के नाम से कहा जाता है।

20. तदनन्तर शुद्धवासकायिक देवपुत्र विमलप्रभ ने काषायरंग में रँगे, श्रमण के लिए योग्य, कल्पिक (=विधिसंमत) चीवर बोधिसत्त्व को अर्पित किए। बोधिसत्त्व ने उनको लेकर पूर्वाह्ण में पहन कर संघाटी ओढ़ कर गोचर ग्रामों की ओर गए।

21. वहाँ पर उरुविल्वासेनापति के ग्राम में नन्दिक (नाम के) ग्रामनेता की पुत्री सुजाता को देवताओं ने आधी रात के समय चेताया कि जिनके लिए तुम महान् यज्ञ कर रही हो वे अपने व्रत में उत्तीर्ण हो सुन्दर स्थूल अन्न का भोजन करेंगे। तुमने पहले मनौती मनाई है कि मेरा भोजन कर बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को भलीभाँति बूझें। तुम्हें अब जो करना हो सो करो।

22. हे भिक्षुओं, तदनन्तर नन्दिक ग्रामनेता की =197ख= पुत्री सुजाता ने उन देवताओं के उस वचन को सुन कर जल्दी-जल्दी हजार गौओं के सात बार सार-सार लेकर इकट्ठे दूध से श्रेष्ठ ओज (वाला)–मण्ड (सार) लिया। वह उस ताजे दूध को लेकर, नए चावलों को, नई बटलोई में, नई चूल्ही लीप कर, सिद्ध करने लगी। उस (अन्न को) सिद्ध करते समय ये पूर्व-निमित्त (सगुन) दिखाई पड़ते थे। (--268--) उस दूध में श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, पद्म, वर्धमान आदि मंगलकारक (पदार्थ) दिखाई पड़ते थे। तब उसके मन में बात आई कि जैसे पूर्वनिमित्त (=सगुन) दिखाई पड़ते हैं, (उससे जान पड़ता है कि) निःसन्देह यह भोजन खाकर बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करेंगे। सामुद्रिक शास्त्र का तज्ज्ञ ज्योतिषी भी उस स्थान पर आया और उसने भी उसी तरह अमृत-प्राप्ति की भविष्यवाणी की। तदनन्तर (जब) वह पायस पक गया (तब) चौतरा लीप कर, फूलों से चौक पूर कर, सुगन्धित जल छिड़क कर, सत्कार के साथ आसन बिछा कर उत्तरा नाम की दासी को बुला कर कहा—हे उत्तरे, जा, ब्राह्मण बुला ला, मैं इस मधुपायस को देखती हूँ। अच्छा आर्ये, ऐसा कह कर (उत्तरा) पूर्व दिशा की ओर गई, उसने वहाँ बोधिसत्त्व

को ही देखा। उसी प्रकार दक्षिण की ओर बोधिसत्त्व को ही देखा। उसी प्रकार पश्चिम = 198क = और उत्तर की ओर गईं, वहाँ-वहाँ बोधिसत्त्व को ही देखा। उस समय शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सब दूसरे तीर्थिकों को (ऐसा) घेर लिया था कि कोई दिखाई न पड़ता था। तब उसने आकर अपनी मालकिन से कहा—हे आर्ये, कोई और श्रमण या ब्राह्मण दूसरी जगह नहीं दिखाई पड़ रहा है, जहाँ-जहाँ जाती हूँ वहाँ-वहाँ उन्हीं सुन्दर श्रमण को देखती हूँ। सुजाता बोली—जा उत्तरे, वही ब्राह्मण हैं, वही श्रमण हैं, उनके लिए यह (यज्ञ का) आरम्भ है, उन्हीं को ले आ। अच्छा आर्ये, ऐसा कह उत्तरा ने जाकर बोधिसत्त्व के चरणों में प्रणाम किया (और) सुजाता के नाम से निमन्त्रित किया। हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व (नन्दिक) ग्रामनेता की पुत्री सुजाता के घर पर जाकर बिछे हुए आसन पर बैठे।

23. तदनन्तर हे भिक्षुओं, (नन्दिक) ग्रामनेता की पुत्री सुजाता ने मधुपायस से भरी हुई सुवर्णपात्री बोधिसत्त्व को अर्पित की।

(–269–) तब बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई—सुजाता ने जैसा भोजन अर्पित किया है, आज मैं निःसन्देह इस (भोजन) का भोग कर सम्यक् सम्बोधि का भलीभाँति बोध करूँगा।

24. तदनन्तर बोधिसत्त्व = 198ख = उस भोजन को लेकर ग्रामनेता की पुत्री सुजाता से यह बोले—बहन, इस सुवर्णपात्री का क्या किया जाए। वह बोली—(यह) तुम्हारी ही हो। बोधिसत्त्व बोले—इस प्रकार के पात्र से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। सुजाता बोली—जैसी इच्छा हो वैसा करो, मैं पात्र के बिना किसी को भोजन नहीं अर्पित करती।

25. तदनन्तर बोधिसत्त्व उस पिण्डदान को लेकर उरुविल्वा से निकल कर पूर्वाह्ण के समय नागनदी-नैरंजना पर पहुँचे। उस पिण्डपात्र तथा चीवरों को एक ओर रख, अंग-प्रत्यंग शीतल करने के लिए, नैरंजना नदी में उतरे।

26. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के स्नान करते समय अनेक सहस्र देवपुत्र दिव्य अगर और चन्दन के चूर्णों और विलेपनों को नदी में घोल रहे थे तथा बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए रंग-रंग के दिव्य फूल जल में फेंक रहे थे।

27. उस समय नैरंजना नदी दिव्य गन्धों और पुष्पों से भरी-भरी बहती थी। जिस सुगन्धित जल से बोधिसत्त्व ने स्नान किया था, उसे लाखों-करोड़ खर्ब देवपुत्र ले-लेकर चैत्य के लिए तथा पूजा के लिए अपने-अपने भवन को ले जाते थे।

28. और जो बोधिसत्त्व के जो केशश्मश्रु (=दाढ़ी-मूछ और केश) थे उन सबको,=199क= मंगलमय समझ कर, चैत्य के लिए तथा पूजा के लिए, ग्रामनेता की पुत्री सुजाता ने ले लिए।

29 (–270–) नदी से निकल कर बैठने की इच्छा से बोधिसत्त्व ने पुलिन (=रेतीला नदी-तीर) निहारा। तब जो नेरंजना नदी में नागकन्या थी, उसने धरणीतल से ऊपर आकर मणिमय मनोरम भद्रासन बोधिसत्त्व को अर्पित किया। उस पर बैठ कर, ग्रामनेता की पुत्री सुजाता पर अनुकम्पा कर, जितना चाहा उतना मधुपायस, बोधिसत्त्व ने खाया। खाकर उस सुवर्णपात्री को (अपने प्रयोजन की न समझ) उपेक्षा-भाव के साथ पानी में फेंक दिया। फेंकते ही फेंकते उसे नागराज सागर परम-आदर-सत्कार के साथ लेकर अपने भवन चल पड़े। तब सहस्र नेत्र वाले पुरन्दर गरुड़ का रूप धर वज्र की चोंच बना कर नागराज सागर से वह सुवर्णपात्री छीनने लगे। जब न छीन सके, तब अपना रूप धर, आदर के साथ माँग कर चैत्य के लिए तथा पूजा के लिए त्रयास्त्रिंशभवन ले गए। ले जाकर पात्री-यात्रा नामक पर्व प्रवर्तित किया। आज भी त्रायस्त्रिंश देवों में प्रतिवर्ष पात्रीमह (=पात्रीमहोत्सव) होता है। उस भद्रासन को उसी नागकन्या ने =199ख= चैतन्य के लिए तथा पूजा के लिए ग्रहण किया।

30. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के द्वारा स्थूल अन्न का भोजन करने के ठीक बाद, उसी क्षण, बोधिसत्त्व के पुण्यबल से प्रज्ञाबल से काया पर पहले के वर्ण की (=रंग-रूप की) पुष्कलता (=प्रचुरता) का और बत्तीस महापुरुष लक्षणों का, तथा अस्सी अनुव्यंजनों का एवं व्यामप्रभता (=अर्थात् दोनों भुजाओं के फैलाने से बने व्यास वाली प्रभामण्डलता) का प्रादुर्भाव हो गया।

31. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

षड् वर्ष व्रत उत्तरित्व भगवान् एवं मतिं चिन्तयन्
सोऽहं ध्यानअभिज्ञज्ञानबलवानेवं कृशाङ्गोऽपि सन्।
गच्छेयं द्रुमराजमूलविटपं सर्वज्ञतां बुध्यितुं
नो मे स्यादनुकम्पिता हि जनता एवं भवेत् पश्चिमा ॥843॥

छह वर्षों तक किए व्रत में उत्तीर्ण होकर भगवान् ने यों विचार करते सोचा—ऐसे दुबले-पतले शरीर के साथ भी मैं यदि ध्यान एवं दिव्यबुद्धि के ज्ञानबल से ही वृक्षों के राजा (पीपल के) पेड़ के नीचे सर्वज्ञता का बोध करने के लिए जाऊँ, तो ऐसा करने से आगे वाली जनता के ऊपर मेरी अनुकम्पा न होगी। (–271–)

यत्त्वौदारिक भुक्त्व भोजनवरं काये बलं कृत्वना
गच्छेयं द्रुमराजमूलविटपं सर्वज्ञतां बुध्यितुं ।
मा हैवेत्वरपुण्य देवमनुजा लूहेन ज्ञानेक्षिणो
नो शक्ता सिय बुध्यनाय अमृतं कायेन ते दुर्बला: ।।844।।

हीन पुण्य के देवता और मनुष्य रूखी (तपश्चर्या) से (कहीं) ज्ञानदर्शन न चाहने लगें (और) शरीर से दुर्बल वे अमृत—बोध में (कहीं) असमर्थ न हो जाएँ (इसलिए यही उचित है) कि मैं स्थूल अन्न का उत्तम भोजन कर, शरीर में बल (उत्पन्न) कर, वृक्षों के राजा (पीपल के) पेड़ के नीचे सर्वज्ञता का बोध करने के लिए जाऊँ ।

सा च ग्रामिकधीत पूर्व चरिता नाम्ना सुजाता इति
यज्ञा नित्यु यजाति एवमनसा सिद्धे व्रतं नायके ।
सा देवान निशाम्य चोदन तदा गृह्या मधूपायसं = 200क =
उपगम्य नदि तीरि हृष्टमनसा नैरञ्जनाया स्थिता ।।845।।

पहले (की तपश्चर्या में) परिचर्या करने वाली, वह ग्रामनेता की पुत्री, नाम से सुजाता नित्य यज्ञ करती रहती थी जिससे कि नायक (बोधिसत्त्व का) व्रत सफल हो जाए । वह देवताओं की प्रेरणा तब सुन कर, मधुपायस लेकर, प्रसन्न मनके साथ नैरंजना नदी के तीर पर जाकर खड़ी हो गई ।*

सो चा कल्पसहस्रचीर्णचरितो शान्तप्रशान्तेन्द्रियो
देवैर्नागगणैर्ऋषी परिवृतो आगत्य नैरञ्जनां ।
तीर्णस् तारकु पार सत्त्व मतिमां स्नाने मतिं चिन्तयन्
ओरुह्या नदि स्नापि शुद्धविमलो लोकानुकम्पो मुनिः ।।846।।

और सहस्र कल्पों तक चर्या को पूरा किए हुए, शान्त एवं प्रशान्त इन्द्रियों वाले, देवताओं, नागगणों तथा ऋषियों से घिरे हुए, नैरंजना (नदी) पर आ, स्वयं पार पहुँच, प्राणियों को पार करने के (अभिप्राय) वाले, शुद्ध, निर्मल, लोक पर अनुकम्पा करने वाले, उन मुनि ने नदी में उतर कर स्नान किया ।

देवाः कोटिसहस्र हृष्टमनसा गन्धाम्बु चूर्णानि च
ओरुह्या नदि लोडयन्ति सलिलं स्नानार्थ सत्त्वोत्तमे ।
स्नाना स्नात्वन बोधिसत्त्वविमलस्तीरे स्थितः सूरतः
हृषु देवसहस्र स्नानसलिलं पूजार्थ सत्त्वोत्तमे ।।847।।

---

* ऊपर गद्य में घर पर बुला कर मधुपायस देने की चर्चा है, पर यहाँ नदी-तीर जाकर भिक्षा देने के निमित्त सुजाता का खड़ा होना कहा गया है । यह भेद महत्त्व का है । गद्य में मूल पद्य से भेद बतलाता है कि गद्यकार ने कथा कहीं दूसरे स्थान से ले ली है । देखिए आगे का 849वाँ श्लोक ।

करोड़ों सहस्र देवता आनन्दित मन से नदी में उतर कर प्राणियों में श्रेष्ठ (बोधिसत्त्व) के स्नान के लिए सुगन्धित-जल और चूर्ण पानी में घोल रहे थे। स्नान कर-कर निर्मल एवं सूरत (कृपालु) बोधिसत्त्व तीर पर खड़े हुए। सहस्रों देवता सत्त्वों में श्रेष्ठ (बोधिसत्त्व) के स्नान किए हुए जल को पूजा के लिए ले गए।

काषायानि च वस्त्र निर्मलशुभा ता देवपुत्रो ददे
कल्पीयानि च संनिवास्य भगवांस्तीरे हि नद्या स्थितः।
नागाकन्य उदग्रहृष्टमनसा भद्रासनं सा न्यषीत्
यत्रासौ निषसाद शान्तमनसो लोकस्य चक्षुष्करः ॥848॥

देवपुत्र ने निर्मल, पवित्र, कल्प्य (=विधिसम्मत), उन काषाय वस्त्रों को दिया, जिन्हें पहन कर भगवान् नदी के तीर पर खड़े हुए। मन में आनन्दित और उल्लसित हो वहाँ की नागगन्या ने भद्रासन बिछा दिया, जिस पर वे शान्त मन के, लोक को दृष्टि देने वाले (बोधिसत्त्व) बैठे।

दत्वा भोजनु सा सुजात मतिमां स्वर्णामये भाजने
वन्दित्वा चरणानि सा प्रमुदिता परिभुङ्क्ष्व मे सारथे।
(–272) भुक्त्वा भोजनु यावदर्थ मतिमान् पात्रीं जले प्राक्षिपत्
तां=200ख=जग्राह पुरंदरः सुरगुरुः पूजां करिष्याम्यहं ॥849॥

उस मतिमती सुजाता ने स्वर्णपात्र में भोजन देकर, चरणों में नमस्कार कर, प्रफुल्लित होकर कहा—हे मेरे सारथे, भोजन करो। उन मतिमान् ने जितने से प्रयोजन था, उतना भोजन कर (सुवर्ण–) पात्री को पानी में फेंक दिया, उसे देवताओं में (सबसे) बड़े पुरन्दर (इन्द्र) ने ले लिया कि मैं (इस पात्री की) पूजा करूँगा।

यद भुक्तं च जिनेन भोजनवरं ओदारिकं तत्क्षणे
तस्या काय बलं च तेज शिरिया पूर्वं यथा संस्थितं।
धर्मा कृत्व कथा सुजात मरुणां च अर्थं बहुं
सिंहो-हंसगतिर्गजेन्द्रगमनो[7] बोधिद्रुमं संस्थितः[8] ॥850॥इति॥[9]

7. तुलनीय भोट सेङ् गे ङङ् प हि. स्तबस् दङ् ग्लङ् पो हि ब्ङ् हि हूग्रौस् क्यिस्। सिंह समास का पूर्वपद है, पर विभक्त्यन्त है। सिंह को पृथक्पद रखने से भी असंगति नहीं है, पर समास में अर्थ संगततर है। तुलनीय परिवर्त 19 गाथा 906 सिंहाहंगतिः (=सिंहहंसगतिः)।

8. संस्थितः शब्द यहाँ पर प्रस्थितः (=प्रस्थान किया) के अर्थ में है। तुलनीय भोट, छस।

9. इस परिवर्त को गाथाओं की छाया यों है—

जब जिन ने स्थूल अन्न के उत्तम भोजन का भोग किया, तब उसी क्षण उनके शरीर पहले की भाँति बल, तेज तथा श्री हो गई। धार्मिक-कथा कह कर सुजाता तथा देवताओं का बहुत प्रयोजन (सिद्ध) कर, वे सिंह तथा हंस की गति से, गजेन्द्र की गति से बोधिवृक्ष की ओर चल पड़े।

॥ इति श्री ललितविस्तरे नैरञ्जनापरिवर्तो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

●

रमणीयान्यरण्यानि वनगुल्मश्च वीरुधः। प्राग् उरुविल्वाया यत्र नैरञ्जना नदी ॥821॥ प्रहाणायोद्यतं तत्र सततं दृढविक्रमम्। पराक्रममाणं वीर्येण योगक्षेमस्य प्राप्तये ॥822॥ नमुचिर्मधुरां वाचं भाषमाण उपागमत्। शाक्यपुत्र समुत्तिष्ठ कायखेदेन किं तव ॥823॥ जीवतु जीवितं श्रेयो जीवन् धर्मं चरिष्यसि। जीवन् हि तानि कुरुते यानि कृत्वा न शोचति ॥824॥ कृशो विवर्णो दीनस्त्वम् अन्तिके मरणं तव। सहस्रभागे मरण-मेकभागे च जीवितम् ॥825॥ ददतः सततं दानमग्नि होत्रं च जुह्वतः। भविष्यति महत्पुण्यं किं प्रहाणेन करिष्यसि ॥826॥ दुःखो मार्गो प्रहाणस्य दुष्करश्चित्तनिग्रहः। इमा वाचं तदा मारो बोधिसत्त्वमथाब्रवीत् ॥827॥ तं तथावादिनं मारं बोधिसत्त्वस्ततोऽब्रवीत्। प्रमत्तबन्धो पापीयन् स्वेनार्थेन त्वमागतः ॥828॥ अणुमात्रं हि मे पुण्यैरर्थो मार न विद्यते। अर्थो येषां तु पुण्येन तानेवं वक्तुमर्हसि ॥829॥ नैवाहम् अमरणं मन्ये मरणान्तं हि जीवितम्। अनिवर्ती भविष्यामि ब्रह्मचर्यपरायणः ॥830॥ स्रोतांस्यपि नदीनां हि वायुरेव विशोषयेत्। किं पुनः शोषयेत्कायशोणितं प्रहितात्मनाम् ॥831॥ शोणिते तु विशुष्के वै ततो मांसं विशुष्यति। मांसेषु क्षीयमाणेषु भूयश्चित्तं प्रसीदति। भूयश्छन्दश्च वीर्यं च समाधिश्चा-वतिष्ठते ॥832॥ तस्यैवं मे विहरतः प्राप्तस्योत्तमचेतनाम्। चित्तं नावेक्षते कायं पश्य सत्त्वस्य शुद्धताम् ॥833॥ अस्ति छन्दो तथा वीर्यं प्रज्ञापि मम विद्यते। तं न पश्याम्यहं लोके वीर्याद् यो मां विचालयेत् ॥834॥ वरं मृत्युः प्राणहरो धिग्ग्राम्यं नोपजीवितम्। संग्रामे मरणं श्रेयो यच्च जीवेत् पराजितः ॥835॥ नाशूरो जयति सेनां जित्वा चैनां न (अभि—) मन्यते। शूरस्तु जयति सेनां लघु मार जयामि ते (सेनामिति शेषः) ॥836॥ कामास्ते प्रथमा सेना द्वितीयाऽरतिस्तथा। तृतीया क्षुत्पिपासे ते तृष्णा सेना चतुर्थिका ॥837॥ पञ्चमी स्त्यानमिद्धं ते भयं षष्ठी निरुच्यते। सप्तमी विचिकित्सा ते क्रोधम्रक्षौ तथाष्टमी ॥838॥ लाभश्लोकौ च सत्कारो मिथ्यालब्धं च यद् यशः। आत्मानं यश्चोत्कर्षेद् यश्च वै ध्वंसयेत् परान्

॥839॥ एषा हि नमुचेः सेना कृष्णबन्धोः प्रतपिनः। अत्रावगाढा दृश्यन्त एते श्रमणब्राह्मणाः ॥840॥ या ते सेना धर्षयति लोकमेनं सदेवकम्। भेत्स्यामि प्रज्ञया तां त आमपात्रमिवाम्बुना ॥841॥ स्मृतिं सूपस्थितां कृत्वा प्रज्ञां चैव सुभाविताम्। संप्रजानन् चरिष्यामि किं करिष्यसि दुर्मते ॥842॥

षड् वर्षाणि व्रतमुत्तीर्य भगवानेवं मतिं चिन्तयन्, सोऽहं ध्यानाभिज्ञाज्ञानबलवान् एवं कृशाङ्गोऽपि सन्। गच्छेयं द्रुमराजविटपमूलं सर्वज्ञतां बोद्धुं, नो मे स्यादनुकम्पिता हि जनतैवं भवेत् पश्चिमा ॥843॥ यत्त्वौदारिकं भुक्त्वा भोजनवरं काये बलं कृत्वा, गच्छेयं द्रुमराजविटपमूलं सर्वज्ञतां बोद्धुम्। मा ह्येवम् इत्वरपुण्या देवमनुजा रूक्षेण ज्ञानेक्षिणो (भूवन्-इति शेषः), नो शक्ताः स्युर्बोधनायामृतस्य कायेन ते दुर्बलाः ॥844॥ सा च ग्रामणीदुहिता पूर्वं चरितवती नाम्ना सुजाता-इति, यज्ञं नित्यं यजत्येवंमनाः सिद्ध्येद् व्रतं नायकस्य। सा देवानां निशम्य चोदनां तदा गृहीत्वा मधुपायसम्, उपगम्य नद्यास्तीरे हृष्टमनसा (अथवा हृष्टमनाः) नैरञ्जनायाः स्थिता ॥845॥ स च कल्पसहस्रचरितचर्यः शान्तप्रशान्तेन्द्रियो, देवैर्नागगणैर् ऋषिभिः परिवृत आगत्य नैरञ्जनाम्। तीर्णस् तारकः पारं सत्त्वान् मतिमान् स्नाने मतिं चिन्तयन्, अवरुह्य नद्याम् अस्नासीच् छुद्धविमलो लोकानुकम्पी मुनिः ॥846॥ देवाः कोटि सहस्राणि हृष्टमनसो गन्धाम्बु चूर्णानि चा-, वरुह्य नद्यां लोडयन्ति सलिले स्नानार्थं सत्त्वोत्तमस्य। स्नानानि स्नात्वा बोधिसत्त्वो विमलस्तीरे स्थितः सूरतः, अष्टार्बुदैःसहस्राणि स्नानसलिलं पूजार्थं सत्त्वोत्तमस्य ॥847॥ काषाथाणि च वस्त्राणि निर्मलशुभानि तानि देवपुत्रो ददौ, कल्प्यानि च (यानि) संनिवास्य भगवांस्तीरे हि नद्याः स्थितः। नागकन्योदग्रहृष्टमना भद्रासनं सा न्यास्थद्, यत्रासौ निषसाद शान्तमना लोकस्य चक्षुष्करः ॥848॥ दत्वा भोजन सा सुजाता मतिमती स्वर्णमये भाजनं, वन्दित्वा चरणौ सा प्रमुदिता परिभुंक्ष्व मे सारथे। भुक्त्वा भोजनं यावदर्थं मतिमान् पात्रीं जले प्राक्षिपत्, तां जग्राह पुरंदरः सुरगुरुः पूजां करिष्याम्यहम् ॥849॥ यदा भुक्तं च जिनेन भोजनवरम् औदारिकं तत्क्षणे, तस्य काये बलं च तेजः श्रीः पूर्वं यथा संस्थिता। धर्म्यां कृत्वा कथां सुजाताया मरुतां (अमराणां) च कृत्वार्थं बहुं, सिंह-हंसगतिर्गजेन्द्रगमनो बोधिद्रुमं प्रस्थितः ॥850॥

27

॥ १९ ॥

॥ बोधिमण्डगमनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 272 पंक्ति 8—289 पंक्ति 20
भोटानुवाद 200 ख पंक्ति 3 —214ख पंक्ति 3

529

॥ १९ ॥

॥ बोधिमण्डगमनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व नैरञ्जना नदी में स्नान कर, भोजन कर, शरीर में बल और स्थिरता उपजा कर जहाँ सोलह प्रकार से समृद्ध पृथिवी के प्रदेश पर वृक्षों के राजा-महाबोधि थे वहाँ उनके मूल के पास चल पड़े, उस विजय की गति (अर्थात् रंग ढंग) के साथ, जो होती हैं—महापुरुषगति, अडिगगति, इन्द्रियार्भाष्टगति, सम्यक्स्थिरगति, मेरुराजगति, सरलगति, अवक्रगति, अधावनगति, अविलंबितगति, न लड़्-खड़ानेवाली गति, न चूकने वाली गति, न घसीट खाने वाली गति, न सिकुड़ने वाली गति = 201क = न अचानक होने वाली गति, लीला-सहित-गति, निर्मलगति, शुभगति, द्वेष-रहित-गति, मोह-रहित-गति, राग-रहित-गति, सिंहगति, राजहंसगति, नागराजगति, नारापणगति, धरणी तल पर न धँसने वाली गति, धरणी तल पर सहस्र अरवाले चक्र जैसी विचित्र गति, (रेखा–) जाल वाली उँगलियों के ताम्र (–वर्ण) के नखों वाले (चरणों) की गति, धरणी-तल पर छमछमाने वाली गति, शैलराज की संघटना (के समान ऊँचे से ऊँचे पर जाने वाली) गति, ऊँची, नीची तथा समता करने वाली चरण-गति, (रेखा–) जालों से प्रभा की किरणें निकल कर प्राणियों को छूकर उन्हें सुगति की ओर ले जाने वाली गति, निर्मल कमलों के बिछाने की भाँति चरण रखने की गति, पूर्व (काल) के शुभ चरितों की ओर जाने वाली गति, पूर्व (काल) के बुद्धों की सिंह सदृश सम्मुख जाने वाली गति, वज्र (हीरक) के समान दृढ़ और अभेद्य (हृदयके) आशय (=अभिप्राय) की गति, सब उपायों की गति) सब (–273–) अपायों (=नरकों) तथा दुर्गतियों (=हीन योनियों) को रोकने वाली गति, सब प्राणियों का सुख उपजाने वाली गति, मोक्ष-मार्ग दिखाने की गति, मार के बल को निर्बल करने वाली गति, हीन-संघ वाले (धर्म-प्रवक्ताओं) के संघों की, प्रतिपक्ष के वादियों की धर्म के साधन से निग्रह-करने-वाली गति, अंधकार के परदे को तथा क्लेश को फूँक उड़ाने वाली = 201ख = गति, संसार के पक्ष को अपक्ष करने वाली गति, इन्द्र, महेश्वर तथा लोकपालों का पराभव करने वाली गति, त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोक) में अद्वितीयशूर-गति, अभिभूत (पराजित) न होने वाली स्वयंभू-गति, सर्वज्ञ के ज्ञान के सम्मुख ले जाने वाली गति, स्मृति तथा मति (=बुद्धि) की गति, सुगतियों (=शुभयोनियों) की ओर ले जाने वाली गति,

जरा और मृत्यु को शान्त करने वाली गति, शिव (=कल्याण), विरज (=रजो-हीन) अमल एवं भयरहित निर्वाण-पुर की ओर ले जाने वाली गति। ऐसी गति से बोधिसत्त्व बोधिमण्डप की ओर चले।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार नैरञ्जना नदी से लेकर बोधिमण्डप के बीच (के प्रदेश) पर वात-बलाहक (नामक) देवपुत्रों ने झाड़-बुहारी दे दी थी, वर्ष-बलाहक (नामक) देवपुत्रों ने सुगन्धित जल का छिड़काव किया था और फूल बिखेर रक्खे थे। त्रिसाहस्रमहासाहस्र—लोकधातु में जितने वृक्ष थे वे सब जिस ओर बोधिमण्डप था, उस ओर अपनी चोटियाँ झुका रक्खी थीं। और जो भी उसी दिन के उत्पन्न लड़की-लड़के थे वे भी बोधिमण्डप की ओर सिर करके सोते थे। और जो भी त्रिसाहस्रमहासाहस्र-लोकधातु में सुमेरु आदि पर्वत थे वे सब भी जिस ओर बोधिमण्डप था, उस ओर झुके =202क= हुए थे। नैरञ्जना नदी से लेकर जहाँ तक बोधिमण्डप था, उसके बीच में कामधातु में विहरण करने वाले देवताओं ने एक माप के कोस भर विस्तार वाले मार्ग की रचना की थी। उस मार्ग के दाईं और बाईं ओर सात रत्नों वाली वेदिकाएँ बनाई गई थीं, ऊँचाई में (वे) सात-ताल थीं, उनके ऊपर रत्नों के जाल छाए हुए थे, वे दिव्य रत्नों तथा ध्वजाओं एवं पताकाओं से अलंकृत थीं। इषुक्षेप (अर्थात् बाण पहुँचने की दूरी) पर सात रत्नों वाले ताल बनाए गए थे। उस वेदिका से (लटकाए गए रत्नमय सूत्र तालों से बँधे थे तथा) सब तालों से लटकाए गए रत्न सूत्र एक-दूसरे ताल से बँधे थे। दो-दो तालों के बीच-बीच पुष्करिणी बनाई गई (–274–) थी, जो सुगन्धित जल से भरी थी, जिसके चारों ओर सोने की बालू बिछाई गई थी, जिस में उत्पल, पद्म, कुमुद तथा पुण्डरीक छाए हुए थे, जिसके चारों ओर रत्नमयी वेदिकाएँ थीं, जिसके सोपान वैडूर्य-मणियों तथा रत्नों को पिरो कर बनाए गए थे, आडि[1] (=जलमुर्गी), बलाका (=श्वेत बक), हंस, चक्रवाक तथा मयूर जहाँ कूजते थे। उस मार्ग पर अस्सी हजार अप्सराएँ सुगन्धित जल से छिड़काव करती थीं, अस्सी हजार अप्सराएँ मोती जैसे उजले तथा दिव्य गन्ध वाले पुष्पों को बिखेरती थीं। सब ताल वृक्षों के सामने (एक-एक) रत्नव्योमक (=रत्न-विमान) था। सब-किसी रत्नव्योमक (रत्नविमान) में =202ख= अस्सी हजार अप्सराएँ चन्दन और अगर की चूर्ण

---

1. आडि शब्द का भोटानुवाद छु स्रेग् (=जलतित्तिरि) है। तुलनीय वैदिक शब्द अति तथा अमरकोष में क्षया अद्रि शब्द लोक भाषा में।

दोनों में लिए हुए तथा [2]कालानुसारी धूप[2] की घटिकाएँ (= धूपदानियाँ) पकड़े हुए खड़ी थीं। प्रत्येक रत्नव्योमक (= रत्नविमान) में पाँच-पाँच हज़ार अप्सराएँ दिव्यसंगीति बजाने के साथ खड़ी थीं।

3. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिसत्त्व ने (बुद्धों द्वारा) [3]परिपालन किए जाने वाले (बुद्ध--) क्षेत्रों द्वारा[3] कोटि-खर्बों की लाख-लाख गणना में किरणें निकालीं। (तदनन्तर) बजाए जाते हुए लाखों बाजों के साथ, बड़ी फूलों की प्रचुरता वाली वर्षा के साथ, लाखों वस्त्रों के फहराने के साथ, गरजते हुए और जोर से गरजते हुए बारम्बार चोट दिए जाते-जाते नक्कारों के साथ, प्रदक्षिणा करते हुए अश्व, गज, तथा वृषभों के साथ, शुकों की, सारिकाओं की, कोकिलों की कलविंकों (= चटकों) की, जीवंजीवों (= चकोरों) की, हंसों की, क्रौञ्चों (= कोंच नाम के बगुलों की), मयूरों की, चक्रवाकों की, लाख-लाख संख्या द्वारा अगवानी के साथ, इन और इस प्रकार के लाखों मंगल देने वाले सगुनों के साथ बोधिसत्त्व बोधिमण्डप गए।

4. जिस रात को बोधिसत्त्व बोधि का भलीभाँति बोध करना चाहते थे, उसी रात को त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोकधातु) के अधिपति, वशवर्ती नाम के सहापति ब्रह्मा ब्रह्म-पर्षद् को बुला कर यों बोले। हे मार्षों (= साथियों) यह बात जान लो। ये महासत्त्व बोधिसत्त्व जो (उत्साह रूपी) महान् संनाह (= कवच) से नधे-बँधे हैं, महाप्रतिज्ञा के न छोड़ने वाले हैं, (निश्चय का) दृढ़ संनाह (कवच) बाँधे हुए हैं, मन में सर्वदा खेद-रहित हैं, बोधिसत्त्वों की = 203क = सब चर्यायों में से[4] निकल चुके हैं[4], सब पारमिताओं में से पार हो चुके हैं, सब बोधिसत्त्व की भूमियों पर (= क्रमोन्नति की श्रेणियों पर) वशिता (= अधिकार) पाए हुए हैं, (बोधिसत्त्वों के आशय की सब क्रियाओं के विषय

2....2. मूल, कारानुसारिधूप० (कालानुसारिधूप०)। तुलनीय भोट, दुस् क्यि रजेस् सु ह् ब्रङ् ब हि. ब्दुग् पहि.। वैद्यजी को कारानुसारि के स्थान पर कालानुसारि नहीं सूझा, नहीं तो वे यह पाठ बदले बिना न रहते।

3....3. मूल, प्रकम्प्यमानैः क्षेत्रैः। भोट, शिङ् नंमस् नि रब् तु स्क्योङ् (= प्रपाल्यमानैः क्षेत्रैः)।

4....4. मूल, निर्जातः। निर्जातः। निर्जातः=निर्यातः। प्राच्य देशों में निर्यातः लिख कर भी अब भी निर्जातः पढ़ने की प्रथा भाषा में ही नहीं संस्कृत में भी है। तुलनीय भोट, छर् फ्यिन् प।

में अत्यन्त जानकार हैं)[5] बोधिसत्त्वों के सब आशयों में (=चाहे हुए संकल्पों) में भलीभाँति शुद्ध हैं, सब प्राणियों की इन्द्रियों के (=धर्माचरण की शक्तियों के) अनुसार (धार्मिक प्रेरणा में) चलने वाले हैं, सब तथागतों के गुह्य अर्थात् रहस्य के (--275--) स्थानों में भलीभाँति प्रवेश पाए हुए हैं, मार के कार्यों के जितने मार्ग हैं, उन सबसे भलीभाँति बाहर निकल आ चुके हैं, सब कुशल-मूलों में इनका प्रत्यय (=ज्ञान एवं सहारा) **अपना है**—किसी दूसरे का नहीं, सब तथागतों ने इनके विषय में अधिष्ठान (=आशीर्वचन) कर रक्खे हैं, सब प्राणियों को परममोक्ष का मार्ग बतलाने वाले महान् सार्थवाह हैं, सब मार-मंडली को तितर-बितर कर देने वाले हैं, त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोकधातु) में अद्वितीय शूर हैं, धर्म की सब सिद्ध औषधों के महान् वैद्यराज हैं, विमुक्ति का पट्ट (=पगड़ी) बाँधे हुए महान् धर्मराज हैं, महाप्रज्ञा की प्रभा के उत्पादन करने वाले हैं, महाकेतु वाले राजा हैं, (लोभ, अलोभ, यश, अयश, निन्दा, प्रशंसा तथा सुख, दुःख नामक) आठ लोकधर्मों में महाकमल जैसे अलिप्त हैं, सब धर्म-धारणियों (=धर्ममन्त्रों) को न भूलने वाले हैं, महासागर के समान (गम्भीर) हैं, राग और द्वेष से रहित हैं, महासुमेरु के समान अचल एवं अकम्प्य हैं, अत्यन्त निर्मल हैं, सब ओर से अत्यन्त शुद्ध हैं, भलीभाँति दर्प से रहित शुद्ध बुद्धि के हैं, (उपमा से कहें तो) =203ख=महामणि-रत्न जैसे हैं, सब धर्मों के वशवर्ती हैं अर्थात् सब धर्मों पर अधिकार वाले हैं, सब कर्मों में कुशल चित्त वाले हैं। महाब्रह्मा के समान ऐसे बोधिसत्त्व मार की सेना को परास्त करने के अर्थ, दश-बल ❀चतुर्वैशारद्य[6] ❀❀और अष्टादश अवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मों को❀❀❀ करने के अर्थ, महाधर्मचक्र के प्रवर्तन के अर्थ, महान् सिंहनाद करने के अर्थ, सब प्राणियों को धर्मदान से तृप्त करने के अर्थ, सब प्राणियों के धर्मचक्षु का शोधन करने के अर्थ, सब प्रतिपक्ष के वादियों को धर्म के द्वारा परास्त करने के अर्थ, पहले की प्रतिज्ञा को परिपूर्ण कर दिखाने के अर्थ, सब धर्मों पर वशिता (=अधिकार) तथा ऐश्वर्य (=स्वामित्व) प्राप्त करने के अर्थ, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का सम्यक् अवबोध करने की कामना से बोधिमण्डप के पास जा रहे हैं। इसलिए

❀ द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति ७। ❀❀ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ८।
❀❀❀ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ९।

5. तुलनीय भोट **ब्यङ् छुब् सेम्स् द्प हि, व्सम् प थम्स् चद् क्यि ब्य बशिन् तु म्ख्येन् प** (=सर्वबोधिसत्त्वशयक्रियासुविज्ञाः)। यह पाठ केवल भोट में है। इसके बाद का वाक्य भोट में नहीं है।
6. मूल, वैशारद्य। भोट, **मि ह् जिग्स् प ब्झि दङ्** (चतुर्वैशारद्य)।

हे मार्षो (=साथियों) तुम सब को बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उत्साह से तैयार हो जाना चाहिए।

5. तदनन्तर वशवर्ती महाब्रह्मा ने उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

यस्या तेजतु पुण्यतश्च शिरिये ब्राह्मः पथो ज्ञायते
[7]मैत्री चा[7] करुणा उपेक्ष मुदिता ध्यानान्यभिज्ञास्तथा।
सोऽयं कल्पसहस्रचीर्णचरितो बोधिद्रुमं =204क= प्रस्थितः
पूजां साधु करोथ तस्य मुनिनो आशि(र्)व्रते साधनां ॥851॥

जिनके तेज से, पुण्य से एवं श्री से मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा तथा अभिज्ञा (= दिव्यज्ञान) वाला ब्रह्मपथ जाना जाता है, सहस्र कल्पों तक चर्या को पूर्ण कर वे (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष की ओर चल पड़े हैं, उन मुनि की भलीभाँति पूजा करो जो आशाओं तथा व्रतों को सिद्ध करने वाली है।

यं गत्वा शरणं न दुर्गतिभयं प्राप्नोति नैवाक्षणं
देवेष्विष्टसुखं च प्राप्य विपुलं ब्रह्मालयं गच्छति।
(–276–) षड् वर्षाणि चरित्व दुष्कर-चारिं यात्येष बोधिद्रुमं
साधू सर्वि उदग्रहृष्टमनसः पूजास्य कुर्वामहे ॥852॥

जिनकी शरण जाकर (प्राणी को) दुर्गति का भय नहीं रहता, अक्षणों की (अर्थात् नरकयोनि, तिर्यक्-योनि, प्रेतयोनि, दीर्घायुष-देव योनि, प्रत्यन्तजनपद अथवा सीमाप्रदेश में निवास, इन्द्रियविकलता एवं तथागतानुत्पत्ति का काल इन आठ स्थितियों की। प्राप्ति नहीं होती, देवताओं के बीच परम इष्टसुख का भोग कर (वह) ब्रह्मलोक जाता है, वे छह वर्ष की दुष्कर-चर्या पूरी कर बोधिवृक्ष की ओर जा रहे हैं। हम-सब आनन्द और प्रसन्न मन से इनकी भली-भाँति पूजा करें।

राजासौ त्रिसहस्रि ईश्वरवरो धर्मेश्वरः पार्थिवः
शक्राब्रह्म पुरे च चन्द्रसुरिये नास्त्यस्य कश्चित्समः।
यस्या जायत क्षेत्रकोटिनयुता संकम्पिता षड्विधा
सैषोऽद्य व्रजते महाद्रुमवरं मारस्य जेतुं चमून् ॥853॥

ये त्रिसाहस्र (महासाहस्र लोकधातु) के राजा हैं, उत्तम ईश्वर हैं, धर्म के ईश्वर हैं, (धर्मरूपी) पृथिवी के पति हैं, इन्द्र की, ब्रह्मा की, चन्द्र की तथा सूर्य की नगरी में इनके तुल्य कोई नहीं है। जिनके जन्म के समय कोटि-खर्ब क्षेत्र

7....7. मूल, मैत्री वा। पठनीय, मैत्री चा। तुलनीय भोट, **ब्यम्स् दङ्**।

छह तरह से काँप उठे थे, वे आज मार-सेनाओं को जीतने के लिए उत्तम महावृक्ष की ओर जा रहे हैं।

मूर्ध्नं यस्य न शक्यमीक्षितुमिह ब्रह्मालयेऽपि स्थितैः
कायो यस्य वराग्रलक्षणधरो द्वत्रिंशतालंकृतः।
वाग् यस्येह मनोज्ञ वल्गु मधुरा ब्रह्मस्वरा सुस्वरा
चित्तं यस्य प्रशान्त दोषरहितं गच्छाम तत्पूजने ॥854॥

यहाँ ब्रह्मलोक में रहते हुए भी जिनके सिर पर दृष्टि डालना संभव नहीं है, जिनकी काया उत्तम तथा श्रेष्ठ लक्षण धारण किए हुए हैं, बत्तीस (लक्षणों) से विभूषित है, यहाँ जिनकी वाणी मन हरने वाली, सुन्दर और मधुर है, उत्तम स्वर वाली है, ब्रह्मा के समान स्वर वाली है, जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, दोष अर्थात् द्वेष से रहित है, (हम सब) उनकी पूजा करने चलें।

येषां वा मति ब्रह्म शक्र भवने नित्यं सुखं क्षेपितु
अथवा सर्वकिलेशबन्धनलतां छेत्तुं हि तां जालिनीं।
अश्रुत्वा परतः =204ख= स्पृशेयममृतं प्रत्येकबोधिं शिवां
बुद्धत्वं यदि वेप्सितं त्रिभुवने पूजेत्वसौ नायकं ॥855॥

जिनका विचार ब्रह्मा के या इन्द्र के लोक में सुख से सदा (जीवन) बिताने का है, अथवा सब क्लेशों द्वारा बाँधने वाली लता जैसी उस जालवाली (तृष्णा) को छिन्न-भिन्न करने का है, (और) यदि (किसी की) बिना दूसरे से श्रवण किए कल्याणमयी प्रत्येकबोधि रूपी अमृत के अथवा तीनों भुवनों के बीच बुद्धत्व के पाने की अभिलाषा है, तो वह इन नायक की पूजा करे।

त्यक्ता येन ससागरा वसुमती रत्नान्यनन्तान्यथो
प्रासादाश्च गवाक्षहर्म्यकलिला[8] युग्यानि यानानि च।
भूम्यालंकृत पुष्पदाम रुचिरा उद्यानकूपासराः
हस्तापादशिरोत्तमाङ्गनयना सो बोधिमण्डोन्मुखः ॥856॥

जिन्होंने समुद्रों सहित पृथिवी का, अनन्त रत्नों का, खिड़कियों तथा कमरों से भरे महलों का, घोड़े से जुते हुए रथों का, सुन्दर फूलों की मालाओं, उद्यानों, कुओं तथा तालाबों से विभूषित भूमि का, हाथ-पैर, सिर एवं उत्तम अंग नेत्रों (तक) का त्याग किया है, वे बोधिमण्डप की ओर जा रहे हैं।

---

8. मूल, गवाक्षहर्म्यकलिका। भोट, स्कर् खुङ् ब्सिल् खङ् मङ् ल्दन् प (=गवाक्षहर्म्यबहुला)। कलिका के स्थान में कलिला पढ़ने से हम उचित पाठ पर पहुँचते हैं।

6. हे भिक्षुओं, इस प्रकार त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोक-धातु) के अधिपति महाब्रह्मा। उसी क्षण (ज्योंही) इस त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु के विषय में अधिष्ठान अर्थात् संकल्प किया, (त्योंही) यह त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु हथेली जैसी समतल, रोड़ी कंकड़ों से रहित, प्रचुर रत्नों से, मोतियों से, वैदूर्य-मणियों से, शंखों से, शिलाओं से, प्रवालों (मूँगों) से, चाँदी एवं सोने से पूर्ण, नीले (=हरे) एवं कोमल दाहिनी ओर से मुड़कर कुण्डलाकार हुए, नन्द्यावर्तक अर्थात् स्वस्तिक के समान दाहिनी ओर मुड़े हुए, काचिलिन्दिक—वस्त्र जैसे स्पर्श में सुख देने वाले तृणों से (--277--) आच्छादित हो गई। उस समय सब महासागर पृथिवी-तल जैसे स्थिर हो गए और जल-चर प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं हुई। [9]इस प्रकार इस[9] लोक-धातु को अलंकृत देखकर दसों दिशाओं में (विराजमान) इन्द्र, ब्रह्मा तथा लोकपालों ने बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए लाखों बुद्धक्षेत्रों को =205क= अलंकृत कर दिया। और बोधिसत्त्वों ने (भी) देवलोक तथा मनुष्यलोक से बढ़े-चढ़े पूजाव्यूहों (=पूजा की रचनाओं) के द्वारा दसों दिशाओं के अप्रमेय बुद्धक्षेत्रों को बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए सजा दिया। वे सब बुद्धक्षेत्र एक बुद्धक्षेत्र के समान नाना प्रकार के (पूजाव्यूहों के) अलंकारों से अलंकृत दिखाई देते थे। और लोक के बीच में पड़ने वाले काले-काले पर्वत तथा चक्रवाल तथा एवं महाचक्रवाल (नामक पर्वत-मंडल) अज्ञात जैसे हो गए थे। वे सब बुद्धक्षेत्र बुद्ध की आभा से स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले सोलह देवपुत्र थे। जिनके नाम ये हैं—देवपुत्र 1 उत्खली, 2 सूत्खली, 3 प्रजापति, 4 शूरबल, 5 केयूर बल, 6 सुप्रतिष्ठित, 7 महीधर, 8 अवभासक, 9 विमल, 10 धर्मेश्वर, 11 धर्मकेतु, 12 सिद्धपात्र, 13 अप्रतिहतनेत्र, 14 महाव्यूह, 15 शीलविशुद्धनेत्र, तथा 16 पद्मप्रभ। ये सब सोलह बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले देवपुत्र जो न मुड़ने वाली (ज्ञानप्राप्ति की) क्षमता का लाभ करने वाले थे, बोधिसत्त्व की =205ख=पूजा के अर्थ उन्होंने बोधिमण्डप का मण्डन किया था। उसे चारों ओर अस्सी योजनों तक रत्नमयी सात वेदिकाओं से घेर दिया था, तालवृक्षों की सात पंक्तियों से, रत्नमयी छोटी-छोटी घंटियों के सात जालों से, एवं रत्नमय सात सूत्रों से परिवृत कर दिया था। सात रत्नों को पिरो कर बनाए हुए जम्बूनद नामक सुवर्ण से काम किए गए वस्त्रों द्वारा, सुवर्ण के सूत्रों द्वारा, जम्बूनद नामक सुवर्ण के बने पद्मों द्वारा छा दिया था, उत्तम सार वाले सुगन्ध

9....9. मूल, इमं चैव। इस पाठ में एव-शब्द एवम्-शब्द के अर्थ में है, इसी कारण भोट में इसका **दे ल्तर्** शब्द से अनुवाद किया गया है।

से भलीभाँति सुवासित कर दिया था, रत्न के जालों से ढँक दिया था। और जो दसों दिशाओं में नाना लोकधातुओं के उत्तम जाति वाले, अत्यन्त पूज्य, देवलोक के अथवा मनुष्य लोक के विविध वृक्ष थे, वे सभी बोधिमण्डप में दिखलाई पड़ते थे। (--278--) और जो दसों दिशाओं में नाना प्रकार के जाति-जाति के जल में तथा स्थल में उपजने वाले पुष्प थे वे भी सब के सब बोधिमण्डप में दिखाई पड़ते थे। और जो भी दसों दिशाओं को नाना लोक-धातुओं के बोधिसत्त्व अपरिमित पुण्य और ज्ञान की सामग्री के व्यूहों द्वारा बोधिमण्डप की सजावट करते थे, वे भी उस बोधिमण्डप में दिखलाई पड़ते थे।

7. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले देवपुत्रों ने बोधिमण्डप में ऐसे व्यूह बनाए थे, =206क= जिन्हें देख कर देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व एवं असुर अपने-अपने भवनों को श्मशान (के समान श्रीहीन) समझते थे। उन व्यूहों को देख कर अत्यन्त चित्रीकार[10] (=आश्चर्य) करते थे और यों भाव भरे मन से उदान (=प्रीत्यादिभावपूर्ण वाक्य) निकालते थे—साधु-साधु अहो, पुण्य के परिणाम रस अचिन्त्य हैं। बोधिवृक्ष के चार (अधि-ष्ठातृ--) देवता थे। जिनके नाम हैं—वेणु, वल्गु, सुमन एवं ओजस्पति। ये चार बोधिवृक्ष के देवता बोधिसत्त्व की पूजा के अर्थ बोधिवृक्ष को मूल में शोभा सम्पन्न करते थे, तने में शोभासम्पन्न करते थे, शाखाओं में, पत्रों में, पुष्पों में, तथा फलों में शोभासम्पन्न करते थे, ऊँचाई और घेरे में शोभा-सपन्न करते थे, (उसे) दर्शनीय एवं प्रसन्नता देने वाला बनाते थे, विस्तार में फैले, ऊँचाई में अस्सी-ताल ऊँचे एवं उस (ऊँचाई) के अनुसार घेरे वाले (उस वृक्ष को उन्होंने) विचित्र, दर्शनीय, मनोरम, रत्नमयी सात वेदिकाओं से परिवृत, चारों ओर से घेर कर स्थित रत्नमय तालों की सात पंक्तियों के द्वारा, रत्नमयी किंकिणियों के सात जालों के द्वारा एवं सात रत्नसूत्रों के द्वारा सब ओर से आच्छादित कर दिया था, मानों वह पारिजात वृक्ष हो, कोविदार वृक्ष हो, आँखें उसके दर्शन से तृप्त नहीं होती थीं। =206ख= जहाँ पर बोधिलाभ करने के लिए बोधिसत्त्व बैठे थे, वह पृथिवी का प्रदेश त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु के वज्र द्वारा अत्यन्त दृढ़ सारवान्, अभेद्य हीरे के जैसा उत्तम स्थान का था।

---

10. चित्रीकार शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ आश्चर्य का बोधक यह शब्द है। तुलनीय भोट, ङो म्छर् (=आश्चर्य)।

8. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिमण्डप पहुँचते हुए बोधिसत्त्व ने शरीर से वैसी प्रभा छोड़ी, जिस प्रभा से सब अपाय (दुर्गति-लोक) शान्त हो गए, सब अक्षण ढँक गए, दुर्गतियों की सब पीड़ाएँ सूख गईं। (–279–) जो प्राणी भग्न इन्द्रियों के थे, उन्होंने पूर्ण इन्द्रियों को पा लिया। रोगी रोगमुक्त हो गए। भय से पीड़ितों को ढाढ़स बँध गया। दरिद्र प्राणी भोगविलास वाले हो गए, बंधन में बँधे बंधन--मुक्त हो गए, क्लेशों से जलने वालों की जलन शान्त हो गई, भूखे प्राणियों के पेट भर गए, प्यासों की प्यास मिट गई, गर्भवती स्त्रियों नें सुख से बच्चे जने, जीर्ण तथा दुर्बल बलसम्पन्न हो गए, उस समय किसी प्राणी को न राग ने सताया, न द्वेष ने, न मोह ने, =207क= न क्रोध ने, न लोभ ने, न खिल (=रुखाई) ने, व्यापाद (=हिंसा) ने, न ईर्ष्या ने, न मात्सर्य (=कंजूसी) ने। उस समय किसी प्राणी की न मृत्यु हुई, न च्युति हुई, न उत्पत्ति हुई, सभी प्राणी उस समय मैत्रीचित्त के थे, हितचित्त के थे, एक-दूसरे के प्रति उनका भाव माता-पिता के जैसा था।

9. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

यावच्चावीचिपर्यन्तं नरका घोरदर्शनाः।
दुःखं प्रशान्तं सत्त्वानां सुखं विन्दन्ति वेदनां ॥857॥

भयंकर दिखाई पड़ने वाले अवीचि (=नरक) के अन्त तक जितने भी नरक थे, (उनके भीतर पड़े) प्राणियों के दुःख शान्त हो गए (और वे) सुखानुभव करने लगे।

तिर्यग्योनिषु यावन्तः सत्त्वा अन्योन्यघातकाः।
[11]मैत्रचित्ता हि ते जाताः[11] स्पृष्टा भाभिर्महामुनेः ॥858॥

महामुनि की प्रभा का स्पर्श पा कर, परस्पर की हत्या करने वाले, पशु-पक्षि-योनियों में जितने भी प्राणी थे, वे भी स्नेह-चित्त के हो गए।

प्रेतलोकेषु यावन्तः प्रेताः क्षुत्तर्षपीडिताः।
प्राप्नुवन्त्यन्नपानानि बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥859॥

भूख और प्यास से तड़पते हुए प्रेतलोकों में (पड़े हुए) जितने भी प्राणी थे, (वे) बोधिसत्त्व के तेज से खान-पान पाने लगे।

अक्षणाः पिथिताः सर्वे दुर्गतिश्चोपशोषिता।
सुखिताः सर्वसत्त्वाश्च दिव्यसौख्यसमर्पिताः ॥860॥

11....11. मूल, मैत्रचित्ता हिते जाताः। हि को पृथक् पद तथा ते को पृथक् पद के रूप में पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, **दे दग् ब्यम्स् प हि सेम्स् क्यङ् स्क्येस्** (=ते मैत्रचित्ता हि जाताः)।

सब अक्षण ढक गए, और दुर्गति सूख गई, तथा सब प्राणी सुखी हो दिव्य-सुख को भोगने लगे।

चक्षुश्रोतविहीनाश्च ये चान्ये विकलेन्द्रियाः।
सर्वेन्द्रियैः सुसंपूर्णा जाताः सर्वाङ्गशोभनाः ॥861॥

जो अन्धे-बहरे थे तथा जो इन्द्रियों से हीन थे, वे सब इन्द्रियों से भलीभाँति सम्पूर्ण एवं सब अंगों से सुन्दर हो गए।

(-280-) रागद्वेषादिभिः क्लेशैः सत्त्वा बाध्यन्त ये सदा।
शान्तक्लेशास्तदा सर्वे जाताः सुखसमर्पिताः ॥862॥

सर्वदा जो प्राणी राग-द्वेष आदि क्लेशों से पीड़ित रहा करते थे, वे सब क्लेशों से शान्ति पा गए (और) सुख भोगने लगे।

उन्मत्ताः स्मृतिमन्तश्च = 207ख = दरिद्रा धनिनस्तथा।
व्याधिता रोगनिर्मुक्ता मुक्ता बन्धनबद्धकाः ॥863॥

पगले होश वाले हो गए, और गरीब अमीर हो गए। रोगी रोग से छुट्टी पा गए, (तथा) बन्धन में बँधे छूट गए।

न खिलं न च मात्सर्यं व्यापादो न विग्रहः।
अन्योन्यं संप्रकुर्वन्ति मैत्रचित्ता स्थितास्तदा ॥864॥

एक-दूसरे के साथ न (कोई) रुखाई से बरतते थे, न कंजूसी करते थे। न मार-काट और लड़ाई-झगड़ा करते थे, (सब) उस समय प्रेमभाव से रहते थे।

मातुः पितुश्चैकपुत्रे यथा प्रेम प्रवर्तते।
तथान्योन्येन सत्त्वानां पुत्र प्रेम तदाभवत् ॥865॥

माँ-बाप का इकलौते बेटे पर जैसा प्रेम होता है, वैसा ही पुत्रवत् प्रेम उस समय प्राणियों में एक दूसरे के साथ था।

बोधिसत्त्वप्रभाजालैः स्फुटाः क्षेत्रा ह्यचिन्तियाः।
गङ्गावालिकसंख्याताः समन्ताद् वै दिशो दश ॥866॥

बोधिसत्त्व के किरण-जाल से गंगानदी की बालुका जैसे गिनने में अचिन्त्य (बुद्ध-) क्षेत्र दसों दिशाओं में चारों ओर चमक रहे थे।

न भूयश्चक्रवाडाश्य दृश्यन्ते कालपर्वताः।
सर्वे ते विपुला क्षेत्राः दृश्यन्त्येकं यथा तथा ॥867॥

चक्रवाल (नामक लोकविभाजक पर्वत) तथा (अन्य सीमाद्योतक) काले पर्वत और अधिक नहीं दिखाई पड़ते थे। वे सब बहुत से (बुद्ध—) क्षेत्र एक (—क्षेत्र) जैसे दिखाई पड़ते थे।

पाणितलप्रकाशाश्च दृश्यन्ते सर्वरत्निकाः।
बोधिसत्त्वस्य पूजार्थं सर्वं क्षेत्रा अलंकृताः ॥868॥

बोधिसत्त्व की पूजा के अर्थ सब (बुद्ध—) क्षेत्र हथेली के समान (समतल), सब रत्नों से युक्त, तथा सजे सजाए दिखाई पड़ते थे।

देवाश्च षोडश तथा बोधिमण्डोपचारकाः।
अलंचक्रुर्बोधिमण्डं अशीतिर्योजनावृत्तं ॥869॥

तथा बोधिमण्डप की देख-भाल करने वाले सोलह देवताओं ने अस्सी योजन के घेरे तक बोधिमण्डप को सजा रक्खा था।

ये च केचिन्महाव्यूहाः क्षेत्रकोटीष्वनन्तकाः।
ते सर्वे तत्र दृश्यन्ते बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥870॥

अनन्त कोटि-कोटि (बुद्ध—) क्षेत्रों में जितने भी महाव्यूह थे वे सब वहाँ पर बोधिसत्त्व के तेज से दिखाई पड़ते थे।

देवा नागास्तथा यक्षाः किन्नराश्च महोरगाः।
स्वानि स्वानि विमानानि श्मशानानीव मेनिरे ॥871॥

देवता, नाग, यक्ष, किंनर तथा महोरग (उस सजावट के आगे) अपने-अपने विमानों को श्मशान जैसा (श्रीहीन) समझते थे।

= 208क = तान् व्यूहान संनिरीक्ष्येह विस्मिताः सुरमानुषाः।
साधुः पुण्यस्य निस्यन्दः संपद् यस्येयमीदृशी ॥872॥

उन व्यूहों को (= सजावटों को) देख कर यहाँ देवता तथा मनुष्य आश्चर्य-चकित थे कि (वह) पुण्य-फल-रस (कितना) उत्तम है, जिसकी यह ऐसी संपत्ति है।

(–281–) करोति नैव चोद्योगं काय वाङ् मनसा तथा।
सर्वार्थाश्चास्य सिद्ध्यन्ति येऽभिप्रेता मनोरथाः ॥873॥

(ये) शरीर से, वाणी से, तथा मन से यत्न नहीं कर रहे हैं, फिर भी इनके जो सब चाहे हुए अर्थ और मनोरथ हैं, (वे) सफल हो रहे हैं।

अभिप्राया यथान्येषां पूरिताश्चरता पुरा।
विपाका कर्मणस्तस्य[12] संपद्यातेयमीदृशी[12] ॥874॥

पहले (बोधि—) चर्या का आचरण करते हुए जो इन्होंने दूसरों के मनोरथ पूरे किए हैं, उस कर्म के फलस्वरूप यह ऐसी सम्पत्ति उत्पन्न हुई है।

12....12) **संपद्यातेयमीदृशी** यह पाठ यदि लिपि भेद से लिखें तो **सपद्जातेय मीदृशी** है। तुलनीय भोट, **ह्.दि ह्.व्र हि. फुन् सुम् छोग्स् ह्.दि ब्युङ्**। प्राच्य देशों यकार को जकार पढ़ने के कारण इस प्रकार का पाठ विकसित हुआ है।

अलंकृतो बोधिमण्डश्चतुर्भिर्बोधिदेवतैः ।
पारिजातो दिवि यथा तस्मादपि विशिष्यते ॥875॥

बोधि (—वृक्ष) के चार देवताओं के द्वारा अलंकृत बोधिमण्डप स्वर्ग के कल्पवृक्ष जैसा, (अथवा) उससे भी दिव्य दिखाई पड़ता है ।

गुणाः शक्या न ते वाचा सर्वे संपरिकीर्तितुं ।
ये व्यूहा बोधिमण्डस्य देवतैरभिसंस्कृताः ॥876॥

देवताओं ने बोधिमण्डप की जो-जो सजावटें उत्तम ढंग से कीं, उनके उन-उन सब गुणों का वर्णन करना वाणी से संभव नहीं है ।

10. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व के शरीर से निकली हुई प्रभा से कालिक नागराज का भवन अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल, शरीर तथा मन में आनन्द और उल्लास उपजाने वाली, सब क्लेशों का क्षीण करने वाली, सब प्राणियों में सुख, प्रीति, प्रसन्नता एवं प्रमोद उत्पन्न करने वाली प्रभा से चमचमाने लगा । जिसे देख कर कालिक नागराज ने अपने परिवार के सामने उस समय ये गाथाएँ कहीं । = 208ख =

(छन्द शार्दूलविक्रीड़ित)

क्रकुछन्दे यथ आभ दृष्ट रुचिरा दृष्टा च कनकाह्वये
यद्वत् काश्यपि धर्मराजमनघे दृष्टा प्रभा निर्मला ।
निःसंशयं वरलक्षणो हितकरो उत्पन्न ज्ञानप्रभो
येनेदं भवनं विरोचति हि मे स्वर्णप्रभालंकृतं ॥877॥

(यह वैसी ही प्रभा है) जैसी सुन्दर प्रभा क्रकुच्छन्द के (अवतीर्ण) होने पर देखी थी, कनकाह्वय के (अवतीर्ण) होने पर देखी थी, जैसी निर्मल प्रभा अनघ (= निष्पाप) धर्मराज काश्यप के (अवतीर्ण) होने पर देखी थी । इसमें सन्देह नहीं कि उत्तम लक्षण के, हितकारी एवं ज्ञान की प्रभावाले अवतीर्ण हो चुके हैं, जिनके कारण यह मेरा भवन सुनहरी प्रभा से अलंकृत हो चमक रहा है ।

नास्मि चन्द्ररविप्रभा सुविपुला संदृश्यते वेश्मनि
नो चाग्नेर्न मणेर्न विद्यु-द्-अमला नो च प्रभा ज्योतिषां ।
नो चा[13] शक्रप्रभा न ब्रह्मण प्रभा नोच प्रभा आसुरी
एकान्तं तमसाकुलं मम गृहं प्राग्दुष्कृतैः कर्मभिः ॥878॥

---

13. मूल, वा । भोट, दङ् (= च) । चा उचित पाठ है ।

इस घर में न चन्द्र-सूर्य की बहुत बड़ी प्रभा दिखाई पड़ती है, न अग्नि की, न मणि की, न निर्मल बिजली की और न नक्षत्रों की प्रभा (ही दिखाई पड़ती है), न इन्द्र की, न ब्रह्मा की और न असुरों को प्रभा (ही दिखाई पड़ती है) मेरा घर पहले के पाप-कर्मों के कारण बिल्कुल अँधेरे से भरा रहता हैं।

(-282-) अद्येदं भवनं विराजति शुभं मध्ये-रविदीप्तिवत्
चित्तं प्रीति जनेति कायु सुखितो गात्राद्‌भुता शीतला।
तप्ता वालिक या शरीरि निपती जाता स मे शीतला
सुव्यक्तं बहुकल्पकोटिचरितो बोधिद्रुमं गच्छति ।।879।।

आज यह भवन मध्याह्न के सूर्य की प्रभा—जैसा शुभ एवं शोभायमान है, चित्त में प्रीति उत्पन्न हो रही है, शरीर सुखी है, अंग अद्‌भुत ढंग से शीतल हैं, मेरे शरीर पर जो गरम बालू गिरती थी, वह ठंडी हो गई है, (इन निमित्तों से) अत्यन्त स्पष्ट है कि अनेक करोड़ कल्पों तक (बोधि—) चर्या करने वाले बोधिवृक्ष की ओर जा रहे हैं।

शीघ्रं गृह्णत नाग पुष्प रुचिरा वस्त्रां सुगन्धां शुभां
मुक्ताहार पिनद्धतांश् च वलयांश् चूर्णानि धूपोत्तमा।
संगीति प्रकुरुध्व वाद्य विविधा भेरी मृदङ्गैः शुभैः
हन्ता गच्छथ पूजाना हितकरं पूजार्ह सर्वे जगे ।।880।।

हे नागो, शीघ्र लो सुन्दर पुष्पों को, वस्त्रों को, पवित्र सुगन्धों को, मोती के हारों को, पहनने वाले (आभूषणों) को, कंगनों को, चूर्णों को और उत्तम धूपों को, नाना प्रकार के उत्तम बाजों द्वारा, भेरियों के द्वारा मृदङ्गों के द्वारा गान गाओ। अहो, सब जगत् के पूजनीय एवं हितकारी की पूजा के लिए चलो।

सोऽभ्युत्थाय च नागकन्यसहितश्चतुरा दिशः प्रेक्षते
अद्राक्षीदथ=209क= मेरुपर्वतनिभं स्वालंकृतं तेजसा।
देवैर्दानवकोटिभिः परिवृतं ब्रह्ममेन्द्रयक्षैस्तथा
पूजां तस्य करोन्ति हृष्टमनसो दर्शेन्ति मार्गो ह्ययं ।।881।।

नाग-कन्याओं के साथ उठ कर उसने चारों ओर निहारा और कोटि-कोटि देवताओं एवं दानवों द्वारा, ब्रह्मा, इन्द्र तथा यक्षों द्वारा घिरे हुए, तेज से भली-भाँति अलंकृत मेरुपर्वत के समान (भगवान् को) देखा, (सब) उनकी प्रसन्न मन से पूजा करते थे तथा (दूसरों को) यह मार्ग है (ऐसा कह कर) दिखाते थे।

संहृष्टः स हि नागराट् सुमुदितश्चाभ्यर्च्य लोकोत्तमं
वन्दित्वा चरणौ च गौरवकृतस्तस्थौ मुनेरग्रतः।
नागाकन्य उदग्र हृष्टमनसः कुर्वन्ति पूजां मुनेः
पुष्पं गन्धविलेपना च क्षिपिषुस्तूर्याणि निर्नादयन् ।।882।।

अत्यन्त हर्षित हो कर, अत्यन्त आनन्दित हो कर, वह नागराज (उन) लोक के उत्तम (भगवान्) की पूजा कर, चरणों में वन्दना कर, उन मुनि के सामने अपना गौरव दिखाता हुआ खड़ा रहा, (तथा) आनन्दित एवं उल्लसित मन से नागकन्याओं ने बाजे बजा कर मुनि की पूजा की, उन पर पुष्प, गन्ध तथा विलेपन फेंके।

कृत्वा चाञ्जलि नागराट् सुमुदितस्तुष्टाव तथ्यैर्गुणैः
साधुर्दर्शितु पूर्णचन्द्रवदने लोकोत्तमे नायके।
यथ मे दृष्ट निमित्त पूर्व-ऋषिणां पश्यामि तानेव ते
अद्य त्वं विनिहत्य मार बलवानिष्टं पदं लप्स्यसे ॥883॥

अत्यन्त आनन्दित नागराज ने हाथ जोड़ सत्य—गुणों द्वारा स्तुति की। हे पूर्ण चन्द्रमा के समान बदन वाले, लोक के उत्तम, नायक, अच्छा दर्शन दिया। जो निमित्त (=सगुन) मैंने पहले के ऋषियों के देखे हैं, वे ही तुम्हारे देख रहा हूँ। आज तुम सेनासमेत मार को जीत कर अभीष्ट पद प्राप्त करोगे।

यस्यार्थे दमदानसंयम पुरे, सर्वा ति त्यागो अभूत्
यस्यार्थे दमशीलमैत्रकरुणाक्षान्तिवलं भावितं।
(–283--) यस्यार्थे दमवीर्यध्याननिरतः प्रज्ञा प्रदोपः कृतः
सैषा ते परिपूर्ण सर्व प्रणिधी अद्या जिनो भेष्यसे ॥884॥

पहले जिस प्रयोजन के लिए विनय, दान, तथा संयम किया, तुमने सब कुछ त्याग डाला, जिस प्रयोजन के लिए विनय, शील, मैत्री, करुणा, क्षमा, बल (=वीर्य) की भावना की, जिन प्रयोजन के लिए विनय तथा वीर्य (=उद्योग) के साथ ध्यान में लगे रहे, प्रज्ञा को (अपना) प्रदीप बनाया, वह तुम्हारा सब संकल्प आज परिपूर्ण होने वाला है, आज (तुम) बुद्ध होओगे।

यद्वद् वृक्ष सपत्रपुष्प सफला = 209ख=बोधिद्रुमं संनताः
यद्वत् कुम्भसहस्र पूर्णसलिला कुर्वन्ति प्रादक्षिणं।
यद्वच्चाप्सरगणाश्च संप्रमुदिता स्निग्धं रुतं कुर्वते
हंसाः क्रौञ्चगणा यथा च गगने गच्छन्ति लीडान्वितं॥
कुर्वन्ते सुमनाः प्रदक्षिणमृषिं भावि त्वमद्यार्हवान् ॥885॥

बोधिवृक्ष की ओर जैसे पत्र-पुष्प एवं फल समेत वृक्ष भलीभाँति झुक रहे हैं, जैसे पानी से भरे हजारों घड़े प्रदक्षिणा कर रहे हैं, जैसे अत्यन्त आनन्द से भरे अप्सराओं के समूह स्नेह के बोल-बोल रहे हैं, जैसे हंस तथा क्रौञ्च-गण क्रीड़ा के साथ आकाश में उड़ रहे हैं, तथा सुखी मन से ऋषि की प्रदक्षिणा कर रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) तुम आज अर्हत् होओगे।

यथ वा काञ्चनवर्ण आभ रुचिरा क्षेत्राशता[14] गच्छते
शान्ताश्चापि यथा अपाय निखिला दुःखैर्विमुक्ता प्रजाः।
यद्वद् वृष्टित चन्द्रसूर्यभवना वायुर्मृदुर् वायते
अद्या भेष्यसि सार्थवाहु त्रिभवे जातीजरामोचको ॥886॥

जैसे सैकड़ों (बुद्ध--) क्षेत्रों तक सुनहरे रंग की सुन्दर प्रभा पहुँच रही है, जैसे सब के सब अपाय (=नरक) शान्त हो गए हैं तथा प्रजाएँ दुःख से मुक्ति पा गई हैं, जैसे चन्द्र सूर्य लोक से वर्षा हो रही है (और) कोमल पवन बह रहा है, (उससे स्पष्ट है कि तुम) आज जन्म तथा जरा से मुक्त करने तीनों लोकों के सार्थवाह बनोगे।

यद्वत् कामरती विहाय च सुरास्त्वत्पूजनेऽभ्यागताः
ब्रह्मा ब्रह्मपुरोहिताश्च अमरा उत्सृज्य ध्यानं-सुखं।
ये केचित् त्रिभवे तथैव च पुरे सर्वे इहाभ्यागताः
अद्या भेष्यसि वैद्यराज त्रिभवे जातीजरामोचको ॥887॥

तुम्हारी पूजा के लिए जैसे (कामधातु के) देवता कामसुख छोड़ कर और (रूपधातु के) ब्रह्मगण एवं ब्रह्मपुरोहित देव ध्यान का सुख छोड़ कर आए हुए हैं, जो कोई तीनों भवों में हैं और (देव---) पुरों में हैं, (वे) सब यहाँ आ चुके हैं, (उससे स्पष्ट है कि तुम) आज जन्म और जरा के मुक्त करने वाले तीनों लोकों के वैद्यराज बनोगे।

मार्गश्चापि यथा विशोधितु सुरैर्येनाद्य त्वं गच्छसे
एतेना गतु क्रकुच्छन्दु भगवान् कनकाह्वयः काश्यपः।
यथ वा पद्म विशुद्ध-निर्मल-शुभा भित्वा महीमुद्गताः
यस्मि निक्षिपसे क्रमानतिबलां भावि—210क—त्वमद्यार्हवान् ॥888॥

जैसे देवताओं ने मार्ग को साफ-सुथरा कर रक्खा है, जिस पर आज तुम चल रहे हो, इसी पर भगवान् क्रकुच्छन्द, कनक मुनि (नामक बुद्ध) तथा (तथागत) काश्यप चले थे, अथवा जैसे धरती फोड़ कर अत्यन्त शुद्ध, निर्मल और पवित्र कमल निकले हैं, जिन पर (तुम) अत्यन्त बलशाली चरण रख रहे हो, (उससे स्पष्ट है कि) आज तुम अर्हत् होओगे।

---

14. मूल क्षत्राशता। भोट, शिङ् नि ब्र्ग्यंर् (=क्षेत्रशतानि)। उचित पाठ क्षेत्राशता स्पष्ट है।

मारा: कोटिसहस्रनेकनयुता गङ्गा यथा वालिका:
तुभ्यं न समर्थ बोधिविटपाच्चालेतु कम्पेतु वा । (--284--)
यज्ञा नैकविधाः सहस्रनयुता गङ्गा यथा वालिका:
यष्टास्ते चरता हिताय जगतस्तेनेह विभ्राजसे ॥889॥

गंगा नदी के रेणुका-कणों के समान अनेक कोटि सहस्र खर्ब मार (भी) तुम-को बोधिवृक्ष से न चला सकते हैं और न हिला सकते हैं । गंगा की बालुका के समान अनेक प्रकार के सहस्रों खर्ब यज्ञ तुमने जगत् के हित के लिए (बोधि--) चर्या का आचरण करते हुए किए हैं, उनके कारण यहां (तुम इस प्रकार) शोभा-यमान हो रहे हो ।

नक्षत्रा सशशी सतारक रवि भूमौ पतेदम्बरात्
स्वस्थानाच्च चलेन्महागिरिवर: शुष्येदथो सागरः ।
चतुरो धातव कश्चि विज्ञ पुरुषो दर्शेय एकैकसः
नैव त्वं द्रुमराजमूलुपगतो अप्राप्य बोध्युत्थिहेत् ॥890॥

चाहे चन्द्रमा के सहित नक्षत्र और नक्षत्रों के सहित सूर्य आकाश से धरती पर गिर पड़े, चाहे श्रेष्ठ महापर्वत अपने स्थान से च्युत हो जाएँ, चाहे समुद्र सूख जाएँ, और चाहे कोई चतुर पुरुष (शरीर के) चारों (पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु) धातुओं को एक-एक करके (विवेचन कर) दिखा दे, पर तुम वृक्षराज के तले पहुँच कर, बिना बोधि प्राप्त किए नहीं उठोगे ।

लाभा मह्य सुलब्ध वृद्धि विपुला दृष्टोऽसि यत्सारथे
पूजा चैव कृता गुणाश्च कथिता बोधाय चोत्साहितः ।
सर्वा नागवधू अहं च ससुता मुच्येमितो योनितः
त्वं यासी यथ मत्तवारणगते गच्छेम एवं वयं ॥891॥इति॥

हे सारथे, जो तुम्हारा दर्शन हुआ, और (जो) तुम्हारी पूजा की, गुणानुवाद गाया एवं बोधि के लिए (तुम्हें) उत्साहित किया, वह मुझे लाभों की सुन्दर प्राप्ति है, (वह मेरी) विपुल वृद्धि है । (मेरी कामना है कि) मैं सब नागवधुओं तथा पुत्र-पुत्रियों के साथ इस योनि से मुक्त हो जाऊँ तथा हे मतवाले-गजराज के समान गति वाले, तुम जैसे (बोधि के लिए) चल रहे हो, वैसे ही हम (सभी) चलें ।

11. इस प्रकार हे भिक्षुओं, कालिक नागराज की सुवर्णप्रभासा नाम की जो पटरानी थी, वह आगे-आगे हो बहुत सी नाग कन्याओं के साथ, जो नाना-प्रकार के रत्नों और छत्रों को लिए हुए थीं, नानाप्रकार के धूसों (= दुशालों) को लिए हुए थीं, नाना प्रकार के मोतियों के हारों को लिए हुए थी, नानाप्रकार

के मणिरत्नों को=210ख=लिए हुए थी, देवलोक एवं मनुष्य लोक के पुष्प-विलेपनों के (पत्तों से गुंथे) दोनों को लिए हुए थी, नानाप्रकार की गंध-घटिकाओं (=धूपदानियों) को लिए हुए थी, चलते हुए बोधिसत्त्व के ऊपर नानाप्रकार के बाजों पर संगीति (के स्वर स र ग म प ध नि) बजा कर नानाप्रकार के रत्नों और पुष्पों की वर्षा करती थी तथा इन गाथाओं के द्वारा स्तुति करती थी।

(छंद भुजङ्गप्रयात)

अभ्रान्ता अत्रस्ता अभीरु अछम्भी
अलीना अदीना प्रहृष्टा दुर्धर्षा।
अरक्ता अदुष्टा अमूढा अलुब्धा
विरक्ता विमुक्ता नमस्ते महर्षे ॥892॥

हे भ्रमरहित, हे त्रासरहित, हे भयरहित, हे स्तम्भरहित (=भयोत्पन्न-शून्यगात्रता से रहित), हे अलीन (=अमूर्छित), हे अदीन, हे प्रहृष्ट, हे दुर्धर्ष, हे रागहीन, हे द्वेष हीन, हे मोह हीन, हे लोभ हीन, विरक्त, हे विमुक्त, हे महर्षे, तुम्हें नमस्कार है।

(–285–) भिषङ्का विशल्या विनेया विनेषी
सुवैद्या जगस्या दुखेभ्यः प्रमोची।
अलेना अत्राणा [15]अ हीना[15] विदित्वा
भवा लेनु त्राणो त्रिलोकेस्मि जातः ॥893॥

शल्य को दूर करने वाले (मुनि) चिकित्सक हो, विनय के योग्यों को तुमने विनीत किया है, जगत् के (तुम) उत्तम वैद्य हो, दुःखों से (तुमने उसे) मुक्त किया है। दीन-हीन (लोगों) को लयन हीन (=स्थान हीन) तथा त्राण हीन (=शरणहीन) जान कर (तुम) लयन (=स्थान) तथा त्राण (=शरण) होकर उत्पन्न हुए हो।

प्रसन्ना प्रहृष्टा यथा देवसंघाः
प्रवर्षी नभस्था महत्पुष्पवर्षं।
महाचैलक्षेपं करोन्ती यथेमे
जिनो भेष्यसेऽद्या कुरुष्व प्रहर्षं ॥894॥

15....15. मूल में **अहीना** एक समस्त पद है। भोट में **दृमन् प** (=हीन) ही केवल पाठ है जिससे अर्थसंगति लग जाती है। अतः यहाँ **अ** एक पृथक् पद है जो **च** के अर्थ में है यद्यपि भोट में इसका प्रतिनिधि शब्द नहीं है। **अ** के इस प्रयोग का बु० हा० स० डि० में संकलन होना चाहिए।

देवगण जिस प्रकार प्रसन्न हो, हर्ष से भरे, आकाश में खड़े हो, पुष्पों की महावर्षा कर रहे हैं और जिस प्रकार ये वस्त्रों को अत्यधिक हिला-हिला कर, फहरा रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) आज (तुम) बुद्ध होओगे। आनन्द मनाओ।

उपेहि द्रुमेन्द्रं निषीदा अछम्भी
जिना मारसेनां धुन क्लेशजालं।
विबुध्य प्रशान्तां वरामग्रबोधिं
यथा पौर्वकैस्तैर्विबुद्धा जिनेन्द्रैः ॥895॥

वृक्षराज के तले जाओ, बिना स्तम्भ के (अर्थात् बिना भयजनित गात्रशून्यता के) बैठो, मारसेना को जीतो, क्लेशजाल को धुन दो, और उत्तम, श्रेष्ठ एवं अत्यन्त शान्त बोधि का उसी प्रकार बोध करो जिस प्रकार पहले के जिनेन्द्रों ने बोध किया था।

त्वया यस्य =211क= अर्थे बहू कल्पकोट्यः
कृता दुष्कराणी जगन्मोचनार्थं।
प्रपूर्णा ति आसा अयं प्राप्तु कालो
उपेहि द्रुमेन्द्रं स्पृशस्वाग्रबोधिं ॥896॥ इति

तुमने जिसके लिए, जगत् (के दुःख) छुड़ाने के अर्थ बहुत कोटि-कोटि कल्पों तक दुष्कर (कार्य) किए हैं, वह (अब) तुम्हारी आशा पूर्ण होगी, यह समय आ गया है, वृक्षराज के तले जाओ, श्रेष्ठ बोधि का अनुभव करो।

12. हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। पहले के तथागतों ने किस (आसन) पर बैठ अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया था? तब उनके मन में यह भासित हुआ कि तृणासन पर बैठ कर (उन्होंने बोधिलाभ किया था)।

13. तदनन्तर आकाश में विराजमान लाखों शुद्धवासकायिक देवता (अपने) चित्तों से बोधिसत्त्व के चित्त के भाव को जान कर यों वचन बोले (–286–) हे सत्पुरुष, ऐसी ही बात है, ऐसी ही बात है, हे सत्पुरुष, तृणासन पर बैठ कर उन पहले के तथागतों ने अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया था। इति॥

14. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व ने फिर मार्ग के दाहिने पास में स्वस्तिक घसियारे को देखा, जो नीले, कोमल, सुकुमार, रमणीय, कुण्ठलाकार, दाहिनी ओर से मुड़े हुए, मयूर की गर्दन जैसे (रंग के), काचिलिन्द—वस्त्र के समान सुखदायक स्पर्श के, सुगन्धित, रंगीन एवं मनोहर तृणों को काट रहा था। उसे =211ख= देखकर, फिर बोधिसत्त्व मार्ग से हट कर, जहाँ स्वस्तिक

घसियारा था, वहाँ जाकर स्वस्तिक घसियारे से उस मधुर वाणी में बोले, जो वाणी सब ओर से ज्ञान देने वाली, विशेष रूप से ज्ञान देने वाली, अत्यन्त स्पष्ट, एक (प्रकार के) वर्ण वाली (भी) अनेक (प्रकार के) लोगों को सुख देने वाली, वल्गु (=मनोहर), श्रवणयोग्य, स्नेह से भरी, स्मरण के योग्य, प्रेरणा देने वाली, संतोष उपजाने वाली, प्रेम जनाने वाली, अकर्कश (=कटुता–रहित) अगद्गद (=स्थान एवं प्रयत्न के दोषों से अस्पृष्ट) अपरुष (=अकठोर), अचपल, श्लक्ष्ण (=चिकनी), मधुर, कानों को सुख देने वाली, शरीर और मन को आनन्दित करने वाली, राग-दोष, मोह एवं कलह के कलङ्क को मिटाने वाली, कलविङ्क (=चटक) के चहचहान के जैसे स्वर वाली, कुलाण और जीवंजीवक (=चकोर) के कूजन के समान घोषवाली, दुंदुभि एवं संगीतिस्वरों के अलापने के समान गूँजने वाली, अनपहृत (=अखंडित), सत्य, स्वच्छ, भूत (=यथार्थ), ब्रह्मा के स्वर के नाद के समान स्वर एवं ध्वनि वाली समुद्र के समान स्वर एवं वेग वाली, पर्वतों की टक्कर से उत्पन्न जैसे (स्पष्ट) नाद वाली, देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों के द्वारा प्रशंसित, गंभीर, अगाध, मार के बल को बलहीन करने वाली, दूसरे (प्रतिपक्षियों) के प्रवादों को मथन करने वाली, =212क= सिंह के जैसे स्वर और वेग वाली, अश्वों और गजों के शब्द के समान गूँजने वाली, नाग-ध्वनि जैसी टनकती हुई, मेघघोष के समान घोषस्वर वाली, दसों दिशाओं के सब बुद्ध-क्षेत्रों में फैलने वाली, विनय के योग्य प्राणियों को प्रेरणा देने वाली, अद्रुत (=न शीघ्र), अनुपहृत (=न रुक-रुक कर निकलने वाली), अविलम्बित (=न देर कर निकलने वाली) सहित (= संधियुक्त) युक्त (=रीति एवं शैली वाली), काल पर व्यक्त होने वाली, काल पर न चूकने वाली, शत-सहस्र धर्म (–भावनाओं) से गुँथी हुई, सौम्य (=दिल को भाने वाली) असक्त (दिल को न खटकने वाली) प्रतिभा के आश्रय वाली, एकबोली से सब बोलियों को रचने वाली, संपूर्ण अभिप्राय को प्रकट करने वाली, सब (प्रकार का) सुख उपजाने वाली, मोक्ष का मार्ग दिखाने वाली, मार्ग के लिए (अपेक्षित) संभार (=सामग्री) को बतलाने वाली, सभा (के नियमों) का उल्लंघन न करने वाली, संपूर्ण सभा को संतोष प्रदान करने वाली तथा सब बुद्धवचनों के (–287--) अनुकूल थी। ऐसी वाणी द्वारा बोधिसत्त्व ने स्वस्तिक घसियारे से गाथाओं में कहा।—

(छंद दोधक)

तृणु देहि मि स्वस्तिक शीघ्रं अद्य ममार्थु तृणैः सुमहान्तः।
सबलं नमुचि निहनित्वा बोधिमनुत्तर शान्ति स्पृशिष्ये ॥897॥

हे स्वस्तिक, मुझे, जल्दी तृण दो, आज तृणों से मेरा महान् प्रयोजन है, सेनासहित मार का पूर्णरूप से दमन कर (आज) शान्त एवं उत्तम बोधि का साक्षात्कार करूँगा।

यस्य कृते मयि कल्पसहस्रा
दानु दमोऽपि च संयम = 212ख = त्यागो।
शीलव्रतं च तपश्च सुचीर्णा
तस्य मि निष्पदि भेष्यति अद्य ॥898॥

जिस (प्रयोजन) के लिए मैंने सहस्र कल्पों तक दान, दम (=विनय), संयम, त्याग, शीलव्रत, तथा तप की शोभन चर्या की है, मेरे उस (प्रयोजन) की सफलता आज होगी।

क्षान्तिबलं तथ वीर्यबलं च
ध्यानबलं तथ ज्ञानबलं च।
पुण्य-अभिज्ञ-विमोक्षबलं च
तस्य मि निष्पदि भेष्यति अद्य ॥899॥

और मेरा जो क्षमाबल, वीर्यबल, ध्यानबल, ज्ञानबल, पुण्यबल, अभिज्ञाबल, तथा विमोक्ष बल है, उसकी सफलता आज होगी।

प्रज्ञबलं च उपायबलं च
ऋद्धि-म्-असंगत-मैत्रिबलं च।
प्रतिसंविद-परिसत्यबलं च
तेष मि निष्पदि भेष्यति अद्य ॥900॥

और मेरे जो प्रज्ञाबल, उपायबल, ऋद्धिबल, असंगताबल, मैत्रीबल, प्रतिसंविद्बल हैं तथा परिपूर्ण सत्यबल हैं उनकी सफलता आज होगी।

पुण्यबलं च तवापि अनन्तं
यन्मम दास्यसि अद्य तृणानि।
नह्यपरं तव एतु निमित्तं
त्वं पि अनुत्तरु भेष्यसि शास्ता ॥901॥

आज जो मुझे तृण दोगे, उससे तुम्हारा पुण्यबल अनन्त हो जाएगा, तुम्हारे लिए यह अपर (= न-वर) निमित्त नहीं होगा, तुम भी अनुत्तर शास्ता होओगे।

(छंद सप्तदशाक्षरी गाथा)

श्रुत्वा स्वस्तिकु वाच नायके सुरुचिर मधुरां
तुष्टो आत्मनाश्च हर्षितः प्रमुदितमनसः।
गृह्णनीत्वा तृणमुष्टि स्पर्शनवती मृदुतरुणसुभां
पुरतः स्थित्वन वाच भाषते प्रमुदितु हृदयः ॥902॥

नायक (बोधिसत्त्व) की अत्यन्त रुचि उपजाने वाली और मधुर वाणी को सुन कर, स्वस्तिक संतुष्ट, मन से सुखी, हर्षित, और मन में अत्यन्त आनन्दित हुआ और कोमल, नूतन एवं शुभ तथा स्पर्श में सुखद तृणों की मुष्टि लेकर संमुख खड़े होकर, हृदय के अत्यन्त आनन्द के साथ (यों) वचन बोला।

यदि तावत् तृणकेभि लभ्यते पदवरममृतं
बोधी उत्तम शान्त दुर्दृशा पुरिमजिनपथः।
तिष्ठतु ताव महागुणोदधे अपरिमितयशा
अहमेव प्रथमे नु बुध्यमि पदवरममृतं ॥903॥

हे गुणों के महासागर, अपरिमित यश वाले (महासत्त्व), यदि उत्तम, शान्त, कठिनता से साक्षात्कार के योग्य बोधि, जो पहले के बुद्धों का मार्ग है, तृणों से ही प्राप्त हो जाती है, तो आप ठहरिए, मैं ही पहले उत्तम अमृत पद का बोध कर लेता हूँ।

नैषा स्वस्तिक बोधि लभ्यते तृणवरशयनैः
अचरित्वा बहुकल्प दुष्करी व्रततप विविधा। =213क=
–(288–) प्रज्ञा-पुण्य-उपाय-उद्गतो यदि भवि मतिमां
तद-पश्चाज् जिन व्याकरोन्ति मुनयो भविष्यति विरजः ॥904॥

हे स्वस्तिक, यह बोधि उत्तम तृणों के शयनासन द्वारा बहुत कल्पों तक बिना नाना प्रकार के दुष्कर व्रत तप किए नहीं प्राप्त होती। जब बुद्धिमान् (प्राणी) प्रज्ञा से, पुण्य से, उपाय से ऊपर उठ जाता है, तब बाद में मुनि (–जन) रजोहीन बुद्ध होने की भविष्यवाणी करते हैं।

यदि बोधी इय शक्य स्वस्तिका परजनि ददितुं
पिण्डीकृत्य ददेय प्राणिनां म भवतु विमतिः।
यद बोधी मय प्राप्त जानसी विभजमि अमृतं
आगत्वा शृणु धर्मं-य्-उक्त त्वं भविष्यसि विरजः ॥905॥

यह बोधि यदि दूसरे व्यक्ति को दी जा सकती होती, तो उसकी पिंडिया बना कर दे सकने में, मुझे हिचकिचाहट न हुई होती। जब तुम जानना कि मैं बोधि पाकर, अमृत बाँट रहा हूँ, तब आकर (मेरे) कहे धर्म को सुनना। तुम रजोहीन (बुद्ध) होओगे।

गृह्णीत्वा तृणमुष्टि नायकः परमसुमृदुकां
सिंहाहंसगतिश्च प्रस्थितः प्रचलित धरणी।
देवानागगणाः कृताञ्जली प्रमुदितमनसः
अद्या मारबलं निहत्ययं स्पृसिष्यति अमृतं ॥906॥

परम-अत्यन्त कोमल तृणों की मुष्टि लेकर सिंह एवं हंस की गतिवाले नायक (बोधिवृक्ष की ओर) चल पड़े, धरती डोल उठी, देवगण एवं नागगण अंजलि बाँध, आनन्द से पूरे भरे मन से (बोल उठे कि) आज ये मारसेना का दमन कर, अमृत का साक्षात्कार करेंगे।

15. हे भिक्षुओं, जब बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष की ओर जा रहे थे, तब देवपुत्रों और बोधिसत्त्वों ने अस्सी हज़ार बोधिवृक्षों को इसलिए अलंकृत कर रक्खा था कि यहाँ बैठ कर बोधिसत्त्व बोधि का लाभ करेंगे—सम्यग् अवबोध करेंगे। वहाँ पर कितने ही बोधिवृक्ष दो शतसहस्र-योजन-ऊँचे गंधमय थे, कितने ही बोधिवृक्ष तीन शतसहस्र-योजन-ऊँचे चन्दनमय थे, =213ख= कितने ही बोधिवृक्ष ऊँचाई में पाँच शतसहस्र-योजन के वस्त्रमय थे, कितने ही बोधिवृक्ष ऊँचाई में दस शतसहस्र-योजन के रत्नमय थे, कितने ही बोधिवृक्ष ऊँचाई में दस कोटिनयुत शतसहस्र योजन के सर्वरत्नमय थे।[16] उन सब बोधिवृक्षों के तले औचित्य के अनुसार सिंहासन लगे हुए थे, जिन पर नाना (प्रकार) के धूसे (=दुशाले) बिछाए गए थे। किसी बोधिवृक्ष के नीचे कमलासन लगाया, किसी के नीचे गंधासन, किसी के नीचे नानाविध रत्नासन। और बोधिसत्त्व (289–) ललितव्यूह नाम की समाधि में समापन्न हो गए। ज्यों ही बोधिसत्त्व ललितव्यूह नामक बोधिसत्त्वसमाधि में समापन्न हुए, त्यों ही उन सब बोधिवृक्षों के नीचे अपने (बत्तीस) लक्षणों तथा (अस्सी) अनुव्यञ्जनों द्वारा विभूषित शरीर से बोधिसत्त्व सिंहासनारूढ़ दिखाई पड़ने लगे। और प्रत्येक बोधिसत्त्व तथा देवपुत्र को यही भान होने लगा कि बोधिसत्त्व मेरे ही सिंहासन पर बैठे हैं न कि दूसरों पर। जैसा उन (बोधिसत्त्वों एवं देवपुत्रों) को भान होता था, वैसा ही =214क= उस ललितव्यूह नामक समाधि के प्रताप से सब नरकों के पशुपक्षि-योनियों के, यम-लोक के प्राणियों को, सब देवताओं और मनुष्यों को, (विभिन्न) गतियों में उत्पन्न सब प्राणियों को बोधिसत्त्व बोधिवृक्षों के नीचे सिंहासनारूढ़ दिखाई पड़ते थे।

16. तदनन्तर हीनरुचि-वाले (अर्थात् दिव्य ठाट-बाट से विमुख तपोमय जीवन में रुचि वाले) प्राणियों के मन में संतोष उपजाने के लिए, तृणों की मुष्टि लेकर, बोधिसत्त्व जहाँ बोधिवृक्ष था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर सात बार बोधिवृक्ष की प्रदक्षिणा कर, तृणों का समन्तभद्र नामक आसन—जिसमें (तृणों का)

---

16. इससे पूर्व मूल में (केचिद्बोधिवृक्षा रत्नमयाः कोटिनयुतशतसहस्रप्रमुद्विद्धाः) यह पाठ कोष्ठकों में है, जो सम्बद्ध नहीं है। भोट में भी यह नहीं है, अतः परित्यागार्ह है।

उपरला (भाग) भीतर की ओर, (तृणों की) जड़ों (वाला भाग) बाहर की ओर होता है—बिछा कर उस तृणासन पर, सिंह के सदृश, शूर के सदृश, बली के सदृश, दृढोद्योगी के सदृश, स्थैर्यवान् के सदृश, राजेन्द्र के सदृश, महेश्वर के सदृश, स्वयंभू के सदृश, ज्ञानी के सदृश, अनुत्तर (=सर्वश्रेष्ठ) के सदृश, विशिष्ट (पुरुष) के सदृश, उन्नत (पुरुष) के सदृश, (अपने) यश के सदृश, (अपनी) कीर्ति के सदृश, (अपने) दान के सदृश, (अपने) शील के सदृश, (अपनी) क्षमा के सदृश, (अपने) वीर्य (=उद्योग) के सदृश, (अपने) ध्यान के सदृश, (अपनी) प्रज्ञा के सदृश, (अपने) ज्ञान के सदृश, (अपने) पुण्य के =214ख=सदृश, मार की बाधाओं के विघातक के सदृश, पर्यक बाँध कर, पूर्व दिशा की ओर मुख कर, शरीर को सीधा रख कर, स्मृति को अपने सम्मुख रख कर, बैठे और इस प्रकार का दृढ़ संकल्प किया—

(छंद उपजाति)

इहासने सुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ।।907।।[17]

इस आसन पर मेरा शरीर भले ही सूख जाए, त्वचा तथा अस्थि-मांस चाहे गल जाएँ, बहुत कल्पों तक दुर्लभ बोधि का लाभ किए बिना, इस आसन से (यह) काय नहीं हिले-डुलेगा।

।। इति श्री ललितविस्तरे बोधिमण्डगमनपरिवर्तो नाम एकोनविंशतितमोऽध्यायः ।।

●

---

17. इस परिवर्तन की गाथाओं की छाया यों है।

यस्य तेजसः पुण्यतश्च श्रियो बाह्यः पन्था ज्ञायते मैत्री च करुणा उपेक्षा मुदिता ध्यानान्यभिज्ञास्तथा। सोऽयं कल्पसहस्रचरितचर्यो बोधिद्रुमं प्रस्थितः पूजां साधु कुरुत तस्य मुनेर् आशीर्व्रतं साधिकां (यथारुतं तु साधनीम्) ।।851।। यं गत्वा शरणं न दुर्गतिभयं प्राप्नोति नैवाक्षणं देवेष्विष्टसुखं च प्राप्य विपुलं ब्रह्मालयं गच्छति। षड् वर्षाणि चरित्वा दुष्करचर्यां यात्येष बोधिद्रुमं साधु सर्वे हृष्टोदग्रमनसः पूजामस्य कुर्महे ।।852।। राजासौ त्रिसाहस्रे, ईश्वरवरो धर्मेश्वरः पार्थिवः शक्रब्रह्मणोः पुरे च चन्द्रसूर्ययोर् नास्त्यस्य कश्चित्समः। यस्य जायमानस्य क्षेत्रकोटिनयुताः संकम्पिताः षड्विधं स एषोऽद्य व्रजति महाद्रुमवरं मारस्य जेतुं चमूः ।।853।। मूर्धा यस्य

न शक्य ईक्षितुमिह ब्रह्मालयेऽपि स्थितैः कायो यस्य वराग्रलक्षणधरो द्वात्रिंशतालंकृतः। वाग्यस्येह मनोज्ञा वल्गुर्मधुरा ब्रह्मस्वरा सुस्वरा चित्तं यस्य प्रशान्तं दोषरहितं गच्छाम तत्पूजने ॥854॥ येषां वा मतिर् ब्रह्मणः शक्रस्य भवने नित्यं सुखं क्षेपयितुम् अथवा सर्वक्लेशबन्धनलतां छेत्तुं हि तां जालिनीम्। अश्रुत्वा परतः स्पृशेयममृतं प्रत्येकबोधिं शिवां बुद्धत्वं यदि वेप्सितं त्रिभवने पूजयत्वसौ नायकम् ॥855॥ त्यक्ता येन ससागरा वसुमती रत्नान्यनन्तान्यथो प्रासादाश्च गवाक्ष-हर्म्य-कलिला (= बहुला) युग्यानि यानानि च। भूमिरलंकृता पुष्पदामभी रुचिरैर् उद्यानकूपसरोभिर् हस्तपादशिरउत्तमाङ्गनयनानि स बोधिमण्डोन्मुखः ॥856॥

यावन्तश्चावीचिपर्यन्तं नरका घोरदर्शनाः। दुःखं प्रशान्तं सत्त्वानां सुखां विन्दन्ति वेदनाम् ॥857॥ तिर्यग्योनिषु यावन्तः सत्त्वा अन्योन्यघातकाः। मैत्रीचित्ता हि ते जाताः स्पृष्टा भाभिर्महामुनेः ॥858॥ प्रेतलोकेषु यावन्तः प्रेताः क्षुत्तर्षपीडिताः। प्राप्नुवन्त्यन्नपानानि बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥859॥ अक्षणाः पिहिताः सर्वे दुर्गतिश्चोपशोषिता। सुखिताः सर्वसत्त्वाश्च दिव्यसौख्यसमर्पिताः ॥860॥ चक्षुःश्रोत्रविहीनाश्च ये चान्ये विकलेन्द्रियाः। सर्वेन्द्रियैः सुसंपूर्णा जाताः सर्वाङ्गशोभनाः ॥861॥ रागद्वेषादिभिः क्लेशैः सत्त्वा बाध्यन्ते ये सदा। शान्तक्लेशास्तदा सर्वे जाताः सुखसमर्पिताः ॥862॥ उन्मत्ताः स्मृतिमन्तश्च दरिद्रा धनिनस्तथा। व्याधिता रोगनिर्मुक्ता मुक्ता बन्धनबद्धकाः ॥863॥ न खिलं न च मात्सर्यं व्यापादं न च विग्रहम्। अन्योन्यं संप्रकुर्वन्ति मैत्रचित्ताः स्थितास्तदा ॥864॥ मातुः पितुश्चैकपुत्रे यथा प्रेम प्रवर्तते। तथान्योन्येन सत्त्वानां पुत्रप्रेम तदाभवत् ॥865॥ बोधिसत्त्वप्रभाजालैः स्फुटानि क्षेत्राण्यचिन्त्यनि। गङ्गावालुकासंख्यातानि समन्ताद् वै दिशो दश ॥866॥ न भूयश्चक्रवालाश्च दृश्यन्ते कालपर्वताः। सर्वाणि तानि विपुलानि क्षेत्राणि दृश्यन्त एकं यथा तथा ॥867॥ पाणितलप्रकाशानि च दृश्यन्ते सर्वरत्नकानि। बोधिसत्त्वस्य पूजार्थं सर्वाणि क्षेत्राण्यलंकृतानि ॥868॥ देवाश्च षोडश तथा बोधिमण्डपोपचारकाः। अलंचक्रुर्बोधिमण्डपम् अशीत्या योजनैर् आवृतम् ॥869॥ ये च केचिन्महाव्यूहाः क्षेत्रकोटिष्वनन्तकाः। ते सर्वे तत्र दृश्यन्ते बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥870॥ देवानागस्तथा यक्षाः किन्नराश्च महोरगाः। स्वानि स्वानि विमानानि श्मशानोव मेनिरे ॥871॥ तान् व्यूहान् संनिरीक्ष्येह विस्मिताः सुरमानुषाः। साधु पुण्यस्य निस्यन्दः संपद् यस्येयमीदृशी ॥872॥ करोति नैव चोद्योगं कायेन वाचा मनसा तथा। सर्वार्थाश्चास्य

सिद्धयन्ति येऽभिप्रेता मनोरथाः ॥873॥ अभिप्राया यथान्येषां पूरिताश्चरता पुरा। विपाकः कर्मणस्तस्य संपद् जातेयमीदृशी ॥874॥ अलंकृतो बोधिमण्डपश्चतुर्भिर् बोधिदैवतैः। पारिजाता दिवि यथा तस्मादपि विशिष्यते ॥875॥ गुणाः शक्या न ते वाचा सर्वे संपरिकीर्तयितुम्। ये व्यूहा बोधिमण्डस्य दैवतैरभिसंस्कृताः ॥876॥

क्रकुच्छन्दे यथाभा दृष्टा रुचिरा च कनकाह्वये यद्वत् काश्यपे धर्मराजेऽनघे दृष्टा प्रभा निर्मला। निःसंशयं वरलक्षणो हितकर उत्पन्नो ज्ञानप्रभो येनेदं भवनं विरोचते हि मे स्वर्णप्रभालंकृतम् ॥877॥ नास्मिश्चन्द्ररविप्रभा सुविपुला संदृश्यते वेश्मनि नो चाग्नेर्न मणेर्न विद्युतोऽमलाया नो च प्रभा ज्योतिषाम्। नो वा शक्रप्रभा न ब्रह्मणः प्रभा नो च प्रभाऽऽसुरी, एकान्तं तमसाकुलं मम गृहं प्राग्दुष्कृतैः कर्मभिः ॥878॥ अद्येदं भवनं विराजते शुभं मध्ये-रवि-दीप्तिवत्, चित्तं प्रीतिं जनयति कायः सुखितो गात्राण्यद्भुतं शीतलानि। तप्ता वालुका ये शरीरे न्यपप्तत्, जाता सा शीतला, सुव्यक्तं बहुकल्पकोटिचरितो बोधिद्रुमं गच्छति ॥879॥ शीघ्रं गृह्णीत नागाः पुष्पाणि रुचिराणि वस्त्राणि सुगन्धीन् शुभान्, मुक्ताहारान् पिनद्धवतश्च वलयांश्चूर्णानि धूपानुत्तमान्। संगीतिं प्रकुरुध्वं वाद्यैर् विविधैर् भेरीभिर्मृदङ्गैः शुभैर् हन्त गच्छत पूजनाय हितकरं पूजार्हं सर्वास्मिञ्जगति ॥880॥ सोऽभ्युत्थाय च नागकन्यासहितश् चतस्रो दिशः प्रेक्षतेऽद्राक्षीद् अथ मेरुपर्वतनिभं स्वलंकृतं तेजसा। देवैर्दानवकोटिभिः परिवृतं ब्रह्मेन्द्रयक्षैस्तथा पूजां तस्य कुर्वन्ति हृष्टमनसो दर्शयन्ति मार्गो ह्ययम् ॥881॥ संहृष्टः स हि नागराट् सुमुदितश् चाभ्यर्च्य लोकोत्तमं वन्दित्वा चरणौ च गौरवकृतः (=कृतगौरवः) तस्थौ मुनेरग्रतः। नागकन्या उदग्रा हृष्टमनसः कुर्वन्ति पूजां मुनेः पुष्पाणि गन्धविलेपनानि चाक्षैप्सुस् तूर्याणि निर्नादयन्त्यः ॥882॥ कृत्वा चाञ्जलिं नागराट् सुमुदितस्तुष्टाव तथ्यैं गुणैं साधु दर्शितं पूर्णचन्द्रवदन लोकत्तम नायक। यथा मे दृष्टानि निमित्तानि पूर्वर्षीणां पश्यामि तान्येव ते। अद्य त्वं विनिहत्य मारं बलवन्तमिष्टं पदं लप्स्यसे ॥883॥ यस्यार्थे दमदानसंयमाः पुरा, सर्वस्ते त्यागोऽभूद् यस्यार्थे दमशीलमैत्रीकरुणाक्षान्तिबलं भावितं। यस्यार्थे दमवीर्यध्याननिरतः प्रज्ञा प्रदीपः कृतः सैष ते परिपूर्णः सर्वः प्रणिधिः अद्य जिनो भविष्यति ॥884॥ यद्वद्वृक्षाः सपत्रपुष्पाः सफला बोधिद्रुमं संनताः, यद्वद् कुम्भसहस्राणि पूर्णसलिलानि (=सलिलपूर्णानि) कुर्वन्ति प्रदक्षिणाम्। यद्वच्चाप्सरोगणाश्च संप्रमुदिताः स्निग्धं रुतं कुर्वते, हंसाः क्रौञ्चगणा यथा गगने गच्छन्ति लीलान्वितं कुर्वते सुमनसः प्रदक्षिण-

मूर्षि भवेस्त्वमद्यार्हन् ॥885॥ यथा वा काञ्चनवर्णाऽऽभा रुचिरा क्षेत्रशतानि गच्छति, शान्ताश्चापि यथा ऽपाया निखिला दुःखैर्विमुक्ताः प्रजाः। यद्वद् वृष्टिश् चन्द्रसूर्यभवनाद् वायुर्मृदुर्वाति, अद्य भविष्यसि सार्थवाहस्त्रिभवे जातिजरामोचकः ॥886॥ यद्वत् कामरतिं विहाय च सुरास्त्वपूजनेऽभ्यागताः, ब्रह्माणो ब्रह्मपुरोहिताश्चामरा उत्सृज्य ध्यान-सुखम्। ये केचित् त्रिभवे तथैव च पुरे (=देवनगरे) सर्वं इहाभ्यागताः, अद्य भविष्यसि वैद्यराजस् त्रिभवे जातिजरामोचकः ॥887॥ मार्गश्चापि यथा विशोधितः सुरैर्येनाद्य त्वं गच्छसि, एतेन गतः क्रकुच्छन्दो भगवान् कनकाह्वयः काश्यपः। यथा वा पद्मानि विशुद्धनिर्मलशुभानि भित्त्वा महीम् उद्गतानि, येषु निक्षिपसि क्रमान् अतिबलान् भवेस्त्वमद्यार्हन् ॥888॥ माराः कोटिसहस्रानेकनयुता गङ्गाया यथा वालुका ते त्वां न समर्था बोधिविटपाच्चालयितुं कम्पयितुं वा। यज्ञा नैकविधाः सहस्रनयुता गङ्गाया यथा वालुका इष्टास्ते चरता हिताय जगतस्तेनेह विभ्राजसे ॥889॥ नक्षत्राणि सशशीनि सतारको रविर् भूमौ पतेदम्बरात् स्वस्थानाच्च चलेन्महागिरिवरः शुष्येदथो सागरः। चतुरो धातून् कश्चिद् विज्ञा पुरुषो दर्शयेदेकैकशो नैव त्वं द्रुमराजमूलमुपगतोऽप्राप्य बोधिम् उत्तिष्ठेः ॥890॥ लाभा मे सुलब्धा वृद्धिर्विपुला दृष्टोऽसि यत्सारथे पूजा चैव कृता गुणाश्च कथिता बोधाय चोत्साहितः। सर्वा नागवध्वः, अहं च ससुतः, मुच्येयम् इतो योनितः, त्वं यासि यथा मत्तवारणगते गच्छेमैवं वयम् ॥891॥ अभ्रान्त, अत्रस्त, अभीरो, अस्तम्भिन्, अलीन अदीन, प्रहृष्ट, दुरधर्ष। अरक्त, अदुष्ट (=अद्विष्ट), अमूढ, अलुब्ध, विरक्त, विमुक्त, नमस्ते महर्षे ॥892॥ भिषक् विशल्य (-कृत्), विनेयान् व्यनैषीः, सुवैद्यो जगतः दुःखेभ्यः प्रामुमुचः। अलयनान् अत्राणां, च हीनान् विदित्वा, भूत्वा लयनं त्राणस् त्रिलोके जातः ॥893॥ प्रसन्नाः प्रहृष्टा यथा देवसंघाः प्रावर्षिषुर् नभस्था महत्पुष्पवर्षम्। महाचैलक्षेपं कुर्वन्ति यथेमे जिनो भविष्यस्यद्य कुरुष्व प्रहर्षम् ॥894॥ उपेहि द्रुमेन्द्रं, निषीदास्तम्भी, जय मारसेनां, धुनु क्लेशजालम्। विबुध्यस्व प्रशान्तां वरामग्रबोधिं यथा पौर्विकैस्तैर् विबुद्धा जिनेन्द्रैः ॥895॥ त्वया यस्यार्थे बह्वीःकल्पकोटी, कृता दुष्कराणि जगन्मोचनार्थम्। प्रपूर्णा ते आशा, अयं प्राप्तः कालः, उपेहि द्रुमेन्द्रं स्पृशस्वाग्रबोधिम् ॥896॥

तृणानि देहि मे स्वस्तिक शीघ्रम् अद्य ममार्थस्तृणैः सुमहान्। सबलं नमुचिं निहत्य बोधिमनुत्तरां शान्तां स्पर्क्ष्यामि ॥897॥ यस्य कृते मया कल्पसहस्राणि दानं दमोऽपि च संयमस्त्यागः। शीलव्रतं च तपश्च सुचरितं तस्य मे निष्पत्तिर् भविष्यत्यद्य ॥898॥ क्षान्तिबलं तथा वीर्यबलं च

ध्यानबलं तथा ज्ञानबलं च पुण्याभिज्ञाविमोक्षबलं च तस्य में निष्पत्तिभविष्यत्यद्य ॥899॥ प्रज्ञाबलं चोपायबलं ऋद्ध्य—असंगता—मैत्रीबलं च। प्रतिसंवित्परिसत्यबलं च तेषां में निष्पत्तिरभविष्यद्य ॥900॥ पुण्यबलं तवाप्यनन्तं यन्मम दास्यस्यद्य तृणानि नह्यपरं (परं = उत्तमं, अपरं = हीनं) तवैतन्निमित्तं त्वमप्यनुत्तरो भविष्यसि शास्ता ॥901॥

श्रुत्वा स्वस्तिको वाचं नायकस्य सुरुचिरां मधुरां तुष्ट आत्तमनाश्च हृष्टः प्रमुदितमनाः। गृहीत्वा तृणमुष्टिं स्पर्शनवतीं मृदुतरुणशुभां पुरतः स्थित्वा वाचं भाषते प्रमुदितो हृदये ॥902॥ यदि तावत् तृणकैर्लभ्यते पदवरममृतं बोधिरुत्तमा शान्ता दुर्दर्शा पूर्वजिनपथः। तिष्ठतु तावद् महागुणोदधेऽपरिमितयशाः, अहमेव प्रथमं नु बुध्ये पदवरममृतम् ॥903॥ नैषा स्वस्तिक बोधिर्लभ्यते तृणवरशयनै अचरित्वा बहुकल्पान् दुष्कराणि व्रततपांसि विविधानि। प्रज्ञापुण्योपायोद्गतो यदा भवेन्मतिमान्, सदा पश्चाद् जिना व्याकुर्वन्ति मुनयो भविष्यसि विरजाः ॥904॥ यदि बोधि इयं शक्या स्वस्तिक परजनाय दातुं पिण्डीकृत्य दद्यां प्राणिनां मा भवतु विमतिः। यदा बोधिर्मया प्राप्ता जानासि विभजाम्यमृतम् आगत्य शृणु धर्मनुक्तं त्वं भविष्यसि विरजाः ॥905॥ गृहीत्वा तृणमुष्टिं नायकः परम-सुमृदुकां सिंहहंसगतिश्च प्रस्थितः प्रचलिता धरणी। देवानागगणाः कृताञ्जलयः प्रमुदितमनसः, अद्य मारबलं निहत्यायं स्पर्क्ष्यति बोधिम् ॥906॥ इहासने शुष्यतु मे शारीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं यातु। अप्राप्यबोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायोऽतश्चलिष्यते ॥907॥

557

॥ २० ॥

॥ बोधिमण्डव्यूहपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 290 (पंक्ति 1)—299 (पंक्ति 14)
भोटानुवाद 214ख (पंक्ति 3)—221क (पंक्ति 3)

॥ २० ॥

॥ बोधिमण्डव्यूहपरिवर्त ॥

1. (–290–) हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिमंडप के नीचे बोधिसत्त्व के बैठने पर छहों कामधातुओं में विचरने वाले देवता पूर्व दिशा में इसलिए खड़े हों कि कोई बोधिसत्त्व को विघ्न-बाधाएँ न पहुँचाए। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की दिशाओं पर देवताओं ने अधिकार कर लिया।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिमण्डप के नीचे बैठे हुए बोधिसत्त्व ने उस समय बोधिसत्त्व प्रेरणी नामक किरण को छोड़ा, जिस किरण से सब ओर दसों दिशाओं के अपरिमित एवं असंख्य, धर्मधातुपर्यन्त, आकाश—धातु के अवसान तक के, सब बुद्धक्षेत्र चमकने लगे।

3. इसके अनन्तर, पूर्व-दिशा की विमला—लोक धातु के तथागत विमल-प्रभास के बुद्धक्षेत्र के =215क= ललितव्यूह नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए जहाँ बोधिमंडप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पहुँचे। पहुँच कर उस समय बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए वैसा ऋद्धि-बल का चमत्कार दिखाया कि जिस ऋद्धि-बल के चमत्कार से दसों दिशाओं के, आकाश-धातु के अवसान तक के सब बुद्ध क्षेत्र एक मंडलवाट (=गोल-बाड़े) के शुद्ध नीले वैदूर्य (–मणि) के (बने) दिखाई पड़ने लगे। पाँचों (नरक, प्रेत, तिर्यक, मनुष्य एवं देव—) गतियों में उत्पन्न सब प्राणियों के सम्मुख, बोधिमण्डप के नीचे बैठे, बोधिसत्त्व दिखने लगे और वे प्राणी एक-दूसरे को ऊँगली से बोधिसत्त्व को दिखाने लगे कि ये कौन इस प्रकार के ललित प्राणधारी हैं? ये कौन इस प्रकार से विराजमान प्राणधारी हैं? उन प्राणियों के सम्मुख बोधिसत्त्व ने ऋद्धि-निर्मित बोधिसत्त्व बनाए। वहाँ पर वे बोधिसत्त्व-रूपधारी यह गाथा बोले—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

(–291–) यस्या किंच न रागदोष, कलुषा सावासना उद्धता[1]=215ख=
यस्या कायप्रभा कृता दश दिशे सर्वे प्रभा निष्प्रभाः।
यस्या पुण्यसमाधिज्ञाननिचयः कल्पोघसंवर्धितः
सोऽयं शाक्यमुनिर्महामुनिवरः सर्वा दिशो भ्राजते ॥908॥ इति।

---

1. यह चरण मूल में यों पढ़ा गया है—यस्या किंचन रागदोषकलुषा सावासना

जिनमें कुछ भी राग-द्वेष नहीं है, जिनके क्लेश वासना-सहित उखड़ चुके हैं, जिनकी शरीर-प्रभा ने दसों दिशाओं की सब प्रभाओं को प्रभाहीन कर दिया है, जिनके पुण्य का, समाधि का तथा ज्ञान का, भंडार कल्पों के समूहों (की बोधिचर्या) से भलीभाँति बढ़ा है, वे महामुनियों में उत्तम ये शाक्यमुनि सब दिशाओं में जगमगा रहे हैं ।

4. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, दक्षिण दिशा की रत्नव्यूहा-लोकधातु के तथागत रत्नार्चिष के बुद्धक्षेत्र के रत्न छत्रकूटसंदर्शन नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए एक रत्नछत्र से उस संपूर्ण मंडलवाट (= गोलबाड़े) का छा दिया । तब इन्द्र, ब्रह्मा तथा लोकपाल एक-दूसरे से यों बोले—यह किस (पुण्य) का फल है ? किस (पुण्य-फल) के कारण यह इस प्रकार की रत्नछत्र की रचना दिख रही है ? इसके बाद उस रत्नछत्र से यह गाथा निकली ।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

येन छत्रसहस्रकोटिनयुता गन्धान रत्नान च
दत्ता अप्रतिमेषु मैत्रमनसा तिष्ठन्तिके[2]निर्वृते ।
सो एषो वरलक्षणो हितकरो नारायणस्थामवान् = 216क =
बोधेर्मूलमुपागतो गुणधरस्तस्यैष पूजा कृता ।।909।।इति

जिन्होंने गन्धों तथा रत्नों के सहस्र-कोटि खर्ब-खर्ब छत्रों का, (शरीर से) ठहरे हुए अर्थात् इस समय वर्तमान एवं निर्वृत अर्थात् निर्वाण पा अतीत हुए अनुपम (तथागतों) को दान दिया, वे श्रेष्ठ लक्षणों के, हितकारी, नारायण के समान

उद्धता । यहाँ पदच्छेद ठीक नहीं है । **किंचन** वस्तुतः एक पद नहीं है । यहाँ **किंच** तथा **न** दो अर्थानुसारी पद हैं । तुलनीय भोट, **चि यङ् मेद् प । मेद् प** मूल के न का प्रतिनिधि है । सावासना (= सवासना, अर्थात् वासनासहिता, तुलनीय भोट, **बग् छग्स् ब्चस्**) को वैद्य ने दो पद मान कर **सा** को पृथक् पद के रूप में पढ़ा है । वैद्य ग्रन्थार्थ कितना समझते हैं, इससे स्पष्ट है । कलुषा को पृथक् पद के रूप में लेने से अर्थ स्पष्ट होता है और **सावसना** उसी का विशेषण है । इस पूरे चरण का भोटानुवाद यह है—**चि यङ् मेद् पहि ह् दोद् छग्स् शे स्दङ् ञोंग् प गङ् यिन् बग् छग्स् ब्तोन् प ।**

2. मूल,तिष्ठन्ति के । वस्तुतः **तिष्ठन्तिके** एक पद है । तिष्ठन्ति के = तिष्ठद्भूयः अर्थात् वर्तमानेभ्यः तुलनीय भोट, **ब्शुगस् दङ् ।**

स्थैर्यवान्, गुणशाली (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष के तले पहुँच गए हैं, उनकी यह पूजा की गई है।

5. इसके अनन्तर, पश्चिम दिशा की चम्पकवर्णा-लोकधातु के तथागत पुष्पावलि-वनराजि-कुसुमिताभिज्ञ के बुद्धक्षेत्र के इन्द्रजाली नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था, और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए सम्पूर्ण मण्डलवाट (गोल बाड़े) को एक रत्नजाल से छा दिया। तब दसों दिशाओं के देवता, (–292–) नाग, यक्ष तथा गन्धर्व एक-दूसरे से यों बोले—यह इस प्रकार का किसका प्रभाव्यूह है। उसके बाद उस रत्नजाल से यह गाथा निकली।—

(छंद वसन्ततिलका)

रत्नाकरो रतनकेतु रतिस्त्रिलोके
रत्नोत्तमो रतनकीर्ति रतः सुधर्मे।
रत्नानि त्रीणि न च छेत्स्यति वीर्यप्राप्तः
सो बोधि प्राप्स्यति वरामिय तस्य पूजा ।।910।। इति।।

(जो) रत्नों की खान हैं, रत्नों की पताका हैं, त्रिलोकी के आनन्दरूप, उत्तम रत्न हैं, शोभन धर्म में रमे हुए रत्नों की कीर्ति हैं, जिनका वीर्य (= उद्योग) पा तीन रत्नों का अर्थात् बुद्ध, धर्म एवं संघ रूपी रत्नों का उच्छेद नहीं होगा, वे (आज) बोधिप्राप्त करेंगे। यह उनकी पूजा है।

6. इसके अनन्तर, उत्तर दिशा की सूर्यावर्ता-लोकधातु के तथागत जिह्मीकरप्रभ के बुद्धक्षेत्र के=216ख व्यूहराज नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किये हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए दसों दिशाओं की सब लोकधातुओं में बुद्धक्षेत्रों के जितने गुणव्यूह थे, उन सब को उस मण्डलवाट (गोल बाड़े) दिखाया। तब कितने ही बोधिसत्त्व यों बोले—किसके ये ऐसे व्यूह हैं। उसके बाद उन सब व्यूहों से यह गाथा निकली।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

कायो येन विशोधितः सुबहुशः पुण्येन ज्ञानेन च
येना वाच विशोधिता व्रततपैः सत्येन धर्मेण च।
चित्तं येन विशोधितं हिरि धृती कारुण्य मैत्र्या तथा
सो एषो द्रुमराजमूलुपगतः शाक्यर्षभः पूज्यते ।।911।।इति।।

जिन्होंने अत्यधिक पुण्य एवं ज्ञान द्वारा शरीर की शुद्धि की है, जिन्होंने व्रत एवं तपों के द्वारा, सत्य के द्वारा तथा धर्म के द्वारा वाणी की शुद्धि की हैं, जिन्होंने ह्री अर्थात् आत्मगत लज्जा के द्वारा, धृति (=धैर्य) के द्वारा, करुणा के द्वारा तथा मैत्री के द्वारा चित्त की शुद्धि की है, उन वृक्षराज के तले पहुँचे हुए शाक्यपुंगव की (यह) पूजा हो रही है।

7. इसके अनन्तर, पूर्व-दक्षिण दिशा की गुणाकरा-लोकधातु के तथागत राजप्रभास के बुद्धक्षेत्र के गुणमति नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से=217 क=घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था, और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। (–293–) पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए सब गुणों की रचना वाले कूटागार का उस मंडवाट (=गोल बाड़े) में ऋद्धि से निर्माण किया। उसके परिवार (–भूत जो कूटागार थे) वे यों बोले—यह इस प्रकार के कूटागार की रचना किसके (अर्थ) है? उसके बाद कूटागार से यह गाथा निकली।—

(छंद मोदक=भगणारब्ध द्रुतविलंबित)

यस्य गुणैः सततं गुणगन्धिका
भोन्ति सुरासुरयक्षमहोरगाः।
सो गुणवान् गुणराजकुलोदितो
बोधिविटपे उपविष्ट गुणोदधिः ॥912॥इति॥

जिनके गुणों द्वारा सुर, असुर, यक्ष एवं महोरग सर्वदा गुण-सुगन्ध-वाले हो जाते हैं, वे गुणवन्त-राजकुल से उत्पन्न हुए, गुणसागर, गुणवान् (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष के तले बैठे हुए हैं।

8. इसके अनन्तर, दक्षिण-पश्चिम दिशा की रत्नसंभवा-लोकधातु के तथागत रत्नयष्टि के बुद्धक्षेत्र के रत्नसंभव नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए अप्रमेय एवं असंख्य रत्नव्योमकों का (=रत्नविमानों का) उस मण्डलवाट (=गोलबाड़े) में ऋद्धि से निर्माण किया। और उन रत्नव्योकों से (=रत्नविमानों से) यह गाथा निकली।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

त्यक्ता येन ससागरा वसुमती =217ख= रत्नान्यथोऽनेकशः
प्रासादाश्च गवाक्षहर्मिकवरा युग्यानि यानानि च।
व्योमा ऽलंकृत पुष्पदाम – रुचिरा उद्यान कूपा सभा
हस्तापाद-शिरो-त्तमाङ्गनयनाः सो बोधिमण्डे स्थितः ॥913॥इति॥

जिन्होंने समुद्रों के सहित पृथिवी का अनेक (प्रकार के) रत्नों का, वातायन-सहित-घरवाले महलों का, (अश्वों से) जुते हुए यानों का, पुष्पमालाओं से सुन्दर सजे हुए व्योमकों (=विमानों) का, उद्यानों का, कूपों का, सभाओं (बैठकघरों) का तथा हाथपैर, सिर एवं उत्तम अङ्ग नयनों का त्याग किया है, वे बोधिमंडप के नीचे विराजमान हैं।

9. इसके अनन्तर, पश्चिमोत्तर दिशा की मेघवती-लोकधातु के तथागत मेघ-राज के बुद्धक्षेत्र के मेघकूटाभिगर्जिश्वर नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। (–294–) पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए कालानुसारी अगर के मेघ का ऋद्धि से निर्माण कर, उरग-सार-चन्दन के चूर्ण की वर्षा उस मण्डलवाट (=गोल बाड़े) पर भलीभाँति बरसाई। और उस कालानुसारी मेघ के (द्वारा पूजित) मण्डलवाट (गोल बाड़े) से यह गाथा निकली।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

धर्ममेघ स्फुरित्व सर्वत्रिभवे विद्याधिमुक्तिप्रभः
सद्धर्मं च विराग वर्षि अमृतं निर्वाणसंप्रापकं।
सर्वा रागकिलेशबन्धनलता सवासना[3] छेत्स्यति
ध्यानद्धीर्बलइन्द्रियैः कुसुमितः श्रद्धाकरं दास्यते ॥914॥इति॥

विद्या तथा उत्तम मोक्ष की प्रभा वाले (ये) सम्पूर्ण तीनों भवों (अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति के लोकों) को व्याप्त कर निर्वाण प्राप्त कराने वाले, रागहीन, उत्तम धर्म के अमृत की वर्षा **बिना विलंब** करने वाले हैं, वासना के सहित, राग तथा क्लेश से बाँधने वाली सभी (तृष्णा–) लताओं को काटने वाले हैं, ध्यान, ऋद्धि, बल एवं इन्द्रियों के द्वारा पुष्पित श्रद्धा उपजाने वाले (धर्म) को देने वाले हैं।

10. =218क= इसके अनन्तर, उत्तर-पूर्व दिशा की हेमजालप्रतिच्छन्ना-लोकधातु के तथागत रत्नछत्राभ्युद्गतावभास के बुद्धक्षेत्र के हेमजालालंकृत नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे।

---

3. मूल, सो वासना। भोट, **बग् छगस् बचस्** ते (=सवासनाः)। एक शब्द के रूप में सोवासना अथवा सवासना पढ़ना चाहिए। द्रष्टव्य इसी परिवर्त की टिप्पणी 1।

पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, उन कूटागारों तथा रत्नव्योमकों (=रत्नविमानों) पर, बत्तीस लक्षणों से विभूषित बोधिसत्त्व के पुतलों का ऋद्धि से निर्माण किया। और वे सब बोधिसत्त्व के पुतले दिव्यलोक के एवं मनुष्यलोक के पुष्पों की मालाओं को लिए हुए जिस ओर बोधिसत्त्व थे, उस ओर झुके हुए पुष्पों की मालाओं को झुला रहे थे (और) यह गाथा पढ़ रहे थे।

(छंद गाथा = यगणान्तक चन्द्रवर्त्म)

येन बुद्धनयुता स्तवित पूर्व
गौरवेण महता जनिय श्रद्धान्।
ब्रह्मघोषवचनं मधुरवाणि
बोधिमण्डोपगतं शिरसि वन्दे ॥915॥ (इति)

जिन्होंने महान् गौरव के साथ श्रद्धा उपजा कर, पहले खर्ब-खर्ब बुद्धों की स्तुति की है, उन मधुर वाणी के, ब्रह्मा के घोष के तुल्य बोली वाले, बोधिमण्डप में पहुँचे हुए, (बोधिसत्त्व) की सिर से वन्दना करता हूँ।

11. इसके अनन्तर, नीची-दिशा की समन्तविलोकिता-लोकधातु के तथागत समन्तदर्शी के बुद्धक्षेत्र के =218ख= रत्नगर्भ नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर (–295–) बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उस वैदूर्यमणिमय मण्डलवाट (=गोल बाड़े) में जाम्बूनद नामक सुवर्ण के जैसे रंग के कमलों को उपजा कर दिखाया। उन कमलों की कर्णिकाओं अर्थात् पंखड़ियों में आधे शरीर की, रंग-रूप से सम्पन्न, सब अलंकारों से मढ़ी हुई स्त्री (–पुतलियों) को दिखाया। बाएँ और दाहिने हाथों में हर्षकटक (=सौभाग्य कंकण), केयूर (=बाजूबंद), सुवर्णसूत्र (सोने की जंजीर), और मुक्ताहार आदि विविध आभूषणों को लिए हुए, पुष्पदामों (=फूलों की मालाओं) तथा पट्टदामों (=रेशमी सूत की मालाओं) को झुलाती हुई, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, उस ओर शरीर झुकाए, वे यह गाथा बोलती थीं।

(छंद औपच्छन्दसिक)

यो ओनमिष्ट सदा गुरुणां
बुद्धश्रावकप्रत्येकजिनानां ।
निर्माण सुशील सदोज्जु प्रष्ठो
तस्या ओनमथा गुणधरस्य ॥916॥ (इति)

जिन्होंने नित्य गुरुओं को, बुद्धों को, अर्हतों को, तथा प्रत्येक बुद्धों को प्रणाम किया है, (जो) सदा मानरहित, सुशील, ऋजु (=सरल) तथा श्रेष्ठ हैं, उन गुणधर को प्रणाम करो।

12. इसके अनन्तर, ऊर्ध्वदिशा की वरगगन-लोकधातु के तथागत गणेन्द्र बुद्धक्षेत्र के गगनगञ्ज नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, =219क=गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, आकाश-तल पर ठहरे-ठहरे [वे तथा] जितने भी दसों दिशाओं के बुद्ध क्षेत्रों में अनदेखे और अनसुने पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, चूर्ण, चीवर, वस्त्र, अलंकार, छत्र, ध्वजा, पताका, वैजयन्ती (=विजयपताका), रत्न, मणि, कनक, रजत, मुक्ताहार, अश्व, गज, रथ, पदाति, वाहन, वृक्ष[4], पत्र, पुष्प, बालक, बालिका, देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किंनर, महोरग, इन्द्र, ब्रह्मा, लोकपाल, मनुष्य तथा अमनुष्य थे, वे सबके सब आकाशतल से महापुष्प वर्षा (बनकर) बरसने लगे, जिसने सब प्राणियों में प्रीति और सुख उपजाया और किसी प्राणी को भय अथवा पीड़ा नहीं दी।

13. इस (विषय) में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

पेयालमेष दिशतासु जिनौरसा ये
=219ख=संपूजितु हितकरं अनुप्राप्तबोधिं।
(–296–) तेषां वियूहक्रमविक्रमसुक्रमाणां
ओपम्यमात्र निश्रृणोथ जिनौरसानां ॥917॥

बोधि (वृक्ष) के नीचे पहुँचे हुए हितकारी (बोधिसत्त्व) की पूजा के लिए जो जिनपुत्र दिशाओं-विदिशाओं से आए, उनका यह संक्षिप्त वर्णन है। उन जिन पुत्रों के व्यूहों के क्रम (=रंग-ढंग) की, विशेष क्रम की एवं सुन्दर क्रम की बानगी भर सुन लो।

के चागता नभसि मेघ इव स्तनन्तो
हारा सहस्रनयुतानि प्रलम्बयन्तः।
के चागता मुकुटरत्नविलम्बचूडाः
पौष्पं विमान गगणे उपदर्शयन्तः ॥918॥

---

4. मूल, पुष्पवृक्ष। भोट, शिङ् ल्जोन् प (=वृक्ष)।

कितने ही सहस्र-खर्ब हारों को लटकाए हुए, आकाश में मेघों के समान ध्वनि करते हुए आए। कितने ही मुकुट धारण किए, शिखाओं में रत्न गूँथे हुए, आकाश में पुष्पविमान दिखलाते हुए आए।

के चागता धरणी सिंह इवा नदन्तः
शून्यानिमित्तऽप्रणिधीर्[5] अवमुञ्चमानाः।
के चागता प्रथ वृषा अभिनन्दमानाः[6]
न च दृष्टपूर्व रुचिराणि क्षिपन्ति पुष्पा ।।919।।

कितने ही शून्य-विमोक्ष की, अनिमित्त-विमोक्ष की और अप्रणिहित-विमोक्ष※ की भावना करते हुए धरती पर सिंहनाद करते आए। कितने ही वृषभों की भाँति नाद करते हुए, पहले अन-देखे सुन्दर पुष्पों को फेंकते हुए आए।

के चागता नभसि मोर[7] इवा रवन्तो
वर्ण (।) सहस्र स्वकि आत्मनि दर्शयन्तः।
के चागता शशिरिवा गगणे सुपूर्णाः
सुगतात्मजस्य गुणमालमुदीरयन्तः ।।920।।

कितने ही मोरों की भाँति अपने शरीर पर सहस्रों रंग दिखाते हुए, आकाश में ध्वनि करते हुए आए। कितने ही सुगत-पुत्र की गुणावली बखानते हुए, आकाश में चन्द्रमा के समान परिपूर्ण हुए आए।

※ शून्यविमोक्ष में आलम्बन अनात्मविपश्यना होती है, अनिमित्त-विमोक्ष में आलंबन अनित्यविपश्यना होती है, अप्रणिहितविमोक्ष में आलम्बन दुःख-विपश्यना होती है।

5. मूल, शून्या निमित्त-प्रणिधीर्। यहाँ शून्या को पृथक् पद करना ठीक नहीं है। तुलनीय भोट, स्तोङ् प म्छन मेद् स्मोन् मेद् (=शून्य-अनिमित्त-अप्रणिहितान्)।

6. अभिनन्दमाना में धातु नद् है। तुलनीय भोट, शिन् तु स्प्रोग्स् शिङ् (=अभिनदन्तः)। नद् में नकारागम द्वारा नन्द् वस्तुतः अपभ्रंश है।

7. मूल, सार। भोट, र्म ब्य (=मयूर)। मोर के ऊर्ध्वभाग की मात्रा के लोप से, अंशतः सकार एवं मकार की सरूपता के कारण मोर का सार हो गया है। यह लिपिकर के प्रमाद से हुआ है।

के चागता रविरिव प्रभ मुञ्चमानाः
सर्वाणि मारभवनानि करोन्ति जिह्मा।
के चागता विमलकेतु यथेन्द्रयष्टयः
संभारपुण्यनिचितास्तहि बोधिमण्डे ॥921॥

कितने ही सब मारभवनों को निष्प्रभ करते हुए, सूर्य के समान प्रभा को छोड़ते हुए आए। कितने ही पुण्यसामग्री का संचय कर चुकने वाले इन्द्रध्वजों के समान निर्मल-ध्वजा वाले बोधिमण्डप पर आए।

केचित् क्षिपन्ति गगणान्मणिरत्नजाला
चन्द्रा सुचन्द्र तथ बाल विरोचमाना।
मान्दरवा-सुमन-वार्षिक-चम्पदामा
संबोधिसत्त्व द्रुमराजस्थिते क्षिपन्ति ॥922॥

कितने आकाश से मणियों और रत्नों जाल, चमकते हुए छोटे-छोटे चाँद और सुन्दर चाँद फेंकते थे। (कितने ही) वृक्षराज के नीचे बैठे हुए बोधिसत्त्व पर मन्दार, सुमना, वार्षिका तथा चम्पे की मालाएँ फेंकते थे।

(-297-) के चागता धरणि कम्पयमान पद्भ्यां
संकम्पिता वसुध=220क=प्रीतिकरी जनस्य।
के चागता ग्रहिय मेरु करेतलेभिः
उत्सृष्ट पुष्पपुट[8] संस्थित अन्तरिक्षे ॥923॥

कितने ही पैरों से धरती हिलाते हुए, हिलती हुई उस धरती ने लोगों में प्रीति उपजाई। कितने ही हथेलियों पर सुमेरु लेकर आए। फूलों की अञ्जलियों की बौछार की, आकाश में खड़े हो गए।

के चागताश्चतुरि सागर गृह्य मूर्ध्ना
उत्सृष्ट सिञ्चि वसुधां वरगन्धतोयैः।
के चागता रतनयष्टि गृहीत्व चित्रं
संबोधिसत्त्वमुपदर्शय स्थित्व दूरे ॥924॥

कितने ही चारों समुद्रों को माथे पर उठा कर आ गए, बौछार की, धरती को उत्तम सुगन्धित जल से सींच दिया। कितने ही विचित्र रत्नयष्टियों को लेकर आए, दूर पर खड़े होकर बोधिसत्त्व का दर्शन कराने लगे।

8. पुष्पपुट = पुष्पाञ्जलि। भोटानुवाद, मे तोग् स्कोन् बु (=पुष्पपट)। वस्तुतः पुट=दोना।

के चागता भविय ब्रह्म-प्रशान्तरूपाः
शान्ता-प्रशान्तमनस स्थित ध्यानध्यायी।
रोमेभि तेष स्वरु निश्चरते मनोज्ञ
मैत्रीउपेक्षकरुणामुदिताप्रमाणाः ॥925॥

कितने ही ब्रह्माओं से समान अत्यधित शान्त रूप धरे हुए, मन में शान्त और अत्यन्त शान्त, बैठे ध्यान ध्याते हुए आए थे। उनके रोमों से मैत्री, उपेक्षा, करुणा, और मुदिता के अप्रमाणों (=ब्रह्मविहारों) का मनोहर स्वर निकलता था।

के चागता मरुत शक्र इवा यथैव
देवैः सहस्रनयुतैश्च पुराकृतास्ते।
उपगम्य बोधिवट गृह्य कृताञ्जलीभिः
शक्राभिलग्नमणिरत्न क्षिपन्ति चित्रा ॥926॥

कितने ही, देवताओं के इन्द्र के समान आए थे, वे सहस्र-खर्वों देवताओं द्वारा आगे किए, बोधिवृक्ष के पास पहुँच कर, अंजलि भर-भर इन्द्र के द्वारा धारण किए जाने वाले विचित्र मणिरत्नों को फेंकते थे।

के चागता चतु दिशा च यथैव पाला
गन्धर्व राक्षस परीवृत किन्नरेभिः।
विद्युत्स्फुटान् त कुसुमानि प्रवर्षमाणाः
गन्धर्वकिन्नररुतेन स्तुवन्ति वीरं ॥927॥

कितने ही चारों दिशाओं से लोकपालों के समान गंधर्वों द्वारा, राक्षसों द्वारा तथा किंनरों द्वारा घिरे हुए आए थे, वे बिजली के जैसे चमकते फूलों को बरसाते हुए गन्धर्व-जैसे एवं किन्नर-जैसे स्वर से वीर (बोधिसत्त्व) की स्तुति करते थे।

के चागताः कुसुमितां प्रगृहीत्व वृक्षान्
सफलां सपुष्प वरगन्ध प्रमुञ्चमानां।
(-298-) जातेषु[9] तेषु स्थित बुद्ध(-ज)[10] शुद्धकायाः[11]
अवलम्बमान[12] प्रति मण्डि क्षिपन्ति पुष्पा ॥928॥

---

9. जातेषु के स्थान में भोट, लोमर् (=पत्रेषु) है।
10. बुद्ध के स्थान में भोट, सङ्स् ग्र्यंस् स्रस् पो (=बुद्ध पुत्र) है। कदाचित् उचित पाठ बुद्धज हो।
11. शुद्धकायाः के स्थान में भोट, लुस् फ्येद् (=अर्धकायाः) है।
12. अवलम्बमान यहाँ पर अवनम्यमान के अर्थ हैं। भोट, बतुद् नस् (=प्रणम्य)।

कितने ही फलों के साथ, फूलों के साथ, उत्तम गन्ध को छोड़ने वाले, फूलों से लदे, वृक्षों को लेकर आए थे, उन (वृक्षों) से उपजे (पत्तों पर) बैठे शुद्धकाय के बुद्ध-पुत्र, अवनत हो, (बोधि–) मण्डप की ओर पुष्प फेंकते थे।

के =220ख= चागताः कुसुमिताः पुडिनी गृहीत्वा
पद्मोत्पलैः कुसुमितैस्तथ पुण्डरीकैः।
द्वात्रिंशलक्षणधराः स्थित पद्मगर्भे
स्तविष्ट अलिप्तमनसं विदु बोधिसत्त्वं ॥929॥

कितने ही खिले हुए लाल कमलों से, नीले कमलों से तथा श्वेत कमलों से फूली हुई पुष्करिणियों को लेकर आए थे, (वहाँ) पद्मों के गर्भ-भाग में बैठे हुए बत्तीस-लक्षण-धारी (बुद्ध एवं बोधिसत्त्व) निर्लिप्त मन के विद्वान् बोधिसत्त्व की स्तुति करते थे।

के चागता विपुलकाय तथैव मेरु
स्थित्वान्तरीक्ष स्वकमात्मनमुत्सृजन्ति।
उत्सृज्यमात्र भविया नवपुष्पदामाः
संछादयन्ति त्रिसहस्रि जिनस्य क्षेत्रं ॥930॥

कितने ही सुमेरु के समान विशाल शरीर (धर कर) आए, (और) आकाश में खड़े होकर अपने शरीर को गिरा दिया, (तथा) गिराने के साथ-ही-साथ नूतन पुष्पों की मालाएँ बन कर त्रिसाहस्र बुद्धक्षेत्र के ऊपर छा गए।

के चागता उभयचक्षुषि कल्पदाहं
संदर्शयन्त विभवं तथ संभवं च।
तेषां शरीरि बहुधर्ममुखा[13] रणन्ति
तां श्रुत्व सत्त्वनयुता प्रजहन्ति तृष्णां ॥931॥

कितने ही दोनों आँखों में विभव (=प्रलय) तथा संभव (=सृष्टि की कल्पाग्नि को दिखाते हुए आए। उनके शरीर से बहुत से धर्ममुख (= अर्थात् धर्म के द्वारभूत् वचन) ध्वनित होते थे, जिन्हें सुन कर खर्ब-खर्ब प्राणी तृष्णा का त्याग करते थे।

के चागता रवितकिन्नरतुल्यघोषाः
बिम्बोष्ठचारुवदनाः परिपूर्णवक्त्राः।
कन्या यथैव सुअलंकृत चित्रहाराः
प्रेक्षन्त यान् सुरगणा न लभन्ति तृप्तिं ॥932॥

---

13. मूल, बहुधर्मसुखा। भोट, छोस् किय स्गो मो मङ् (=बहुधर्ममुखा)। पाठान्तर भी भोट पाठ का समर्थक है।

कितने ही बिम्बाफल के समान होंठ वाले, सुन्दर बदन वाले, सब प्रकार से पूर्ण (लक्षणों के) चेहरे वाले, स्वर में किन्नरों के जैसे घोष वाले, कन्याओं के समान अत्यन्त विभूषित, विचित्र हार पहने हुए आए, जिन्हें निहार देवगणों का भी जी न भरता था।

के चागता वजिरकाय इवा अभेद्याः
[14]हेष्टा ऽऽपस्कन्ध चरणैः[14]परिग्राह्यमाणाः
के चागता रविरिवा शशिपूर्णवक्त्राः
ज्योत्स्नाकराः प्रभकरा हतक्लेशदोषाः ।।933।।

कितने ही वज्र (=हीरे) के समान अभेद्य शरीर के, नीचे की जलराशि को पैरों से उलटा-पलटा कराते हुए, कितने ही क्लेशदोषों से रहित सूर्य के समान प्रभा करते हुए, पूर्ण चन्द्रमा के समान बदन के, चाँदनी फैलाते हुए आए।

(–299–) के चागता रतनमण्डित रत्नपाणी
संछादयित्व बहुक्षेत्रसहस्रकोट्यः।
वर्षन्ति रत्नवर पुष्प सुगन्धगन्धा
संतोषणार्थं बहुसत्त्व हितं-सुखार्थं ।।934।।

कितने ही रत्नों से अलंकृत, हाथों में रत्न लिए आये, बहुत से सहस्र कोटि (बुद्ध–) क्षेत्रों पर छाकर, बहुत से प्राणियों के संतोष के लिए, हित एवं सुख के लिए, उत्तम रत्नों की, पुष्पों की, सुगन्ध वाले गन्धद्रव्यों की वर्षा की।

के चागता महति-धारणि-रत्नकोशाः=221क=
रोमेभि सूत्रनयुतानि प्रभाषमाणाः।
प्रतिभानवन्त मतिवन्त सुबुद्धिवन्तो
मत्तप्रमत्तजनतां प्रतिबोधयन्तः ।।935।।

कितने ही बड़ी-बड़ी धारणी (नामक मन्त्र) रत्नों के कोश बन कर आए, (वे) रोम-रोम से खर्ब-खर्ब सूत्रों को बोलते थे, (वे स्वयं) प्रतिभाशाली, मतिमान्

14····14. मूल, हेष्टापस्कन्धचरणैः। वस्तुतः यहाँ तीन पृथक् पद हैं—हेष्टा (=अधस्तात्) आपस्कन्ध (=अपांस्कन्धं) तथा चरणैः। तुलनीय भोट, कंङ् पस् ह्ोग् गि छु यि फुङ् पो (=चरणैर् अधस्ताद् अपां स्कन्धं)। वैद्य ने हेष्टा के स्थान में हेष्ठा रख कर अपनी करामात दिखाई है। ऐसा प्रयोग आगे भी आएगा—हेष्टा ऽऽपस्कन्ध सलिलस्य विलोडयन्ति (लेफ़मन् 339। 14)। भोट, होग् गि छु यि फुङ् पो छु यङ् र्नम् पर् ह्. खुग (246ख 4)।

एवं सुन्दर बुद्धि के थे (और इस) मतवाली एवं प्रमादी जनता को सचेत करते थे ।

के चागता ग्रहिय भेरि यथैव मेरु
आकोटयमानु गगणे सुमनोज्ञघोषां ।
यस्या रवं दश दिशे व्रजि क्षेत्रकोटया
अद्या[15] ऽवबोद्धुममृतं[16] अनुबुद्धि शास्ता ॥936॥

कितने ही आकाश में बजती हुई उत्तम एवं मनोहर घोषणा करने वाले सुमेरु-जैसी भेरी को लेकर आए। दसों दिशाओं के कोटि-कोटि (बुद्ध–) क्षेत्रों में जिसका शब्द गया कि आज शास्ता अमृत का अवबोध करने के लिए बोधि-लाभ करेंगे।

॥ इति श्री ललितविस्तरे बोधिमण्डव्यूहपरिवर्तो नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥

●

---

15. **अद्या** के स्थान में भोट, **दो मोद्** (=सद्यः) है। यदि यह पाठ वाञ्छनीय हो तो मूल में **सद्या** पढ़ना चाहिए।
16. **ऽवबोद्धुममृतं** के स्थान में भोट **बदुद् चि म थोब्** (=अमृतम् अनवाप्तम्)। यह पाठ वाञ्छनीय हो तो मूल में **ऽनवाप्तममृतं** पढ़ना चाहिए।
17. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है।

यस्य किंचिद् न रागदोषौ (=रागद्वेषौ), कलुशाः (क्लेशाः) सवासना उद्धृताः, यस्य कायप्रभया कृता दशसु दिक्षु सर्वाः प्रभा निष्प्रभाः। यस्य पुण्यसमाधिज्ञाननिचयः कल्पौघसंवर्धितः, सोऽयं शाक्यमुनिर्महामुनिवरः सर्वा दिशो भ्राजते ॥908॥ इति ॥ येन च्छत्रमहस्रकोटिनयुतानि गन्धानां रत्नानां च, दत्तान्य अप्रतिमेभ्यो मैत्रीमनसा तिष्ठद्भ्यो निर्वृतेभ्यः। स एष वरलक्षणो हितकरो नारायणस्थामवान्, बोधेर्मूलमुपागतो गुणधरस्तस्यैषा पूजा कृता ॥909॥ इति ॥ रत्नाकरो रत्नकेतू रतिस्त्रिलोकस्य, रत्नोत्तमो रत्नकीर्ती रतः सुधर्मे। रत्नानि त्रीणि न च छेत्स्यन्ते वीर्यप्राप्तानि, स बोधिं प्राप्स्यति वराम् इयं तस्य पूजा ॥910॥ इति ॥ कायो येन विशोधितः सुबहुशः पुण्येन ज्ञानेन च, येन वाग् विशोधिता व्रततपोभिः सत्येन धर्मेण च। चित्तं येन विशोधितं ह्रिया धृत्या कारुण्येन मैत्र्या तथा, स एष द्रुमराजमूलमुपगतः शाक्यर्षभः पूज्यते ॥911॥ इति ॥ यस्य गुणैः सततं गुणगन्धिकाः, भवन्ति सुरासुरयक्षमहोरगाः। स गुणवान् गुणराजकुलोदितो बोधिविटप उपविष्टो महोदधिः ॥912॥ इति ॥ त्यक्ता येन ससागरा

वसुमती रत्नान्यथोऽनेकशः, प्रासादाश्च गवाक्षहर्म्यवरा युग्यानि यानानि च। व्योमका अलंकृताः पुष्पदामरुचिरा उद्यानानि कूपाः सभाः, हस्तपाद-शिर-उत्तमाङ्गनयनानि स बोधिमण्डपे स्थितः ॥913॥ इति ॥ धर्ममेघेन स्फुरित्वा सर्वत्रिभवं विद्याधिमुक्तिप्रभः, सद्धर्मं च विरागम् अवर्षीद् (=अविलम्बं वर्षिष्यतीत्यर्थः) अमृतं निर्वाणसंप्रापकम्। सर्वा रागक्लेश-बन्धनलता सवासनाश् छेत्स्यति, ध्यानर्द्धिबलेन्द्रियैः कुसुमितं श्रद्धाकरं (धर्मम् इति शेषः) दास्यति ॥914॥ इति ॥ येन बुद्धनयुतानि स्तुतानि, पूर्वं गौरवेण महता जनयित्वा श्रद्धाम्। ब्रह्मघोषवचनं मधुरवाणिं बोधि-मण्ड(प)ोपगतं शिरसा वन्दे ॥915॥ इति ॥ योऽनंसीत् सदा गुरुभ्यो, बुद्धश्रावकप्रत्येकजिनेभ्यः। निर्मानः सुशीलः सदजुः प्रष्ठः (=श्रेष्ठः) तस्मा अवनमत गुणधराय ॥916॥ इति ॥

पेयाल एव (=संक्षेप एव) दिग्भ्यो जिनौरसा ये, संपूजयितुं हितकरम् अनुप्राप्तबोधिवृक्षम्। तेषां व्यूहक्रमविक्रमसुक्रमाणाम् औपम्यमात्रं निश्रृणुत जिनौरसानाम् ॥917॥ केचिद् आगता नभसि मेघा इव स्तनन्तः, हारान् सहस्रनयुतानि प्रलम्बयन्तः। केचिद् आगता मुकुटरत्नविलम्बचूडाः पौष्पं विमानं गगन उपदर्शयन्तः ॥918॥ केचिद् आगता धरण्यां सिंहा इव नदन्तः, शून्यानिमित्ताप्रणिधीन् अवमुञ्चमानाः। केचिद् आगता यथा वृषा अभिनदन्तो न च दृष्टपूर्वाणि (=अदृष्टपूर्वाणि) रुचिराणि क्षिपन्तः पुष्पाणि ॥919॥ केचिदागता नभसि मयूरा इव रुवन्तो, वर्णसहस्राणि स्वक आत्मनि दर्शयन्तः। केचिद् आगताः शशीव गमने सुपूर्णाः सुगतात्मजस्य गुणमालामुदीरयन्तः ॥920॥ केचिद् आगता रविरिव प्रभां मुञ्चमानाः सर्वाणि मारभवनानि कुर्वतो जिह्मानि। केचिद् आगता विमलकेतवो यथेन्द्रयष्ट्यः संभारपुण्यनिचिताः (=निचितपुण्यसंभाराः) तस्मिन् बोधिमण्डे (=बोधिमण्डपे) ॥921॥ केचिद् क्षिपन्ति गगनान्मणिरत्नजलानि, चन्द्रान् सुचन्द्रांस् तथा बालान् विरोचमानान् मान्दार व-सुमनो-वार्षिको-चम्प (क) दामानि संबोधिसत्त्वे द्रुमराजस्थिते क्षिपन्ति ॥922॥ केचिद् आगता धरणीं कम्पयमानाः पद्भ्यां, संकम्पिता वसुधा प्रीतिकरी जनस्य। केचिद् आगता गृहीत्वा मेरुं करतलैर्, उत्सृष्टानि पुष्पपुटानि संस्थिता अन्तरिक्षे ॥923॥ केचिद् आगताश्चतुरः सागरान् गृहीत्वा मूर्ध्ना, उत्सृष्टाः, अभिष्ञ्चन् वसुधां वरगन्धतोयैः। केचिदागता रत्नयष्टीर्गृहीत्वा चित्राः, संबोधिसत्त्वमु-पादर्शयन् स्थित्वा दूरे ॥924॥ केचिद् भूत्वा ब्रह्मप्रशान्तरूपाः शान्तप्रशान्त-मनसः स्थिता ध्यानध्यायिनः। रोमभ्यस्तेषां स्वरो निश्चरति मनोज्ञो मैत्र्यु-

पेक्षाकरुणामुदिताप्रमाणः ॥925॥ केचिद् आगता मरुतां शक्र इव यथैव, देवैः सहस्रनयुतैश्च पुरस्कृतास्ते । उपगम्य बोधिवटं गृहीत्वा कृताञ्जलिभिः (करैर् इति शेषः) शक्राभिलग्नमणिरत्नानि क्षिपन्ति चित्राणि ॥926॥ केचिदागताश् चतसृभ्यो दिग्भ्यश्च यथैव (लोक–) पालाः गन्धर्वै राक्षसैः परिवृताः किंनरैः । विद्युतस्फुटानि ते कुसुमानि प्रवर्षन्तो गन्धर्वकिंनररुतेन स्तुवन्ति वीरम् ॥927॥ केचिद् आगताः कुसुमितान् प्रगृह्य वृक्षान्, सफलान् सपुष्पान् वरगन्धप्रमुञ्चमानान् । जातेषु (पत्रेषु इति शेषः) तेषां स्थिता बुद्धजाः शुद्धकायाः, अवलम्बमानाः (=अवलम्ब्यमानाः) प्रति मण्ड (पं) क्षिपन्ति पुष्पाणि ॥928॥ केचिद् आगताः कुसुमिताः पुटकिनीः (=पुष्करिणीः) गृहीत्वा, पद्मोत्पलैः कुसुमितैस्तथा पुण्डरीकैः । द्वात्रिंशल्लक्षणधराः स्थिताः पद्मगर्भे, अस्ताविषुर् अलिप्तमनसं विद्वांसं बोधिसत्त्वम् ॥929॥ केचिद् आगता विपुलकायास्तथैव मेरुः स्थित्वान्तरिक्षे स्वकमात्मानमुत्सृजन्ति । उत्सृष्टमात्रा (यथारुतं तु उत्सृज्यमात्राः) भूत्वा नवपुष्पदामानि संछादयन्ति त्रिसाहस्रं जिनस्य क्षेत्रम् ॥930॥ केचिद् आगता उभयचक्षुषि कल्पदाहं सदर्शयन्तो विभवं तथा संभवं च । तेषां शरीराद् बहुधर्ममुखानि रणन्ति तानि श्रुत्वा सत्त्वनयुतानि प्रजहति तृष्णाम् ॥931॥ केचिद् आगता रुतकिन्नरतुल्यघोषा बिम्बोष्ठचारुवदनाः परिपूर्णवक्त्राः । कन्या यथैव स्वलंकृताश् चित्रहाराः प्रेक्षमाणा यान् सुरगणा न लभन्ते तृप्तिम् ॥932॥ केचिद् आगता वज्रकाया इवाभेद्याः, अधस्ताद् अपां स्कन्धं चरणैः प्रतिग्राह्यमाणाः । केचिद् आगता रविरिव शशिपूर्णवक्ताः, ज्योत्स्नाकराः प्रभाकराः हतक्लेशदोषाः ॥933॥ केचिद् आगता रत्नमण्डिता रत्नपाणयः, संछादयित्वा बहुक्षेत्रसहस्रकोटीः । वर्षन्ति रत्नवराणि पुष्पाणि सुगन्धिगन्धान्, संतोषणार्थं बहुसत्त्वानां हितसुखार्थम् ॥934॥ के चागता महाधारणीरत्नकोशाः, रोमभ्यः सूत्रनयुतानि प्रभाषमाणाः । प्रतिभानवन्तो मतिमन्तः सबुद्धिमन्तो मनप्रमत्तजनतां प्रतिबोधयन्तः ॥935॥ केचिद् आगता गृहीत्वा भेरीं यथैव मेरुम् आकोट्यमानां गगने सुमनोज्ञघोषाम् । यस्या इवो दशसु दिक्ष्वब्राजीत् क्षेत्रकोटीर् अद्यावबोद्धममृतम् अन्वबुधच्छास्ता ॥936॥ इति ॥

॥ २१ ॥

॥ मारधर्षणपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 299 (पंक्ति 15)—343 (पंक्ति 12)
भोटानुवाद 221क (पंक्ति 3)—248ख (पंक्ति 2)

॥ २१ ॥

॥ मारधर्षणपरिवर्त ॥

1. भिक्षुओं, यों बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, बोधिसत्त्वों ने ये इस प्रकार के व्यूह बोधिमण्डप पर बनाए थे, और बोधिसत्त्वों ने स्वयं भी दसों दिशाओं के अतीत, अनागत एवं वर्तमान भगवान् बुद्धों के सब क्षेत्रों में जितने भी बोधिमण्डप को अलंकृत करने वाले व्यूह थे, उन सबका उस बोधिमण्डप में प्रदर्शन किया था।

2. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, बोधिमण्डप के नीचे बैठे हुए बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। इस कामधातु में बड़ा पापी मार अधिपति है, ईश्वर है, (सब को) वश में करने वाला है। यह (–300–) मेरे लिए उचित न होगा यदि मैं बिना उसके जाने अनुत्तर सम्यक् संबोधि का भलीभाँति बोध कर लूँ। क्यों न मैं बड़े पापी मार को प्रेरित करूँ। =221ख= उसको जीत लेने पर सब कामावचर (अर्थात् कामधातु नामक लोक में विहरने वाले) देवता आदि अधीन हो जाएँगे और उससे जिन मारकायिक देवपुत्रों ने पहले कुशलमूल (=पुण्यमूल=) का अवरोपण किया है, वे मेरा सिंहविक्रीड़ित (=वीर लीलाचरित) देख कर अनुत्तर सम्यक् संबोधि के निमित्त चित्त उपजाएँगे।

3. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, ऐसा सोच कर उस समय बोधिसत्त्व ने अपने भौंहों के बीच के उर्णाकोश (=रोममण्डल) से सर्वमारमण्डलविध्वंसनकरी नामक एक रश्मि (=किरण) छोड़ी। जिस रश्मि (=किरण) ने संपूर्ण त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु के सब मारभवनों में प्रकाश भर कर, उनकी अपनी चमक को कान्तिहीन कर दिया, उन्हें कँपा दिया और यह संपूर्ण त्रिसाहस्र महासहस्र लोकधातु महान् प्रकाश से चमकने लगा और उस प्रभा से बड़े पापी मार ने इस प्रकार के इस शब्द को सुना—

(छंद वसन्ततिलका)

कल्पोघचीर्णचरितो ह्ययभिशुद्धसत्त्वः
शुद्धोदनस्य तनयः प्रविहाय राज्यं।
सो निर्गतो हितकरो ह्यमृताभिलाषी
बोधिद्रुमं ह्यपगतोऽद्य कुरु प्रयत्नं ॥937॥

कल्प-समूहों तक (बोधि-) चर्या का आचरण करने वाले, अत्यन्त शुद्ध सत्त्व (=चित्त) के, वे शुद्धोदन के पुत्र राज्य छोड़ कर घर से निकले हैं। (वे) हितकारी अमृत (—पद) पाने की अभिलाषा से आज बोधिवृक्ष के पास पहुँच गए हैं। (तुम्हें जो यत्न करना हो, वह) यत्न करो।

सो तीर्ण आत्मन परानपि तारयेया
मोचेष्यते स च परां स्वयमेव मुक्तः।
आश्वासप्राप्त स परानपि चाश्वसेया=222क=
निर्वापयिष्यति परां परिनिर्वृतश्च ॥938॥

वे अपने-आप तर कर दूसरों को तारेंगे। अपने-आप मुक्त हो दूसरों को भी मुक्त करेंगे। (अपने-आप) ढारस पाकर दूसरों को भी ढारस बँधाएँगे। (अपने-आप) निर्वाण का साक्षात् कर दूसरों को (भी) निर्वाण का साक्षात् कराएँगे।

शून्यां करिष्यति अपायत्रयो ऽप्यशेषां
पूर्णां करिष्यति पुरां सुरमानुषाणां।
(–310–) ध्यानान ऽभिज्ञ परमं अमृतं सुखं च
दास्यत्यसौ हितकरो अमृतं स्पृशित्वा ॥939॥

(वे) सब के सब तीनों (नरक, प्रेत एवं तिर्यक्-योनि के) अपायों (=दुर्गतियों) को सूना कर देंगे, देवताओं और मनुष्यों के नगरों को भर देंगे। ध्यानों को भलीभाँति जानने वाले वे हितकारी अमृत का साक्षात् कर परम सुख और अमृत (सब को) देंगे।

शून्यं करिष्यति पुरं तव कृष्णबन्धो
अबलोबलो बलविहीनु अपक्ष्यपक्ष्यो।
न ज्ञास्यसे क्व नु व्रजामि करोमि किं वा
यद धर्मवर्षमभिवर्षि स्वयं स्वयंभूः ॥940॥

हे काले कारनामों के साथी, (वे) तेरा नगर सूना कर देंगे, (तुझे) निर्बल से भी निर्बल (=सेना) से रहित (कर) तेरे पक्ष वालों को भी तेरा विपक्षी बना देंगे। जब वे स्वयंभू अपने-आप धर्म की उत्तम वर्षा करेंगे (तब तू) न जान सकेगा कि (मुझे) कहाँ जाना है अथवा (मुझे) क्या करना है।

5. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, इन प्रेरणा देने वाली गाथाओं से प्रेरित हो, बड़े पापी मारने बत्तीस प्रकार के स्वप्न देखे। बत्तीस प्रकार के कौन से (स्वप्न)? (1) अपने भवन को अँधेरे से भरा देखा। (2) और अपने भवन को

धूल से भरा हुआ, बिखरे हुए कंकड़-पत्थरों वाला देखा। (3) और अपने-आपको डरा हुआ, सहमा हुआ, घबराया हुआ, दसों दिशाओं में भागता हुआ देखा। (4) और अपने-आप को देखा कि उसका मुकुट गिर गया है, उसके कुंडल फेंके हुए पड़े हैं। (5) और अपने-आप को देखा कि उसके होंठ, कंठ और तालु सूखे हैं। (6) और देखा कि उसके अपने हृदय में जलन हो रही है। (7) और उद्यानों को देखा कि उनके पत्ते, फूल और फल गिरे हुए हैं। (8) और पुष्करिणियों को देखा कि उनमें जल नहीं है और वे सूख गई हैं। (9) और हंसों को, क्रौञ्च नामक बगुलों को, मयूरों को, चटकों को, कुणालों को =222ख= तथा चकोर आदि पक्षियों के गणों को देखा कि उनके पंख गिर गये हैं। (10) और भेरियों को, मृदगों को, पटहों (=नक्कारों) को तूणवों (=के नाम की विशेष प्रकार की मुरलियों) को, वीणाओं को, वल्लकियों (=त्रितंत्रियों) को, शम्पातालों (=झांझों) को, तथा अन्य वाद्य-यन्त्रों को देखा कि वे धरती पर छिन्न-भिन्न पड़े हैं। (11) और प्रियजनों तथा परिवार के लोगों को देखा कि वे मार को छोड़ कर, एक ओर जाकर, उदास मुख से सोच में पड़े हुए हैं। (12) और पटरानी मारिणी को देखा कि वह सेज से धरती पर गिरी पड़ी है और दोनों हाथों से अपना सिर धुन रही है। (13) और देखा कि मार के पुत्रों में जो सबसे अधिक वीर्यवान् (उद्योगी) हैं, सबसे अधिक बलवान् हैं, सबसे अधिक तेजस्वी हैं, तथा सबसे अधिक प्रज्ञावान् हैं, वे [1]उत्तम एवं श्रेष्ठ बोधिमण्डप पर पहुँचे बोधिसत्त्व को नमस्कार कर रहे हैं। (14) और अपनी पुत्रियों को देखा कि वे बाप रे, बाप रे, चिल्ला कर रो रही हैं। (15) और अपने-आप को देखा कि वह मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए हैं। (–302–) और (16) देखा कि उसके सिर पर धूल पड़ी हुई है, वह स्वयं पीला, बदरंग, तथा ओजरहित है। (17) और महलों को, कूटागारों (=अंटों) को, वातायनों को और तोरणों को देखा कि उन पर धूल बिखरी हुई है और वे गिर रहे हैं। (18) और देखा कि जो यक्ष, राक्षस, कुम्भण्ड तथा गन्धर्वों के अधिपति उसके सेनापति हैं, वे सब =223क= सिर पर हाथ धरे, रोते-चिल्लाते भाग रहे हैं, (19) और बड़े पापी मार ने देखा कि जो कामवचर देवताओं में देवाधिपति हैं, यथा—धृत-राष्ट्र, विरूढ़क, विरुपाक्ष, वैश्रवण, शक्र (=इन्द्र), सुयाम, संतुषित, सुनिर्मित, वशवर्ती आदि वे सब बोधिसत्त्व के सम्मुख (खड़े उनकी) शुश्रूषा कर रहे हैं। और युद्ध में उसकी तलवार म्यान से नहीं निकल रही है। (20) और अपने-आप को देखा कि वह अमंगल शब्द से चिल्ला रहा है। (21) और देखा कि

---

1. मूल, तं। पठनीय, ते। तुलनीय भोट, दे बग् (=ते)।

उसके परिवार ने उसे त्याग दिया है। (22) और देखा कि द्वार पर (जल—) पूर्ण मंगलकलश लुढ़के पड़े हैं। (24) और ब्राह्मण (–मुनि) नारद को देखा कि वे अमंगल के शब्द सुना रहे हैं। (24) और द्वार पाल आनन्द को देखा कि वह आनन्द न देने वाले शब्द सुना रहा है। (25) और गगनतल को देखा कि वह अँधेरे से भर गया है। (26) और कामभवन में निवास करने वाली श्री को देखा कि वह रो रही है। (27) और देखा कि उसका ऐश्वर्य (अब) ऐश्वर्य नहीं रह गया है। (28) और देखा कि उसके पक्षवाले पराए हो गये हैं। (29) और मणिमुक्ता-जालों को देखा कि वे खनखना नहीं रहे हैं और टूटे-फूटे पड़े हुए हैं। (30) और देखा कि समूचा मारभवन डगमगा रहा है। (31) और देखा कि वृक्ष काटे जा रहे हैं तथा निर्यूह (= अटारियाँ) गिर रहे हैं। (32) और देखा कि सब मार-सेना की मोर्चा-बंदी =223ख= उसी के सामने (धरती पर) गिराई जा रही है।

5. हे भिक्षुओं, बड़े पापी मार ने यों बत्तीस प्रकार के स्वप्न देखे। वह जगा (तो) डरा हुआ, सहमा हुआ, घबराया हुआ था। सब भीतर के लोगों को इकट्ठा कर, सेना के साथ और सभासदों के साथ, सेनापतियों और द्वारपालों को एकत्रित जान कर इन गाथाओं द्वारा कहा—

(छन्द वसन्ततिलका)

दृष्ट्वान तां स सुपिनां नमुचो दुखार्त्तो
आमन्त्रयाति सुत ये ऽपि च पारिषद्या।
(–303–) सेनापतिं नमुचि सिंहहनुश्च नाम्ना
सर्वेष तेष परिपृच्छति कृष्णबन्धुः ॥941॥

मार उन स्वप्नों को देख कर दुःख से पीड़ित हो (अपने) पुत्रों को तथा जो भी सभासद थे, (उनको) तथा सिंहहनु नामक सेनापति को बुलाया। (फिर) काले (कर्मों) के साथी मार ने उन सबसे पूछा—पाछा।

गाथाभि गीत रचितोऽद्य श्रुतोऽन्तरिक्षा
छाक्येषु जातु वरलक्षणचित्रिताङ्गः।
षड वर्ष दुष्करव्रतानि चरित्व घोरा
बोधिद्रुमं ह्युपगतः प्रकुरुष्व यत्नं ॥942॥

आज आकाश से गाथाओं द्वारा रचित गीत सुना है कि उत्तम लक्षणों से चित्रित अंग के (बोधिसत्त्व), शाक्यों में उत्पन्न हो, छह वर्ष की घोर दुष्कर व्रतचर्या करके, बोधिसत्त्व के पास पहुँचे हैं। (तुझे जो यत्न करना हो वह) यत्न कर ले।

सो चेद् विबुद्ध स्वयमेव हि बोधिसत्त्वो
बहुसत्त्वकोटिनयुतानि विबोधयेत ।
शून्यं करिष्यति स मे भवनं ह्यशेषं
यदा लप्स्यते ह्यमृतु स्पर्शन शीतिभावं ।।943।।

वे बोधिसत्त्व अपने-आप सम्यक् बुद्ध हो, बहुत से कोटि-खर्ब प्राणियों को सम्यक् बुद्ध बना देंगे । वे जब स्पर्श मे शीत करने वाले स्वभाव के अमृत की प्राप्ति करेंगे, तब मेरे संपूर्ण भवन (=लोक) को सूना कर देंगे ।

हन्त: व्रजाम सहित महता बलेन
घातेम तं श्रमणु एकु द्रुमेन्द्रमूले ।
उद्योजयध्व चतुरङ्गिणि शीघ्र सेनां
यदि इच्छथा मम प्रियं म चिरं करोथ ।।944।।

अहो, बड़ी सेना के साथ (हम सब) चलें, वृक्षराज के तले उस अकेले श्रमण को मार डालें । यदि मेरा प्रिय (करना) चाहते हो तो, चतुरङ्गिणी सेना को सजाओ, विलम्ब मत करो ।

प्रत्येकबुद्धभि च अर्हभि पूर्ण लोको=224क=
निर्वायमाणु न मम दुर्बलं स्यात् ।
सो भूयु एकु जिनु भेष्यति धर्मराजो
गणनातिवृत्तु जिनवंशु न जातु छिद्येत् ।।945।।

प्रत्येक बुद्धों तथा अर्हतों से पूर्ण लोक के निर्वाण होने पर भी मेरी सेना दुर्बल नहीं हो सकती । पर वे एक यदि धर्मराज हो जाएँगे, तो गणनातीत बुद्ध-वंश का उच्छेद न हो सकेगा ।

6. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, सार्थवाह नामक मारपुत्र ने बड़े पापी मार से गाथा-द्वारा कहा—

किं तात भिन्नवदनोऽसि विवर्णवक्त्रो
हृदयं समुत्प्लवति वेधति ते ऽङ्गमङ्गं ।
(–304–) किं ते श्रुतं अथव दृष्टु भणाहि शीघ्रं
ज्ञास्याम तत्त्वतु विचिन्त्य यथा प्रयोगं ।।946।।

हे तात, आपका चेहरा क्यों दूसरे ढंग का हो गया है ? (क्यों) मुँह का रंग बदल गया है ? (क्यों) हृदय धड़क रहा है ? (क्यों) अंग-अंग काँप रहे हैं ? आपने क्या सुना है ? अथवा (क्या) देखा है ? शीघ्र बोलिए । ठीक-ठीक विचार कर यथोचित उपाय जाना जा सकेगा ।

निर्माणु मारु अवची शृणु मह्य वत्स
पापं मि दृष्टु सुपिनं परमं सुघोरं।
भाषेय सर्वमिह पर्षदि अद्य ऽशेषं
संमूर्छिता क्षितितले प्रपतेयु यूयं ॥947॥

निरभिमान हुए मार ने कहा—हे वत्स, मैंने बहुत बुरा और बहुत भयंकर सपना देखा है, आज यहाँ सभा में सबका सब बताऊँ तो, तुम सब लोग धरती पर बिल्कुल मूर्छित होकर गिर पड़ोगे।

सार्थवाह बोले—

रणकालि प्राप्ति यदि नाम जयो न दोषः
तत्रैव यस्तु निहतो भवते स दोषः।
स्वप्नान्तरे तु यदि ईदृश ते निमित्ता
श्रेयो उपेक्ष म रणे परिभावु गच्छेत् ॥948॥

युद्ध का समय आने पर यदि विजय हो तो वह खराब बात नहीं है, वहीं पर जो मर जाना है, वह खराब बात है। स्वप्न के बीच यदि ऐसे अपसगुन हुए हैं, तो चुप रहना ठीक है, युद्ध में (आपको) हार नहीं खानी चाहिए।

मार बोला—

व्यवसायबुद्धिपुरुषस्य रणे प्रसिद्धि
अवलम्ब्य धैर्य सुकृतं यदि नो जयं स्यात्।
का तस्य शक्ति मम दृष्टि सपारिषद्यं
नोत्थातु मह्य चरणे शिरसा प्रपत्तुं ॥949॥

दृढ़ निश्चय वाले पुरुष को युद्ध में उत्तम सफलता होती है। धैर्य धर कर ठीक ढंग से काम किया जाए, तो हमारी जय होगी। (सैन्य–) मंडल के साथ मुझे देख कर उसकी क्या शक्ति है, जो सिर से मेरे चरणों पर पड़ने के लिए न उठे।

सार्थवाह बोला—

विस्तीर्णमस्ति हि बलं=224ख—च सुदुर्बलं च
अस्त्येक शुरु बलवांश्च रणंजहश्च[2]।

---

2. रणं-जह का भोटानुवाद ग्युल् लस् ग्र्यल् (= रणंजय) है। रणंजह में हा धातु को कारित (प्रेरणार्थक) मान कर रण को छुड़ा देने वाला या रण से भगा देने वाला यह अर्थ प्रसंगानुसार होगा। बौद्धशास्त्रों में इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ रण अर्थात् क्लेश का त्याग करने वाला है।

खद्योतकैर्यदि भवेत् त्रिसहस्र पूर्णा
एको रविर्ग्रसति निष्प्रभतां करोति ॥950॥

निश्चय ही (हमारी) सेना बड़ी है, पर अत्यन्त दुर्बल है। दूसरी ओर एक-अद्वितीय बलवान् शूर है (जो शत्रुओं को) युद्ध से भगा देता है। यदि जुगनुओं से त्रिसाहस (लोक धातु) भर जाए, तो भी एक-अकेला सूर्य उन्हें ग्रस लेता है, निस्तेज कर देता है।

(205–) इसके अतिरिक्त—

यस्य मानश्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते।
विलोमो यदि विद्वांसो नासौ शक्यश्चिकित्सितु ॥951॥

जिसमें (अभि–) मान नहीं है, मोह नहीं है, (इस दुनिया के झंझटों की) मीमांसा (= खोज-बीन) नहीं करनी है, (वह) चाहे (संसार के मायाजाल में) चतुर हो अथवा उससे उलटा (अर्थात् भोलभाला) हो, उसे संशय में नहीं डाला जा सकता।

7. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सार्थवाह के वचन को न कर, बड़े पापी मार ने महान् चतुरङ्गिणी सेना को सजाया, जो बड़े बल की थी, युद्ध में कुशल थी, भय उपजाने वाली थी, रोंगटे खड़े करने वाली थी, पहले से अनदेखी थी, पहले से अनसुनी थी, देवताओं और मनुष्यों के बहुत प्रकार के जो मुखविकार होते हैं, उन शतसहस्त्र कोटि-खर्ब विकारों के प्रकारों से युक्त थी, हाथों और पैरों में टेढ़े-मेढ़े शतस सर्पों से लिपटे शरीर वाली थी, तलवारें, धनुष, तार, बर्छियाँ, भाले, कुल्हाड़े, चौधारें बल्लम, अग्निबाण, मूसल, डंडे फाँसने की रस्सियाँ, गदाएँ, चक्र वज्र, तथा कँटीले बर्छे धारण करने वाली थी, उत्तम वर्मों और कवचों से नधे-बँधे शरीर वाली थी, उलटे-पलटे सिरों, हाथ-पैरों तथा नेत्रों से युक्त थी, जलते हुए सिरों, नेत्रों तथा मुँहों वाली थी, बुरे ढंग के पेटों तथा हाथ-पैरों वाली थी, भयंकर तेज के मुखों वाली थी, देखने में अत्यन्त बिगड़े हुए चेहरों वाली थी, भयंकर और विकृत दाढों वाली थी, मोटि, बहुत बड़ी और लटकती हुई जिह्वाओं वाली थी, कछुए की गर्दन एवं चटाई जैसी खुरदरी जिह्वाओं वाली, =225ख= आग के समान काले साँप के विष से भरी लाल-लाल नेत्रों वाली थी।

8. कितने ही उनमें से सर्पविषों का वमन कर रहे थे। कितने ही हथेलियों से सर्पविषों को ले-ले कर खा रहे थे। कितने ही गरुड़ों की भाँति समुद्र से उछाल कर मनुष्य का मांस, रुधिर, हाथ, पैर, सिर, कलेजा, आँत, मल आदि

खा रहे थे। कितने ही जलते हुए पिंगल (वर्ण के), काले (वर्ण के), नीले (वर्ण के), लाल (वर्ण के), (साधारण) पिंगल (वर्ण के) भयंकर एवं विचित्र रूपवाले थे। कितने ही घिनौनी आँखों वाले, कुएँ जैसी आँखों वाले, उपाड़ी हुई आँखों वाले और घिनौने कटाक्षों वाले थे। कितने ही उलटी हुई, जलती हुई, बिगड़ी हुई आँखों वाले थे। कितने ही जलते हुए पहाड़ों को लेकर लीला के साथ दूसरे पहाड़ों पर चढ़े आ रहे थे। कितने ही जड़ के साथ पेड़ों को उखाड़ कर बोधिसत्त्व की ओर दौड़ रहे थे। कितने ही के कान बकरे के जैसे, सूप के जैसे, हाथी के जैसे, सुअर के जैसे थे, (कितने ही) लंबे कान के और कितने ही बिना कान के थे। कितने ही जलोदर रोगी जैसे दुर्बल शरीर के, हड्डियों के कंकाल इकट्ठा करके बनाए जैसे, टूटी हुई नाक के, घड़े जैसे पेट के, खप्पर जैसे पैरों के, सूखे (–306–) चाम, मांस और लोहू के, कटे हुए नाक-कान, हाथ-पैर = 225ख = आँख-मुख के थे। कितने ही खून की प्यास से एक-दूसरे का सिर काट रहे थे। कितने ही बैठे हुए, बिगड़े हुए, डराने वाले रूखे स्वर से फू-फू करके, पिच्-पिच् करके, फुल्-फुल् करके हल्ला मचा रहे थे। कितने ही बोलते थे—लाओ-लाओ, मारो-मारो, बाँधो-पकड़ो, काटो-फाड़ो, मथो-उछालो नष्ट कर दो इस श्रमण गौतम को (बोधि–) वृक्ष के साथ। इस प्रकार (कितने ही बार-बार) बोलते थे। कितनों ही के मुख नाना प्रकार से भयजनक, प्रचण्ड रूप से विकृत, भरुण्ड के समान, शृगाल के समान, शूकर के समान, गर्दभ के समान, बैल के समान, हाथी के समान, ऊँट के समान, खच्चर के समान, भैंसे के समान, खरगोश के समान, चँवर के समान, गैंड़े के समान, तथा शरभ के समान थे। कितनों ही के शरीर सिंह के सदृश, बाघ के सदृश, भालू के सदृश, शूकर के सदृश, वानर के सदृश, चीते के सदृश, बिल्ले के सदृश, बकरे के सदृश, भेंड़े के सदृश, सर्प के सदृश, नेवले के सदृश, मच्छ के सदृश, मगरमच्छ के सदृश, घड़ियाल के सदृश, कछुए के सदृश, काक के सदृश, गिद्ध के सदृश, उल्लू के सदृश, गरुड़ के सदृश थे। = 226क = कितने ही रूप में कुरूप थे। कितने ही एक सिर के थे, कितने ही दो सिरों के थे, यहाँ तक कि कितने ही हजार सिरों के थे। कितने ही बिना सिर के थे। कितने ही एक बाँह के थे, यहाँ तक कि कितने ही हजार बाँहों के थे। कितने ही बिना बाँह के थे। कितने ही एक पैर के थे, यहाँ तक कि कितने ही हजार पैरों के थे। कितने ही बिना पैर के थे। कितने ही कान, मुँह, नाक, आँख, नाभि के स्रोतों से सर्पविष निकालते थे। कितने ही तलवार, धनुष, तीर, बर्छियाँ, चौधारे बल्लम, फरसे, चक्र, भाले, कँटीले बर्छे, वज्र, अग्नि बाण और भुजालियाँ आदि नाना प्रकार के हथियार घुमाते हुए, नाचते हुए, बोधिसत्त्व को डराते

थे। कितने ही आदमियों की उँगलियाँ काट कर, मालाएँ बनाकर, पहनते थे। कितने ही हड्डियों के कंकालों और सिर के खप्परों को (=कपालों को) मालाओं की भाँति गूँथ कर धारण करते थे। कितनों ही के शरीरों पर साँप लिपटे हुए थे। कितने ही सिर के कपालों को लेकर हाथियों पर, घोड़ों पर, बैलों पर, गधों पर और भैंसों पर सवार थे। कितनों के सिर नीचे, पैर ऊपर थे। कितनों के रोम सूई-जैसे (कड़े) थे। कितने ही बैल, गधे=226ख=सुअर नेवले, बकरे, बिल्ले, बंदर, भेड़िए, सियार के जैसे रोएँ वाले साँप के विषों का वमन करते हुए, लोहे के गोलों को निगलते हुए, धूमकेतुओं को छोड़ते हुए, जलते हुए ताँबे और लोहे की वर्षा करते हुए, बिजलियों के साथ वृष्टि करते हुए, बाज-गाज (–307–) गिराते हुए, गरम-गरम लोहे की बालू बरसाते हुए काले-काले मेघों को उत्पन्न करते हुए, हवा-पानी उपजाते हुए, बाणमय मेघों को उपजाते हुए, कालरात्रि अर्थात् कालीरात दिखाते हुए अथवा मृत्यु की रात दिखाते हुए, हो-हल्ला मचाते हुए बोधिसत्त्व की ओर दौड़ते थे। कितने ही फाँसी लगाने की रस्सियों को घुमाते हुए, बड़े-बड़े पर्वतों को गिराते हुए, महासागरों को खलभलाते हुए, महापर्वतों को लाँघते हुए, पर्वतों के राजा सुमेरु को हिलाते-डुलाते हुए, दौड़ते-भागते हुए, अंग-प्रत्यंग फेंकते हुए, शरीर घुमाते हुए, महाहास हँसते हुए, छाती फोड़ते हुए, छाती पीटते हुए, केश बिखरते हुए, पीले मुँह के, नीले शरीर के, जलते हुए सिर के, ऊपर उठे हुए केशों के, इधर-उधर जोर से दौड़ते हुए, भेरुण्ड-जैसी आँखों के बोधिसत्त्व को डराते थे। बूढ़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ रोती हुई बोधिसत्त्व के पास पहुँच कर यों बोलती थीं—अहो मेरे पुत्र, हा मेरे पुत्र, उठो-उठो जल्दी भागो। राक्षसरूपधारी, पिशाचरूपधारी, काने, लँगड़े और दुबले, प्रेत = 227क = भूख से क्षीण इन्द्रियों के[3], बाहें ऊपर उठाए, घिनौने मुँह बनाए, रोते हुए, भय दिखाते हुए, त्रास उपजाते हुए, बोधिसत्त्व के सामने दौड़ते थे। इस प्रकार की उदित हुई उस मार-सेना के द्वारा अस्सी योजन के लम्बे-चौड़े चारों ओर का प्रदेश भर गया। जैसे एक मार की, वैसे ही त्रिसाहस्र (लोकधातु में) फैले हुए, बड़े पापी कोटिशत मारों की, सेनाओं से ऊपर का तथा तिर्यक् (दिशाओं का) प्रदेश भर गया।

9. इस (विषय) में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

---

3. मूल, क्षुत्क्षमाक्षा। पठनीय, क्षुत्क्षामाक्षा। भोट, **बृक्रेस् पस् रिद् प** (=क्षुत्क्षामाः)।

(छंद दोधक)

यक्षकुम्भाण्डमहोरगरूपाः राक्षसप्रेतपिशाचकरूपाः।
यत्तक लोकि विरूप सुरौद्राः सर्वि त निर्मित तत्र शठेभिः ॥952॥

यक्ष, कुम्भण्ड तथा महोरग रूपी (और) राक्षस, प्रेत, तथा पिशाचरूपी जितने भी लोक में अत्यन्त बीभत्स रूप के हैं, उन सबका वहाँ पर शठों ने (ऋद्धि से) निर्माण किया था।

एकशिरा द्विशिरा त्रिशिराश्च यावत्सहस्रशिरा बहुवक्त्राः।
एकभुजा द्विभुजा त्रिभुजाश्च यावत्सहस्रभुजा बहुभुजाः।
एकपदा द्विपदा त्रिपदाश्च यावत्सहस्रपदा बहु अन्ये ॥953॥

(उनमें) एक सिर के, दो सिरों के और तीन सिरों के, यहाँ तक कि हजार सिरों के, एवं बहुत से मुख वाले, एक बाँह के, दो बाँहों के, तीन बाँहों के यहाँ तक कि हजार बाँहों के एवं बहुत सी बाँहों वाले, एक पैर के, दो पैरों के, तीन पैरों के, यहाँ तक कि हजार पैरों के एवं बहुत से दूसरे थे।

(–308–) नीलमुखानि च पीतशरीराः
पीतमुखानि च नीलशरीराः।
अन्यमुखानि च अन्यशरीराः
एवम्[4] उपागतु किंकरसैन्यं ॥954॥[5]=227ख=

(उनमें) नीले मुख के और पीले शरीर वाले, पीले मुख के और नीले शरीर वाले, भिन्न मुख के और भिन्न शरीर वाले थे। ऐसी (मार) के सेवकों की सेना आई थी।

वातु प्रवायति वर्षति वर्षं विद्युसहस्रशतानि पतन्ति।
देव गुडायति वृक्ष लुडन्ति बोधिवटस्य न ईर्यति पत्रं ॥955॥

हवा जोर से चलती थी, पानी बरसता था, सैंकड़ों-हजारों बिजलियाँ पड़ती थीं, आकाश गुड़गुड़ाता था, (पर) बोधिवृक्ष का पत्ता न हिलता था।

वर्षति देव प्रवर्षति वर्षं ओघ वहन्ति जलाकुल भूमिं।
ईदृश भीषणिका=228क=बहुराशी यत्र अचेतन वृक्ष पतन्ति ॥956॥

---

4. मूल, एकम्। पाठान्तर तथा भोट, (दे .ह्, ब्र हि.) के अनुसार पाठ एवम् होना चाहिए।

5. गाथा 954 वो के अनन्तर भोट में और भी कितनी ही गाथाएँ हैं।

.देव बरसते थे, वर्षा अत्यधिक होती थी, जलधाराएँ बहती थीं, भूमि जल से भरती जाती थीं, भयानकता ऐसी अधिक जुट गई थी कि अचेतन पेड़ भी गिर-पड़ रहे थे ।

दृष्ट्व च ताननतिभीषणरूपां सर्वि विसंस्थितरूप विरूपां ।
श्रीगुणलक्षणतेजधरस्या चित्तु न कम्पति मेरु यथैव ॥957॥

अत्यन्त भयानक रूप के, उलटे-पलटे रूप के, बुरे रूप के उन सब को देख कर श्री के गुणों के, लक्षणों के और तेज के धारण करने वाले (बोधिसत्त्व का) चित्त (ही केवल) मेरु के समान अकम्प्य था ।

मायसमांस्तथ स्वप्नसमांश्च अभ्रिनिभां समुदीक्षति धर्मां ।
ईदृश धर्मनयं विमृषन्तो सुस्थितु ध्यायति संस्थितु धर्मे ॥958॥

(वे) धर्मों को अर्थात् संसार के सब पदार्थों को माया के समान, स्वप्न के समान एवं मेघों के समान देखते थे । धर्मों के स्वभाव को ऐसा सोचते-विचारते हुए, भलीभाँति धर्म में स्थिर हुए, अच्छे ढंग से बैठे ध्यान करते थे ।

यस्य भवेत अहंति ममेति भाव समुच्छ्रयि तत्त्वनिविष्टाः ।
सो विभियादबुद्धेः स्थितु ग्राहे आत्मनि संभ्रमु गच्छ निरीक्ष्य ॥959॥

जिसमें अहंता और ममता होती है, (जो) भावों अर्थात् संसार के पदार्थों में (तथा) समुच्छ्रय अर्थात् महाभूतों से उठे हुए शरीर में तत्त्व का (–परमार्थ का) आग्रही होता है, उस मूढ़ता के ग्राह में पड़े (अविवेकी) को भय हो सकता है, अपने-आप को देख कर उसे घबराहट हो सकती है ।

शाक्यसुतस्तु स्वभावमभावं धर्म प्रतीत्य समुत्थित बुद्ध्वा ।
गगनोपमचित्तु सुयुक्तो न भ्रमते सबलं शठ दृष्ट्वा ॥960॥

शक्यपुत्र तो स्व-भाव को भाव-रहित, धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न (=हेतु-प्रत्ययसापेक्ष उत्पन्न) जान कर, सम्यग्-योग-रत, आकाश के समान (निर्लिप्त) चित्त हो, सेना सहित शठ (=वंचक मार) को देख कर (भी) भूल में न पड़ते थे ।

10. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बड़े पापी मार के जो सहस्र पुत्र थे, उनमें जो मारपुत्र बोधिसत्त्व के प्रति अत्यन्त (=श्रद्धालु) थे, उनमें सार्थवाह प्रमुख थे, वे मार के दाहिने पासे में खड़े हो गए । जो मार के पक्षपाती थे, वे बड़े पापी-मार के बाएँ पासे में खड़े हो गए । तब बड़े पापी ने अपने पुत्रों से कहा । किस प्रकार की सेना से हम बोधिसत्त्व को =228= परास्त कर सकेंगे ? तब दाहिने पासे में खड़े सार्थवाह नामक मारपुत्र ने गाथा द्वारा अपने पिता को उत्तर दिया—

(छंद वसन्ततिलका)

सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति पन्नगेन्द्रं
सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो गजेन्द्रं। (–309–)
सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो मृगेन्द्रं
सुस्थं[6] प्रबोधयितुमिच्छति सो नरेन्द्रं ॥961॥

(जो) सोए हुए नागराज को जगाना चाहता हो, जो सोए हुए गजराज को जगाना चाहता हो, जो सोए हुए मृगराज को जगाना चाहता हो, वह (ध्यान में) सम्यक् बैठे पुरुषराज को जगाने की इच्छा करे।

11. बाएँ पासे में दुर्मति नामक मारपुत्र था, वह यों बोला—

संप्रेक्षणेन हृदयान्यभिसंस्फुटन्ति
लोकेषु सार महतामपि पादपानां।
का शक्तिरस्ति मम दृष्टिहतस्य तस्य
संजीवितुं, जगति मृत्युहतस्य-वा-ऽस्तु ॥962॥

देखने भर से दृढ़-हृदय दहल जाते हैं, लोकों में सारवान् बड़े-बड़े पेड़ भी फट जाते हैं, मृत्यु से मारे हुए की जगत् में रहने की भाँति मेरी दृष्टि से मारे हुए उसमें जीने की शक्ति कहाँ ?

12. दाहिने (खड़े हुए) मधुरनिर्घोष नामक (मारपुत्र) ने कहा—

वृक्षेषु सार क इहास्ति, ततो ब्रवीषि—
दृष्ट्वा भिनन्मि, मनुजेष्वथ का अवस्था।
मेरुं गिरिं यदि भिनत्सि निरीक्षणेन
नैवास्य तुभ्य नयनेभि हतोन्मिषेरन् ॥963॥

यहाँ, वृक्षों में सार है ही क्या ? मनुष्यों में स्थिरता है ही क्या ? इसीलिए तो (तुम) बोल रहे हो कि मैं (इन्हें) देख कर फाड़ डालूँगा। पर यदि (तुम) देखने (भर) से सुमेरु पर्वत को फाड़ सको (तो भी) इनके (आगे) मार डाले गए (–जैसे) अपनी आँखें (भी) न खोल सकोगे। इसके अतिरिक्त—

यः सागरं तरितुमिच्छति वै भुजाभ्यां
तोयं च तस्य पिवितुं मनुजे ष्वसन्तु[7]।
शक्यं भवेदिदमतस्तु वदामि दुःखं
यस्तस्य वक्त्रमभितो ऽप्यमलं निरीक्षेत् ॥964॥

---

6. मूल, सुप्तं। पठनीय, सुस्थं। तुलनीय भोट, लेग्स् गनस्।

7. मूल, मनुजेष्वसन्तु। मनुजे तथा ष्वसन्तु को पृथक् पढ़ना चाहिए। भोट, बङ्बस् ते (=श्वसित्वा)। श्वस् धातु की मूर्धन्यता अपभ्रंशतमता का निदर्शन है।

जिस मनुष्य में दोनों भुजाओं से समुद्र तरने की और उसके पानी को (एक) साँस में पीने की चाह हो, तो वह संभव है। पर उनके निर्मल मुख को आमने-सामने निहार सकना इससे भी कठिन है। (यह मेरा) कहना है।

12. बाएँ (खड़े) शतबाहु नामक (मारपुत्र) ने कहा—

(छंद उपजाति)

ममेह देहेस्मि शतं भुजानां
क्षिपामि चैकेन शतं शराणां।
भिनन्मि कायं श्रमणस्य तात
सुखी भव त्वं=229क= व्रज मा विलम्ब ॥965॥

मेरे शरीर में सौ भुजाएँ हैं, और एक-एक से सौ बाण फेंक (सक) ता हूँ, प्रमण का शरीर भेद (सक)ता हूँ। हे तात, तुम सुखी हो जाओ, चलो, देर मत करो।

14. दाहिने (खड़े) सुबुद्धि ने कहा—

(–310–) शतं भुजानां यदि को विशेषो
भुजा किमर्थं न भवन्ति रोमा:।
भुजेकमेकेन तथैव शूला:
तैश्चापि कुर्यान्नहि तस्य किं चित् ॥966॥

सौ भुजाएँ हैं, तो भी क्या विशेष (बात)? यदि रोम (भी) भुजाएँ बन जाएँ, तो भी क्या प्रयोजन? एवं एक-एक भुजा में शूल हो, तो भी उनसे (कोई) उनका कुछ नहीं कर सकता। (इसका) क्या कारण?

मैत्रावतस्तस्य मुने: शरीरे
विषं न शस्त्रं क्रमते न चग्नि:।
क्षिप्तानि शस्त्राणि व्रजन्ति पुष्पतां
मैत्री हि लोकोत्तर भावि तस्य ॥967॥

उन मैत्रीवाले मुनि के शरीर पर न विष का प्रभाव पड़ता है, न शस्त्र का, और न अग्नि का। उनकी मैत्री (ऐसी) लोकोत्तरभावना वाली है कि (उनपर) फेंके हुए शस्त्र फूल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त—

(छंद पुष्पिताग्रा)

दिवि भुवि जले च ये बलाढ्या:
असिपरशुधराश्च गुह्यका नरा वा।
क्षमबलमिमु प्राप्य ते नरेन्द्रं
प्रबलबलाऽल्पबला भवन्ति सर्वे ॥968॥

देव लोक में, पृथिवी पर तथा जल में जो बहुत बलवान् यक्ष अथवा मनुष्य खड्गधर एवं परशुधर हैं, वे सब प्रबल बल के इन क्षमा-बल वाले पुरुष-राज को प्राप्त कर स्वल्प बल के हो जाते हैं ।

15. बाएँ (खड़े) उग्रतेजा ने कहा—

अन्तर्गतोऽहं धक्ष्यामि प्रविश्यास्य तनुं शुभां ।
वृक्षं सकोटरं शुष्कं दावाग्निरिव सूक्ष्मतः ॥969॥

इनके शुभ शरीर में प्रवेश कर, भीतर ही भीतर ठहरा हुआ मैं, कोटर सहित सूखे वृक्ष को सूक्ष्म दावाग्नि की भाँति जला डालूँगा ।

16. दाहिने (खड़े) सुनेत्र ने कहा—

(छंद उपजाति)

मेरुं दहेस्त्वं यदि वापि कृत्स्नं
प्रविश्य चान्तर्गत मेदिनीं वा ।
दग्धुं न शक्यः स हि वज्रबुद्धिः
त्वत्संनिभैर्वालिकगङ्गतुल्यैः ॥970॥

तुम घुस कर, भीतर ही भीतर ठहर, चाहे सुमेरु को जला डालो या पृथिवी को (जला डालो), पर तुम जैसे (संख्या में) गंगा की वालुका जितने (लोगों) के द्वारा (भी) वे वज्रबुद्धि (=हीरे के समान अभेद्य बुद्धि वाले) जलाए नहीं जा सकते । इसके अतिरिक्त—

चलेयुर्गिरयः सर्वे क्षयं गच्छन्महोदधिः ।
चन्द्रसूर्यौ पतेद् भूमौ मही च विलयं व्रजेत् ॥971॥
लोकस्यार्थे कृतारम्भः प्रतिज्ञा =229ख= कृतनिश्चयः ।
अप्राप्यैष वरां बोधिं नोत्थास्यति महाद्रुमात् ॥972॥

चाहे सब पर्वत स्थान-च्युत हो जाएँ, महासागर क्षीण हो जाए, चन्द्रमा और सूर्य धरती पर गिर पड़ें और धरती विलीन हो जाए, पर लोक (-हित) के लिए कार्य करने हारे, प्रतिज्ञा द्वारा निश्चय कर लेने वाले ये उत्तम बोधि बिना पाए, महावृक्ष से नहीं उठेंगे ।

17. बाएँ (खड़े) गर्वीले दीर्घबाहु ने कहा—

आलयं चन्द्रसूर्याणां नक्षत्राणां च सर्वशः ।
पाणिनाहं प्रमर्दामि तवेह भवने स्थितः ॥973॥
(-311-) चतुर्भ्यः सागरेभ्यश्च जलं गृह्णामि लीलया ।
तं गृह्यं श्रमणं तात सागरस्य परं क्षिपे ॥974॥

तिष्ठतां तात सेनेयं मा त्वं शोकार्दितो भव।
स बोधिवृक्षमुत्पाट्य क्षेप्स्ये पाण्या दिशो दश: ॥975॥

चन्द्रमा और सूर्य के तथा नक्षत्रों के स्थान को, तुम्हारे इस भवन में खड़ा होकर, मैं अपने हाथ से सब तरह मसल डालूँगा।—चारों सागरों से खेल-खेल में पानी ले लूँगा और हे तात, उस श्रमण को पकड़ कर सागर के पार फेंक दूँगा।—हे तात, इस सेना को ठहरने दो, तुम शोक से पीड़ित न होओ, हाथ से उस बोधिवृक्ष को उखाड़ कर (टूक-टूक कर) दसों दिशाओं में फेंक दूँगा।

18. दाहिने (खड़े) प्रसादप्रतिलब्ध ने कहा—

सदेवासुरगन्धर्वां ससागरनगां महीं।
त्वं मर्दितां प्रकुर्याश्च पाणिभ्यां मदगर्वित: ॥976॥
त्वद्विधानां सहस्राणि गङ्गावालिकया समा:।
रोमं तस्य न चालयेयुर्बोधिसत्त्वस्य धीमत: ॥977॥

मद से गर्वीले तुम अपने दोनों हाथों द्वारा देवताओं, असुरों और गन्धर्वों के सहित एवं समुद्रों और पर्वतों सहित, पृथिवी को मसल सकते हो—(पर) गंगा की बालुका जितने तुम्हारे जैसे ज़ार-हज़ार भी उन बुद्धिमान् बोधिसत्त्व का बाल बाँका नहीं कर सकते।

19. बाएँ (खड़े) भयङ्कर ने कहा—

(छंद उपजाति)

भयं हि ते तात भृशं किमर्थं
सेनाय मध्ये किमवस्थितस्य।
सेना न तस्यास्ति कुत: सहाया:
कस्याद् भयं ते भवतीह तस्मात् ॥978॥

हे तात, किसलिए (इतना) अधिक भय है ? सेना के बीच में खड़े हुए को क्या भय ? उसके पास सेना नहीं है। (फिर) सहायक कहाँ से (होंगे) ? इसलिए यहाँ तुम्हें भय क्यों हो रहा है ?

20. दाहिने (खड़े) एकाग्रमति ने कहा—

यूथं न लोकेऽस्ति शशीरवीनां
न चक्रवर्ती न च केशरीणां।
न बोधिसत्त्वानिह तात यूथं =230क=
एक: समर्थो नमुचिं निहन्तुं ॥979॥

लोक में चन्द्रमा और सूर्यों का झुंड नहीं होता, चक्रवर्ती (–राजाओं) का झुंड नहीं होता, सिंहों का झुंड नहीं होता। हे तात, यहाँ बोधिसत्त्वों का झुंड नहीं होता, वे अकेले मार के निग्रह करने में समर्थ होते हैं।

21. बाएँ (खड़े) अवतारप्रेक्षी (=मौकेबाज) ने कहा—

न शक्तिशूला न गडा न खद्(?ड्)गा
न हस्तिनोऽश्वा न रथा न पत्तिः।
[8]तं सोऽहम्[8] एकं श्रमणं निषण्णं
हन्स्येऽद्य[9] मा संभ्रम तात किञ्चि ॥980॥

(उनके पास) न बर्छियाँ हैं, न शूल हैं, न गदाएँ हैं, न खड्ग हैं, न हाथी हैं, न घोड़े हैं, न रथ हैं, न पदाति (–सेना) है। उन अकेले बैठे हुए वीर श्रमण को आज (मैं) मार दूँगा। हे तात, (तुम) कुछ भी न घबराओ।

22. दाहिने (खड़े) पुण्यालंकार ने कहा—

(छंद वसन्ततिलका)

नारायणस्य यथ काय अछेद्यभेद्यो
क्षान्तिबलैः कवचितो दृढवीर्यखड्गः।
(–312–) त्रिमोक्षवाहनऽसि प्रज्ञधनुः स तात
पुण्यबलेन स हि जेष्यति मारसेनां ॥981॥

नारायण के शरीर—जैसा (उनका शरीर) छेदा-भेदा नहीं जा सकता। वे क्षमाशक्ति समूह का कवच पहने हैं, वीर्य (उद्योग) रूपी उनका दृढ़ खड्ग है, तीन विमोक्ष उनके वाहन हैं, प्रज्ञा उनका धनुष है। हे तात, पुण्य की सेना से वे मार सेना को निश्चय ही जीत लेंगे।

23. बाँएँ (खड़े) अनिवर्ती ने कहा—

8....8 तं सोण्डम्। सोऽहम् पाठ की मैं कल्पना करता हूँ। इसके स्थान में प्रोफ़ेसर एड्जेर्टन् का सुझाव पाठान्तर के आधार पर मां सोढुम् है। द्रष्टव्य बु० हां० से० डि० सोण्ड शब्द। पाठान्तर मां सोढुम् है। भोट में सोण्डम् का अनुवाद नहीं है। पर तं शब्द का अनुवाद दे (तत्, सः, तम्) है। अनन्तर ध्दग् गिस् (=मज्ञा) है।

9. अद्य के स्थान में भोट दो मोद् (=सद्यः, शीघ्रं) है। भोट शब्द यहाँ द्वयर्थक है। कभी-कभी अद्य के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है।

न निवर्तते तृणगतः प्रदहन् दवाग्निः
क्षिप्तं शरो न च निवर्तति शिक्षितेन ।
वज्रं नभे निपतितं न निवर्तते च
न स्थानमस्ति मम शाक्यसुतं ह्ययजित्वा ॥982॥

जलती हुई वन की आग तिनकों में पहुँच कर नहीं लौटती, सीख पाये हुए के द्वारा फेंका हुआ तीर नहीं लौटता, आकाश से गिरी बिजली नहीं लौटती, शाक्य-पुत्र को बिना जीते मेरा (भी) ठहरना नहीं हो सकता ।

24. दाहिने (खड़े) धर्मकाम ने कहा—

(छंद गाथा 11 14 11 14 अक्षर)

आर्द्र (÷) तृणं प्राप्य निवर्तते ऽग्नि (:)
गिरिकूटं आसाद्य निवर्तते शरः ।
वज्र (÷) महीं प्राप्य अधः प्रयाति
अप्राप्य शान्तममृतं न निवर्तते अयं ॥983॥

आग गीले तिनकों को पाकर लौट पड़ती है, तीर चट्टान पर लग कर उलटा फिर आता है, बिजली धरती पर गिरकर नीचे पैठ जाती है, (पर) शान्त और अमृत बिना पाये ये नहीं लौटने वाले हैं । इसका कारण क्या ?—

(छंद तूणक)

शक्य तात अन्तरिक्षे लेख्य चित्र चित्रितुं
यावन्ति केचि सर्व सत्त्व एकचित्त स्थापितुं ।
चन्द्रासूर्य मारुतं च शक्य पाश बन्धितुं
न बोधिसत्त्व शक्य तात बोधिमण्डि चालितुं ॥984॥

हे तात, आकाश में लिखा जा सकता है, चित्र आँका जा सकता है, जितने प्राणी हैं, (उन) सब को एकचित्त करके रक्खा जा सकता है । (पर) हे तात बोधिसत्त्व को बोधिमण्डप से हिलाया-डुलाया नहीं जा सकता ।

25. = 230ख = बाएँ (खड़े) अनुपशान्त ने कहा—

(छंद वसन्ततिलका)

दृष्टीविषेण महता प्रदहामि मेरुं
भस्मीकरोमि सलिलं च महोदधीनां ।
बोधिं च पश्य श्रमणं च अहं हि तात
दृष्ट्या यथाद्य उभयं हि करोमि भस्मं ॥985॥

आँखों के महाविष से सुमेरु को जला सकता हूँ, और महासागरों के जल को राख बना सकता हूँ। हे तात, देखो, आज मैं बोधि (–वृक्ष) और श्रमण (–गौतम) दोनों को दृष्टि से जिस प्रकार भस्म करता हूँ।

26. दाहिने (खड़े) सिद्धार्थ ने कहा—

(छंद उपजाति)

विषेण पूर्णो यदि वैष सर्वो
भवेत् त्रिसाहस्रवरः प्रदीप्तः।
निरीक्षणादेव गुणाकरस्य
सुनिर्विषत्वं विषमभ्युपेयात् ॥986॥

यदि समूचा उत्तम त्रिसाहस्र (–लोक) विष से भर कर जल उठे तो भी (उन) गुणाकर के देखने भर से विष पूर्णरूप से निर्विष हो जायेगा।

(–313) विषाणमुग्रं त्रिभवेह यच्च
रागश्च दोषश्च तथैव मोहः।
ते तस्य काये च तथैव चित्ते
नभे यथा पंकरजो न सन्ति ॥987॥

तीनों भवों के बीच यहाँ पर विषों में जो प्रचंड विष राग, दोष (द्वेष) और मोह हैं, वे उनके शरीर और मन मे उसी प्रकार नहीं लगे है, जिस प्रकार आकाश में धूल और कीचड़ नहीं लगते।

(काये च वाचाय विशुद्ध चित्ते
सर्वेषु सत्त्वेषु च मैत्रचेतः।
न तं च शस्त्राणि विषाणि हिंसे)
तस्मान्निवर्तामहे तात सर्वे ॥987क॥[10]

(वे) शरीर, वाणी, और मनमें अत्यन्त शुद्ध हैं, सब प्राणियों में (उनका) चित्र मैत्रीवाला है। शस्त्र और विष उनकी हिंसा नहीं कर सकते, इसलिए, हे तात, (हम) सब लौट चलें।

---

10. तुलनीय भोट, **स्कु दङ् ग्सङ् दङ् थुग्स् क्यङ् रब तु दग्, सेम्स् चन् कुन् ल ब्यम्स् प हि थुग्स् दङ् ल्वन्। दे ल म्छोन् दङ् दुग् गिस् योङ् मि छुग्स्, देबस् यब् चिग् थम्स् चद् ब्झ्लोग् तु ग्सोल्।**

27. बाएँ (खड़े) रतिलोल नामक (मारपुत्र) ने कहा—

(छंद मोदकगाथा भ भ भ र प्रायः)

अहु तूर्यसहस्र प्रवादितैर्
अप्सरकोटिसहस्र अलंकृतैः ।
लोभयित्वान नेष्ये पुरोत्तमं
कामरतिं हि करोमि वसे तवे ।। 988 ।।

मैं सहस्रों बाजे बजवा कर, कोटि-सहस्र अलंकृत, अप्सराओं द्वारा ललचवा कर, उत्तम नगर में ले जाऊँगा और कामान्दी को तुम्हारे वश में कर दूँगा।

28. दाहिने (खड़े) धर्मरति ने कहा—

(छंद दोधक)

धर्मरती सद तस्य रतीहा ध्यानरती अमृतार्थरतिश्च ।
सत्त्वप्रमोक्षमैत्ररतिश्च रागरतिं=231क=सरतिं न करोति ।।989।।

यहाँ सर्वदा उनकी रति धर्मरति है, ध्यानरति है, अमृतार्थ (--निर्वाण) रति है, प्राणिविमोक्षरति है, तथा मैत्रीरति है । कामरति में वे रति नहीं मानते ।

29. बाएँ (खड़े) वातजव नामक (मारपुत्र) ने कहा—

(छंद उपजाति)

जवेन ऽहं चन्द्ररवी ग्रसेयं
प्रवायमानं गगने च वायुं ।
अद्यैव तात श्रमणं गृहीत्वा
[11]प्रा (?घा) सस्य मुष्टिं-वि[11] किरामि वायुं ।।990।।

मैं अपने वेग से चन्द्र और सूर्य को हड़प सकता हूँ, आकाश में जोर से चलने वाली वायु को भी हड़प सकता हूँ । हे तात, आज श्रमण को पकड़ कर हवा से घास की मूठ की भाँति तितर-बितर कर देता हूँ ।

---

11. मूल, प्रासस्य मुष्टि वि० । यहाँ भोट, फुङ् म ब्शिन् (=घासस्य मुष्टिमिव) है । प्रास यदि वस्तुतः प्राश है, तो भोजन का वाचक है । वह भोजन पशु का हो तो घास ही है । मनुष्य का हो तो अन्न है । प्रास शब्द भी वस्तुतः हस्तलेख के प्रस का शोधित रूप है । द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० में प्रास शब्द । वि पालि के विय का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है । यहाँ यह उपसर्ग नहीं है ।

30. दाहिने अचलपति नामक मारपुत्र (खड़ा) था। वह यों बोला—

यथा तवैषो जववेग उग्रः
तद्वद्यदि स्यात् सुरमानुषाणां।
सर्वे समग्रापि न ते समर्थाः
कर्तुं रुजामप्रतिपुङ्गलस्य ।।991।।

तुम्हारा जव एवं वेग जैसा उग्र है, वैसा ही यदि देवताओं तथा मनुष्यों का हो जाय, (और) वे सभी एक हो जाएँ, तो भी (उन) असाधारण पुरुष को पीड़ा नहीं पहुँचा सकते।

31. बायें (खड़े) ब्रह्ममति (? मन्दमति) ने कहा—

स्यात् तादृशानामपि वृन्द्रमुग्रं
कुर्यान्न किंचित् तव मानघातं।
प्रागेव सैकः प्रकरोति किं ते
वृन्देन साध्यन्ति हि सर्वकार्या ।।992।।

उन जैसों का ओजस्वी दल-बल हो, तो भी तुम्हारी रंच भर मानहानि नहीं कर सकता। वे अकेले तुम्हारा कुछ कर सकें, इसकी बात ही क्या? सब कार्य तो दल-बल से साधे जाते हैं।

32. दाहिने (खड़े) सिंहमति ने कहा—

(-314-) न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वं
दृष्टीविषाणामपि नास्ति वृन्दं।
तेजस्विनां सत्यपराक्रमाणां
पुरुषर्षभाणां अपि नास्ति वृन्दं ।।993।।

धरती पर सिंह का रेवड़ पहले कभी नहीं देखा गया, दृष्टिविष वाले साँपों का भी झुण्ड नहीं होता है, तेजस्वी, सच्चे पराक्रमी, पुरुषोत्तमों का भी दल-बल नहीं हुआ करता।

33. बायें (खड़े) सर्वचण्डाल नामक (मारपुत्र) ने कहा—

न ते श्रुता तात गिरो ऽभिदीप्ता
यथा नदन्ते तनयास्तवेमे।
वीर्येण वेगेन बलेन युक्ता
व्रजाम शीघ्रं श्रमणं निहन्तुं ।।994।।

हे तात, वीर्य से, वेग से, बल से युक्त तुम्हारे ये पुत्र जिस प्रकार तेजस्विनी बातें कह कर गरज रहे हैं, उन्हें क्या तुमने नहीं सुना? श्रमण को मारने के लिए चलो जल्दी चलें।

34. = 231ख = दाहिने (खड़े) सिंहनादी नामक (मारपुत्र) ने कहा—

बहवः शृगाला हि वनान्तरेषु
नदन्ति नादान् न– सतीह सिंहे।
ते सिंहनादं तु निशाम्य भीमं
त्रस्ता पलायन्ति दिशो दशासु ॥995॥

सिंह के न होने पर जंगलों के भीतर बहुत से सियार हुआ-हुआ करते रहते हैं। पर वे भयंकर सिंह नाद सुन कर डरे-डरे दसों दिशाओं में भागने लग जाते हैं।

मारौरसास्तद्वद्मी अपण्डिताः
अश्रुत्व नादं पुरुषोत्तमस्य।
नदन्ति तावत्स्वमता ऽतिधृष्टाः
मनुष्यसिंहे नदिते न– सन्ति ॥996॥

ये अपण्डित मारपुत्र पुरुषोत्तम का नाद न सुन कर, पुरुष सिंह के नाद करते पर, अत्यन्त ढीठ बने अपनी मनमानी से नारे लगा रहे हैं।

35. बाएँ पासे से दुश्चिन्तितचिन्ती ने कहा—

यच्चिन्तयामि तदिहासु भोति
कथ न एषो इम वीक्षते च।
मूढो व एषो अनभिज्ञ किंवा
यदुत्थिहित्वा न पलायते लघुं ॥997॥

यहाँ जो सोचता हूँ, वह शीघ्र हो जाता है। कैसी बात है कि ये इन (मार सैनिकों) को नहीं देखते, जल्दी उठ कर नहीं भागते। क्या ये मूढ़ हैं अथवा अनजान हैं ?

36. दाएँ पासे से सुचिन्तितार्थ नामक (मारपुत्र) ने कहा—

मूढो न वायं अपराक्रमो वा
युष्मेव मूढाश्च असंयताश्च।
न युष्मि जानाथ इमस्य वीर्यं
प्रज्ञाबलेनास्य जिता स्थ सर्वे ॥998॥

ये नतोमूढ़ हैं और न अपराक्रमी। तुम्ही मूढ़ और असंयमी हो। इनके वीर्य को तुम नहीं जानते। इनके प्रज्ञाबल से (तुम) सब जीते जा चुके हो।

मारात्मजानां यथा गङ्गवालिका
एतेन वीर्येण यथैव यूयं।
रोमस्य एकं न समर्थ चालितुं
प्रागेव यश्चिन्तयि घातयिष्ये ॥999॥

(तुम) मारपुत्रों की (संख्या) गंगा की बालुका जैसी हो, (फिर भी) तुम इस—जैसे वीर्य से, (उनका) एक बाल भी बाँका नहीं कर सकते। (उन्हें) मार डालूँगा, (ऐसा) जो सोच सके, (उसका) कहना ही क्या ?

मा यूयमत्र क्षिणुयात मानसं
प्रसन्नचित्ता भवथा सगौरवाः।
निवर्तया मा प्रकरोथ विग्रहं
भविष्यते ऽसौ त्रिभवेस्मि राजा ॥1000॥

यहाँ तुम (अपना) मन मारो, चित्त से (उनपर) प्रसन्न हो जाओ, गौरव के साथ रहो, वे तीनों भवों के राजा होंगे, लड़ाई मत करो, लौट चलो।

37. संक्षेप यह है कि इस प्रकार पूरे के पूरे मार के हज़ार बेटों में जो शुक्लपक्षी थे = 232क = और जो कृष्णपक्षी थे, उन सबने बड़े पापी मार से गाथाओं द्वारा कहा।

38. (–315–) इसके अनन्तर बड़े पापी मार का भद्रसेन नामक जो सेनापति था, उसने गाथाओं द्वारा बड़े पापी मार से कहा—

(छंद आर्या)

ये ते तवानुयात्राः शक्रो पालाश्च[12] किन्नरगणाश्च।
असुरेन्द्राः गरुडेन्द्राः कृताञ्जलिपुटाः प्रणत तस्मै ॥1001॥

इन्द्र, (लोक-) पाल, किंनरगण, असुरेन्द्र तथा गरुडेन्द्र जो भी तुम्हारे पिछलग्गू हैं, वे अंजलि बाँधे उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

किं पुनरनानुयात्रा ब्रह्मा आभास्वराश्च सुरपुत्राः।
देवाश्च शुद्धवासकास्तेऽपि च सर्वे प्रणत तस्मै ॥1002॥

(जो तुम्हारे) पिछलग्गू नहीं हैं, उन ब्रह्माओं, अभास्वर-देवपुत्रों तथा शुद्धावासकायिक देवताओं का कहना ही क्या ? वे भी सब उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

ये च तवेमे पुत्राः प्रज्ञा मेधाविनश्च बलिनश्च।
ते बोधिसत्त्वहृदयं अनुप्रविष्टा नमस्यन्ति ॥1003॥

ये जो तुम्हारे प्रज्ञावन्त, बुद्धिमन्त और बलवन्त पुत्र हैं, वे बोधिसत्त्व के मन से मन मिलाए हुए, (उन्हें) नमस्कार कर रहे हैं।

---

12. मूल, (लोक) पालाश्च। भोट, स्क्योङ् (= पालाः, च को संधि के साथ पालाश्च)।

याप्येष मारसेना अशीति स्फुट योजनानि यक्षाद्यैः।
भूयिष्ठ सर्व प्रेक्षी प्रसन्नमनसो हि निर्दोषं ॥1004॥

यह जो अस्सी योजनों तक व्याप्त यक्ष-आदि के सहित मारसेना हैं, बहुत-बहुत प्रसन्न-चित्त हो, (उन) पूर्ण-निर्दोष को देख रही है।

दृष्ट्वा यथा सुभीमां रौद्रां विकृतां चमूमिमां घोरां।
न च विस्मितो न चलितो ध्रुवमस्य जयो भवत्यद्य ॥1005॥

यह अत्यन्त भयानक, प्रचण्ड, बीभत्स, घोर सेना देखकर भी ये जिस प्रकार अविस्मित और अविचलित हैं, (उससे जान पड़ता है कि) आज इनकी निश्चय ही जय होगी।

स्थित यत्र च सेनेयं तत्र उलूकाः शिवाश्च विरुवन्ति।
वायसगर्दभरुदितं निर्वतितव्यं क्षमं शीघ्रं ॥1006॥

जहाँ यह सेना खड़ी है, वहाँ उल्लू और सियार बोल रहे हैं, कौए और गधे रो रहे हैं। जल्दी लौटना (ही) उचित है।

वीक्षस्व बोधिमण्डे पटुक्रोञ्चा=232ख=हंसकोकिलमयूराः।
अभिदक्षिणं करोन्ति ध्रुममस्य जयो भवत्यद्य ॥1007॥

बोधिमण्डप की ओर देखो, स्वस्थ क्रौञ्च, हंस, कोकिल और मयूर सामने की ओर से प्रदक्षिणा कर रहे हैं। आज निश्चय (ही) इनकी जय होगी।

यत्र स्थित सेनेयं तत्र मसिः पांशवाश्च वर्षन्ति।
महिमण्डि कुसुमवृष्टिः कुरुष्व वचनं निवर्तस्व ॥1008॥

जहाँ यह सेना खड़ी है, वहाँ धूल-काजल की वर्षा हो रही है। धरती पर (बोधि--) मण्डप की जगह पुष्पवृष्टि हो रही है। कहा करो, लौट चलो।

यत्र स्थित सेनेयं उत्कुलनिकुल शल्यकण्टकाकीर्णं।
महिमण्डि कनकनिर्मलु निर्वतितव्यं क्षमं प्राज्ञैः ॥1009॥

जहाँ यह सेना खड़ी है, (वहाँ) ऊँचा-नीचा है, कील-काँटे बिखरे हुए हैं। धरती पर (बोधि-) मण्डप की जगह सुवर्ण-जैसी निर्मल है। बुद्धिमानों के लिए लौट चलना (ही) उचित है।

दृष्टा ते सुपिनि पूर्वे भेष्यसि प्रत्यक्षु यदि न गच्छासि।
भस्मं चमू च करिष्यति ऋषिभिर्देशा कृत या भस्मं ॥1010॥

तुमने पहले स्वप्न देखे हैं, (उन्हें) प्रत्यक्ष देखोगे, यदि न लौट चलोगे। (वे) सेना को (वैसे ही) भस्म करेंगे, जैसे ऋषियों ने देशों को भस्म किया था।

(–316–) राजा यतो ऋषिवरो रोषितु आसीत् स ब्रह्मदत्तेन ।
उद्दग्ध दण्डकवनं वर्षैर्बहुभिस्तृण न जाता ॥1011॥

राजा ब्रह्मदत्त ने ऋषिवर को नाराज़ किया था, उन्होंने दण्डकारण्य (शाप देकर) जला डाला। बहुत बरसों तक (वहाँ) तिनके (भी) न उगे।

ये केचि सर्वलोके ऋषयो व्रतचारिणस्[13] तपोयुक्ताः ।
तेषामयं प्रधानो ह्यहिंसकः सर्वभूतानां ॥1012॥

संपूर्ण जगत् में व्रत करने वाले तपस्वी जो भी ऋषि हैं, उनमें, सब प्राणियों के अहिंसक होने के कारण ये प्रधान हैं।

किं ते न श्रुत पूर्वं काये दीप्ता सुलक्षणा यस्य ।
निष्क्रामति चागारात् स भवति बुद्धो जितक्लेशः ॥1013॥

क्या तुमने पहले नहीं सुना कि जिसके शरीर पर चमकते हुए सुन्दर (बत्तीस) लक्षण होते हैं, वह यदि घर से निकलता है, तो क्लेशों को जीतने वाला बुद्ध होता है।

इम ईदृशी विभूति पूजार्थं निर्मिता जिनसुतेभिः ।
तं नूनमग्रसत्त्वो ह्यग्राहुतिसंप्रतिग्राही ॥1014॥

बोधिसत्त्वों ने पूजा के लिए इस प्रकार की यह विभूति (ऋद्धि बल से) बनाई है। इससे यह निश्चित है कि (ये) अग्रसत्त्व अग्रपूजा पाने के अधिकारी हैं।

ऊर्णा यथा सुविमला विराजते क्षेत्रकोटिनयुतेषु ।
जिह्मीकृता स्म च तया निसंशयं एष मारबल हन्ता ॥1015॥

जिस प्रकार, अत्यन्त निर्मल ऊर्णा कोटि—खर्ब-खर्ब (बुद्ध-) क्षेत्रों में विराज रही है, उससे (हम सब) निष्प्रभ हो गए हैं, (उससे स्पष्ट है कि) ये निःसन्देह मारबल को ध्वस्त करेंगे।

=233क=मूर्ध्नं यथास्य देवैर् द्रष्टु[14] न शक्यं च[14] वै भवाग्रस्थैः ।
नूनं सर्वज्ञत्वं प्राप्स्यत्यन्यैरनुपदिष्टं ॥1016॥

जिस प्रकार, भव की चोटी पर खड़े देवता भी इनका माथा निहारने की हिम्मत नहीं करे, (उससे प्रकट है कि) निश्चय ही, दूसरों द्वारा उपदेश न दी गई सर्वज्ञता को (ये) प्राप्त करेंगे।

---

13. मूल, (भूयो) व्रतचारिणस् । भोट, ब्रुल् शुग्स् स्प्योद् प पो (=व्रतचारिणः)।

14....14. मूल, न शक्यं न । भोट, मि नुस् (=न शक्यं)। दो निषेधवाचक होने से अर्थ संगति नहीं बैठती।

यथ मेरुचक्रवाडाश्चन्द्रासूर्यश्च शक्रब्रह्माणः।
वृक्षाश्च पर्वतवराः प्रणते सर्वे महीमण्डं ॥1017॥
निःसंशयु पुण्यबली प्रज्ञाबलवांश्च ज्ञानबलवांश्च।
क्षान्तिबल[15] वीर्यबलवान् अबलं कर्ता नमुचिपक्षां ॥1018॥

जिस प्रकार-सुमेरु, चक्रवाल(-पर्वत), चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, वृक्ष तथा श्रेष्ठ पर्वत सब के सब धरती पर के (बोधि--) मण्डप को प्रणाम कर रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) पुण्य के बली, प्रज्ञा में बलवान्, ज्ञान में बलवान्, क्षान्ति (=क्षमा) बल के, वीर्य (=उद्योग) में बलवान् ये नमुचि (=मार) के पक्ष (-पातियों) को बलहीन कर देंगे।

हस्ती यथामभाण्डं प्रमर्दते क्रोष्टुकान् यथा सिंहः।
खद्योतं वादित्यो भेत्स्यति सुगतस्तथा सेनां ॥1019॥

जैसे हाथी कच्ची हाँड़ी का, जैसे सिंह सियारों का अथवा जैसे सूर्य जुगुनू का मर्दन करता है, वैसे ही (ये) सुगत (मार--) सेना का मर्दन करेंगे।

39. यह सुन कर (एक) दूसरा मारपुत्र रोष से लाल-लाल आँखें करके बोला—

(छंद उपजाति)

एकस्य वर्णान् अति-अप्रमेयां
प्रभाषसे तस्य त्वमेकस्य।
एको हि कर्तुं खलु किं समर्थो
महाबला पश्यसि किं न भीमा ॥1020॥

तुम उन एक की--अकेले की बहुत बे-माप बड़ाई--पर बड़ाई बखान रहे हो, पर एक कर ही क्या सकता है ? इस भयंकर महासेना को क्यों नहीं देखते।

40. इसके अनन्तर दाहिने पास से प्रमर्दक नाम के मारपुत्र ने कहा—

(-317-) सूर्यस्य लोके न सहायकृत्यं
चन्द्रस्य सिंहस्य न चक्रवर्तिनः।
बोधौ निषण्णस्य च निश्चितस्य
न बोधिसत्त्वस्य सहायकृत्यं ॥1021॥

जगत् में न सूर्य को सहायक द्वारा कुछ करना होता है, न चन्द्रमा, सिंह, और चक्रवर्ती को और न बोधि के निमित्त निश्चय करके बैठे हुए बोधिसत्त्व को (ही) सहायक द्वारा कुछ करना होता है।

---

15. मूल, क्षान्तिबल(वांश्च)। भोट, ब्ज़ोद् प हि. स्तोब्स् (=क्षान्तिबलः)। वांश्च की वृद्धि केवल छन्दोभंग करती है।

41. इसके अनन्तर मार को दुर्बल करने के लिए, बोधिसत्त्व ने सौ पंखड़ियों वाले खिले कमल के समान अपने वदन को इधर-उधर घुमाया, जिसे देखकर बड़ा पापी मार भागने लगा। उसे लगा कि मेरी सेना बोधिसत्त्व के[16] वदन में घुस गई है[16]=233ख=[17] दौड़ता हुआ कुछ नहीं है[17] यह (देख) फिर, लौट कर, परिवार सहित नाना प्रकार के हथियार बोधिसत्त्व पर छोड़े। (उसने) सुमेरु के बराबर जो पर्वत बोधिसत्त्व के ऊपर फेंके, वे फूलों के चँदवे पर, विमान बन कर, ठहर गए। और जो देखने भर से विष चढ़ाने वाली, शीघ्र विष चढ़ाने वाली, साँस लेने भर से विष चढ़ाने वाली, अग्निज्वालाएँ उसने छोड़ीं, वे अग्नि की ज्वालाएँ मंडल बन कर बोधिसत्त्व के प्रभामण्ड जैसी होकर ठहर गईं।

42. इसके अनन्तर, फिर बोधिसत्त्व ने दाहिना हाथ सिर पर फेरा। मार को दिखाई पड़ा कि बोधिसत्त्व के हाथ में खाँड़ा है। वह दक्षिण की ओर मुँह करके भागने लगा। कुछ नहीं है यह (देख) फिर लौट-लौट कर, बोधिसत्त्व के ऊपर नाना प्रकार के हथियार छोड़े (यथा—) तलवारें, धनुष, बाण, बर्छियाँ, तोमर (=लोहे की नोक से युक्त बाँस की लाठियाँ), फरसे, भुशुण्डियाँ (=अग्नि-बाण) मूसल, कटीले बर्छे, गदाएँ, चक्र, वज्र, मुद्गर, पेड़, शिलाएँ, पाश (=फाँसी लगाने की रस्सियाँ) लोहे के गोले, जो अत्यन्त भयानक थे। वे ज्यों ही फेंके गए, त्यों ही नाना प्रकार के फूलों की हार और फूलों के चँदवे जैसे बन कर =234क= ठहर गए, धरती पर फेंके गए फूलों की तरह बिखेरते हुए, और फूलों की मालाओं की तरह लटक कर बोधिवृक्ष को विभूषित करते थे। उन व्यूहों (=रचनाओं) की और (उस) विभूति को देखकर ईर्ष्या से तथा मात्सर्य (=अनुदारता) से चित्त में घायल होकर बोधिसत्त्व से बोला—हे राजकुमार, उठो, राज्यभोग करो, (बस) तुम्हारा पुण्य उतने भर के लिए है, तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति कहाँ ?

43. (–318–) इसके अनन्तर, बोधिसत्त्व ने धीर, गंभीर, उदार, स्नेह से भरी, मीठी वाणी द्वारा, बड़े पापी मार से यह कहा। हे महापापी, तूने केवल एक निरर्गल-यज्ञ करके कामेश्वरता (=कामधातु के लोकों की प्रभुता) पाई है, पर

16....16. मूल, वदनंप्रतिष्ठेति (=वदन में ठहरी है)। भोट, पाठ भी इसी पाठ का समर्थक है—**ख हि. नङ् दु शुगस् सो**। वदनं प्रविष्टेति पाठ मान कर यहाँ अनुवाद।

17....17. मूल, प्रपलानः। भोट, **ब्रोस् नस् क्यङ् चि ह.म् म यिन् नो** (=प्रपलानः न किंचिदिति)। भोट-पाठानुसार यहाँ अनुवाद है।

मैंने अनेक कोटि-खर्बों के शतसहस्र निरर्गल-यज्ञ किए हैं, हाथ, पैर, नेत्र, उत्तम अंग (सिर) काट-काट कर दिए हैं, घरबार, धन, धान्य, सेज-पलंग, सैर करने के बाग-बगीचे अनेक बार दिए हैं, (केवल-एक मात्र) प्राणियों के मोक्ष प्राप्त कराने के उद्देश्य से।

44. इसके अनन्तर बड़े पापी मार ने गाथा द्वारा बोधिसत्त्व से कहा—

(छंद उपजाति)

यज्ञो मयेष्टस्त्वमिहात्र साक्षी
निरर्गडः पूर्वभवे ऽनवद्यः।
तवेह साक्षी न तु कश्चिदस्ति = 234ख =
किंचित् प्रलापेन पराजितस्त्वं ॥1022॥

पहले के भव (=जन्म) में प्रशंसा के योग्य निरर्गल यज्ञ मैंने किया है, यहाँ इस विषय में तुम साक्षी हो। यहाँ तुम्हारा साक्षी तो कोई नहीं है। कहने (भर) से क्या? तुम पराजित हो।

45. बोधिसत्त्व ने कहा—हे महापापी, यह पृथिवी मेरी साक्षिणी है।

इसके बाद मार तथा मार की मण्डली को मैत्री और करुणा से समन्वित चित्त द्वारा व्याप्त कर, (स्वयं) सिंह के समान निडर, बिना घबराहट के, बिना निश्चेष्टता के, अदीन, अलीन, अव्याकुल, बिना अस्तव्यस्तता के, भय के कारण होने वाले रोमाञ्च से रहित बोधिसत्त्व ने शंख, ध्वजा, मछली, स्वस्तिक, अंकुश एवं चक्र के चिह्नों से युक्त (रेखा–) जाल के वितान (=ताने-बाने) से बाँधा हुआ, अत्यन्त सुन्दर ताँबे के समान (लाल) नखों से अलंकृत कोमल तरुण एवं सुकुमार, अनन्त कल्पों तक अपरिमित कुशलमूल (=पुण्यमूल) के संभार (=सामग्री) को सम्पन्न करने वाला अपना दाहिना हाथ सारे शरीर पर फिरा कर लीला के साथ धरती पर मारा और उस समय यह गाथा कही।—

(छंद वंशस्थ)

इयं मही सर्वजगत्प्रतिष्ठा
अपक्षपाता सचराचरे समा।
इयं प्रमाणा मम नास्ति मे मृषा
साक्षित्वमस्मि मम संप्रयच्छतु ॥1023॥

यह पृथिवी संपूर्ण जगत् का आधार है, पक्षपात-रहित है, स्थावर एवं जगम (दोनों) के लिए समान है। यह मेरी साक्षिणी है। मेरा कहना मिथ्या नहीं है—इस (विषय) में यह मेरी गवाही दे।

बोधिसत्त्व के छूने भर से, यह महापृथिवी छह प्रकार से, काँप उठी—वेग से काँप उठी—चारों ओर से सवेग काँप उठी—टनक उठी-वेग से टनक उठी—चारों ओर से सवेग टनक उठी। =235क= जिस प्रकार मगध देश की काँसे की बनी पात्री काठ की टक्कर से बजती है और गूँजती है, (–319–) उसी प्रकार यह महापृथिवी बोधिसत्त्व के हाथ की टक्कर से बज उठी और गूँज उठी।

46. [18]इसके अनन्तर, इस[18] त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में स्थावरा नाम की (जो) महापृथिवी देवता थी, उसने कोटि-शत पृथिवी-देवताओं के परिवार के साथ, संपूर्ण महापृथिवी को चारों ओर से सवेग कँपा कर, बोधिसत्त्व से थोड़ी दूर पर, पृथिवी के तल को भेद कर, आधा शरीर ऊपर निकाल कर, सब अलंकारों से सजे-धजे शरीर को, जिस ओर बोधिसत्त्व थे, उस ओर झुका कर, अञ्जलि बाँध कर, यह कहा—हे महापुरुष, यही बात है, (ठीक) यही बात है, जैसा तुमने कहा, वह हम (–सब) को प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त हे भगवन्, देवताओं के सहित इस लोक के तुम्हीं सबसे बड़े सच्चे साक्षी हो, सच्चे प्रमाण हो। ऐसा कह कर, महापृथिवी की देवता स्थावरा बड़े पापी मार को अनेक प्रकार से फटकार कर, बोधिसत्त्व की बहुत-बहुत स्तुति कर, अपना त्रिविध प्रभाव दिखला कर, परिवार सहित =235ख= वहीं पर अन्तर्हित हो गई।

(छंद वसन्ततिलका)

तं श्रुत्व मेदिनिरवं स शठः ससैन्यः
उत्त्रस्त भिन्नहृदयो प्रपलान् सर्वे।
श्रुत्वे सिंहनदितं हि वने शृगालाः
काकाव लोष्टुपतने सहसा प्रणष्टाः ॥1024॥

उस पृथिवीघोष को सुन कर सेना के सहित वह वंचक घबराया, (उसका) हृदय फटने लगा, (वह) सब ओर (उस प्रकार) भागने लगा, जिस प्रकार वन में सिंहनाद सुनते ही शृगाल भागते हैं, जिस प्रकार ढेला फेंकने पर अकस्मात् कौए नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं।

47. इसके अनन्तर, बड़ा पापी मार दुःखी हुआ, अनमन हुआ, मन में अप्रसन्न हुआ, मान के ऊपर चोट पड़ने से लजा गया, न हिला-डुला, न लौटा, न भागा। फिर पीछे मुँह फेर खड़े होकर सेना से संबोधन कर कहा—आप सब

18....18. मूल, अथ खलु यस्यां। यदि यह पाठ अथ खलु-य्-अस्यां हो तो अर्थ संगत है। **अस्यां** से पूर्व यकारागम मुखसुखार्थ है। यहाँ **यस्यां यत्**—सर्वनाम का रूप नहीं है। भोट में इसका अनुवाद **ह्. दि न** (=अस्यां) शब्द से होना भी यही बतलाता है।

लोग एकसाथ मुहूर्त भर (तब तक) ठहरें, जब तक हम जान लें कि क्या इन्हे अनुनय-विनय से उठाया जा सकता है, इस प्रकार के पुरुषरत्न का यों ही नाश न हो।

48. (--320) इसके अनन्तर बड़े पापी मार ने अपनी पुत्रियों से कहा। तुम (--सब) कन्यकाओं, जाओ, बोधिमण्डप पर पहुँच कर, बोधिसत्त्व के विषय में जानने की चेष्टा करो कि वे रागी हैं, अथवा वैरागी? ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी? अन्धे (= दिशामूढ़) हैं अथवा दिशाओं के अभिज्ञ हैं? अथवा अर्थ-परायण (अपने मतलब से मतलब रखने वाले) हैं? दीन हैं अथवा धीर हैं? इस वचन को सुन कर वे अप्सराएँ जहाँ बोधिमण्डप था, और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचीं। पहुँच कर, बोधिसत्त्व के सामने ठहर कर (उन्होंने) बत्तीस प्रकार की स्त्री माया को दिखाया। बत्तीस प्रकार की कौन सी (माया)? यथा—=236क= 1 कोई अपना आधा बदन ढकती थी, 2 कोई ऊँचे-ऊँचे ठोस पयोधरों को दिखलाती थीं 3 कोई आधी-आधी हँसी हँस कर दन्तपंक्ति दिखलाती थीं, 4 कोई बाँहें उठा कर जँभाई ले-ले अपनी काँखें दिखलाती थीं, 5 कोई बिम्बा फल के समान (अपने लाल-लाल) होठों को दिखलाती थीं, 6 कोई अध-खुली[1] आँखों से बोधिसत्त्व को देखती थीं, देख कर (फिर उन्हें) झट-पट मूँद लेती थीं, 7 कोई आधे ढँके पयोधरों को दिखलाती थी, 8 कोई करधनी के साथ वस्त्र खिसका कर (अपनी) कमर को दिखलाती थीं, 9 कोई करधनी के साथ पहने हुए पतले वस्त्र में से (चमकती हुई) कमर दिखलाती थीं, 10 कोई पायजेबों की रुनझुन धुन करती थीं, 11 कोई पयोधरों के बीच एकलड़ की माला को दिखलाती थीं, 12 कोई अपनी नंगी आधी जाँघें दिखलाती थीं, 13 कोई सिर-कन्धों पर पत्रगुप्त, शुक और सारिकाओं को बिठा कर दिखाती थीं, 14 कोई आधे कटाक्षों से (आधी तिरछी चितवनों से) बोधिसत्त्व को देखती थीं, 15 कोई भलीभाँति पहने वस्त्रों को भी बेढंगे-ढंग से पहनती थीं, 16 कोई कमर मटकाती थीं और करधनी हिलाती-डुलाती थीं, 17 कोई घबराई जैसी लीला के साथ इधर-उधर चलती फिरती थीं, 18 कोई नाचती थीं, 19 कोई गाती थीं, 20 कोई विलास (=शृंगार के खेल-कूद) करती थीं और=236ख=लजाती थीं, 21 कोई पवन से हिलते हुए केलों के समान अपने अंगों को कँपाती थीं, 22 कोई गम्भीर (--321--) ध्वनि करती थीं, 23 कोई घुँघरूवाल करधनी और वस्त्र पहने हँसती-हँसती घूम रही थीं, 24 कोई (अपने) वस्त्र और आभूषण धरती पर छोड़ती थीं, 25 कोई गुप्त अंग प्रकाशित हो

1. अक्षरार्थ अधमुँदी (अर्धनिमीलितैः)।

जाएँ—इस प्रकार सब आभूषणों को दिखलाती थीं, 26 कोई सुगन्धित (चन्दन आदि) लेप लगी (अपनी) बाँहों को दिखलाती थीं. 27 कोई सुगन्धित (चन्दन आदि) लेपों की कूँड़ियाँ दिखलाती थीं, 28 कोई घूँघट से बदन छिपाती थीं, और क्षण-क्षण में (उघाड़ कर) दिखाती थीं, 29 कोई पहले के हँसी-ठट्ठों की, रति की एवं क्रीड़ की सुरति कराती थीं, और फिर लजाती हुई सी रुक जाती थीं, 30 कोई अपने कुँवारे रूपों को, (कोई) सन्तान न उत्पन्न हुए रूपों को, (कोई) मध्यम (वयस के) स्त्री रूपों को दिखलाती थीं, 31 कोई कामभाव सहित बोधि-सत्त्व से बात करती थीं, और 32 कोई बोधिसत्त्व पर खिले फूलों को बरसाती थीं। सामने ठहर कर (वे) बोधिसत्त्व का भीतरी अभिप्राय जानना चाहती थीं। (उनका) बदन देखती थीं (और भाँपती थीं कि) क्या ये प्रेम भरी आँखों से देखते हैं अथवा आँखें दूर फेंकते हैं, आँखें चलाते हैं अथवा नहीं चलाते हैं। उन्होंने देखा कि बोधिसत्त्व का बदन शुद्ध, राहु से मुक्त पूर्ण चन्द्रमंडल के समान निर्मल सूर्य =237क= के समान उदीयमान, सुवर्णमय यूप के समान (चमकता हुआ) सहस्र-दल कमल के समान खिला हुआ, आहुति पड़े अनल के समान (दीप्त), मेरु के समान अचंचल, चक्रवाल के समान उन्नत है। (उनकी) इन्द्रियाँ सुरक्षित हैं। उनका चित्त हाथी के समान अत्यन्त विनीत है।

49. इसके अनन्तर वे मारकन्याएँ अधिकाधिक बोधिसत्त्व को ललचाती हुई गाथाओं में बोलीं—

(छन्द तोटक)

सुवसन्तके ऋतुवर आगतके
रमिमो प्रिय फुल्लितपादपके।
तव रूप सरूप सुशोभनके
वसवर्ति सुलक्षण चित्रितके ॥1025॥

उत्तम, सुन्दर, फूले हुए पेड़-पौधों वाला ऋतु वसन्त आ गया है, हे प्रिय, (हम) रमण करें। तुम्हारा रूप सुन्दर रूप है, अत्यन्त शोभावाला है, सुलक्षणों से चित्रित है, (देखने वालों को) अपने वश में कर लेता है।

(--322--) वय जात सुजात सुसंस्थितिकाः
सुखकारण देवनराण सुसंस्तुतिकाः।
उत्थि लघुं परिभुञ्ज सुयौवनिकं
दुल्लभ (?दुर्लभ) बोधि निवर्तय मानसकं ॥1026॥

हम उत्तम जाति में उत्पन्न हुई हैं, सुन्दर आकारवाली हैं, सुन्दर, सब ओर से, (हमारी) स्तुति (की जाती) है कि (हम) देवताओं और मनुष्यों के सुख की निदान हैं। उठो, जल्दी (किसी) सुन्दर यौवनवाली का सब प्रकार से भोग कर, बोधि दुर्लभ है। (उससे) मन फिरा लो।

प्रेक्षसि ताव इमा मरुकन्य सुलंकृतिका
तव कारण सज्जित भूषित आगतिका।
को रूपमिमं समवेक्ष्य न रज्यति रागरतो
अपि जर्जरकाष्ठ व सोषितजीवितको ॥1027॥

जरा देखो, ये सजी-धजी, बनी-ठनी, सुन्दरता से अपने को अलंकृत कर, देवकन्याएँ आई हुई हैं। (इनका) यह रूप निहार कर सड़े-गले काठ जैसा सूखे जीवन वाला भी कौन है, (जो) कामरत हो प्रेम न करने लगे।

केश मृदू सुरभीवरगन्धनिका
मुकुटा-कुण्डल-पत्र-विबोधित-आननिका ।
सुललाट सुलेपनआननिका
पद्मविशुद्धविशालसुलोचनिका ॥1028॥

(इनके) केश कोमल हैं, उत्तम सुगन्ध से सुवासित हैं, (इनके) बदन मुकुटों से, कुण्डलों से तथा पत्र-विशेषकों से खिले हुए हैं, (इनके) माथे सुन्दर हैं, चेहरों पर सुन्दर अनुलेपन लगा है, (इनके) नेत्र सुन्दर हैं, कमलों के समान अत्यन्त शुद्ध और विशाल हैं।

=237ख= परिपूरितचन्द्रनिभाननिका
बिम्बसुपक्वनिभाधरिका ।
शङ्खकुण्डहिमशुक्लसुदन्तिनिका
प्रेक्ष कान्त रतिलालसिकां ॥1029॥

हे कान्त, रति की लालसा करने वाली (इन सुन्दरियाँ को) देखो, जिनके वदन परिपूर्ण चन्द्रमा के जैसे हैं, जिनके अधर अत्यन्त पके हुए बिम्बाफल के समान हैं, जिनके सुन्दर दाँत शंख जैसे, कुन्द जैसे, हिम-जैसे श्वेत हैं।

कठिनपीनपयोधर-उद्गतिकां
त्रिवलीकृतमध्य-सुसुन्दरिकां।
जघनाङ्गन-चारुसुरित्थरिकां
प्रेक्षसु नाथ सुकामिनिकां ॥1030॥

हे नाथ, (इस) सुन्दर कामिनी को देखो, जिसके पयोधर कड़े, ठोस और ऊँचे उठे हुए हैं, जिसकी कमर अत्यन्त सुन्दर, त्रिवली से (सुसंस्–) कृत है, जिसका जघनमण्डल रमणीय और विस्तृत है ।

गजभुजसंनिभऊरणिकां
वॅलयनिरन्तरवाहुनिकां । (–323 –)
काञ्चीवरस्त्रोणिसुमण्डितिकां
प्रेक्षस्व नाथ इमा तव दासिनिकां ॥1031॥

हे नाथ, इस अपनी दासी को देखो, जिसके उरू हाथी के हाथ के समान हैं, जिसकी बाहें चूड़ियों से पूर्ण हैं, जिसकी कमर उत्तम करधनी से भलीभाँति भूषित हैं ।

हंसगतीसुविलम्बितगामिनकां
मञ्जुमनोज्ञसुमन्मथभासिनिकां ।
ईदृशरूपसुभूषिणिकां
दिव्यरतीषु सुपण्डितिकां ॥1032॥
गीतकवादितनृत्यसुसिक्षितिकां
रतिकारणजातिसुरूपिणिकां ।
यदि नेच्छसि कामसुलालसिकां
सुष्ठु वञ्चितको ऽसि भृसं खलु लोके ॥1033॥

लोक में (तुम) बहुत-बहुत बुरी तरह से वंचित हो, यदि ऐसे रूप से विभूषित (इस) रति की अत्यन्त लालसा वाली को नहीं चाहते, जिसकी गति हंस के समान मन्द-मन्द है, जिसकी बोली अत्यन्त प्रेम भरी, मन को भाने वाली और मनोहर है, जो दिव्य-रति (–लीलाओं) में अत्यन्त निपुण है, जो गाने-बजाने और नाचने में भलीभाँति शिक्षित है, जो रति के लिए (उत्तम) जाति की (=पद्मिनी) है और अत्यन्त रूपवती है ।

निधि दृष्ट्वा यथा हि पलायति को चि नरो
धनसौख्यमजानकु मूढमनो ।
त्वमपि तथैव हि रागमजाननको
य स्वयमागतिको नहि भुञ्जति कामिनिकां ॥1034॥

धन के सुख को न जानने वाला, मूढमति, कोई पुरुष जैसे निधि को देख कर भागता है, वैसे ही प्रेम से अपरिचित तुम हो, जो अपने-आप से आई कामिनी से नहीं रमण करते ।

50. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, पलक न मारते हुए, खिल-खिलाते वदन से, मुसकराते चेहरे से, चंचल इन्द्रियों से, अंगों पर बिना बनावटी भाव लाए, रोब के साथ, राग से हीन, द्वेष से रहित, = 228क = मोह से मुक्त, शैलराज के समान न विचलित होने वाले, न लीन होने वाले, न भिन्न होने वाले, न दबने वाले बोधिसत्त्व ने, प्रतिष्ठित प्रज्ञा के कारण, ज्ञान के मुख अर्थात् द्वार के अपने अधीन होने के कारण, क्लेशों के अत्यन्त ही न होने के कारण, स्निग्ध और मधुर वाणी द्वारा, ब्रह्मा से भी अधिक विशेषता वाले घोष के साथ, चटक के जैसे चहचहाने वाले मन को भाने वाले मनोहर स्वर से, गाथाओं में मारकन्यकाओं से कहा—

(छंद चतुर्दशाक्षरी गाथा)

कामा भो बहुदुःखसंचया दुःखमूला
ध्यानर्द्धीतपसं च भ्रंसनी अबुधानां।
(–324–) नरस्त्रीकामगुणेभि तृप्तितां विदु-म्-आहुः
प्रज्ञातृप्तिकरो भविष्यहं अबुधानां ॥1035॥

हे (अप्सराओं), काम दुःख के मूल हैं, बहुत दुःख बटोरने वाले हैं, अज्ञानी को ध्यान, ऋद्धि एवं तप से गिराने वाले हैं। विद्वान् (लोग) स्त्रियों के साथ काम (भोगों) के गुणों से तृप्त होने की बात नहीं करते। मैं प्रज्ञा के द्वारा अज्ञानियों का तृप्ति करने वाला होऊँगा।

कामां सेवयतो विवर्धते पुन तृष्णा
पीत्वा वै लवणोदकं यथा नरु कश्चि।
नात्मार्थे न परार्थि भोतिहा प्रतिपन्नो
आत्मार्थे च परार्थ उत्सुको भविताहं ॥1036॥

कामभोगी की तृष्णा और भी बढ़ती है, जैसे खारी पानी पीने वाले की प्यास बढ़ती है। इन (कामों) में विहार करने वाला न अपनी अर्थसिद्धि करता है, न पराई अर्थसिद्धि करता है। मैं अपनी अर्थसिद्धि की तथा पराई अर्थसिद्धि की लगन में लगा हुआ हूँ।

फेनाबुद्बुदतुल्यसंनिभं तव रूपं
मायारङ्गमिवा विथापितं स्वमतेन।
क्रीडा वै सुपिनेव अध्रुवा अपिऽनित्या
बालानां सद चित्तमोहना अबुधानां ॥1037॥

तुम्हारा रूप फेन के बुलबुले जैसा (क्षणिक) है, माया के रंग (--मंच पर खेल) के समान (वह) अपने मन का उपजाया (खेल) है। (तुम्हारे साथ) क्रीड़ा

भी स्वप्न-जैसी अनित्य है, न टिकने वाली है, (वह) सदा अज्ञानी बालकों के चित्त को मोहित करती है।

नेत्रा बुद्बुद्तुल्यसादृशा त्वचनद्धाः=238ख=
कठिनं शोणितपिण्डमुद्गतं यथा गण्डं।
उदरो मूत्रपुरीषसंचयो असुचोक्षः
कर्मक्लेशसमुत्थितो दुःखयन्त्रः ॥1038॥

नेत्र बुलबुल के जैसे खाल से मढ़े हैं, रुधिर के ये सकड़े पिंड (=पयोधर) गंड के समान निकल आए हैं, उदर अत्यन्त अपवित्र मल-मूत्र का घर है, (यह) दुःख का यन्त्र (शरीर) कर्म और क्लेश से उत्पन्न हुआ है।

संमूढा यहि बालबुद्धयो न तु विज्ञाः
शुभतो कल्पयमान आश्रयं वितथेन।
संसार बहुकाल संसरी दुःखमूले
अनुभोक्ता निरयेषु वेदना बहुदुःखा ॥1039॥

जिस आश्रय (=शरीर) में, बालबुद्धि के अत्यन्त मूढ़ लोग, असत्य (--भाव) से शुभ कल्पना करते हुए, दुःख के मूल संसार में, बहुत काल तक, भरमते रहते हैं और नरकों में बहुत दुःख की वेदनाओं का अनुभव करते हैं, (उसमें) विज्ञ लोग नहीं भटकते।

स्रोणि प्रस्रवते विगन्धिका प्रतिकूला
ऊरूजङ्घक्रमाश्च संस्थिता यथ यन्त्रं।
भूतं युष्मि अहं निरीक्षमी यथ माया
हेतुप्रत्ययः प्रवर्तथा वितथेन ॥1040॥

कमर झरती रहती है, (वह) दुर्गन्धवाली है, बुरी लगने वाली है। ऊरुओं और जाँघों द्वारा पड़ने वाले क्रम (=क़दम) यंत्र जैसे ठहरते हैं। तुम्हें मैं ठीक ठीक देखता हूँ, (तुम) माया—जैसी हो। झूठे हेतु और प्रत्यय से (तुम) चेष्ट-कर रही हो।

(–325–) दृष्ट्वा कामगुणांश्च निर्गुणां गुणहीनां
आर्यज्ञानपथस्य उत्पथां विपथांश्च।
विषपत्राग्निसमां महोरगां यथ क्रुद्धां
बाला अत्र हि मूर्छिता सुखसंज्ञाः ॥1041॥

कामगुण जो निर्गुण हैं, गुणहीन हैं, आर्यों के ज्ञानमार्ग से जिनका मार्ग उलटा है, जिनका मार्ग विरोधी है, जो विषैली पत्तियों और अग्नि जैसे एवं

महोरगों जैसे (घातक) हैं, उनमें सुख की समझ से (पड़कर) नादान (लोग ही) मूर्छित होते हैं।

कामा दासु भवोति यो नर प्रमदानां
शीले उत्पथि ध्यायि उत्पथि मतिहीनो।
ज्ञाने सो हि सुदूरि तिष्ठते रतिलोलो
योऽसौ धर्मरतिं जहित्वना रमि कामैः ॥1042॥

जो पुरुष काम के कारण प्रमदाओं का दास हो जाता है, वह मतिहीन शील से उल्टे मार्ग पर चलता है, ध्यान से उल्टे मार्ग पर चलता है। जो कोई धर्मरति छोड़ कर कामों से रमण करता है, वह (काम–) रति में चंचल हो, ज्ञान से अत्यन्त दूर ठहरता है।

नो रागेण सही वसाम्यहं न च दोषैः
नो[19] नैर्नित्यअसुभअनात्मभिर्वसि सार्धं[19] =239क=
[20]आरातीय रतीय संवसे न[20] च सार्धं
निर्मुक्तं मम चित्तु मारतो गगणे वा ॥1043॥

न मेरा राग के साथ वास है, न दोष (=द्वेष) के साथ। न मेरा न-अनित्य (=नित्य) के साथ, न-अशुभ (=शुभ) के साथ, न-अनात्मा (=आत्मा) के साथ (ही) वास है। और न मेरा आरति के साथ (अथवा) रति के साथ ही वास है। मेरा चित्त आकाश में पवन की भाँति मुक्त है।

पूर्णं सर्वजगत् त्वमीदृशैर् यदिह स्यात्
कल्पं ताभि सहा समोसृतो विहरेयं।
नो मह्य खिलं न रज्यना न च मोहो
आकाशः समतुल्यमानसा जिन भोन्ति ॥1044॥

19....19) मूल, नैर्नित्यअसुभअनात्मभिर्वसि सार्धं। भोट, **र्तग् दङ् स्धुग् दङ् ब्दग् दङ् ल्हन् चिग् ग्नस् पर ब्येद् म यिन्** (= नित्य-शुभ-अनात्मभिः सार्धं न वसामि अथवा वसेयम्) **नैर्नित्य०** का अर्थ **नानित्य०** करके यों अर्थसंगति करनी होगी–नेर्–अनित्य (= नित्य) नैर्–अशुभ (= शुभ) नैर्-अनात्म० (= आत्म)।

20....20) मूल, आरतीयरतीपसंवसेन। यहाँ पदच्छेद न करना बहुत भ्रामक है। वैद्य ने दन्त्योष्म के स्थान में तालव्योष्म किया है। उनकी सकारता पर कटाक्ष करना व्यर्थ है। मैंने जो पदच्छेद किया है, उसके लिए भोटानुवाद साधुवादार्ह है—**मि·दृगह् ब दङ् दृगह् दङ् ल्हन् चिग् ग्नस् प म यिन्** (=अरत्या च रत्या च सह न संवसानि अथक संवसे)।

यदि यह जगत् तुम-जैसियों से भर जाए, और उनके साथ पास-पास सरक कर मैं कल्प भर रहूँ, (तो भी) मुझमें न रुखाई (उत्पन्न) होगी, न राग (उत्पन्न) होगा और न मोह (ही उत्पन्न) होगा। जिनों का मन आकाश के समान (निर्लिप्त) होता है।

(छन्द रथोद्धता)

यद्यपीह रुधिरास्थिवर्जिता
देवअप्सर सुनिर्मलाः शुभाः।
तेऽपि सर्वि सुमहद्भये स्थिताः
नित्यभावरहिता अशाश्वताः ॥1045॥

यद्यपि यहाँ पर अप्सराएँ और देवता रुधिर और हड्डियों (की गंदगी) से रहित, अत्यन्त निर्मल और शुभ हैं, तो भी वे सब अत्यन्त महान् भय में पड़े हुए हैं, (वे) नित्यभाव से रहित हैं, अशाश्वत हैं (—सर्वदा एक भाव से टिकने वाले नहीं हैं)।

51. इसके अनन्तर, स्त्रियों की मायाओं में सब प्रकार से शिक्षित, वे मार-कन्यकाएँ बहुत अधिक मात्रा में प्रेम की मादकता और प्रेम के अभिमान को उपजा कर, हाव-भाव दिखा कर, अंग-अंग सजा कर, स्त्रीमाया दिखा कर, बोधिसत्त्व को लुभाने लगीं।

52. उस (विषय) में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(छन्द वंशपत्रपतित)

तृष्णऽरती रतिश्च सहिता प्रमदवर मधुरा
मारसमीरिताः सुलडिता त्वरितमुपगताः।
वायुसमीहिता किसलयास्तरुणतरुलता
नृत्तत लोभयं नृपसुतं द्रुमविटपगतं ॥1046॥

मार की प्रेरणा से अत्यन्त ललित, मिठास भरी, तृष्णा, अरति और रति (नाम की) उत्तम प्रमदाएँ साथ-साथ आकर वायु से चलित पल्लवों तथा बाल-तरुओं एवं लताओं की भाँति, नाच-नाच कर, (बोधि—) वृक्ष के नीचे बैठे राज-कुमार को लुभाने लगीं।

एष वसन्तकालसमयः प्रवर ऋतुवरो
नारिनराण हर्षणरो निहतमुरजः।
कोकिलहंसमोररविशा=239ख=द्विजगणकलिलः
काल उपस्थितोऽनुभर्ति मदनगुणरति ॥1047॥

यह अत्युत्तम वसन्त का समय है, उत्तम ऋतु है, (यह) स्त्रियों और पुरुषों को हर्षित करता है, इसमें (लोग) मृदंग बजाते हैं, कोयल, हंस और मोर (कल–) रव करते हैं, पखेरुओं की भीड़ लग जाती है। (यह) कामगुणों के साथ आनन्द लेने का समय हाथ आया है।

कल्पसहस्रशीलनिरतो व्रततपचरितो
निश्चल शैलराजसदृशस्तरुणरविवपुः।
मेघनिनादवल्गुवचनो मृगपतिनिनदो
वचनमुवाच सोऽर्थसहितां जगति हितकरः ॥1048॥

सहस्रों कल्पों तक निरन्तर शील में रमे हुए, व्रत और तप की चर्या वाले, पर्वतराज के समान निश्चल, बाल-सूर्य के जैसे शरीर के, मेघध्वनि के समान मनोहर वचन बोलने वाले, वे जगत् के हितकारी सिंहनाद करते हुए सार्थक वचन बोले।

काम विवाद वैर कलहा सरण भयकरा[21]
बालजनोपसेवित सदा बुधजनरहिता।
प्राप्तऽयु कालु यत्र सुगतैरमृतमधिगतं
अद्य भविष्य मारु जिनिया दशबलु अरहान् ॥1049॥

काम विवाद (–रूपी) हैं, वैर (–रूपी) हैं, कलह (–रूपी) हैं, सरण है— अर्थात् क्लेश से युक्त हैं, भयकारक हैं, सर्वदा इनका सेवन बालजन (=मूढ़जन) करते हैं, बुधजनों ने इन्हें त्याग रक्खा है। यह समय हाथ आया है, जिसमें सुगतों ने अमृत-लाभ किया था। आज मार को जीत कर (मैं) दशबल अर्हत् होऊँगा।

माय निर्दशयन्तिय वदं शृणु कमलमुखा
राजु भविष्यसेश्वरवरः क्षितिपति बलवान्।
तूर्यसहस्र संप्रभनिते प्रमदवरगणे
किं मुनिवेषकेन भवतो विरम रति भजा ॥1050॥

माया दिखाती हुई, (वे) बोलीं—हे कमलमुख, सुनो। (तुम) पृथिवी के अधिपति, उत्तम-ईश्वर, बलवान् राजा होओगे। सहस्रों वाद्यों द्वारा सब ओर से अलापती हुई, (इन) प्रमदाओं के बीच रमण करो। छोड़ो, तुम्हारे (इस) मुनिवेश में क्या रक्खा है।

---

21. मूल, कामविवाद वैरकल्हा मरणभय करा। यह पदच्छेद ठीक नहीं है। काम उद्देश्य पद है, अन्य सब विधेय-विशेषण हैं। मरण के स्थान में भोट, **ञोन् मोङ्स् ब्चस्** (=सरण)। रण का अर्थ यहाँ क्लेश है। सभी विधेय-विशेषण पृथक्-पृथक् पठनीय हैं।

53. (–327–) बोधिसत्त्व बोले—

भेष्यि अहं हि राजु त्रिभवे दिवि भुवि महितो
ईश्वरु धर्मचक्रचरणो दशबलु बलवान् ।
शैक्ष्यअशैक्ष्यपुत्रनयुतैः सततसमितमभिनतो
धर्मरती रमिष्यि विषयैर्न रमि रमति मनः ॥1051॥

निश्चय ही मैं तीनों भवों का राजा, देवलोक में और पृथ्वी लोक में प्रशंसित ईश्वर, धर्मचक्र चलाने वाला, दशबलों का, बली होऊँगा। शैक्ष्य और अशैक्ष्य (—अर्हत्) खर्ब-खर्ब पुत्रों द्वारा एक-साथ सर्वदा नमस्कृत हो धर्मरति से रमण करूँगा। विषयों से रम कर (मेरा) मन आनन्दित नहीं होता।

54. वे=240क= बोलीं—

याव यौवनं न गलितं प्रथमवयधरो
याव च व्याधि नाक्रामति ते न च जरा असिता ।
याव च रूपयौवनधरो वयमपि च सुखी
तावऽनुभुङ्क्ष्व कामरतयः प्रहसितवदनः ॥1052॥

जब तक (तुम्हारी) जवानी नहीं बीतती (और) नई वयस बनी है, जब तक तुम्हें व्याधि नहीं कुचलती और जरा नहीं आती तथा जब तक हम (—सब) भी रूपवती एवं जवान हैं और सुखी हैं, तब तक विहसते वदन के (तुम) कामरतियों का अनुभव करो।

55. बोधिसत्त्व बोले—

याव च दुल्ल (?र्ल) भोऽद्य लभितः क्षणवर अमृतो
याव च वर्जिताऽक्षणदुःखा[22] असुरसुरपुरे ।
याव जरा च व्याधिमरणं[23] न कुपित रिपुवं[23]
तावऽहु भावयिष्यि सुपथं अभयपुरगमं ॥1053॥

---

22. मूल, क्षणदुःखा। भोट, मि खोम् स्दुग् ब्स्ङल् (=अक्षणदुःखम्) क्षण से पूर्व अकार-लोप सूचक अवग्रह अपेक्षित है।

23....23 न कुपितरुपवं। प्रो० एड्जर्टन् रूपवंस् पढ़ने का परामर्श देते हैं (देखिए बु० हा० सं० डि० रूप शब्द) तथा रूप शब्द के अर्थ में० रूप० को लेते हैं। भोटानुसार रिपवः पाठ रुपवं के स्थान में होना चाहिए। संभवतः पाठ रिपुवं (= रिपवः) था। तुलनीय भोट, द्ग्र यिस् द्क्रुग्स् प म ग्युर् प (=न कुपिता रिपवः, रिपुभिः कुपितैर्न भूयते)।

जब तक, आज मिला दुर्लभ, अमृत एवं उत्तम क्षण (हाथ में) है, जब तक देव और असुर नगर के अक्षण-दुःख (अर्थात् अत्यन्त दीर्घ आयु होने के दुष्ट-क्षण का दुःख) दूर है, और जब तक जरा, व्याधि और मरण (–रूपी) शत्रु कुपित नहीं होते, तब तक अभयपुर (= निर्वाण) को ले जाने वाले सुन्दर मार्ग की भावना करूँगा।

56. वे बोलीं—

देवपुरालयेऽप्सरवृतस्त्रिदशपतिरिवा
यामसुयामसंतुषितके अमरवरस्तुतो।
मारपुरे च कामरतयः प्रमदवसगतः
क्रीड्यऽनुभुङ्क्ष्व अस्मभि सहा विपुलरतिकरः ॥1054॥

देवनगरी के महल में इन्द्र के समान अप्सराओं से घिरे रह कर, याम (–देवों), सुयाम (–देवों), तथा तुषित (–देवों) के लोक में उत्तम देवताओं द्वारा प्रशंसित होकर तथा कामपुर में प्रमदाओं के वश में रह कर, हम लोगों के साथ क्रीड़ा कर, विपुल रति उपजाने वाले (तुम) कामरतियों का उपभोग करो।

57. बोधिसत्त्व बोले—

(–328–) काम तृणाग्र[24]–बिन्दुचपला सरदघनसमा
पन्नगकन्यरोषसदृशा भृसभयकरणा।
शक्रसुयामदेवतुषिता नमुचिवसगताः
कोऽत्र रमेत नार्यऽभिलषिते व्यसनपरिगते ॥1055॥

काम तिनकों की नोकों पर पड़े (जल–) बिन्दु के समान टपक पड़ने वाले हैं, शरद् (ऋतु) के मेघों के समान (अस्थिर) हैं, सर्पकन्या के रोष के समान अत्यन्त भय उपजाने वाले हैं। इन्द्र, सुयाम तथा तुषित देवता मार के वश में रहते हैं। अनार्यों के द्वारा चाहे गए, दुःखों से व्याप्त इन (कामों) में कौन रमे?

---

24. मूल, तृणास॰। भोट, र्च्वं र्चे हि (=तृणाग्रस्य, तृणाग्र॰)। वैद्यजा ने तृणोस॰ शोधन उपस्थित किया है, वह विचारणीय है। भोटसाक्ष्य पर मैंने तृणाग्र॰ पाठ स्वीकार किया है।

58. वे बोलीं—

–240ख–पुष्पित पश्यिमां तरुवरां तरुणकिसलयां
कोकिलजीवजीवकरुता मधुकरविरुता ।
स्निग्धसुनीलकुञ्चितमृदु धरणितलरुहे
किन्नरसंघ[25] सेवितवने रमसु युवतिभिः ॥1056॥

इन उत्तम तरुओं को देखो, जो फूलों से लदे हैं, जिन पर नये दल लगे हैं, जिन पर कोयल कूक रहे हैं, चकोर बोल रहे हैं, और भौंरे गूँज रहे हैं। किन्नरगण से सेवित इस वन में धरती-तल से उगी चिकनी, अत्यन्त हरी-हरी, छल्लेदार घास पर, युवतियों के साथ रमण करो।

59. बोधिसत्त्व बोले—

कालवशात् पुष्पित इमे किसलयतरवो
भुक्षपिपासिता मधुकराः कुसुममभिगताः ।
भास्करु सोषयिष्यति यदा धरणितलरुहां
पूर्वजिनोपभुक्तममृतं व्यवसितमिह मे ॥1057॥

ये पत्तों के सहित पेड़ ऋतु के कारण फूले हुए हैं, भूखे-प्यासे भौंरे फूलों के पास गए हैं। धरती से उगी घास को जब सूर्य सुखा देगा, (तब भी) पूर्व-काल के बुद्धों द्वारा सेवित अमृत का मैं निश्चय से यहाँ सेवन कर सकूँगा।

60. मारकन्यकाएँ बोलीं—

प्रेक्षहि ताव चन्द्रवदना नवनडिनिनिभा
वाच मनोज्ञ श्लक्ष्ण दशना हिमरजतनिभा ।
ईदृश दुल्ल(? र्ल)भा सुरपुरे कुत मनुजपुरे
ते त्वय लब्ध ये सुरवरैरभिलषित सदा ॥1058॥

(इन) नई पद्मिनियों की सरीखी चन्द्रमुखियों को तो देखो, (कैसी-इनकी) मन भाने वाली स्नेहभरी बोली है, (कैसे इनके) दाँत हिम-जैसे, चाँदी-जैसे चमक रहे हैं। ऐसी देवनगरी में (भी) दुर्लभ है, मनुष्यनगरी में होंगी कहाँ से। जिनकी उत्तम देवता सर्वदा अभिलाषा करते हैं, वे तुम्हें मिल गई हैं।

---

25. मूल, किं नरसिंह। भोट, मि चि छोग्स् क्यिस् (=किन्नरसंघेन) मूल में किन्नरसंघ को एक पद मानने से ही अर्थ ठीक बैठता है।

61. बोधिसत्त्व बोले—

पश्यमि कायममेध्यमशुचिं कृमिकुलभरितं
जर्जरमित्वरं च भिदुरं असुखपरिगतं।
(–329–) यत्सचराचरस्य जगतः परमसुखकरं
तत्पदमच्युतं प्रतिलभे बुद्धजनमहितं ॥1059॥

(मैं) देखता हूँ—काय अमेध्य (=अपवित्र) है, अशुचि (=गंदा) है, कीटकुल से भरा है, जर्जर है, (एक दिन) चला जाने वाला है, टूट जाने वाला है, असुख से व्याप्त है। जो इस सचराचर जगत् का परम सुख करने वाला, च्युत (=पतित) न होने वाला, बुद्धिमानों से प्रशंसित पद है, उसे मुझको प्राप्त करना है।

62. (इसके अनन्तर—)

ता चतुषष्टि कामललितानि च-म्-अनुभविया
=241क=नूपुरमेखला अभिहनी विगडितवसना।
कामसराहताः समदनाः प्रहसितवदनाः
किं तव आर्यपुत्र विकृतं यदि न भजसे ॥1060॥

वे चौंसठ कामलीलाओं की अनुभवी, (अपने) वस्त्र गिरते-गिरते जैसे करती हुई नूपुरों (=पायज़ेबों) और मेखलाओं (=करधनियों) की झनकार करने लगीं। काम से भरी, कामबाण से ताड़ित, अत्यन्त हँसते बदन वाली वे बोलीं— हे आर्यपुत्र, हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो हमें नहीं भजते।

सर्वभवेषु दोष विदितोऽवचि विधुतरजा
काम ऽसिशक्तिशूलसदृशाः समधुक्षुरसमाः।
सर्पशिरोऽग्निकर्षुसदृशाः सुविदित इह मे
तेनऽहु नारिसंघ त्यजमी गुणहर प्रमदाः ॥1061॥

सब भवों के दोष जानने वाले, रजोगुण हीन (भगवान्) बोले। काम खाँड़े-जैसे, बरछी-जैसे, शूल-जैसे (घातक) हैं, मधु से लिपटे छुरे-जैसे (मीठे लगने पर भी घायल करने वाले) हैं, साँप के सिर-जैसे, आग के गढ़े-जैसे (दाहक) हैं—यह मैंने यहाँ भली भाँति जान लिया है। स्त्रियाँ गुण हरने वाली हैं, इसलिए मैं स्त्री-समूह को त्यागता हूँ।

ता बहुभिः प्रकारनयुतैः प्रमदगुणकरैः
लोभयितुं न शेकु सुगतं गजकरभगतिं*।

---

*. गजकरभ (=गजकलभ, करिकलभ) आलंकारिकों का प्रिय प्रयोग है। वामन के अनुसार प्रौढ़ हाथी—जैसे हाथी के बच्चे को करिकलभ कहते

लज्जि ह्रिरोत्रपात्तु मुनिन प्रपतिषु चरणे
गौरवु तुष्ट प्रेम जनिया स्तविषु हितकरं ॥1062॥

वे स्त्रियों के गुण दरसाने वाले बहुत से खर्ब-खर्ब प्रकारों द्वारा गजकलभ (=तरुणगज) की जैसी गति के सुगत को न लुभा सकीं। ह्री (आत्मलज्जा) और अपत्रता (=लोकलज्जा) से लजा कर मुनि के चरणों पर पड़ीं, तथा गौरव, सन्तोष एवं प्रेम उपजा कर (उन) हितकारी की स्तुति करने लगीं।

निर्मलपद्मगर्भसदृशा सरदिशशिमुखा
सर्पिहुतार्चितेजसदृशा कनकगिरिनिभा।
सिध्यतु चिन्तिता ति प्रणिधि भवशतचरिता
स्वामुपतीर्य तारय जगद् व्यसनपरिगतं ॥1063॥

हे निर्मल कमल के गर्भ के समान (कोमल), हे शरद् के चन्द्र के समान (सुन्दर), हे घी की आहुति पड़ी अग्नि के तेज के समान (तेज वाले), हे सैकड़ों जन्मों तक (–बोधि) चर्या करने वाले, तुम्हारे (मन का) सोचा हुआ संकल्प सिद्ध हो। स्वयं तर कर दुःख द्वारा सब ओर से व्याप्त जगत् को तारो।

ता कर्णिकारचम्पनिभं स्तविय बहुविधं
कृत्व प्रदक्षिणं अतिशयं गिरिरिव अचलं।
गत्व पिवुर्निपत्य शिरसा इदमवचि गिरं =241ख=
साध्वसनं[26] हि तात प्रतिघं अमरनरगुरोः ॥1064॥

वे कनेर और चम्पे जैसी (सुन्दरियाँ) बहुत प्रकार से स्तुति कर, पर्वत के समान अचल (बोधिसत्त्व) की प्रदक्षिणा कर, लौट कर (अपने) पिता को सिर से नमस्कार कर, यह वचन बोलीं—हे तात, देवताओं और मनुष्यों के गुरु (बोधिसत्त्व) के प्रति क्रोध छोड़ देना (हमारे लिए) ठीक है।

(–330–) पश्यति पद्मपत्रनयनः प्रहसितवदनो
नापि सरक्तु प्रेक्षति जनं नापि च सभृकुटिः।
मेरु चलेय सुष्य उदधि शशिरवि प्रपते
नैव स दोषदर्शि त्रिभवे प्रमदवस गमिया ॥1065॥

हैं—करिकलभशब्दे करिशब्दस्तद्रूप्यस्य (काव्यालंकारसूत्र 2।2।17)।
करी प्रौढ़कुञ्जरः, तद्रूपः कलभः करिकलभ इति (टीका)।

26. मूल, साध्वस नं। पठनीय साध्वसनं (=साधु असनं)। तुलनीय भोट, स्पङ्स् न लेग्स् (=असनं [=त्यागः] साधु)।

कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र के, अत्यन्त हँसते हुए वदन के, वे देखते हैं, (पर किसी) जन को न सराग निहारते हैं, न भौंहें (टेढ़ी) कर (सक्रोध) निहारते हैं। चाहे सुमेरु (अपने स्थान से) टल जाए, चाहे सागर सूख जाए, चाहे चन्द्र और सूर्य (आकाश से टूट कर) गिर पड़ें, पर तीनों भवों के दोषदर्शी वे प्रमदाओं के वश में नहीं जा सकते।

63. इसके अनन्तर बड़ा पापी मार इस वचन को सुन कर और भी अधिक मात्रा में दुःखी हो, दुर्मन हो, अप्रसन्न-मन हो, अत्यन्त-दूषित-मन का हो, अपनी पुत्रियों से संबोधन करके बोला। हे (पुत्रियों) बोधिमण्डप से उन्हें क्या किसी प्रकार उठाया नहीं जा सकता? (कहीं) वे मूढ़ न हों अथवा अनभिज्ञ न हों, जो तुम्हारा रूप और आकार-प्रकार नहीं देखते।

64. इसके अनन्तर वे मारकन्यकाएँ गाथाओं द्वारा अपने पिता से बोलीं—

(छंद चतुर्दशाक्षरी गाथा)

श्लक्ष्णा मधुरं च भाषते न च रक्तो
गुरुगुह्यं च निरीक्षते न च दुष्टः।
ईर्यां चर्यां च प्रेक्षते न च मूढः
काया सर्व पनेति आशयो सुगभीरः ॥1066॥

स्नेह से मधुर बोलते हैं, पर (वे) रागी नहीं हैं, बड़ा रहस्य (हम लोगों का भीतरी छल) देखते हैं, पर (उनमें) द्वेष नहीं हैं, ईर्यापथ और चर्या (अर्थात् उठने-बैठने आदि के शिष्टाचार तथा सदाचार जो हम लोगों में बनावटी हैं उन्हें वे) देखते हैं, पर मूढ़ नहीं हैं (जो फँस जाएँ), संपूर्ण काया का (वे) मूल्य आँकते हैं, उनका आशय अत्यन्त गंभीर है।

(छंद वसन्ततिलका)

निःसंशयेन विदिताः पृथु इस्त्रिदोषाः
कामैर्विरक्तमनसो न च रागरक्तः।
नैवस्त्यसौ दिवि भुवीह नरः सुरो वा
यस्तस्य चित्तचरितं परिजानयेया ॥1067॥

इसमें सन्देह नहीं कि (वे) स्त्रियों के महादोषों को जानते हैं, कामों से उनका मन विरक्त है, (वे) राग में रँगे हुए नहीं हैं। धरती पर तथा देवलोक में ऐसा मनुष्य या देवता नहीं है, जो उनके चित्तचरित्र को सब प्रकार से जान सके।

या इस्त्रिमाया उपदर्शित तत्र तात
प्रविलीयु तस्य हृदयं भवियः सरागः ।
तं दृष्ट एकमपि कम्पित नास्य चित्तं = 242क =
शैलेन्द्रराज इव तिष्ठति सोऽप्रकम्प्यः ॥1068॥

हे तात, स्त्रियों की जो मायाएँ (हमने) वहाँ पर दिखाई हैं, (उनसे) उनका हृदय गल गया होता, (यदि वे) रागयुक्त होते। उन्हें देखकर एक बार भी उनका हृदय नहीं कंपित हुआ। पर्वतराज के समान वे अकम्प्य बने रहे।

(–331–) शतपुण्यतेजभरितो गुणतेजपूर्णः
शीले तपस्मि चरितो बहुकल्पकोट्यः ।
ब्रह्म च देव शुभतेज विशुद्धसत्त्वा
मूर्ध्ना निपत्य चरणेषु नमन्ति तस्मै ॥1069॥

सैकड़ों पुण्यतेजों से भरे हुए, गुणों के तेज से पूर्ण, उन्होंने बहुत से करोड़ों कल्पों तक शीलचर्या और तपश्चर्या की है। शुभ तेज के, विशुद्ध सत्त्व (=चित्त) के, ब्रह्मगण तथा देवगण चरणों में पड़ कर, सिर से उन्हें नमस्कार कर रहे हैं।

निःसंशयेन विनिहत्य स मारसेनां
पूर्वे जिनानुमत प्राप्स्यति अग्रबोधिं ।
ताता न रोचति हि नो व रणे विवादे
बलवत्सु विग्रहु सुकृच्छ्र अयं प्रयोगः ॥1070॥

इसमें सन्देह नहीं कि वे मारसेना को पराजित कर, पहले बुद्धों द्वारा अनुमत उत्तम बोधि प्राप्त करेंगे। हे तात, तुम्हारा (उनके साथ) लड़ाई-झगड़ा हमें नहीं सुहाता। बलवानों के साथ लड़ाई मोल लेना एक बहुत बड़ा महँगा व्यापार है।

प्रेक्षस्व तात गगणे मणिरत्नचूडा
संबोधिसत्त्वनयुता स्थित गौरवेण ।
रत्नाकरा कुसुमदामविचित्रिताङ्गा
संप्रेक्षिता दशबलैरिह पूजनार्थं ॥1071॥

हे तात, यहाँ आकाश में देखो—मणियों और रत्नों को चोटी में गूँथे हुए, रत्नों की खान जैसे, फूलों की मालाओं से विचित्र अंग वाले, दशबलों अर्थात् बुद्धों द्वारा भलीभाँति देखे जाते हुए, खर्ब-खर्ब बोधिसत्त्व गौरव के साथ, पूजा करने के लिए खड़े हैं।

ये चेतना अपि च ये च अचेतना च
वृक्षाश्च शैल गरुदे(?डे) न्द्रसुरेन्द्रयक्षाः।
अभयोनता अभिमुखा गुणपर्वतस्य
श्रेयो भवे प्रतिनिर्वर्तितुमद्य तात ।।1072।।

वृक्ष एवं पर्वत तथा गरुड़ेन्द्र, सुरेन्द्र एवं यक्ष (आदि) जो भी चेतन हैं और जो भी अचेतन हैं, (वे सब इन) गुणों के पर्वत के सामने झुके हुए हैं। हे तात, आज लौट चलना ही अधिक अच्छा है।

इसके अतिरिक्त—

(छंद वंशस्था)

न तं तरेद् यस्य न पारमुत्तरे
न तं खनेद् यस्य न मूलमुद्धरेत्।
न कोपयेत् तं क्षमयेत् पुनोऽपि यं[27]
कुर्यान्न तं येन भवेच्च =242ख= दुर्मनाः।।1073।।

जिसके पार न जा सके, उसे न तरना चाहिए। जिसको मूल न उखाड़ सके, उसे न खोदना चाहिए। जिससे उलटे क्षमा माँगनी पड़े, उसे नाराज न करना चाहिए। जिससे पछताना पड़े, वह (काम) न करना चाहिए।

65. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, उस समय (वहाँ पर) आठ बोधिवृक्ष की (अधिष्ठात्री) देवताएँ थीं—यथा, श्री, वृद्धि, तपा, श्रेयसी, विदु, ओजोबला, सत्यवादिनी और समङ्गिनी। (--332--) वे षोडशोपचारों द्वारा बोधिसत्त्व की पूजा कर, बोधिसत्त्व को श्री से बधाई देती थीं, उत्तम स्तुति करती थीं।—

(छन्द गाथा गद्यगति)

अभिशोभसे त्वं विशुद्धसत्त्व, चन्द्र इव शुक्लपक्षे।
अभिरोचसे त्वं विशुद्धबुद्ध, सूर्य इव प्रोदयमानः।।1074।।

हे अत्यन्त शुद्ध चित्त के, तुम शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान अत्यन्त शोभायमान हो। हे अत्यन्त शुद्ध बुद्धि के, तुम उदय होते हुए सूर्य के समान अत्यन्त प्रकाशमान हो।

प्रफुल्लितस्त्वं विशुद्धसत्त्व, पद्ममिव वारिमध्ये।
नदसि त्वं विशुद्धसत्त्व, केशरीव वनराजावनुचारी।।1075।।

---

27. पुनोऽपि के अनन्तर मूल में तं है। भोट, गङ्ल (=यं) यही उचित पाठ है।

हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम जल के बीच कमल की भाँति अत्यन्त फूले हुए हो। हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम वनराजी (=वनपंक्ति) में विचरने वाले सिंह की भाँति नाद कर रहे हो।

विभ्राजसे त्वं अग्रसत्त्व, पर्वतराज इव सागरमध्ये।
अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व, चक्रवाड इव पर्वतः ॥1076॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम समुद्र के बीच पर्वतराज के समान अत्यन्त शोभा दे रहे हो। हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम चक्रवाल पर्वत के समान अत्यन्त ऊँचे उठे हुए हो।

दुरवगाहस्त्वं अग्रसत्त्व, जलधर इव रत्नसंपूर्णः।
विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ, गगनमिवापर्यन्तं ॥1077॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम रत्नों से भली-भाँति भरे हुए समुद्र के समान कठिनता से थाह पाने के योग्य हो। हे लोकनाथ, अन्तहीन आकाश के समान (तुम) व्यापक बुद्धि के हो।

सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व, धरणितलवत्सर्वसत्त्वोपजीव्यः।
अकलुषबुद्धिरसि अग्रसत्त्व, अनवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः ॥1078॥

हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम अत्यन्त स्थित बुद्धि (=स्थितप्रज्ञ) धरणीतल के समान सब प्राणियों के उपजीव्य (=सहारा) हो। श्रेष्ठ मन के, सर्वदा निर्मल रहने वाले मानसरोवर की भाँति तुम निर्मल बुद्धि के हो।

अनिकेतबुद्धिस्त्वं अग्रसत्त्व, मारुत इव सर्वलोके सदाऽप्रसक्तः।
=243क= दुरासदस्त्वं अग्रसत्त्व, तेजोराज इव सर्वमन्युना प्रहीनः ॥1079॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम सब जगत् में सर्वदा असंग रहने वाले पवन की भाँति अनिकेत-बुद्धि के हो। हे श्रेष्ठ मन के, तुम सब प्रकार के मन्यु (=मान एवं क्रोध) से पूर्ण रहित, तेजों के राजा (=सूर्य) के समान दुष्प्राप्य हो।

बलवानसि त्वं अग्रसत्त्व, नारायण इव दुर्धर्षः।
दृढसमादनस्त्वं लोकनाथ, अनुत्थाता बोधिमण्डा ॥1080॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम नारायण-जैसे न हराए जा सकने वाले बली हो। हे लोकनाथ, तुम दृढ़प्रतिज्ञ बोधिमण्डप से न उठने वाले हो।

अनिवर्त्यस्त्वं, अग्रसत्त्व, इन्द्रकरोत्सृष्ट इव वज्रः।
सुलब्धलाभस्त्वं अग्रसत्त्व, दशबलसमग्रयोऽचिराद् भविष्यति ॥1081॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम इन्द्र के साथ से छोड़े वज्र के समान पीछे न लौटने वाले हो। हे श्रेष्ठ मन के, तुम्हें (सब) लाभ भली-भाँति प्राप्त हुए हैं, तुम शीघ्र दश-बलों में संपूर्णता के धनी होओगे।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिवृक्षदेवताओं ने बोधिसत्त्व को सोलह प्रकार से बधाई दी।

66. हे भिक्षुओं, वहाँ पर शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकारों से बड़े पापी मार को दुर्बल किया। कौन से सोलह (प्रकारों से) ? जैसे—

(छंद गाथा गद्यगति)

(–333–) ध्वस्तस्त्वं पापीयं, जीर्णक्रोञ्च इव ध्यायसे।
दुर्बलस्त्वं पापीयं, जीर्णगज इव पङ्कमग्नः ॥1082॥

हे महापापी, ध्वस्त हुआ तू बूढ़े क्रौंच-बगुले जैसा झख मार रहा है। हे महापापी, तू दलदल में बूढ़े हाथी जैसा डूबा दुर्बल है।

एकाक्यसि त्वं पापीयं, निर्जित इव शूरप्रतिज्ञः।
अद्वितीयस्त्वं पापीयं, अटव्यां त्यक्त इव रोगार्तः॥1083॥

हे महापापी, तू वीर के समान प्रतिज्ञा कर (अब) हार खाया जैसा अकेला है। हे महापापी, निर्जन–जंगल में छोड़ दिए गए रोग से पीड़ित (व्यक्ति) के समान तेरा (अब) दूसरा (कोई) नहीं है।

अबलस्त्वं पापीयं, भारक्लिष्ट इव बलीवर्दः।
अपविद्धस्त्वं पापीयं, वातक्षिप्त इव तरुः॥1084॥

हे महापापी, तू बोझे से थके हुए बैल जैसा बल-हीन है। हे पापी, तू हवा से गिराए पेड़ जैसा दूर फेंका हुआ है।

=243ख= कुपथस्थितस्त्वं पापीयं, मार्गभ्रष्ट इव सार्थिकः।
दीनहीनस्त्वं पापीयं, मत्सरिण इव दरिद्रपुरुषः॥1085॥

हे महापापी, तू मार्ग से भ्रष्ट सार्थवाह के जैसा कुमार्ग में पड़ा है। हे महा-पापी, तू मत्सरी (=मक्खीचूस) दरिद्र पुरुष जैसा दीन-हीन है।

मुखरस्त्वं पापीयं, वायस इव प्रगल्भः।
मानाभिभूतस्त्वं पापीयं, अकृतज्ञ इव दुर्विनीतः॥1086॥

हे महापापी, तू ढीठ कौए जैसा बोलने वाला है। हे महापापी, तू विनयहीन अकृतज्ञ जैसा मान-आदर से रहित है।

पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयं, क्रोष्टुक इव सिंहनादेन।
विधुनेष्यसे त्वमद्य पापीयं, वैरम्भवायु विक्षिप्त इव पक्षी॥1087॥

हे महापापी, आज तू सिंह का नाद सुन कर शृगाल की भाँति भगेगा। हे पापी, आज तू आँधी से दूर फेंके गये पक्षी की भाँति दूर फेंका जाएगा।

अकालज्ञत्वं पापीयं, पुण्यपरिक्षीण इव भैक्षुकः।
विवर्जिष्यसे त्वमद्य पापीयं, भिन्नभाजनमिव पांशुप्रतिपूर्णं॥1088॥

हे महापापी, तू पूर्णरूप से पुण्यक्षीण हुए भिक्षुक जैसा अकालज्ञ है। हे महा-पापी, तू धूलभरे फूटे बर्तन जैसा आज छोड़ दिया जाएगा।

निगृहीष्यसे त्वमद्य पापीयं बोधिसत्त्वेन मन्त्रेणेवोरगाः।
सर्वबलप्रहीणोऽसि पापीयं, छिन्नकरचरण इवो रुण्डः ॥1098॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व द्वारा मंत्र द्वारा सर्पों के समान, बाँध लिया जाएगा। हे महापापी, हाथ-पैर कटे धड़ जैसा, तू सब (प्रकारके) बल से पूर्णतया हीन है।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार से बड़े पापी मार को दुर्बल किया।

67. हे भिक्षुओं, वहाँ पर बोधिपरिचारक देवपुत्रों ने बड़े पापी मार को सोलह प्रकार से निरुत्साहित किया। कौन से सोलह (प्रकारों से) ? जैसे—

(छन्द गाथा गद्यगति)

अद्य त्वं पापीयं निर्जेष्यते
बोधिसत्त्वेन परसैन्य इव शूरेण। =244क=
(-334-) निगृहीष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन दुर्बलमल्ल इव महामल्लेन ॥1090॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, शूर के द्वारा शत्रुदल की भाँति, हराया जायगा। हे महापापी, आज तू बोधिसत्त्व के द्वारा, महामल्ल के द्वारा दुर्बल मल्ल जैसा, पकड़ा जाएगा।

अभिभविष्यते त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन खद्योतकमिव सूर्यमण्डलेन।
विध्वंसयिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन मुञ्जमुष्टिमिव महामारुतेन ॥1091॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व द्वारा, सूर्यमंडल द्वारा जुगनू जैसा निस्तेज कर दिया जायगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, महापवन से मूँज की मूठ जैसा तितर-बितर कर दिया जायगा।

वित्रासिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन केसरिणेव श्रृगालः।
प्रपातिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन महासाल इव मूलछिन्नं ॥1092॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, सिंह द्वारा श्रृगाल जैसा, डराया जायगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व द्वारा, जड़ से कटे महासाल (वृक्ष) जैसा गिराया जायगा।

विलोप्स्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेनामित्रनगरमिव महाराजेन ।
विशोषिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन गोष्पदवारीव महातपेन ॥1093॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, महाराज द्वारा शत्रु नगर जैसा उजाड़ा जाएगा । हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, कड़ी, धूप द्वारा गोष्पदजल (=भूमिपर गाय के खुर से बने गहरे स्थान में पड़े जल) जैसा सुखा डाला जाएगा ।

पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन वध्यविमुक्त इव धूर्तपुरुषः ।
उद्भ्रामिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन अग्निदाहेनेव मधुकरवृन्दं ॥1094॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, बध्यस्थान से भगोड़े धूर्त–पुरुष जैसा भगाया जाएगा । हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, आग से तपे मधुमक्षिकाओं के झुंड जैसा, भरमाया जाएगा ।

रोषिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन राष्ट्रभ्रष्ट इव (ऽ) धर्मराजः ।
ध्यायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन जीर्णक्रोञ्च इव लूनपक्षः ॥1095॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, राज्यपतित (अ–) धार्मिक राजा जैसा, चिढ़ाया जाएगा । हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, पंख कतरे गए क्रौञ्च-बगुले के समान सोच में डाला जाएगा ।

(–335–) विभत्स्यंसे त्वमद्य पापीयं=244ख=
बोधिसत्त्वेन क्षीणपथ्यादन इवाटवीकान्तारे ।
विलपिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन भिन्नयानपात्र इव महार्णवे ॥1096॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, निर्जन जंगल के बीच खाने-पीने की सामग्री से रहित (यात्री) के समान, डराया-धमकाया जाएगा । हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा महासागर के बीच टूटे हुए जहाज़ के (यात्री) के समान विलपाया जाएगा ।

आम्लायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन कल्पदाह इव तृणवनस्पतयः।
विकिरिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन महावज्रेणेव गिरिकूटं ॥1097॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, कल्पाग्नि से तृण एवं वनस्पतियों की भाँति, झुलसा दिया जाएगा। हे महापापी ! तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, महावज्र से पर्वतकूट के समान, तोड़ कर फेंक दिया जाएगा।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिपरिचारक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार से मार को निरुत्साहित किया, पर बड़े पापी मार ने मुँह न फेरा।

68. इस (विषय) में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

भूतां चोदन श्रुत्व देवतगणा न निवर्तते सोऽन्तको
उच्छेथा हनथा विलुम्पथ इमां मा दास्यथा जीवितं।
एषोत्तीर्ण स्वयं ममापि विषयां तारिष्यते चापरां
नान्यं मोक्ष वदेमि किंचि श्रमणे उत्थापयेत् प्रक्रमेत् ॥1098॥

देवगणों की यथार्थ प्रेरणा सुनकर (भी), वह मार न लौटा (और बोला)—इन्हें काट डालो, मार डालो, खा डालो, जीने मत दो। स्वयं तर कर (ये) मेरे विषय (=देश) के और लोगों को तारेंगे। (मैं) कहता हूँ मोक्ष (भोग को छोड़ कर) और कुछ नहीं है। हे श्रमण उठो और (अपना) रास्ता नापो।

69. बोधिसत्त्व बोले—

मेरु (:) पर्वतराज स्थानतु चले सर्वं जगन्नो भवेत्
सर्वे तारकसंघ भूमि प्रपते सज्योतिषेन्दु(र्)नभात्।
सर्वा सत्त्व करेय एकमतयः शुष्येन्महासागरो
न त्वेव द्रुमराजमूलुपगतश्=245क=चाल्येत अस्मद्विधः ॥1099॥

चाहे पर्वतराज सुमेरु (अपने) स्थान से टल जाएँ, चाहे सब जगत् न रहे, चाहे चन्द्रमा तथा ज्योतिः पिंडों के सहित सब नक्षत्रों के समूह आकाश से धरती पर गिर पड़ें, चाहे (कोई) सब प्राणियों को एक चित्त का बना डाले, चाहे महासागर सूख जाए, पर वृक्षराज के नीचे पहुँचे हुए हमारे—जैसे को (स्थान से) डिगाया नहीं जा सकता।

70. (–336–) मार बोला—

(छंद वसन्ततिलका)

कामेश्वरोऽस्मि वसिता इह सर्वलोके·
देवा सदानवगणा मनुजाश्च तिर्या।
व्यप्ता मया मम वसेन च यान्ति सर्वे
उत्तिष्ठ मह्य विषयस्थ वचं कुरुष्व ॥1100॥

(मैं) कामेश्वर हूँ, यहाँ सब लोकों को अपने वश में करने वाला हूँ। दानव गणों के सहित देवताओं को, मनुष्यों को, तथा पशु-पक्षियों को मैंने व्याप्त कर रक्खा है; (वे) सब मेरे वश में चलते हैं। (तुम भी) मेरे विषय (=राज्य) के निवासी हो। उठो, मेरी बात मानो।

71. बोधिसत्त्व बोले—

कामेश्वरोऽसि यदि व्यक्तमनोश्वरोऽसि
धर्मेश्वरोऽहमपि पश्यसि तत्त्वतो मां।
कामेश्वरोऽसि यदि दुर्गति न प्रयासि
प्राप्स्यामि बोधिमवसस्य तु पश्यतस्ते ॥1101॥

यदि (तुम) कामेश्वर हो तो स्पष्ट ही ईश्वर नहीं हो। पर यदि मुझे तत्त्व से देखो तो मैं धर्मेश्वर हूँ। यदि (तुम) कामेश्वर होते तो दुर्गति न भुगतते (क्योंकि दुर्गति की कामना कोई नहीं करते) (तुम्हारा) वश (मुझपर) नहीं है, तुम्हारे देखते-देखते मैं बोधि प्राप्त करूँगा।

72. मार बोला—

एकात्मकः श्रमण किं प्रकरोषिऽरंण्ये
यं प्रार्थयस्यसुलभः खलु संप्रयोगः।
भृग्वङ्गिरप्रभृतिभिस्तपसो प्रयत्ना
प्राप्तं न तत्पदवरं मनुजः कुतस्त्वं ॥1102॥

हे श्रमण, अकेले अपने-आप जंगल में क्या कर रहे हो। जो तुम चाहते हो, वह योग-क्षेम सर्वथा दुर्लभ है, भृगु, अंगिरा आदि (ऋषियों) को तप के प्रयत्न से वह उत्तम पद नहीं मिला, तुम (जैसे) मनुष्य को कहाँ से मिलेगा।

73. बोधिसत्त्व बोले—

अज्ञानपूर्वकु तपो ऋषिभि प्रतप्तो
क्रोधाभिभूतमतिभि (र्) दिवलोककामैः।
नित्यं न-नित्यमिति चात्मनि संश्रयद्भिः
मोक्षं च देशगमनस्थितमाश्रयद्भिः ॥1103॥

भ्रम से (यह जगत् दुःख का है, सोच कर उसपर) क्रोधान्ध हो, देवलोक की कामना से, (इस) आत्मा को नित्य एवं अनित्य मान कर तथा मोक्ष को चलकर मिलने वाले (किसी) देश में स्थित समझ कर, ऋषियों ने अज्ञान-पूर्वक तपस्या की थी।

ते तत्त्वतो ऽर्थरहिताः पुरुषं वदन्ति
व्यापिं प्रदेशगत साश्वतमाहुरेके।
(–337–) मूर्तं न-मूर्तमगुणं गुणिनां तथैव
कर्ता न-कर्त इति चाप्यपरे ब्रुवन्ति ॥1104॥

वे पुरुष (=आत्मा) को परमार्थ-रहित कहते हैं। कोई उसे व्यापक, एक देशस्थ और नित्य कहते हैं। कितने ही दूसरे उसे मूर्त, अमूर्त, निर्गुण, सगुण, कर्ता तथा अकर्ता कहते हैं।

–245ख–प्राप्याद्य बोधि विरजामिह चासनस्थः
स्वां जित्व मार विहतं सबलं ससैन्यं।
वर्षेष्यि अस्य जगतः प्रभवोद्भवं च
निर्वाण दुःखसमनं तथ सीतिभावं ॥1105॥

आज इस आसन पर बैठे-बैठे, हे मार, तुझे तेरे बल के साथ, तेरी सेना के साथ, ध्वस्त कर, जीत कर, रजोरहित बोधि का लाभ कर, बारंबार उत्पन्न होने वाले इस जगत् के दुःखों को शान्त करने वाले, (इसकी जलन को) शीत करने वाले, निर्वाण का प्रवर्तन करूँगा।

74. (इसके अनन्तर—)

(छंद भुजंगविजृम्भित)

मारः क्रुद्धो दुष्टो रुष्टः, परुष गिर पुन तु भणते, गृह्णाण ऽसु गौतमं
एषो ह्येकोऽरण्ये न्यस्तो, ग्रहिय मम पुरतु व्रजथा, लघु वसु कुर्वथा।
शीघ्रं गत्वा मह्यं गेहे, हडिनिगडयुगडविकृतं, करोथ दुवारिकं
[28]स्वामं द्रक्ष्ये[28] दुःखेनार्तं, बहुविविधजवितरवितं, मरूण व चेटकं ॥1106॥

क्रोध से भरा, द्वेष से भरा, और रोष से भरा मार फिर कठोर वचन बोला—इन गौतम को पकड़ लो, अकेले वन में बैठे हुए इनको पकड़ कर मेरे

28....28. मूल, स्वा मं द्रक्ष्ये। पदच्छेद स्वा–मं ठीक नहीं। द्रक्ष्ये में भविष्यन्ती प्रवर्तनी के अर्थ में है। भोट, ब्दग् गिस् ब्दग् म्थोङ् ब्योस् (=आत्मनात्मानं पश्येत्, पश्यतु वा)।

सामने (लाओ), जाओ, शीघ्र वश में कर लो, जा कर मेरे घर में दोनों (हाथों और पावों में) हथकड़ी और बेड़ी डाल कर इन्हें छोड़ दो, दरबान तैनात कर दो, (ताकि ये) दुःख से पीडित, नाना प्रकार से जोर-जोर रो-धो कर देवदास की तरह अपने आप को देखें ।

75. बोधिसत्त्व बोले—

शक्याकाशे लेख्यं चित्रं, बहुविविध विकृत पदशः, प्रकर्तुं पृथक्-पृथक्
शक्यो वायुः पाशैर्बद्धुं, दिश विदिश गमनजवितो, नरेण सुयत्नतः ।
शक्या कर्तुं चन्द्रादित्यौ, तमतिमिरवितिमिरकरौ, नभोऽद्य महीतलं
शक्यो नाहं त्वत्सादृश्यैर्, बहुभिरपि गणनविद्रुतैर्, [29]द्रुमात् प्रतिचालितुं ॥1107॥

आकाश में अलग-अलग, कला-कला करके बहुत से नाना प्रकार के रेखा-चित्र चाहे बनाए जासकें, दिशाओं और विदिशाओं में वेग से जाने वाला पवन अत्यन्त यत्न के साथ मनुष्य द्वारा चाहे जालों में बाँधा जा सके, कालिमा और अँधेरे को मिटाने वाले सूर्य और चन्द्र आज ही चाहे आकाश से धरातल पर गिराए जा सकें, पर तुम्हारे जैसे गणनातीत बहुत से मारों के द्वारा मैं (बोधि-) वृक्ष से हिलाया-डुलाया नहीं जा सकता ।

76. (इसके अनन्तर—)

(छंद वसन्ततिलका)

अभ्युत्थिताबलवतो नमुचेश्चमू सा
हाकारशङ्खरवभेरिमृदङ्गशब्दैः ।
हा पुत्र वत्स दयित किमसि प्रनष्टो
दृष्ट्वा इमां नमुचिसेनमतीव भीमां ॥1108॥

(एक ओर) हाहाकार, शंखनाद, भेरी और मृदङ्ग शब्दों के साथ मार की बलवान् सेना उठ पड़ी, (तथा दूसरी ओर शब्द सुनाई पड़ा—) हाय पुत्र, प्रिय वत्स, इस अत्यन्त भयंकर मार-सेना को देख कर क्या (कहीं) भाग गए ?

जाम्बूनदाकनकचम्पकगर्भगौरा =246क=
सुकुमार देवनरसस्तुत पूजनीय ।
(–338–) अद्य प्रयास्यसि विनासु महारणेस्मिं
मारस्य एष्य वशं असुरस्यवेन्दुः ॥1109॥

---

29. मूल, गणनविठतैः । भोट, ब्ग्रङ् लस् ह्.दस् प (=गणनातीतैः) पाठ संभवतः गणनविद्रुतैः था । विद्रुत तथा अतीत समानार्थक हैं ।

हे जंबूनद से निकले सुवर्ण तथा चम्पे के अन्तर्भाग जैसे गोरे, सुकुमार, देवताओं और मनुष्यों द्वारा स्तवन किए गए, पूजा के योग्य, आज (इस) महायुद्ध में (तुम) विनाश को प्राप्त करोगे, (राहु–) असुर के वश में हुए चन्द्रमा के समान मार के वश में हो जाओगे।

77. (इसके अनन्तर—)

ब्रह्मस्वरेण करविंकरुतस्वरेणा
तान् यक्षराक्षसगणां सुगतो बभाषे।
आकासु त्रासयितुमिच्छति यो ह्यविद्वान्
सो ऽस्मद्विधं द्रुमवराद् ग्रहणाय इच्छेत् ॥1110॥

चटक के समान चहचहाते हुए, ब्रह्मघोष करते हुए सुगत ने, उन यक्षों और राक्षसों के गणों से कहा—जो मूढ़ आकाश को डराना चाहता हो, वह हमारे—जैसे को उत्तम (बोधि–) वृक्ष से पकड़ ले जाने की इच्छा करे।

भित्वा च यो रजु गणेय महासहस्रे
लोम्ना च सागरजलं च समुद्धरेद् यः।
वज्र(ा)मयां गिरिवरां विकिरेत् क्षणाच्च
सो चापि मां तरुगतं न विहेठयेत ॥1111॥

जो महासहस्र (लोकधातु) को पीस कर उसके धूलि-कण गिन सकेगा, जो सागर के जल को रोम से उलीच सकेगा, तथा जो वज्रमय उत्तम पर्वतों को क्षण भर में (तोड़ कर) तितर-बितर कर सकेगा, वह (बोधि–) वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुझ को न सता सकेगा।

78. (इसके अनन्तर—)

युगमन्तरस्मि स्थित मारु प्रदुष्टचित्तो
निष्कोष पाणिन-मृ-असिं प्रगृहीत्व तीक्ष्णं।
उतिष्ठ शीघ्र श्रमणा ऽस्ममतेन गच्छ
मा वेणुयष्टि हरितां व छिनद्मि ते ऽद्य ॥1112॥

युग (=जुए) भर की दूरी पर खड़ा, द्वेष से भरे चित्त वाला, मार नंगी तीखी तलवार हाथ में लेकर (बोला)—हे श्रमण शीघ्र उठो, मेरी जैसी मरजी है वैसे, चले जाओ, कहीं (मैं) आज तुम्हें हरे बाँस की छड़ी के समान काट न डालूँ।

79. बोधिसत्त्व बोले—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

सर्वेयं त्रिसहस्र मेदिनि यदि मारैः प्रपूर्णा भवेत्
सर्वेषां यथ मेरु पर्वतवरः पाणीषु खड्गो भवेत्।
ते मह्य न समर्थ लोम चलितुं प्रागेव मां घातितुं
मा दुषी[29क] नतिवेल[29क] संप्रनदहे, स्मारेमि[30] तेना दृढं[30] ॥1113॥

यह त्रिसाहस्र (लोकधातु) वाली संपूर्ण पृथिवी यदि मारों से संपूर्ण हो जाए, तथा सब (मारों) के हाथों में उत्तम सुमेरु पर्वत सरीखे (विशाल) खड्ग हों, तो वे मेरा बाल बाँका नहीं कर सकते, मारने की तो बात ही क्या ? हे दूषिन् मत (गड़बड़ करो), (अन्यथा) शीघ्र ही (तुम्हें) बाँध दूँगा। इसी से (तुम्हें) दृढ़ता से चेता रहा हूँ।

80. (इसके अनन्तर—)

(छंद वसन्ततिलका)

विध्यन्ति शैलशिखलां ज्वलिताग्निवर्णां
वृक्षां समूलक क्षिपी तथ ताम्रलोहं।
(–339–) उष्ट्राश्च गोगजमुखास्तथ भैरवाक्षा
आशीविषा भुजग दृष्टिविषाश्च घोराः ॥1114॥ =246ख=

(उन्होंने) जलती हुई आग के जैसे पर्वत के शिखरों को फेंका। मूल के साथ वृक्षों को, ताँबे और लोहे को, ऊँट, हाथी, तथा बैल के मुँह जैसे भयंकर आँखों वाले, (काटे बिना) चाह भर से जिनका विष चढ़ जाता है, तथा (काटे-बिना) देखने भर से जिनका विष चढ़ जाता है, ऐसे सर्पों को फेंका।

मेघेव उत्थित चतुर्दिश गर्जमाना
वज्राशनी तथ अयोगुड वर्षमाणाः।
असि शक्ति तीक्ष्णपरशुं सविषांश्च बाणां
भिन्दन्ति मेदिनितलं प्रमथन्ति वृक्षां ॥1115॥

29क....29क. मूल, न ति वेल। पठनीय नतिवेल (सबपद के रूप में) नतिवेल= नातिवेलं शीघ्रं। तुलनीय भोट, **रिङ्स् शिग्** (=शीघ्रम्)।

30....30. मूल, ते ऽनदृढं। पठनीय तेना (=तेन) दृढं। तुलनीय भोट, **दे यिस् ब्र्तन् पोर् (तेन दृढं)**।

(वे) चारों दिशाओं से गरजते हुए मेघों-जैसे उमड़ आए, और बाज-गाज लोहे के गोले, तलवारें, बरछियाँ, तीखे फरसे, एवं विष-बुझे बाण बरसाते हुए, पृथिवी-तल को भेदने लगे और पेड़ों को मथने लगे ।

बाहूशतैः सरशतानि क्षिपन्ति केचि
आशीविषां हुतवहांश्च मुखा सृजन्ति ।
मकरादिकांश्च जलजानुदधेर्गृहीत्वा
विध्यन्ति केचि भुजगां गरुडाश्च भूत्वा ॥1116॥

कितने ही (अपनी) सैकड़ों भुजाओं से सैकड़ों बाण फेंकते थे, (कितने ही अपने) मुँह से सर्पों को और अग्नियों को उगलते थे, कितने ही गरुड़ बन कर समुद्र से मकर आदि जन-जन्तुओं तथा (जल-) सर्पों को पकड़ कर फेंकते थे ।

केचित् सुमेरुसदृशान् अयसा—गुडानि
तप्ताग्निवर्णशिखरा निक्षिपन्ति रुष्टाः ।
आसाद्य मेदिनितलं क्षुभयन्ति चोर्वी
हेष्टाऽऽपस्कन्ध सलिलस्य विलोडयन्ति ॥1117॥

कितने ही रुष्ट हो दहकती आग के रंग के शिखर वाले सुमेरु-जैसे लोहे के गोले फेंकते थे, जो धरातल पर आकर धरती को हिला देते थे, तथा नीचे स्थित आपस्कन्ध (=जलराशि) एवं जल का मन्थन कर डालते थे ।

केचित्पतन्ति पुरतस्तथ पृष्ठतोऽस्य
वामे च दक्षिण पतन्ति अहो ति वत्स ।
विपरीतहस्तचरणा ज्वलितोत्तमाङ्गा
नेत्रेभि निश्चरति विद्युदिव प्रदीप्ता ॥1118॥

कितने हो, अहो वत्स तुम्हारा (क्या होगा यों बोल कर), उनके सामने पीछे, बाईं ओर, एवं दाहिनी ओर गिरते थे, उनके हाथ-पैर उलटे-पलटे होते थे, उत्तमाङ्ग (=सिर) दहकते थे, तथा आँखों से लपलपाती बिजली सी निकलती थी ।

81. (इसके अनन्तर—)

दृष्ट्वा विकारविकृता नमुचेस्तु सेना
मायाकृतं च यथ प्रेक्षति शुद्धसत्त्वः ।
नैवात्र मारु न बलं न जगन्न चात्मा
उदचन्द्ररूपसदृशो भ्रमति त्रिलोकः ॥1119॥

मार की सेना को विकारों से बिगड़ी देख कर, शुद्ध मन वाले (बोधिसत्त्व) ने (उसे) ऐसे देखा मानो वह माया-द्वारा बनी हो । (उनको लगा कि) यहाँ न

मार है, न (मार–) सेना है, न जगत् है, न है, आत्मा है, यह त्रिलोक पानी में पड़े चन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान घूम रहा है ।

(–340–) चक्षुर्न इस्त्रि पुरुषो नपि चात्मनीयं
श्रोत्रं च घ्राण तथ जिह्व तथैव कायः ।=247क=
अध्यात्मशून्य बहिशून्य प्रतीत्यजाता
धर्मा इमे करकवेदकवीतिवृत्ताः ॥1120॥

आत्मीय भी (कुछ) नहीं है—न स्त्री, न पुरुष, न नेत्र, न श्रोत्र, न घ्राण (=नासिका), न जिह्वा, तथा न काय ही (आत्मीय हैं)। ये सब धर्म अध्यात्म शून्य हैं, बाह्य-शून्य है, प्रतीत्यसमुत्पन्न है, कारक-हीन हैं, तथा वेदक (=अनुभोक्तृ) हीन हैं ।

सो सत्यवाक्यमकरोत् सद सत्यवादी
येनेह सत्यवचनोनम शून्य धर्माः ।
ये के चि सौम्य विनये अनुकूल यक्षाः[31]
ते शस्त्र पाणिषु निरीक्षिषु पुष्पदामा ॥1121॥

उन सदा के सत्यवादी ने सत्यवाक्य (का साक्ष्य-अनुष्ठान) किया—जिस सत्यवचन से यहाँ ये धर्म शून्य हैं, उससे जो कोई विनय के अनुकूल (चलने वाले) सौम्य यक्ष हैं, उन्हें हाथों के शस्त्र पुष्पमालाएँ दिखाई दें ।

सो दक्षिणे करतले रचिताग्रजासे
ताम्रैर्नरवैः सुरुचिरैः सहस्रारचक्रे ।
जाम्बूनदार्चिसदृशैः शुभपुण्यजुष्टे
मूर्धनातु याव स्पृशते चरणां सलीडं ॥1122॥

उन्होंने उत्तम जाल से गूँथे हुए, ताम्रवर्ण के नखों से अत्यन्त सुशोभित, सहस्र अरों के चक्र (–चिन्ह) से युक्त, जंबूनद से उत्पन्न (सुवर्ण) के (रंग की) किरणों से युक्त, शुभ–पुण्यों से सेवित, दक्षिण करतल द्वारा सिर से पैर तक स्पर्श किया ।

---

31. मूल, पक्षाः । भोट, ग्नोद् स्बियन् (=यक्षाः)। इससे पूर्व अनुकूल शब्द को पृथक्पद के रूप में ग्रहण करना उचित है ।

बाहुँ प्रसार्य यथ विद्युदिवा नभस्था
आभाषते वसुमती—न इय मह्य साक्षो।
चित्रा मि यज्ञनयुतानपि यष्ट पूर्वे
न मि जातु याचनक बन्ध्य[32] कृता नु दास्ये[33] ॥1123॥

आकाश से जैसे बिजली निकलती है, वैसे अपनी भुजा फैला कर (वे) बोले—यह पृथिवी मेरा साक्षी है कि मैं ने पहले खर्ब-खर्ब यज्ञ किए हैं, तथा न दूँगा (ऐसा मन में कर) कभी भी मैं ने याचकों को निराश नहीं किया है।

आपो मि साक्षि तथ तेज तथैव वायु
ब्रह्मा प्रजापति सजोतिस चन्द्रसूर्याः।
बुद्धा मि साक्षि दशसु स्थित ये दिशासु
यथ मह्य शीलव्रत उद्गत बोधि-अङ्गाः ॥1124॥

जल, तेज, वायु, प्रजापति ब्रह्म-गण, एवं नक्षत्रों के सहित चन्द्र और सूर्य मेरे साक्षी हैं तथा दसों दिशाओं में जो बुद्ध खड़े हैं, वे मेरे साक्षी हैं कि मेरे शील और व्रतों का उत्थान जिस प्रकार बोधि के अंग के रूप में अर्थात् बोधि पाने के साधन के रूप में हुआ है।

दानं मि साक्षि तथ शीलु तथैव क्षान्तिः
वीर्यापि साक्षि तथ ध्यान तथैव प्रज्ञा।
(–341–) चतु-र्-अप्रमाण मम साक्षि तथा अभिज्ञा
अनुपूर्व बोधिचरि सर्व ममेह साक्षो ॥1125॥

दान, शील, क्षान्ति (=क्षमा), वीर्य (=उद्योग), ध्यान एवं प्रज्ञा मेरे साक्षी हैं। चार (मैत्री, करुणा, (मुदिता, और उपेक्षा नामक) अप्रमाण (मापे न जा सकने वाले ब्रह्मविहार) तथा अभिज्ञाएँ (=दिव्यज्ञान) मेरी साक्षी हैं। क्रमसे की गई संपूर्ण बोधिचर्या यहाँ मेरे साक्षी है।

यावन्ति सत्त्व निखिला दशसु दिशासु=247ख=
यत्तेषु पुण्य बल शीलु तथैव ज्ञानं।
यज्ञा निरर्गड य यष्ट सठः—कलीभिः[34]
ते मह्य रोम-शतिमां कल नोपयान्ति ॥1126॥

---

32. मूल, बन्ध। यह बन्ध्य का ही लिपिविकार है। भोट, **बोन् मेद्** (=निरर्थक, असफल, बन्ध्य)।

33. मूल, नु दास्ये। भोट, **मि स्बियन्** (=न दास्ये) नु दास्ये संभवितः नो दास्ये का भ्रष्टतर रूप है।

34. मूल, में सठः कलिभिः शब्द की व्याख्या सह कलीभिः से की जानी चाहिए।

दसों दिशाओं में सब (मिला कर) जितने प्राणी हैं, उनका जो पुण्य, बल, शील, एवं ज्ञान है, तथा (उन्होंने) सब मिला कर जो निरर्गल यज्ञ किए हैं, वे मेरे (यज्ञों एवं पुण्यादि के एक) रोम को सौवीं कला की (भी) नहीं पहुँचते हैं।

सो पाणिना धरणि आहनते सलीडं
रणते इयं वसुमती यथ कंसपात्री।
मारो निसम्य खु मोदिनिये निरस्तः
शृणुते वचं हनत गृह्णत कृष्णबन्धुं ॥1127॥

उन्होंने हाथ से धरती पर थपकी दी, (और) यह धरती काँसे की बनी पात्री के समान बज उठी। मार (वह) शब्द सुन कर धरती पर गिर पड़ा और उसे बचन सुनाई पड़ा कि (इस) काले कारनामों के साथी को पकड़ लो, पीट डालो।

प्रस्विन्नगातु हततेजु विवर्णवक्त्रो
मारो जराभिहतु आत्मनु संप्रपश्यी।
उरताड क्रन्दतु भयातुं अनाथभूतो
भ्रान्तं मनो नमुचिनो गतु चित्त मोहं ॥1128॥

मार को लगा कि उसका शरीर पसीना-पसीना हो गया है, तेज मर गया है, वदन बदरंग हो गया है, और (वह) स्वयं बुढ़ापा का मारा-पीटा है। अनाथ हुए, भय से पीड़ित, छाती पीट-पीट कर रोते-रोते मार का मन ठिकाने न रहा, (उसका) चित्त मूर्छित हो गया।

हस्त्यश्वयानरथ भूमितले निरस्ताः
धावन्ति राक्षस कुम्भण्ड पिशास भीताः।
संमूढ मार्ग न लभन्ति अलेनत्राणाः
पक्षी दवाग्निपतनेव निरीक्ष्य क्रान्ताः ॥1129॥

हाथी-घोड़ों और गाड़ी-रथ धरती पर गिर पड़े। डरे-डरे राक्षसों कुम्भाण्डों और पिशाचों में भगदड़ मच गई। (वे दिशा–) मूढ़ हो गए, (उन्हें) मार्ग न मिला, (वे) उस प्रकार अशरण हो गए, अनाथ हो गए, जिस प्रकार दावानल की लपट में अपने को पड़ा देख कर पक्षी (अशरण एवं अनाथ) हो जाते हैं।

कलि=कलना, कलन, अंक, संख्याङ्क। संख्याभिः सह, संख्याओं के साथ। भोट, ब्स्बोमस् क्यङ् नि (=समस्यापि, इकट्ठा करके भी)। देखिए बु० हा० सं० डि० में सठः—शब्द भी। सठ का उद्भव वैदिक सध (अपभ्रष्ट सढ मूर्धन्य होकर है।

माता स्वसा पितर पुत्र तथैव भ्राता
पृच्छन्ति तत्र कहि दृष्ट कहिं गता वा ।
अन्योन्य विग्रह करोन्ति तथैव हेठाः
प्राप्ता वयं व्यसन जीवित नावकाशः ॥1130॥

वहाँ पर मा, बहन, पिता, पुत्र, तथा भ्राता (मार के विषय में) पूछते थे कि वह कहाँ गया ? उसे कहीं देखा ? (वे) आपस में झगड़ते तथा मार-पीट करते थे, (उन्हें लगता था कि) हम विपत्ति में फँस गए हैं, (अब) जीने का अवसर नहीं मिलेगा ।

(–342–) सा मारसेन विपुला महती अक्षोभ्या
विभ्रष्ट सर्व विरडीकृत नैव संधिः ।
दिवसानि सप्त अभिजानि (=अभियानि) परस्परेण
आभासि दृष्ट यदि जीवसि तं खु प्रीताः ॥1131॥

वह सब न व्याकुल होने के योग्य महाविशाल मार की सेना धराशायी हो गई, तितर-बितर हो गई, (उसका) संधान (=पता) भी (कहीं) न लगा (वह सेना मानो) सात दिन तक परस्पर आक्रमण करती रही हो (उनमें से किसी ने) उस (पराजित मार) को देख कर पूछा—क्या जीवन में प्रेम है ?

82. (फिर—)

सा वृक्षदेवत तदा करुणां हि कृत्वा
वारीघटं ग्रहिय सिञ्चति कृष्णबन्धुं ।=248=क
उत्तिष्ठ शीघ्र व्रजहे म पुनो विलम्ब
एवं हि तेष भवने गुरुउद्धराणां ॥1132॥

उस समय करुणा कर, जलघट ले, उस वृक्ष देवता ने कृष्णबन्धु (मार) पर पानी छिड़का (और कहा–) उठ, शीघ्र चला जा, और देर मत कर । (अपने से) महान् को उखाड़ने को जो यत्न करते हैं, उनका ऐसा ही होता है ।

83. मार बोला—

दुःखं भयं व्यसनशोकविनाशनं च
धिक्कारशब्दमवमानगतं च दैन्यं ।
प्राप्तोऽस्मि अद्य अपराध्य सुशुद्धसत्त्वे
अश्रुत्व वाक्य मधुरं हितमात्मजानां ॥1133॥

अपने बेटी-बेटों का हितकारी मधुर वचन सुन कर, (उन) अत्यन्त शुद्ध मन वाले (बोधिसत्त्व) के प्रति अपराध कर, आज मुझे भय, दुःख, शोक,

विनाश, धिक्कार का शब्द, और अवज्ञा से होने वाला दैन्यभाव प्राप्त हुआ है।

84. (देवता ने कहा—)

(छन्द उपजाति)

भयं च दुःखं व्यसनं च दैन्यं धिक्कारशब्दं बधबन्धनं च।
दोषाननेकां लभते ह्ययविद्वान् निरापराध्येष्व् अपराध्यतेयः[35]॥1134॥

जो मूढ़ निरापराधों का अपराध करता है। वह भय, दुःख, विपत्ति, दीनता, धिक्कारवचन, बध, बन्धन (आदि) अनेक दोषों का भागी होता है।

85. (अन्त में—)

(छन्द वसन्ततिलका)

देवासुरा-गरुडराक्षसकिन्नरेन्द्रा
ब्रह्माथ शक्र परनिर्मित साकनिष्ठाः।
भाषन्ति तस्य विजयं जय लोकवीर
यत्रेदृशी नमुचिसेन त्वया निरस्ता॥1135॥

देवेन्द्र, असुरेन्द्र, गरुडेन्द्र, राक्षसेन्द्र, किंनरेन्द्र, ब्रह्मा, शक्र, तथा अकनिष्ठ-देवों के साथ परनिर्मित-देवगण उनको जय-जय कार करते थे—हे लोकवीर, जो तुमने ऐसी मारसेना को पराजित किया, सो तुम्हारी जय हो।

हारार्धचन्द्र ध्वजछत्रपटाक देन्ती
पुष्पागरू तगरचन्दनचूर्णवर्षी।
तूर्या पराहनिय वाक्यमुदीरयन्ते
अच्छा द्रुमे तुव च सूर जिताऽरिसंघा[36] ॥1136॥

(वे) हार, अर्धचन्द्र (—आभरण), छत्र, ध्वजा तथा पताकाएँ चढ़ाते थे, फूलों की, अगर की, तगर की, तथा चन्दनपूर्ण की वर्षा करते थे। बाजे बजा कर बोलते थे कि, हे शूर (बोधि—) वृक्ष के नीचे बैठ तुमने रिपुदल जीत लिया है।

---

35. मूल, अपि राध्यते। भोट, ञेस् ब्येद् प (—अपराध्यति)। मूल में अपि के स्थान अप होने से अर्थ संगति बैठती है।

36. अरिसिंहा मूल पाठ भोटानुसार अरिसंघा है। भोट, ग्ग्र .छोग्स् (—अरि-संघः)।

अत्रैव चासनवरे लभसेऽद्य बोधिं
आवेणिकां दशबलां प्रतिसंविदं च। –248ख–
सर्वं च बुद्धविषयं लभसेऽद्य शूर
मैत्रा विजित्य विपुलां सठमारपक्षान् ॥1137॥

इसी उत्तम आसन पर आज बोधि को, एवं दस असाधारण बुद्धबलों को, (तथा सब) प्रतिसंविदाओं को, प्राप्त करोगे। हे शूर, मैत्री से वंचक मार के विपुल-पक्षों को जीत कर आज पूर्ण बुद्ध-राज्य का लाभ करोगे।

86. (इस प्रकार—)

इह मारधर्षणकृते च रणे प्रवृत्ते
संबोधिसत्त्वबलविक्रम येभि दृष्टं।
षट्त्रिंशकोटि नयुता चतुरे च विंशा
येभिर्मनः प्रणिहितं वरबुद्धबोधौ ॥1138॥इति॥[37]

यहाँ मार को हराने के लिए छिड़े युद्ध में जिन्होंने बोधिसत्त्व का बल और उद्योग देखा, उनमें से चौबीस खर्ब तथा छत्तीस करोड़ (प्राणी) ऐसे थे, जिन्होंने बुद्धों की उत्तम बोधि (पाने के लिए) मन में प्रणिधान (=संकल्प) किया।

॥ इति श्रीललितविस्तरे मारधर्षणपरिवर्तो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥

●

---

37. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

कल्पौघचरितचर्यो (यथारुतं तु चरित चरितो) ह्यभिशुद्धसत्त्वः, शुद्धोदनस्य तनयः प्रविहाय राज्यम्। स निर्गतो हितकारो ह्यमृताभिलाषी बोधिद्रुमं ह्युपगतो ऽद्य कुरु प्रयत्नम् ॥937॥ स तीर्ण आत्मना परानपि तारयेत्, मोचयिष्यति स च परान् स्वयमेव मुक्तः। आश्वासप्राप्तः स परानपि चाश्वासयेत्, निर्वापयिष्यति परान् परिनिर्वृतश्च ॥938॥ शून्यं करिष्यत्यपायत्रयमप्यशेषं पूर्णानि करिष्यति पुराणि सुरमानुषाणाम्। ध्यानानामभिज्ञःपरमम् अमृतं सुखं च दास्यत्यसौ हितकरोऽमृतं स्पृष्ट्वा ॥939॥ शून्यं करिष्यति पुरं तव कृष्णबन्धो ऽबलाबलं बलविहानम् अपक्ष्यपक्ष्यम्। न ज्ञास्यसि क्व नु व्रजामि करोमि किं वा यदा धर्मवर्षमवर्षीत् (=वर्षिष्यति) स्वयं स्वयंभूः ॥940॥

दृष्ट्वा तान् स्वप्नान् नमुचिदुःखार्त आमन्त्रयति सुतान् येऽपि च पारिषद्याः। सेनापतिं च नमुचिः सिंहहनुं च नाम्ना सर्वान् तान् परिपृच्छति कृष्णबन्धुः ॥941॥ गाथाभिर् गीतं रचितं श्रुतमन्तरिक्षाच् छावयेषु जातो

वरलक्षणचित्रिताङ्ग । षड् वर्षाणि दुष्करव्रतानि चरित्वा घोरान् बोधिद्रुमं ह्युपगतः प्रकुरुष्व यत्नम् ॥942॥ स चेद् विबुद्धः स्वयमेव हि बोधिसत्त्वो बहुसत्त्वकोटिनयुतानि विबोधयेत । शून्यं करिष्यति स मे भवनं ह्यशेषं यदा लप्स्यते ह्यमृतं स्पर्शने शीतीभावम् ॥943॥ हन्त व्रजाम सहिता बलेन घातयेम तं श्रमणमेकं द्रुमेन्द्रमूले उद्योजयध्वं चतुरङ्गिणीं शीघ्रं सेनां यदीच्छत मम प्रियं मा चिरं कुरुत ॥944॥ प्रत्येकबुद्धैश्चार्हद्भिः पूर्णे लोके निर्वाणे न बलं मम दुर्बलं स्यात् । स भुय एको जिनो भविष्यति धर्मराजो गणनाति वृत्तो जिनवंशो न जातु छिद्येत्॥945॥ किं तात भिन्नवदनोऽसि विवर्णवक्त्रो हृदयं समुत्प्लवते विष्यति तेऽङ्गमङ्गम् । किं ते श्रुतम् अथवा दृष्टं भण शीघ्रं ज्ञास्यामस्तत्त्वतो विचिन्त्य तथा प्रयोगम् ॥946॥ निर्मानो मारोऽवोचच् छृणु मम वत्स पापो मे दृष्टः स्वप्नः परमः सुघोरः । भाषेय सर्वमिह पर्षद्य् अद्याशेषं संमूर्छिता क्षिति तले प्रपतेत यूयम् ॥947॥ रणकाले प्राप्ते यदि नाम जयो न दोषस् तत्रैव यस्तु निहतो भवति स दोषः । स्वप्नान्तरे तु यदीदृशानि ते निमित्तानि श्रेय उपेक्षा मा रणे परिभवं गच्छेः ॥948॥ व्यवसायबुद्धिपुरुषस्य रणे प्रसिद्धिर् अवलम्ब्य धैर्यं सुकृतं यदि नो (=अस्माकं) जयः स्यात् । का तस्य शक्तिर्मां दृष्ट्वा सपारिषद्यं नोत्तिष्ठेत् (यथारुतं तं नोत्थातुम् अथवा नोत्तिष्ठतु) मम चरणौ शिरसा प्रपत्तुम् ॥949॥ विस्तीर्णमस्ति हि बलं च सुदुर्बलं च, अस्त्येकः शूरो बलवांश् च रणंजयश्च (यथारुतं तु रणहा=रणहापनः) । खद्योतकैर् यदि भवेत् त्रिसहस्रं पूर्णम् एको रविर् ग्रसते निष्प्रभतां करोति ॥950॥ यस्य मानश्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते । विलोमो यदि विद्वान् नासौ शक्यो (वि–) चिकित्सितुम् ॥951॥

यक्षकुम्भाण्डमहोरगरूपा राक्षसप्रेतपिशाचकरूपाः । यावन्तो लोके विरूपाः सुरौद्राः सर्वे ते निर्मितास्तत्र शठैः ॥952॥ एकशिरसो द्विशिरसस् त्रिशिरसश्च यावत्सहस्रशिरसो बहुवक्त्राः । एकभुजा द्विभुजास् त्रिभुजाश्च यावत्सहस्रभुजा बहुभुजाः । एकपदा द्विपदास् त्रिपदाश्च यावत् सहस्रपदा बहवो ऽन्ये ॥953॥ नीलमुखाश्च पीतशरीराः पीतमुखाश्च नीलशरीराः । अन्यमुखाश्चान्यशरीरा एवमुपागतं किंकरसैन्यम् ॥954॥ वातः प्रवाति वर्षति वर्षं विद्युत्सहस्रशतानि पतन्ति । देवो गुडगुडायते वृक्षा लोडन्ति बोधिवटस्य नेर्ते पत्रम् ॥955॥ वर्षति देवः प्रवर्षति वर्षम् ओघा वहन्ति जलाकुला भूमिः । ईदृशी (वि–) भीषिभा बहुराशिर् यत्राचेतना वृक्षाः पतन्ति ॥956॥ दृष्ट्वा च तान् अतिभीषणरूपान् सर्वान् विसंस्थितान्

रूपविरूपान् । श्रीगुणलक्षणतेजोधरस्य चित्तं न कम्पते मेरुर्यथैव ।।957।। मायासमांस्तथा स्वप्नसमांश्च, अभ्रनिभान् समुदीक्षते धर्मान् । ईदृशं धर्मनयं विमृशन् सुस्थितो ध्यायति संस्थितो धर्मे ।।958।। यस्य भवेद् अहमिति ममेति भावे समुच्छ्रये (=काये) तत्त्वनिविष्टः । स विभीयाद् अबुद्धेः स्थितो ग्राहे, आत्मानं संभ्रमं गच्छेद् निरीक्ष्य ।।959।। शाक्यसुतस्तु स्वभावमभावं धर्मान् प्रतीत्य समुत्थितान् बुद्ध्वा गगनोपमचित्तः सुयुक्तो न भ्रमति सबलं शठं दृष्ट्वा ।।960।।

सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति पन्नगेन्द्रं सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो गजेन्द्रम् । सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो मृगेन्द्रं सुस्थं प्रबोधयितुमिच्छति स नरेन्द्रम् ।।961।। संप्रेक्षणेन हृदयान्यभिसंस्फुटन्ति लोकेषु सारा महान्तोऽपि पादपाः (मूले प्रथमाया अर्थ एव षष्ठी महतामपि पदापानामिति) । का शक्तिरस्ति मम दृष्टिहतस्य तस्य संजीवितुं, जगति मृत्युहतस्य-इव-अस्तु ।।962।। वृक्षेषु सारः क इवास्ति ? ततो ब्रवीषि दृष्ट्वा भिनद्मि, मनुजेष्वथ कावस्था ? मेरुं गिरिं यदि भिनत्सि निरीक्षणेन नैवास्य तव नयनाभ्यां हत उन्मिषेः ।।963।। यः सागरं तर्तुमिच्छति वै भुजाभ्यां तोयं च तस्य पातुं मनुजः श्वसन् । शक्यं भवेदिदमतस्तु वदामि दुःखं यस्तस्य वक्त्रमभितो ऽप्यमलं निरीक्षेत ।।964।। ममेह देहे शतं भुजानां क्षिपामि चैकेन शतं शराणाम् । भिनद्मि कायं श्रमणस्य तात सुखी भव त्वं व्रज मा विलम्बस्व ।।965।। शतं भुजानां यदि को विशेषो भुजाः किमर्थं न भवन्ति रोमाणि । भुजैकैकेन तथैव शूलस् तैश्चापि कुर्युर्नहि तस्य किंचित् ।।966।। मैत्रीमतस्यस्य मुनेः शरीरं विष न शस्त्रं क्रमेत न चाग्निः । क्षिप्तानि शस्त्राणि व्रजन्ति पुष्पतां मैत्री हि लोकोत्तरभावा तस्य ।।967।। दिवि भुवि च जले ये बलाढ्या असिपरशुधराश्च गुह्यका नरा वा । क्षमाबलमिमं प्राप्य ते नरेन्द्रं प्रबलवला अल्पबला भवन्ति सर्वे ।।968।। अन्तर्गतोऽहं वक्ष्यामि प्रविश्यास्य तनुं शुभाम् । वृक्षं सकोटरं शुष्कं दावाग्निरिव सूक्ष्मतः ।।969।। मेरुं दहेस्त्वं यदि वापि कृत्स्नं प्रविश्य चान्तर्गतो मेदिनीं वा । दग्धुं न शक्यः सहि वज्रबुद्धिस् त्वत्संनिभैर् गङ्गावालुकातुल्यैः ।।970।। चलेयुर्गिरयः सर्वे क्षयं गच्छेन्महोदधिः चन्द्रसूर्यौ पतेतां भूमौ मही च विलयं व्रजेत् ।।971।। लोकस्यार्थे कृतारम्भः प्रतिज्ञाकृतनिश्चयः । अप्राप्यैव वरा बोधिं नोत्थास्यति महाद्रुमात् ।।972।। आलयं चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्राणां च सर्वशः । पाणिनाहं प्रमृद्नामि तवेह भवने स्थितः ।।978।। चतुर्भ्यः सागरेभ्यश्च जलं गृह्णामि लीलया । तं गृहीत्वा श्रमणं तात सागरस्य पारं क्षिपे ।।974।।

तिष्ठतु तात सेनेयं मा त्वं शोकार्दितो भव । तं बोधिवृक्षमुत्पाट्य क्षेप्स्ये पाणि दिशो दश ॥975॥ सदेवासुरगन्धर्वां ससागरनगां महीम् । त्वं मर्दितां प्रकुर्याश्च पाणिभ्यां मदगर्वितः ॥976॥ त्वद्‌विधानां सहस्राणि गङ्गावालुकया समानाम् । रोम तस्य न चालयेयुर्बोधिसत्वस्य धीमतः ॥977॥ भयं हि ते तात भृशं किमर्थं सेनाया मध्ये किमवस्थितस्य । सेना न तस्यास्ति कुतः सहायाः कस्माद् भयं ते भवतीह तस्मात् ॥978॥ यूथं न लोकेऽस्ति शशिरवीणां न चक्रवर्तिनां न च केसरिणाम् । न च बोधिसत्त्वानामिह तात यूथम् एकः समर्थो नमुचिं निहन्तुम् ॥979॥ न शक्तिशूला न गदा न खड्गा न हस्तिनो ऽश्वा न रथा न पत्तयः । तं शौण्डमेकं श्रमणं निषण्णं हनिष्याम्यद्य मा संभ्रम तात किंचित् ॥980॥ नारायणस्य यथा कायो ऽच्छेद्याभेद्यः क्षान्तिबलैः कवचितो दृढवीर्यखड्गः । त्रिविमोक्षवाहनो ऽस्ति प्रज्ञाधन्वा स तात पुण्यबलेन स जेष्यति मारसेनाम् ॥981॥ न निवर्तते तृणगतः प्रदहन् दवाग्निः क्षिप्तः शरो न च निवर्तते शिक्षितेन । वज्रो नभसो निपपतितो न निवर्तते च न स्थानमस्ति मम शाक्यसुत ह्यजित्वा ॥982॥ आर्द्रं तृणं प्राप्य निवर्तते ऽग्निर् गिरिकूटमासाद्य निवर्तते शरः । वज्रं महीं प्राप्याधः प्रयाति, अप्राप्य शान्तममृतं न निवर्तते ऽयम् ॥983॥ शक्यं तातान्तरिक्षे लेख्यं चित्रं चित्रयितुं यावन्तः केचित् सर्वे सत्त्वा एकचित्ताः स्थापयितुम् । चन्द्रसूर्यौ मारुतश् च शक्याः पाशेन बद्धुं न बोधिसत्त्वः शक्यस्तात बोधिमण्ड (प)ाज् चालयितुम् ॥984॥ दृष्टिविषेण महता प्रदहामि मेरुं भस्मीकरोमि सलिलं च महोदधीनाम् । बोधिं च पश्य श्रमणं चाहं हि तात दृष्ट्या यथाद्योभयं हि करोमि भस्म ॥985॥ विषेण पूर्णो यदि वैष सर्वो भवेत् त्रिसाहस्रवरः प्रदीप्तः । निरीक्षणादेव गुणाकरस्य सुनिर्विषत्वं विषमभ्युपेयात् ॥986॥ विषाणामुग्रं त्रिभव इह यच्च रागश्च दोषश्च तथैव मोहः । ते तस्य काये च तथैव चित्ते नभसि यथा पंकरजांसि न सन्ति ॥987॥ (काये च वाचायां विशुद्धश् चित्ते सर्वेषु सत्त्वेषु च मैत्रचेताः । न तं च शस्त्राणि विषाणि हिंस्युः) तस्मान्निर्वर्तामहे तात सर्वे ॥987क॥ अहं सूर्यसहस्रैः प्रवादितैर् अप्सरःकोटिसहस्रैर् अलंकृतैः । लोभयित्वा नैष्ये पुरमुत्तमं कामरतिं हि करोमि वशे तव ॥988॥ धर्मरतिः सदा तस्य रतिरिह ध्यानरतिर् अमृतार्थरतिश्च । सत्त्वप्रमोक्षणमैत्रीरतिश्च रागरतिं स रतिं न करोति ॥989॥ जवेनाहं चन्द्ररवी ग्रसेयं प्रवान्तं गगने च वायुम् । अद्यैव तात श्रमणं गृहीत्वा प्राशस्य (अथवा घासस्य) मुष्टिमिव किरामि वायुना ॥990॥ यथा तवैष जववेग उग्रस् तद्वद् यदि स्यात् सुरमानुषाणाम् । सर्वे समग्रा

अपि न ते समर्थाः कर्तुं रुजमप्रतिपुद्गलस्य ॥991॥ स्यात्तादृशानमपि वृन्दमुग्रं कुर्वन्न किंचित् तव मानघातम्। प्रागेव स एकः प्रकरोति किं ते वृन्देन साध्यन्ते हि सर्वकार्याणि ॥992॥ न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वं दृष्टिविषाणामपि नास्ति वृन्दम्। तेजस्विनां सत्यपराक्रमाणां पुरुषर्षभाणामपि नास्ति वृन्दम् ॥993॥ न ते श्रुतास्तात गिरोऽभिदीप्ता यथा नदन्ति तनयास्तवेमे। वीर्येण वेगेन बलेन युक्ता व्रजाम शीघ्रं श्रमणं निहन्तुम् ॥994॥ बहवः शृगाला हि वनान्तरेषु नदन्ति नादान् न—सतीह (=असतीह) सिंहे। ते सिंहनादं तु निशाम्य भीमं त्रस्ताः पलायन्ते दिक्षु दशसु ॥995॥ मारौरसास्तद्वदमी अपण्डिता अश्रुत्वा नादं पुरुषोत्तमस्य। नदन्ति तावत् स्वमता अतिधृष्टा मनुष्यसिंहे नदिते न—सति (=असति) ॥996॥ यच्चिन्तयामि तदिहाशु भवति कथं न एष इमान् वीक्षते च। मूढ वा एषो ऽनभिज्ञः किं वा यदुत्थाय न पलायते लघु ॥997॥ मूढो न वायमपराक्रमो वा यूयमेव मूढाश्चासंयताश्च। न यूयं जानीथास्य वीर्यं प्रज्ञाबलेनास्य जिताः स्थ सर्वे ॥998॥ मारात्मजानां यथा गङ्गावालुका एतेन वीर्येण यथैव यूयम्। रोम्णामेकं न समर्थाश्चालयितुं प्रागेव यश्चिन्तयेद् घातयिष्ये ॥999॥ मा यूयमत्र क्षिणुयात मानसं प्रसन्नचित्ता भवत सगौरवाः। निवर्तध्वं मा प्रकुरुत विग्रहं भविष्यत्यसौ त्रिभवे राजा ॥1000॥ ये ते तवानुयात्राः शक्रः पालाश्च किंनरगणाश्च। असुरेन्द्रा गरुडेन्द्राः कृताञ्जलिपुटाः प्रणतास्तस्मै ॥1001॥ किं पुनरननुयात्रा ब्रह्माण आभास्वराश्च सुरपुत्रा। देवाश्च शुद्धावासकास्तेऽपि च सर्वे प्रणतास्तस्मै ॥1002॥ ये च तवेमे पुत्राः प्रज्ञा मेधाविनश्च बलिनश्च। ते बोधिसत्त्व हृदयमनुप्रविष्टा नमस्यन्ति ॥1003॥ याप्येषा मारसेनाऽशीतिं स्फुटा योजनानि यक्षाद्यैः। भूयिष्ठं सर्वं प्रेक्षिणी प्रसन्नमना हि निर्दोषम् ॥1004॥ दृष्ट्वा यथा सुभीमां रौद्रां विकृता चमूमिमां घोराम्। न च विस्मितो न चलितो ध्रुवमस्य जयो भवत्यद्य ॥1005॥ स्थिता यत्र च सेनेयं तत्रोलूकाः शिवाश्च विरुवन्ति। वायसगर्दभरुदितं निवर्तितव्यं क्षमं(=उचित) शीघ्रम् ॥1006॥ वीक्षस्व बोधिमण्ड (पे) पटुक्रौञ्चहंसकोकिलमयूराः। अभि दक्षिणं कुर्वन्ति ध्रुवमस्य जयो भवत्यद्य ॥1007॥ यत्र स्थिता सेनेयं तत्र मसिः मांसवश्च वर्षन्ति। महीमण्ड (पे) कुसुमवृष्टिः कुरुष्व वचनं निवर्तस्व ॥1008॥ यत्र स्थिता सेनेयम् उत्कूलनिकूलं शल्यकण्टकाकीर्णम्। महीमण्ड-(प): कनकनिर्मलो निवर्तितव्यं क्षमं प्राज्ञैः ॥1009॥ दृष्टा ते स्वप्नाः पूर्वं भविष्यसि प्रत्यक्ष(कृत्) यदि न गच्छसि। भस्म चमूं च करिष्यति, ऋषिभिर्दशाः कृता यथा भस्म ॥1010॥ राज्ञा यत ऋषिवरो रोषित आसीत्

स ब्रह्मदत्तेन । उद्गर्धं दण्डकवनं वर्षैर् बहुभिस्तृणानि न जातानि ।।1011।। ये केचित् सर्वलोक ऋषयो व्रतचारिणस्तपोयुक्ताः । तेषामयं प्रधानो ह्यहिंसकः सर्वभूतानाम् ।।1012।। किं ते न श्रुतानि पूर्वं काये दीप्तानि सुलक्षणानि यस्य । निष्क्रामति चागारात् स भवति बुद्धो जितक्लेशः ।।1013।। इयमीदृशी विभूतिः पूजार्थं निर्मिता जिनसुतैः । तन्नूनमग्रसत्त्वो ह्यग्राहुतिसंप्रतिग्राही ।।1014।। ऊर्णा यथा सुविमला विराजते क्षेत्रकोटिनयुतेषु । जिह्मीकृताः स्मश्च तया निःसंशयमेष मारबलं हन्ता ।।1015।। मूर्धा यथास्य देवैर् द्रष्टुं न शक्यो न वै भवाग्रस्थैः । नूनं सर्वज्ञत्वं प्राप्स्यत्यन्यैरनुपदिष्टम् ।।1016।। यथा मेरुचक्रवालाश्चन्द्रसूर्यौ च शक्रब्रह्माणः । वृक्षाश्च पर्वतवराः प्रणताः सर्वे महीमण्ड(प)म् ।।1017।। निःसंशयं पुण्यबली प्रज्ञाबलवांश्च ज्ञानबलवांश्च । क्षान्तिबलो वीर्यबलवान् अबलान् कर्ता नमुचिपक्षान् ।।1018।। हस्ती यथामभाण्डं प्रमृद्नाति क्रोष्टून् यथा सिंहः । खद्योतं वादित्यो भेत्स्यति सुगतस्तथा सेनाम् ।।1019।।

एकस्य वर्णान् अत्यप्रमेयान् प्रभाषते तस्य त्वमेकस्य । एको हि कर्तुं खलु किं समरर्थो महाबलं पश्यसि किं न भीमम् ।।1020।। सूर्यस्य लोके न सहायकृत्यं चन्द्रस्य सिंहस्य च चक्रवर्तिनः । बोधौ निषण्णस्य च निश्चितस्य न बोधिसत्त्वस्य सहायकृत्यम् ।।1021।।

यज्ञो मयेष्टस्त्वमिहात्र साक्षी निरर्गलः पूर्वभवेऽनवद्यः । तवेह साक्षी न तु कश्चिदस्ति किंचित् प्रलापेन पराजितस्त्वम् ।।1022।। इयं मही सर्वजगत्प्रतिष्ठाऽपक्षपाता सचराचरे समा । इयं प्रमाणा मम नास्ति मे मृषा साक्षित्वमस्मिन् मम संप्रयच्छतु ।।1023।। तं श्रुत्वा मेदिनीरवं स शठः ससैन्य उत्त्रस्तो भिन्नहृदयः प्रपलायमानः सर्वतः (यथारुत तुं सर्वस्मिन्) । श्रुत्वेव सिंहनदितं हि वने शृगालाः काका इव लोष्टपतने सहसा प्रनष्टाः ।।1024।।

सुबसन्तक ऋतुवर आगते, रमामहे प्रिय फुल्लितपादके । तव रूपं सुरूपं सुशोभनकं, वशवर्ति सुलक्षणैश्चित्रितम् ।।1025।। वयं जाताः सुजाताः सुसंस्थितिकाः, सुखकारणं देवनराणां सुसंस्तुकाः । उत्तिष्ठ लघु परिभुंक्ष्व सुयौवनकां, दुर्लभा बोधिर् निवर्तय मानसकम् ।।1026।। प्रेक्षसे तावद् इमा मरुत्कन्याः स्वलंकृतास्, तव कारण सज्जिता भूषिता आगताः को रूपमिदं समवेक्ष्य न रज्यति रागरतोऽपि जर्जरकाष्ठमिव शोषितजीवितकः ।।1027।। केशा मृदवः सुरभिवरगन्धाः, मुकुट-कुण्डल-पत्रविबोधिताननाः । सुललाटाः सुलेपनाननाः, पद्मविशुद्धविशालसुलोचनाः ।।1028।। परिपूर्ण-

चन्द्रनिभाननाः, सुपक्वबिम्बनिभाधराः शङ्खकुन्दहिमशुक्लसुदत्यः प्रेक्षस्व कान्त रतिलालसाः ॥1029॥ कठिनपीनोद्गतपयोधरां, त्रिवलीकृतसुसुन्दरमध्यां, चारुसुविस्तृतजघनाङ्गणां प्रेक्षस्व नाथ सुकामिनीम् ॥1030॥ गजभुजसंनिभोरुं, वलयनिरन्तरबाहुं । काञ्चीवरसुमंडितश्रोणिं, प्रेक्षस्व नाथेमां तव दासीम् ॥1031॥ हंसगतिसुविलम्बितगमनां, मञ्जुमनोज्ञसुमन्मथभाषिणीम् । ईदृशरूपसुभूषणां, दिव्यरतिषु सुपण्डिताम् ॥1032॥ गीतकवादितनृत्यसुशिक्षितां, रतिकारणजातिसुरूपिणीम् । यदि नेच्छसि कामसुलालसां, सुष्ठु सुवञ्चितोऽसि भृशं खलु लोके ॥1033॥ निधिं दृष्ट्वा यथा हि पलायते कश्चिन्नरो, धनसौख्यमजानन् मूढमनाः । त्वमपि तथैव हि रागमजानन् यः स्वयमागतां न भुङ्क्षे कामिनीम् ॥1034॥ इति॥

कामा भो बहुदुःखसंचया दुःखमूला, ध्यानर्द्धितपोभ्यश्च भ्रंशिनोऽबुधानाम् । न स्त्रीकामगुणैस्तृप्तिं विद्वांस आहुः, प्रज्ञातृप्तिकरो भविष्याम्यहमबुधानाम् ॥1035॥ कामान् सेवमानस्य विवर्धते पुनस्तृष्णा पीत्वा वै लवणोदकं यथा नरस्य कस्यचित् । नात्मार्थे न परार्थे भवतीह प्रतिपन्नः, आत्मार्थे च परार्थं उत्सुको भविताहम् ॥1036॥ फेनबुद्बुद्तुल्यसंनिभं तव रूपं, भायारंगमिव व्युत्थापितं स्वमतेन । क्रीडा वै स्वप्न इवाध्रुवा अप्यनित्या, बालानां सदा चित्तमोहन्य् बुधानाम् ॥1037॥ नेत्रे बुद्बुदतुल्यसदृशे त्वग्नद्धे, कठिनः शोणितपिण्डउद्गतो यथा गण्डः । उदरं मूत्रपुरीषसञ्चयोऽसुचौक्षः, कर्मक्लेशसमुत्थितं दुःखयन्त्रम् ॥1038॥ संमूढा यस्मिन् बालबुद्धयो न तु विज्ञाः, शुभतः कल्पयामाना आश्रये वितथेन । संसारे बहुकालं संसरेयुर् दुःखमूले ऽ अनुभोक्तारो निरयेषु वेदना बहुदुःखाः ॥1039॥ श्रोणिः प्रस्रविगन्धिका प्रतिकूला ऊरुजङ्घाक्रमाश्च संस्थिता यथा यन्त्रम् । भूतं युष्मान् अहं निरीक्षे यथा मायां हेतुप्रत्ययतः प्रवर्तध्वे वितथेन ॥1040॥ दृष्ट्वा कामगुणांश्च निर्गुणान् गुणहीनान् आर्यज्ञानपथस्योत्पथान् विपथांश् च । विषपत्राग्निसमान् महोरगान् यथा क्रुद्धान् बाला अत्र हि मूर्छिताः सुखसंज्ञाः ॥1041॥ कामाद् दासो भवति यो नरः प्रमदानां, शीलादुत्पथो ध्यानात् (यथारुतं तु ध्यायात्) उत्पथो मतिहीनः । ज्ञानात् स सुदूरे तिष्ठति रतिलोलो योऽसौ धर्मरतिं विहाय रमते कामैः ॥1042॥ न रागेण सह वसाम्यहं न च दोषैः (=द्वेषैः) नो नानित्याशुभानात्मभिर्वसामि सार्धम् । अरत्या रत्या संवसामि न च सार्धं, निर्मुक्तं मम चित्तं मारुतो गगन इव ॥1043॥ पूर्णं सर्वं जगत् त्वादृशैर्यदिह स्यात्, कल्पं ताभिः सह समवसृतो विहरेयम् । नो वा मम खिलं न रजनं न च मोहः आकाशसमतुल्यमानसा

जिना भवन्ति ॥1044॥ यद्यपीह रुधिरास्थिवर्जिता देवाप्सरसः सुनिर्मलाः शुभाः। तेऽपि सर्वे सुमहद्भये स्थिता नित्यभावरहिता अशाश्वताः ॥1045॥

दृष्णा ऽरती रतिश्च सहिता प्रमदवरा मधुरा मारसमीरिताः सुललितास् त्वरितमुपगताः। वायुसमीहिताः किसलयास् तरुणतरुलता नृत्ततो ऽलोभयन् नृपसुतं द्रुपविटपगतम् ॥1046॥ एव वसन्तकालसमयः प्रवर ऋतुवरो नरनारीणां (यथारुतं नारीनराणां) हर्षणकरो निहतमुरजः। कोकिलहंसमयूरवो द्विजगणकलिलः काल उपपस्थितोऽनुभवितुं मदनगुणरतिम् ॥1047॥ कल्पसहस्रशीलनिरतो व्रततपश्चरितो निश्चलः शैलराजसदृशस् तरुणरविवपुः। मेघनिनादवल्गुवचनो मृगपतिनिनदो वचनमुवाच सोऽर्थमहितं जगतो हितकरः ॥1048॥ कामा विवादा वैरणि कलहा सरणा भयकराः, बालजनोपसेविताः सदा बुधजनरहिताः। प्राप्तोऽयं कालो यत्र सुगतैरमृतमधिगतम् अद्य भविष्यामि मारं जित्वा दशबलोऽर्हन् ॥1049॥ मायां निदर्शयन्त्यो ऽवदञ्छृणु कमलमुख राजा भविष्यमीश्वरवरः क्षितिपतिर्बलवान्। तूर्यसहस्रैः संप्रभणिते प्रमदावरगणे किं मुनिवेषकेण भवतो विरम रतिं भज ॥1050॥ भविष्याम्यहं हिं राजा त्रिभवे दिवि भुवि महितः, ईश्वरो धर्मचक्रचरणो दशबलो बलवान्। शैक्ष्याशैक्ष्य पुत्रनयुतैः सततसमितमभितो धर्मरत्या रंस्ये विषयैर्न रत्वा रमते मनः ॥1051॥ यावच्च यौवनं न गलितं प्रथमवयोधरो यावच्च व्याधिर्नाक्रमति त्वां न च जरा आयाता (यथारुतं तु भूता भवेत्। मूले असिता, धातु अस् न तु अश्)। यावच्च रूपयौवनधरा वयमपि च सुखिन्यम् तावदनुभुङ्क्ष्व कामरतीः प्रहसितवदनः ॥1052॥ यावच्च दुर्लभो ऽद्य लब्धः क्षणवरोऽमृतो यावच्च वर्जितमक्षणदुःखमसुरसुरपुरे। यावज्जरा च व्याधिमरणं न कुपिता रिपवः, तावदहं भावयिष्ये सुपन्थानम् अभयपुरगमम् ॥1053॥ देवपुरालयेऽसरोवृतस् त्रिदशपतिरिव यामसुयामसंतुषितके ऽमरवरस्तुतः। मारपुरे च कामरतीः प्रमदावशंगतः क्रीडित्वानुभुङ्क्ष्वास्माभिः सह विपुलरतिकरः ॥1054॥ कामास् तृणाग्रबिन्दुचपला शरद्घनसमाः पन्नगकन्यारोषसदृशा भृशभयकरणाः। शक्रसुयामदेवतुषिता नमुचिवशगताः कोऽत्र रमेत नार्याभिलषितेषु (=अनार्याभिलषितेषु) व्यसनपरिगतेषु ॥1055॥ पुष्पितान् पश्येमान् तरुवरान् तरुणकिसलयान् कोकिलजीवंजीवकरुतान् मधुकरविरुतान्। स्निग्धनीलकुञ्चितंमृदुनि धरणीतलरुहे किन्नरसंघेन सेवितवने रमस्व युवतिभिः ॥1056॥ कालात् पुष्पिता इमे किसलयतरवः बुभुक्षितपिपासिता

मधुकराः कुसुममभिगताः । भास्करः शोषयिष्यति यदा धरणीतलरुहान् पूर्वजिनोपभुक्तममृतं व्यवसितमिह मे ॥1057॥ प्रेक्षस्व तावच् चन्द्रवदना नवनलिनीनिभा वाग् मनोज्ञा श्लक्ष्णा दशना हिमरजतनिभाः । ईदृश्वो दुर्लभाः सुरपुरे कुतो मनुजपुरे तास्त्वया लब्धा याः सुरवरैरभिलषिताः सदा ॥1058॥ पश्यामि कायममेध्यमशुचिं क्रिमिकुलभरितं जर्जरमित्वरं च भिदुरमसुखपरिगतम् । यत् सचराचरस्य जगतः परमसुखकरं तत्पदमच्युतं प्रतिलभेय बुधजनमहितम् ॥1059॥ ताश्चतुः षष्टिं कामललितानि चानूभूय नूपुरमेखला अभ्यघ्नन् विगलितवसनाः । कामशराहताः समदनाः प्रहसितवदनाः (आहुः इतिशेषः) किं तवार्यपुत्र विकृतं यदि (=यत्) न भजसे ॥1060॥ सर्वभवेषु दोषान् विदितवान् अवोचद् विधूतरजाः कामा असिशक्तिशूलसदृशाः समधुक्षुरसमाः । सर्पशिरोऽग्निकर्षुसदृशाः सुविदिता इह मे तेनाहं नारीसंघं त्यजामि गुणहराः प्रमदाः ॥1061॥ ता बहुभिः प्रकारनयुतैः प्रमदागुणकरैर लोभयितुं न शेकुर् गजकलभगतिम् । लज्जित्वा ह्यपत्रास्तु मुनेः प्राप्तंश् चरणयोर् गौरवं तुष्टिं (यथारुतं तु तुष्टं) प्रेम जनयित्वा ऽस्ताविषुर्हितकरम् ॥1062॥ निर्मलपद्मगर्भसदृश शरदि–शशिमुख सर्पिर्हुताचिस्तेजः सदृश कनकगिरिनिभ । सिध्यतु चिन्तितस्ते प्रणिधिर् भवशतचरित स्वयमुपतीर्य तारय जगद् व्यसनपरिगतम् ॥1063॥ ताः कर्णिकारचम्पकनिभाः स्तुत्वा बहुविधं कृत्वा प्रदक्षिणमतिशयं गिरिमिवाचलम् । गत्वा पितुर्निपत्य शिरसेमाम् अवोचन् गिरं साध्व असनं हि तात प्रतिघस्यामरनरगुरो (=यथारुतं तु ०गुरोः) ॥1064॥ पश्यति पद्मपत्रनयनः प्रहसितवदनो नापि सरक्तः प्रेक्षते जनं नापि च सभ्रुकुटिः । मेरुश्चलेत् शुष्यदुदधिः शशिरवी प्रपतेतां नैव स दोषदर्शी त्रिभवे प्रमदावशं गच्छेत् ॥1065॥

श्लक्ष्णं मधुरं च भाषते न च रक्तो, गुरुगुह्यं च निरीक्षते न च दुष्टः (=द्विष्टः)। ईर्यां चर्यां च प्रेक्षते न च मूढः, कार्यं सर्व पणते, आशयः सुगभीरः ॥1066॥ निःसंशयं (यथारुतं तु निःसंशयेन) विदिताः पृथवः स्त्रीदोषाः, कामैर्विरक्तमनाः न च रागरक्तः । नैवास्त्यसौ दिवि भुवीह नरः सुरो वा यस्तस्य चित्तचरितं परिजानीयात् ॥1067॥ याः स्त्रीमाया उपदर्शितास्तत्र तात, प्रविलीयेत् तस्य हृदयं भवेत् संरागः । ता दृष्ट्वा एक (–वार)मपि कम्पितं नास्य चित्तं, शैलेन्द्रराज इव तिष्ठति सोऽप्रकम्प्यः ॥1068॥ शतपुण्यतेजोभरितो गुणतेजः पूर्णः शीले तपसि चरितो बहुकल्पकोटीः । ब्रह्माश्च देवाः शुभतेजसो विशुद्धसत्त्वा मूर्ध्ना निपत्य चरणयोर्नमन्ति तस्मै ॥1069॥ निःसंशयं (यथारुतं तु निःसंशयेन)

विनिहत्य स मारसेनां पूर्वैर् जिनैरनुमतां प्राप्स्यत्यग्रबोधिम् । तात न रोचते हि नो (=अस्यभ्यम्) वो (=युष्माकं) रणो विवादः, बलवत्सु विग्रहः सुकृच्छ्रोऽयं प्रयोगः ॥1070॥ प्रेक्षस्व तात गगने मणिरत्नचूडाः संबोधिसत्त्वनयुताः स्थिता गौरवेण । रत्नाकराः कुसुमदामविचित्रताङ्गाः संप्रेक्षिता दशबलैरिह पूजनार्थम् ॥1071॥ ये चेतना अपि च ये चाचेतनाश्च वृक्षाश्च शैला गरुडेन्द्रसुरेन्द्रयक्षाः । अभ्यवनता अभिमुखं गुणपर्वतस्य श्रेयो भवेत् प्रतिनिवर्तितुमद्य तात ॥1072॥ न तं तरेद् यस्य न पारमुत्तरेद् न तं खनेद् यस्य न मूलमुद्धरेत् । न कोपयेत् तं क्षामयेत् पुनरपि यं कुर्यान्न तं येन भवेच्च दुर्मनाः ॥1073॥

उपशोभसे त्वं विशुद्धसत्त्व चन्द्र इव शुक्लपक्षे । अभिरोचसे त्वं विशुद्धबुद्धे सूर्य इव प्रोदयमानः ॥1074॥ प्रफुल्लितस्त्वं विशुद्धसत्त्व पद्ममिव वारिमध्ये । नदसि त्वं विशुद्धसत्त्व केसरीव वनराजाव् अनुचारी ॥1075॥ विभ्राजसे त्वमग्रसत्त्व पर्वतराज इव सागरमध्ये । अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व चक्रवाल इव पर्वतः ॥1076॥ दुखगाहस्त्वमग्रसत्त्व जलधर इव रत्नसम्पूर्णः । विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ गगनमिवापर्यन्तम् ॥1077॥ सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व धरणीतलवत्सर्वसत्त्वोपजीव्यः । अकलुषबुद्धिरस्यग्रसत्त्वानवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः ॥1078॥ अनिकेतबुद्धिस्त्वम् अग्रसत्त मारुत इव सर्वलोके सदा ऽप्रसक्तः । दुरासदस्त्वमग्रसत्त्व तेजोराज इव सर्वमन्युना प्रहीणः ॥1079॥ बलवानसि त्वमग्रसत्त्व नारायण इव दुर्धर्षः । दृढसमादानस्त्वं लोकनाथानुत्थाता बोधिमण्ड (प)ात् ॥1080॥ अनिवर्त्यसि त्वमग्रसत्त्वेन्द्रकरोत्सृष्ट इव वज्रः । सुलब्धलाभस्त्वमग्रसत्त्व दशबलसामग्र्योऽचिराद् भविष्यसि ॥1081॥

ध्वस्तस्त्वं पापीयन् जीर्णक्रौञ्च इव ध्यायसि । दुर्बलस्त्वं पापीयञ्जीर्णगज इव पङ्कमग्नः ॥1082॥ एकाक्यसि त्वं पापीयन् निर्जित इव शूरप्रतिज्ञः । अद्वितीयस्त्वं पापीयन्नटव्यां त्यक्त इव रोगार्तः ॥1083॥ अबलस्त्वं पापीयन् भारक्लिष्ट इव बलीवर्दः । अपविद्धस्त्वं पापीयन् वातक्षिप्त इव तरुः ॥1084॥ कुपथस्थितस्त्वं पापीयन् मार्गभ्रष्ट इव सार्थिकः । दीनहीनस्त्वं पापीयन् मत्सरीव दरिद्रपुरुषः ॥1085॥ मुखरस्त्वं पापीयन्, वायस इव प्रगल्भः । मानाभिभूतस् त्वं (=अभिभूतमानस् त्वं) पापीयन्नकृतज्ञ इव दुर्विनीतः ॥1086॥ पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयन् क्रोष्टेव सिंहनादेन । विधूनयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् वैरम्भवायुना (=झंझावातेन) विक्षिप्त इव पक्षी ॥1087॥ अकालज्ञस्त्वं पापीयन् पुण्यपरिक्षीण इव

भिक्षुकः। विवर्ज्यसे त्वमद्य पापीयन् भिन्नभाजनमिव पांसुप्रतिपूर्णम् ॥1088॥ निग्रहीष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन मन्त्रेणेवोरगाः। सर्वबलप्रहीणोऽसि पापीयन् छिन्नकरचरण इव कबन्धः (हिन्दीभाषायां रुण्ड इति) ॥1089॥

अद्य त्वं पापीयन् निर्जेष्यसे बोधिसत्त्वेन परसैन्यमिव शूरेण। निग्रहीष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन दुर्बलमल्ल इव महामल्ले ॥1090॥ अभिभविष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन खद्योतक इव सूर्यमण्डलेन। विध्वंसयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन मुञ्जमुष्टिरिव महामारुतेन ॥1091॥ वित्रासयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन केसरिणेव शृगालः। प्रपातयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन महासाल इव मूलच्छिन्नः ॥1092॥ विलोपयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेनामित्रनगरमिव महाराजेन। विशोषयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन गोष्पदवारीव महातपेन ॥1093॥ पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन बध्यविमुक्त इव धूर्तपुरुषः। उद्भ्रामयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेनाग्निदाहेनेव मधुकरवन्दम् ॥1094॥ रोषयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन राष्ट्रभ्रष्ट इव (ı) धर्मराजः। ध्यापयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन जीर्णक्रौञ्च इव लूनपक्षः ॥1095॥ बिभर्त्सयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन क्षीणपथ्यादन इवाटवीकान्तारे। विलापयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन भिन्नयानपात्र इव महार्णवे ॥1096॥ आम्लापयिष्यसे त्वमद्यपापीयन् बोधिसत्त्वेन कल्पदाह इव तृणवनस्पतयः। विकारयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन महावज्रेणेव गिरिकूटः ॥1097॥

भूतां चोदनां श्रुत्वा दैवतगणानां न निवर्तते सोऽन्तकः, उच्छिन्त हृत विलुम्पत इमं, मा दत्त जीवितम्। एष उत्तीर्णः स्वयं ममापि विषयात् तारयिष्यति चापरान्, नान्यन्मोक्षं वदामि किञ्चित्, श्रमण, उतिष्ठेः प्रक्राम्येः ॥1098॥ मेरुः पर्वतराज. स्थानात् चलेत् सर्वं जगन्नो भवेत्, सर्वे तारकसंघा भूमौ प्रपतेयुः सज्योतिरिन्दवो नभसः। सर्वान् सत्त्वान् कुर्यादेकमती शुष्येन्महासागरो न त्वेन द्रुमराजमूलोपगश्चाल्येतास्मद्विधः ॥1099॥

कामेश्वरोऽस्मि वशितेह सर्वलोकं, देवा सदानवगणा मनुजाश्च तिर्यञ्चः। व्याप्ता मया मम वशेन च यान्ति सर्वे, उतिष्ठ मम विषयस्थो वचः कुरुष्व ॥1100॥कामेश्वरोऽसि यदि व्यक्तमनीश्वरोऽसि, धर्मेश्वरोऽहम्, अपि पश्यसि तत्त्वतो माम्। कामेश्वरोऽसि यदि दुर्गतिं न प्रयासि, प्राप्स्यामि बोधिम् अवशस्य तु पश्यतस्ते ॥1101॥ एकात्मकः श्रमण किं प्रकरोष्यरण्ये

यं प्रार्थयस्यसुलभः खलु संप्रयोगः। भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिस्तपसः प्रयत्नात् प्राप्तं न तत्पदवरं मनुजः कृतस्त्वम् ॥1102॥ अज्ञानपूर्वकं तप ऋषिभिः प्रतप्तं क्रोधाभिभूतमतिभिर् द्युलोककामैः। नित्यं न-नित्यमिति चात्मानं संश्रयद्भिर् मोक्षं च देशगमनस्थितमाश्रयद्भिः ॥1103॥ ते तत्त्वतोऽर्थरहितं पुरुषं वदन्ति व्यापिन प्रदेशगतं शाश्वतमाहुरेके। मूर्तं नमूर्तमगुणं गुणिनं तथैव कर्तारमकर्तारमिति चाप्यपरे ब्रुवन्ति ॥1104॥ प्राप्याद्य बोधिं विरजसमिह चासनस्थस्त्वां जित्वा मार विहृतं सबलं ससैन्यम्। वर्तयिष्ये-ऽस्य जगतः प्रभवोद्भवस्य च निर्वाणं दुःखशमनं तथा शीतीभावम् ॥1105॥

मारः क्रुद्धो दुष्टो (द्विष्टो) रुष्टः परुषां गिरं पुनस्तु भणति गृह्णाम् गौतमं, एतं ह्येकमरण्ये न्यस्तं गृहीत्वा मम पुरतो व्रजत लघु वशे कुरुत। शीघ्रं गत्वा मम गेहे हडिनिगड-युगल-विकृतं कुरुत दौवारिकं, स्वयमेव पश्येद् दुःखेनार्तं बहुविविधजवरुतं मरुतामिव चेटकम् ॥1106॥ शक्यमाकाशे लेख्यं चित्रं बहुविविधं विकृतं पादशः प्रकर्तुं पृथक्-पृथक् शक्यो वायुः पाशैर्बद्धुं दिशो विदिशो गमनजवो नरेण सुयत्नतः। शक्यौ कर्तुं चन्द्रादित्यौ तमस्तिमिरवितिमिरकरौ नभसोऽद्य महीतलं, शक्यो नाहं त्वत्सदृशैर्बहुभिरपि गणनाविद्रुतैः (= गणनातीतैः) द्रुमात् प्रतिचालयितुम् ॥1107॥

अभ्युत्थिता बलवती नमुचेश्चमूः सा हाकारशङ्खरवभेरीमृदङ्गशब्दैः। हा पुत्र वत्स दयित किमसि प्रनष्टो दृष्ट्वेमां नमुचिसेनामतीव भीमाम् ॥1108॥ जाम्बूनदकनकचम्पकगर्भगौर सुकुमार देवनरसंस्तुत पूजनीय। अद्य प्रयास्यसि विनाशं महारणे मारस्यैष्यसि वशम् असुरस्येवेन्दुः ॥1119॥ ब्रह्मस्वरेण कलविङ्करुतस्वरेण तान् यक्षराक्षसगणान् सुगतो बभाषे। आकाशं त्रायितुमिच्छति यो ह्यविद्वान् सोऽस्मद्विधं द्रुमवराद् ग्रहीतुम् (यथारुतं तु ग्रहणाय) इच्छेत् ॥1110॥ भित्त्वा च यो रजो गणयेन्महासाहस्रस्य लोम्ना च सागरजलं च समुद्धरेद् यः। वज्रमयान् गिरिवान् विकिरेत् क्षणाच्च स चापि मां तरुगतं न विपीड़येत् ॥1111॥ युगस्यान्तरे स्थितो मारः प्रदुष्ट (=प्रद्विष्ट) चित्तो निष्कोशं पाणिनासिं प्रगृह्य तीक्ष्णम्। उत्तिष्ठ शीघ्र श्रमणास्मन् मतेन गच्छ मा वेणुयष्टिं हरितामिव छिनद्मि तेऽद्य ॥1112॥ सर्वेयं त्रिसाहस्रा मेदिनी यदि मारैः प्रपूर्णा भवेत् सर्वेषां यथा मेरुः पर्वतवरः पाणिषु खड्गो भवेत्। ते मम न समर्था लोम चालयितुं मा दूषिन्, नातिवेलं संप्रनह्येयं, स्मारयामि तेन दृढं ॥1113॥ विध्यन्ति (स्म) शैलशिखराणि ज्वलिताग्नि वर्णानि, वृक्षान् समूलकान् अक्षैप्सुस् ताम्रलोहम्। उष्ट्र (-मुख)ाश्च गोगजमुखांस्तथा भैरवाक्षान् आशीविषान भुजगान् दृष्टि-

विषांश्च घोरान् ।।1114।। मेघा इवोत्थिताश्चतुर्दिशं गर्जन्तो वज्रानशनं स्तथा ऽयोगोलान् वर्षन्तः । असि-शक्ति-तीक्ष्णपरशून् सविषांश्च बाणान् भिन्दन्ति मेदिनीतलं प्रमन्थन्ति वृक्षान् ।।1115।। बाहुशतैः शरशतानि क्षिपन्ति केचिद् आशीविषान् हुतवहांश्च मुखान् सृजन्ति । मकरादिकांश्च जलजानुदधेर् गृहीत्वा विध्यन्ति केचिद् भुजगान् गरुडाश्च भूत्वा ।।1116।। केचित् सुमेरुसदृशान् अयोगोलकान् तप्ताग्निवर्णशिखरान् निक्षिपन्ति रुष्टाः । आसाद्य मेदिनीतलं क्षोभयन्ति चोर्वीम् । अधस्तादापस्कन्धं सलिलं (यथारुतं सलिलस्य) विलोडयन्ति ।।1117।। केचित्पतन्ति पुरतस्तथा पृष्ठतो ऽस्य वामे च दक्षिणस्मिन् पतन्त्य् अहो ते वत्स । विपरीतहस्तचरणा ज्वलितोत्तमाङ्गा नेत्रेभ्यो निश्चरति विद्युदिव प्रदीप्ता ।।1118।।

दृष्ट्वा विकारविकृतां नमुचेस्तु सेनां मायाकृतां च यथा प्रेक्षते शुद्धसत्त्वः । नैवात्र मारो न बलं न जगन्न चात्मा, उदकचन्द्ररूपसदृशं भ्रमति त्रिलोकम् ।।1119।। चक्षुर्न स्त्री पुरुषो नापि चात्मीयं श्रोत्रं च घ्राणं तथा जिह्वा तथैव कायः । अध्यात्मशून्या बहिर्धाशून्याः प्रतीत्यजाता धर्मा इमे कारकवेदकव्यतिवृत्ताः ।।1120।। स सत्यवाक्यमकरोत् सदा सत्यवादी येनेह सत्यवचनेनेमे शून्यधर्माः । ये केचित् सौम्या विनये ऽनुकूला यक्षास्ते शस्त्राणि पाणिषु निरीक्षेरन् (यथारुतं तु निरैक्षिषत) पुष्पदामानि ।।1021।। स दक्षिणेन करतलेन रचिताग्रजालेन ताम्रैर्नखैः सुरुचिरेण सहस्रारचक्रेण । जाम्बूनदार्चिःसदृशेन शुभपुण्यजुष्टेन मूर्ध्नो यावत् स्पृशति चरणौ सलीलम् ।।1122।। बाहु प्रसार्य यथा विद्युदिव नभःस्थाद् आभाषते वसुमतीयं मम साक्षिणी । चित्राणि मया यज्ञनयुतान्यपीष्टानि पूर्वं न मे जातु याचनका वन्ध्याः कृता । न दास्ये (इति विचिन्त्य इतिशेषः) ।।1123।। आपो मे साक्षिण्यस्तथा तेजस्तथैव वायुर् ब्रह्माणःप्रजापतयः सज्योतिषौ चन्द्रसूर्यौ । बुद्धा मे साक्षिणो दशसु स्थिता ये दिक्षु यथा मम शीलव्रतान्युदगतानि बोध्यङ्गानि ।।1124।। दानं मे साक्षि तथा शीलं तथैव क्षान्तिर् वीर्यमपि साक्षि तथा ध्यानं तथैव प्रज्ञा । चत्वार्यप्रमाणानि मम साक्षीणि तथाभिज्ञाऽनुपूर्वं बोधिचर्या सर्वा ममेह साक्षिणी ।।1125।। यावन्तः सत्त्वा निखिला दशसु दिक्षु यत् तेषु (अथवा तेषां) पुण्यं बलं तथैव ज्ञानम् । यज्ञा निरर्गला ये इष्टाः सहः कलिभिः (= कलनैः, गणनैः) ते मम रोमशततमीं कलां नोपयान्ति ।।1126।। स पाणिना धरणीमाहन्ति सलीलं रणतीयं वसुमती यथा कंसपात्री । मारो निशम्य रवं मेदिन्यां निरस्तः शृणुते वचो हत गृह्णीत कृष्णबन्धुम् ।।1127।। प्रस्विन्नगात्रं हततेजसं विवर्णवक्त्रं मारो जराभिहतमात्मानं सम-

दर्शत् । उरस्तताडं क्रन्दतो भयार्तस्यानाथभूतस्य भ्रान्तं मनो नमुचेर्गतश्चित्तं मोहन् ॥1128॥ हस्त्यश्वयानरथा भूमितले निरस्ता धावन्ति राक्षसाः कुम्भाण्डाः पिशाचा भीताः । संमूढा मार्गं न लभन्ते ऽलयनत्राणाः पक्षिणो दवाग्निपतनेनेव निरीक्ष्य क्रान्ताः ॥1129॥ माता स्वसा पिता पुत्रस्तथैव भ्राता पृच्छन्ति तत्र क्वचिद् दृष्टः क्व गतो वा । अन्योन्यं विग्रहं कुर्वन्ति तथैवाघातं प्राप्ता वयं व्यसनं जीवितस्य नावकाशः ॥1130॥ सा मार-सेना विपुलाऽक्षोभ्या विभ्रष्टा सर्वा विरलीकृता नैव संधिः । दिवसान् सप्ताभ्ययासीत् परस्परेण, आभाषत दृष्ट्वा यदि जीवने तं खलु प्रीतः ॥1131॥

सा वृक्षदेवता तदा करुणां हि कृत्वा वारिघटं गृहीत्वा सिञ्चति कृष्ण-बन्धुम् । उत्तिष्ठ शीघ्रं व्रज मा पुनर्विलम्बस्त्वैवं हि तेषां भवति गुरूद्ध-राणाम् ॥1132॥ दुःखं भयं व्यसनशोकविनाशनं च धिक्कारशब्दमवमान-गतं च दैन्यम् । प्राप्तोऽस्म्यद्यापराध्य सुशुद्धसत्त्वे ऽश्रुत्वा वाक्यं मधुरं हित-मात्मजानाम् ॥1133॥ भयं च दुःखं व्यसनं च दैन्यं धिक्कारशब्दं वधबन्धनं च । दोषाननेकान् लभते ह्यविद्वान् निरपराध्येष्वपराध्यति यः ॥1134॥

देवासुर-गरुडराक्षसकिन्नरेन्द्रा ब्रह्माथ परनिर्मिताः साकनिष्ठाः । भाषन्ते तस्य विजयं, जय लोकवीर, यत्रेदृशी नमुचिसेना त्वया निरस्ता ॥1135॥ हारार्धचन्द्रान् ध्वजच्छत्रपताका ददति पुष्पागुरून् तगरचन्दन-चूर्णवर्षम् । तूर्याणि पराहन्य वाक्यमुदीरयन्त्य् आस्य (=आ-आस्-य) द्रुमे त्वया च शूर जितोऽरिसंघः ॥1136॥ अत्रैव चासनवरे लभसेऽद्य बोधिम् आवेणिकानि दशबलानि प्रतिसंविदं च । सर्वंच बुद्धविषयं लभसेऽद्य शूर मैत्र्या विजित्य विपुलान्छठमारपक्षान् ॥1137॥ इह मारधर्षणकृते च रणे प्रवृत्ते संबोधिसत्त्वबलविक्रमो यैर्दृष्टः । षट्त्रिंशकोटिभिर् नयुतानां चतुर्भिश्च विंशत्या यैर्मनः प्राणिहितं वरबुद्धबोधौ ॥1138॥ इति ॥

652

653

॥ २२ ॥

॥ अभिसंबोधनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 343 (पंक्ति 13)—357 (पंक्ति 17)
भोटानुवाद 248ख (पंक्ति 2)—259क (पंक्ति 7)

॥ २२ ॥

॥ अभिसंबोधनपरिवत ॥

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, मार रूपी शत्रु को पराजित कर, कंटक को मसल कर, लड़ाई के मुहाने पर विजय पाकर, (विजय के) छत्र को, (विजय की) ध्वजा को, (विजय की) पताका को उन्नत कर, कामों से एवं पाप तथा अकुशल धर्मों से रहित, वितर्क–सहित एवं विचार--सहित, विवेकजनित प्रीतिमय एवं सुखमय प्रथम ध्यान को प्राप्त कर, बोधिसत्त्व विहरने लगे।

(फिर) वितर्क-सहित, एवं विचार-सहित (धर्मों के) शान्त होने पर, अध्यात्म की निर्मलता से, चित्त के एकाग्र--भाव से, वितर्क--रहित एवं विचार-रहित, समाधिजनित, प्रीतिमय एवं सुखमय, द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगे।

(फिर) वे प्रीति में वीतराग होने से उपेक्षक हो विहरने लगे, स्मृतिमान एव संप्रज्ञानी (=जागरूक) काय से सुख का प्रतिसंवेदन (=अनुभव) करने लगे। जिसका आर्य (--लोग) वर्णन करते हैं कि-उपेक्षक, स्मृतिमान्, (--**344**--) सुखविहारी, प्रीतिरागरहित,=**249**क=तृतीय पाकर विहरता है।

(फिर) वे सुख के प्रहाण से, एवं पहले से ही दुःख का प्रहाण हो जाने से, सौमनस्य तथा दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से, दुःख-रहित एवं सुख-रहित, उपेक्षा द्वारा तथा स्मृति द्वारा परिशुद्ध, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगे।

2. इसके अनन्तर उस प्रकार समाहित (= समाधिप्राप्त), परिशुद्ध, वर्यवदात (= सर्वथा कालुष्य--रहित), प्रभास्वर (= उज्ज्वल), अनङ्गण (=क्लेश--रहित), उपक्लेश-रहित, मृदु, कर्म, में उद्योगशील, आनिज्यप्राप्त (=चञ्चलता--रहित) चित्त में रात्रि के प्रथम प्रहर में, दिव्यदृष्टि--ज्ञानदर्शनविद्या का साक्षात्कार करने के लिए बोधिसत्त्व ने चित्त का अभिनिर्हरण (= कार्यसिद्धि में प्रोत्साहन) किया, अभिनिनमिन (=लक्ष्य में तल्लीनभाव) किया।

इसके अनन्तर, मानवभाव का अतिक्रम कर परिशुद्ध दिव्यचक्षु के द्वारा बोधिसत्त्व ने प्राणियों को देखा और कर्मानुसार उत्पन्न होते हुए, च्युत होते हुए, सुन्दर वर्ण (=रंग) के, कुत्सित वर्ण (= रंग) के, सुगत (=धनी), दुर्गत (=दरिद्र), उत्तम तथा हीन होते हुए प्राणियों को जाना।

3. अहो, ये प्राणी कायदुश्चरित से युक्त हैं, वाग्दुश्चरित से युक्त हैं, मनोदुश्चरित से युक्त हैं, आर्यों के निन्दक हैं, मिथ्यादृष्टि के हैं। मिथ्यादृष्टि के कर्मों और धर्मों का अनुष्ठान करने के कारण, शरीरनाश होने के पश्चात्, =249ख= मरण के अनन्तर अपाय एवं दुर्गति में गिर कर नरकों में उत्पन्न होते हैं।

4. अहो, ये भाग्यवान् प्राणी कायसुचरित से युक्त हैं, वाक्-सुचरित से युक्त हैं, मनः सुचरित से युक्त हैं, आर्यों के प्रशंसक हैं, सम्यग्दृष्टि के हैं। सम्यग्दृष्टि के कर्मों और धर्मों का अनुष्ठान करने के कारण, शरीरनाश होने के पश्चात्, सुगति में जाकर स्वर्ग-लोकों में उत्पन्न होते हैं।

5. इस प्रकार, मानवभाव का अतिक्रम कर विशुद्ध दिव्यचक्षु के द्वारा (बोधिसत्त्व ने) कर्मानुसार उत्पन्न होते हुए, च्युत होते हुए, सुन्दर वर्ण (=रंग, के, कुत्सित वर्ण (=रंग) के, सुगत (=धनी), दुर्गत (=दरिद्र), उत्तम तथा हीन होते हुए प्राणियों को देखा। इस प्रकार हे भिक्षुओं, रात्रि के प्रथम प्रहर में, बोधिसत्त्व ने विद्या का साक्षात्कार किया, अन्धकार को नष्ट किया, प्रकाश को उपजाया।

6. (--345--) इसके अनन्तर, उस प्रकार समाहित (=समाधिप्राप्त), परिशुद्ध, पर्यवदात (=सर्वथा कालुष्य-रहित), प्रभास्वर (=उज्ज्वल), अनङ्गण (=क्लेश-रहित), उपक्लेश-रहित, मृदु, कर्म में उद्योगशील, आनिञ्ज्यप्राप्त (=चंचलता-रहित) चित्त में, रात्रि के मध्यम--प्रहर में, पूर्वनिवासनुस्मृति-ज्ञानदर्शन--विद्या का साक्षात्कार करने के लिए, (बोधिसत्त्व ने) चित्त का अभिनिर्हरण (=कार्य-सिद्धि में प्रोत्साहन) किया, =250क= अभिनिर्नामन (=लक्ष्य में तल्लीनभाव) किया।

7. उन्होंने अपने तथा दूसरे प्राणियों के अनेक प्रकार के पूर्वनिवासों का अनुस्मरण किया। यथा उन्होंने अनुस्मरण किया एक जन्म का, दो, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, जन्मों का, सौ जन्मों का, सहस्र जन्मों का शत-सहस्र जन्मों का, अनेक शत-सहस्र जन्मों का, करोड़ जन्मों का, सौ करोड़ जन्मों का, सौ-हज़ार करोड़ जन्मों का, खर्ब करोड़ जन्मों का, अनेक हज़ार करोड़ जन्मों का, अनेक सौ-हजार करोड़ का, अनेक सौ-हज़ार खर्ब करोड़ जन्मों का, यहाँ तक कि प्रलय-कल्प का, सृष्टि कल्प का, प्रलय एवं सृष्टि कल्प का, अनेक प्रलय एवं सृष्टि कल्पों का। मैं अमुक स्थान पर था। ऐसा नाम था, ऐसा गोत्र था, ऐसी जाति थी, ऐसा वर्ण (=रंग) था, ऐसा आहार था, आयु का ऐसा प्रमाण था, ऐसा दीर्घ-जीवन था, ऐसे दुःखों एवं सुखों का प्रतिसंवेदी (=अनु-

भवी) था। मैं वहाँ से च्युत होकर अमुक स्थान पर = 250ख = उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर अमुक स्थान पर उत्पन्न हुआ, वहाँ से च्युत हो कर यहाँ उत्पन्न हुआ,—इस प्रकार आकार (= प्रभेद)—सहित, एवं उद्देश (= नाम-धाम)—सहित अपने तथा (अन्य) सब प्राणियों के पूर्वनिवासों का अनुस्मरण किया।

8. इसके अनन्तर, उस प्रकार समाहित (= समाधिप्राप्त), परिशुद्ध, पर्यवदात (= सर्वथा कालुष्य-रहित), प्रभास्वर (=उज्ज्वल), अनङ्गण (क्लेश-रहित), उपक्लेश-रहित, मृदु, कर्म में उद्योगशील, आनिज्यप्राप्त (= चंचलता-रहित) चित्त में, रात्रि के अन्तिम प्रहर में, अरुणोदय के समय, नन्दीमुखी (= मंगलमुखी) रात्रि में, दुःखों तथा दुःखों के समुदय (= हेतु) जहाँ अस्त हो जाते हैं, ऐसी आश्रवक्षयज्ञानदर्शन-विद्या का साक्षात्कार करने के लिये, बोधिसत्त्व ने चित्त का अभिनिर्हरण (=कार्यसिद्धि में प्रोत्साहन) किया, अभिनिर्नामन (= लक्ष्य में तल्लीनभाव) किया।

9. उनके मन में यह बात आई। (–346–) कष्ट–हा–कष्ट, लोक आपत्ति में है, जनमता है, बूढ़ा होता है, मरता है, च्युत होता है, उत्पन्न होता है। फिर भी जरा, व्याधि, मरण आदि के इस केवल महादुःखस्कन्ध से निःसरण (=निकल भागना) नहीं जानता। अहो, जरा, व्याधि, मरण आदि के इस सब महादुःख-स्कन्ध का अवसान करना नहीं जाना जाता है।1।

10. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। किसके होने पर जरा-मरण होता है? और किसके प्रत्यय से जरा-मरण होता है? = 251क = उनके मन में यह बात आई। जन्म के होने पर जरा-मरण होता है। और जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण होता है।2।

11. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर जन्म होता है? और किसके प्रत्यय से जन्म होता है? उनके मन में यह बात आई। भव के होने पर जन्म होता है। और भव के प्रत्यय से जन्म होना है।3।

12. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। किसके होने पर भव होता है? और किसके प्रत्यय से भव होता है? उनके मन में यह बात आई। उपादान के होने पर भव होता है। और उपादान के प्रत्यय से भव होता है।4।

13. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। किसके होने पर उपादान होता है? और किसके प्रत्यय से उपादान होता है? उनके मन में यह बात आई। तृष्णा के होने से उपादान होता है। और तृष्णा के प्रत्यय से उपादान होता है।5।

14. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर तृष्णा होती है ? और किसके प्रत्यय से तृष्णा होती है ? उनके मन में यह बात आई। वेदना के होने से तृष्णा होती है। और वेदना के प्रत्यय से तृष्णा होती है।6।

15. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर वेदना होती है ? और किसके प्रत्यय से वेदना होती है ? उनके मन में यह बात आई। स्पर्श के होने पर वेदना होती है। और स्पर्श के प्रत्यय से वेदना होती है।7।

16. (–347=) तदनन्तर =251=) बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर स्पर्श होता है ? और किसके प्रत्यय से स्पर्श होता है ? उनके मन में यह बात आई। षडायतन के होने से स्पर्श होता है। और षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श होता है।8।

17. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर षडायतन होता है ? और किसके प्रत्यय से षडायतन होता है ? उनके मन में यह बात आई। नाम–रूप के होने पर षडायतन होता है। और नाम—रूप के प्रत्यय से षडायतन होता है।9।

18. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर नाम—रूप होता है ? और किसके प्रत्यय से नाम—रूप होता है ? उनके मन में यह बात आई। विज्ञान के होने पर नाम—रूप होता है। और विज्ञान के प्रत्यय से नाम—रूप होता है।10।

19. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर विज्ञान होता है ? और किसके प्रत्यय से विज्ञान होता है ? उनके मन में यह बात आई। संस्कारों के होने पर विज्ञान होता है। और संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान होता है ।।11।।

20. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर संस्कार होते हैं ? और किसके प्रत्यय से संस्कार होते हैं ? उनके मन में यह बात आई। अविद्या के होने से =252क= संस्कार होते हैं। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं।12।

21. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। अविद्या 1 के प्रत्यय से संस्कार होते हैं। संस्कारों 2 के प्रत्यय से विज्ञान होता है। विज्ञान 3 के प्रत्यय से नाम-रूप होता है। नाम-रूप 4 के प्रत्यय से षडायतन होता है। षडा-

यतन 5 के प्रत्यय से स्पर्श होता है। स्पर्श 6 के प्रत्यय से वेदना होती है। वेदना 7 के प्रत्यय से तृष्णा होती है। तृष्णा 8 के प्रत्यय से उपादान होता है। उपादान 9 के प्रत्यय से भव होता है। भव 10 के प्रत्यय से जन्म होता है। जन्म 11 के प्रत्यय से जरा-मरण, शोक, परिवेदन (=विलाप), दुःख, दौर्मनस्य, और उपायास (=बेचैनी) होते हैं। इस प्रकार, केवल इस महान् दुःखस्कन्ध 12 का समुदय होता है, (फिर-फिर) समुदय एवं समुदय होता है।

22. (–348–) हे भिक्षुओ, इस प्रकार, पहले न सुने गए धर्मों (के विषय) में बोधिसत्त्व के अधिकाधिक योनिशः—मनस्कार (=उचित रूप में चिन्तन) से ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

23. [1]तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके न होने पर जरा-मरण नहीं होता है? और किसके निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है? उनके मन में यह बात आई। जन्म के न होने पर जरा-मरण नहीं होता है। और जन्म के निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है। =**252ख**=

24. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके न होने पर जन्म नहीं होता है? और किसके निरोध से जन्म का निरोध होता है? उनके मन में यह बात आई। भव के न होने पर जन्म नहीं होता है। और भव के निरोध से जन्म का निरोध होता है।

25. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके न होने पर (**उपादान-तृष्णा-वेदना-स्पर्श-षडायतन-नामरूप-विज्ञान--**) संस्कार नहीं होते हैं। और किसके निरोध से (**उपादान-तृष्णा-वेदना-स्पर्श-षडायतन-नामरूप-विज्ञान--**) संस्कारों का निरोध होता है। उनके मन में यह बात आई। अविद्या के न होने पर संस्कार नहीं होते हैं। और अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध होता है। (**विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध होता है। नाम-रूप के निरोध से षडायतन का निरोध होता है। षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध होता है। स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध होता है। वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध होता है। तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध होता है। उपादान के निरोध**

---

1. मूल, कस्मिन्नसति। भोट, **दे नस् यङ् ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह् ह्दि स्ञम् दु सेम्स् ते गङ् मेद् पस्** (=अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्। कस्मिन्नसति)।

से भव का निरोध होता है । भव के निरोध से जन्म का निरोध होता है ।) जन्म के निरोध से जरा-मरण, शोक परिदेवन (=विलाप) दु:ख, दौर्मनस्य (=बेचैनी) का निरोध होता है । इस प्रकार, केवल इस महान् दु:खस्कन्ध का निरोध होता है ।

26. हे भिक्षुओ, इस प्रकार पहले सुने गए धर्मों (के विषय) में बोधिसत्त्व के अधिकाधिक योनिशः मनस्कार (= उचितरूप में चिन्तन) से ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (= प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ ।

27. हे भिक्षुओ, उस समय, मैंने सचमुच जाना कि [2]यह आस्रव दु:ख है ।[2] यह आस्रव-समुदय है, = 253क = यह आस्रव-निरोध है, यह आस्रव-निरोधगामिनी प्रतिपदा (= राह) है, –यह सचमुच जाना । यह कामास्रव है, यह भवास्रव है, यह अविद्यास्रव है, यह दृष्ट्यास्रव है । यहाँ आस्रवों का पूर्णरूप से निरोध होता है । (--349--) यहाँ आस्रव[3] पूर्णरूप से [4]अस्त हो जाते हैं[4] कि उनका आभास तक नहीं रहता ।

28. यह अविद्या है, यह अविद्या-समुदय है, यह अविद्या-निरोध है, यह अविद्या-निरोधगामिनी प्रतिपदा (= राह) है,–यह सचमुच जाना । यहाँ अविद्या पूर्णरूप से अस्त हो जाती है कि उसका आभास तक नही रहता ।

29. पेयालं (= संक्षेपतः) ये संस्कार हैं, यह संस्कार-समुदय है, यह संस्कार-निरोध है, यह संस्कार निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है, –यह सचमुच जाना ।

30. यह विज्ञान है, यह विज्ञान-समुदय है, यह विज्ञान-निरोध है, यह विज्ञान-निरोधगामिनी प्रतिपदा (= राह) है, --यह सचमुच जाना ।

31. यह नामरूप है, यह नामरूप-समुदय है, यह नामरूपनिरोध है, यह नामरूप-निरोधगामिनी प्रतिपदा (= राह) है, –यह सचमुच जाना ।

2....2. मूल, इदं दु:खमिति । भोट, ह्दि नि **ज़ग् प स्डुग् ब्स्ङल् लो** (=इदम् आश्रव-दु:खमिति) ।

3. मूल आश्रवो । **ज़ग् प** । बहुवचन स्पष्ट नहीं है । प्रकरणानुसारी बहुवचन (अर्थात् आश्रवा) चाहिए ।

4. मूल, ०गच्छति । **नुब् पर ह्.ग्युर् रो** । भोट में बहुवचन प्रकट करना संभव नहीं । प्रकरणानुसार गच्छन्ति पाठ बहुवचन में होना चाहिए ।

32. यह षडायतन =253ख= है, यह षडायतन-समुदय है, यह षडायतनन-निरोध है, यह षडायतन-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

33. यह स्पर्श है, यह स्पर्श-समुदय है, यह स्पर्श-निरोध है, यह स्पर्श-निरोधगामिनी प्रतिपदा है, यह सचमुच जाना।

34. यह वेदना है, यह वेदना-समुदय है, यह वेदना-निरोध है, यह वेदना-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

35. यह तृष्णा है, यह तृष्णा-समुदय है, यह तृष्णा-निरोध है, यह तृष्णा निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

36. यह उपादान है, यह उपादान-समुदय है, यह उपादान-निरोध है, यह उत्पादान-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

37. यह भव है, यह भव-समुदय है, यह भव-निरोध है, यह भवनिरोध-गामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

38. यह जन्म है, यह जन्म-समुदय है, यह जन्म-निरोध है, यह जन्म-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है,—यह सचमुच जाना।

39. यह जरा है, यह जरा-समुदाय है, यह जरा-निरोध है, यह जरा-निरोधगामिनी (–350–) प्रतिपदा (=राह) है, यह सचमुच जाना।

40. यह मरण है, यह मरण-समुदाय है, यह मरण-निरोध है, यह मरण-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

41. ये शोक, =254ख= परदेव, (=विलाप), दुःख, दौर्मनस्य, और उपायास (=बेचैनी) है। इस प्रकार, केवल इस महान् दुःखस्कन्ध का (जैसे) समुदय होता है, और (जैसे) निरोध होता है,—यह सचमुच जाना।

42. यह दुःख है, यह दुःख समुदय है, यह दुःख-निरोध है, यह दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=राह) है,—यह सचमुच जाना।

43. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, रात्रि के अन्तिम प्रहर में अरुणोदय के समय नन्दीमुखी, (=मङ्गलमुखी) रात्री में, बोधिसत्त्व को जो कुछ, पुरुष के द्वारा, सत्पुरुष के द्वारा, अतिपुरुष के द्वारा, महापुरुष के द्वारा, पुरुष-ऋषभ के द्वारा, पुरुष-नाग के द्वारा, पुरुष-सिंह के द्वारा, पुरुष-पुंगव के द्वारा, शूर-पुरुष के द्वारा, धीर-पुरुष के द्वारा, आजानेय-पुरुष के द्वारा, पुरुष-पद्म के द्वारा, पुरुष-पुण्डरीक के द्वारा, पुरुष-धौरय (=धुरंधर) के द्वारा, अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि के द्वारा, इस प्रकार के आर्य ज्ञान से जानने के योग्य है, बूझने योग्य है,

पाने के योग्य है, देखने के योग्य है, साक्षात्कार करने के योग्य है, उस सबके साथ[5] एक (ग्र) चित्त में ईक्षणसमायुक्त (=दर्शन संयुक्त) प्रज्ञा के द्वारा[5] अनुत्तर-सम्यक्-सम्बोधि का बोध लेकर त्रैविद्याधिगमन (=दिव्यदृष्टि, पूर्व-निवासानुस्मृति, एवं आस्रव-क्षय ज्ञान रूपी तीन विद्याओं का लाभ हुआ।

44. तदनन्तर, हे भिक्षुओ, **–254–** देवता बोले। हे मार्षो (=साथियों), पुष्प वर्षा करो, भगवान् अभिसंबुद्ध हो गए। वहाँ पर जिन देवपुत्रों ने पहले के बुद्धों को देखा था और (वहाँ पर) एकट्ठे थे, उन्होंने कहा—मार्षो (=साथियों), जब तक भगवान् निमित्त नहीं प्रकट करते तब तक पुष्प वर्षा मत करो। पहले के बुद्धों ने निमित्त प्रकट किया था, ऋद्धि-चमत्कार दिखाया था।

45. हे भिक्षुओं, उन देवपुत्रों को दुविधा में पड़ा जान कर, सात-ताल जितनी ऊँचाई तक आकाश में उड़ कर, वहाँ बैठ कर, तथागत यह उदान बोले।—

(छंद आर्या विपुला)

(–351–) छिन्न वर्त्मोपसान्त रजाः शुष्का आश्रवा न पुन श्रवन्ति।
[6]छिन्न वर्त्म निवर्तते[6] दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते ॥1139॥ इति ॥

मार्ग (=संसार) कट गया, रज का उपशमन हो गया, आस्रव सूख गए, अब फिर न बहेंगे। मार्ग (=संसार) के कटने पर निवृत्त होना है। यह (=निवृत्ति) ही दुःख का अन्त कही जाती है।

46. तब उन देवपुत्रों ने तथागत के ऊपर पुष्पवर्षा की। उससे घुटने तक ऊँची दिव्य-पुष्पों की चादर बिछाई।

47. हे भिक्षुओ, इस प्रकार तथागत के अभिसंबुद्ध होने पर, तमो (गुण का) अन्धकार दूर हो गया, तृष्णा का शोधन हो गया, दृष्टि बदल गई, क्लेश विचलित हो गए, काँटे निकल गए, गाँठ खुल गई, मान का झंडा गिरा दिया गया, धर्म का झंडा फहराने लगा, अनुशय उखाड़ डाले गए, धर्मतथता =255क= का ज्ञान हो गया, भूतकोटि का अवबोध हो गया, धर्मधातु का परिज्ञान हो गया,

---

5....5. मूल एक चित्तेक्षणसमायुक्तयाचित्तेक्षण = चित्तक्षण (काल वाचक शब्द) तुलनीय भोट, **सेम्स् क्यि स्कद् चिग् ग्चिग् वङ् ल्दन् प हि्** (=एकचित्त-क्षणसमायुक्तया, एक चित्त-क्षण से युक्त)।

6....6. मूल, छिन्ने वर्त्मनि वर्तते। भोट, **लम् नि छद् दे यङ् मि ह्जुग्** (=छिन्ने वर्त्मनि निवर्तते)। मूल में **वर्त्म** से **नि** को पृथक् कर **वर्तते** के साथ पढ़ना ही अर्थसंगत है।

सत्त्वधातु की व्यवस्था हो गई, सम्यग्यभाव में नियत (धर्म-) राशि की प्रशंसा की गई, मिथ्याभाव में नियत (धर्म-) राशि की निन्दा की गई, अनियत (धर्म-) राशि का परिग्रह किया गया, सत्त्वेन्द्रियों की व्यवस्था की गई, प्राणि चरित जाने गए, [7]सत्त्व (=चित्त) निदान से उत्पन्न प्राणिव्याधि समझी गई[7], अमृत-भैषज-योग सिद्ध किया गया।

सब दु:खों से छुड़ाने वाले और निर्वाण—सुख में बिठाने वाले वैद्यराज उत्पन्न हुए, सर्वज्ञता-नगर में प्रविष्ट हुए, तथागत-गर्भ के तथागत--महाधर्म के राजासन पर विराजमान हुए, सब विमुक्तिपक्षों का सम्बन्ध (अपनी ओर) कर लिया, सब बुद्धों का सामीप्य प्राप्त कर लिया, धर्मधातु का निर्बाध अवबोध होने से असंभिन्न (=प्रपंचविमुक्त) हो गए।

48. हे भिक्षुओं, यहाँ मैंने अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया है, जिसके आदि का पता नहीं है, ऐसे जरा-मरण के दु:ख को मैंने यहाँ अन्त किया है—यह बात मन में कर तथागत उसी बोधिमण्डप में प्रथम सप्ताह भर बैठे रहे।

49. = 255ख =हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने के अनन्तर, ठीक उसी क्षण, दसों दिशाओं के सब लोक-धातुओं के सब प्राणी, उस क्षण-भर में, उस लव-भर में उस मुहूर्त-भर में परम-सुख से युक्त हो गए। सब लोकधातुएँ महान् प्रकाश से चमकने लगीं। और जो लोकों को छिपाने वाले पाप, तथा पाप से व्याप्त (--352--) अन्धकार थे उनमें, जैसा पहले कहा है, (प्रकाश से भर गए)। दसों दिशाओं की सब लोकधातुएँ, छह प्रकार से, काँप उठीं, अधिक काँप उठीं, चारों ओर से अधिक काँप उठीं, हिल उठीं, अधिक हिल उठीं, चारों ओर से अधिक हिल उठीं,--चंचल हो उठीं, अधिक चंचल हो उठीं, चारों ओर अधिक चंचल हो उठीं, उनमें खलभली मच गई, अधिक खलभली मच गई, चारों ओर से अधिक खलभली मच गई। (वे) बज उठीं, अधिक बज उठीं, सब ओर से अधिक बज उठीं, गरज उठीं, अधिक गरज उठीं, सब ओर से अधिक गरज उठीं।

7....7. मूल अवबुद्धा सत्त्वव्याधि: सत्त्वसमुत्थान०। पठनीय, अवबुद्धा सत्त्वव्याधि: सत्त्वसमु-त्थाना। अन्तिम पद सत्त्व व्याधि का विशेषण है। अनन्तर के पद सिद्धो से इसका संबन्ध नहीं है। भोट, सेम्स् चन् क्यि नद् गसो ब नि थुग्स् सु छुद् (=सत्त्वव्याधि-चिकित्सा मनसि कृता)। यहाँ मूल से भेद है।

50. अभिसंबुद्ध हुए तथागत को (उस समय) सब बुद्धों ने साधुवाद दिया और धर्माच्छादन (=धर्मच्छत्र) भेंट किए धर्माच्छादनों (धर्मच्छत्रों से) इस त्रिसाहस्रमहासाहस्र धातु का (आवरण हो गया और उस पर) अनेक रत्न-छत्र छा गए। उन रत्न-छत्रों से इस प्रकार के रश्मि-जाल =256क= निकले, जिनसे दसों दिशाओं की अप्रमेय असंख्य लोकधातुएँ चमचमाने लगीं।

51. दसों दिशाओं में (खड़े) बोधिसत्त्वों और देवपुत्रों ने आनन्द-ध्वनि की—सत्त्वों में (=प्राणियों में) पंडित का ज्ञान-सरोवर में लोक-धर्मों से अलिप्त पद्म का जन्म हुआ है। चारों ओर से (ये) महाकरुणा के मेघ से धर्मधातु के भवन को छाकर[8] विनेयजनों (=शिक्षणीय जनों) के लिए भैषज्य (--भूत) धर्मों की वर्षा करेंगे[8] जो सब कुशल-मूलों के बीजों में अंकुर उगा देगी, श्रद्धा के अंकुरों को बढ़ा देगी, विमुक्ति का फल देगी।

52. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

मारं विजित्य सबलं स हि पुरुषसिंहो
ध्यानासुखं[9] अभिमुखं अभितोऽपि शास्ता।
त्रैविद्यता दशबलेन यदा हि प्राप्ता
संकम्पिता दश दिशो बहुक्षेत्रकोट्यः ॥1140॥

जब, उन पुरुष-सिंह ने सेना-सहित मार को जीत लिया, और (जब उन) शास्ता ने समीप से ध्यानसुख का साक्षात् कर लिया, (तथा जब उन) दशबल ने त्रैविद्यता प्राप्त कर ली, (तब) दसों दिशाओं के अनेक-कोटि (बुद्ध--) क्षेत्र काँप उठे।

ये बोधिसत्त्व पुरि आगत धर्मकामा
चरणौ निपत्य इति भाषिषु मासि क्लान्तो।
प्रत्यक्ष अस्मि चमु यादृशिका सुभीमा
सा प्रज्ञपुण्यबलवीर्यबलेन भग्ना ॥1141॥

8...8. मूल, धर्मवर्ष विनये जनभैषजा। पठनीय, धर्मवर्ष (इस पद का अन्वय वर्षिष्यति के साथ हैं, इससे पूर्व दण्ड नहीं होना चाहिए)। विनेयजनभैषजानां। भोट, ह्दुल् ब ग्यि स्मन् थि छोस् क्यि छर् (=विनेयजनभैषज्यानां धर्मवर्षम्)।

6. मूल, ध्यानामुखं। भोट, ब्सम् ग्तन् ब्दे ब् (ध्यानसुखम्)। मूल में ध्यानासुखं पढ़ना इस भाषा के अनुकूल होगा।

धर्म की इच्छा से जो बोधिसत्त्व पहले आए थे, वे चरणों पर पड़ कर बोले—थके तो नहीं ? हमें प्रत्यक्ष है कि (मार--) सेना जैसी भयंकर थी। वह (तुम्हारे) प्रज्ञाबल से, पुण्यबल से एवं वीर्य-बल से भग्न हो गई।

(--353--) बुद्धैश्च क्षेत्रनयुतैः=256ख=प्रहितानि छत्रा
साधो महापुरुष धर्षित मारसेना।
प्राप्तं त्वया पदवरं अमृतं विशोकं
सद्धर्मवृष्टि त्रिभवे अभिवर्ष शीघ्रं ॥1142॥

बुद्धों ने खर्ब-खर्ब (बुद्ध--) क्षेत्रों से छत्र भेजे। हे साधु महापुरुष, (तुमने) मार सेना को हरा दिया, अशोक, अमृत, उत्तम पद तुमने प्राप्त कर लिया, (अब) तीनों भवों पर शीघ्र सद्धर्म-वर्षा बरसाओ।

बाहुं प्रसार्य दश दिक्षु च सत्त्वसारा
आभासयिसु कलविङ्करुताय वाचा।
बोधिर् यथा-म्-अनुगता भवता विशुद्धा
तुल्यः समोऽसि यथ सर्पिणि सर्पिमण्डैः ॥1143॥

दसों दिशाओं के सत्त्वसार (=बोधिसत्त्व) बाँह उठा कर चटक-जैसी चहचहाती बोली में बोले—आपको जैसी अत्यन्त शुद्ध बोधि प्राप्त हुई है, वह उपमा में (कही जाए तो) सर्पि (=घृत) में सर्पिमण्ड (=घृतमण्ड) के तुल्य है।

53. इसके अनन्तर, हे भिक्षुओं, बोधिमण्डप में बैठे, तथागत को अभिज्ञाओं के लाभी, परिपूर्ण मनोरथ के, संग्राम में विजयी, मार-शत्रु को पूर्णतया जीत लेने वाला, (विजय को) ध्वजाओं और पताकाओं को ऊँचा करके फहराने वाला, शूर, उन्नत, विजय से पुरुष-महापुरुष, सब शल्यों को निकालने वाला उत्तम वैद्य, भय से जिनके रोंगटे कभी नहीं खड़े होते ऐसा (पुरुष--) सिंह, अत्यन्त विनीत चित्त का (पुरुष--) नाग (=हाथी), तीनों मल्लों से रहित निर्मल वैद्यक एवं त्रैविद्यता को प्राप्त, चारों ओघों को (स्वयं) तर कर (दूसरों को) पार करने वाला, एक रत्न-छत्र धारण करने वाला, क्षत्रिय (=राजा), पाप कर्मों का परित्याग कर चुकने वाला =257क= त्रैलोक्य-ब्राह्मण, अविद्या के अण्डकोष को भेदने वाला भिक्षु, सब प्रकार के संगों (=आसक्तियों) से अतीत हुआ श्रमण, क्लेशों को निकाल फेंकने वाला शूर, झंडा न झुकने देने वाला शूर, दशबलधारी बलवानों में श्रेष्ठ, रत्नाकर के समान सब धर्म-रत्नों से पूर्ण जान कर, बोधिमण्डप की ओर मुख करके कामावचर (अर्थात् कामलोकधातु की निवासिनी) अप्सराओं ने इन गाथाओं द्वारा तथागत की स्तुति की—

(छंद गाथा षोडशाक्षरी)

एष द्रुमराजमूले अभिजित्य मारसैन्यं
स्थितु मेरुवदप्रकम्प्यो निर्भीरप्रलापा।
अनेकबहुकल्पकोट्यो दानदमसंयमेन
समुदानयं प्रबोधि तेनैष सोभतेऽद्य ॥1144॥

वृक्षराज के तले मार-सेना को पूर्णरूप से जीत कर, ये मेरु के समान निश्चल, निर्भय एवं निःशब्द बैठे हैं। बहुत-अनेक कोटि-कोटि कल्पों तक दान, विनय, तथा संयम के द्वारा इन्होंने बोधि प्राप्त की है। इसी से आज ये शोभायमान हो रहे हैं।

(–354–) अनेन बहुकल्पकोट्य: शीलव्रततपोभि
जिह्मिकृत शक्रब्रह्मा बोधि वर एषता हि।
अनेन बहुकल्पकोट्य: क्षान्तिबलवर्मितेन
अधिवासिता दुःखानि तेन प्रभ स्वर्णवर्णा ॥1145॥

इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक, शील, व्रत और तप के द्वारा उत्तम बोधि खोजते हुए, इन्द्रों और ब्रह्माओं को भी निष्प्रभ किया है, इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक क्षान्ति-बल का वर्म (= कवच) पहने दुःख सहे हैं, इसी से (इनकी) प्रभा सुवर्ण के रंग की है।

अनेन बहुकल्पकोट्यो वीर्यबलविक्रमेण
पराङ्मुखा कृता ऽऽस्या=257ख=तेन मार जितसेना।
अनेन बहुकल्पकोट्यो ध्यासो-अभिज्ञ-ज्ञानैः
संपूजिता मुनीन्द्रास्तेनैव पूजितोऽद्य ॥1146॥

इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक वीर्य (= उद्योग) के बलसे तथा पराक्रम से दूसरों को पीछे डाल दिया है, इसीसे मार-सेना पर (इन्हें) विजय मिली है। इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक ध्यान, अभिज्ञा एवं ज्ञान के द्वारा मुनीन्द्रों (बुद्धों) की पूजा की है, इसीसे ये आज पूजित हैं।

अनेन बहुकल्पकोट्य: प्रज्ञा·श्रुत-संचयेन
प्रगृहीत सत्त्वकोट्यस्तेन लघु बोधि प्राप्ता।
अनेन जितु स्कन्धमारस्तथ मृत्यु-क्लेश-मारः
अनेन जितु देवपुत्रमारस्तेनास्य नास्ति शोकः ॥1147॥

इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक प्रज्ञा के तथा श्रुत के संग्रह से करोड़ों प्राणियों पर अनुग्रह किया है, इसीसे इन्हें शीघ्र बोधि-प्राप्ति हुई इन्होंने स्कन्ध-

मार जीत लिया, मृत्युमार जीत लिया, तथा क्लेश-मार जीत लिया, इन्होंने देवपुत्र-मार जीत लिया, इसीसे इन्हें (अब) शोक नहीं है।

एषो हि देवदेवो देवैरपि पूजनीयः पूजारहस्त्रिलोके
पुण्यार्थिकानं क्षेत्रं[10] अमृतफलस्य दाता।
एषु वरदक्षिणीयो उद्यातु[11] दक्षिणाहि
नास्त्युत्तर ऽस्य नासो या च वर बोधि लब्धा ॥1148॥

ये देवताओं के भी देवता हैं, देवताओं के भी पूजनीय है, तीनों लोकों के द्वारा पूजा के योग्य हैं, पुण्य-कामियों के लिए (पुण्य-) क्षेत्र हैं, अमृत-फल प्रदान करने हारे हैं। ये उत्तम दक्षिणाओं के योग्य हैं, दक्षिणाएँ इनका स्वागत करती हैं। (इन्होंने) उत्तम बोधि का जो लाभ किया, उसका नाश आगे-चल कर (कभी) नहीं होगा।

ऊर्णा विराजतेऽस्य स्फरती बहु-क्षेत्र[10]-कोट्या
जिह्मिकृत चन्द्रसूर्या अन्धकारालोकप्राप्ता[12]।
[13]एष हि[13] सुरूपरूपो वररूप साधुरूपो
वरलक्षणो हितेषी त्रैलोक्यपूजनीयः ॥1149॥

इनकी (भूमध्यगत) ऊर्णा चमक रही है, (यह चमक) बहुत करोड़ (बुद्ध-) क्षेत्रों तक व्यापक है, (इसके आगे)· चन्द्र और सूर्य निष्प्रभ हो रहे हैं, (जहाँ कहीं) अँधेरा था, (वहाँ) उजाला हो गया है। ये सुन्दर रूप के हैं, उत्तम रूप के हैं, साधु-रूप के हैं, उत्तम-लक्षण के हैं। (ये) हितकारी हैं, (एवं) त्रिलोकी द्वारा पूज्य हैं।

एष सुविशुद्धनेत्रो बहु प्रेक्षते स्वयंभूः
क्षेत्रा[10] च सत्त्वकाया[14] चित्तानिऽचेतना च[14]।

---

10. मूल, क्षत्रं। पठनीय क्षेत्रं। भोट, शिङ्।—मूल, ०क्षत्र०। पठनीय, ०क्षेत्र०। भोट, शिङ्।—मूल, क्षत्रा। पठनीय, क्षेत्रा। भोट, शिङ्नं मस्।
11. मूल, उत्पातु। भोट, ब्तङ् (=उद्यातः)। संभवतः पाठ उद्यातु था।
12. भोटानुसार अन्धकारालोकप्राप्ता के स्थान में सत्त्वा आलोकप्राप्ताः पाठ होना चाहिए। तुलनीय, सेम्स् चन् र्नम्स् ल स्नङ् बर् ग्युर्।
13....13. मूल, एवं हि। एष हि पाठ प्रचरणानुसार सिद्ध हैं। भोट भी इसी पाठ का समर्थक है। तुलनीय, ह्.दि यिस्।
14....14. मूल, चित्तानि चेतना च। भोट, सेम्स् दङ् ल्दन् दङ् सेम्स् मेद् प (=चेतनानानचेनांश्च)। एवं चेतना के स्थान में अचेतना पाठ करना ठीक है।

(–355–) एष = 258क = सुविशुद्धश्रोत्राः शृणुते अनन्तशब्दां
दिव्यांश्च मानुषांश्च जिनशब्द धर्मशब्दां ॥1150॥

ये अत्यन्त-शुद्ध-नेत्र के स्वयंभू बहुत से (बुद्ध--) क्षेत्रों को, प्राणियों के समूहों को, चेतनों को, तथा अचेतनों को देखते हैं। ये अत्यन्त-शुद्ध-श्रोत्र के अनन्त शब्दों को—दिव्य, मानुष, बुद्ध एवं धर्म शब्दों को सुनते हैं।

एष प्रभूतजिह्वः कलविङ्कमञ्जुघोषः
श्रोष्याम अस्य धर्मं अमृतं प्रशान्तगामि।
दृष्ट्वा च मारसैन्यं न क्षुभ्यते मनोऽस्य
पुन दृष्ट्व देवसंघां न च हर्षते सुमेधा ॥1151॥

इनकी जीभ बड़ी है, इनकी बोली चटक-जैसी मनोहर है, (हम) इनके शान्ति की ओर ले जाने वाले धर्मामृत का श्रवणों से पान करेंगे। इनका मन न मार-सेना को देख कर व्याकुल हुआ है, और न देव-गणों को देख कर ये सुबुद्धिमन्त आनन्द-विभोर ही हुए हैं।

शस्त्रैर्न चापि बाणैर्जित एन मारसेना
सत्यव्रततापोभि जितु एन दुष्टमल्लः।
चलितो न चासना (तु) न च कायु वेधितो[15] ऽस्य
न च स्नेहु नापि दोषस्तदनन्तरे अभूवन् ॥1152॥

इन्होंने मार-सेना शस्त्रों और बाणों से नहीं जीती, प्रत्युत दुष्ट मल्ल को इन्होंने सत्य, व्रत और तप से पछाड़ा। ये आसन से न डिगे और इनका शरीर भी घायल नहीं हुआ। उस समय (इनमें) न स्नेह ही उपजा और न द्वेष ही उभड़ा।

लाभा सुलब्ध तेषां मरूणां नराण चैव
ये तुभय धर्म श्रुत्वा प्रतिपत्तिमेष्यतीह।
यत् पुण्य त्वां स्तविरवा जिन पुण्यतेजरासे
सर्वे भवेम क्षिप्रं यथ त्वं मनुष्यचन्द्रः ॥1153॥

जो तुम्हारा धर्म सुनकर सिद्धि पाएँगे, उन देवताओं और मनुष्यों को लाभों की सुन्दर प्राप्ति है। हे पुण्य और तेज की राशि, बुद्ध, तुम्हारी स्तुति कर जो पुण्य हुआ है; उससे हम-सब शीघ्र वैसे हों, जैसे तुम मनुष्य-चन्द्र हो।

---

15. मूल, वेधिनो। भोट, ग्नोद् (= विद्ध, क्षत)। **नो** के स्थान में **तो** पढ़ना ठीक है।

(छंद वसन्ततिलका)

बुद्धित्व बोधि पुरुषर्षभ नायकेन
संकम्प्य केत्र [16]नयुतानि विजित्य मारं।
ब्रह्मस्वरेण कलविङ्करुतस्वरेण
प्रथमेन गाथ इमि भाषित नायकेन ॥1154॥=258ख–

मार को जीत कर, खर्ब-खर्ब बुद्धक्षेत्र कँपा कर, पुरुषों के ऋषभ (=श्रेष्ठ) नायक ने बोधि का अवबोध कर, चटक–जैसे चहचहाते स्वर में ब्रह्मघोष करते हुए प्रथम-प्रथम ये गाथाएँ कहीं।—

पुण्याविपाकु सुख सर्वदुःखापनेती
अभिप्रायु सिध्यति च पुण्यवतो नरस्य।
क्षिप्रं च बोधि स्पृसते विनिहत्य मारं
शान्तामथो[17] गच्छति च निर्वृति शीतिभावं ॥1155॥

पुण्य का सुखदायक फल सब दुःखों को दूर करता है, पुण्यवान् पुरुष का मनोरथ सफल होता है मार को जीत कर (उसे) शीघ्र बोधि का अनुभव होता है, और (वह) शीतल स्वभाव के शान्त निर्वाण को प्राप्त करता है।

(–356–)तस्मात् क पुण्यकरणे न भवेत तृप्तः
शृण्वञ्च धर्मममृतं भवि को वितृप्तः।
विजने वने च विहरं भवि को वितृप्तः
कः सत्त्व-अर्थकरणे न भवेद्धि तृप्तः ॥1156॥

इसलिए पुण्य करने में किसे संतोष न होगा? अमृत रूपी धर्म सुनने में किसे असंतोष होगा? एकान्त वन में विहरते हुए कौन असन्तुष्ट होगा? प्राणियों का अर्थसाधन करने में कौन संतुष्ट न होगा?

पाणिं प्रसार्य समुवाच च बोधिसत्त्वां
पूजां कृता व्रजत क्षेत्र स्वकस्वकानि।
सर्वेऽभिवन्द्य चरणौ च तथागतस्य
नानाव्यूह गतक्षेत्र स्वकस्वकानि ॥1157॥

हाथ उठा कर (वे) बोधिसत्त्वों से बोले—पूजा कर ली, अब अपने-अपने क्षेत्रों को जाओ। वे तथागत के चरणों में वन्दना कर नानाव्यूहवाले अपने-अपने क्षेत्रों को चले गए।

---

16. मूल, क्षत्र—। भोट, (शिङ्=क्षेत्र)।

17. मूल, शान्तापथो। भोट, म्य ङन् ह्दस् प शि ब (=शान्तं निर्वृतिम्)। प के स्थान में म पढ़ना चाहिए।

दृष्ट्वा च तां नमुचिनां महतीमवस्थां
विक्रीडितां च सुगतस्य तथा सलीडं।
बोधाय चित्तमतुलं प्रणिधा (नि) य सत्वां (?सत्त्वे:)[18]
मारं विजित्य सबलं अमृतं स्पृसेम ॥1158॥

मारों की वह महा(दुर्)दशा, तथा लीला-सहित सुगत के उन विक्रीड़ितों अर्थात् पराक्रम के कौतुकों को देख कर, प्राणियों ने बोधि के निमित्त अतुल-चित्त से प्रणिधान (=संकल्प) किया कि (हम) सेना-सहित मार को जीतकर अमृतानुभव करें।

हे भिक्षुओ, अभिसंबुद्ध हो कर तथागत बोधिवृक्ष के तले जब सिंहासन पर बैठे, उस क्षण अप्रमेय बुद्धविक्रीडित (बुद्धमहिमासूचक कौतुक) हुए, जिनकी विस्तार से वर्णना करना कल्पभर (के समय) में भी सहज नहीं है।

इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छंद मालिनी)

करतलसदृशाऽभूत् सुस्थिता मेदिनीयं = 295क =
विकसितशतपत्राश्चोद्गता रश्मिजालै:।
अमरशतसहस्रा ओनमी बोधिमण्डं
इमु प्रथम निमित्तं सिंहनादेन दृष्टं ॥1159॥

यह धरती हथेली-जैसी समतल हो गई, किरण-जालों से खिले हुए शत-दल (कमल) निकल आए, बोधिमण्डप की ओर लाखों देवता प्रणाम करने लगे। यह पहला निमित्त (=सगुन) सिंहनाद (=तथागत) का (बुद्धत्व प्राप्त होने पर) दीख पड़ा।

द्रुमशत त्रिसहस्रों बोधिमण्डे नमन्ते
गिरिवर तथनेके शैलराजश्च मेरुः।
(-357-) दशबलमधिगम्य ब्रह्मशक्रा नमन्ते
इदमपि नरसिंहे क्रीडितं बोधिमण्डे ॥1160॥

त्रिसाहस्र (=लोकधातु) के शत-शत वृक्ष, अनेक उत्तम पर्वत, तथा पर्वतराज सुमेरु बोधिमण्डप की ओर प्रणत हो गए, ब्रह्मा और इन्द्र दशबल (=बुद्ध) के सम्मुख जा कर नमस्कार करने लगे। यह भी बोधिमण्डप में बैठे नरसिंह (=तथा-गत) का (बुद्धत्वमहिमा सूचक) क्रीडित (=केलि-कौतुक) था।

---

18. भोट, सेम्स् चन् नंम्स् क्यिस् मछ्ड् स् मेद् सेम्स् क्यिस् बयङ् छुब् स्मोन् (=सत्त्वैरतुलेन चेतसा बोधिः प्रण्यधायि)।

रश्मि शतसहस्रा स्वोशरीरात्मभावा
स्फुरि जिनवरक्षेत्रा[19]त्रीणि शान्ता अपायाः।
तत क्षण सुमुहूर्ते शोधिता चाक्षणानि
न च खिलमददोषा बाधिषु कंचि सत्त्वं-
इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीडा ॥1161॥

(उनके) अपने शरीर से—अपने आत्मभाव (=काय) से निकली लाखों किरणों ने बुद्धों के उत्तम क्षेत्रों को व्याप्त कर लिया, (नरक, प्रेत, तिर्यक्, अर्थात् नागादि लोक नामक) तीनों अपाय (=दुर्गति-लोक) शान्त हो गए, तदनन्तर उस शुभ-मुहूर्त वाले क्षण में अक्षण शोधित हो गए (अर्थात् उनका दुःख द्वन्द्व मिट गया), खिल (=मन की रुखाई, मद तथा द्वेष ने किसी प्राणी को नहीं सताया, वह भी आसन पर बैठे नरसिंह (=तथागत) की क्रीड़ा थी।

शशि रवि मणि वह्निर् विद्युता ऽऽभा च दिव्या
न तपति अभिभूता भानुवत्योर्णपाशा।
न च जगदिह कश्चित् प्रेक्षते शास्तु मूर्धं
इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीड़ा ॥1162॥

किरण वाले (भ्रूमध्यगत) ऊर्ण-पाश (=रोममंडल) से निस्तेज हुई चन्द्रमा की, सूर्य की, मणियों की, अग्नि की, बिजली की तथा देवताओं की आभा न चमकती थी और जगत् में कोई शास्ता के माथे को (तेज के मारे) न देख (सकता) था। यह भी आसन पर बैठे नरसिंह (तथागत) की क्रीड़ा थी।

करतलस्पृशनेना कम्पिता चोर्वि सर्वा
येन नमुचिसेना क्षोभिता तूलभूता।
नमुचि इषु गृहीत्वा मेदिनी व्यालिखेद्य
इदमपि नरसिंहस्यासने क्रीड़ितं भूद् ॥1163॥ इति॥[20]

हथेली के स्पर्श से सब धरती काँप उठी, जिससे रूई के समान मार-सेना धुन डाली गई, जिसके कारण मार बाण लेकर धरती कुरेदने लगा। यह भी आसन पर (बैठे) नरसिंह (=तथागत) का क्रीड़ित (=केलि-कौतुक) था।

॥ इति श्रीललितविस्तरेऽभिसंबोधनपरिवर्तो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥

●

---

19. मूल, °क्षत्रा। भोट, शिङ् (=क्षेत्र)। क्षेत्रा उचित पाठ है।

20. इस परिच्छेद की गाथाओं की छाया यों है—

छिन्नं वर्त्मोपशान्तं रजः शुष्क आस्रवा न पुनः स्रवन्ति। छिन्ने वर्त्मनि निवर्तते, दुःखस्येषोऽन्त उच्यते॥ इति ॥1139॥

मारं विजित्य सबलं स हि पुरुषसिंहो ध्यानसुखमभिमुखमभितोऽपि शास्त्रा । त्रैविद्यता दशबलेन यदा हि प्राप्ता संकंपिता दश दिशो बहुक्षेत्र-कोट्यः ॥1140॥ ये बोधिसत्त्वाः पुरागता धर्मकामाः चरणौ निपत्येत्यभा-भाषिषत मासीः क्लान्तः । प्रत्यक्षाः स्मश् चमू यादृशी सुभीमा सा प्रज्ञापुण्य-बलवीर्यबलेन भग्ना ॥1141॥ बुद्धैश्च क्षेत्रनयुतेभ्यः प्रहितानि छत्राणि साधो महापुरुष धर्षिता मारसेना । प्राप्तं त्वया पदवरममृतं विशोकं सद्धर्म-वृष्टिं त्रिभवेऽभिवर्ष शीघ्रम् ॥1142॥ बाहूं प्रसार्य दशसु दिक्षु च सत्त्व-सारा अभाषिषत कलविङ्करुतया बाचा बोधियर्थानुगता भवता विशुद्धा तुल्यः समोऽस्ति यथा सर्पिषि सपिमण्डैः ॥1143॥

एष द्रुमराजमूलेऽभिजित्य मारसैन्यं स्थितो मेरुवदप्रकम्प्यो निर्भीर् अप्रलापी । अनेकबहुकल्पकोटीर् दानदमसंयमेन समुदानयत् प्रबोधिं तेनैष शोभते ऽद्य ॥1144॥ अनेन बहुकल्पकोटीः शीलव्रततपोभिर् जिह्मीकृताः शक्रब्रह्माणो बोधिं वराम् एषमाणेन हि । अनेन बहुकल्पकोटीः क्षान्तिबल-वर्मितेनाधिवासितानि दुःखानि तेन प्रभा स्वर्णवर्णा ॥1145॥ अनेन बहु-कल्पकोटीर् वीर्यबलविक्रमेण पराङ्मुखाः कृता आस्य (=क्षिप्त्वा) तेन मारस्य जिता सेना । अनेन बहुकल्पकोटीर् ध्यानाभिज्ञाज्ञानैः संपूजिता मुनीन्द्रास्तेनैव पूजितो ऽद्य ॥1146॥ अनेन बहुकल्पकोटीः प्रज्ञाश्रुतसंचयेन प्रगृहीताः सत्त्वककोटयस्तेन लघु बोधिः प्राप्ता । अनेन जितः स्कन्धमारस्तथा मृत्यु-क्लेशमारः, अनेन जितो देवपुत्रमारस्तेनास्य नास्ति शोकः ॥1147॥

एष हि देवदेवो देवैरपि पूजनीयः पूजार्हस्त्रिलोकेनपुण्यार्थिकानां क्षेत्रम् अमृतफलस्य दाता । एष वरदक्षिणीय उद्यातो दक्षिणाभिर् नास्त्युत्त-रस्मिन्नस्या नाशो याच वरा बोधिर्लब्धा ॥1148॥ ऊर्णा विराजतेऽस्य स्फरति बहुक्षेत्रकोटीर् जिह्मीकृतौ चन्द्रसूर्यौ, अन्धकार आलोकप्राप्तः । एष हि सुरूपरूपो वररूपः साधुरूपो वरलक्षणो हितैषी त्रैलोक्यपूजनीयः ॥1149॥ एष सुविशुद्धनेत्रो बहुप्रेक्षते स्वयंभूः क्षेत्राणि च सत्त्वकायान् (स-चिन्तान-चेतनांश्च । एष सुविशुद्धश्रोत्रः शृणुतेऽनन्तशब्दान् दिव्यांश्च जिनशब्दान् धर्मशब्दान् ॥1150॥ एष प्रभूतजिह्वः कलविङ्कमञ्जुघोषः श्रोष्यामोऽस्य धर्ममृतं प्रशान्तगामिनम् । दृष्ट्वा च मारसैन्यं न क्षुभ्यति मनोऽस्य पुनर्दृष्ट्वा देवसंघान् न च हृष्यति सुमेधाः ॥1151॥ शस्त्रैर्न चापि बाणैर्जितानेन मारसेना सत्यव्रततपोभिर्जितोऽनेन दुष्टमल्लः । चलितो न चासनाद् न च कायो विद्धोऽस्य । न स्नेहोनापि दोषः (=द्वेषः) तदनन्तरे ऽभूत् ॥1152॥ सुलब्धास्तेषां मरुतां नराणां चैव ये तव धर्मं श्रुत्वा प्रति-

पत्तिमेष्यन्ति हि। यत्पुण्यं त्वां स्तुत्वा जिन पुण्यतेजोराशे सर्वे भवेम क्षिप्रं यथा त्वं मनुष्यचन्द्रः ॥1153॥

बुद्ध्वा बोधिं पुरुषर्षभेण नायकेन संकम्प्य क्षेत्रनयुतानि विजित्य मारम्। ब्रह्मस्वरेण कलविङ्करुतस्वरेण प्रथमं गाथेयं भाषिता नायकेन ॥1154॥ पुण्यविपाकः सुखः सर्वदुःखान्यपनयति, अभिप्रायः सिध्यति च पुण्यवतो नरस्य। क्षिप्रं च बोधिं स्पृशति विनिहत्य मारं शान्तामथो गच्छति च निर्वृतिं शीतीभावां (= शीतभावां) ॥1155॥ तस्मात् कः पुण्यकरणे न भवेत् तृप्तः श्रृण्वंश्च धर्ममृतं भवेत्को वितृप्तः। विजने वने च विहरन् भवेत् को वितृप्तः कः सत्त्वार्थकरणे न भवेद्धि तृप्तः ॥1156॥ पाणिं प्रसार्य समुवाच च बोधिसत्त्वान् पूजा कृता व्रजत क्षेत्राणि स्वकस्वकानि। सर्वेऽभिवन्द्य चरणौ च तथागतस्य नानाव्यूहानि गताः क्षेत्राणि स्वकस्वकानि ॥1157॥ दृष्ट्वा च तां नमुचीनां महतीमवस्थां विक्रीडितानि च सुगतस्य तथा सलीलानि। बोधाय चित्तमतुलं प्रण्यधुः सत्त्वा मारं विजित्य सबलममृतं स्पृशेम ॥1158॥

करतलसदृश्यभूत् सुस्थिता मेदिनीयं विकसितशतपत्राण्युद्गतानि रश्मिजालैः। अमरशतसहस्राण्यवानंसिषुर् बोधिमण्डपम् इदं प्रथम निमित्तं सिंहनादस्य (यथारुतं तु सिंहनादेन) दृष्टम् ॥1159॥ द्रुमशतानि त्रिसाहस्रस्य बोधिमण्डपं नमन्ति गिरिवरास्तथानेके शैलराजश्च मेरुः। दशबलमधिगम्य ब्रह्मशक्रा नमन्ति, इदयपि नरसिंहस्य क्रीडितं बोधिमण्डपे ॥1160॥ रश्मिशतसनस्राणि स्वशरीरात्मभावाद् अस्फुरञ्जिनवरक्षेत्राणि त्रयः शान्ता अपायाः। ततः क्षणे सुमुहूर्ते शोधिता चाक्षणा न च खिलमददोषा (= खिलमदद्वेषाः) अवाधिषत कंचित् सत्त्वम्-इयमपि नरसिंहसस्यासनस्थस्य क्रीडा ॥1161॥ शशिनो रवेर् मणीनां बह्नेर् विद्युत आभा च दिव्या न तपत्यभिभूता भानुमत ऊर्णपाशेन। न च जगतीह कश्चित् प्रेक्षते शास्तुर्मूर्धानम्-इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीड़ा ॥1162॥ करतलस्पर्शनेन कम्पित चोर्वी सर्वा येन नुमचिसेना क्षोभिता तूलभूता। नमुचिरिषुं गृहीत्वा मेदिनीं व्यालिकेद् यत्-इदमपि नरसिंहस्यासने क्रीड़ितमभूत् ॥1163॥ इति ॥

675

॥ २३ ॥

॥ संस्तवपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 357 (पंक्ति 19)—369 (पंक्ति 8)
भोटानुवाद 259क (पंक्ति 7)—267ख (पंक्ति 1)

॥ २३ ॥

॥ संस्तवपरिवर्त ॥

(1) शुद्धावासकायिक देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

1. इसके अनन्तर, शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने बोधिमण्डप में = 259 ख = बैठे तथागत की प्रदक्षिणा कर, उनपर दिव्य चन्दनचूर्ण की वर्षा कर, यथायोग्य गाथाओं द्वारा स्तुति की।

(–358–) उत्पन्नो लोकप्रद्योतो लोकनाथः प्रभंकरः।
अन्धभूतस्य लोकस्य चक्षुर्दाता रणंजहः ॥1164॥

जगत् में प्रकाश करने वाला, जगत् का स्वामी, अन्धे हुए जगत् को दृष्टि देने वाला, रणों अर्थात् क्लेशों से रहित, प्रभाकर उदित हुआ है।

भवान् विजितसंग्रामः पुण्यैः पूर्णमनोरथः।
संपूर्णः शुक्लधर्मैश्च जगत् त्वं तर्पयिष्यति ॥1165॥

अपने संग्राम जीत लिया है, पुण्यों से (आपका) मनोरथ पूर्ण हो गया है। (तुम) शुक्लधर्मों से संपूर्ण हो, तुम जगत् को तृप्त करोगे।

उत्तीर्णपङ्को ह्यनिघः स्थले तिष्ठति गौतमः।
अन्यां सत्त्वां महोघेन प्रोद्गतस्तारयिष्यसि ॥1166॥

गौतम निष्पाप हैं, कीचड़ से पार हो चुके हैं, सूखी-धरती पर खड़े हैं, (स्वयं) बाढ़ से निकल आए हैं (अब) दूसरे प्राणियों को तारेंगे।

उद्गतस्त्वं महाप्राज्ञो लोकेष्वप्रतिपुद्गलः।
लोकधर्मैरलिप्तस्त्वं जलस्थमिव पङ्कजः ॥1167॥

तुम लोगों के बीच, अनुपम महाबुद्धिमान् पुरुष होकर, उत्पन्न हुए हो। जल में कमल के समान, तुम लोकधर्मों से अलिप्त हो।

चिरप्रसुप्तमिमं लोकं तमःस्कन्धावगुण्ठितं।
भवान् प्रज्ञाप्रदीपेन समर्थः प्रतिबोधितुं ॥1168॥

अन्धकार की राशि से ढके हुए, दीर्घ काल से निद्रामग्न (इस) लोक को प्रज्ञा के प्रदीप द्वारा जगाने में आप समर्थ हैं।

चिरातुरे जीवलोके क्लेशव्याधिप्रपीडिते।
वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधिप्रमोचकः ॥1169॥

क्लेशों की व्याधियों से अत्यन्त पीड़ित, चिर काल के रोगी, (इस) जीवलोक में, सब व्याधियों से मुक्त करने वाले, वैद्यराज होकर, तुम उत्पन्न हुए हो।

भविष्यन्त्यक्षणाः शून्यास् त्वयि नाथे समुद्गते।
मनुष्याश्चैव देवाश्च भविष्यन्ति सुखान्विताः ॥1170॥

नाथ होकर तुम्हारे उत्पन्न हो जाने पर, (अब) अक्षण सूने हो जाएँगे, देवता और मनुष्य सुखी हो जाएँगे।

येषां त्व-द्-दर्शनं सौम्य एष्यसे पुरुषर्षभः।
न ते=260क=कल्पसहस्राणि जातु यास्यन्ति दुर्गतिं ॥1171

पुरुषों में श्रेष्ठ, सौम्य, तुम जिन्हें देखने को मिल जाओगे, वे सहस्रों कल्पों तक कभी दुर्गति में न जाएँगे।

पण्डिताश्चाप्यरोगाश्च धर्मं श्रोष्यन्ति ये ऽपि ते।
गम्भीराश्चोपधीक्षीणा भविष्यन्ति विशारदाः ॥1172॥

जो भी तुम्हारे धर्म को सुनेंगे, वे पंडित, नीरोग, गम्भीर, उपधिक्षीण (=संसारबन्धनरहित) तथा विशारद (=भयरहित) हो जाएँगे।

मोक्ष्यन्ते च लघुं सर्वे छित्त्वा वै क्लेशबन्धनं।
यास्यन्ति निरुपादानाः फलप्राप्तिवरं शुभं ॥1173॥

(वे) क्लेशों का बन्धन काट कर शीघ्र मुक्त हो जाएँगे, उपादान-हीन हो (वे) फलों की प्राप्ति में (जो) उत्तम, शुभ (फल है, उसे) प्राप्त करेंगे।

दक्षिणीयाश्च ते लोके आहुतीनां प्रतिग्रहाः।
न तेषु दक्षिणा न्यूना सत्त्वनिर्वाणहेतुका ॥1174॥

वे लोक में दक्षिणा के योग्य होंगे, पूजा के ग्रहण करने वाले होंगे, (उनको दी हुई) दक्षिणा न्यून (फल की) नहीं होगी, (वह) प्राणियों को निर्वाण की हेतु (-भूत) होगी।

(-359-) हे भिक्षुओं, इस प्रकार शुद्धावासकायिक देवपुत्र तथागत की स्तुति कर अञ्जलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(2) आभास्वर देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

2. इनके अनन्तर, आभास्वर देवपुत्रों ने बोधिमण्डप में बैठे तथागत की नाना प्रकार के पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, ध्वज, छत्र, तथा पताकाओं द्वारा सम्यक् पूजा कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।

(छंद उपजाति)

गम्भीरबुद्धे मधुरस्वरा मुने
ब्रह्मस्वरा मुनिवरगीत सुस्वर।
वराग्रबोधि-परमार्थ-प्राप्ता
सर्वस्वरे-पारगते नमस्ते ॥1175॥

हे गम्भीर-बुद्धि के, हे मधुर-स्वर के, हे मुने, हे ब्रह्मा-जैसे स्वर के, हे उत्तम स्वर से श्रेष्ठ मुनियों द्वारा गाए जाने वाले, हे उत्तम, श्रेष्ठ बोधि (रूपी) परमार्थ के लाभी, हे सब स्वरों में पारंगत, तुम्हें नमस्कार।

=260ख=त्रातासि दीपो[1]ऽसि परायणोऽसि
नाथोऽसि लोके कृपमैत्रचित्तः।
वैद्योत्तमस्त्वं खलु शल्यहर्ता
चिकित्सकस्त्वं परमं-हितंकरः ॥1176॥

(तुम) रक्षक हो, द्वीप हो, परायण (=आश्रय) हो, मैत्रीमन्त एवं करुणा-वन्त हृदय के लोकनाथ हो, तुम शल्य निकालने वाले उत्तम वैद्य हो, तुम परम-हितकारी चिकित्सक हो।

दीपंकरस्य सहदर्शनं त्वया
समुदानितं मैत्रकृपाभ्रजालं।
प्रमुञ्च नाथा अमृतस्य धारां
समेहि तापं सुरमानुषाणां ॥1177॥

दीपंकर के दर्शन के साथ तुमने मैत्री और करुणा का मेघजाल उमड़ाया है, हे नाथ, (अब) अमृत-धारा बरसाओ, देवताओं तथा मनुष्यों का ताप शान्त करो।

त्वं पद्मभूतं त्रिभवेष्वलिप्तं
त्वं मेरुकल्पो ऽविचलो ह्यकम्प्यः।
त्वं वज्रकल्पो ह्यचलप्रतिज्ञ
त्वं चन्द्रमा सर्वगुणाग्रधारी ॥1178॥

तुम कमल के सदृश तीनों भवों से अलिप्त हो, तुम सुमेरु के समान न डिगने वाले, न हिलने वाले हो, तुम वज्र के तुल्य दृढ प्रतिज्ञा के हो, तुम सब उत्तम गुणों के धारण करने वाले चन्द्रमा हो।

---

1. दीप शब्द यहाँ द्वीप का अपभ्रंश है, इसीलिए भोटानुवाद ग्लिङ् (=द्वीप) शब्द से किया गया है।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, आभास्वर देवता तथागत की स्तुति कर, अञ्जलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए ।

(3) ब्रह्मकायिक देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

3. इसके अनन्तर देवपुत्र सुब्रह्म आदि ब्रह्मकायिक देवताओं ने बोधिमण्डप में बैठे तथागत के ऊपर लाखों-खर्ब करोड़ नाना प्रकार के मणिरत्नों को पिरो कर बना रत्नजाल छा कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, इन यथायोग्य गाथाओं द्वारा स्तुति की ।

(छंद उपजाति, जागत तथा त्रैष्टुभ पादों का मिश्रण)

शुभविमलप्रज्ञ प्रभतेजधरा
द्वात्रिंशलक्षणवराग्रधरा ।
स्मृतिमं मतिमं गुणज्ञानधरा
अकिलान्तका शिरसि वन्दमि ते ॥1179॥

हे शुभ और निर्मल प्रज्ञा के, हे प्रभा और तेज के धारण करने वाले, हे उत्तम एवं श्रेष्ठ बत्तीस लक्षणों से युक्त, हे स्मृतिमन्त, हे मतिमन्त, हे गुणधर, हे ज्ञानधर, हे अक्लान्त, तुम्हें सिरसे नमस्कार करता हूँ ।

अमला विमला त्रिमलैर्विमला
त्रैलोक्यविश्रुत=261क=त्रिविद्यगता ।
त्रिविधाविमोक्षवरचक्षुददा
वन्दामि त्वां त्रिनयनं विमलं ॥1180॥

हे अमल, हे विमल, हे तीनों मलों से मलिन न होने वाले, हे तीनों लोकों में प्रसिद्ध, हे तीनो विद्याओं के लाभी, हे तीनो विमोक्षों का (साक्षात् करने के लिए) उत्तम दृष्टि देने वाले, हे निर्मल, हे त्रिलोचन, तुम्हें नमस्कार करता हूँ ।

(–360–) कलिकलुष-उद्धृत सुदान्तमना
कृपकरुण-उद्गत जगार्थकरा ।
मुनिमुदित-उद्गत प्रसान्तमना
द्वयमतिविमोचक उपेक्षरता ॥1181॥

(तुम) कलि (–युग) की कालिख से ऊपर उठे हुए हो, (तुम्हारा) मन अत्यन्त विनीत है, कृपा एवं करुणा से (तुम) उन्नत हो, (तुम) उन्नत हो, (तुम) जगत् का प्रयोजन सिद्ध करने वाले हो, मुनि (–जनोचित) मुदिता से (तुम) ऊँचे हो (तुम्हारा) मन अत्यन्त शान्त है, (तुम) मनकी दुविधा से छुड़ाने वाले हो, (तुम) उपेक्षा (= उदासीनता में रमे हुए हो ।

व्रततपस-उद्गत जगार्थकरा
स्वचरी-विशुद्धिचरि-पारगता ।
चतुसत्यदर्शक विमोक्षरता
मुक्तो विमोचयसि चान्यजगत् ॥1182॥

व्रत और तप से उन्नत, जगत् का प्रयोजन सिद्ध करने वाले, अपनी चर्या के विशुद्धि की चर्या के पार पहुँचे हुए, चार आर्यसत्यों का साक्षात् कराने विमोक्षों में रत, (तुम स्वयं) मुक्त हो दूसरे लोगों के मुक्तिदाता हो ।

बलवीर्य आगतु इहा नमुचि
प्रज्ञाय वीर्य तव मैत्र्य जितो ।
प्राप्तं च ते पदवरं अमृतं
वन्दाम ते शठचमूमथना ॥1183॥

बलवान् एवं वीर्यवान् मार यहाँ (तुम पर) चढ़ आया, तुमने प्रज्ञा से, वीर्य (= उद्योग) से, और मैत्री से (उसे) जीत लिया, और तुम्हें उत्तम अमृत पद मिल गया । हे शठ (मार) की सेना के मथन-कारक, (हम) तुम्हारी वन्दना कर रहे हैं ।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार देवपुत्र सुब्रह्म आदि ब्रह्मकायिक देवता तथागत की इन गाथाओं से स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए ।

(4) शुक्लपक्षी मारपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

4. इसके अनन्तर जो शुक्लपक्षी मारपुत्र थे, वे जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे, (वहाँ) पहुँच कर, महारत्नों के छत्र = 261ख = और वितान (चँदवे) को तथागत के ऊपर तान कर, अंजलि बाँध कर, इन यथोचित गाथाओं द्वारा तथागत की स्तुति की ।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

प्रत्यक्षे ऽस्मि बले तवातिविपुले मारस्य घोरा चमू
यत्सा मारचमू महाप्रतिभया एकक्षणे ते जिता ।
न च ते उत्थितु नैव कायु त्रसितो नो वा गिरा व्याहृता
त्वां वन्दामहि सर्वलोकमहितं सर्वार्थसिद्धं मुनिं ॥1184॥

हमें प्रत्यक्ष है तुम्हारा महान् बल, तथा मार की भयंकर सेना । अत्यन्त भय उपजाने वाली जो मारसेना थी, उसे तुमने एक क्षण में जीत लिया । न तुम

उठे, न तुम बोले, और न (तुम्हारा) शरीर कँपा। तुम्हें सब लोगों के प्रशंसित (एवं) सर्वार्थसिद्ध मुनि को हम प्रणाम कर रहे हैं।

मारा कोटिसहस्रनेकनयुता गङ्गाणुभिः संमिताः
ते तुभ्यं न समर्थ बोधिसुवटा संचालितुं कम्पितुं।
यज्ञा कोटिसहस्रनेकनयुता गङ्गा यथा बा(?वा)लिका
यष्टा बोधिवटासितेन भवता तेनाद्य विभ्राजसे ॥1185॥

गंगा की रेणुकाओं के समान अनेक-खर्ब कोटि-सहस्र मार तुम्हें सुन्दर वृक्ष से डिगाने में, कँपाने में समर्थ न हो सके। गंगा की रेणुकाओं जितने अनेक-खर्ब कोटि-सहस्र यज्ञों का आपने अनुष्ठान किया है। इसीसे आज आप बोधिवृक्ष के नीचे बैठे शोभा दे रहे हैं।

भार्या चेष्टतमा सुताश्च दयिता दास्यश्च दासास्तथा
उद्याना नगराणि राष्ट निगमा राज्यानि सान्त(:)पुराः। (–361–)
हस्ता पाद शिरोत्तमाङ्गमपि वा चक्षुषि जिह्वा तथा
त्यक्ता ते वरबोधिचर्यचरता तेनाद्य विभ्राजते ॥1186॥

अत्यन्त प्रिय भार्या का, प्यारे बेटी-बेटों का, दासियों का, दासों का, उद्यानों का, नगरों का, राष्ट्र का, निगमों (=कस्बों) का, हाथों का, पैरों का, उत्तम अंग सिर का, नेत्र का, तथा जिह्वा का त्याग उत्तम बोधिचर्या का आचरण करते हुए तुमने किया है। इसीसे आज शोभा दे रहे हो।

उक्तं यद् वचनं त्वया सुबहुशो बुद्धो भविष्याम्यहं
तारिष्ये बहुसत्त्वकोटिनयुता दुःखार्णवेनोह्यता। =262क =
ध्यानाधीन्द्रियबुद्धिभिः कवचित् सद्धर्मनावा स्वयं
सा चैषा प्रतिपूर्ण तुम्य प्रणिधिस्तारिष्यसे प्राणिनः ॥1187॥

तुमने बहुत बार कहा कि मैं ध्यान, प्रज्ञा, इन्द्रियों और बुद्धि का कवचधारी बुद्ध होऊँगा, तथा दुःखसागर में बहे जाते हुए अनेक कोटि-खर्ब प्राणियों को स्वयं सद्धर्म की नौका द्वारा तारूँगा। वह तुम्हारा प्रणिधान (=संकल्प) पूरा हो गया। (अब तुम) प्राणियों को तारोगे।

यत्पुण्यं च स्तवित्व वादिवृषभं लोकस्य चक्षुर्ददं
सर्वे भूत्व उदग्रहृष्टमनसः प्रार्थेम सर्वज्ञतां।
समुदानीत्व वराग्रबोधिमतुलां बुद्धैः सुसंवर्णितां
एवं तद्विनिहत्य मारपरिषां बुद्धेम सर्वज्ञतां ॥1188॥

वादियों में श्रेष्ठ, लोक को चक्षु देने वाले (तथागत) की स्तुति कर जो पुण्य (मिला) है, उससे (हम–) सब आनन्दित एवं प्रसन्न चित्त के हो (अपने

लिए) सर्वज्ञता (= बुद्धता) की प्रार्थना करते हैं। बुद्धों के द्वारा सुन्दरता से अत्यन्त वर्णित, उत्तम, श्रेष्ठ, एवं अतुलनीय बोधि की सिद्धि कर, इसी प्रकार मारमण्डल को पराजित कर, (हम-सब भी) सर्वज्ञता का बोध करें।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, मारपुत्र तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

(5) परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

5. इसके अनन्तर, अनेक-लक्ष देवपुत्रों द्वारा घिरे हुए, आगे किए हुए, परिनिर्मित (--देवनिकाय के) वशवर्ती देवपुत्र ने, जम्बूनद-सुवर्ण के जैसे रंग के सुनहले कमलों को तथागत के ऊपर बरसा कर, सामने (खड़े हो) इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।—

(छंद शशिकला)

अपिडित अलुडित अवितथवचना
अपगततमरज अमृतगतिगता।
अरहसि दिवि भुवि श्रिय क्रियमतुला
अतिद्युति स्मृतिमति प्रणिपति शिरसा ॥1189॥

हे पीड़ा-रहित, हे क्षोभ-रहित, हे तथ्य-वचन-भाषी, हे तमोगुण एवं रजोगुण हीन, हे अमृत की राह पा चुकने वाले, तुम धरती पर तथा देवलोक में अतुलनीय सत्कार तथा श्री के भाजन हो, हे अत्यन्त प्रकाश के, हे स्मृतिमन्त तथा मतिमन्त, (तुम्हें) सिर से प्रणाम कर रहे हैं।

रतिकर रणजह-262ख=रजोमलमथना
रमयसि सुरनर सुविसदवचनैः। (–362–)
विकसित सुविपुल वरतनुकिरणैः
सुरनरपतिरिव जयसि जगदिदं ॥1190॥

हे आनन्द उपजाने वाले, हे रणों अर्थात् क्लेशों से रहित, हे रजोमल का उन्मूलन करने वाले, (तुम) सुन्दर तथा स्पष्ट-वचनों द्वारा देवताओं और मनुष्यों को आनन्दित करते हो। हे (अपने) शरीर की उत्तम किरणों से बहुत-बहुत विकसित हुए, (तुम) इस लोक को (उस प्रकार) जीत रहे हो जिस प्रकार सुरपति (स्वर्ग को) तथा नरपति (पृथिवी को) जीतते हैं।

परगणि प्रमथन परिचरि-कुशला
प्रियु भव नरमरु परमतिधुनता।
परिचरि विभजसि सुनिपुण मतिमान्
पथि इह विचरतु दशबलगमने ॥1191॥

हे अन्य गण (वालों) का मथन कर डालने वाले, हे दूसरों के आचार-विचार के जानकार, हे देवताओं तथा मनुष्यों के जगत् के प्यारे, हे पर मतों को धुनने वाले, हे मतिमन्त, (तुम) दूसरों के आचार-विचार का अत्यन्त निपुणता से विवेचन करते हो, यहाँ दशबलों (=बुद्धों) द्वारा चले मार्ग पर विचरण करो।

त्यजि पृथु भवग्रहि वितथ दुःख महा
विनयसि सुरनर यथमतिविनये।
विचरसि चतु दिश शशिरिव गगने
चक्षु भव परायण इह भुवि त्रिभवे ॥1192॥

(तुम) वितथ (असत्य) एवं महादुःख वाला महाभवग्राह अर्थात् संसार में उत्पन्न होने का महान् आग्रह छुड़ा कर, बुद्धि और विनय के अनुसार देवताओं तथा मनुष्यों को विनीत करते हो। आकाश में चन्द्रमा के समान चारों दिशाओं में (तुम स्वच्छन्द) विचर रहे हो। इस पृथिवी के, (इन) तीनों भवों के, (तुम) उत्तम आश्रय बनो-नेत्र बनो।

प्रियु भव नरमुर न च खलि विषये
रमयसि शुभरति कामरतिविरतो।
निनदसि[2] परिषदि न ति समु त्रिभवे
नाथु गति परायणु त्वमिह हि जगतः ॥1193॥

(तुम) मनुष्यों तथा देवताओं के भव के प्रिय हो, (तुम) विषय में गिरे हुए नहीं हो, (तुम) कामरति से विरत हो शुभरति (=पुण्यरति) में रमण कर रहे हो, तुम सभा में गरज रहे हो, तीनों भवों में तुम्हारे समान (दूसरा) नहीं है, तुम इस जगत् के नाथ हो, गति हो, परम आश्रय हो।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, देवपुत्र वशवर्ती आदि परि निर्मितवशवर्ति (—देवनिकाय के) देवपुत्र तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

(6) सुनिर्मित देवपुत्र द्वारा तथागत की स्तुति

6. इसके अनन्तर, देवसंघ से घिरे हुए, आगे किए हुए, सुनिर्मित देवपुत्र ने नाना रत्नों से युक्त पट्ट-दामों (=कौशेयपटमालाओं) से =263क= तथागत को आच्छादित कर, सामने (खड़े हो कर) इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।

---

2. मूल, दिनदर्शि। यह पाठ संगतार्थ नहीं है। भोट, स्ग्रोग्स् प (=निनदसि)। इस पाठ से अर्थ लगता है।

(छंद गाथा सप्तदशाक्षरी)

धर्मालोक भवान् समुद्‌गत त्रिविधमलनुछिदो
मोहा-दृष्टि-अविद्यघातको हिरिशिरिभरितः।
(-363-) मिथ्यामार्गरतामिमां प्रजाममृते थपयितो
उत्पन्नो इह लोकि चेतियो दिवि भुविमहितः॥1194॥

आप धर्म के प्रकाश से ऊपर उठे हैं, तीन प्रकार के मलों का उच्छेद करने वाले हैं, मोक्ष, (कु-) दृष्टि, और अविद्या के विघातक हैं, ह्री और श्री से पूर्ण हैं, मिथ्या मार्ग में रमी हुई इस प्रजा को अमृत में स्थापित करने वाले हैं, देवलोक में तथा पृथिवी पर चैत्य (जैसे) पूजित होकर इस लोक में उत्पन्न हुए हैं।

त्वं वैद्यो कुशलचिकित्सको ह्यमृतसुखददो
दृष्टिक्लेश-मृ-अविद्यसंचयं पुरिममनुशयं।
सर्वव्याध्यपनेसि देहिनां पुरिमजिनपथे
तस्माद् वैद्यतमोऽसि नायका विचरसि धरणीं॥1195॥

तुम वैद्य हो, कुशल चिकित्सक हो, अमृत का सुख देनेवाले हो, (कु=) दृष्टि, क्लेश, तथा अविद्या के संचय रूप पहले के अनुशय को, (एवं अन्य) सब प्राणियों की व्याधियों को पूर्व के जिनों के मार्ग (=विधि-विधान) द्वारा दूर करते हो, इसलिए हे नायक, (तुम) सर्वोत्तम वैद्य हो, (जो) इस धरती पर विचर रहे हो।

चन्द्रासूर्यप्रभाश्च ज्योतिषा मणि तथ ज्वलना
शक्रब्रह्मप्रभा न भासते पुरतु शिरिघने।
प्रज्ञालोककरा प्रभंकरा प्रभसिरिभरिता
प्रत्यक्षास्तव[3] ज्ञाति(? ज्ञानि)अद्‌भुते प्रणिपति शिरसा॥1196॥

चन्द्र तथा सूर्य का प्रकाश, नक्षत्र, मणि, अग्नि, तथा इन्द्र एवं ब्रह्मा की कान्ति श्रीघन (=बुद्ध) के सामने निस्तेज हैं। (तुम) प्रजा का प्रकाश करने वाले हो, प्रभा के उपजाने वाले हो, प्रभा और श्री से भरे हुए हो, तुम्हें अद्‌भुत ज्ञान का प्रत्यक्ष है, (तुम्हें) सिर से प्रणाम करता हूँ।

सत्यासत्यकथी विनायका सुमधुरवचना
दान्ताशान्तमना जितेन्द्रिय प्रशमितमनसा।
शास्ता शासनियां प्रशाससे नरमुरपरिषां
वन्दे शाक्यमुनिं नरर्षभं सुरनरमहितं॥1197॥

---

3. ज्ञाति शब्द संभवतः लिपिकर—प्रमाद से ज्ञानि का रूपान्तर है। भोट, **मे ये शेस्** (=ज्ञानं) पाठ से यही जान पड़ता है। यद्यपि ज्ञात का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में भी संभव है।

(तुम) सत्य तथा असत्य का विवेचन करने वाले हो, विनायक (=उत्तम-नेता) हो, सुन्दर एवं मधुर बोली के हो, जितेन्द्रिय हो, तुम्हारा मन विनीत है, तुम्हारा मन शान्त है, तुम्हारा मन अत्यन्त शान्त है, तुम शास्ता हो, शासन के योग्य देवताओं तथा मनुष्य के समाज का शासन करते हो। देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा पूजित, मनुष्यों के ऋषभ (=श्रेष्ठ), शाक्यमुनि की मैं वन्दना करता हूँ।

ज्ञानि ज्ञानकथाग्रधारका ज्ञपयसि त्रिभवे =263ख=
त्रैविद्य त्रिविमोक्षदेशका त्रिमलमलनुदा।
भव्याभव्य मुने प्रजानसे यथमतिविनयं
वन्दे त्वां त्रिसहस्रि अद्भुतं दिवि भुवि महितं ॥1198॥

हे ज्ञानवन्त, हे ज्ञानकथा के उत्तम धारण करने वाले, (तुम) तीनों भवों को ज्ञान देने वाले हो। (तुम) तीन विद्याओं के जानकार हो, तीन विमोक्षों के उपदेशक हो, तीन मलों को दूर करने वाले हो। हे मुने, (तुम) बुद्धि एवं विनय के अनुसार (कौन एवं क्या) भव्य (=योग्य) अथवा अभव्य (अयोग्य) है, इसे जानते हो। त्रिसाहस्र लोक-धातु के आश्चर्य (--भूत), देवलोक में तथा धरती पर पूजित, तुम्हारी मैं वन्दना करता हूँ।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, अपनी मंडली के सहित, देवपुत्र सुनिर्मित तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(7) संतुषित देवपुत्र द्वारा तथागत की स्तुति

7. इसके अनन्तर, तुषितकायिक देवताओं के साथ देवपुत्र संतुषित, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर महान् दिव्यवस्त्र के जाल से (--364--) बोधिमण्डप के नीचे बैठे तथागत के ऊपर आच्छादन कर सामने (खड़े हो कर) इन गाथाओं के द्वारा स्तुति की।—

(छंद वेगवती)

तुषितालयि यद्वसितस्त्वं
तत्र ति देशितु धर्म उदारो।
न च छिद्यति सा अनुशास्ति
अद्यपि धर्मचरी सुरपुत्राः ॥1199॥

तुषित-लोक में जो तुमने निवास किया था, तथा वहाँ पर जो उदार धर्म का उपदेश दिया था, उस (धर्म-) अनुशासन की परम्परा छिन्न नहीं हुई है, आज भी देवपुत्र धर्मचर्या करते हैं।

न च दर्शन तृप्ति लभामो
[4]धर्मश्रृणोतु (? धर्मश्रुणातु) न विन्दति तृप्ति ।
गुणसागर लोकप्रदीपा
वन्दिम ते शिरसा मनसा च ॥1200॥

न (तुम्हारे) दर्शन से जी अघाता है और न (तुम्हारा) धर्म सुनने से जी अघाता है । हे लोक के प्रदीप, गुणसागर, तुम्हारी सिर से एवं मन से वन्दना करते हैं ।

तुषितालय यच्चलितस्त्वं
सोषित अक्षण सर्वि तदा ते ।
यद बोधिवटे उपविष्टः
सर्वजगस्य किलेश प्रशान्ताः ॥1201॥

जब तुम तुषित-लोक से चले थे, तभी तुमने सब अक्षणों को सुखा दिया था । जब तुम बोधिवृक्ष के नीचे बैठे थे (तभी) सब जगत् के क्लेश अत्यन्त शान्त हो गए थे ।

(छंद दोधक)

यस्य कृतेन च बोधि उदारा
एषति प्राप्ति जिनित्वन मारं ।
त्वा-प्रणिधी तपसा परिपूर्णा
क्षिप्र प्रवर्तय चक्रमुदारं ॥1202॥

जिस (प्राणिधान अर्थात् संकल्प) से मार को जीत कर खोजते-खोजते उदार बोधि का तुम्हें लाभ हुआ है, (वह) तुम्हारा प्रणिधान (अब) तप द्वारा परिपूर्ण हो चुका है । शीघ्र (अब) उदार (धर्म--) चक्र का प्रवर्तन करो ।

(छंद उपजाति वेगवती तथा दोधक का मिश्रण)

=264क= बहु दिक्षिषु प्राणिसहस्रा
धर्मरता श्रुणुयामथ धर्मं ।
क्षिप्र प्रवर्तय चक्रमुदारं
मोचय प्राणिसहस्र भवेषु ॥1203॥

---

4. मूल, का धर्मश्रृणोतु (=धर्मश्रृणोतु) संदिग्ध है । कदाचित धर्मश्रुणनात अथवा धर्मश्रुणातु हो । भोट, ढोस् मज मृ पस् (धर्मश्रवणात्) ।

धर्मरत बहुत से सहस्र प्राणी, हमें धर्म सुनने को मिले, इसकी प्रतीक्षा में हैं। शीघ्र (अब) उदार धर्मचक्र का प्रवर्तन करो, भावों से सहस्रों प्राणियों को मुक्त करो।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, अपनी मंडली के साथ देवपुत्र संतुषित हो तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध, तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

8. सुयाम देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

8. इसके अनन्तर, सुयाम-देवता, जिनमें देवपुत्र सुयाम प्रमुख थे, जहाँ तथागत थे वहाँ पहुँचे। पहुँच कर नानाप्रकार के पुष्पों, धूपों, गन्धों, माल्यों एवं विलेपनों द्वारा बोधिमण्डप में बैठे तथागत की पूजा कर, सामने (खड़े हो कर) इन यथायोग्य गाथाओं द्वारा (उन्होंने तथागत की) स्तुति की।—

(छंद मालभारिणी-सदृश)

सदृशो ऽस्ति न ते कुतो ऽन्तरे
शील समाधि तथैव प्रज्ञया।
अधिमुक्तिविमुक्तिकोविदा
शिरसा वन्दिम ते तथागतं ॥1204॥

शील में, समाधि में, तथा प्रज्ञा में तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है, अधिक कहाँ से होगा। तुम अधिमुक्ति (=रुचि) तथा विमुक्ति के विशेषज्ञ हो। तुम तथागत को (हम) सिर से नमस्कार करते हैं।

दृष्टा च वियूह सोभना
बोधिमण्डस्मि मरुभि या कृता।
न तमर्हति अन्य कश्चना
यथ त्वं देवमनुष्यपूजितः ॥1205॥

बोधिमण्डप पर देवताओं ने जो शोभन व्यूह (=मण्डन) किए थे, (उन्हें हमने) देखा है। देवताओं और मनुष्यों द्वारा पूजित जैसे तुम हो वैसा और कोई नहीं है, जो उनके योग्य होता।

न मुधाय भवान् समुद्गतो
यस्य अर्थे बहु चीर्ण दुस्करा।
(–365–)विधितो हि शठः ससैन्यकः
प्राप्ता बोधि अनुत्तरा त्वया ॥1206॥

आप उत्पन्न हुए, वह निष्प्रयोजन नहीं है। जिसके अर्थ बहुत से दुष्कर कार्य किए थे (वह सिद्ध हुआ है)। सेना-सहित वंचक (=मार) को (तुमने) जीत लिया है, और अनुत्तर बोधि तुमने पा ली है।

= 264ख=आलोककृते दशा दिशे
प्रज्ञादीपेन त्रिलोक ज्वालितः।
तिमिरं अपनाययिष्यसे
दास्यसि चक्षुरनुत्तरं जगे ॥1207॥

दशों दिशाओं में प्रकाश करने के लिए (तुमने) प्रज्ञा के प्रदीप से त्रिलोकी को उज्ज्वल कर दिया है, (तुम) अन्धकार को दूर कर दोगे और जगत् को लोकोत्तर नेत्र प्रदान करोगे।

बहुकल्प स्तुवन्ति भाषतो
रामरूपस्य न चान्तु अस्ति ते।
गुणसागर लोकविश्रुता
शिरसा वन्दिम ते तथागतं ॥1208॥

बहुत कल्पों तक बोल-बोल कर (लोग) स्तुति करें तो भी तुम्हारे (गुणों के) रोम-भर का भी अवसान नहीं हो पाता। हे लोकप्रसिद्ध, गुण-सागर, तुम तथा-गत को (हम) सिर से प्रणाम करते हैं।

इस प्रकार, वे सुयाम देवपुत्र आदि देवता तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

देवेन्द्र द्वारा तथागत की स्तुति

9. इनके अनन्तर, देवताओं के इन्द्र शक्र ने, त्रायस्त्रिंशकायिक देवताओं के साथ, नाना प्रकार के पुष्पों, धूपों, दीपों, गन्धों, माल्यों, विलेपनों, चूर्णों, चीवरों, छत्रों, ध्वजाओं, तथा पताकाओं के व्यूहों (=मंडनों) द्वारा तथागत की पूजा कर, इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।—

(छंद वनमाला)

अस्खलिता अनवद्या सदा सुस्थिता मेरुकल्पा मुने
दश दिशि सुविघुष्ट ज्ञानप्रभा पुण्यतेजान्विता।
बुद्धशतसहस्र संपूजिता पूर्वि तुभ्यं मुने
तस्य विशेषु येन बोधिद्रुमे मारसेना जिता ॥1209॥

हे मुने, (तुम) यशस्वी हो, सुमेरु के समान सदा सुस्थिर, न गिरने वाले हो, ज्ञान की प्रभा से युक्त, पुण्य के तेज से सम्पन्न, दशों दिशाओं में तुम विख्यात

हो, हे मुने, पहले तुमने लाखों बुद्धों की पूजा की है, उसीका (यह) विशेष (फल) है, जिससे बोधिवृक्ष के नीचे तुमने मार-सेना को जीत लिया है ।

शलिश्रुतसमाधिप्रज्ञाकरा ज्ञानकेतुध्वजा
जरमरणनिघाति वैद्योत्तमा–265क–लोकचक्षुर्ददा ।
त्रिमलखिलप्रहीण शान्ततेन्द्रिया शान्तचित्तामुने
शरण तवमुपेम शाक्यर्षभा धर्मराजा जगे ॥1210॥

हे शील के श्रुत के समाधिके तथा प्रज्ञा के आहार, हे ज्ञान के केतु और ध्वज, हे जरा और मरण के पूर्ण रूप से घात करने वाले, हे वैद्यों में उत्तम, हे लोक को चक्षु-प्रदान करने वाले, हे तीनों मलों तथा खिलों (= रूक्षता आदि चित्त दोषों) से सर्वथा हीन, हे शान्त इन्द्रियों वाले, हे शान्त चित्त के, हे शाक्यों में ऋषभ (=श्रेष्ठ), हे जगत् के धर्मराज, हे मुने, (हम) तुम्हारी शरण जाते हैं ।

बोधिचरि अनन्ततुल्या अभूद् वीर्यस्थामोद्गता
प्रज्ञाबल उपायमैत्राबलं ब्राह्मपुण्यं बलं ।
एति बलमनन्ततुल्या भवं बोधि-संप्रस्थिते
दशबलबलधारो अद्या पुनर्बोधिमण्डे भुतो ॥1211॥

उद्योग और तेज से उठी हुई बोधिचर्या अनन्त थी—अतुल्य थी । बोधिचर्या के प्रस्थान के समय प्रज्ञाबल, उपायबल, मैत्रीबल, ब्रह्मविहारबल, पुण्यबल (आदि) ये (सब) बल अनन्त थे—अतुल्य थे । आज तो बोधिमण्डप के नीचे (तुम) दश बलों के बलधर (अर्थात् बुद्ध) हो गए हो ।

(–336–) दृष्टव चमु अनन्तसत्त्वे सुरा भीतत्रस्ताऽभवन्
मा खु श्रमणराजु बाधिष्यते बोधिमण्डे स्थितः ।
न च भवतु बभूव तेभ्यो भयं नोच कायेञ्जना
कर हत गुरुभार संकम्पना मारसेना जिता ॥1212॥

अनन्त प्राणियों वाली (मार–) सेना देख कर देवता डर गए, घबरा गए कि कहीं बोधिमण्डप में बैठे श्रमणराज को पीड़ा न पहुँच जाए । पर आप को उनसे न भय हुआ, और न काय-कम्प ही हुआ । (केवल) गुरुता के भार वाले हाथ की थपकी से सब ओर से कँपा कर (आपने) मार-सेना जीत ली ।

यथ च पुरिमकेभि सिंहासने प्राप्त बोधि वरा
तथ त्वया अनुबुद्ध तुल्या समा अन्यथा त्वं न हि ।
सममनस समचित्त सर्वज्ञता स्थाम प्राप्त त्वया
तेन भव स्वयंभु लोकोत्तमो पुण्यक्षेत्रं[5] जगे ॥1213॥

---

5. मूल, °क्षत्रं । भोट, शिङ् (क्षेत्रं) ।

जैसे पहले के (बुद्धों ने) सिंहासन पर (बैठे-बैठे) उत्तम बोधि प्राप्त की, वैसे तुमने (भी) बोधि पाई है। तुम उनसे अभिन्न हो, तुल्य हो, सम हो। तुमने सम-मन से, सम-चित्त से बल से सर्वज्ञता पाई है। इसलिए आप स्वयंभू, लोकोत्तम, एवं जगत् के पुण्यक्षेत्र हैं।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, देवताओं के इन्द्र, शक्र, त्रायस्त्रिंश लोक के देवपुत्रों के = 265ख = साथ, तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(१०) चतुर्महाराजकायिक देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

10. इसके अनन्तर, चारों महाराज, चतुर्महाराजकायिक देवपुत्रों के साथ, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर (हाथों में) ली हुई[6] अतिमुक्तक (= कस्तूर-मोगरा) चम्पक, सुमना (= चमेली), वार्षिकी (= बरसाती चमेली) एवं धनुष्कारी की पुष्पमालाओं से तथा लाखों अप्सराओं के मंडल के सहित दिव्य संगीत एवं वाद्य से तथागत की पूजा कर, इन यथायोग्य गाथाओं द्वारा स्तुति की—

(छंद पुष्पिताग्रा)

सुमधुरवचना मनोज्ञघोषा
शशिव-प्रशांतिकरा प्रसन्नचित्ता।
प्रहसितवदना प्रभूतजिह्वा
परमसुप्रीतिकरा मुने नमस्ते ॥1214॥

हे उत्तम मधुर वचन के, हे मनोहर स्वर के, हे चन्द्रवत् अत्यन्त शान्तिदायक, हे प्रसन्न चित्त के, हे खिल-खिलाते चेहरे वाले, हे बड़ी जिह्वावाले, हे परमोत्तम प्रीति उपजाने वाले, हे मुने, तुम्हें नमस्कार है।

रुत-रवित य अस्ति सर्वलोके
सुमधुर प्रेमणिया नरामरूणां।
भवत स्वरु प्रमुक्त मञ्जुघोषो
अभिरवते रुत सर्वि भाषमाणां[7] ॥1215॥

सब जगत् में जो देवताओं और मनुष्यों का अत्यन्त मधुर एवं प्रिय ध्वनि-स्वर है, उस सब बोले जाने वाले ध्वनि-स्वर को तुम्हारा मनोहर गूंज वाला निकला स्वर परास्त कर देता है।

---

6. मूल, अभिमुक्तक। भोट, अ ति मु क्त क (अतिमुक्तक)।
7. भाषमाणां के स्थान में भोटानुसारी पाठ संभवतः मानुषाणां है। तुलनीय भोट, मि यि (=मानुषस्य, मानुषाणां)।

रागु समयि दोषमोहक्लेशा
प्रीति जनेति अमानुषां विशुद्धां ।
अकलुष हृदया निशाम्य धर्मं
आर्यविमुक्ति लाभन्ति ते हि सर्वे ॥1216॥

(तुम्हारा धर्म) राग, द्वेष, मोह रूपी क्लेशों को शान्त कर, अत्यन्त शुद्ध अमानुष प्रीति उपजाता है। निर्मल हृदय के लोग (जो धर्म सुनते हैं, वे सब आर्य-विमुक्ति को प्राप्त करते हैं।

न भव अतिमन्यसे अविद्वां
न च पुन विद्वमदेन जातु मत्तः ।
(–367–) उन्नतु न च नैव=266क–चोनतस्त्वं
गिरिरिव सुस्थितु सागरस्य मध्ये ॥1217॥

आप अविद्वान् की अवज्ञा नहीं करते और विद्वत्ता के मद से कभी भी (स्वयं) मत्त नहीं होते। (आप में) न ऊँच है न नीच है, (आप सागर के बीच पर्वत की भाँति अत्यन्त स्थिर हैं।

लाभ इह सुलब्ध मानुषाणां
यत्र हि तादृशु जातु सत्व लोके ।
श्रीरिव पदुमो धनस्य दात्री
तथ तव दास्यति धर्मु सर्वलोके ॥1218॥

लोक में जहाँ ऐसा प्राणी उत्पन्न हुआ है, वहाँ मनुष्यों को लाभों की उत्तम प्राप्ति है। जैसे पद्म-लक्ष्मी धन देती है, वैसे हो तुम सब लोक को धर्म प्रदान करोगे।

इस प्रकार चतुर्महाराज आदि महाराजकायिक देवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

11. अन्तरिक्षस्थ देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

11. इसके अनन्तर, अन्तरिक्ष के देवताओं ने तथागत के पास पहुँच कर, अभिसंबोधि की पूजा करने के लिए, सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को रत्नजाल द्वारा, किंकिणीजाल द्वारा, रत्नछत्रों द्वारा, रत्नपताकाओं द्वारा, रत्नपट्टदामों द्वारा (=रत्नमय कौशेयसूत्रमालिकाओं द्वारा), रत्न के अवतंसकों (=करनफूलों) द्वारा, विविध प्रकार के मोतियों के हारों तथा पुष्पमालाओं वाले आधे शरीर से दृश्य देवताओं द्वारा थामे हुए अर्धचंद्रकों (अर्धमंडल के कंठ हारों) द्वारा सब

ओर से अलंकृत कर, तथागत को उपहार में दिया। उपहार देकर सामने (खड़े होकर) इन गाथाओं द्वारा स्तुति की :—

(छंद उपजाति त्रैष्टुभ तथा जागत पादों का मिश्रण)

अस्माकं वासं गगणे ध्रुवं मुने
पश्याम सत्त्वा-चरिया यथा जगे।
भवतश्चरि प्रक्षिय शुद्धसत्त्व
स्खलितं न पश्याम =266ख= तवैकचित्ते ॥1219॥

हे मुने, आकाश में हमारा ध्रुव-निवास है, (हम) जगत् में प्राणियों की जैसी चर्या होती है (उसे) देखते हैं। शुद्ध-सत्त्व वाले आपकी चर्या देख कर, एकचित्तवाले आप में (हमने) स्खलन नहीं देखा।

ये आगता पूजन बोधिसत्त्वा
गगनं स्फुटं तैर्नरनायकेभिः।
हानिर्विमानान न चाभवन्त
तथा हि ते वै गगणात्मभावाः ॥1220॥

पूजा के निमित्त जो बोधिसत्त्व आए थे, उन नरनायकों द्वारा आकाश व्याप्त हो गया था, फिर (उनके) विमानों की हानि नहीं हुई थी क्योंकि वे बोधिसत्त्व तथा उनके (विमान) सभी के शरीर आकाशमय थे।

ये अन्तरीक्षातु प्रवर्षि पुष्पां
स्याच्चूडबन्धा हि महासहस्रा।
ते तुभ्य काये पतिता अशेषा
नद्यो यथा सागरि संप्रविष्टाः ॥1221॥

अन्तरिक्ष जो पुष्प बरसे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो (त्रिसाहस्र–) महासाहस्र (लोकधातु) की चोटी के गुँथे पुष्प हों, वे सब के सब तुम्हारे शरीर पर उस तरह गिरे, जिस तरह नदियाँ सागर में गिरती हैं।

पश्याम छत्राण्यवतंसका च
माणागुणां चम्पकपुष्पदामां।
हारांश्च चन्द्रांश्च तथार्धचन्द्रां
क्षिपन्ति देवा न च संकिरन्ति[8] ॥1222॥

---

8. मूल, न च संस्करोति। पठनीय, न च संकिरन्ति। यहाँ भोट से तुलना करने पर धातु कॄ (दीर्घान्त), धातु जान पड़ता है न कि कृ (ह्रस्वान्त)। भोट, ह्द्रेस् पर् ग्युर् म म्छिस् (न संकिरन्ति, न विमिश्रयन्ति)।

(हमें) दिखाई देते थे छत्र, अवतंसक (=करनफूल), मालाओं की लड़ें, चंपा के फूलों के हार, (मोतियों के) हार, चन्द्राभरण एवं अर्धचंद्राभरण, (जिन्हें) देवता फेंकते थे, पर एक दूसरे के साथ मिश्रित न होने देते थे।

वालस्य नाभूदवकाशमस्मिन्
देवै स्फुटं सर्वत अन्तरीक्षं।
कुर्वन्ति पूजां द्विपदोत्तमस्य
न च ते मदो जायति विस्मयो वा ॥1223॥

यहाँ बाल भर रखने की भी जगह नहीं थी। देवताओं से सब ओर अंतरिक्ष व्याप्त था। (वे) द्विपदों में (दो पैर वालों में) श्रेष्ठ तुम्हारी पूजा करते थे पर तुम्हें (इससे) मद अथवा विस्मय न होता था।

(=368–) इस प्रकार, अन्तरिक्षदेवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

12. पृथिवी के देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

12. इसके अनन्तर पृथिवी के देवता तथागत की पूजा करने के लिए संपूर्ण धरणीतल को सम्यक्तया शोधित कर, लीप कर, सुगंधित जल से छिड़क कर, फूल बिखेर कर नाना प्रकार के धूसों (=दुशालों) के चँदवे तान कर तथागत को उपहार में दिया और इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।—

(छंद मालिनी)

वज्रमिव=267क=अभेद्या संस्थिता त्रिःसहस्रा
वज्रमयपदेनायं स्थितो बोधिमण्डे।
इह मम त्वच मांसं शुष्यतामस्थि मज्जा
न च अहु अस्पृशित्वा बोधि उत्थेष्य अस्मात् ॥1224॥

वज्र (=हीरे) के समान अभेद्य त्रिसाहस्र (महासाहस्र-लोकधातु) की स्थिति थी, और ये (तथागत) वज्रमयी स्थिति के साथ बोधिमंडप में बैठ गए थे कि मेरी त्वचा, अस्थि, मज्जा तथा मेरा मांस चाहे सूख जाएँ, पर बोधि का अनुभव किए बिना मैं यहाँ से नहीं उठूँगा।

स चि[9] भव नरसिंहा सर्वियं त्रि:सहस्रा
न करिषु अधिस्थानं स्याद् विदोर्णऽशेषा।
तादृश महवेगा आगता बोधिसत्त्वा
येष क्रमतलेभि: कम्पिता क्षेत्रकोट्य: ॥1225॥

हे नरसिंह, यदि आपने अधिष्ठान (=स्वस्ति-आशीर्वाद) न किया होता, तो यह सब त्रिसाहस्र (-महासाहस्र-लोकधातु) संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो गई होती। बोधिसत्त्व वैसे महावेग से आए थे कि जिनके पैरों के तलवों से कोटि-कोटि बुद्ध क्षेत्र काँप उठे थे।

लाभ इह सुलब्धाभूमिदेवैरुदारा
यत्र परमसत्त्वश्चङ्क्रमी मेदिनीये।
यत्र कु रजु लोके सर्व ओभासितास्ते
चेतिभु त्रिसहस्र: किं पुनस्तुभय काय: ॥1226॥

(यह) भूमि-देवों को परम लाभों की प्राप्ति है, जिनकी धरती पर परमसत्त्व ने चंक्रमण (=भ्रमण) किया है। लोक में जहाँ कभी भी धूल-धक्कड़ था, वहाँ सर्वत्र तुमने प्रकाश भर दिया है। (यह) त्रिसाहस्र लोक (ही) चैत्य बन गया है, तुम्हारे शरीर का तो कहना ही क्या?

हेस्ति शतसहस्रं यावतश्चापस्कन्धो
धरणितलु जगस्या यावतश्चोपजीव्य:।
सर्व वयु धरेमो मेदिनी त्रि:सहस्रां
सर्व तव ददामो भुंक्षि्वमां त्वं यथेष्टं ॥1227॥

नीचे जितनी लक्ष-लक्ष जलराशियाँ हैं, धरतीतल जितने (स्थावर-जंगम प्राणि) जगत् का उपजीव्य है, उस सब त्रिसाहस्र लोक की धरती को हम धारण करते हैं। यह सब हम तुम्हें दे रहे हैं, तुम इसका इच्छानुसार उपभोग करो।

(=369-) यत्र भव स्थिहेद् वा चङ्क्रमेद् वा शयेद् वा
येऽपि सुगतपुत्रा: श्रावका गौतमस्य
धर्मकथ कथेन्ती येऽपि वा तां श्रृणोन्ति
सर्व कुशलमूलं बोधये नामयाम: ॥1228॥

जहाँ उठें-बैठेंगे, अथवा चंक्रमण (=भ्रमण) करेंगे, अथवा शयन करेंगे, तथा जो भी (जहाँ) (आप) गौतम के श्रावक, एवं बुद्धपुत्र (बोधिसत्त्व) धर्मकथा

---

9. मूल, सवि०। पठनीय स चि (=स चेत्)। तुलनीय भोट, गल् ते (=यदि, स चेत्)।

करेंगे, अथवा (जो भी) उसे सुनेंगे, उससे (हम भूमिदेवों को) जो सब कुशल-मूल होगा, (उसका हम) बोधि के लिए परिणामन (=समर्पण) कर रहे हैं।

इस प्रकार भूमि-देवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए। =267ख=

॥ इति श्रीललितविस्तरे संस्तवपरिवर्तोनाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥[10]

●

---

10. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

उत्पन्नो लोकप्रद्योतो लोकनाथः प्रभाकरः। अन्धभूतस्य लोकस्य चक्षुर्दाता रणहीनः ॥1164॥ भवान् विजितसंग्रामः पुण्यैः पूर्णमनोरथः। संपूर्णः शुक्लधर्मैश्च जगत् त्वं तर्पयिष्यसि ॥1165॥ उत्तीर्णपङ्को ह्यनघः स्थले तिष्ठति गौतमः। अन्यान् सत्त्वान् महौघेन प्रोद्गतस्तारयिष्यति (यथारुतं तु तारयिष्यसि) ॥1166॥ उद्गतस्त्वं महाप्राज्ञो लोकेष्वप्रतिपुद्गलः। लोकधर्मैरलिप्तस्त्वं जलस्यमिव पङ्कजम् ॥1167॥ चिरप्रसुप्तमिमं लोक तमःस्कन्धावगुण्ठितम्। भवान् प्रज्ञाप्रदीपेन समर्थः प्रतिबोधयितुम् ॥1168॥ चिरातुरे जीवलोके क्लेशव्याधिप्रपीडिते। वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधिप्रमोचकः ॥1169॥ भविष्यन्त्यक्षणाः शून्यास् त्वयि नाथे समुद्गते। मनुष्याश्चैव देवाश्च भविष्यन्ति सुखान्विताः ॥1170॥ यैस् (यथारुतं तु येषां) त्वं दर्शन सौम्य, एष्यसे पुरुषर्षभः। न ते कल्पसहस्राणि जातु यास्यन्ति दुर्गतिम् ॥1171॥ पण्डिताश्चाप्यरोगाश्च धर्मं श्रोष्यन्ति येऽपि च। गम्भीराश्चोपधिक्षीणा भविष्यन्ति विशारदाः ॥1172॥ मोक्ष्यन्ते च लघु सर्वे छित्त्वा वै क्लेशबन्धनम्। यास्यन्ति निरुपादानाः फलप्राप्तिवरं शुभम् ॥1173॥ दक्षिणीयाश्च ते लोक आहुतीनां प्रतिग्रहाः। न तेषु दक्षिणा न्यूना सत्त्वनिर्वाणहेतुका ॥1174॥

गम्भीरबुद्धे मधुरस्वर मुने ब्रह्मस्वर मुनिवरगीत सुस्वरम्। वराग्रबोधिपरमार्थ-प्राप्त सर्वस्वर-पारगत नमस्ते ॥1175॥ त्रातासि द्वीपोऽसि परायणोऽसि नाथोऽसि लोकस्य कृपामैत्रीचित्तः। वैद्योत्तमस्त्वं खलु शल्यहर्ता चिकित्सकस्त्वं परमहितकरः ॥1176॥ दीपंकरस्य सह-दर्शनं त्वया समुदानीतं मैत्रीकृपाभ्रजालम्। प्रमुञ्च नाथ, अमृतस्य धारां शमय तापं सुरमानुषाणाम् ॥1177॥ पद्मभूतस्त्रिभवेष्वलिप्तस् त्वं मेरुकल्पो ऽविचलो ह्यकम्प्यः। त्वं वज्रकल्पो ह्यचलप्रतिज्ञस् त्वं चन्द्रमाः सर्वगुणाग्रधारी ॥1178॥

शुभविमलप्रज्ञ प्रभातजोधर द्वात्रिंशल्लक्षणवराग्रधर । स्मृतिमन् मतिमन् गुणज्ञानधर, अक्लान्तक शिरसा वन्दे त्वाम् ॥1179॥ अमल विमल त्रिमलैर्विमल त्रैलोक्यविश्रुत त्रैविद्यगत त्रिविधविमोक्ष वरचक्षुःप्रद वन्दे त्वां त्रिनयन विमल ॥1180॥ कलिकलुषोद्घृतः सुदान्तमनाः कृपाकरुणोद्गतो जगदर्थकरः । मुनिमुदितोद्गतः प्रशान्तमना द्वयमतिविमोचक उपेक्षारतः ॥1181॥ व्रततपउद्गतो जगदर्थकरः स्वचर्या-विशुद्धचर्यापारगतः । चतुःसत्यदर्शको विमोक्षरतो मुक्तो विमोचयसि चान्यजगत् ॥1182॥ बलवीर्यं आगत इह नमुचिः प्रज्ञया वीर्येण तव मैत्र्या जितः । प्राप्तं च ते पदवरममृतं वन्दामहे त्वां शठचमूमथन ॥1183॥

प्रत्यक्षमस्मासु बलं तवाति विपुलं मारस्य घोरा चमूर् यत्सा मारचमूर्महाप्रतिभयैकेन क्षणेन त्वया जिता । न च त्वयोत्थितं नैव कायस्त्रस्तो नो वा गीर्व्याहृता त्वां वन्दामहे सर्वलोकमहितं सर्वार्थसिद्धं मुनिम् ॥1184॥ माराः कोटिसहस्रानेकनयुता गङ्गाणुभिः संमितास् ते त्वां न समर्था बोधिसुवटात् संचालयितुं कम्पयितुम् । यज्ञाः कोटिसहस्रानेकनयुता गङ्गाया यथा वालुका इष्टा बोधिवटा सितेन भवता तेनाद्य विभ्राजसे ॥1185॥ भार्या चेष्टतमा सुताश्च दयिता दास्यश्च दासास्तथोद्यानानि नगराणि राष्ट्रनिगमा राज्यानि सान्तः पुराणि । हस्तौ पादौ शिर उत्तमङ्गमपि वा चक्षुषी जिह्वा तथा । त्यक्ता ते वरबोधिचर्यां चरता तेनाद्य विभ्राजसे ॥1186॥ उक्तं यद्वचनं त्वया सुबहुशो बुद्धो भविष्याम्यहं तारयिष्यामि बहुसत्त्वकोटिनयुतानि दुःखार्णवेनोह्यमानानि । ध्यानधीन्द्रियबुद्धिभिः कवचितः सद्धर्मनावा स्वयं स चैष प्रतिपूर्णस्तव प्रणिधिस् तारयिष्यसि प्राणिनः ॥1187॥ यत्पुण्यं च स्तुत्वा वादिवृषभं लोकस्य चक्षुः—प्रदं सर्वे भूत्वोदग्रहृष्टमनसः प्रार्थयामः सर्वज्ञताम् । समुदानीय (=संसाध्य) वराग्रबोधिमतुलां बुद्धैः सुसंवर्णिताम् एवं तां विनिहत्य मारपरिषदं बुध्येम सर्वज्ञताम् ॥1188॥

अपीडितालुडितावितथवचन, अपगततमोरजो स्मृतगतिमत । अर्हसि दिवि भुवि श्रियं क्रियामतुलाम् अतिद्युते स्मृतिमते प्रणिपतामि शिरसा ॥1189॥ रतिकर रणहीन रजोमलमथन रमयसि सुरनरान् सुविशदवचनैः । विकसित सुविपुलं वरतनुकिरणैः सुरनरपतिरिव जयसि जगदिदम् ॥1190॥ परगणं प्रथम परचर्याकुशल प्रिय भवस्य नरमरुतां परमतिधूनक परचर्यां विभजसि सुनिपुणं मतिमन् पथीह विचरतु दशबलगमने ॥1191॥ त्याजयित्वा पृथु भवग्राहं वितथं दुःखं महद् विनयसि सुरनरान् यथामतिविनयं । विचरसि चतस्रो दिशः शशीव गगने चक्षुर्भव परायणमिह भुवि त्रिभवे

॥1192॥ प्रियो भवस्य नरमरुतां न चास्खालीर्विषये रमसे शुभरतौ काम-
रतिविरतः। निनदसि परिषदि न ते समस् त्रिभवे नाथो गतिः परायणं
त्वमिह हि जगतः ॥1193॥

धर्मालोकाद् भवान् समुद्गतस् त्रिविधमलानुच्छिद् मोह-दृष्ट्यअविद्या-
घातको ह्री-श्री-भरितः। मिथ्यामार्गरतामिमां प्रजाम् अमृते स्थापयितोत्पन्न
इह लोके चैत्यो दिवि भुवि महितः ॥1194॥ त्वं वैद्यः कुशलचिकित्सको
ह्यमृतसुख (प्र) दो दृष्टिक्लेशाविद्यासंचयं पूर्वमनुशयम्। सर्वव्याधीन् अपन-
यसि देहिनां पूर्वजिनपथेन तस्माद् वैद्यतमोऽसि नायक विचरसि धरणीम्
॥1195॥ चन्द्रसूर्यप्रभाश्च ज्योतींषि मणयस्तथा ज्वलनः शक्रब्रह्मप्रभा न
भासते पुरतः श्रीघनस्य। प्रज्ञालोककरः प्रभाकरः प्रभाश्रीभरितः प्रत्यक्षं तव
ज्ञातं (=ज्ञानं) अद्भुतं प्रणिपतामि शिरसा ॥1196॥ सत्यासत्यकथी
विनायकः सुमधुरवचनः दान्तशान्तमना जितेन्द्रियः प्रशान्तमनाः। शास्ता
शासनीयां प्रशस्सि नरमरुत्परिषदं वन्दे शाक्यमुनिं नरर्षभं सुरनरमहितम्
॥1197॥ ज्ञानिन् ज्ञानकथाग्रधारक ज्ञपयसि त्रिभवं त्रैविद्यस् त्रिविमोक्ष-
देशकस् त्रिमलमलनुत्। भव्याभव्यं मुने प्रजानीषे यथामतिविनयं वन्दे त्वां
त्रिसाहस्रेऽद्भुतं दिवि भुवि महितम् ॥1198॥

तुषितालये यदुषितस्त्वं तत्र ते देशितो धर्म उदारः। न च च्छिद्यते
सानुशिष्टिर् अद्यापि धर्मचर्याः सुरपुत्राः ॥1199॥ न च दर्शनात् तृप्ति
लभामहे धर्मश्रवणाद् (यथारुतं तु धर्मं शृणोतु संदेहास्पदमेव) न विन्दति
तृप्तिम्। गुणसागर लोकप्रदीप वन्दामहे ते शिरसा मनसा च ॥1200॥
तुषितालयाद् यदा चलितस्त्वं शोषिता अक्षणाः सर्वे तदा ते (=त्वया)।
यदा बोधिवट उपविष्टः सर्वजगतः क्लेशाः प्रशान्ताः ॥12021॥ यस्य कृते
च बोधिरुदारा, एषमाणेन प्राप्ता जित्वा मारम्। त्वत्प्रणिधिस् तपसा
परिपूर्णा क्षिप्रं प्रवर्तय चक्रमुदारम् ॥1201॥ बहून्युदैक्षिषत प्राणिसहस्राणि
धर्मरतानि शृणुयामेति (यथारुतं तु शृणुयामाथ) धर्मम्। क्षिप्रं प्रवर्तय
चक्रमुदारं मोचय प्राणिसहस्राणि भवेभ्यः (यथारुतं तु भवेषु) ॥1203॥

सदृशोऽस्ति न ते कुतोऽन्तरे शीलेन समाधिना तथैव प्रज्ञया। अधिमु-
क्ति–विमुक्ति कोविद शिरसा वन्दामहे त्वां तथागतम् ॥1204॥ दृष्टा च
व्यूहाः शोभना बोधिमण्डे मरुद्भिर्ये कृताः। न तानर्हत्यन्यः कश्चन यथा
त्वं देवमनुष्यपूजितः ॥1205॥ न मुधा भवान् समुद्गतः, यस्यार्थे बहूनि
चरितानि दुष्कराणि। विजितो हि शठः ससैन्यकः प्राप्ता बोधिरनुत्तरा
त्वया ॥1206॥ आलोककृते दशसु दिक्षु प्रज्ञादीपेन त्रिलोको ज्वालितः।

तिमिरम् अपनेष्यसे (यथारुतं तु अपनायिष्यसे) दास्यसि चक्षुरनुत्तमं जगते ॥1207॥ बहुकल्पान् स्तुवन्ति भाषमाणा रोमरूपस्य न चान्तमस्ति ते गुणसागर लोकविश्रुत शिरसा वन्दामहे त्वां तथागतम् ॥1208॥

अस्खलितोऽनवद्यः सदा सुस्थितो मेरुकल्पो मुने दशसु दिक्षु सुविघुष्टः (=सुविघोषितः) ज्ञानप्रभः पुण्यतेजोऽन्वितः। बुद्धशतसहस्राणि संपूजितानि पूर्वं त्वया मुने तस्य विशेषो येन बोधिद्रुमे मारसेना जिता (अस्या गाथायाः प्रथमार्धे प्रथमान्तशब्दाः संबोधनतयापि नेतुं शक्याः) ॥1209॥

शीलश्रुतसमाधिप्रज्ञाकर ज्ञानकेतुध्वज जरामरणनिघातिन् वैद्योत्तम लोकचक्षुः-(प्र) द। त्रिमलखिलप्रहीण शान्तेन्द्रिय शान्तचित्त मुने शरणं तवोपेमः शाक्यर्षभ धर्मराज जगतः ॥1210॥ बोधिचर्या ऽनन्ततुल्या ऽभूद् वीर्यस्थामोद्गता प्रज्ञाबलमुपायमैत्रीबलं ब्राह्मपुण्यं बलम्। एतानि बलान्यनन्ततुल्यान्य अभवन् बोधिसंप्रस्थिते दशबलबलधार्यद्य पुनर्बोधिमण्डे भूतः ॥1211॥ दृष्ट्वा चमूम् अनन्तसत्त्वां सुरा भीतत्रस्ता अभवन् मा खलु श्रमणराजे बाधिष्यते (=बाध्यते) बोधिमण्डे स्थितः। न च भवतो बभूव तेभ्यो भयं नो च कायेंजनं करेण हताद् गुरुभारेण सकंनाद् मारसेना जिता ॥1212॥ यथा पूर्वकैः सिंहासने प्राप्ता बोधिर्वरा तथा त्वयानुबुद्धा तुल्यः समो ऽन्यथा त्वं न हि। सममनसा समचित्तेन सर्वज्ञता स्थाम्ना प्राप्ता त्वया तेन भवान् स्वयंभूर् लोकोत्तमः पुण्यक्षेत्रं जगतः ॥1213॥

सुमधुरवचन मनोज्ञघोष शशिवत्प्रशान्तिकर प्रसन्नचित्त। प्रहसितवदन प्रभूतजिह्व परमसुप्रीतिकर मुने नमस्ते ॥1214॥ रुतरवो यो ऽस्ति सर्वलोके सुमधुरः प्रियो नरमरुताम्। भवतः स्वरः प्रमुक्तो मञ्जुघोषो ऽभवभाति रुतं सर्वं भाष्यमाणम् ॥1215॥ रागं शमयित्वा दोष (=द्वेष) मोहक्लेशान् प्रीतिं जनयत्यमानुषीं विशुद्धाम्। अकलुषहृदया निशम्य धर्मम् आर्यविमुक्ति लभन्ते ते हि सर्वे ॥1216॥ न च भवान् अतिमन्यते ऽविद्वासं न च पुनर्विद्वन्मदेन जातु मत्तः। उन्नतो न च नैव चावनतस्त्वं गिरिरिव सुस्थितः सागरस्य मध्ये ॥1217॥ लाभा इह सुलब्धा मानुषाणां यत्र हि तादृशो जातः सत्त्वो लोके। श्रीरिव पद्मस्य धनस्य दात्री तथा त्वं दास्यसि धर्मं सर्वलोकाय ॥1218॥

अस्माकं वासो गगने ध्रुवं मुने पश्यामः सत्त्वचर्यां यथा जगति। भवतश्चर्यां प्रेक्ष्य शुद्धसत्त्वस्य स्खलितं न पश्यामस्तवैकचित्तस्य ॥1219॥ य आगता पूजने बोधिसत्त्वा गगनं स्फुटं (=व्याप्तं) तैर्नायकैः। हानिर्विमानानां न चाभवत् तथा हि ते वै गगनात्मभावाः ॥1220॥ यान्यन्तरि-

क्षात् प्रावर्षुः पुष्पाणि स्यात् (=मन्ये, शंके, उत्प्रेक्षावाचकं पदम्) चूडबन्धा हि महासाहस्रस्य। तानि तव काये पतितान्यशेषाणि नद्यो यथा सागरं संप्रविष्टाः ॥1221॥ पश्यामश्छत्राण्यवतंसकांश्च माल्यागुणान् चम्पकपुष्पदामानि। हारांश्च चन्द्रांश्च तथार्धचन्द्रान् क्षिपन्ति देवा न च संकिरन्ति ॥1222॥ वालस्य नाभूदवकाशो ऽस्मिन् देवैः स्फुटं सर्वतोऽन्तरिक्षम्। कुर्वन्ति पूजां द्विपदोत्तमस्य न चे ते मदो जायते विस्मयो वा ॥1223॥

वज्र इवाभेद्यः संस्थितस्त्रिसाहस्रो वज्रमयपदेनायं स्थितो बोधिमण्डे। इह मम त्वचं मांसं शुष्यताम् मज्जा न चाहम् अस्पृष्ट्वा बोधिमुत्थास्याम्यस्मात् ॥1224॥ स चेद् भवान् नरसिंह सर्वोऽयं त्रिसाहस्रो (लोकः) नाकार्षीद् अधिष्ठानं स्याद् विदीर्णो ऽशेषम्। तादृशाद् महावेगाद् आगता बोधिसत्त्वा येषां क्रमतलैः कम्पिताः क्षेत्रकोटयः ॥1225॥ लाभा इह सुलब्धा भूमिदेवैरुदारा यत्र परमसत्त्वोऽचंक्रम्यत मेदिन्याम्। यत्र क्वचिद् रजांसि लोके सर्वाण्यवभासितानि ते चैत्यभूतम् त्रिसाहस्रः किं पुनस्तव कायः ॥1226॥ अधस्तात् शतसहस्रो यावांश्चापस्कन्धो धरणीतलो जगतो यावतश्चोपजीव्यः। सर्वां वयं धारयामो मेदिनीं त्रिसाहस्रां सर्वां तुभ्यं ददमो भुङ्क्ष्वेमां त्वं यथेष्टम् ॥1227॥ यत्र भवांस् तिष्ठेद वा चंक्रम्येत वा शयीत वा येऽपि सुगतपुत्राः श्रावकाः गौतमस्य। धर्मकथां कथयन्ति येऽपि वा तां शृण्वन्ति सर्वं कुशलमूलं बोधये नामयामः ॥1228॥

४०१

॥ २४ ॥

॥ त्रपुष-भल्लिकपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 369 (पंक्ति 9)—392 (पंक्ति 6)
भोटानुवाद 267ख (पंक्ति 1)—282ख (पंक्ति 5)

702

703

॥ २४ ॥

॥ त्रपुष-भल्लिकपरिवर्त ॥

१. समन्तकुसुम-तथागतसंवाद

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, सम्यक् संबुद्ध हो, देवताओं द्वारा स्तुति किए जाते हुए, तथागत ने, अपनी पलथी न भंग करते हुए, बिना पलक नेत्रों से वृक्षराज को देखते रहे, (और यों) ध्यान तथा प्रीति (=संतोष) के आहार से सुख का प्रतिसंवेद (=अनुभव) करते हुए सप्ताह बोधिवृक्ष के नीचे बिताया।

इसके अनन्तर, सप्ताह बीत जाने पर, कामावचर देवपुत्र दस हज़ार सुगंधित जल से भरे कलश ले कर, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर सुगंधित जल से तथागत को तथा बोधिवृक्ष को स्नान कराया। (उस समय) गणनातीत देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किंनर तथा महोरग तथागत के शरीर से गिरे सुगंधोदक से अपने-अपने शरीर पर लेपन करते थे और अनुत्तर सम्यक् संबोधि (प्राप्त करने) के निमित्त चित्त (में संकल्प) उत्पन्न करते थे। अपने-अपने भवन जाकर भी वे देवपुत्र आदि उस सुगंधित जल के सुगंध से संपन्न अन्य किसी सुगन्ध के लिए (मन में) लालसा (−370 =) न उपजाते थे। तथागत के प्रति गौरव-भाव से उत्पन्न उस सन्तोष और आनंद से ही वे =268क= अनुत्तर सम्यक् संबोधि से पीछे न लौटने वाले हुए।

2. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, समंतकुसुम नामक देवपुत्र जो उसी परिषद् में बैठे थे, वे तथागत के चरणों पर गिर कर, अञ्जलि बाँध, तथागत से यह बोले—भगवन्, यह कौन सी समाधि है? इसका क्या नाम है? जिससे युक्त हो कर तथागत बिना पलथी भंग किए सप्ताह भर विहार करते रहे हैं। ऐसा कहने पर, हे भिक्षुओ, तथागत उस देवपुत्र से यह बोले—हे देवपुत्र, यह प्रीत्या-हारव्यूह नाम की समाधि है, जिससे युक्त हो तथागत बिना पलथी भंग किए सप्ताह भर विहरते रहे हैं।

3. हे भिक्षुओ, इसके अनंतर, समंतकुसुम देवपुत्र ने गाथाओं द्वारा तथागत की स्तुति की—

(छंद आर्या)

(देवपुत्र का प्रश्न)

रथचरणनिचितचरणा दशशत-अर-जलजकमलदलतेजा।
सुरमुकुटघृष्टचरणा वन्दे चरणौ शिरिघनस्य ॥1229॥

हे रथ के चरण अर्थात् चक्र (–चिह्न) से व्याप्त चरण के, हे सहस्रदल वाले जल से उत्पन्न कमल की पंखड़ी जैसी कांति के, हे देवताओं के मुकुटों द्वारा घिसे गए चरणों वाले, (मैं) श्रीघन के चरणों की वन्दना करता हूँ।

अभिवन्द्य सुगतचरणौ प्रमुदितचित्तस्तदा स सुरपुत्रः।
इदमवचि विमतिहरणं प्रमान्तकरणं नरमरूणां ॥1230॥

उस समय सुगत के चरणों की वन्दना करके चित्त में अत्यन्त आनंदित हो कर, उस देवपुत्र ने देवताओं और मनुष्यों की विमति को हरने वाले, शान्ति को देने वाले, ये वचन कहे।

शाक्यकुलनन्दिजनना अन्तकरा रागदोषमोहानां। = 268ख =
प्रम्लान-अन्तकरणा विनेहि काङ्क्षां नरमरूणां ॥1231॥

हे शाक्य वंश के आनंद उपजाने वाले, हे राग, द्वेष, और मोह का अवसाद करने वाले, हे, (संसार की) थकावट का अंत करने वाले, देवताओं और मनुष्यों की दुविधा दूर करो।

किं कारणं दशबला बुद्ध्वा सर्वज्ञतामपरिमाणां।
सप्ताहं महिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कं ॥1232॥

क्या कारण है कि दशबल बुद्ध परिमाण-रहित सर्वज्ञता का बोधकर भूमण्डप में सप्ताह भर (अपनी) पलथी का भंग नहीं करते ?

किंनु[1] खलु पश्यमानः सप्ताहं अनिमिषेण नरसिंहा।
प्रेक्षसि विशुद्धचक्षो विकसितशतपत्रतुल्याक्षः ॥1233॥

हे नरसिंह, हे विशुद्धलोचन, हे विकसित शतदल कमल जैसे नेत्रों के, (तुम) बिना पलक मारे सप्ताह भर क्या निहारते हुए देखते रहे हो ?।

किंनु[2] भवितेष प्रणिधी उताहु सर्वेष वादिसिंहानां।
येन द्रुमराजमूले पर्यङ्कं न भिन्दि सप्ताहं ॥1234॥

---

1. मूल, किं तु। भोट, **चि शिग्** (= किं, अथवा किं नु)।
2. मूल, किं तु। भोट में प्रश्नद्योतक **ऱ्हंम्** (= किं नु ?) **से इसका अनुवाद** हुआ है।

वृक्षराज के तले जो (आपने) पलथी भंग नहीं की है, वह क्या आपका ही प्रणिधान (संकल्प) था, अथवा (क्या वह) वादियों में सिंह जैसे **निर्भीक** सभी (बुद्धों) का हुआ करता है ।

(–371) साधु समशुद्धदन्ता सुगन्धगन्धामुखं दशबलस्य ।
प्रवद वचनं अवितथं कुरुष्व प्रीतिं नरमरूणां ॥1235॥

हे समान एवं शुद्ध दन्त के, पुण्य गंध वाले मुख से यथार्थ दशबल के, बचन भलीभाँति बोलो, देवताओं और मनुष्य में प्रीति उपजाओ ।

4. (तथागत बोले—)

(तथागत का प्रतिवचन)

तमुवाच चन्द्रवदनः श्रृणुष्व मे भाषतो अमरपुत्र ।
अस्य प्रश्नस्याहं किंचिन्मात्रं प्रवक्ष्यामि ॥1236॥

चन्द्रवदन (भगवान्) उससे बोले । हे देवपुत्र, मेरा कहना सुनो । मैं इस प्रश्न पर कुछ व्याख्या के साथ कहूँगा ।

राजा यद्वद् यस्मिन्नभिषिक्तो भवति ज्ञातिसंघेन ।
सप्ताहु तं प्रदेशं न जहाति हि धर्मता राज्ञां ॥1237॥
एवं एव दशबला अपि अभिषिक्ता भोन्ति यद प्रणिधिपूर्णाः ।
सप्ताहु धरणिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कं ॥1238॥

जैसे, राजा का ज्ञाति-संघ के द्वारा जहाँ पर अभिषेक किया जाता है, उस स्थान को वह सप्ताह भर नहीं छोड़ता है, क्योंकि यह राजाओं की धर्मता (=रीति-नीति) है, वैसे ही, बुद्धों का भी प्रणिधान अर्थात् बुद्ध होने का संकल्प पूर्ण होने पर जब अभिषेक होता है, तब बुद्ध धरणी-मंडप में सप्ताह भर अपनी पलथी का भंग नहीं करते ।

शूरो यथारिसंघां निरीक्षते निर्जितां निरवशेषां ।
बुद्धापि बोधिमण्डे क्लेशां निहतां निरीक्षन्ते ॥1239॥

जैसे, वीर अपने द्वारा जीते हुए सब शत्रुगणों का निरीक्षण करता है, वैसे, बुद्ध भी बोधिमंडप में अपने द्वारा मार डाले गए क्लेशों का निरीक्षण करते हैं ।

इह ते कामक्रोधा मोहप्रभवा जगत्यरिनिकासा;[3] ।
साहोढा इव चौरा–269क–विनाशिता येनिरवशेषां: ॥1240॥

---

3. मूल, जगंत्परिनिकासा । भोट, **ह्ग्रो बहि. द्ग्रह. ब्रस्ते** (=जगत्यरि-निकाशाः) ।

यहाँ वे मोह से उत्पन्न, लोक के शत्रु-सदृश, काम और क्रोध हैं, जिन्हें (चोरी का धन) साथ लिए जाते हुए चोरों की तरह नाश कर डाला गया है, (जो) बिल्कुल नहीं बच पाए हैं।

[4]इह में हता नवविधा मान विध (=व् इश्र) मन्यना पुनिकेताः[4]।
सर्वाश्रवा प्रहीना ज्ञानं चाग्रं ममोत्पन्नं[5] ॥1241॥

यहाँ मैंने नौ प्रकार के मानों को, यहाँ बिना ठौर-ठिकाने के ममताभावों को नष्ट किया है, (यहाँ मेरे) सब आस्रव नष्ट हुए हैं, और मुझ में उत्तम ज्ञान उत्पन्न हुआ है।

इह सा अकार्यकर्त्री भवतृष्णाचारिणी तथाविद्या।
सानुशयमूलजाला[6] पटुना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1242॥

तथा यहाँ (मैंने) भव (=लोक में उत्पन्न होने) की तृष्णा से (प्राणियों को) चराने वाली, अकरणीय को करने वाली, अनुशयों के मूल-जाल से युक्त, अविद्या को ज्ञान की तीक्ष्ण अग्नि द्वारा जला डाला है।

4....4. मूल, इह मे हतान विविधा मानविधामन्युना पुरनिकेताः। हतान के स्थान में हता तथा पुर के स्थान में पुन कर पदच्छेद में भेद कर के मैंने यही पाठ स्वीकार किया है। पाठ विचारणीय है। नविविधा वस्तुतः नवविधा है। इसका पता भोट से भी लगता है। प्रो० एड्जेर्टन का (बु० हा० सं० डि०, पृष्ठ 419 मन्यना शब्द पर) शोधन—इह में हता नवविधा मानविधी मन्यनापुर्–अनिकेताः। भोट, ङ ह्दिर् ङ ग्यंल् नंम् द्गु दङ्, ग्नस् मेद् र्लोम से्म्स् रब् तु ब्चोम् (=मयेह माना नवविधाश्च, अनिकेता मन्यनाश्च (=ममताश्च निहताः) नवविध मान प्रसिद्ध हैं। भोट, नंम् द्गु नवविधा का उल्था है—जो मूल के विविधा....विधा का संवादी नहीं है। मूलका मन्युना निश्चय ही यदि मन्यना का अपरूप हो तो रक्षा के योग्य है। एक अपभ्रष्ट है तथा दूसरा अपभ्रष्टतर है।

5. मूल समोत्पनं। भोट, ङ यि....स्क्येस् (=ममोत्पन्नं)।

6. मूल,—जाता। भोट, द्र ब (=जाल)। पठनीय, – जाला।

7. निपथी शब्द का अर्थ अहितकारिणी यहाँ संगत है, भोट, ग्नोद् ब्येद् प (=अपका – रिणी) से भी इसी बात का समर्थन होता है। इस अर्थ के सदृशार्थक शब्द अपथ्य (=अहितकर) परिपन्थिन् (=शत्रु) से निपथी का अर्थ भी अहितपरक सिद्ध होता है। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० में निपथी शब्द। वहाँ अनर्थी पाठ का भी सुझाव है।

इह सा अहं ममेति च कलिपासु दुरानुगा-ढलितमूला ।
नीवरणकठिनग्रन्थि छिन्ना मे ज्ञानशास्त्रेण ॥1243॥

यहाँ उस (अविद्या लता) को जिस पर अहंता तथा ममता के वंचना करने वाले जाल लगे हैं, जिसकी जड़ें दूर तक फैली हुई हैं तथा नोचे तक पहुँची हुई हैं, नीवरण की जिसमें कठोर गाँठे हैं, मैंने ज्ञान के शस्त्र से काट दिया है ।

इह ते चिरं समायत उल्लापनका विनाशपर्यन्ताः ।
स्कन्धा सोपादाना ज्ञानेत मया परिज्ञाताः ॥1244॥

यहाँ उन चिर (—काल) से साथ लगे हुए, वंचक, विनाश रूपी परिणाम वाले, उपादान-सहित स्कन्धों को मैंने ज्ञानद्वारा परिपूर्ण जान लिया है ।

इह ते द्वयसंमोहा मिथ्याग्राहा महानरकनिष्ठाः ।
मय उद्धृता अशेषा भूयश्च न जातु ज्ञास्यन्ते ॥1245॥

यहाँ उन महानरकों में अन्त करने वाले मिथ्याग्राह (= असत्य-अभिनिवेश) के दोनों संमोहों अर्थात् शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद रूपी भ्रमों को मैंने निःशेष उखाड़ डाला है, फिर ये कभी भी नहीं उत्पन्न होंगे ।

(–372--) इह नीवरणवनारी दग्धा मे कुशलतेजेन ।
चतुरश्च विपर्यासा निर्दग्ध मया निरवशेषाः ॥1246॥

यहाँ पुण्यतेज के द्वारा मैंने नीवरण-शत्रुओं को जला डाला है, तथा मैंने चारों विपर्यासों को निःशेष भस्म कर डाला है ।

इह सा वितर्कमाला संज्ञासूत्रेषु ग्रन्थिता निपथी ।
त्रिनिर्वतिता अशेषा बोध्यङ्गविचित्रमालाभिः ॥1247॥

यहाँ संज्ञा के (=नामके) सूत्रों में गूँथी हुई अहितकारिणी वितर्कों की (= कल्पनाओं की) अशेष मालाओं को मैंने बोध्यङ्गों की विचित्रमालाओं द्वारा दूर कर दिया है ।

दुर्गानि पञ्चषष्टि मोहानि त्रिशति च मलिनानि ।
चत्वारिंशदघानि छिन्ना मेऽस्मि धरणिमण्डे ॥1248॥

मैंने पैंसठ दुर्गतियों को, तीस मलिन-मोहों को, तथा चालीस पापों को, इस धरणी-मंडप में छिन्न-भिन्न कर डाला है ।

षोडश असंवृतानि अष्टादश धातवश्च महिमण्डे ।
कृच्छ्राणि पञ्चविंशति छिन्नानि मयेह संस्थेन ॥1249॥

सोलह असंवृतों को, अट्ठारह धातुओं को, पच्चीस कृच्छ्रों (= क्लेशों) को मैंने यहाँ महीमण्डप में बैठे-बैठे छिन्न-भिन्न किया है ।

–269ख– विंशति रजस्तराणी अष्टाविंशति जगस्य वित्रासाः ।
इह मे समतिक्रान्ता वीर्यबलपराक्रमं करित्वा ॥1250॥

यहाँ मैंने वोर्य (=उद्योग), बल, तथा पराक्रम करके बीस रजोमयी नदियों को, अट्ठाईस जगत् के वित्रासों (=भयों) को, पार किया है।

तथ बुद्धनर्दितानी पञ्चशतास्मि मय समनुबुद्धा ।
परिपूर्णशतसहस्रं धर्मान मया समनुबुद्धं ॥1251॥

इसी प्रकार, यहाँ पाँच सौ बुद्ध के घोषों का मुझे सम्यक् अवबोध हुआ, पूरे शत-सहस्र (बुद्ध के) धर्मों को मैंने यहाँ सम्यक् समझा-बुझा।

इह मे ऽनुशय अशेषा अष्टानवतिः समूलपर्यन्ताः ।
पर्युत्थानकिशलया निर्दग्धा ज्ञानतेजेन ॥1252॥

यहाँ मैंने अशेष अट्ठानबे अनुशयों को उनके मूल से लेकर फल तक, पर्युत्थान रूपी पत्रों के साथ ज्ञान के तेज से सर्वथा भस्म कर डाला है।

काङ्क्षाविमतिसमुदया दृष्टीजडजन्तिता अशुभमूला ।
तृष्णानदी त्रिवेगा प्रशोषिता ज्ञानसूर्येण ॥1253॥

(मैंने) ज्ञान के सूर्य से अशुभ-मूल वाली, कांक्षा (=शंका) तथा विमति (=दुबिधा) से उत्पन्न, दृष्टि-रूपी जल के बाँधवाली, त्रिवेगवती (=तीन धाराओं वाली) तृष्णा-नदी को पूर्णतया सुखा डाला है।

कुहनलपनप्रहाणं मायामात्सर्यदोषईर्ष्याद्यं ।
इह ते क्लेशारण्यं छिन्नं विनयाग्निना दग्धं ॥1254॥

यहाँ कुहना (वंचकता) तथा लपना (=आत्मश्लाघा) के प्रहाण से कटे हुए उस माया, मात्सर्य (=कृपणता), द्वेष, ईर्ष्या आदि के क्लेशारण्य को (मैंने) विनय की अग्नि से जला डाला है।

इह ते विशादमूला आकर्षण दुर्गतीषु विषमासु ।
आर्यापवादवचना ज्ञानवरविरेचनैर्वान्ता ॥1255॥

यहाँ उन आर्यों के अपवाद (=निन्दा) करने वाले वचनों को, जो झगड़े की जड़ हैं, विषम दुर्गतियों में खींच ले जाने वाले हैं, (मैंने) ज्ञान के उत्तम विरेचन से बाहर कर दिया है।

इह रुदितक्रन्दितानां शोचितपरिदेवतान पर्यन्तं ।
प्राप्तं मया ह्यशेषं ज्ञानगुणसमाधिमागम्य ॥1256॥

यहाँ ज्ञान, गुण, एवं समाधि का लाभ कर मैंने रोदन, क्रन्दन, शोक, और परिदेवन (=विलाप) का पूर्ण अवसान पा लिया है।

(--373--) ओघा च योग[8]ग्रन्था: शोका: शल्या मद प्रमादाश्च ।
विजिता नयेह सर्वे सत्यनयसमाधिमधिगम्य ॥1257॥

यहाँ सत्य, न्याय, एवं समाधि का लाभ कर मैंने सब ओघों को, योगों को, ग्रंथों को, शोकों को, शल्यों को, मदों को, तथा प्रमादों को जीत लिया है ।

इह मय क्लिेशगहना संकल्पविरूढमूल भववृक्षाः ।
स्मृतिपरशुना अशेषा छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1258॥

यहाँ क्लेश का जंगल (उपजाने वाले) संकल्पों द्वारा जड़ जमाने वाले, भव के सब वृक्षों को स्मृति के कुल्हाड़े से काट कर, ज्ञान की अग्नि से मैंने जला डाला है ।

इह सो मया ह्यतिबलो=270क =अस्मि मारस्त्रिलोकवशवर्ती ।
ज्ञानासिना शठात्मा हतो यथेन्द्रेण दैत्येन्द्रः ॥1259॥

यहाँ अत्यन्त बलवान् इस त्रिलोकी को अपने वश में करने वाले, वंचक-स्वभाव के मार को मैंने ज्ञान के खड्ग से उस प्रकार मारा है, जैसे देवेन्द्र ने दैत्येन्द्र (वृत्र) को मारा था ।

इस जालिनी अशेषा षट्त्रिंशति-चारिणी धरणिमण्डे ।
प्रज्ञासिना बलवता छित्वा ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1260॥

यहाँ धरणी-मण्डप से (मैंने बैठे-बैठे) छत्तीस-जगह चरने वाली जाल लगाने वाली समूची (तृष्णा) को प्रज्ञा के खड्ग से काट कर, ज्ञान की अग्नि से जला डाला है ।

इह ते मूलक्लेशाः सानुशया दुःखशोकसंभूताः ।
मय उद्धृता अशेषा प्रज्ञाबललाङ्गलमुखेन ॥1261॥

यहाँ मैंने अनुशय के साथ दुःख और शोक उपजाने वाले उन सब मूल (--भूत) क्लेशों को (=क्लेश के मूलों को) प्रज्ञाबल के लाङ्गलमुख (= फाल) द्वारा उखाड़ डाला है ।

इह में प्रज्ञाचक्षुर्विशोधितं प्रकृतिशुद्धसत्त्वानां ।
ज्ञानाञ्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नं ॥1262॥

यहाँ मैंने स्वभाव से शुद्ध मन के प्राणियों का प्रज्ञा-नेत्र धो कर महान् ज्ञान के अंजन द्वारा फैले हुए मोह के पटल (= परत) को भेद डाला है ।

8....8. मूल, ओघा अयोग । **अ** के स्थान में **च** पढ़ कर पदच्छेद करना आवश्यक है । भोट. **छुब्रो स्ब्योर् ब दङ्** (=ओघा योगाश्च) । **अ** यहाँ बहुत भ्रामक है । यद्यपि वह "**च**" का अर्थ बतलाने में असमर्थ नहीं है ।

इह धातुभूत चतुरो मदमकरविलोडित विपुलतृष्णाः ।
स्मृतिसमथभास्करांशो विशोषिता मे भवसमुद्रा ॥1263॥

यहाँ चार-धातुओं के भवसमुद्रों को, जिनमें मद रूपी मगर-मच्छ उथल-पुथल मचा रहे हैं, जहाँ तृष्णा बहुत लगती है, मैंने स्मृति और शान्ति की सूर्य किरणों द्वारा बिल्कुल सुखा डाला है ।

इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कसामो महामदनवह्निः ।
निर्वापितो ऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततोयेन ॥1264॥

यहाँ (मैंने) विषय रूपी काष्ठसमूह की, अत्यन्त दहकती हुई वितर्क के श्याम (=धुएँ) वाली, कामरूपी महान् अग्नि को, विमोक्षरस के शीतल जलसे बुझा दिया हैं ।

इह मे अनुशयपटला आस्वादतडिद्वितर्कनिर्घोषाः ।
वीर्यबलपवनवेगैर्सिधूप विलयं समुपनीता ॥1265॥

यहाँ मैंने अनुशय के मेघों को, जिनमें आस्वाद (=विषयरस) की बिजली चमकती रहती है, तथा वितर्कों की गर्जन होती रहती है, वीर्य बल के वायुवेग द्वारा धुन-धुन कर विलीन कर डाला है ।

इह मे हतो ह्यशेषश्चित्तचरि रिपुर्भवानुगतवैरी ।
प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमागम्य ॥1266॥

यहाँ, मैंने चित्त में विचरने वाले भव के पीछे-पीछे वैर बाँधकर पड़े हुए, सम्पूर्ण (आस्रव-रूपी) शत्रु को स्मृति तथा निर्मल-समाधि पा कर बल के साथ प्रज्ञा के खड्ग द्वारा मार डाला है ।

इह सा ध्वजाग्रधारी हस्त्यश्वरथोच्छ्रिता विकृतरूपा ।
=270ख=नमुचि बलवीर्यसेना मैत्रीमागम्य विध्वस्ता ॥1267॥

यहाँ उत्तम ध्वजा फहराने वाली, हाथी, घोड़े और रथों से उन्नत, विकृत-रूप वाली, बल तथा वीर्य से युक्त, उस काम की सेना को, मैत्री के सहारे से (मैंने) नष्ट किया है ।

(–374–) इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रिहया सदा मदोन्मत्ताः ।
बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं[9] समागम्य ॥1268॥

यहाँ मैंने अशुभ-समाधि का अर्थात् जगत् जुगुप्सामय है, इस भावना की समाधि का लाभ कर, पाँच (काम--) गुणों से बढ़े हुए, सदा मद से उन्मत्त, छह इन्द्रियों के सब अश्वों को बाँध रक्खा है ।

---

9. मूल, समाधिसशुभं । भोट, मि स्दुग् तिङ् ङे ह्रजिन् (=समाधिमशुभं) ।

इह अनुनयप्रतिघानां कलहविवाद प्रहाण-पर्यन्तः।
प्राप्तो मया ह्यशेषो अप्रणिहित[10]समाधिमागम्य ॥1269॥

यहाँ अप्रणिहित-समाधि पा कर अनुराग का एवं द्वेष का, कलह का एवं विवाद का, पूरा का पूरा विनाश और अन्त मैंने पा लिया।

इह ममियता[11] च सर्वे अध्यात्मिक बाहिरा परिक्षीणा।
कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य ॥1270॥

यह शून्यता-समाधि पाकर (मेरी) आध्यात्मिक (=शरीरमनः सम्बन्धी) एवं बाह्य (=शरीर तथा चित्त से भिन्न वस्तु सम्बन्धी) सब (प्रकार की) ममताएँ तथा (सामान्य–) कल्पनाएँ एवं विशेष-कल्पनाएँ नष्ट हो गई हैं।

इह लालयिता सर्वे मर्त्या दिव्या भवाग्रपर्यन्ताः।
त्यक्ता मया ह्यशेषा आगम्य समाधिम् अनिमित्तं[12] ॥1271॥

यहाँ अनिमित्त-समाधि पाकर मार्त्य-लोक सम्बन्धी, तथा भवाग्र तक दिव्य-लोक सम्बन्धी सब लालसाओं का पूर्ण त्याग किया है।

सर्व भवबन्धानानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि।
प्रज्ञाबलेन निखिला त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥1272॥

यहाँ तीन विमोक्षों को पाकर प्रज्ञा-बल के द्वारा, मैंने यहाँ के उन सब भव में बाँधने वाले (रस्सों को) पूर्णतया बिना-बचाए खोल डाला है।

इह हेतुदर्शनाद् वै जिता मया हेतुकास्त्रयः।
संज्ञा नित्यानित्ये संज्ञा सुखदुःख चाऽऽत्मनात्मनि च[13] ॥1273॥

यहाँ हेतु-दर्शन के कारण मैंने तीन हेतुओं को (अर्थात्) नित्य-अनित्यसंज्ञा को, सुख-दुःख-संज्ञा को, तथा आत्म-अनात्म-संज्ञा को जीत लिया है।

इह मे कर्मविधाना समुदयमुदिता षडायतनमूला।
छिन्ना द्रुमेन्द्रमूले सर्वानित्यप्रहारेण ॥1274॥

यहाँ मैंने कर्मरूपी समुदाय (=हेतु) से उत्पन्न, छह आयतनों के मूलवाली, समूची (संसार-लता) को वृक्षराज के नीचे (बैठे-बैठे) अनित्यता के प्रहार से काट डाला है।

---

10. मूल, अप्रतिहत। भोट, स्मोन् मेद् (=अप्रणिहित)। पाठान्तर भी भोटपाठ का समर्थक है।
11. ममियता। क्रिया, ममायते का निष्ठान्तरूप ममायित का अपभ्रंश। पाठान्तर मन्यना। भोट, ब्लोम् सेम्स् (=ममत्व, ममता)।
12. मूल, अनिवर्त। भोट, म्छन् मेद् (—अनिमित्तं)। भोट पाठ उचिततर है।
13. मूल, चात्मनि च। भोट, ब्दग् दङ् ब्दग् मेद् (=आत्मानात्मा च)।

इह मोहतमः कलुषं दृष्टीकृत[14] दर्परोषसंकीर्णं ।
भित्वा[15] चिरान्धकारं[16] प्रभासितं ज्ञानसूर्येण ॥1275॥

यहाँ, दृष्टि से उत्पन्न, दर्प (=घमंड) से तथा रोष से भरे हुए, मलिन, मोह-रूपी तमो (–गुण) के, चिरकाल से चले आए अंधकार को, ज्ञान के सूर्य से भेद कर (मैंने) प्रकाश फैला दिया है।

इह रागमदनमकरं तृष्णोर्मिजलं=271क=कुदृष्टिसंग्राहं ।
संसारसागरमहं संतीर्णो वीर्यबलनावा ॥1276॥

यहाँ, वीर्य (=उद्योग) तथा बल की नौका द्वारा मैं काम-राग के मगरों वाला, तृष्णा-रूपी जल एवं लहरों वाला, कुदृष्टियों के ग्राहों वाला संसार-सागर पार कर चुका हूँ।

इह तन्मयानुबुद्धं यद्-बुद्धो रागद्वेषमोहांश्च ।
प्रदहति चित्तवितर्कां दवाग्निपतितानिव पतङ्गां ॥1277॥

यहाँ, मुझे वह बोध हुआ है, जिस बोध का लाभी राग, द्वेष, एवं मोह का, चित्त के वितर्कों का, दावाग्नि में गिरे पतङ्गों की भाँति दाह कर डालता है।

इह अहु चिरप्रयातो ह्यपरिमितकल्पकोटिनयुतानि ।
संसारपथा क्लिष्टो विश्रान्तो नष्टसंतापः ॥1278॥

अपरिमित खर्ब-खर्ब कोटि कल्पों से संसार-पथ में चिर काल तक चलते मुझे क्लेश भोगने पड़े हैं (पर) यहाँ (बोधिवृक्ष के नीचे) मेरा संताप नष्ट हुआ है, मुझे विश्राम मिला है।

(–375) इह तन्मयानुबुद्धं सर्वपरवादिभियदप्राप्तं ।
अमृतं लोकहितार्थं जरामरणशोकदुःखान्तं ॥1279॥

यहाँ, मैंने अन्य सब प्रवादियों (=तत्त्वचिन्तकों) द्वारा न पाए गए उस अमृत का अवबोध किया है, जिससे जरा-मरण तथा शोक और दुःख का अन्त होता है।

यत्र स्कन्धैर्दुःखं आयतनैः तृष्णसंभवं दुःखं ।
भूयो न चोद्भविष्यति अभयपुरमिहाभ्युपगतो ऽस्मि ॥1280॥

---

14. मूल, दृष्टीकृत । पठनीय दृष्टीकृत । भोट, ल्त ग्युर (=दृष्टि-संभवम्) ।
15. मूल में भित्वा के अनन्तर क्षत्रे पाठ कोष्ठक में है, वह भोट में नहीं है ।
16. मूल, (क्षत्रे सु) चिरान्धकारं । भोट, युन् रिङ् मुन् प (=चिरान्धकारं) ।

यहाँ, (मैं उस) अभयपुर में आ गया हूँ, जहाँ स्कन्धों तथा आयतनों से (उत्पन्न होने वाला) दुःख तथा तृष्णा से उत्पन्न होने वाला दुःख फिर नहीं उपजेगा।

इह ते मयानुबुद्धा रिपवो अध्यात्मिका महाकृत्स्नाः।
बद्धा च संप्रदग्धाः कृताश्च मे पुनभवऽनिकेताः[17] ॥1281॥

यहाँ, मैंने महाकृत्स्न (=महाभूत) रूपी अध्यात्मिक-शत्रुओं का अवबोध कर लिया है, (उन्हें) मैंने बाँध लिया है, भून डाला है, (उनके) पुनर्भव का (फिर उपजने का) स्थान नहीं रक्खा है।

इह तन्म यानुबुद्धं यस्यार्थे कल्पकोटिनयुतानि।
त्यक्ता समांसनयना रत्नानि बहून्यमृतहेतोः ॥1282॥

जिस अमृत के निमित्त-अर्थ-खर्ब-कोटि कल्पों तक मांस-सहित नेत्रों का तथा बहुत से रत्नों का दान दिया है, उसका मैंने यहाँ बोध कर लिया है।

इह तन्मयानुबुद्धं यबुद्धं प्राक्तनैः तैर्जिनैर्[18] अपरिमाणैः।
यस्य मधुराभिरम्यः शब्दो लोकेषु विख्यातः ॥1283॥

यहाँ, उस (तत्त्व) का मुझे बोध हुआ है, जिसका बोध पूर्व काल के अपरमित उन बुद्धों को हुआ था, जिनका कि मधुर तथा आनन्ददायी शब्द लोकों में प्रसिद्ध है।

इह तन्मयानुबुद्धं प्रतीत्यसमुदागतं जगच्छून्यं।
चित्तेकक्षणे[19] ऽनुयातं मरीचिगन्धर्वपुरतुल्यं ॥1284॥

यहाँ, मैंने उन (प्रतीत्यसमुत्पाद) का अवबोध किया है, (जिस) प्रतीत्य-समुत्पाद से उत्पन्न (यह) जगत् शून्य, एक चित्त-क्षण में चला जाने वाला, (मृग–) मरीचिका तथा गन्धर्वनगर के तुल्य (प्रतीत होता) है।

इह मे तत्खलु शुद्धं वरनयनं येन लोकधावतः[20] सर्वां।
=271ख=पश्यामि पाणिमध्ये न्यस्तानि यथा द्रुमफलानि ॥1285॥

---

17. मूल, पुन भवनिकेताः। भोट, यङ् ब्युङ् ग्नस् मेद् (=पुनर्भव-अनिकेताः)। निकेत से पूर्व का अकार संधिवश लुप्त हो गया है। भ्रमनिवारण के लिए अवग्रह द्वारा उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है।

18. मूल, (प्राक्तनैं) तैर्जिनैर्। भोट, स्ङोन् ग्यि ग्यल् ब (प्राक्तनैर्जिनैर्)। एवं मूल पाठ में कोष्ठक अनपेक्षित है।

19. मूल, चित्तेक्षणे। पठनीय चित्तैकक्षणे। भोट, सेमस् क्यि स्कद् चिग् ग्चिग् ल (=चित्तैकक्षणे)।

20. मूल, (लोक) धावतः। भोट, ह्जिग् र्तेन् खम्स् (=लोकधातवः)। मूल में कोष्ठक अनपेक्षित है।

यहाँ, मुझे उत्तम शुद्ध नेत्र मिला है, जिससे सब लोक धातुएँ हाथ में रक्खे तरुफलों जैसी दीख पड़ रही हैं।

पूर्वेनिवासस्मरणं त्रिस्रो विद्या मयेह संप्राप्ताः।
अपरिमितकल्पनयुता स्मराभि स्वप्नादिव विबुद्धः ॥1286॥

यहाँ, मैंने तीन विद्याएँ प्राप्त की हैं। स्वप्न से जगे (पुरुष) की भाँति, खर्ब-खर्ब अपरिमित कल्पों तक के पूर्व (जन्म) के निवास (–स्थानों) का स्मरण, मेरी स्मृति में है।

यैरादीप्ता सुरनरा विपरीतसंज्ञिनो विपर्यस्ताः।
सोऽपि च तथा अवितथा इह मय पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1287॥

जिन विपरीत-संज्ञाओं द्वारा विपर्यास (= भ्रम) में पड़े मनुष्य और देवता सब ओर से जल रहे हैं, उनमें भी ठीक भ्रमरहित हो, यहाँ मैंने अमृत का माँड़ पिया है।

यस्यार्थाय दशबला मैत्री भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु।
मैत्रीबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1288॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए सब प्राणियों में मैत्री-भावना करते हैं, (उस प्रयोजन पर) मैत्री-बल से जय करके, यहाँ मैंने अमृत का माँड़ पिया है।

यस्यार्थाय दशबलाः करुणा भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु।
करुणाबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1289॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए सब प्राणियों में करुणाभावना करते हैं, (उस प्रयोजन पर) करुणा-बल से जय कर के, मैंने यहाँ अमृत का माँड़ पिया है।

(–376–) यस्यार्थाय दशबला मुदिता भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु।
मुदिताबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1290॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए प्राणियों में मुदिताभावना करते हैं, (उस प्रयोजन पर) मुदिता-बल से जय कर के, मैंने यहाँ अमृत का माँड़ पिया है।

यस्यार्थाय दशबला उपेक्ष भावेन्ति कल्पनयुतानि।
तमुपेक्षबलैर्जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1291॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए खर्ब-खर्ब कल्पों तक उपेक्षा-भावना करते हैं, उस (प्रयोजन) पर उपेक्षाबलों से जय कर के, मैंने यहाँ अमृत का माँड पिया है।

यत्पीतं च दशबलैर्गङ्गानदीबालिकाबहुतरेभिः ।
प्रागजिनसिंहैः पूर्वे इह मे पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1292॥

गंगा-नदी की बालुका के समान बहुत-बहुत, दशबल वाले, पूर्व (काल) के जिन-सिंहों ने पूर्व में जिसका पान किया था, (वह) अमृत का माँड़ मैंने यहाँ पिया है ।

या भाषिता च वाग् मे मारस्येहागतस्य ससैन्यस्य ।
भेत्स्यामि न पर्यङ्कं अप्राप्य जरामरणपारं ॥1293॥
भिन्ना मया ह्यविद्या दीप्तेन=272क= ज्ञानकठिनवज्रेण ।
प्राप्तं च दशबलत्वं तस्मात् प्रभिनद्मि पर्यङ्कं ॥1294॥

मैंने सेना के साथ आए मार से जो बात कही थी (वह यह थी कि) मैं जरा-मरण का पार बिना पाए पर्यङ्क-भंग न करूँगा । (=पलथी न तोड़ूँगा) (अब) उज्ज्वल ज्ञान के कठोर वज्र से अविद्या को भेद डाला है, तथा दशबलता (=बुद्धता) पा ली है, इसलिए मैं पर्यङ्क-भंग करता हूँ (=पलथी तोड़ता हूँ) ।

प्राप्तं मयारहत्वं क्षीणा मे आश्रवा निरवशेषाः ।
भग्ना च नमुचिसेना भिनद्मि तस्माद्धि पर्यङ्कं ॥1295॥

मैंने अर्हत्त्वा पा लिया, मेरे अशेष आस्रव क्षीण हो गए, मार की सेना भग्न हो गई, इसलिए मैं पर्यङ्क-भंग करता हूँ (=पलथी तोड़ता हूँ) ।

नीवरणकपाटानि च पञ्च मयेह प्रदारिता सर्व ।
तृष्णीलता विछिन्ना[21] ऽहं तेह[1] भिनद्मि पर्यङ्कं ॥1296॥

यहाँ, मैंने नीवरणों के सब पाँचों किंवाड़े तोड़ डाले हैं, तृष्णा की लता को काट डाला है, इसलिए मैं यहाँ पर्यङ्क-भंग करता हूँ (=पलथी तोड़ता हूँ) ।

अथ सो मनुष्यचन्द्रः सविलम्बितमासनात् समुत्थाय ।
भद्रासने निषीदत्महाभिषेकं प्रतीच्छंश्च ॥1297॥

इसके अनन्तर, वे मनुष्य-चन्द्र आसन से धीरे-धीरे उठ कर, और महाभिषेक स्वीकार करते हुए भद्रासन पर बैठ गए ।

रत्नघटसहस्रैरपि नानागन्धोदकैश्च सुरसंघाः ।
स्नपयन्ति लोकबन्धुं दशबलगुणपारमिप्राप्तं ॥1298॥

21....21. ऽहं तेह (=अहं तदिह) । भोट, ङ् .ह् दिर् (=अहम्-इह) इसी बात का समर्थक है । पर वैद्य जी ने ऽहं तेह के स्थान में हन्तेह (=हन्त-इह) सुझाया है । वैद्य जी की लालबुझक्कड़ी की कौन दाद न देगा ?

देवगणों ने रत्नमय सहस्रों कलशों द्वारा नाना-प्रकार के सुगन्धित जल से दश-बल के, गुणों के पारंगत, लोकबन्धु (तथागत) को नहलाया।

वादित्रसहस्रैरपि समन्ततो देवकोटिनयुतानि।
अतुलां करोन्ति पूजां अप्सरनयुतैः सह समग्राः ॥1299॥

खर्ब-खर्ब कोटि देवताओं ने खर्ब-खर्ब अप्सराओं के साथ एक हो कर चारों ओर से सहस्रों बाजे बजा कर (तथागत की) अनुपम पूजा की।

एवं खलु देवसुताः सहेतु सप्रत्ययं च सनिदानं।
सप्ताहु धरणिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कं ॥1300॥इति॥

हे देवपुत्रों, इस प्रकार, जो बुद्ध धरणीमण्डप में (बैंठे) पर्यङ्क-भंग नहीं करते (=पलथी नहीं तोड़ते) वह हेतु-सहित है, प्रत्ययसहित है, निदान-सहित है।

(2) बोधि के अनन्तर के सात सप्ताह

5. (–377–) प्रथम सप्ताह में, हे भिक्षुओं, सम्यक् प्रकार से बोधि-प्राप्त तथागत वहीं बैंठे रहे, मन में यह सोचते हुए कि यहाँ मुझे अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का अवबोध हुआ है, यहाँ मैंने अनादि (काल से चले आए) जन्म एवं जरा-मरण के दुःख का अन्त =272= किया है।

6. दूसरे सप्ताह में, त्रिसाहस्रमहासाहस्र-लोकधातु का आश्रय ले तथागत लम्बे-लम्बे डग रख-रख कर टहले।

7. तीसरे सप्ताह में, बिना पलक मारे हुए तथागत बोधिमण्डप निहारते रहे कि यहाँ अनुत्तर सम्यक्-सबोधि का अवबोध कर, अनादि (काल से चले आए) जन्म एवं जरा-भरण के दुःख का मैंने अन्त किया है।

8. चौथे सप्ताह में, पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र का आश्रय ले तथागत छोटे-छोटे डग रख-रख कर टहले।

प्रासंगिक मारकन्याओं के अपराध की कथा

9. इसके अनन्तर, पड़ापापी मार जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचा। पहुँच तथागत से यह बोला—भगवन्, परिनिर्वाण प्राप्त करें, सुगत, परिनिर्वाण प्राप्त करें। अब यह भगवान् के परिनिर्वाण का समय है। हे भिक्षुओं, ऐसा बोलने पर, तथागत मार से यह बोले—हे महापापी, मैं तब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करूंगा, जब तक मेरे भिक्षु स्थविर, दान्त, व्यक्त (= दक्ष), विनीत,

विशारद (= निर्भय) बहुश्रुत ?=273क = धर्मानुधर्मप्रतिपन्न (= धर्म की बड़ी-छोटी सब बातों के जानकार) अपने-आपके आचार्य हो कर ज्ञान का विकास करने में एवं परप्रवादियों का (= अन्य तत्त्वचिन्तकों का) धर्म से निग्रह कर अभिप्राय को स्पष्ट कर, प्रतिहार्य के साथ धर्मदेशना करने में समर्थ न हो जाएँ। हे महापापी, मैं तब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करूँगा. जब तक बुद्ध के, धर्म के, एवं संघ के वंश की प्रतिष्ठा लोक में नहीं हो जाएगी, जब तक अनुत्तर सम्यक्-संबोधि पाने के लिए अपरिमित बोधिसत्त्वों का व्याकरण (= भविष्यकथन) न हो चुकेगा। हे महापापी, मैं तब तक परिनिर्वाण नहीं प्राप्त करूँगा, जब तक (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, एवं उपासिकाओं की) चारों पर्षदें दान्त, विनीत, व्यक्त (= दक्ष) विशारद (= निर्भय न हो जाएँ—यहाँ तक कि—प्रतिहार्य के साथ धर्मदेशना करने में (समर्थ न हो जाएँ) ।

10. (–378–) इसके अनन्तर, बड़ा पापी मार यह वचन सुन कर, एक ओर जाकर, दुःखी, अन-मन, पछताता हुआ, मुँह लटका कर, लकड़ी से धरती पर रेखाएँ बनाता हुआ खड़ा हो गया कि ये मेरे विषय से (= इलाके से) बाहर निकल गए !

इसके अनन्तर रति, अरति तथा तृष्णा (नाम की) वे तीन मार कन्याएँ बड़े पापी मार से गाथाओं में बोलीं—

> दुर्मनासि कथं तात प्रोच्यतां यद्यसौ नरः।
> रागपाशेन तं बध्वा कुञ्जरं-वा=273ख=ऽऽनयामहे ॥1301॥

हे तात, अनमन कैसे हो रहे हो ? बोलो, क्या कोई पुरुष है ? उसे अनुराग के पाश से हाथी की तरह बाँध कर ले आएँ ।

> आनयित्वा च तं शीघ्रं करिष्याम वशे तव।
> (दौर्मनस्यमुपायासं विप्रजहाहि यीदृशं)[22] ॥ 1302॥

उसे शीघ्र ही ला कर तुम्हारे वश में कर देंगी। (तुम) इस प्रकार का अनमना पन तथा खेद छोड़ दो।

मार बोला—

> अरहन् सुगतो लोके न रागस्य वशं व्रजेत्।
> विषयं मे ह्यतिक्रान्तस्तस्मा छोचाम्यहं भृशं ॥1303॥

(वे) लोक में अर्हन्त हैं, सुगत हैं, राग के वश में नहीं जा सकते। मेरे विषय से (= इलाके से) बाहर निकल गए हैं, इसलिए मैं अत्यन्त सोच रहा हूँ।

---

22. भोट, दे ल्तर थुगस् ङन् ह्.ो बग्यंल ह्.ोर् ।

11. तदनन्तर स्त्रीचपलतावश, प्रभाव न जानने के कारण, तथागत को बोधिसत्व-जैसा ही (मान कर), पिता का वचन सुन कर ही, प्रभूतयौवन-धारिणी (=अत्यन्त नौजवान) मध्ययौवनधारिणी (=वयःसंधि की अवस्था वाली) हो कर तथागत की आँखों को भरमाने के लिए तथागत के पास पहुँच, (जो भी) स्त्री माया थी, वह सक अति करके दिखलाई। तथागत उन पर मन न किया तथा अधिष्ठान (संकल्प) किया कि (ये) अत्यन्त जराजीर्ण हो जाएँ।

तदनन्तर वे पिता के पास जाकर बोलीं—

सत्यं वदसि नस्तात न रागेण स नीयते।
विषयं मे ह्यतिक्रान्तस्तस्मा छोचाम्यहं भृशं ॥1304॥

हे तात, (तुमने) हमसे सच कहा था। कि उन्हें राग से (वश में) नहीं लिया जा सकता है, (वे) मेरे विषय से (=इलाक़े से) निकल गए हैं, इसलिए मैं अत्यन्त सोच कर रहा हूँ।

वोक्षेत यद्यसौ रूपं यदस्माभिर्विनिर्मितं।
गौतमस्य विनाशार्थं ततोऽस्य हृदयं स्फुटेत् ॥1305॥

गौतम को मटियामेट करने के लिए हमने जो रूप बनाया था, उसे यदि कोई देखता, तो उसका हृदय फट जाता।

हे तात, अच्छा, अब हमारे जरा से जोर्ण शरीर को दूर करो।

12. (-379-) मार बोला—

नाहं पश्यामि तं लोके पुरुषं सचराचरे।
बुद्धस्य यो ह्यधिष्ठानं शक्नुयात् कर्तुमन्यथा ॥1306॥

(इस) स्थावर तथा जंगम लोक में मुझे वह पुरुष नहीं दीखता, जो बुद्ध के अधिष्ठान (=संकल्प) को अन्यथा कर सके।

शीघ्रं गत्वा निवेदय अत्ययं स्वकृतं मुनेः। =274क=
सर्वं पौराणिकं कायं करिष्यति यथामतं ॥1307॥

जल्दी जाकर अपने किए अपराध का मुनि से निवेदन करो, (वे) जैसा तुम चाहती हो, तुम्हारे शरीर पहले जैसे कर देंगे।

13. तदनन्तर उन्होंने जाकर तथागत से क्षमा माँगी—भगवान् हमारे अपराध को मान लें, सुगत हमारे अपराध को मान लें, जैसा हम बालाओं ने, जैसे हम मूर्खाओं ने, जैसे हम अचतुराओं ने, अकुशलाओं ने, अक्षेत्रज्ञाओं ने किया है, जो हम भगवान् को हथियाना चाहती थीं।

तदनन्तर तथागत गाथा द्वारा बोले—

गिरिं नखैर्विलिखेथ लोहं दन्तैर्विखादथ।
शिरसा बिभित्सथ गिरिमगाधे गाधमेषत ॥1308॥

(तुम सब ने) नखों से पर्वत कुरेदना चाहा है, दाँतों से लोहा चबाना चाहा है, सिर से पहाड़ तोड़ना चाहा है, अथाह ही थाह लेना चाहता है।

इसलिए हे दारिकाओं, तुम्हारे अपराध को मानता हूँ। वह किसलिए? आर्यविनय में यह वृद्धि की बात है, जो अपराध को अपराध जान कर स्वीकार करता है और भविष्य में संवर (न करने का व्रत) ग्रहण करता है।

14. पाँचवें सप्ताह में, हे भिक्षुओं, तथागत नागराज मुचिलिन्द के भवन में विहरते थे। अनन्तर (उस) महादुर्दिन (बहुत बादल बूंदो) के सप्ताह में नागराज मुलिचिन्द अपने भवन से निकल कर तथागत के शरीर को सात बार अपने शरीर से लपेट कर (उपर) फणों की छाया कर दी कि भगवान् के शरीर को =274ख=हवा के ठंढे थपेड़े न लगें। पूर्व दिशा से भी बहुत से नागराज आकर, तथागत के शरीर को सात बार अपने शरीर से लपेट कर (ऊपर) फणों से छाया करते थे कि भगवान् के शरीर को हवा के ठंढे थपेड़े न लगें। जैसे पूर्व दिशा से, वैसे ही दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की दिशाओं से (–380–) नागराज आकर, तथागत के शरीर को सात बार अपने शरीर से लपेट कर, (ऊपर) फणों से छाया करते थे कि भगवान् के शरीर को हवा के ठंढे थपेड़े न लगें। नागराजों की वह शरीरराशि पर्वतराज सुमेरु के समान ऊँची खड़ी थी। उन नागराज को वैसा सुख कभी नहीं मिला था, जैसा कि उन सात रात-दिनों में तथागत के शरीर की समीपता से मिला था। तदनन्तर, सप्ताह बीतने पर, वे सब नागराज दुर्दिन को बीता हुआ जान कर, तथागत के शरीर से अपने शरीर हटा कर तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, अपने-अपने भवन चले गए। नागराज मुचिलिन्द भी तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर अपने भवन में घुस गए।

15. छठे सप्ताह में, तथागत नागराज मुचिलिन्द के भवन से अजपाल बरगद के नीचे गए। नागराज मुचिलिन्द और अजपाल बरगत के बीच में, =275क=नैरंजना नदी के किनारे, चरक, परिव्राजक, वृद्धश्रावक, गौतम, निर्ग्रन्थ, तथा आजीवक आदि तथागत को देख कर बोले—भगवान् गौतम ने इस असमय के दुर्दिनवाला सप्ताह सुख से तो बिताया?

16. अनन्तर, हे भिक्षुओं, तथागत ने उस समय यह उदान कहा—

सुखो विवेकतुष्टस्य श्रुतधर्मस्य पश्यतः।
अव्याबध्यं सुखं लोके प्राणिभूतेषु संयतः ॥1309॥

(जो) विवेक (=विजय) में सन्तुष्ट रहता है, (जो) धर्म को सुनता एवं देखता है उसको (यहाँ) सुख है। लोक में जीवों के प्रति जो संयत रहता है अर्थात् जीवों को नहीं सताता है, उसका सुख बिना—विघ्न बाधा का होता है।

सुखा विरागता लोके पापानां समतिक्रमः।
अस्मिन् मानुष्यविषये एतद् वै परमं सुखं ॥1310॥

लोक में वीतरागता सुख है। इस मानवों की दुनिया में यह परम सुख है, जो पापों से रहित होना है।

17. हे भिक्षुओं, तथागत ने लोक को चारों ओर जलता हुआ, जन्म से, जरा से, व्याधि से, मरण से, शोक से, परिदेवन (=विलाप) से, दुःख से, दौर्मनस्य से, उपायास (=खेद) से कहकता हुआ देखा। वहाँ तथागत ने इस विषय में यह उदान कहा—

(–381--) अयं लोकः संतापजातः शब्दस्पर्मरसरूपगन्धैः।
भयभीतो भयं भूयो मार्गते भवतृष्णया ॥1311॥

इस लोक में शब्द, स्पर्श, रस, रूप, एवं गन्ध के द्वारा सन्ताप उपजता है—(इससे यद्यपि यह) भय-भीत है, (तो भी) भव भी तृष्णा से (=संसार में रहने एवं उपजने को लालसा से) और भी अधिक भय खोजता रहता है।

18. सातवें सप्ताह में तथागत=275ख=तारायण (अर्थात् बोधिवृक्ष) के नीचे विहार करते थे।

(3) त्रपुष-भल्लिक प्रकरण

19. उस समय, उत्तरापथवासी दो भाई त्रपुष और मल्लिक नामक बुद्धिमान् चतुर बनिए दक्षिणापथ से उत्तरापथ पाँच सौ भरी-पूरी गाड़ियों के सार्थ के साथ जा रहे थे। उनके उत्तम जाति में उत्पन्न सुजात एवं कीर्ति नाम के दो बैल थे उन्हें लग्नभय न था (=कीचड़ आदि में फँसने का भय न था)। जहाँ दूसरे बैल नहीं भार ढो पाते थे, वहाँ उन्हें जोता जाता था। जहाँ आगे भय होता था, वहाँ वे खूंटे से बँधे हुए जैसे ठहर जाते थे। उन्हें प्रतोद (=पनेठ) से नहीं चलाया जाता था, उन्हें उत्पलहस्तक अथवा सुमनादामक (नाम के उपकरणों) से चलाया जाता था। उनकी वे सब गाड़ियाँ तारायण (अर्थात् बोधिवृक्ष) के समीप के क्षीरिकावन में (= खिरनी के जंगल में) रहने वाली वनदेवता के अधिष्ठान (=संकल्प) से आगे न बढ़ रही थीं। बरेत आदि गाड़ियों के अंग टूट-फूट रहे थे। गाड़ी के पहिए नाह तक धरती में धँस गए थे। सब जतन करने पर भी वे गाड़ियाँ आगे न बढ़ रही थीं। उन्हें अचरज हुआ और

और लगा कि इसका क्या कारण है, यहाँ क्या बिगड गया, जो स्थल पर गाड़ियाँ ठहर गईं। उन्होंने सुजात और कीर्ति नाम के बैलों को जोता, वे भी उत्पल-हस्तक एवं = 276क = सुमनादामक से चलाए जाने पर भी न चलते थे। उनके मन में यह बात आई निःसंदेह आगे कुछ भय है, जिसके कारण ये भी आगे नहीं बढ़ रहे हैं। उन्होंने घोड़सवार दूत आगे भेजे। वे घोड़सवार दूत लौट आए और बोले कोई भय की बात नहीं है। उस वन के देवता ने भी अपना रूप दिखा कर आश्वासन दिया कि मत डरो। (–382–) उन बैलों ने भी जहाँ तथागत थे, वहाँ गाड़ियाँ खींच ले गए। तब उन्होंने तथागत को देखा जो अग्नि समान तेज में दहक रहे थे, महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से विभूषित थे, अभी-अभी उगे जैसे सूर्य के समान शोभा से देदीप्यमान थे। देखकर उन्हें अचरज हुआ कि ये कौन हैं ? क्या ब्रह्मा यहाँ आ पहुँचे हैं या देवताओं के इन्द्र, शक्र, या वैश्रवण (=कुबेर) या चन्द्र अथवा सूर्य या कोई गिरिदेवता या नदी देवता यहाँ आ पहुँचे हैं। तदनन्तर तथागत ने (अपने) काषाय वस्त्रों को प्रकट किया। तब वे बोले। काषाय वस्त्र ओढ़े हुए ये प्रव्रजित हैं। इनसे भय नहीं है। उनके चित्त प्रसन्न हो गए (और) उन्होंने आपस में बात की कि ये प्रव्रजित हैं, समय पर खाते भी होंगे। क्या कुछ है ? (दूसरों ने) कहा—मधुतर्पण (= शहद तथा सत्तू) लिखितक–इक्षु (=छीले हुए गन्ने) हैं। =276ख=मधुतर्पण तथा लिखितक इक्षुओं को लेकर, वे जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर, तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर एक ओर खड़े हो गए। एक ओर खड़े हो, वे तथागत से बोले—भगवान्, यह पिण्डपात (= भिक्षा) हम लोगों पर अनुग्रह करके स्वीकार करें।

20. हे भिक्षुओं, तदनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई। यह अनुचित होगा यदि मैं हाथों में ग्रहण करूँ। पहले तथागतों ने किसमें ग्रहण किया था ? (ध्यान द्वारा देख कर) उन्होंने जाना कि पात्र में ग्रहण किया था।

21. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, यह तथागत के भोजन का समय है, यह जान कर, उसी क्षण, चारों दिशाओं से चारों महाराजों ने आकर, तथागत को चार सुवर्ण-पात्र भेंट किए। (और बोले) भगवन्, ये चारों सुवर्ण-पात्र हम लोगों पर अनुग्रह करके ग्रहण करें। वे श्रमणोचित नहीं हैं, ऐसा (मन में सोच) कर तथागत ने ग्रहण नहीं किया। (–383–) इसी प्रकार, चार रजतमय, चार वैडूर्यमय, स्फटिकमय, मुसारगल्वमय (= इन्द्रनीलमणिमय) एवं अश्मर्भमय (=कषपट्टिका-पाषाणमय), तदनन्तर चार सर्वरत्नमय पात्र लेकर तथागत को भेंट किए। (वे) श्रमणोचित नहीं हैं, = 277क = ऐसा (मन में सोच) कर तथागत ने ग्रहण नहीं किए।

22. हे भिक्षुओं, तदनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई। किस प्रकार के पात्रों द्वारा पहले के अर्हन्त, सम्यक्-संबुद्ध, तथागतों ने ऐसा प्रतिग्रह किया था। (ध्यान द्वारा देख कर) उन्होंने जाना कि पाषाणमय पात्रों द्वारा **ऐसा प्रतिग्रह किया था**। (तब) इस प्रकार तथागत का मन हुआ (कि मैं भी पाषाण-मयपात्रों द्वारा भिक्षा-प्रतिग्रहण करूँ)।

23. तदनन्तर, वैश्रवण (=कुबेर) महाराज ने अन्य तीन महाराजों को संबोधन करके कहा—हे मार्षों (=साथियों) नीलकायिक देवपुत्रों ने चार पाषाणमय पात्र हमें दिए थे। उस समय हमारे मन में यह बात आई थी कि हम इन पात्रों में भोजन करें। तब वैरोचन नाम के नीलकायिक देवपुत्र ने हमसे ऐसा कहा था—

(छंद उपजाति)

मा एषु भोक्ष्यथ भाजनेषु
धारेतिमे चेतियसंमतीते।
भविता जिनः शाक्यमुनीति नाम्ना
तस्येति पात्राण्युपनामयेथा ॥1312॥

इन पात्रों में भोजन न करना, इन्हें रख छोड़ना, ये चैत्य जैसे पूजित होंगे। शाक्यमुनि नाम के बुद्ध होंगे। उन्हें ये पात्र देना।

अयं स कालः समयश्च मार्षा
उपनामितुं शाक्यमुनेर्हि भाजना।
संगोतितूर्यस्वरनादितेन
दास्याम पात्राणि विधाय पूजां ॥1313॥

हे मार्षो (=साथियों) यह वह काल है—समय है जब शाक्यमुनि को पात्र देने हैं। (हम सबको) संगीति-स्वरों (स र ग म प ध नि) के द्वारा तथा वाद्यों की ध्वनियों के द्वारा, पूजा करके पात्र देना है।

स भाजनं धर्ममयं ह्यभेद्यं
इमे च शैलामयभेद्य भाजना।
प्रतिग्रहीतु (—) क्षमते न चान्यः
प्रतिग्रहार्थाय व्रजाम हन्त ॥1314॥

वे धर्ममय अटूट पात्र हैं और ये पाषाणमय टूटने वाले पात्र हैं। (इनके) प्रतिग्रह करने के योग्य दूसरा नहीं। अहो, प्रतिग्रह करने के अर्थ (हम सब) चलें।

24. इसके अनन्तर चारों महाराज अपने स्वजनों और सम्यों के साथ पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, (=पुष्पमाला) एवं =277ख= विलेपन के साथ, तथा तूर्य और ताडावचर (=करताल) बाजे बजाने के साथ, संगीति (=स र ग म प ध नि स्वर) अलापने के साथ, अपने-अपने हाथों में उन पात्रों को लेकर, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर तथागत की पूजा कर दिव्य-पुष्पों से भर कर वे पात्र तथागत को भेंट किए।

25. (–384–) हे भिक्षुओं, तदनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई। ये चार महाराज (मुझमें) श्रद्धावंत हों, मुझपर प्रसन्न हों, मुझे चार पाषाणमय पात्र भेंट कर रहे हैं। चार पाषाणमय पात्र लेना मेरे लिए वैध नहीं है। यदि एक का लूँ, तो तीन के मन को बुरा लगेगा। क्यों न मैं चारों पात्र लेकर (अपने) अधिष्ठान (=संकल्प) से एक कर लूँ।

26. हे भिक्षुओं, इसके अनंतर, तथागत ने दाहिना हाथ फैला कर माथा द्वारा वैश्रवण महाराज से कहा—

(छन्द उपजाति जगतीजातीया)

उपनामयस्य सुगतस्य भाजनं
त्वं भेष्यसे भाजनमग्रयाने।
अस्मद्विधेभ्यो हि प्रदाय भाजनं
स्मृतिर्मतिश्चैव न जातु हीयते ॥1315॥

सुगत को पात्र भेंट दो, तुम अग्रयान (=महायान) के उत्तम पात्र होओगे। हम—जैसों को पात्र देकर कभी भी स्मृतिहानि और मतिहानि नहीं होती।

27. हे भिक्षुओं, इसके अनंतर तथागत ने अनुग्रह कर महाराज वैश्रवण के पास से पात्र ग्रहण किया। और (पात्र) ग्रहण कर, गाथा द्वारा धृतराष्ट्र महाराज से कहा—

(छंद उपजाति)

यो भाजनं देति तथागतस्य
न तस्य जातु स्मृति प्रज्ञ हीयते।
अतिनाम्य कालं च सुखं सुखेन=278क=
यावत्पदं बुध्यति शीतिभावं ॥1316॥

जो तथागत को पात्र देता है, उसकी कभी भी स्मृतिहानि और प्रज्ञाहानि नहीं होती। वह जब तक शीत-भाव (=निर्वाण) का बोध नहीं कर लेता तब तक सुख-पूर्वक काल बिता कर (यहाँ) सुख से रहता है।

28. हे भिक्षुओं, इसके अनंतर तथागत ने अनुग्रह कर, महाराज धृतराष्ट्र के पास से पात्र ग्रहण किया। और (पात्र) ग्रहण कर, गाथा द्वारा विरूढक महाराज से कहा—

(छन्द उपजाति)

ददासि यस्त्वं परिशुद्धभाजनं
विशुद्धचित्ताय तथागताय।
भविष्यसि त्वं लघु शुद्धचित्त:
प्रशंसितो देवमनुष्यलोके ।।1317।।

तुम जो विशुद्धचित्त के तथागत को विशुद्ध-पात्र दे रहे हो, (उससे) विशुद्ध-चित्त के तुम शीघ्र देवलोक तथा मनुष्यलोक में प्रशंसित होओगे।

29. हे भिक्षुओं, इसके अनंतर तथागत ने अनुग्रह कर, महाराज विरूढ़क के पास से पात्र ग्रहण किया। और (पात्र) लेकर गाथा द्वारा विरूपाक्ष महाराज से कहा—

(छंद उपजाति जगती-जातीया)

(–385–) अछिद्रशीलस्य तथागतस्य
अछिद्रवृत्तस्य अछिद्रभाजनं।
अछिद्रचित्तः प्रददासि श्रद्धया
अछिद्र ते भेष्यति पुण्यदक्षिणा ।।1318।।

निर्दोष—चित्त के (तुम) निर्दोष-शील एवं निर्दोषचरित तथागत को निर्दोष-पात्र दे रहे हो, (इससे) तुम्हारी पुण्यदक्षिणा निर्दोष होएगी।

30. हे भिक्षुओं, तथागत ने अनुग्रह कर, महाराज विरूपाक्ष के पास से पात्र ग्रहण किया। अधिमुक्तिबल से (आलंबल में निश्चलता के विशेष मनोबल द्वारा) ग्रहण किए (पात्रों को) अधिष्ठान से (= संकल्प से) एक कर लिया। और उस समय यह उदान कहा—

(छंद उपजाति जगती जातीया)

दत्तानि पात्राणि पुरे भवे मया
फलपूरिता प्रेमणिया च कृत्वा।
तेनेमि पात्राश्चतुरः सुसंस्थिता = 278ख =
ददन्ति देवाश्चतुरो महर्द्धिकाः ।।1319।।

पूर्व-जन्मों में प्रियाचरण कर, फलों से भर-भर कर, मैंने पात्र दिए हैं, इसी से चार सुन्दर-संस्थान वाले (सुन्दर आकार-प्रकार वाले) चार पात्र (मुझे) चार महा-ऋद्धिमंत देवता दे रहे हैं।

31. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छन्द उपजाति)

स सप्तरात्रं वरबोधिवृक्षं
संप्रेक्ष्य धीरः परमार्थदर्शी।
षड्भिः प्रकारैः प्रविकम्प्य चोर्वी
अभ्युत्थितः सिंहगतिर्नृसिंहः ॥1320॥

वे धीर, परमार्थदर्शी, सिंह के समान चलने वाले नृसिंह सप्ताह भर बोधिवृक्ष को एकटक देख कर, धरती को छह प्रकार से कँपा कर उठे।

समन्त - नागेन्द्र - विलम्बगामी
क्रमेण तारायणमूलमेत्य।
उपाविशन्मेरुवदप्रकम्प्यो
ध्यानं समाधिं च मुनिः प्रदध्यौ ॥1321॥

सब प्रकार से नागेन्द्र (=गजेन्द्र) के समान धीरे-धीरे चलने वाले मुनि क्रम से (फिर) बोधिवृक्ष के नीचे जाकर, सुमेरु के समान निश्चल भाव से बैठे और ध्यान तथा समाधि में लग गए।

तस्मिंश्च काले त्रपुषश्च भल्लिको
भ्रातृद्वयं वणिजगणेन सार्धं।
शकटानि[23] तेषं च[23] धनेन पूर्णा
संपुष्पिते सालवने प्रविष्टाः ॥1322॥

उस समय वाणिक्-सार्थ के साथ त्रपुष तथा भल्लिक दो भाई तथा धन से पूर्ण उनके छकड़े सब ओर से फूले साल-वन में प्रविष्ट हुए।

महर्षितेजेन च अक्षमात्रं
चक्राणि भूमौ विविशुः क्षणेन।
तां तादृशीं प्रेक्ष्य च ते-अवस्थां
महद्भयं वणिजगणस्य जातं ॥1323॥

महर्षि के तेज से क्षण भर में पहिए नाह तक धरती में धँस गए। उनकी वह वैसी अवस्था देख कर वणिक्-सार्थ को बड़ा भय लगा।

23....23. मूल, ते पञ्च। भोट, में पञ्च शब्द का पता नहीं है। तेषं च शोधन अर्थसंगत है। पञ्च से संगति बैठ नहीं सकती। साथ में पाँच ही शकट न थे प्रत्युत् अनेक थे।

ते खड्गहस्ताः शरशक्तिपाणया
वने मृगं वा ऽमृगयन् क एष ।
वीक्षन्त ते शारदचन्द्रवक्त्रं
जिनं सहस्रांशुमिवाभ्रमुक्तं ॥1324॥

हाथ में खड्ग ले, बाण-बरछियाँ हाथ में पकड़े वे वन में जैसे मृग की खोज की जाती है, वैसे खोजने लगे। उन्होंने शरद के चन्द्रमा के समान वदन वाले, मेघों से मुक्त सूर्य के समान तेजस्वी बुद्ध को देखा ।

प्रहीनकोपा अपनीतदर्पाः
प्रणम्य मूर्ध्ना विमृषुः क एष ।
नभस्तलाद्देवत वाच भाषते
बुद्धो ह्ययं लोकहितार्थकारी ॥1325॥

उनका कोप चला गया, उनका घमंड दूर हो गया, सिर से प्रणाम करके वे सोचने लगे कि ये कौन हैं ? गगन-तल से देवता ने बात कही कि ये लोक के हितकारी, लोक के प्रयोजन सिद्ध करने वाले बुद्ध हैं ।

रात्रिंदिवा सप्त न चान्नपानं
अनेन भुक्तं करुणात्मकेन ।
यदिच्छथा आत्मन क्लेशान्ति
भोजेथिमं भावितकायचित्तं ॥1326॥

इन करुणानिधान ने सात दिन-रात अन्न-पान का आहार नहीं किया है । अपनी क्लेश-शान्ति चाहते हो, तो इन भावितकाय तथा भावितचित्त को अर्थात् शरीर और मन में विनीत (भगवान्) को भोजन कराओ ।

(–386–) शब्दं च ते–279क–तं मधुरं निशाम्य
वन्दित्व कृत्वा च जिनं प्रदक्षिणं ।
प्रीतास्ततस्ते सहिताः सहायैः
जिनरूप पिण्डाय मतिं प्रचक्रुः ॥1327॥

वह मधुर-शब्द सुन कर, बुद्ध की वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर, साथियों के साथ प्रेम से बुद्ध को भोजन कराने का उन्होंने विचार किया ।

32. हे भिक्षुओं, उस समय, त्रपुष और भल्लिक बनियों का प्रत्यन्तकर्वट (=सीमान्तग्राम) में गो-यूथ रहता था। उस समय उन गौओं ने सर्पिर्मण्ड (=घी के सार) जैसा दूध दिया। इसके अनन्तर ग्वाले वह सर्पिर्मण्ड (=घृत-सार) लेकर, जहाँ त्रपुष और भल्लिक बनिए थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर यह

बात जनाई कि मालिकों, यह तुम जानो, सब गौओं ने सर्पिर्मण्ड (= घृतसार जैसा दूध दिया है, यह मांगल्कि है। अथवा नहीं।

वहाँ लालची स्वभाव के ब्राह्मणों ने यों कहा—यह अमांगलिक है, ब्राह्मणों को न्योता देकर महायज्ञ करो।

33. हे भिक्षुओं, उस समय, त्रपुष और भल्लिक बनियों के, पूर्वजन्म के एक सगे-सम्बन्धी शिखण्डी नामक ब्राह्मण ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मण-रूप धर कर उन्होंने उन बनियों से गाथाओं द्वारा कहा—

युष्माकं प्रणिधिः पूर्वे बोधिप्राप्तस्तथागतः।
अस्माकं भोजनं भुक्त्वा धर्मचक्रं प्रवर्तयेत् ॥1328॥

तुम्हारा पहले का प्रणिधान (= संकल्प) है कि बोधि पाकर तथागत हमारा भोजन खाकर धर्मचक्रप्रवर्तन करें।

स चैष प्रणिधिः पूर्णो बोधिप्राप्तस्तथागतः।
आहरमुपनाम्येत=279ख–भुक्त्वा चक्रं प्रवर्तयेत् ॥1329॥

वह प्रणिधान (= संकल्प) पूर्ण हो रहा है। तथागत बोधि प्राप्त कर चुके। भोजन भेंट करना चाहिए, (जिसे) खा कर (धर्म–) चक्र प्रवर्तन करें।

सुमङ्गलं सुनक्षत्रं गवां वः सर्पिदोहनं।
पुण्यकर्मणस्तस्यैप अनुभावो महर्षिणः ॥1330॥

तुम्हारी गौओं को सर्पिर्दोहन (= घृतसार जैसा दूध देना) सुमंगल है, सुनक्षत्र (= शुभक्षणद) है। यह उन पुण्य कर्म के महर्षि का प्रताप है।

एवं संचोद्य वणिजः शिखण्डी भवनं गतः।
उदग्रमनसः सर्वे बभूवुस्त्रपुषाह्वयाः ॥1331॥

इस प्रकार (उन) बनियों को प्रेरणा देकर शिखण्डी (अपने) भवन चले गए। त्रपुष-नामी (वे) सब (बनिए भी) मन में बहुत प्रसन्न हुए।

(छन्द उपजाति)

क्षीरं यदासीच्च हि गोसहस्रा
अशेषतस्तं समुदानयित्वा। (–387–)
अग्रं च तस्मात् परिगृह्य ओजः
सार्धेसु ते भोजन गौरवेण ॥1332॥

हजार गौओं का जो दूध था, उसे पूरा का पूरा मँगा कर, उसमें से उत्तम सार लेकर, उन्होंने गौरव के साथ भोजन सिद्ध किया।

शतं-सहस्रैकपलस्य मूल्यं
या रत्नपात्री अभु चन्द्रनामिका।
चौक्षां सुधौतां विमलां च कृत्वा
समतीर्थिकां पुरिषु भोजनेन ॥1333॥

(उनके पास) जो चन्द्रनामिका रत्नपात्री थी, जिसका मूल्य एक लाख (सुवर्ण–) पल था, उसे उत्तमता से धोकर, निर्मल एवं चोखा (=पवित्र) कर भोजन से मुँह के बराबर तक भर दिया।

मधुं गृहीत्वा तथ रत्नपात्रीं
तारायणीमूलमुपेत्य शास्तुः।
प्रतिगृह्ण भक्ते अनुगृह्ण चास्मान्
इदं प्रणीतं परिभुङ्क्ष्व भोज्यं ॥1334॥

मधु तथा रत्नपात्री लेकर, बोधिवृक्ष के नीचे शास्ता के पास जाकर (वे बोले–) भोजन स्वीकार करो और हम पर अनुग्रह कर इस उत्तम भोजन का उपभोग करो।

अनुकम्पनार्थाय उभौ च भ्रातृणां
पूर्वासियं ज्ञात्व च बोधिप्रस्थितौ।
प्रतिगृहीत्वा परिभुञ्जि शास्ता
भुक्त्वा क्षिपी पात्रि नभस्तलेऽस्मि ॥1335॥

दोनों भाइयों पर अनुग्रह करने के लिए, बोधिप्रस्थापना कर चुकने वाले (उन दोनों के) पूर्व के आशय को जान कर, शास्त्रा ने ग्रहण कर के भोजन किया और पात्री को आकाश में फेंक दिया।

सुब्रह्मनामा च हि देवराजो
जग्राह यास्तां वररत्नपात्रीं।
अधुनाप्यसौ तां खलु ब्रह्मलोके
संपूजयत्यन्यसुरैः सहायः ॥1336॥

सुब्रह्म नामक देवराज, जिन्होंने उस उत्तम रत्नपात्र को लें लिया था, वे अन्य देवताओं के साथ आज भी ब्रह्मलोक में उसकी सब-विधि से पूजा करते हैं।

4. त्रपुष और भल्लिक के लिए भगवान् का स्वस्तिवाचन

34. इसके अनन्तर, तथागत ने उस समय, उन त्रपुष और भल्लिक बनियों के लिए यह संहर्षणा की—

पूर्वदिग्मङ्गल

दिशां स्वस्तिकरं दिव्यं मङ्गल्यं चार्थसाधकं । = 280क =
अर्था वः सासतां सर्वे भवत्वाशु प्रदक्षिणा ॥1337॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ स्वस्ति कर हों, दिव्य (-भाव) मंगल—कारक एवं अर्थ—साधक हों, जिन अर्थों की चाह है (वे सिद्ध) हों, सभी शीघ्र (तुम्हारे) अत्यन्त अनुकूल हों ।

श्रीर्वोऽस्तु दक्षिणे हस्ते श्रीर्वो वामे प्रतिष्ठिता ।
श्रीर्वोऽस्तु सर्वसङ्गेषु मालेव शिरसि स्थिता ॥1338॥

तुम्हारे दाहिने हाथ में श्री हो, तुम्हारे बाएँ (हाथ) में श्री रहे, तुम्हारे अंगों में सब ओर से, सिर पर लिपटी माला की भाँति श्री हो ।

धनैषिणां प्रयातानां वणिजां वै दिशो दशः ।
उत्पद्यन्तां महालाभास्ते च सन्तु सुखोदयाः ॥1339॥

दसों दिशाओं में जाने वाले, धनकामी, (तुम) बनियों के बड़े-बड़े लाभ उपजें और वे सुखोदय हों ।

कार्येण केनचिद्येन गच्छथा पूर्विकां दिशं ।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तस्यां दिशि संस्थिता ॥1340॥

जिस किसी काज से (तुम) पूर्व की दिशा में जाओ, उस दिशा में रहने वाले नक्षत्र हैं, वे तुम्हारी पालना करें ।

कृतिका रोहिणी चैव मृगशिरार्द्रा पुनर्वसुः ।
पुष्यश्चैव तथाश्लेषां इत्येषां पूर्विका दिशां ॥1314॥ (–388–)
इत्येते सप्तनक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः ।
अधिष्ठिता पूर्वभागे देवा रक्षन्तु सर्वतः ॥1342॥

कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनः पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा-इनकी पूर्व दिशा है । ये सातों नक्षत्र तथा पूर्वभाग के अधिष्ठाता, यशस्वी लोकपाल देवता सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा करें ।

तेषां चाधिपती राजा धृतराष्ट्रेति विश्रुतः ।
स सर्वगन्धर्वपतिः सूर्येण सह रक्षतु ॥1343॥

उनके अधिपति राजा धृतराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सब गन्धर्वों के स्वामी हैं, (वे) सूर्य के सहित (तुम्हारी) रक्षा करें ।

पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः ।
अशोतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबलाः ।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1344॥

उनके बहुत–से, एक-नाम के, चतुर महाबली इन्द्र, इन्द्र-संज्ञक इक्यानबे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिका:।
जयन्ती विजयन्ती च सिद्धार्थी अपराजिता ॥1345॥
नन्दोत्तरा=280ख=नन्दिसेना नन्दिनी नन्दवर्धिनी।
ता पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1346॥

पूर्व दिशा के भाग में आठ देवकन्याएँ हैं—जयन्ती, विजयन्ती सिद्धार्था, अपराजिता, नन्दोत्तरा, नन्दिसेना, नन्दिनी और नन्दवर्धिनी। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे चापालं नाम चेतियं।
अ (ा) वुस्तं जिनेभि ज्ञातमर्हन्तेभि च तायिभि:।
ते पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1347॥

पूर्व दिशा के भाग में चापला नामक चैत्य हैं, तायी (=धर्मात्मा) एवं अर्हन्त बुद्ध उसे जानते हैं, वहाँ रहते हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

क्षेमाश्च वो दिश: सन्तु मा च व: पापमागमत्।
लब्धार्थाश्च निर्वर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिता: ॥1348॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो।

दक्षिणदिग्मङ्गल

येन केनचित्कृत्येन गच्छेथा दक्षिणां दिशं।
नक्षत्राणि व: पालेन्तु ये वै तां दिशमधिष्ठिता ॥1349॥

जिस किसी काज से (तुम) दक्षिण की दिशा में जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र हैं, वे तुम्हारी पालना करें।

मघा च द्वौ च फाल्गुण्यौ हस्ता चित्रा च पंचमी।
स्वातिश्चैव विशाखा च एतेषां दक्षिणा दिशा: ॥1350॥

मघा, (पूर्व तथा उत्तरा ये दो) फाल्गुनी, हस्त तथा पाँचवी चित्रा, स्वाति, और विशाखा–इनकी दक्षिण दिशा है।

इत्येते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विन:।
आदिष्टा दक्षिणे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वत: ॥1351॥

ये सातों नक्षत्र तथा दक्षिण भाग के कहे जाने वाले (जो) यशस्वी लोक-पाल (–देवता) हैं, वे-सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा करें।

(–389–) तेषां चाधिपतो राजा विरूढक इति स्मृतः।
सर्वकुम्भाण्डाधिपतिर्यमेन सह रक्षतु ।।1352।।

उनके अधिपति राजा विरूढक नाम से स्मरण किये जाते हैं। (वे) सब कुम्भाण्डों के अधिपति, यम के सहित, तुम्हारी रक्षा करें।

पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबलाः।।
तेऽपि वा अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ।।1353।।

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महाबली, इन्द्रसंज्ञक, इक्यानबे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
श्रियामती=281क=यशमती यशप्राप्ता यशोधरा ।।1354।।
सु-डत्थिता सुप्रथमा सुप्रसिद्धा सुखावहा।
ता पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ।।1355।।

दक्षिण दिशा के भाग में आठ देवकन्याएँ हैं—श्रीमती, यशस्वती, यशःप्राप्ता, यशोधरा, सूत्थिता, सुप्रथमा, सुप्रसिद्धा और सुखावहा। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे पद्मनामेन चेतिकं।
नित्यं ज्वलिततेजेन दिव्यं सर्वप्रकाशितं।
ते ऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ।।1356।।

दक्षिण दिशा के भाग में पद्मनामक, नित्य (अपने) जलते हुए तेज से सब ओर प्रकाशित, दिव्य चैत्य हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत्।
लब्धार्थाश्च निवर्तध्यं सर्वदेवेभि रक्षिताः ।।1357।।

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो।

पश्चिमदिग्मङ्गल

येन केन चित् कृत्येन गच्छेथा पश्चिमां दिशं।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तां दिशमधिष्ठिता ।।1358।।

जिस किसी काज से (तुम) पश्चिम की दिशा में जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र हैं, वे तुम्हारी पालना करें।

अनुराध च ज्येष्ठा च मूला च दृढवीर्यता।
द्वावाषाढ़े अभिजिच्च श्रवणो भवति सप्तमः ॥1359॥
इत्येते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः।
आदिष्टा पश्चिमे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1360॥

अनुराधा, ज्येष्ठा, दृढ़ोद्योगी मूल, दो आषाढा अर्थात् पूर्वाषाढा एवं उत्तराषाढा, अभिजित् तथा सातवां (इनमें) श्रवण है। ये सातों नक्षत्र तथा पश्चिम भाग के कहे जाने वाले, (जो) यशस्वी, लोकपाल (देवता) हैं, वे-सब सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।

तेषां चाधिपती राजा विरूपाक्षेति तं विदुः।
स सर्वनागाधिपतिर्वरुणेन सह रक्षतु ॥1361॥

उनके अधिपति (जो) राजा हैं, उन्हें विरूपाक्ष के नाम से (लोग) जानते हैं। सब नागों के अधिपति वे वरुण के साथ (तुम्हारी) रक्षा करें।

(–390–) पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा महाबलाः।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबलाः।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन=281ख=शिवेन च ॥1362॥

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महाबली, इन्द्रसंज्ञक, इक्यानबे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

पश्चिमेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
अलम्बुशा मिश्रकेशी पुण्डरीका तथारुणा ॥1363॥
एकादशा नवमिका शीता कृष्णा च द्रौपदी।
ताऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1364॥

पश्चिम दिशा के भाग में आठ देवकन्याएँ हैं—अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुंडरीका, अरुणा, एकादशी, नवमिका, सीता तथा आकर्षण वाली द्रौपदी। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

पश्चिमेस्मिन् दिशो भागे अष्टंगो[24] नाम पर्वतः।
प्रतिष्ठा चन्द्रसूर्याणां अष्टमर्थं[24] ददातु वः।
सोऽपि व अधिपालेतु आरोग्येन शिवेन च ॥1365॥

---

24. अष्टंग = अस्तंग। अष्ट = अस्त। तुलनीय भाट, नुब् (= अस्त, अपर, पश्चिम)। श्लेष से अष्टंग (= अष्टं गच्छति गमयति वा इति, आठ को पहुँचने वाला या पहुँचाने वाला)। अष्ट (= संख्या 8)।

प्रथमार्थ : पश्चिम दिशा के भाग में नामी अस्ताचल है, जहाँ चन्द्र और सूर्य अस्त होते हैं, (वह) अस्त (ाचल) तुम्हें अर्थ प्रदान करें किंच वह आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

द्वितीयार्थ : पश्चिम दिशा के भाग में अष्टंग (=आठ तक पहुँचाने वाला) नामी पर्वत है, वह चंद्र तथा सूर्य का निवास-स्थान है, (वह) तुम्हें अष्ट-अर्थ (=आठ प्रकार के धन) दे। किंच वह आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

> **क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत्।**
> **लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1366॥**

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल–क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पा कर लौटो।

उत्तरदिग्मङ्गल

> **येन केनचित् कृत्येन गच्छेथा उत्तरां दिशं।**
> **नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तां दिशमधिष्ठिता ॥1367॥**

जिस किसी काज से (तुम) उत्तर दिशा में जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र हैं, वे तुम्हारी पालना करें।

> **धनिष्ठा शतभिषा चैव द्व च पूर्वोत्तराऽपरे।**
> **रेवती अश्विनी चैव भरणी भवति सप्तमी ॥1368॥**
> **इत्यते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः।**
> **आदिष्टा उत्तरे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1369॥**

धनिष्ठा, शतभिषा, दो और पूर्व—भाद्रपदा, उत्तर—भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी तथा सातवीं इनमें भरणी है। ये सातों नक्षत्र तथा उत्तर भाग में कहे जाने वाले, (जो) यशस्वी लोकपाल (=देवता) हैं, वे--सब सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।

> **तेषां चाधिपती राजा कुवेरो नरवाहनः।**
> **सर्वयक्षाणामधिपतिं माणिभद्रेण सह रक्षतु ॥1370॥**

उनके अधिपति राजा नरवाहन (=पालकी पर चढ़ने वाले) कुबेर हैं। (वे) सब यक्षों के अधिपति मणिभद्र के सहित (तुम्हारी) रक्षा करें।

पुत्रा पि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबला।
(-391-) तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन = 282क=शिवेन च ॥1371॥

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महाबली, इन्द्रसंज्ञक, इक्यानबे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

उत्तरेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
इलादेवी सुरादेवी पृथ्वी पद्मावती तथा ॥1372॥
उपस्थिता महाराजा आशा श्रद्धा हिरी शिरी।
ताऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1373॥

उत्तर दिशा के भाग में आठ देवकन्याएँ हैं—इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, आशा, श्रद्धा, ह्री और श्री (जो) महाराज (कुबेर) की सेवा करती हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

उत्तरेस्मिन् दिशो भागे पर्वतो गन्धमादनः।
आवासो यक्षभूतानां चित्तकूटः सुदर्शनः।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1374॥

उत्तर दिशा के भाग में विचित्र-शिखर का, देखने में सुन्दर, गन्धमादन पर्वत है, जहाँ यक्ष और भूत निवास करते हैं। वे-सब भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत्।
लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1375॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो।

सर्वतोमङ्गल

अष्टाविंशति नक्षत्रा सप्त-सप्त चतुर्दिशं।
द्वात्रिंशद् देवकन्याश्च अष्टावष्टौ चतुर्दिशं ॥1376॥

चारों दिशाओं में (एक-एक ओर) सात-सात (नक्षत्र मिला कर) अट्ठाईस नक्षत्र, चारों दिशाओं में (एक-एक ओर) आठ-आठ (देवकन्याएँ मिला कर) बत्तीस देवकन्याएँ सब ओर तुम्हारी सब प्रकार की रक्षा करें।

(छंद वैतालीय)

अष्टा श्रमणाऽष्ट[25] ब्राह्मणा
अष्टौ[25] ज (ा) नपदेषु नैगमाः।
अष्टौ देवाः स-इन्द्रका
ते वो परिरक्षन्तु[26] सर्वतः ॥1377॥

आठ श्रमण, आठ ब्राह्मण, जनपद-मंडलों के नैगम (=नगर मंडलाधिकारी इन्द्रसहित आठ देवता वे-सब सब ओर से तुम्हारी सब प्रकार की रक्षा करें।

स्वस्ति वो गच्छतां भोतु स्वस्ति भोतु निवर्ततां।
स्वस्ति पश्यत वै ज्ञातिं स्वस्ति पश्यन्तु ज्ञातयः ॥1378॥

जाते समय तुम्हारे लिए स्वस्ति हो, लौटने समय तुम्हारे लिए स्वस्ति हो, (तुम्हें) विरादरी स्वस्ति से देखने को मिले, बिरादरी को तुम स्वस्ति से देखने को मिलो।

सेन्द्रा यक्षा महाराजा
अर्हन्त-म्-अनुकम्पिताः ।
सर्वत्र स्वस्ति गच्छध्वं
प्राप्स्यध्वममृतं शिवं ॥1379॥

इन्द्र-सहित (देवताओं-द्वारा), महाराज-सहित यक्षों द्वारा, अर्हन्तों-द्वारा अनुगृहीत (तुम-सब) स्वस्ति के साथ जाओ, अमृत और कल्याण प्राप्त करो।

तथागत का आशीर्वाद और व्याकरण

(छंद उपजाति)

=282ख=संरक्षिता ब्राह्मण वासवेन
विमुक्तिचित्तैश्च अनाश्रवैश्च।
नागैश्च यक्षैश्च सदानुकम्पिताः
पालेथ आयुः शरदां शतं समं ॥1380॥

25....25. मूल, (चाष्टौ)। अष्टौ। भोट में दो स्थानों पर **बृर्ग्यद** (अष्ट, अष्टौ) है।

26. मूल, रक्षन्तु। इस पद्य में छन्द वैतालीय है। तीसरे पाद में छन्दःस्पष्टता है। चौथा पाद रक्षन्तु के स्थान में परिरक्षन्तु पढ़ने से ठीक हो जाता है। भोट, **कुन् तु स्रुङ् स्**। यहाँ **कुनतु** (=परि, सर्वतः) परि का अनुवाद जान पड़ता है।

ब्रह्मा के द्वारा, इन्द्र के द्वारा, विमुक्ति-मन के आस्रवहीन (अर्हन्तों) द्वारा, नागों के द्वारा, यक्षों के द्वारा, सर्वदा अनुगृहीत होकर, सौ शरदों के बराबर, आयु का उपभोग करो।

प्रदक्षिणां दक्षिण लोकनाथः
तेषां दिदेश[27] ऽप्रतिमो विनायकः।
अनेन यूयं कुशलेन कर्मणा
मधुसंभवा नाम जिना भविष्यथ ॥1381॥

अनुपम विनायक (सर्वोत्तम नेता) लोकनाथ ने दक्षिणा की अर्थात् दान देने की प्रदक्षिणा अर्थात् श्रेष्ठता का उपदेश दिया (और भविष्यवाणी की कि) तुम पुण्य कर्म से मधुसंभव नामक बुद्ध होओगे।

(–392–) प्रथमा-द्-इदं लोकविनायकस्य
असंगतो व्याकरणं जिनस्य।
पश्चादनन्ता बहुबोधिसत्त्वा
ये व्याकृता बोधयि नो विवर्त्याः ॥1382॥

लोक के उत्तम नेता, आसक्तिरहित, बुद्ध का यह प्रथम व्याकरण (भविष्यत्कथन) था। पश्चात् बोधि के लिए अनन्त अवैवर्तिक (=पीछे न लौटने वाले) बोधिसत्त्वों का (तथागत ने) व्याकरण किया।

श्रुत्वा इमं व्याकरणं जिनस्य, उदग्रचित्ता परमाय प्रीत्या।
तौ भ्रातरौ सार्धं सहायकैस्तै, बुद्धं च धर्मं शरणं प्रपन्नाः[28] ॥1383॥[29]

बुद्ध की यह भविष्यवाणी सुनकर, वे दोनों भाई, मन में आनन्दित हो, परम-प्रीति के साथ अपने उन सहायकों सहित, बुद्ध और धर्म की शरण गए।

॥ इति श्री ललितविस्तरे त्रपुष-भल्लिकपरिवर्तो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥

●

---

27. मूल दिशैष। अत्यन्त सन्दिग्ध पाठ है। भोट, ग्सुङ् (= दिदेश)।
28. मूल, शरणं प्रसन्नाः। भोट, स्क्यबस् सु बोङ् (= शरणं प्रपन्नाः)।
29. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है।

रथचरण (= रथचक्र) निचितचरण दशशतारजलजकमलदलतेजः सुरमुकुटघृष्टचरण वन्दे चरणौ श्रीघनस्य ॥1229॥ अभिवन्द्य सुगतचरणौ प्रमुदितचित्तस्तदा स सुरपुत्रः। इदमवोचद् विमतिहरणं प्रशान्तकरणं नर-मरुताम् ॥1230॥ शाक्यकुलनन्दिजनन, अन्तकर रागदोष(= द्वेष)मोहा-

नाम् । प्रम्लानान्तकरण विनय कांक्षां (=विमतिं, संदेहं) नरमरुताम् ॥1231॥ किं कारणं दशबला बुद्ध्वा सर्वज्ञतामपरिमाणाम् । सप्ताहं महीमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम् ॥1232॥ किं नु खलु पश्यन् सप्ताहमनिमिषेण नरसिंह प्रेक्षसे विशुद्धचक्षुर् विकसितशतपत्रतुल्याक्ष ॥1233॥ किं नु भवत एष प्रणिधिर् उताहो सर्वेषां वादिसिंहानाम् । येन द्रुमराजमूले पर्यङ्कं नाभिनत् सप्ताहम् ॥1234॥ साधु समशुद्धदन्त सुगन्धिगन्धमुखेन (यथारुतं तु मुखं) दशबलस्य प्रवद वचनमवितथं कुरुष्व प्रीतिं नरमरुताम् ॥1235॥

तमुवाच चन्द्रवदनः शृणुष्व मे भाषमाणस्यामरपुत्र । अस्य प्रश्नस्याहं किंचिन्मात्रं प्रवक्ष्यामि ॥1236॥ राजा यद्वद् यस्मिन्नभिषिक्तो भवति ज्ञातिसंघेन सप्ताहं तं प्रदेशं न जहाति हि धर्मता राज्ञाम् ॥1237॥ एवमेव दशबला अप्यभिषिक्ता भवन्ति यदा प्रणिधिपूर्णाः सप्ताहं धरणीमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम् ॥1238॥ शूरो यथारिसंघान् निरीक्षते निर्जितान् निरवशेषान् । बुद्धा अपि बोधिमण्डे क्लेशान् निहतान् निरीक्षन्ते ॥1239॥ इह ते कामक्रोधा मोहप्रभवा जगत्यरिकाशाः । सहोढा इव चौरा विनाशिता ये निरवशेषाः ॥1240॥ इह मे हता नवविधा माना इह ममताः पुनरनिकेताः । सर्वास्रवाः प्रहीणा ज्ञानं चाग्रं ममोत्पन्नम् ॥1241॥ इह सा ऽकार्यकर्त्री भवतृष्णाचारिणी तथाविद्या । सानुशयमूलजाला पटुना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1242॥ इह सा-अहं ममेति च-कलिपाशा दूरानुगानीचमूला नीवरणकठिनग्रन्थिश् छिन्ना मे ज्ञानशस्त्रेण ॥1243॥ इह ते चिरं समायाता उल्लापनका विनाशपर्यन्ताः । स्कन्धा सोपादाना ज्ञानेन मया परिज्ञाताः ॥1244॥ इह ते द्वयसंमोहा मिथ्याग्राहा महानरकनिष्ठाः । मयोद्धृता अशेषा भूयश्च न जातु जनिष्यन्ते ॥1245॥ इह नीवरणवनारयो दग्धा मे कुशलमूलतेजसा । चत्वारश्च विपर्यासा निर्दग्धा मया निरवशेषाः ॥1246॥ इह ता वितर्कमालाः संज्ञासूत्रेषु ग्रथिता निपन्थिन्यः (=परिन्थिन्यः) विनिवर्तिता अशेषा बोध्यङ्गविचित्रमालाभिः ॥1247॥ दुर्गानि पञ्चषष्टिर् मोहास् त्रिंशच्चमलिनाः । चत्वारिंशदधानि छिन्नानि मेऽस्मिन् धरणीमण्डे ॥1248॥ षोडशासंवृतानि, अष्टादश धातवश्च महीमण्डे । कृच्छ्राणि पञ्चविंशतिश् छिन्नानि मयेह संस्थेन ॥1249॥ विंशती रजस्तटिन्यो ऽष्टाविंशतिर्जगतो वित्रासाः'। इह मे समतिक्रान्ता वीर्यबलपराक्रमं कृत्वा ॥1250॥ तथा बुद्धनर्दितानि पञ्चशतान्यस्मिन् मया समनुबुद्धाः । परिपूर्णशतसहस्रं धर्माणां मया समनुबुद्धम् ॥1251॥ इह मेऽनुशया अशेषा

अष्टानवतिः समूलपर्यन्ताः । पर्युत्थानकिसलया निर्दग्धा ज्ञानतेजसा ॥1252॥ काङ्क्षाविमतिसमुदया दृष्टिजलयन्त्रिताऽशुभमूला तृष्णानदी त्रिवेगा प्रशोषिता ज्ञानसूर्येण ॥1253॥ कुहनालपनाप्रहाणं (०प्रहाणेन वा) मायामात्सर्यदोषेर्ष्याद्यम् । इह तत्क्लेशारण्यं छिन्नं ज्ञानाग्निना दग्धम् ॥1254॥ इह तानि विवादमूलानि, आकर्षणानि दुर्गतिषु विषमासु । आर्यापवादवचनानि ज्ञानवरविरेचनैर्वान्तानि ॥1255॥ इह रुदितक्रन्दितानां शोचितपरिदेवितानां पर्यन्ताः । प्राप्तो मया ह्यशेषो ज्ञानगुणसमाधिमागम्य ॥1256॥ ओघाश्च योगा ग्रन्थाः शोकाः शल्यानि मदाः प्रमादाश्च । विजिता ममेह सर्वे सत्यनयसमाधिमधिगम्य ॥1257॥ इह मया क्लेशगहनाः संकल्पविरूढमूला भववृक्षाः । स्मृतिपरशुनाऽशेषाश् छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धाः ॥1258॥ इह स मया ह्यतिबलोऽस्मिन् मारस्त्रिलोकवशवर्ती ज्ञानासिना शठात्मा हतो यथेन्द्रेण दैत्येन्द्रः ॥1259॥ इह जालिन्यशेषा षट्त्रिंशच्चरिणी (=18 धातु 12 आयतन 6 इन्द्रिय =36 एतेषु चारिणी) धरणीमण्डे । प्रज्ञासिना बलवता छित्वा ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1260॥ इह ते मूलक्लेशाः सानुशया दुःखशोकसंभूताः । मयोद्धृता अशेषाः प्रज्ञाबललाङ्गलमुखेन ॥1261॥ इह मे प्रज्ञाचक्षुर् विशोधितं प्रकृतिशुद्धसत्त्वानाम् । ज्ञानाञ्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नम् ॥1262॥ इह धातुभूताश्चत्वारो मदमकरविलोडिता विपुलतृष्णाः । स्मृतिशमथभास्करांशौ विशोषिता मे भवसमुद्राः ॥1263॥ इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कश्यामो महामदनवह्निः । निर्वापितोऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततोयेन 1264॥ इह मे ऽनुशयपटलान्यास्वाददतडिद्वितर्कनिर्घोषाणि । वीर्यबलपवनवेगैर्विधूय विलयं समुपनीतानि ॥1265॥ इह मे हतो ह्यशेषश् चित्तचारी रिपुर् भवानुगतवैरी । प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमधिगम्य ॥1266॥ इह सा ध्वजाग्रधारिणी हस्त्यश्वरथोच्छ्रिता विकृतरूपा । नमुचिबलवीर्यसेना मैत्रीमागम्य विध्वस्ता ॥1267॥ इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रियहयाः सदा मदोन्मत्ताः । बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं समागम्य ॥1268॥ इहानुनयप्रतिघयोः कलहविवादयोः प्रहाण-पर्यन्तः । प्राप्तो मया ह्यशेषोऽप्रणिहितसमाधिमागम्य ।1269। इह ममायितानि च सर्वाणि, आध्यात्मिकानि बाह्ययानि परिक्षीणानि कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य ॥1270॥ इह लालयितानि सर्वाणि मर्त्यानि दिव्यानि भवाग्रपर्यन्तानि । त्यक्तानि मया ह्यशेषाणि आगम्य समाधिमनिमित्तम् ॥1271॥ सर्वं भवबन्धनानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि । प्रज्ञाबलेन निखिलं त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥1272॥

इह हेतुदर्शनाद् वै जिता मया हेतुकास्त्रयः। संज्ञे नित्यानित्ये संज्ञा सुखदुःखे चात्मानात्मानौ च ॥1273॥ इह मे कर्मविधानात् समुदयादुदिता षडायतनमूलात्। छिन्ना द्रुमेन्द्रमूले सर्वाऽनित्यप्रहारेण ॥1274॥ इह मोहतमः कलुषं दृष्टिकृतं दर्परोषसंकीर्णम्। भित्त्वा चिरान्धकारं प्रभासितं ज्ञानसूर्येण ॥1275॥ इह रागमदनमकरं तृष्णोर्मिजलं कुदृष्टिसंग्राहम्। संसारसागरमहं संतीर्णो वीर्यबलनावा ॥1276॥ इह तन्मयानुबुद्धं यद्-बुद्धो रागद्वेषमोहांश्च। प्रदहति चित्तवितर्कान् दवाग्निपतितानिव पतङ्गान् ॥1277॥ इहाहं चिरप्रयातो ह्यपरिमितकल्पकोटिनयुतानि। संसारपथेन क्लिष्टो विश्रान्तो नष्टसंतापः ॥1278॥ इह तमन्यानुबुद्धं सर्वपरप्रवादिभिर्यदप्राप्तम्। अमृतं लोकहितार्थं जरामरणशोकदुःखान्तम् ॥1279॥ यत्र स्कन्धैर्दुःखम् आयतनैस्तृष्णासंभवं दुःखम्। भूयो न चोद्भविष्यत्यभयपुरमिहाभ्युपगतोऽस्मि ॥1280॥ इह ते मयानुबुद्धा रिपवोऽध्यात्मिका महाक्लेशाः। बद्धाश्च संप्रदग्धाः कृताश्च मे पुनर्-भवानिकेताः ॥1281॥ इह तन्मयानुबुद्धं यस्यार्थे कल्पकोटिनयुतानि त्यक्तानि समांसनयनानि रत्नानि बहून्यमृतहेतोः ॥1282॥ इह तमन्यानुबुद्धं यद् बुद्धं प्राक्तनैस्तैर्जिनैरपरिमाणैः। यस्य (=येषां) मधुराभिरम्यः शब्दो लोकेषु विख्यातः ॥1283॥ इह तन्मयानुबुद्धं प्रतीत्यसमुदागतं जगच्छून्यम्। चित्तैकक्षणेऽनुयातं मरीचिगन्धर्वपुरतुल्यम् ॥1284॥ इह मे तत् खलु शुद्धं वरनयन येन लोकधातून् सर्वान्। पश्यामि पाणिमध्ये न्यस्तानि यथा द्रुमफलानि 1285॥ पूर्वनिवासस्मरणं तिस्रो विद्या मयेह संप्राप्ताः। अपरिमितकल्पनयुतानि स्मरामि स्वप्नादिव विबुद्धः ॥1286॥ याभिरादीप्ताः सुरनरा विपरीतसंज्ञाभि विपर्यस्ताः। तास्वपि च तथाऽवितथ इह मया पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1287॥ यस्यार्थाय दशबला मैत्रीं भावयन्ति सर्वसत्त्वेषु। मैत्रीबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1288॥ यस्यार्थाय दशबलाः करुणां भावयन्ति सर्वसत्त्वेषु। करुणाबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1289॥ यस्यार्थाय दशबला मुदितां भावयन्ति सर्वसत्त्वेषु। मुदिताबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1290॥ यस्यार्थाय दशबला उपेक्षां भावयन्ति कल्पनयुतानि। तमुपेक्षाबलैर्जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1291॥ यत्पीतश्च दशबलैर्गङ्गानदीबालुकाबहुतरैः। प्राग्जिनसिंहैः पूर्वम् इह मे पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1292॥ या भाषिता च वाग् मे मारस्येहागतस्य ससैन्यस्य। भेत्स्यामि न पर्यङ्कम् अप्राप्य जरामरणपारम् ॥1293॥ भिन्ना मया ह्यविद्या दीप्तेन ज्ञानकठिनवज्रेण प्राप्तं च दशबलत्वं

तस्मात्प्रभिनद्मि पर्यङ्कम् ॥1294॥ प्राप्तं मयार्हत्त्वं क्षीणा मे आस्रवा निरवशेषाः। भग्ना च नमुचिसेना भिनद्मि तस्माद्धि पर्यङ्कम् ॥1295॥ नीवरणकपाटानि च पंच मयेह प्रदारितानि सर्वाणि। तृष्णालता विच्छिन्नाऽहं तदिह भिनद्मि पर्यङ्कम् ॥1296॥ अथ स मनुष्यचन्द्रः सविलम्बितमासानात् समुत्थाय। भद्रासने न्यषीदन्महाभिषेकं प्रतीच्छंश्च ॥1297॥ रत्नघटसहस्रैरपि नानागन्धोदकैश्च सुरसंघाः। स्नपयन्ति लोकबन्धुं दशबलगुणपारमितां प्राप्तम् ॥1298॥ वादित्रसहस्रैरपि समन्ततो देवकोटिनयुतानि। अतुलां कुर्वन्ति पूजाम् अप्सरोनयुतैः सह समग्राः ॥1299॥ एवं खलु देवसुताः सहेतुसप्रत्ययं सनिदानम्। सप्ताहं धरणीमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम् ॥ इति ॥1300॥

दुर्मना असि कथं तात प्रोच्यतां यद्य् असौ नरः (कश्चिन्नरः)। रागपाशेन तं बुद्ध्वा कुञ्जरमिवानवामहे ॥1301॥ आनीय च तं शीघ्रं करिष्यामो वशे तव। दौर्मनस्यमुपायासं विप्रजहीहीदृशम् ॥1302॥ अर्हन् सुगतो लोके न रागस्य वशं व्रजेत्। विषयं मे ह्यतिक्रान्तस्तस्माच्छोचाम्यहं भृशम् ॥1303॥ सत्यं वदसि नस्तात न रागेण स नीयते। विषयं मे ह्यतिक्रान्तस् तस्माच्छोचाम्यहं भृशम् ॥1304॥ वीक्षेत यद्यसौ (=यदि कश्चित्) रूपं यदस्माभिर्विनिर्मितम्। गौतमस्य विनाशार्थं ततोऽस्य हृदयं स्फुटेत् ॥1305॥ नाहं पश्यामि तं लोके पुरुषं सचराचरे। बुद्धस्य यो ह्यधिष्ठानं शक्नुयात् कर्तुमन्यथा ॥1306॥ शीघ्रं गत्वा निवेदयात्ययं स्वकृतं मुनेः। सर्वं पौराणिकं कार्यं करिष्यति यथामतम् ॥1307॥ गिरिं नखैर्विलिखेत लोहं दन्तैर् विखादेत। शिरसा बिभित्सेत गिरिम् अगाधे गाजमिच्छेत ॥1308॥

सुखं विवेकतुष्टस्य श्रुतधर्मस्य पश्यतः। अव्याबध्यं सुखं लोके प्राणिभूतेषु संयतस्य ॥1309॥ सुखा विरागता लोके पापानां समतिक्रमः। अस्मिन् मानुष्यविषय एतद् वै परमं सुखम् ॥1310॥ अयं लोकः संतापजातः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धैः। भयभीतो भयं भूयो मार्गति भवतृष्णया ॥1311॥

मैषु भुङ्ध्वं भाजनेषु धारयतेमानि चैत्यसंगतान्येतानि। भविता जिनः शाक्यमुनिरिति नाम्ना तस्मा एतानि पात्राण्युपनामयेत ॥1312॥ अयं स कालः समयश्च मार्षा उपनामयितुं शाक्यमुनये भाजनानि। संगीतितूर्यस्वरनादितेन दास्यामः पात्राणि विधाय पूजाम् ॥1313॥ स भाजनं धर्ममयं ह्यभेद्यम् इमानि च शैलमयानि भेद्यानि भाजनानि। प्रतिग्रहीतुं क्षमते न

चान्यः प्रतिग्रहार्थाय व्रजाम हन्त ॥1314॥ उपनामयस्व सुगताय भाजनं त्वं भविष्यसि भाजनमग्रयाने । अस्मद्विधेभ्यो हि प्रदाय भाजनं स्मृतिर्मतिश्चैव न जातु हीयते ॥1315॥ यो भाजनं ददाति तथागताय न तस्य जातु स्मृतिः प्रज्ञा हीयते । अतिनाम्य कालं च सुखं सुखेन यावत्पदं बुध्यति शीतीभावम् ॥1316॥ ददासि यत्त्वं परिशुद्धभाजनं विशुद्ध चित्ताय तथागताय । भविष्यसि लघुशुद्धचित्तः प्रशंसितो देवमनुष्यलोके ॥1317॥ अच्छिद्रशीलाय तथागताय, अच्छिद्रवृत्तायाच्छिद्रभाजनम् । अच्छिद्रचित्तः प्रददासि श्रद्धयाऽच्छिद्रा ते भविष्यति पुण्यदक्षिणा ॥1318॥ दत्तानि पात्राणि पुरा भवेषु मया फल पूरितानि प्रियाणि च कृत्वा । तेनेमानि पात्राणि चत्वारि सुसंस्थितानि ददति देवाश्चत्वारो महर्द्धयः ॥1319॥

स सप्तरात्रं वरबोधिवृक्षं संप्रेक्ष्य धीरः परमार्थदर्शी । षड्भिः प्रकारैः प्रविकम्प्य चोर्वीम् अभ्युत्थितः सिंहगतिर्नृसिंहः ॥1320॥ समन्त-नागेन्द्र-विलम्बगामी क्रमेण तारायणमूलमेत्य । उपाविशन्मेरुवदप्रकम्प्यो ध्यानं समाधिं च मुनिः प्रदध्यौ ॥1321॥ तस्मिंश्च काले त्रपुषश्च भल्लिको भ्रातृद्वयं वणिग्गणेन सार्धम् । शकटानि तेषां च धनेन पूर्णानि संपुष्पिते साल-वने प्रविष्टानि ॥1322॥ महर्षितेजसा चाक्षमात्राणि चक्राणि भूमौ विविशुः क्षणेन । तां तादृशीं प्रेक्ष्य च तदवस्थां महद्भयं वणिग्गणस्य जातम् ॥1323॥ ते खड्गहस्ताः शरशक्तिपाणयो वने मृगमिवामृगयन् क एषः । व्यैक्षन्त ते शारदचन्द्रवक्त्रं जिनं सहस्रांशुमिवाभ्रमुक्तम् ॥1324॥ प्रहीण-कोपा अपनीतदर्पाः प्रणम्य मूर्ध्ना विममृशुः क एषः । नभस्तलाद् देवता वाचं भाषते बुद्धो ह्ययं लोक हितार्थकारी ॥1325॥ रात्रिं दिवं सप्त न चान्नपानमनेन भुक्तं करुणात्मकेन । यदिच्छतात्मनः क्लेशशान्तिं भोजयतेनं भावितकायचित्तम् ॥1326॥ शब्दं ते तं मधुरं निशम्य वन्दित्वा कृत्वा च जिनं प्रदक्षिणम् । प्रीतास्ततस्ते सहितः सहायैर्जिनस्य पिण्डाय मतिं प्रचक्रुः ॥1327॥

युष्माकं प्रणिधिः पूर्वं बोधिप्राप्त स्तथागतः । अस्माकं भोजनं भुक्त्वा धर्मचक्रं प्रवर्तयेत् ॥1328॥ स चैष प्रणिधिः पूर्णो बोधिप्राप्तस्तथागतः । आहारमुपनामयेत भुक्त्वा चक्रं प्रवर्तयेत् ॥1329॥ सुमङ्गलं सुनक्षत्रं गवां वः सर्पिदोहनम् । पुण्यकर्मणस्तस्यैषोऽनुभावो महर्षेः ॥1330॥ एवं संचोद्य वणिजः शिखण्डी भवनं गतः । उदग्रमनसः सर्वे बभुवुस्त्रपुषाह्वयाः ॥1331॥

क्षीरं यदासीच्च हि गोसहस्रस्याशेषतस्तत् समुदानीय । अग्रंच

तस्मात् परिगृह्ययौजोऽस्मात्सुस्ते भोजनं गौरवेण ॥1332॥शतसहस्रैकपलस्य मूल्यं या रत्नपात्र्यभूच्चन्द्रनामिका। चौक्षां सुधौतां विमलां च कृत्वा समतीर्थिकाम् अपूपुरन् भोजनेन ॥1333॥ मधु गृहीत्वा तथा रत्नपात्रीं तारायणीमूलमुपेत्य शास्तुः। प्रतिगृहाण भक्तमनुगृहाण चास्मान् इदं प्रणीतं परिभुङ्क्ष्व भोज्यम् ॥1334॥ अनुकम्पनार्थायोभयोश्च भ्रात्रोः पूर्वाशयं ज्ञात्वा च बोधिप्रस्थितयोः। प्रतिगृह्य पर्यभुक्त शास्ता भुक्त्वाक्षैप्सीत् पात्रीं नभस्तले ॥1335॥ सुब्रह्मनामा च हि देवराजो जग्राह यस्तां वररत्नपात्रीम्। अधुनाऽप्यसौ तां खलु देवलोके संपूजयत्यन्यसुरैः सहायः (=समेतः) ॥1336॥

दिशः स्वस्तिकर्यः, दिव्यं मङ्गल्यं चार्थसाधकम्। अर्थाः वः (आ–) शासतां, सर्वे भवन्त्याशु प्रदक्षिणाः ॥1337॥ श्रीर्वोऽस्तु दक्षिणे हस्ते श्रीर्वो वामे प्रतिष्ठिता। श्रीर्वोऽस्तु सर्वशोऽङ्गेषु मालेव शिरसि स्थिता ॥1338॥ धनैषिणां प्रयातानां वणिजां वै दिशो दश। उत्पद्यन्तां महाला-भास्ते च सन्तु सुखोदयाः ॥1339॥ कार्येण केन चिद् येन गच्छत पूर्विकां दिशम्। नक्षत्राणि वः पालयन्तु ये तस्यां दिशि संस्थितानि ॥1340॥ कृत्तिकाः, रोहिणी चैव, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसू। पुष्यश्चैव तथाश्लेषाः, इत्येषां पूर्विका दिशा (=दिक्) ॥1341॥ इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि, लोकपाला यशस्विनः। अधिष्ठिताः पूर्वभागे सेवा रक्षन्तु सर्वतः ॥1342॥ तेषां चाधिपती राजा धृतराष्ट्र इति विश्रुतः। स सर्वगन्धर्वपतिः सूर्येण सह रक्षतु ॥1343॥ पुत्रा अपि तस्य बहव एकनामानो विचक्षणाः। अशी-तिर्दश चैकंच, इन्द्रनामानो महाबलाः। तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1344॥ पूर्वस्मिन् वै दिशो भागेऽष्टो देवकुमारिकाः। जयन्ती विजयन्ती च सिद्धार्थपराजिता ॥1345॥ नन्दोत्तरा नन्दसेना नन्दिनी नन्दवर्धिनी। ता अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1346॥ पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे चापलं नाम चैत्यम्। ओषितं (=अ+उषितं) जिनैर्ज्ञातिमर्हद्भिश्च तायिभिः। ते अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥833॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा स्म वः पापमागमत्। लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवै रक्षिताः ॥1347॥

येन केनचित्कृत्येन गच्छेत दक्षिणां दिशम्। नक्षत्राणिवः पालयन्तु यानि तां दिशमधिष्ठितानि ॥1349॥ मघा च, द्वे च फाल्गुन्यौ, हस्तः, चित्रा च पञ्चमी। स्वातिश्चैव, विशाखे च, एतेषां दक्षिणा दिशा ॥1350॥ इत्येतानि नप्त नक्षत्राणि लोकपाला यशस्विनः। आदिष्टा दक्षिणे

भागे ते वो रक्षन्तु सर्वतः ॥1351॥ तेषां चाधिपती राजा विरूढक इति स्मृतः । सर्वकुम्भाण्डाधिपतिर्यमेन सह रक्षतु ॥1352॥ पुत्र अपि तस्य बहव एकनामानो विचक्षणाः । अशीतिर्दशचैकं च, इन्द्रनामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1353॥ दक्षिणस्मिन् दिशोभागेऽष्टौ देवकुमारिकाः । श्रीमती यशस्वती यशः प्राप्ता यशोधरा ॥1354॥ सूत्थिता सुप्रथमा सुप्रबुद्धा सुखावहा । ता अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1355॥ दक्षिणस्मिन् दिशो भागे पद्मनाम्ना (ख्यात मिति शेषः) चैत्यम् नित्यं ज्वलिततेजसा दिव्यं सर्वप्रकाशितम् । । तदापि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1356॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवै रक्षिताः ॥1357॥

येन केनचित् कृत्येन गच्छेत पश्चिमां दिशम् । नक्षत्राणि वः पालयन्तु यानि तां दिशमधिष्ठितानि ॥1358॥ अनुराधा च ज्येष्ठा च मूलं च दृढवीर्यकम् । द्वे आषाढे अभिजिच्च श्रवणो भवति सप्तमः ॥1359॥ इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि लोकपाला यशस्विनः । आदिष्टा पश्चिमे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1360॥ तेषां चाधिपती राजा विरूपाक्ष इति तं विदुः । स सर्वनागाधिपतिर्वरुणेन सह रक्षतु ॥1361॥ पुत्रा अपि तस्य बहव एकनाम्नो विचक्षणाः । अशीतिर्दश चैकं च, इन्द्रमामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1362॥ पश्चिमे दिशो भागेऽष्टौ देवकुमारिकाः । अलंबुषा मिश्रकेशी पुण्डरीका तथारुणा ॥1363॥ एकादशी नवमिका सीता कृष्णा च द्रौपदी । ता अपि वोऽधिपालयन्तु आरोग्येण शिवेन च ॥1364॥ पश्चिमे दिशो भागेऽस्तंगो नाम पर्वतः । प्रतिष्ठा चन्द्रसूर्ययोः, अस्तोऽर्थं ददातु वः । सोऽपि वोऽधिपालयतु, आरोग्येण शिवेन च ॥1365॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा स्म वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवै रक्षिताः ॥1366॥

येन केनचित् कृत्येन गच्छेतोत्तरां दिशम् । नक्षत्राणि वः पालयन्तु यानि तां दिशमधिष्ठितानि ॥1367॥ धनिष्ठा शतभिषा चैव द्वे च पूर्वा उत्तरा अपरे । रेवत्य् अश्विनी चैव भरणी भवति सप्तमी ॥1368॥ इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि लोकपाला यशस्विनः । आदिष्टा उत्तरे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1369॥ तेषां चाधिपती राजा कुबेरो नरवाहनः । सर्वयक्षाणामधिपतिर्मणिभद्रेण सह रक्षतु ॥1370॥ पुत्रा अपि तस्य बहव एकनामानि विचक्षणाः । अशीतिर्दश चैकं च, इन्द्रनामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1371॥ उत्तरस्मिन् दिशो भागे-

ऽष्टौ देवकुमारिकाः । इलादेवी सुरादेवी पृथ्वी पद्मावती तथा ॥1372॥
उपस्थिता महाराजम् आशा श्रद्धा ह्रीः श्रीः । ता अपि वोऽधिपालयन्तु,
आरोग्येण शिवेन च ॥1373॥ उत्तरस्मिन् दिशो भागे पर्वतो गन्धमादनः ।
आवासो यक्षभूतानां चित्रकूट सुदर्शनः । ते (=यक्षभूताद्याः)ऽपि
वोऽधिपाल्यन्तु आरोग्येण शिवेन च ॥1374॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा
च वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवैं रक्षिताः ॥1375॥

अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि सप्त-सप्त चतुर्दिशम् । द्वात्रिंशद् देवकन्याश्च,
अष्टावष्टौ चतुर्दिशम् ॥1376॥ अष्टौ श्रमणा अष्ट ब्राह्मणा अष्टौ जान-
पदेषु नैंगमाः । अष्टौ देवाः सेन्द्रकास् ते वो परिरक्षन्तु सर्वतः ॥1377॥
स्वस्ति वो गच्छतां भवतु स्वस्ति भवतु निवर्तमानानाम् । स्वस्ति पश्यत वै
ज्ञातीन् (यथारुतं तु ज्ञातिं) स्वस्ति पश्यन्तु ज्ञातयः ॥1378॥
सेन्द्रैर्यक्षैर्महाराजैर् अर्हद्भिरनुकम्पिताः । सर्वत्र स्वस्ति गच्छत प्राप्नुतामृतं
शिवम् ॥1379॥

संरक्षिता ब्रह्मणा वासवेन विमुक्तिचित्तैश्चानास्रवैश्च । नागैश्च
यक्षैश्च सदानुकम्पिताः पालयतायुः शरदां शतेन समं ॥1380॥ प्रदक्षिणां
(=प्रशंसां) दक्षिणाया लोकनाथस् तेषां दिदेशाऽप्रतिमो द्विनायकः—अनेन
यूयं कुशलेन कर्मणा मधुसंभवा नाम जिना भविष्यथ ॥1381॥ प्रथममिदं
लोक विनायकस्यासंगस्य व्याकरण जिनस्य । पश्चादनन्ता बहुबोधिसत्त्वा ये
व्याकृता बोधये नो विवर्त्याः ॥1382॥

श्रुत्वेदं व्याकरणं जिनस्योदग्रचित्ताः परमया प्रीत्या । तौ भ्रातरौ
सार्धं सहायकैस्तैर्बुद्धं च धर्मं शरणं प्रपन्नाः ॥1383॥

745

॥ २५ ॥

॥ अध्येषणापरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 392 (पंक्ति 7)—402 (पंक्ति 18)
भोटानुवाद 282ख (पंक्ति 5)—291क (पंक्ति 2)

746

747

॥ २५ ॥

॥ अध्येषणापरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, बोधिवृक्ष के नीचे विहरते हुए, प्रथम-प्रथम बोधिप्राप्त कर, अकेले में, एकान्त में, विवेक में तल्लीन, तथागत के मन में संसारी-जनों के प्रति यह भाव उत्पन्न हुआ। मैंने जिस धर्म का लाभ किया है, अवबोध किया है, वह है गम्भीर, शान्त, प्रशान्त (=अत्यन्तशान्त), उपशान्त (=पूर्णशान्त) प्रणीत (=उत्तम) दुर्दृश (=कठिनता से साक्षात्कार किया जाने वाला), दुरनुबोध (= कठिनता से बोध किया जाने वाला), अनर्क (=तर्क की पहुँच से परे), अवितर्कावचर (= वितर्कों अर्थात् कल्पनाओं की गति-विधि से परे) है। (वह है) अलर्माय (अर्थात् सचमुच का आर्य या श्रेष्ठ), पण्डितों एवं विज्ञों द्वारा जानने के योग्य, =283क= यतः उसमें सब प्रकार की उपधियों का (=संग्रह-राशियों का) निःसर्ग (=पूर्णरूप से परित्याग) हो जाता है। (वह) आवेदित[1] अर्थात् स्वयं पूर्णरूप से अनुभूत होकर भी अनिवेदित दूसरे के लिए अननुभूत सा रहता है, यहाँ सब प्रकार की वेदनाओं अर्थात् सुख-दुःख की अनुभूतियों का निरोध हो जाता है, (वह) परमार्थ है, अनालय है (=देशातीत है)। (वह) शीतीभाव (=संसार की जलन का शान्त होना)है, (वह) अनादान एवं-अनुपादान है अर्थात् देने-लेने की दुनिया से परे है, (वह) अविज्ञप्त एवं-अज्ञापनीय है अर्थात् शब्द द्वारा न जाना जाता है और न शब्द द्वारा न जनाया जाता है, (वह) असंस्कृत (अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों से अछूता) है, छह के अर्थात् पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों से परे है, (वह) अकल्प है अर्थात् किसी एक कल्पना वाला नहीं है, (वह) अविकल्प है अर्थात् विविध कल्पनाओं वाला नहीं है, (वह) अनभिलाप्य है अर्थात् वाणी के द्वारा प्रकाशन-योग्य नहीं है, (वह) अरुत-एवं अघोष है अर्थात् शब्दातीत है, (वह) अनुदाहर है अर्थात् उदाहरण द्वारा उसका बोध नहीं कराया जा सकता है, (वह) अनिदर्शन है अर्थात् उपमा द्वारा कोई वस्तु दिखा कर उसका बोध नहीं कराया जा सकता है, (वह) अप्रतिघ है अर्थात् कोई वस्तु उसका प्रतिघात नहीं कर सकती है—उसे रोक नहीं सकती है—उसे पकड़ नहीं सकती है, वह सब प्रकार के आलम्बनों से अतीत है, (वह) शमथधर्मोपच्छेद है अर्थात् शान्ति के

---

1. मूल, ऽवेदितो। भोट, कुन् तु रिग् प (= आवेदितो)।

द्वारा सब संसारी धर्मों का छिन्न-भिन्न होना है, (वह) शून्यतानुपलम्भ है अर्थात् वह शब्द-प्रपंच से शून्य उपलब्धि के योग्य देश तथा काल से अतीत है, (वह) तृष्णाक्षय, विराग, निरोध एवं निर्वाण है। यदि मैं इस धर्म की देशना दूसरों को करूँ और वे न समझ सकें, तो मेरे लिए वह क्लमथ है (=थकना ही थकना है) मिथ्याव्यायाम है (= निरर्थक श्रम करना है), अक्षणधर्म देशनता है अर्थात् बिना उचित काल के धर्म का उपदेश करना है। क्यों न मैं अल्पोत्सुक (= उदासीन एवं निरपेक्ष) हो मौन-भाव से विहार करूँ? और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छंद उपजाति)

(-393-) गम्भीर सान्तो विरजः प्रभास्वरः
प्राप्तो मि धर्मो ह्यमृतोऽसंस्कृतः।
देशेय चाहं न परऽस्य जाने
यन्नून तूष्णी पवने वसेयं ॥1384॥

मैंने गम्भीर, शान्त, रजोगुणहीन, प्रभास्वर, असंस्कृत (=अकृत्रिम) एवं अमृत धर्म का लाभ किया है। मैं देशना करूँ तो भी दूसरा इसे न जान पाएगा। क्यों न मैं मौन होकर एकान्त में निवास करूँ।

अपगतगिरिवाक्यथो ह्ययलिप्तो
यथ गगणं तथा स्वभाव धर्मं।
चित्तमनविचारविप्रमुक्तं
-283ख-परमसुआश्चरियं परो विजाने ॥1385॥

शब्द एवं वाणी के मार्ग से दूर, अलिप्त (=आसक्ति रहित), धर्म का स्वभाव गगन के समान है, (वह) चित्त एवं मन के विचार (=गतिविधि) से सर्वथा पूर्णरूपेण मुक्त है। दूसरे के लिए उसका जान पाना परम-आश्चर्य है, अत्यन्त-आश्चर्य है।

न च पुनरयु शक्य अक्षरेभिः
प्रविशतु अनर्थयोगविप्रवेशः।
पुरिमजिनकृताधिकारसत्त्वाः
ते इमु श्रुणित्व हि धर्मु श्रद्दधन्ति ॥1386॥

अक्षरों के द्वारा इसमें प्रवेश नहीं हो सकता, अर्थयोग से अर्थात् अर्थ की युक्ति से (भी इसमें) विशेष प्रवेश नहीं होता (भाव यह कि वह वाच्य-वाचक-भावातीत है)। जिन सत्त्वों ने पहले के बुद्धों की सेवा की है, वे इस धर्म को सुन कर श्रद्धा करते हैं।

न च पुनरिह कश्चिदस्तिधर्मः
सोऽपि न विद्यति यस्य नास्तिभावाः।
हेतुक्रियपरंपरा य जाने
तस्य न भोतिह अस्तिनास्तिभावाः ॥1387॥

यहाँ कोई धर्म अस्ति-स्वभाव का अर्थात् भाव-रूप नहीं है, ऐसा भी (कोई धर्म) नहीं है जो नास्ति-स्वभाव का अर्थात् अभाव-रूप हो। जो हेतु-कार्य परम्परा को जानता है, उसके मन में अस्ति-स्वभाव की अथवा नास्ति-स्वभाव की धारणा नहीं उठती।

कल्पशतसहस्र अप्रमेया
अहु चरितः पुरिमे जिन सकासे।
न च मय प्रतिलब्ध एष क्षान्ती
यत्र न आत्म न सत्त्व नैव जीवः ॥1388॥

अप्रमेय शतसहस्र कल्पों तक पहले के बुद्धों के पास मैंने चर्या की पर मुझे यह क्षान्ति अर्थात् बोध की यह क्षमता नहीं मिली जहाँ न आत्मा है, न सत्त्व है, और न जीव है।

यद मय प्रतिलब्ध एष क्षान्ती
म्रियति न चेह न कश्चि जायते वा।
प्रकृति इमि निरात्म सर्वधर्माः
तद मां व्याकरि बुद्ध दीपनामा ॥1389॥

जब मुझे यह क्षान्ति अर्थात् बोध की यह क्षमता मिली कि यहाँ न किस की उत्पत्ति होती है और न मृत्यु, प्रकृति से (अर्थात् स्वभाव से) ये सब धर्म आत्मभाव हीन हैं, तब दीपंकर नामक बुद्ध ने मेरे (बुद्ध होने के) विषय में भविष्यवाणी की।

करुण मम अनन्त सर्वलोके
परतु न चार्थनतामहं प्रतीक्षे।
यद पुन जनता प्रसन्न ब्रह्मे
तेन अधीष्टु प्रवर्तयिष्य चक्रं ॥1390॥

सब लोक के प्रति मेरी अपार करुणा है। मैं दूसरे की प्रार्थना की भी प्रतीक्षा नहीं करता हूँ। जब ब्रह्मा के प्रति जनता प्रसन्न होगी तब उनकी प्रार्थना पर मैं (धर्म-) चक्र का प्रवर्तन करूँगा।

एव च अयु धर्म ग्राह्यु मे स्यात्
स चि मम ब्रह्म क्रमे निपत्य याचेत् ।
प्रवदहि विरजा प्रणीतु धर्मं
सन्ति विजानकु सत्त्व स्वाकराश्च ॥1391॥

यदि ब्रह्मा मेरे चरण पकड़ कर याचना करें कि उत्तम, रजोरहित धर्म का (भगवान्) प्रवचन करें, अच्छे प्रकार के प्राणी हैं, (जो धर्म के) जानकार (होंगे), तो इस प्रकार यह धर्म मेरे द्वारा ग्रहण कराया जा सकेगा ।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, तथागत ने उस समय ऊर्णा-कोश से (= भ्रू-) मध्यगत-रोममण्डल से) प्रभा छोड़ी, जिस प्रभा से त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु महान् सुनहले रंग के प्रकाश से व्याप्त हो गई ।

3. तदनन्तर = 284क = दस त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु के अधिपति महाब्रह्मा शिखी ने बुद्धानुभाव से तथागत के चित्त के संकल्प-विकल्पों को (अपने) चित्त से ही जान लिया कि अल्पो (–394–) त्सुकता में अर्थात् उदासीन भाव में भगवान् का चित्त झुका हुआ है, धर्म-देशना में नहीं । उनके मन में यह बात आई । क्यों न मैं जाकर धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए तथागत से अध्येषणा (= प्रार्थना) करूँ ।

4. इसके अनन्तर, उस समय, शिखी महाब्रह्मा के अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्रों से पुकार कर कहा—मार्षो (साथियों) लोक का नाश हो जाएगा—लोक का विनाश हो जाएगा, जो अनुत्तर सम्यक्-संबोधि पाकर, तथागत अल्पोत्सुकता (= उदासीनता) की ओर चित्त झुका रहे हैं, धर्म-देशना को ओर नहीं । हम-सब जाकर अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत से (धर्मदेशना के लिए) क्यों न अध्ये-षणा (=प्रार्थना) करें ।

5. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, अड़सठ लाख ब्राह्मणों से घिरे हुए, आगे किए, शिखी महाब्रह्मा जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर, तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, यह कहा—=284ख=लोक का नाश हो जाएगा, लोक का विनाश हो जाएगा, जो अनुत्तर सम्यक् संबोधि पा कर, तथागत अल्पो-त्सुकता (= उदासीनता) की ओर चित्त झुका रहे हैं, धर्म-देशना की ओर नहीं । अच्छा हो, भगवान् धर्म की देशना करें, सुगत धर्म की देशना करें । (यहाँ) अच्छे-प्रकार के, सुबोध, समर्थ, भव्य एवं भगवान् के भाषण का अर्थ जानने में क्षमता-शाली प्राणी हैं और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छंद उपजाति)

समुदानिय ज्ञानमहाग्रमण्डलं
विसृज्य रश्मीन् दश दिक्षु चैव।
तदञ्ज ज्ञानाशुं नृपद्मबोधका
उपेक्षकस्तिष्ठसि वादिभास्कर: ॥1392॥

ज्ञान के महान् उत्तम-मण्डल की सिद्धि कर, दसों दिशाओं में किरणों को फैला कर, अहो ज्ञान-रूपी किरणों से मनुष्य-रूपी कमलों को विकसित करने वाले, वादियों के बीच सूर्य के समान (प्रकाशमान) हो उपेक्षा के साथ-साथ (कैसे) बैठे हो ?

निमन्त्रयित्वाऽऽर्यधनेन सत्वां
आश्वासयित्वा बहुप्राणकोट्य: ।
न युक्तमेतत्तव लोकबन्धो
यं तूष्णिभावेन उपेक्षसे जगत् ॥1393॥

आर्य-धन के द्वारा प्राणियों को निमन्त्रित कर, बहुत से कोटि-कोटि प्राणियों को आश्वासन दे कर, हे लोक के बान्धव, यह जो तुम मौन-भाव से जगत् की उपेक्षा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिए उचित नहीं है ।

पराहनस्तवोत्तमधर्मदुन्दुभि
सद्धर्मशङ्खं च प्रपूरयाशु ।
उच्छ्रेपयस्व महधर्मयूपं
प्रज्वालयस्व महधर्मदीपं ॥1394॥

धर्म के उत्तम दुन्दुभि को बजाओ, सद्धर्म के शंख को फूंको, धर्म का महान् यूप खड़ा करो, धर्म का महान् प्रदीप जलाओ ।

(–395–) प्रवर्ष वै धर्मजलं प्रधानं =285क=
प्रतारयेमां भवसागरस्थां ।
प्रमोचयेमां महाव्याधिक्लिष्टां
क्लेशाग्नितप्ते प्रसमं कुरुष्व ॥1395॥

उत्तम धर्म के जल की वर्षा करो, इन भवसागर में पड़े हुओं को पार उतारो, महाव्याधियों से भुगतते हुओं को दु:ख-मुक्त करो, क्लेशों की अग्नि से तपे हुए जगत् को शान्त करो ।

निदर्शय त्वं खलु शान्तिमार्गं
क्षेमं शिवं निर्जरतामशोकं ।
निर्वाणमार्गागमनादनाथे
विपथस्थिते नाथ कृपां कुरुष्व ॥1396॥

हे नाथ, तुम (उस) शान्ति का मार्ग दिखलाओ, (जो) क्षेम है, शिव (=कल्याण) है, अशोक है, निर्वाणमार्ग में न चलने के कारण कुमार्ग में पड़े (लोक) के ऊपर कृपा करो ।

विमोक्षद्वाराणि अपावृणिष्व
प्रचक्ष्व तं धर्मनयं ह्यकोप्यं ।
जात्यन्धभूतस्य जनस्य नाथ
त्वमुत्तमं शोधय धर्मचक्षुः ॥1397॥

विमोक्ष के द्वारों को खोल दो, न डाँवा डोल होने वाले धर्मनय की व्याख्या करो । हे नाथ, इस जन्मांधलोक के उत्तम धर्मचक्षु को शोध दो ।

न ब्रह्मलोके न च देवलोके
न यक्षगन्धर्वमनुष्यलोके ।
लोकस्य यो जातिजरापनेतां
नान्योऽस्ति त्वत्तो हि मनुष्यचन्द्रः ॥1398॥

जो लोक को जन्म और जरा से छुड़ा सके, ऐसा हे मनुष्यचन्द्र (=हे श्रेष्ठ-मनुष्य) तुम को छोड़ कर, दूसरा कोई न ब्रह्मलोक में है, न देवलोक में है, और न यक्षलोक, गन्धर्वलोक अथवा मनुष्यलोक में (ही) है ।

अध्येषकोऽहं तव धर्मराज
अध्याचरा कृत्वन सर्वदेवान् ।
अनेन पुण्येन अहंऽपि क्षिप्रं
प्रवर्तयेयं वर धर्मचक्रं ॥1399॥

हे धर्मराज, मैं तुम्हारा अध्येषक (=प्रार्थी) हूँ । देवताओं को उत्तम चर्या का करके, इस (=अध्येषणा अर्थात् प्रार्थना के) पुण्य से मैं भी शीघ्र उत्तम धर्म-चक्र का प्रवर्तन कर सकूँ ?

6. हे भिक्षुओं, तथागत ने देवों, मनुष्यों, तथा असुरों के सहित लोक पर अनुग्रह करने के लिए, करुणा कर, शिखी ब्रह्मा की प्रार्थना मौनभाव से स्वीकार की ।

7 इसके अनन्तर, महाब्रह्मा = 285ख = शिखी तथागत के मौनभाव से अपनी प्रार्थना की स्वीकृति जान कर देवलोक के चन्दनपूर्ण तथा अगरचूर्ण की तथागत पर वर्षा कर प्रेम से प्रमुदित हो वहीं अन्तर्हित हो गए ।

8. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, धर्म के प्रति सब ओर से लोक का आदर उत्पन्न करने के अर्थ और महाब्रह्मा शिखी की बारंबार अध्येषणा (=प्रार्थना)

द्वारा कुशल-मूल की विशेष वृद्धि के अर्थ, धर्म की अत्यन्त गंभीरता तथा उदारता के कारण, फिर अकेले, एकान्त में विराजते हुए, विवेक में तल्लीन तथागत के मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने जिस धर्म का बोध किया है, वह गम्भीर है, सूक्ष्म है, निपुण है, कठिनता से समझ में आने वाला है, तर्क की पहुँच से परे है, तर्क की गतिविधि से परे है, पण्डित एवं विशेषज्ञ के द्वारा जानने योग्य है, सब लोक की राह से उलटा जाने वाला है, कठिनता से देखा जाने योग्य है, वहाँ सब उपधियों का—अर्थात् संग्रह-राशियों का पूरा त्याग करना होता है, सब संस्कार की वहाँ शान्ति होती है, सब प्रकार के तम (=अज्ञान) का वहाँ उपच्छेद (=विनाश) हो जाता है, वहाँ शून्यता है अर्थात् शब्द प्रपंच का अभाव है और अनुलंभ है अर्थात् उपलब्धि के योग्य देश काल का वहाँ अभाव है, वह तृष्णाक्षय, विराग (–396–), निरोध एवं निर्वाण है। मैं इस धर्म की देशना करूँ और दूसरे मेरा भाव न समझ सकें तो वह मेरे लिए पीड़ा—ही—पीड़ा होगी। क्यों न मैं अल्पोत्सुक-विहार से (=उदासीनता भाव के विहार से) विहार करूँ ? = 286क =

9. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, शिखी महाब्रह्मा बुद्धानुभाव से दूसरी बार भी तथागत के इस प्रकार के चित्त-वितर्क को जान कर जहाँ देवताओं के इन्द्र शक्र थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर देवताओं के इन्द्र शक्र से यह कहा—हे कौशिक, तुम्हें विदित हो कि अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत का चित्त अल्पोत्सुकता (= उदासीनता) की ओर झुका है, धर्म देशना की ओर नहीं। हे कौशिक, लोक का नाश हो जाएगा, हे कौशिक, लोक का विनाश हो जाएगा, हे कौशिक, यह लोक अविद्या के महान् अन्धकार में पड़ जाएगा, जो अर्हन्त सम्यक् संबुद्ध तथागत का चित्त अल्पोत्सुकता (= उदासीनता) की ओर झुका है, धर्म के भली-भाँति प्रकाशन की ओर नहीं। हम-दोनों अर्हन्त, सम्यक्-संबुद्ध तथागत से धर्मचक्रप्रवर्तन की अध्येषणा (= प्रार्थना) करने क्यों न चलें ? वह इसलिए भी, क्योंकि तथागत बिना अध्येषणा (= प्रार्थना) किए, धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं किया करते। अच्छा मार्ष, इस प्रकार (उत्तर दे) शक्र, ब्रह्मा, भूमि के तथा अन्तरिक्ष के देवता, चातुर्महाराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, = 286ख = परनिर्मितवशवर्ती, ब्रह्मकायिक, आभास्वर, वृहत्फल, शुभकृत्स्न तथा शुद्धावासकायिक बहुत से लक्ष-लक्ष देवपुत्र, जिनके वर्ण अत्यन्त मनोहर थे, अत्यन्त सुहावनी रात में, दिव्यरंग से तथा दिव्यप्रकाश से, बोधिवृक्ष को बिल्कुल चमका कर, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर तथागत के चरणों में सिर से नमस्कार कर, प्रदक्षिणा कर एक ओर खड़े हो गये।

10. इसके अनन्तर, देवताओं के इन्द्र शक्र ने जिस ओर तथागत थे, उस ओर अञ्जलि बाँध, प्रणाम कर, तथागत की गाथा द्वारा स्तुति की—

(छन्द आर्या)

(–397–) उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकारा तिमिस्रे विवर लोके ।
चित्तं हि ते विमुक्तं शशिरिव पूर्णो ग्रहविमुक्तः ॥1400॥

हे संग्राम के विजेता, हे प्रज्ञाकर, उठो, अँधेर लोक का (परदा) उखाड़ दो। तुम्हारा चित्त उस प्रकार विमुक्त है, जैसे पूर्ण चन्द्रमा ग्रहण से विमुक्त होता है।

ऐसा कहने पर तथागत मौन ही रहे।

11. इसके अनन्तर महाब्रह्मा शिखी ने देवताओं के इन्द्र शक्र से यह कहा— हे कौशिक, अर्हन्त सम्यक्–संबुद्ध तथागत की धर्मचक्र–प्रवर्तन के लिए उस-प्रकार अध्येषणा (=प्रार्थना) नहीं करते, जिस प्रकार तुम कर रहे हो। इसके अनन्तर, महाब्रह्मा शिखी, उत्तरासंग को एक कन्धे पर कर, दाहिने जानुमंडल को धरती पर=287क= टेक कर, जिस ओर तथागत थे, उस ओर अञ्जलि बाँध प्रणाम कर, गाथा द्वारा तथागत से बोले—

(छंद आर्या)

उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकारा तिमिस्रे विवर लोके ।
देशय त्वं मुने धर्मं आज्ञातारो भविष्यन्ति ॥1401॥

हे संग्राम के विजेता, हे प्रज्ञाकर, उठो, अँधेरे लोक का (परदा) उघाड़ दो। हे मुनि (–वर) तुम धर्म की देशना करो, जानने वाले होंगे।

12. ऐसा कहने पर हे भिक्षुओं, तथागत शिखी महाब्रह्मा से यह बोले। हे महाब्रह्मन् मैंने इस धर्म का पूर्ण बोध किया है, वह सूक्ष्म है, निपुण है.... (यदि मैं धर्म की देशना करूँ और दूसरे मेरा भाव न समझ सकें तो वह मेरे लिए) पीड़ा ही पीड़ा होगी। इसके अतिरिक्त, हे ब्रह्मन्, ये दो गाथाएँ, मेरे मन में आती रहती हैं—

प्रतिस्रोतगामि मार्गो गम्भीरो दुर्दृशो मम ।
न तं द्रक्ष्यन्ति रागान्धा अलं तस्मात् प्रकासितुं ॥1402॥

मेरा मार्ग संसार के प्रवाह से उलटे प्रवाह का, गम्भीर तथा दुदर्श है। उसे राग में अन्धे लोग न देख पाएँगे। इसलिए उसको न प्रकाशित करना ही (उचित) है।

अनुस्रोतं प्रवाह्यन्ते कामेषु पतिता प्रजाः ।
कृच्छ्रेण मेऽयं संप्राप्तं अलं तस्मात् प्रकासितुं ॥1403॥

काम में पड़ी प्रजाएँ, अनुकूल स्रोत में बही जा रही हैं। मैंने इस (धर्म) का कठिनता से लाभ किया है। इसलिए उसको न प्रकाशित करना ही (उचित) है।

13. हे भिक्षुओं, महाब्रह्मा शिखी तथा देवताओं के इन्द्र शक्र तथागत को मौन हुआ जान कर, उन देवपुत्रों के साथ, दुःखी तथा दुर्मनस हो = 287ख = वहीं अन्तर्हित हो गये।

14. (–398–) तीसरी बार भी तथागत का चित्त अल्पोत्सुकता (उदासीनता) की ओर चुका।

15. हे भिक्षुओं, उस समय, मगध के मनुष्यों में •इस प्रकार के पापी एवं अकुशल दृष्टियाँ उत्पन्न हुईं। यथा—कोई यों बोले कि हवाएँ न चलेंगी, कोई यों बोले कि आग न जलेगी, कोई यों बोले कि देव न बरसेगा, कोई यों बोले कि नदियाँ न बहेंगी, कोई यों बोले कि फ़सलें न होगी, कोई यों बोले कि पक्षी-आकाश में न उड़ेंगे, कोई यों बोले गर्भिणियाँ नीरोगभाव से बच्चे न जनेगी।

16. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, शिखी महाब्रह्मा तथागत के इस प्रकार के चित्त-वितर्क को जान कर तथा मगध के मनुष्यों की इन दृष्टियों को समझ कर, अत्यन्त सुहावनी रात में, अत्यन्त सुहावने रंग से, दिव्य प्रकाश से सबके सब बोधिवृक्ष के तले को प्रकाशित कर, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने जानुमंडल को धरती पर टेक कर, जिस ओर तथागत थे, उस ओर अंजलि बाँध प्रणाम कर, = 288क = गाथाओं द्वारा तथागत से बोले—

(छंद उपजाति)

(वंशस्थ तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

वादो बभूव समलैर्विचिन्ततो
धर्मोऽविशुद्धो मगधेषु पूर्वं।
अमृतं मुने तद् विवृणीष्व द्वारं
शृण्वन्ति धर्मं विमलेन बुद्धं ॥1404॥

मल-सहित (लोगों) द्वारा विविध-चिन्ताओं वाला वाद उत्पन्न हुआ है कि पुराना मगध का धर्म पवित्र नहीं है। हे मुने, (तुम) अमृत का द्वार खोल दो, (लोक) निर्मल (तथागत) द्वारा बूझे गए धर्म को सुनें।

कृतस्वकार्थोऽसि भुजिष्यतां ग्रतो
दुःखाभिसंस्कारमलापकृष्टः ।
न हानिवृद्धी कुशलस्य तेऽस्ति
त्वमग्रधर्मेष्विह पारमिं गतः ॥1405॥

(तुमने) अपना प्रयोजन (सिद्ध) कर लिया है, (तुम) स्वतंत्रता पा चुके हो, दुःख का अभिसंस्कार (=उत्पादन) करने वाले मलों से (तुम) दूर हो, तुम्हारे कुशल की (अब) न हानि होने वाली और न वृद्धि, यहाँ तुम उत्तम धर्मों में पारंगत हो चुके हो।

न ते मुने सदृश इहास्ति लोके
कुतोऽधिकः स्यादिह ते महर्षे।
भवानिहाग्रस्त्रिमवे विरोचते
गिरिर्यथासावसुरालयस्थः ॥1406॥

हे मुनि (–वर), इस लोक में तुम्हारे समान (दूसरा) नहीं है, हे ऋषिवर, तुमसे अधिक (फिर) होगा ही कहाँ से? तीनों भवों में आप उत्तम होकर उस प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे असुर-लोक का (देदीप्यमान) पर्वत।

(–399–) महाकृपां जानय दुःखिते जने
न त्वादृशा जातु भवन्त्युपेक्षकाः।
भवान् विशारद्यबलैः समन्वितः
त्वमेव शक्तो जनतां प्रतारितुं ॥1407॥

(तुम) दुःखित जन के ऊपर महाकरुणा उपजाओ, तुम्हारे जैसे कभी भी (प्राणियों के प्रति) उपेक्षा नहीं करते, तुम वैशारद्य (=निर्भयता) तथा बलों से समन्वित हो, तुम्हीं जनता को उत्तमता से तारने में समर्थ हो।

इयं सुशल्या सुचिरातुरा प्रजा
सदेवका सश्रमणा द्विजाखिला।
आरोगिनी भोतु निरातुर ज्वरा
न चापरः शरणमिहास्य विद्यते ॥1408॥

यह देवताओं के सहित, श्रमणों से सहित, ब्राह्मणों से सम्पूर्ण प्रजा अत्यन्त चिर काल से आतुर (=रोगग्रस्त) है, उसमें गहरा शल्य चुभा है, (वह अब भगवान् की कृपा से) रोग-रहित हो, अनातुर हो, ज्वररहित हो। इसका और कोई यहाँ पर शरण नहीं है।

चिरानुबद्धास्तव देवमानुषाः
कल्याणचित्ता अमृतार्थिनश्च।
धर्मं यमेवधिगमिष्यते जिनो
यथावदन्यूनमुदाहरिष्यति ॥1409॥

कल्याण-चित्त के, अमृत के अभिलाषी, देवता तथा मनुष्य चिर से तुम्हारे पीछे-पीछे (इसलिए) बँधे चले आ रहे हैं, कि बुद्ध जिस धर्म का लाभ करेंगे, उसका यथाविधि पूर्णरूपेण प्रवचन करेंगे।

[2]तस्माद्धि याचामिसु[2] विक्रम त्वां
विनयस्व सत्त्वां चिर नष्टमार्गां।
अविश्रुतार्था=288ख= शमनाय[3] काङ्क्षिता:
सुदुर्बला बृंहणकाङ्क्षिणो वा ॥1410॥

इसलिए (हम) तुमसे याचना कर रहे हैं कि पराक्रम करो, चिर काल से मार्ग न पाने से भटकते (उन) प्राणियों को मार्ग पर लाओ, (जो) न सुने अर्थ को सुनना चाहते हैं (जिन्होंने प्रयोजन को नहीं सुना है, तथा शान्ति चाहते हैं) एवं बृंहण-चाहने वाले अर्थात् बल चाहने वाले अत्यन्त दुर्बल (रोगियों) जैसे हैं।

इयं तृर्षाता जनता महामुने
उदीक्षते धर्मजलं तवान्तिके।
मेघो यथा संतृषितां वसुंधरां
कुरु तर्पणां नायक धर्मवृष्ट्या ॥1411॥

हे मुनिवर, यह (धर्म की) प्यास से तड़पती जनता, तुम्हारे पास के धर्म-जल (के पीने) के लिए उत्कंठित है जैसे मेघ अत्यन्त प्यासी धरती की प्यास बुझाता है, वैसे ही, हे नायक, धर्मवृष्टि से (इस जनता की) तृप्ति करो।

चिरप्रणष्टा विचरन्ति मानवा
भवे कुदृष्टीगहने सकण्टके।
अकण्टकं मार्गमृजुं प्रचक्ष्व तं
यं भावयित्वा ह्ययमृतं लभेयं ॥1412॥

चिर (काल) से भूले हुए मनुष्य (इस) कँटीले, कुदृष्टियों के बीहड़, भव (—अरण्य) में भटक रहे हैं। उस सीधे काँटों से रहित मार्ग को बताओ, जिसकी भावना कर (इन्हें) अमृत का लाभ हो।

2....2. मूल, तस्माद्धिया चामिसु। पठनीय तस्माद्धि (=तस्माद् हि) याचामिसु (=याचामहे) भोट, दे स्लद् ग्सोल (=तस्माद् याचामहे)।

3. शमनाय अपभ्रंश पद है। जिसके अर्थ यहाँ पर दो हैं—(1) श्रवणाय (=सुनने के लिए), इस अर्थ का अनुवाद भोट ने किया है : रब् तु थोस् पर् (=प्र-श्रवणाय) (2) शान्तये (=शान्ति के लिए), इसका अनुवाद भोट में नहीं आ सका है क्योंकि पद श्लिष्ट है। एक पद द्वारा संस्कृत में भी अनुवाद संभव नहीं है।

अन्धा प्रपाते पतिता ह्यनायका
नोद्धर्तुमन्यैरिह शक्यमेते ।
महाप्रपाते पतितां समुद्धर
छन्दं समुत्पाद्य वृषोऽसि बुद्धिमान् ॥1413॥

ये अन्धे प्रपात में गिर पड़े हैं, इनका (कोई) नेता नहीं है। यहाँ (तुम्हें छोड़ कर) दूसरों से इनका उद्धार संभव नहीं है। (इन) महाप्रपात में पड़े हुओं का, (धर्म में) छन्द (=अभिलाषा) उपजा कर, उद्धार करो। बुद्धिमान हो, श्रेष्ठ हो।

न संगतिस्तेऽस्ति सदा मुने चिरं
कदाचिदौदुम्बरपुष्पसंनिभाः ।
जिनाः पृथिव्यां प्रभवन्ति नायकाः
प्राप्ता क्षणो मोचय नाथ सत्त्वां ॥1414॥

हे मुनि (–वर) तुम्हारी संगति चिर (–काल) तक सर्वदा (सुलभ) नहीं है। कभी-कभी ही, गूलर के फूल के समान, धरती पर बुद्ध-नायक उत्पन्न हैं हे नाथ, (तुम्हें) क्षण प्राप्त हुआ है, प्राणियों को मुक्त करो।

अभूच्च ते पूर्वभवेष्वियं मतिः
तीर्णः स्वयं तारयिता भवेयं।
असंशयं पारगतोऽसि सांप्रत
सत्यां प्रतिज्ञां कुरु सत्यविक्रमः ॥1415॥

तुम्हारा पूर्वजन्मों में यह मन था कि स्वयं तर कर (मैं दूसरों का) तारक होऊँ। अब (तुम) तर चुके हो, इसमें संदेह नहीं। सत्यपराक्रमी हो अपनी (उस) प्रतिज्ञा को सत्य करो।

धर्मोल्कया विधम मुनेऽन्धकारा
उच्छ्रेपय त्वं हि तथागतध्वजं।
अयं स कालः प्रतिलाभ्युदीरणे
मृगाधिपो वा नद दुन्दुभिस्वरः ॥1416॥

हे मुनि (–वर), धर्म की उल्का (=मशाल) से अन्धकार की धज्जियाँ उड़ा दो। तुम बुद्ध की ध्वजा ऊँची कर दो। यह (धर्म के) प्रवचन का समय (तुम्हें) मिला है, दुँदुभि के स्वर जैसे स्वर के तुम, मृगराज के समान, (धर्म) नाद करो।

17. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत ने सम्पूर्ण लोक को बुद्ध चक्षु से निहारते हुए प्राणियों को देखा, (जो) हीन थे, मध्यम थे, प्रणीत (=उत्तम) थे

उच्च थे, नीच थे, मध्यम थे; = 289क=सुन्दर रंग-ढंग के थे, (-400-) सुख से शोधन के योग्य थे बुरे रंग-ढंग के थे, कठिनता से शोधन के योग्य थे। उद्घाटितज्ञ[4] थे अर्थात् इङ्गित मात्र से समझने वाले थे, विपञ्चितज्ञ थे अर्थात् विस्तर से बताने पर समझने वाले थे, पदपरम थे अर्थात् जितना शब्द द्वारा बताया गया, केवल उतना भर समझने वाले थे। उन प्राणियों के तीन वर्ग थे—को मिथ्यात्व-नियत थे अर्थात् मिथ्या को ही सत्य समझ कर उसके ऊपर अविचल भाव से डटे थे, कोई सम्यक्त्व-नियत थे, अर्थात् सत्य को ही सत्य समझ कर ऊपर उसके अविचल भाव से डटे थे, कोई अनियत थे अर्थात् मिथ्या तथा सत्य के विवेक तथा आग्रह से हीन ढुल-मुल मति के थे। हे भिक्षुओं, जैसे कोई पुरुष पुष्करिणी के किनारे खड़ा हो किन्हीं जलरूहों (कमलों) को पानी के भीतर स्थित, किन्हीं को पानी के बराबर स्थित, किन्हीं को पानी के ऊपर स्थित देखता है, वैसे ही, हे भिक्षुओं बुद्ध-चक्षु से निहारते हुए तथागत ने प्राणियों को तीन वर्गों में व्यवस्थित (= विभाग के साथ स्थित) देखा।

18. इसके अनन्तर तथागत के मन में यह बात आई। मैं चाहे धर्म की देशना करूँ या न करूँ, यह जो मिथ्यात्वनियत (प्राणि-) वर्ग है, वह धर्म नहीं ही समझ सकेगा। मैं चाहे धर्म की देशना करूँ या न करूँ, यह जो सम्यक्त्वनियत (प्राणि) वर्ग है, वह धर्म को समझ ही लेगा[5]। जो अनियत (प्रणि-) वर्ग है, उसे यदि धर्म की देशना दूँगा, तो धर्म समझेगा। न देशना दूँगा, तो धर्म न समझेगा।

19. हे भिक्षुओं, अनियत (प्राणि-) वर्ग में व्यवस्थित प्राणियों को लक्ष्य में रखकर तथागत ने (मन में) = 289ख = महाकरुणा उपजाई।

20. इसके अनन्तर, अपने इस सम्यग्-ज्ञान के आधार पर, तथा शिखी महाब्रह्मा की अध्येषणा (= प्रार्थना) की जानकारी पर, गाथा द्वारा शिखी महाब्रह्मा से कहा—

(छंद उपजाति)

अपावृतास्तेषाममृतस्य द्वारा
ब्रह्मन्ति सततं ये श्रोतवन्तः।
प्रविशन्ति श्रद्धा न विहेठसंज्ञाः
शृण्वन्ति धर्मं मगधेषु सत्त्वाः ॥1417॥

4. मूल उद्घाटितज्ञान्। भोट, झुर् चम् गियस् गो बा (= इङ्गितज्ञान्)। उद्धृत या उपोद्घात मात्र से समझने वाले।

5. इसके अनन्तर का (यत्खलु पुनरयमनियतो राशिराज्ञास्यत्यैवेष धर्मं) यह पाठ भोट में नहीं है।

हे ब्रह्मन्, मगधवासी प्राणी जिनका श्रद्धा में प्रवेश है, जिनमें हिंसाभावना नहीं है, जिनके कान हैं, तथा निरन्तर धर्म सुनते हैं, उनके लिए अमृत के द्वार खुल गए हैं।

21. इसके अनन्तर, शिखी महाब्रह्मा, तथागत द्वारा अपनी प्रार्थना की स्वीकृति जान कर, संतुष्ट हो, आनन्दित हो, आनन्दित हो, मन में प्रसन्न हो, प्रमुदित हो, उत्पन्न प्रीति तथा सौमनस्य के साथ, तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, वहीं अन्तर्हित हो गए।

22. (–401–) हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, भूमि के देवताओं ने उस समय अन्तरिक्ष के देवताओं के लिए घोषणा की, शब्द सुनाया कि हे मार्षो (=साथियों), आज अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने धर्मचक्रप्रवर्तन करने के लिए प्रतिज्ञा की है। वह बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए लोक पर अनुकम्पा के लिए, महान् जन-समूह के एवं देवताओं और मनुष्यों के अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए होगी। हे मार्षो (=साथियों), असुरसमूह क्षीण होंगे, देवसमूह पूर्ण होंगे, लोक में बहुत से प्राणि =290क = परिनिर्वाण का साक्षात्कार करेंगे। इसी प्रकार, अन्तरिक्ष के देवताओं ने भूमि के देवताओं से सुन कर चातुर्महाराजिक देवता के लिए घोषणा की। चातुर्महाराजिकों ने त्रायस्त्रिंशों के लिए, त्रायस्त्रिंशो ने यामों के लिए, यामों ने[6] तुषितों के लिए, तुषितों ने निर्माणरतियों के लिए[6], निर्माणरतियों ने परनिर्मितवशवर्तियों के लिए, और उन्होंने भी ब्रह्मकायिकदेवताओं के लिए घोषणा की, शब्द सुनाया कि हे मार्षो (=साथियों) आज अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने धर्मचक्रप्रवर्तन करने के लिए प्रतिज्ञा की है। वह बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा के लिए, महान् जन-समूह के एवं देवताओं और मनुष्यों के अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए होगी। हे मार्षो (=साथियों), असुर-समूह क्षीण होंगे, देव समूह बढ़ेंगे। लोक में बहुत से प्राणि परिनिर्वाण का साक्षात्कार करेंगे।

23. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, उसी क्षण में, उसी मुहूर्त में, उसी लव में, भौम—देवताओं से लेकर ब्रह्मकायिक-देवताओं तक एक वाणी गूंज उठी, एक

---

6. मूल, तुषितनिर्माणरतीनां। पठनीय, तुषितानां तुषिता निर्माणरतीनां। भोट ग्रन्थ भी यहाँ पर अस्तव्यस्त है।

7. मूल, कोटिसहस्र नैकनवति इसका अनुवाद भोट में बृग्बेबा स्तोङ् फ्रग् बगु ब्चु चं ग्चिग् (=एकनवतिः कोटिसहस्राणि)। नकार व्यंजनभक्ति है। ऐकार वस्तुतः एकार का अपभ्रंश है।

ऊँचा-नाद गूंज उठा, एक ऊँचा-घोष गूंज उठा कि आज अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने धर्मचक्रप्रवर्तन करने के लिए प्रतिज्ञा की है।

24. हे भिक्षुओं, =290ख=इसके अनन्तर, बोधिवृक्ष-देवता जिनके नाम धर्मरुचि, धर्मकाम, धर्ममति तथा धर्मचारी हैं, इन चारों बोधिवृक्ष-देवताओं ने (–402–) तथागत चरणों में गिर कर यों कहा—भगवान् कहाँ धर्मचक्रप्रवर्तन करेंगे ? हे भिक्षुओं, ऐसा कहने पर तथागत ने उन देवताओं से यह कहा—वाराणसी के पास ऋषिपतन के मृगदाव में। उन्होंने कहा—भगवान् वाराणसी महानगरी स्वल्प-जनगण की है, मृगदाव विरल-वृक्ष-छाया का है। भगवन्, अन्य महानगर हैं, जो ऋद्ध हैं (=धनपूर्ण हैं), स्फीत हैं (=धान्यसंपन्न हैं), कुशल-क्षेम वाले हैं, सुभिक्ष हैं, रमणीय हैं, बहुत लोगों से—बहुत मनुष्यों से पूर्ण हैं, उद्यानों से, वनों से तथा पर्वतों से सुशोभित हैं। उनमें से किसी एक में भगवान् धर्मचक्रप्रवर्तन करें। तथागत बोले। हे भद्रमुखों, ऐसा मत बोलो। क्योंकि—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

षष्टि यज्ञसहस्रकोटिनयुता ये तत्र यष्टा मया
षष्टि बुद्धसहस्रकोटिनयुता ये तत्र संपूजिता।
पौराणामृषिणामिहालयु वरो वाराणसीनामवा
देवानागमभिष्टुतो महितलो धर्माभिनिम्नः सदा ॥1418॥

साठ सहस्रकोटि-खर्ब (थे वे) यज्ञ जिनका मैंने वहाँ यजन किया था, साठ सहस्रकोटि-खर्ब (थे वे) बुद्ध जिनकी (मैंने) वहाँ पूजा की थी। वाराणसी नाम का महीतल पुराने ऋषियों का उत्तम निवास-स्थान है, उसकी उत्तम स्तुति देवता तथा नाग करते हैं, वह धर्म की तराई है।

=291क=बुद्धा कोटिसहस्र-नु-ऐकनवति पूर्वे स्मरामी अहं
ये तस्मिन्नृषिसाह्वये वनवरे वर्तीसु चक्रोत्तमं।
सान्तं चाप्युपसान्त ध्यानभिमुखं नित्यं मृगैः सेवितं
इत्यर्थे अषिसाह्वये वनवरे वर्तिष्यि चक्रोत्तमं ॥1419॥ इति[8]

मुझे इक्यानबे कोटि-सहस्र पूर्व बुद्धों का स्मरण है, जिन्होंने उस उत्तम वन ऋषिपतन में उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन किया था। वह शान्त है, अत्यन्त शान्त है, ध्यान के अनुकूल है, नित्य मृगों द्वारा सेवित है, इसलिए (मैं) उत्तम-वन ऋषिपतन में उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करूँगा।

॥ इति श्री ललितविस्तरेऽध्येषणापरिवर्तो नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥

■

---

8. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

गंभीरः शान्तो विरजाः प्रभास्वरः प्राप्तो मे धर्मो ह्यमृतोऽसंस्कृतः। दर्शयेयं चाहं, न परोऽस्य जानीयात् यन्नूनं तूष्णीं पवने वसेयम् ॥1384॥ अपगतगीर्वाक्पथो ह्यलिप्तो यथा गगनं तथा स्वभावो धर्मः। चित्तमनोविचारविप्रमुक्तः परमास्वश्चर्यं परो विजानीयात् ॥1385॥ न पुनरयं शक्योऽक्षरैः प्रवेष्टुम् अनर्थयोगविप्रवेशः। पूर्वजिनकृताधिकारसत्त्वास् त इमं श्रुत्वा हि धर्मं श्रद्दधति ॥1386॥ न च पुनरिह कश्चिदस्ति धर्मः सोऽपि न विद्यते यस्य नास्तिभावः। हेतुक्रियापरम्परां यो जानीयात् तस्य न भवतीहास्तिनास्तिभावः ॥1387॥ कल्पसहस्राण्यप्रमेयान्यहं चरितः पूर्वेषां जिनानां सकाशो न च मया प्रतिलब्धैषा क्षान्ति यत्र नात्मा न सत्त्वो नव जावः ॥1388॥ यदा मया प्रतिलब्धैषा क्षान्तिर्म्रियते न चेह न कश्चिज् जायते वा। प्रकृत्येमे निरात्मानः सर्वे धर्मास् तदा मां व्याकार्षीद् बुद्धो दीपनामा ॥1389॥ करुणा ममानन्ता सर्वलोके परतो न चार्थनतामहं प्रतीक्षे। यदा तु पुनर्जनता प्रसन्ना ब्रह्मणि। तेनाधीष्टः प्रवर्तयिष्ये चक्रम् ॥1390॥ एवं चायं धर्मो ग्राह्यो मे (= मया) स्यात्—स चेद मम ब्रह्मा क्रमे (=चरणे) निपत्य याचेत। प्रवद विरजसं प्रणीतं धर्मं सन्ति विज्ञातारः सत्त्वाः स्वाकाराश्) (=शोभनप्रकाराश्)च ॥1391॥

समुदानीय (=संसाध्य) ज्ञानमहाग्रमण्डलं विसृज्य रश्मीन् दससु दिक्षु चैव। तदङ्ग ज्ञानांशुनृपद्मबोधक, उपक्षेकस्तिष्ठसि वादि-भास्करः ॥1392॥ निर्मंथ्यार्यधनेन सत्त्वान् आश्वास्य बहुप्राणिकोटीः। न युक्तमेतत्तव लोकबन्धो यत्तूर्णी—भावेनोपेक्षसे जगत् ॥1393॥ पराजह्य उत्तमधर्मदुन्दुभि सद्धर्मशंखं च प्रपूरयाशु। उच्छ्राययस्व महाधर्मयूपं प्रज्वालयस्व महाधर्मदीपम् ॥1394॥ प्रवर्ष वै धर्मजलं प्रधानं प्रतारयेमान् भवसागरस्थान्। प्रमोचयेमान् महाव्याधिक्लिष्टान् क्लेशाग्नितप्तं (जगदितिशेषः) प्रशमं कुरुष्व ॥1395॥ निदर्शय त्वं खलु शान्तिमार्गं क्षेमं शिवं निर्जरसमशोकम्। निर्वाणमार्गागमनादनाथे विपथस्थिते नाथ कृपां कुरुष्व ॥1396॥ विमोक्षद्वाराण्य् अपावृणुष्व प्रचक्ष्व तं धर्मनयं ह्यकोप्यम्। जात्यन्धभूतस्य जनस्य नाथ त्वमुत्तमं शोधय धर्मचक्षुः ॥1397॥ न ब्रह्मलोके न च देवलोके न यक्षगन्धर्वमनुष्यलोके। लोकस्य यो जातिजरापनेता, नान्योऽस्ति त्वत्तो हि मनुष्यचन्द्रः ॥1398॥ अध्येषको (=प्रार्थको)ऽहं तव धर्मराज, अध्याचारान् (= उत्तमचर्यान) कृत्वा सर्वदेवान्। अनेन पुण्येनाहमपि क्षिप्रं प्रवर्तयेयं वरधर्मचक्रम् ॥1399॥

उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकर तमिस्त्रां विवृणु लोके। चित्तं हि ते विमुक्तं शशीव पूर्णो ग्रहविमुक्तः ॥1400॥ उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकर तमिस्रां विवृणु लोके । देशय त्वं मुने धर्मम् आज्ञातारो भविष्यन्ति ॥1401॥

प्रतिस्रोतोगामी मार्गो गंभीरो दुर्दृशो मम । न तं द्रक्ष्यन्ति रागान्धा अलं तस्मात् प्रकाशयितुम् ॥1402॥ अणुस्रोतः प्रवाह्यन्ते कामेषु पतिताः प्रजाः कृच्छ्रेण मेऽयं संप्राप्तोऽलं तस्मात् प्रकाशयितुम् ॥1403॥

वादो बभूव समलैर्विचिन्ततो धर्मोऽविशुद्धो मगधेषु पूर्वः । अमृतस्यमुने तद् विवृणीष्व द्वारं शृण्वन्तु (यथारुतं तु शृण्वन्ति) धर्मं विमलेन बुद्धम् ॥1404॥ कृतस्वकार्थोऽसि भुजिष्यतां गतो दुःखाभिसंस्कारमलापकृष्टः । न हानिवृद्धी कुशलस्य ते स्तस् त्वमग्रधर्मेष्विह पारमितां गतः ॥1405॥ न ते मुने सदृश इहास्ति लोके कुतोऽधिकः स्यादिह ते महर्षे । भवनिहाग्रस्त्रिभवे विरोचते गिरिर्यथासावसुरालयस्थः ॥1406॥ महाकृपां जनय दुःखिते जने न त्वादृशा जातु भवन्त्युपेक्षकाः । भवान् वैशारद्यबलैः समन्वितस् त्वमेव शक्तो जनतां प्र(कर्षेण) तारयितुम् ॥1407॥ इयं सुशल्या सुचिरातुरा प्रजा सदेवका सश्रमणा द्विजाखिला । आरोगिणी भवतु निरातुरज्वरा न चापरः शरणमिहास्या विद्यते ॥1408॥ चिरानुबद्धास्तव देवमानुषाः कल्याणचित्ता अमृतार्थिनश्च । धर्मं यमेवाधिगमिष्यति जिनो यथावदन्यूनमुदाहरिष्यति ॥1409॥ तस्माद्धि याचामहे विक्रम त्वां विनयस्व सत्वांश्चिरनष्टमार्गान् अविश्रुतार्थान् शमनाथ (=शान्तये, श्रवणाय, च । अप्रभ्रंशाश्रयश्लेषः) कांक्षितान् सुदुर्बलान् बृंहणकांक्षिणो वा (=इव) ॥1410॥ इयं तृषार्ता जनता महामुने, उदीक्षते धर्मजलं तवान्तिके । मेघो यथा संतृषितां वसुंधरां कुरु तर्पणां नायक धर्मवृष्ट्या ॥1411॥ चिरप्रनष्टा विचरन्ति मानवा भवे कुदृष्टिगहने सकण्टके । अकण्टकं मार्गमृजुं प्रचक्ष्व तं यं भावयित्वा ह्यमृतं लभेरन् ॥1412॥ अन्धाः प्रपाते पतिता ह्यनायका नोद्धर्तुमन्यैरिह शक्या एते । महाप्राते पतितान् समुद्धर छन्दं समुत्पाद्य वृषोऽसि बुद्धिमान् ॥1413॥ न संगतिस्तेऽस्ति सदा मुने चिरं कदचिदौदुम्बरपुष्पसंनिभा जिनाः पृथिव्यां प्रभवन्ति नायकाः प्राप्तः क्षणो मोचय नाथ सत्वान् ॥1414॥ अभूच्च ते पूर्वभवेष्वियं मतिस् तीर्णः स्वयं तारयिता भवेयम् । असंशयं पारगतोऽसि सांप्रतं सत्यां प्रतिज्ञां कुरु सत्यविक्रमः ॥1415॥ धर्मोल्कया विधम मुनेऽन्धकारम् उच्छ्रायय त्वं हि तथागतध्वजम् । अयं स कालः प्रत्यलाभ्युदीरणे मृगाधिके वा (=मृगाधिप इव)नद दुन्दुभिस्वरः ॥1416॥

अपावृतानि तेषाममृतस्य द्वाराणि, ब्रह्मन्निति सततं ये श्रोत्रवन्तः। प्रविशन्ति श्रद्धां न विहेठसंज्ञां शृण्वन्ति धर्मं मगधेषु सत्त्वाः ॥1417॥

षष्टिर् यज्ञसहस्रकोटिनयुतानि यानि तत्रेष्टानि मया, षष्टिर् बुद्धसहस्रकोटिनयुतानि यानि तत्र संपूजितानि। पौराणिकानामृषीणामिहालयो वरो वाराणसीनामवान् देवनागाभिस्तुतो महीतलो धर्माभिनिम्नः सदा ॥1418॥ बुद्धानां कोटिसहस्राण्येकनवतिं पूर्वं स्मराम्यहं ये तस्मिन्नृषिसाह्वये वनवरेऽवीवृतंश्चक्रोत्तमम्। शान्तं चाप्युपशान्तं ध्यानाभिमुखं नित्यं मृगैः सेवितम् इत्यर्थं ऋषिसाह्वये वनवरे वर्तयिष्ये चक्रोत्तमम् ॥1419॥इति॥

॥ २६ ॥

॥ धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 402 (पंक्ति 19)—438 (पंक्ति 14)
भोटानुवाद 291क (पंक्ति 3)—323ख (पंक्ति 1)

+66

॥ २६ ॥

॥ धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्त ॥

1. प्रथम-धर्म देशना के योग्य शिष्यों का गवेषण

1. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत, जिन्होंने अपना काम कर लिया अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया है, जिन्होंने सब बन्धनों को काट डाला है, सब क्लेशों को उखाड़ डाला है, मलों और क्लेशों को निकाल डाला है, मार रूपी शत्रु को परास्त कर डाला है, सबके सब (–403–) बुद्ध के धर्मन्यायों में जिन्होंने प्रवेश पा लिया है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, दशबलों से युक्त चार वैशारद्यों (=निर्भयताओं) के लाभी, अट्ठारह आवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मों से परिपूर्ण तथा पाँच चक्षुओं से (अर्थात् मांसचक्षु से, दिव्य चक्षु से, प्रज्ञा चक्षु से, धर्म चक्षु से एवं बुद्ध चक्षु से) समन्वित हैं, आवरण-रहित बुद्ध-चक्षु द्वारा समूचे लोक को देख सोचने लगे कि किसे मैं पहले धर्म की देशना करूँ ? कौन प्राणी शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग का है, सुख से विनीत किया जा सकता है, सुख से विज्ञापित (=शिक्षित) किया जा सकता है, सुख से शोधित किया जा सकता है ? किसका राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मंद (=अल्प) है ? कौन अपरोक्ष-विज्ञान का है, =291ख= जो धर्म के न सुनने से घाटे में पड़ा है ? मैं उसे सबसे पहले धर्म को देशना करूँगा, जो मेरे उपदेश दिए धर्म को जान ले तथा मुझे पीड़ित न करे ।

2. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई । रुद्रक रामपुत्र शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग के हैं, उन्हें सुख से विज्ञापित (=शिक्षित) किया जा सकता है, सुख से शोधित किया जा सकता है, उनका राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मंद (=अल्प) हैं । वे अपरोक्ष-विज्ञान के हैं, वे धर्म के न सुनने से घाटे में पड़े हैं । वे (अपने) श्रावकों को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (नामक समाधि) के साथ सहभागी होने के धर्म की देशना करते हैं । वे इस समय कहाँ रहते हैं ? उन्होंने जाना कि उनका देहान्त हुए आज सप्ताह हो गया है । देवताओं ने भी तथागत के चरणों में पड़ कर ऐसा ही कहा—हाँ, यही बात है भगवन्, हाँ यही बात है सुगत, रुद्रक रामपुत्र का देहान्त हुए आज सप्ताह हो गया है । हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई । अहो, रुद्रक रामपुत्र की महाहानि हो गई है, जो इस प्रकार के, इस उत्तम धर्म का श्रवण बिना किए

ही, देहान्त हो गया। वे यदि इस धर्म को सुन पाते तो जान लेते और यदि मैं उन्हें पहले-पहल धर्म-देशना करता, तो मुझे पीड़ा =292क= न देते।

3. हे भिक्षुओं, फिर (दुबारा), तथागत के मन में यह बात आई कि और कौन (ऐसा) प्राणी है, जो शुद्ध हो, जिसे सुख से विनीत किया जा सकता हो···· (जो मेरी) धर्म-देशना का (बोध कर ले) तथा मुझे पीड़ित न करे। हे भिक्षुओं, तब तथागत के मन में यह बात आई। ये आराड़ कालाप शुद्ध हैं···· (ये मेरी) धर्म-देशना का (बोध कर लेंगे) तथा मुझे पीड़ित न करेंगे। हे भिक्षुओं, तथागत ने ध्यान (बल) से खोजा, कहाँ वे इस समय हैं ? ध्यान (बल) से खोजते हुए उन्होंने जाना कि उनका देहान्त हुए आज तीन दिन हो चुके हैं। (–404) शुद्धावासकायिक देवताओं ने भी इसी बात का तथागत से निवेदन किया कि हाँ, यही बात है भगवन्, हाँ यही बात है सुगत, अराड़ कालाप का देहान्त हुए आज तीन दिन हो चुके हैं। तब तथागत के मन में यह बात आई। अहो। अहो, अराड़ कालाप की महाहानि हो गई है, जो इस प्रकार के, इस उत्तम धर्म का श्रवण बिना किए ही, देहान्त हो गया।

4. हे भिक्षुओं, फिर (तिबारा), तथागत के मन में यह बात आई कि और कौन (ऐसा) प्राणी है, जो शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग का हो····(जो मेरी) धर्म-देशना का (बोध कर ले) तथा मुझे पीड़ित न करे।

5. हे भिक्षुओ, =292ख= इसके अनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई कि वे पञ्च-भद्रवर्गीय शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग के हैं, उन्हें सुख से विज्ञापित किया जा सकता है, उन्हें सुख से शोधित किया जा सकता है, उनके राग, दोष, (=द्वेष) ओर मोह मन्द (=अल्प) हैं, वे अपरोक्ष-ज्ञान के हैं, वे धर्म के न सुनने से घाटे में पड़े हैं। उन्होंने दुष्करचर्या करते समय मेरी सेवा की है। वे मेरी धर्म-देशना का बोध कर लेंगे तथा यहाँ मुझे पीड़ित नहीं करेंगे।

6. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई कि मैं पहले-पहल पंच-भद्रवर्गीयों को धर्म की देशना करूँ।

7. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई कि इस समय पञ्च-भद्रवर्गीय कहाँ रह रहे हैं ? अनन्तर तथागत ने बुद्धचक्षु से समूचे लोक को निहारते हुए निगाह डाली (और) देखा कि पञ्च-भद्रवर्गीय वाराणसी के पास ऋषिपतन के मृगदाव में विहार कर रहे हैं। देखकर तथागत के मन में यह बात आई कि मैं यदि पञ्च-भद्रवर्गीयों को सबसे पहले धर्मदेशना करूँगा, तो वे सबसे पहले मेरी धर्मदेशना को जान लेंगे। हे भिक्षुओं, वह किस हेतु ? वे =293क= चरित्रवन्त हैं, (वे) अत्यन्त पंडित हैं, (वे) शुक्लधर्म के हैं, (वे) मोक्षमार्ग की ओर मुख किए हुए हैं, (वे) बन्धनों से दूर हो चुके हैं।

(2) आजीवक उपग तथा तथागत का संवाद

8. (–405–) हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, ऐसा सोचकर तथागत बोधिमण्डप से उठ कर, त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक धातु को कँपा कर, क्रम से मगध-देश में विचरते-विचरते काशी-जनपद में पद-चारिका करने लगे।

9. तब गया और बोधिमण्डप के बीच, एक आजीवक ने दूर से ही तथागत को आता हुआ देख, जहाँ तथागत थे, वहाँ जाकर एक ओर खड़ा हो गया। हे भिक्षुओं, आजीवक ने तथागत के साथ विविध-प्रकार की संमोदनी-कथा (अर्थात् कुशल-प्रश्नकथा) करके यों कहा—हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारी इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रसन्न हैं, तुम्हारा छविवर्ण (=त्वचा का रंग) सब प्रकार से शुद्ध है, सब प्रकार से उज्ज्वल है, उससे गोरी आभा फूटी पड़ रही है। जैसे शरद ऋतु का बदर-फल[1] चमकता हुआ पाण्डुर-वर्ण का, गोरी आभा को प्रस्फुटित करता है, वैसे ही (तत्र–) भवन्त गौतम का इन्द्रिय-गण सब प्रकार से शुद्ध है, मुखमण्डल सब प्रकार से उज्ज्वल है। जैसे = 293ख – तुरन्त डंठल से गिरे पके हुए तालफल का बन्धन-स्थान सब प्रकार से शुद्ध, सब प्रकार से उज्ज्वल, गोरी आभा को प्रस्फुटित करने वाला होता है, वैसे ही (तत्र–) भवन्त गौतम का इन्द्रिय-गण सब प्रकार से शुद्ध है, मुखमण्डल सब प्रकार से उज्ज्वल है। जैसे सुवर्ण-वर्ण का निष्क (नामक आभूषण) उल्कामुख से (=भट्ठी से) निकाल कर, कुशल सुनार के द्वारा भलीभाँति सँवारा गया, पाण्डु (–वर्ण के) कंबल पर रक्खा गया, (अपने) वर्ण से चमकता है, सब प्रकार से शुद्ध, सब प्रकार से उज्ज्वल, गोरी आभा प्रस्फुटित करने वाला, अत्यन्त चमक वाला होता है, वैसे ही (तत्र–) भवन्त गौतम का इन्द्रिय-गण अत्यन्त प्रसन्न है, त्वचा का वर्ण सब प्रकार से शुद्ध है, मुख-मण्डल सब प्रकार से उज्ज्वल है। आयुष्मन्त गौतम किस (गुरु) के पास[2] ब्रह्मचर्य का आचरण कर रहे हैं[2]। हे भिक्षुओं, ऐसा कहने पर तथागत ने उस आजीवक से, गाथा द्वारा कहा—

आचार्यो न हि मे कश्चित् सदृशो मे न विद्यते।
एकोऽहमस्मि संबुद्धः शीतीभूतो निराश्रवः ॥1421॥

---

1. मूल, कालं। पठनीय, कोलं। तुलनीय भोट, र्गुर्य शुग् (= कोलं, बदरफलं)।

2....2. ब्रह्मचर्यमुच्यते पाठ मूल का है। उच्यते से संगति नहीं लगती। पाठ उष्यते जान पड़ता है, यद्यपि भोटानुसार, पाठ चर्यते है—छङ्स् पर् स्प्यद् प स्प्योद् (=ब्रह्मचर्यं चर्यते)। ब्रह्मचर्यमुष्यते संभवतः मूल पाठ था। ष्य के स्थान में च्य लिपिकर अथवा पाठक का दोष जान पड़ता है।

मेरा कोई आचार्य नहीं है, मेरे सदृश (कोई) नहीं है, मैं एक संबुद्ध, शीतीभूत (=संसार की डाह से रहित), निरास्रव (=मलरहित) हूँ।

10. वह बोला—हे गौतम, अपने-आपके अर्हन्त होने का दावा करते हो ?

(--406--) तथागत बोले—

अहमेवारहं लोके शास्ता ह्यहमनुत्तरः।
सदेवासुरगन्धर्वे नास्ति मे प्रतिपुद्गलः ॥1421॥

लोक में मैं ही अर्हन्त हूँ, मैं ही अनुत्तर (=सर्वश्रेष्ठ) शास्ता (=शिक्षक) हूँ। देवताओं, गन्धर्वों तथा असुरों के सहित (इस लोक) में मेरे सदृश पुरुष नहीं है।

वह बोला—हे गौतम, =294क=अपने-आप के जिन होने का दावा करते हो ?

तथागत बोले—

जिना हि मादृशा ज्ञेया ये प्राप्ता आश्रवक्षयं।
जिता मे पापका धर्मास्तेनोपग जिनो ह्यहं ॥1422॥

मुझ-जैसे को जिन जानना चाहिए, जिन्होंने आस्रवों का (=मलों का) क्षय कर लिया है। मैंने पाप-धर्मों को जीत लिया है। हे उपग, इसलिए मैं ही जिन हूँ।

वह बोले—तो आयुष्मन्त गौतम, कहाँ जाओगे ?

तथागत बोले—

वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीं।
अन्धभूतस्य लोकस्य कर्तास्म्यसदृशां प्रभाम् ॥1423॥

वाराणसी जाऊँगा। काशि (--जनों) की पुरी में जा कर, अन्धे हुए लोक के लिए अनुपम ज्योति (का प्रादुर्भाव) करूँगा।

वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीं।
शब्दहीनस्य लोकस्य ताडयिष्येऽमृत दुन्दुभि ॥1424॥

वाराणसी जाऊँगा। काशि (--जनों) की पुरी में जाकर, शब्द-रहित लोक के लिए अमृतदुन्दुभि बजाऊँगा।

वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीं।
धर्मचक्रं प्रवर्तिष्ये लोकेष्वप्रतिवर्तितं ॥1425॥

वाराणसी जाऊँगा। काशि (--जनों) की पुरी में जा कर, लोकों में अप्रवर्तित धर्मचक्र का प्रवर्तन करूँगा।

हे गौतम, (तुम जैसा कह रहे हो) वैसे ही होगे। ऐसा कह कर वह आजीवक दक्षिण की ओर चल पड़ा। तथागत भी उत्तर की ओर चल पड़े।

(3) गया से वाराणसी तक की यात्रा

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार (चारिका करते हुए), तथागत को गया में सुदर्शन नागराज ने निवास एवं भोजन द्वारा निमन्त्रण दिया। वहाँ से तथागत रोहितवस्तु गए, वहाँ से उरूबिल्वाकल्प। वहाँ से अणाल गए, वहाँ से सारथिपुर। =**294**ख= इन सब (स्थानों) पर, हे भिक्षुओं, तथागत गृहपतियों द्वारा निवास और भोजन से निमन्त्रित होते हुए, क्रम से गंगा नदी के किनारे पहुँचे। (--407--) हे भिक्षुओं, उस समय महानदी गंगा अत्यन्त पूर्ण भरी हुई, किनारों तक (जल से) बराबर होकर बह रही थी।

12. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत पार उतरने के लिए नाविक के पास पहुँचे। वह बोला—गौतम उतराई दो। हे मार्ष (साथी), मेरे पास उतराई नहीं है—ऐसा कहकर तथागत आकाश मार्ग से (इस) किनारे से परले किनारे पर पहुँच गए। इसके अनन्तर, वह नाविक वैसा देखकर बहुत ही पछताया कि मैंने ऐसे दक्षिणीय (=पूजनीय) को नहीं उतारा। हाय, कितने दु:ख की बात हो गई—ऐसा (मन में) करके मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। तदनन्तर, नाविक ने इस बात का राजा बिंबिसार से निवेदन किया कि नाथ, श्रमण गौतम से उतराई माँगी, वे उतराई नहीं है—यह कहकर आकाश द्वारा इस किनारे से परले किनारे पहुँच गए। राजा बिंबिसार ने वह बात सुन कर, तब से लेकर, सब प्रव्रजितों के लिए उतराई माफ़ कर दी।

13. हे भिक्षुओं, इस प्रकार तथागत क्रम से जनपदों में विचरते-विचरते जहाँ वाराणसी महानगरी थी, =295क= वहाँ पहुँचे। पहुँच कर,[3] समयपर सबेरे[3], पहन (=ओढ़) कर, पात्र-चीवर ले, वाराणसी नगरी में पिण्ड (=भिक्षा) के लिए प्रविष्ट हुए। उसमें पिण्ड (=भिक्षा) के लिए फिर कर, भक्त-कृत्य (=भोजन) करके, भोजन की बेला बीतने के पीछे, पिण्डपात से (=भिक्षासंग्रह से) लौट कर, जहाँ ऋषिपतन मृगदाव था और जहाँ पञ्च-भद्रवर्गीय थे, वहाँ पहुँचे।

(4) पञ्च-भद्रवर्गीयों का तथागत के साथ आचार-व्यवहार

14. पञ्च-भद्रवर्गीयों ने दूर से ही तथागत को आते हुए देख लिया और देखकर क्रियाबन्ध (=कर्तव्य-निश्चय) किया। हे आयुष्मन्तों, यह वही श्रमण

3....3. यहाँ मूल पाठ का शब्द **काल्प मेव** हैं। संभवतः यह मुद्रणदोष हैं। भोटानुवाद **नङ् पर्** (=प्रभाते, कल्यम्) हैं। मूल निश्चय यही **काल्यमेव** (=समयपर) अथवा **कल्यमेव** (=सबेरे) होगा। अपभ्रष्ट **काल्यपेव** श्लिष्ट होने से दोनों अर्थों का वाचक है।

गौतम आ रहा है, जो शैथिलिक (=अपने व्रत से ढुलमुल) हो गया था बाहुलिक (=बहुत खाने-पीने वाला) हो गया था, प्रहाणविभ्रष्ट (=तपश्चर्या से अत्यन्त भ्रष्ट) हो गया था। इसे पहले की उस दुष्कर-चर्या से भी मनुष्य-धर्म से कुछ भी ऊपर के, अलमार्य (=सचमुच के श्रेष्ठ), विशेष ज्ञान दर्शन का साक्षात्कार न हो सका था। इस समय की तो बात ही क्या (जब यह) स्थूल भोजन करता हुआ, सुखल्लिकायोग में (=आरामतलबी में) लगा हुआ, अभव्य (=निकम्मा) हो चुका है। (–408–) निश्चय हो यह शैथिलिक (=अपने व्रत से ढुलमुल) है, बाहुलिक (=बहुत खाने-पीने वाला) है। कोई इसका स्वागत न करे। (कोई) इसके लिए उठ कर खड़ा न हो। (कोई) इसका पात्र-चीवर न ले। न (कोई) इसे आसन[4] दे, न (कोई) परिभोग्य जल, न (कोई) पाद-प्रतिष्ठान (=पैर धोने की पीठिका) दे। खाली आसनों छोड़ कर (कोई कुछ सत्कार न करे और उससे) कहे कि आयुष्मन्त गौतम, ये खाली आसन हैं, =295ख= चाहते हो तो बैठो। आयुष्मन्त आज्ञातकौण्डिन्य[5] ने मन से स्वीकार किया पर वाणी से निषेध न किया।

15. हे भिक्षुओं, जहाँ पंच-भद्रवर्गीय थे, वहाँ ज्यों-ज्यों तथागत पास पहुँचने लगे, त्यों-त्यों वे अपने-अपने आसनों पर रमे-जमे उठना चाहने लगे। जैसे कोई पिंजड़े में बंद पक्षी हों और पिंजड़े में बंद (पक्षी) के नीचे आग जलने लगे, वह आग से तप कर, ऊपर उड़ना चाहे,[6] बच निकलना चाहे,[6] वैसे ही ज्यों-ज्यों तथागत पञ्च-भद्रवर्गीयों के पास पहुँचने लगे, त्यों-त्यों वे अपने-अपने आसनों पर रमे-जमे न रह सके, उठना चाहने लगे। वह किसलिए? कोई भी प्राणी (यहाँ) प्राणियों के समूह में ऐसा नहीं है, जो तथागत को देखकर आसन से न उठे। ज्यों-ज्यों तथागत पञ्च-भद्रवर्गीय के पास पहुँचने लगे, त्यों-त्यों पञ्च-भद्रवर्गीय तथागत की श्री और तेज को न सह पाकर, आसनों से विच-लित हो उठे, सब के सब क्रियाकार (=कर्तव्यनिश्चय) को तोड़ कर, आसनों से उठ कर, किसी ने स्वागत किया, किसी ने उठ कर पात्र-चीवर लिया, किसी ने आसन लाकर दिया, किसी ने पादप्रतिष्ठान (=पैर धोने की पीठिका) ला कर

---

4. मूल, अशनं (नाशनं पद में, न + अशनं पदच्छेद)। भोट, स्तन् (=आसनं)। आसनं ही उचित पाठ है। मूल में नासनं पढ़ना चाहिए।

5. मूल, आज्ञानकौण्डिन्य०। पालि अञ्ञातकोण्डञ्ञ। भोट, कुन् शेस् कौण्डिन्य।

6....6. मूल, प्रत्रेतुकामः। पाठ संदिग्ध है। धातु त्रै [illegible] त्रै संभव है। भोट, ह.फुर ह.बोद् (=डड्डयितुकामः)।

रक्खा तथा किसी ने पैर धोने के लिए=296 क=जल लाकर रक्खा। और यों निवेदन करने लगे—हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारा स्वागत है, हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारा स्वागत है, विराजो, यह आसन बिछा है।

16. हे भिक्षुओं, तथागत उसी बिछाए आसन पर विराजे। पञ्च-भद्र-वर्गीय भी तथागत के साथ (--409--) विविध प्रकार की संरञ्जनी एवं संमोदनीकथा (=चित्त प्रसन्न करने वाली कुशलप्रश्न-कथा) करके एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुए वे पंच-भद्रवर्गीय तथागत से यह बोले—हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारा इन्द्रिय-गण अत्यन्त प्रसन्न हैं, छविवर्ण (=त्वचा का रंग) सब प्रकार से शुद्ध है....तो क्या तुम्हें कुछ मनुष्य धर्म से ऊपर के अलमार्य (=सचमुच के श्रेष्ठ), विशेष ज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार हुआ है ?

17. हे भिक्षुओं, ऐसा कहने पर, तथागत ने पंच-भद्रवर्गीयों से यों कहा। तुम भिक्षुओं तथागत के लिए आयुष्मन्त शब्द का उपचार (=व्यवहार) मत करो, वह तुम्हारे लिए, दीर्घकाल तक, अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए नहीं होगा। हे भिक्षुओं, मैंने अमृत का तथा अमृत की ओर[7] ले जाने वाले मार्ग का साक्षात्कार किया है। हे भिक्षुओं, मैं बुद्ध हूँ, सर्वज्ञ, =296ख= सर्वदर्शी, शीतीभूत (=संसार की डाह से रहित), आस्रवहीन, सब धर्मों का वशी (=अधिकारी) हूँ। हे भिक्षुओं, मैं धर्म की देशना करूँगा, शीघ्र आओ[8], सुनो, आचरण करो, कान देकर सावधानी से सुनो, मैं अववादन (=उपदेश) करूँगा, अनुशासन (=सदसद्-विवेचन) करूँगा। मेरे द्वारा सम्यक्-अववादन एवं सम्यक्-अनुशासन ग्रहण कर तुम भी आस्रवों से (=मलों से) चित्त की विमुक्ति का, प्रज्ञा की विमुक्ति का, (इस) दृष्ट-धर्म में ही अर्थात् इस जन्म के शरीर में ही साक्षात्कार कर, उपसंपादन कर अनुभव करोगे कि—हमारा जन्म क्षीण हो चुका है, ब्रह्मचर्य-वास (पूरा) कर लिया है, जो करणीय था, वह कर चुके, इस भव (=जन्म) से अब और दूसरा (भव) नहीं है—ऐसा (हम) जान गए। हे भिक्षुओं, तुम्हारे मन में यह बात आई थी न कि हे आयुष्मन्तों, यह श्रमण गौतम आ रहा है, (जो) शैथिलिक (=अपने व्रत में ढुलमुल) है, बाहुलिक (=बहुत खाने-पीने वाला) है, प्रहाणविभ्रष्ट (=तपश्चर्या से अत्यन्त भ्रष्ट हुआ) है....(उसका कोई सत्कार न करे, केवल इतना कह दे कि ये खाली आसन पड़े हैं) चाहो तो बैठो।

18. उनका आओ, भिक्षुओं (एहि भिक्षवः) ऐसा कहने पर, जो कुछ तीर्थिकलिंग (=अबौद्धचिह्न) तथा तिर्थिकध्वज (=अबौद्धबान्त) था, वह सब

7. मूल, व। पठनीय च। भोट, दङ् (=च)।
8. मूल, गच्छत। पठनीय, ऽगच्छत। भोट, छुर् शिग् (=आगच्छतात्र)।

उसी क्षण अन्तर्हित हो गया। तीन चीवरों तथा पात्र का प्रादुर्भाव हुआ। केश छिन्न हो गए। जैसे सौ वर्ष के उपसंपन्न भिक्षु का ईर्यापथ (=रहन-सहन) होता है, वैसा ही उनका हो गया। =297क=उनकी वही प्रव्रज्या थी, वही उपसंपदा थी, जिससे उन्हें भिक्षुभाव मिला।

(5) धर्मचक्र-प्रवर्तन से पूर्व के दिव्य वृत्तान्त

19. हे भिक्षुओं, उस समय, पञ्च-भद्रवर्गीय भिक्षुओं ने तथागत के चरणों में गिर कर, (अपने) अपराध की देशना की और तथागत के प्रति (–410–) शास्तृसंज्ञा (=गुरुबुद्धि), प्रेम, प्रसाद (=श्रद्धा) तथा गौरव को (अपने मन में) उपजाया। (मन में) गौरव उपजाकर (उन्होंने) बहुत-विचित्र पुष्करिणी में तथागत का स्नान-परिकर्म (=स्नान द्वारा बनाव-सँवार) किया। हे भिक्षुओं, स्नान करके निकले हुए तथागत के मन में यह बात आई कि किस (स्थान) पर, बैठ कर, पहले के अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागतों ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, हे भिक्षुओं, जिस पृथिवी के स्थान पर पहले के अर्हन्त (सम्यक् संबुद्ध) तथागतों ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, उस पृथिवी के स्थान पर तब सप्तरत्नमय सहस्र सिंहासनों का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अनन्तर, पहले के तथागतों के गौरव से तथागत तीन आसनों की प्रदक्षिणा कर, चौथे आसन पर पलथी मार कर, सिंह की भाँति निर्भीक बैठ गये। पञ्च (--भद्रवर्गीय) भिक्षु भी अपने सिरों से चरणों में वन्दना कर तथागत के सामने बैठ गए।

20. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत ने (अपने) शरीर से ऐसी प्रभा छोड़ी कि =297ख=जिस प्रभा के कारण यह त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु महान् प्रकाश से भर गई। और उस प्रकाश से जो भी लोकान्तरिक (एक लोक से दूसरे-लोक को अलग करने वाले) अघ (=पाप) तथा अघों (=पापों) से व्याप्त जो अंधे करने वाले अँधेरे थे, जहाँ इस प्रकार की महा-ऋद्धि वाले, इस प्रकार के महान् प्रताप वाले, इस प्रकार के महान्-पद के चन्द्र एवं सूर्य भी, (अपनी) आभा से आभा नहीं कर पाते, (अपने) रंग से रंग नहीं चमका पाते, (अपने) तेज से तेज नहीं दमका पाते, जहां पर उत्पन्न प्राणी अपनी अपनी फैलाई बाँह भी नहीं देख पाते, वहाँ भी, उस समय उस लोक में, महान् उदार (=विपुल) प्रकाश का प्रादुर्भाव हुआ। और जो भी प्राणी वहाँ उत्पन्न हुए थे, वे उस प्रकाश से व्याप्त हो एक-दूसरे को देखने लगे, एक-दूसरे को जानने लगे। (तथा) इस प्रकार कहने लगे—अहो, और भी प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए हैं, अहो, और भी प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए हैं।

21. और यह त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक-धातु छह-प्रकार से अट्ठारह महानिमित्तों (= बड़े-बड़े सगुनों) के साथ हिल उठी। (–411–) काँप उठी, अधिक काँप उठी, सब ओर से अधिक काँप उठी। थरथरा उठी, अधिक थरथरा उठी, सब ओर से अधिक थरथरा उठी। चल उठी, अधिक चल उठी, सब ओर से अधिक चल उठी। टनटना उठी, अधिक टनटना उठी, सब ओर से अधिक टनटना उठी। गरज उठी, अधिक गरज उठी। सब ओर से अधिक गरज उठी। अन्त में झुक गई, बीच में उठ गई। बीच में झुक गई, = 298क = अन्त में उठ गई। पूर्व दिशा में झुक गई, पश्चिम दिशा में उठ गई। पश्चिम दिशा में झुक गई, पूर्व दिशा में उठ गई। दक्षिण दिशा में झुक गई, उत्तर दिशा में उठ गई। उत्तर दिशा में झुक गई, दक्षिण दिशा में उठ गई। उस समय (जो) शब्द सुनाई पड़ते थे, (वे) हर्ष उपजाते थे, संतोष करते थे, प्रेम उत्पन्न करते थे, प्रसाद (= निर्मलता) जानते थे, अवलोकन की ओर प्रेरित करते थे, अत्यन्त आह्लाद उपजाते थे, (वे) अत्यन्त प्रशंसनीय थे, प्रशंसा में उनकी उपमा न थी, (वे) तृप्ति करने वाले थे, (वे) अप्रतिकूल थे, वे त्रास (= भय) न उपजने देते थे। उस क्षण में किसी प्राणी को विहेठा (= पीड़ा) अथवा त्रास अथवा भय अथवा स्तम्भ (= निश्चेष्टता) अनुभव न हुआ। उस क्षण सूर्य और चन्द्रमा की, इन्द्र, ब्रह्मा और लोकपालों की प्रभा न चमकती जान पड़ती थी। उस क्षण सब नरकों में, पशु-पक्षियोनियों में, यमलोक में उत्पन्न प्राणियों के दुःख दूर हो गए थे, सब सुख उन्हें मिल गए थे। किसी प्राणी को राग अथवा द्वेष, अथवा मोह, अथवा ईर्ष्या, अथवा मात्सर्य (= कृपणता), अथवा मान, अथवा म्रक्ष (=परगुण-असहिष्णुता), अथवा मद, अथवा क्रोध, अथवा व्यापाद (=परविनाश-अभिलाष) अथवा परिदाह (=जलन) से = 298ख=बाधा न थी। सब प्राणी उस क्षण मैत्री-चित्त के, हितचित्त के, एक दूसरे के प्रति माता-पिता का जैसा भाव रखते थे।

22. और उस प्रभाव्यूह से ये गाथाएँ निकलती थीं।

(छंद आर्या)

योऽसौ तुषितालया च्युत्वा ओक्रान्तो मातुकुक्षौ हि।
जातश्च लुम्बिनिवने प्रतिगृहीतः शचीपतिना ॥1426॥

9....9. मूल, दृष्टा एव धर्म०। पठनीय, दृष्ट एव धर्मे। प्रोफेसर वेलर का शोधन। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि०, पुष्ठ 269 पर दृष्ट-धर्म शब्द। भोट में यहाँ भावानुवाद है—.छे .हदि ल (=अस्मिन्नेव जीविते, (इस जीवन में)।

जो तुषित-लोक से च्युत होकर, माता की कोख में प्रविष्ट हो, लुम्बिनी—वन में उत्पन्न हुए, (तथा) जिन्हें शचीपति (=इन्द्र) ने (अपने हाथों में) ग्रहण किया।

(=412=) यः सिंहविक्रमगतिः सप्त पदा विक्रमी असंमूढः।
ब्रह्मस्वरामथ गिरं प्रमुमोचे जगत्यहं श्रेष्ठः ॥1427॥

जो मोह-रहित, सिंह के समान (स्थिर) पैर रख-रख कर चलने वाले (उत्पन्न होकर) सात पैर चले और ब्रह्म-स्वर से (यह) वचन बोले कि मैं जगत् में श्रेष्ठ हूँ।

चतुरो द्वीपांस्त्यक्त्वा प्रव्रजितः सर्वसत्त्वहितहेतोः।
दुष्करतपश्चरित्वा उपागमद् येन महिमण्डः ॥1428॥

(जो) चारों द्वीपों (के आधिपत्य) को छोड़ कर, सब प्राणियों का हित करने के हेतु, दुष्कर-तपश्चर्या कर, जहाँ महीमण्डप (=बोधिमण्डप) था, वहाँ पहुँचे।

सबलं निहत्य मारं बोधिप्राप्तो हिताय लोकस्य।
वाराणसीमुपगतो धर्मचक्रं प्रवर्तयिता ॥1429॥

(जो) सेना सहित मार को परास्त कर, बोधि प्राप्त कर चुके हैं, (तथा) वाराणसी पहुँच कर, लोक-हित के लिए, धर्मचक्र-प्रवर्तन करने वाले हैं।

[10]स ब्रह्मणा सह सुरैर्[10] अध्येष्टो वर्तयस्व समचक्रं[11]।
अधिवासितं च मुनिना लोके कारुण्यमुत्पाद्य ॥1430॥

उनसे देवताओं के सहित ब्रह्मा ने, समचक्र अर्थात् धर्मसमता अथवा शान्ति का चक्र प्रवर्तन करो, ऐसी अध्येषणा (=प्रार्थना) की है, और मुनि ने लोक के प्रति (अपने मन में) करुणा उपजा कर (उस प्रार्थना को) स्वीकार कर लिया है।

सोऽयं दृढ़प्रतिज्ञो वाराणसिमुपगतो मृगदावं।
चक्रं ह्यनुत्तरमसौ प्रवर्तयितात्यद्भुतं श्रीमान् ॥1431॥

10....10. मूल, सब्रह्मणा सह सुरैर्। भोट, दे ल .छङ्स् प ल्हर् बचस् पस् (=स ब्रह्मणा सुरसहितेन)। मूल में स पृथक् पद है यह इससे स्पष्ट है।

11. समचक्रम् का भोटानुवाद म्ञम् प हि. .हखोर् लो (=समताचक्रम्, तुल्यताचक्रम्) है। वैद्य द्वारा शमचक्रम् का सुझाव, यद्यपि अप्रामाणिक है, तथापि प्रकरण में ठीक बैठता है।

वे दृढ़-प्रतिज्ञा के (तथागत) वाराणसी के पास के मृगदाव में आ गये हैं, (और) वे अत्यन्त-अद्‌भुत, श्रीमन्त, अनुत्तर (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करने वाले हैं।

यः श्रोतुकामु धर्मं यः कल्पनयुतैः समार्जितु जिनेन।
शीघ्रमसौ त्वरमाणो आगच्छतु धर्मश्रवणाय ॥1432॥

जिस (धर्म) का जिनने खर्ब-खर्ब कल्पों में उपार्जन किया है, (उस) धर्म को जो श्रवण करना चाहता हो, वह शीघ्र जल्दी करता हुआ, धर्म का श्रवण करने के लिए आए।

दुरवाप्यं मानुष्यं बुद्धोत्पादः सुदु (र्) ल्लभा श्रद्धा। = 299क=
श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं अष्टाक्षणविवर्जनं दुरापाः ॥1433॥

मनुष्यता कठिनाई से हाथ आती है, बुद्ध की उत्पत्ति (अत्यन्त दुर्लभ है) (एवं) श्रद्धा (भी) अत्यन्त दुर्लभ है। धर्म का श्रवण तथा आठ अक्षणों से मुक्त होना दुर्लभ है।

प्राप्त(ा)श्च तेऽद्य सर्वे बुद्धोत्पादः क्षणस्तथा श्रद्धा।
धर्मश्रवणश्च वरः प्रमादमखिलं विवर्जयतः ॥1434॥

वह सब बुद्ध की उत्पत्ति, क्षण, श्रद्धा, उत्तम-धर्मश्रवण तुम्हें मिला है। सब प्रमाद त्याग दो।

भवति काचिदवस्था यः कल्पनयुतैर्न श्रूयते धर्मः।
संप्राप्तः स च वाद्य प्रमादमखिलं त्रिवर्जयतः ॥1435॥

कोई (काल–) दशा होती है जब खर्ब-खर्ब कल्पों तक धर्म नहीं सुनने को मिलता। (पर) आज वही सुलभ हो रहा है। सब प्रमाद त्याग दो।

भौमादीन् देवगणान् संचोदयतो च ब्रह्मपर्यन्तां।
आयात लघु सर्वे वर्तयिता नायको ह्यमृतचक्रं ॥1436॥

पृथिवी के देवगणों से लेकर ब्रह्मा तक के (देवगणों के लिए) (यह) प्रेरणा थी कि सब (–लोग) शीघ्र आ जाओ, नायक अमृत चक्र का प्रवर्तन करने वाले हैं।

संचादिताश्च[12] महता देव घोषेण[12] तत्क्षणं सर्वे।
त्यक्ता (?त्यक्त्वा) देवसमृद्धिं प्राप्ता बुद्धस्य ते पार्श्वे ॥1437॥

महाघोष के द्वारा प्रेरित वे सब देवता, उसी क्षण देव-समृद्धि त्याग कर, बुद्ध के पास आ पहुँचे।

12....12. मूल, महता देवघोषेण। भोट, स्ग्र छेन् ग्यिस् नि ल्ह (= शब्देन देव (= देवाः) यहाँ पृथक् पद है, समास का पूर्वपद नहीं।

6 धर्मचक्रप्रवर्तन की प्रार्थना

23. (–413–) हे भिक्षुओं, इस प्रकार, वाराणसी के समीप, ऋषिपतन के मृगदाव में (एक) महामण्डल-बाट (=बड़े घेरे का बाड़ा) तथागत के लिए धर्मचक्र-प्रवतन के अर्थ, पृथिवी के देवताओं ने अधिष्ठान से (=संकल्प से) बनाया, जो विचित्र था, दर्शनीय था, विशाल था, विस्तृत था, लंबाई-चौड़ाई के विस्तार में सात-सौ योजन का था जिसके ऊपर देवताओं ने छत्रों को, ध्वजाओं को, पताकाओं को तथा वितानों (=चँदवों) को सजा रक्खा था, जो आकाश-तल में शोभा दे रहा था। कामावचर तथा रूपावचर देवताओं ने चौरासी लाख सिंहासन तथागत को अर्पित किए थे कि इन पर =299ख= बैठ कर, हम-सब पर अनुग्रह कर, धर्मचक्र-प्रवर्तन करें।

24. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, उस समय, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं से, ऊपर से, नीचे से, सब ओर से, दसों दिशाओं से, बहुत से कोट-कोटि बोधिसत्त्व जो (बोधि के निमित्त) पहले से किए गए प्रणिधान (=संकल्प) से समन्वित थे, आ कर तथागत के चरणों में गिर कर, धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए अध्येषणा (प्रार्थना) करने लगे और इस त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक धातु में जो भी शक्र या ब्रह्मा, या लोकपाल उनसे भिन्न जो भी बड़े-बड़े पद के देव पुत्र थे, वे सभी तथागत के चरणों में सिर से प्रणाम कर, तथागत के धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए अध्येषणा (=प्रार्थना) करते थे कि भगवन् धर्मचक्रप्रवर्तन करें, सुगत धर्मचक्र-प्रवर्तन करें, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोकपर अनुग्रह के लिए, महान् जनसमूह के देवताओं तथा मनुष्यों के अर्थ के लिए हित के लिए, सुख के लिए। हे भगवन्, धर्म-यज्ञ करो, धर्म की महावृष्टि करो, धर्म का महाध्वज ऊँचा करो, धर्म का महाशंख फूँको, धर्म की महादुन्दुभि बजाओ।

25. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता =300क= है।

(छंद अष्टादशाक्षरी गाथा)

त्रिसहस्र इतो बहु ब्रह्म सुरेश्वर पाल तथा
उपगम्य जिनस्य क्रमेऽभिनिपत्य उदाहरिषु।
(–414–) स्मर पूर्व प्रतिज्ञां महामुनि या त्वय वाच कृता
अहु ज्येष्ठु विशिष्ठु प्रजाय करिष्ये दुःखस्य क्षयं ॥1438॥

इस त्रिसाहस्र-महासाहस्र (लोक-धातु) से ब्रह्मा, देवेन्द्र, (लोक–) पाल, तथा वहुत से (अन्य देवता) पास आकर, बुद्ध के चरणों में प्रणाम कर बोले—

हे मुनिवर, स्मरण करो, पहले तुमने वचन से जो प्रतिज्ञा की थी कि मैं ज्येष्ठ हूँ, प्रजा का दुःख क्षय करूँगा ।

त्वय धर्षितु मारु ससैन्यु द्रुमेन्द्रि स्थिहित्व मुने
वर बोधि विबुद्ध सुसान्ति निपातित क्लेशद्रुमाः ।
अभिप्रायु प्रपूर्ण अशेष य चिन्तित कल्पशता
जनतां प्रसमीक्ष्य अनायिक वर्तय चक्रवरं ॥1439॥

हे मुने, तुमने वृक्षराज के नीचे बैठ कर सेना-सहित मार को परास्त कर दिया, उत्तम शान्ति की उत्तम बोधि का अवबोध कर लिया क्लेश के वृक्षों को नीचे गिरा दिया, सैकड़ों कल्पों तक जिस मनोरथ का चिन्तन किया था, वह सबका सब सिद्ध कर लिया, (अब) नायक-हीन (इस) जनता को देख कर उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करो ।

सुगतस्य प्रभाय प्रभासित क्षेत्रसहस्रशता
बह्वः शत शुद्धसुताश्च उपागत ऋद्धिबलैः ।
विविधां सुगतस्य करित्वन पूज महानिचयां
स्तवयिंसु तथागत भूतगुणेभि अध्येषितु कारुणिकं ॥1440॥

सुगत की प्रभा से लाखों (बुद्ध–) क्षेत्र चमक उठे, ऋद्धि-बल से बहुत से शत-शत बुद्धपुत्र (=बोधिसत्त्व) आ पहुँचे (वे) सुगत की विविध प्रकार की (रत्नादि की) महाराशि से समन्वित पूजा करके, (उन) कारुणिक तथागत से (धर्मचक्र-प्रवर्तन करने की) अध्येषणा (=प्रार्थना) करने के निमित्त, सच्चे गुणों से स्तुति करने लगे ।

करुणाघन विद्युतप्रज्ञ विपश्यन-वायुसमा
अभिगर्जित कल्पसहस्र निमन्त्रितु सर्वजगत् ।
अष्टाङ्गिकमार्गजलोधर वर्ष समेहि जगस्य तृषां
बलइन्द्रियध्यानविमोक्ष विवर्धय सस्यधनं ॥1441॥

हे प्रज्ञा की बिजली वाले, विपश्यना (=तत्त्वज्ञान) के उपमानभूत वायु वाले, करुणा के मेघ सहस्रों कल्पों तक (तुम) गरजे हो, सब प्राणियों को (तुमने) निमंत्रण दिया है । हे अष्टांगिकमार्ग के जलधर, बरसो, जगत् की प्यास शान्त करो, बलों, इन्द्रियों, ध्यानों एवं विमोक्षों का सस्य-धन (=कृषिसंपत्ति) बढ़ाओ ।

बहुकल्पसहस्र सुशिक्षितु शून्यत्वस्थिता
समुदानितु धर्मजु भैषजु जानितु सत्त्वचरी । =300ख=
जनता इय व्याधिशतेभि उपद्रुत क्लेशगणैः
जिनवैद्य प्रमोचय वर्तय धर्मचक्रवरं ॥1442॥

बहुत से सहस्र कल्पों तक (तुमने) सम्यक् शिक्षा ग्रहण की है, (तुम) शून्यता में स्थित रहे हो, धर्म से उत्पन्न होने वाले भैषज्य की (तुमने) सिद्धि की है, प्राणियों का चरित्र (तुमने) जाना है। यह जनता क्लेश—गण रूपी सैकड़ों व्याधियों से आक्रान्त है, हे बुद्धरूपी वैद्य, (उनसे) मुक्त करो, उत्तम धर्म-चक्र का प्रवर्तन करो।

षडि पारमिते चिररात्रु विवर्धितु कोशु त्वया
असमं तु अचाल्यु प्रणीतु सुसंचितु धर्मधनं।
प्रज सर्व अनाथ दरिद्र अनायिक दृष्ट (?दृष्ट्व) इमां
विवरं[13] धन सप्त विनायक चक्र प्रवर्तयही ॥1443॥

चिर-काल तक छह पारमिताओं का कोश तुमने बढ़ाया है, अनुपम, अचल एवं उत्तम धर्म-धन का (तुमने) शोभन-संग्रह किया है। इस अनाथ दरिद्र, नायक-रहित, सब प्रजा को देख कर सात धनों का वर देते हुए, हे विनायक, (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करो।

(–415–) धनधान्य हिरण्यसुवर्ण तथैव च वस्त्र शुभा
वर पुष्पविलेपनधूपनचूर्ण गृहाश्च वराः।
अन्तःपुरराज्य प्रियात्मज त्यक्त प्रहर्षयतो
जिनबोधि गवेषत सा ति विबुद्ध प्रवर्तय चक्रवरं ॥1444॥

बुद्धों की बोधि खोजते हुए, अत्यन्त हर्ष में भर कर, तुमने धन एवं धान्य, हिरण्य एवं सुवर्ण, तथा शुभ वस्त्र, उत्तम पुष्प, विलेपन, धूप एवं चूर्ण, उत्तम घर, अन्तःपुर, राज्य एवं प्रियपुत्र त्यागे हैं। उस (बोधि) का तुम्हें (अब) बोध हो गया है, उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करो।

तथा शीलु अखण्डु अकल्मषु रक्षितु कल्पशतां
सद क्षान्ति सुभावित वीर्य अलीनु अभूषि तव।
वर-ध्यान-अभिज्ञ-विपश्यन-प्रज्ञ-उपेक्ष मुने
परिपूर्णमनोरथ निर्ज्वर वर्तय चक्रवरं ॥1445॥

इसी प्रकार, (तुमने) सैकड़ों कल्पों तक (अपने) शील को अखण्डित एवं अदूषित रख कर बचाया है, सर्वदा क्षमा की उत्तमता से भावना की है, तुम्हारा वीर्य (=उद्योग) अलीन (=अपराभूत) रहा है, हे उत्तम ध्यान, अभिज्ञा,

---

13. मूल, विचरं। भोट, ब्गो ब्शह्. म्ज़ोद् चिग् (=संविभागं कुर्वन्)। मूल पाठ निश्चय ही विवरं (=विवरन्, जातु वृ) होना चाहिए। चकार तथा वकार का व्यत्यास लिपि—प्रमाद से उत्पन्न हुआ है।

विपश्यना (= तत्त्वज्ञान), प्रज्ञा एवं उपेक्षा से युक्त, सब प्रकार से पूर्ण—मनोरथ के, निर्ज्वर (= क्लेशरहित) मुनि (—वर) उत्तम चक्र का प्रवर्तन करो।

26. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, सहचित्तोत्पाद—धर्मचक्रवर्ती नाम के बोधिसत्त्व महासत्त्व ने, उस समय, सब रत्नों से ओत-प्रोत, सब रत्नों से सुशोभित, = 301क = नाना प्रकार के रत्नमय अलंकारों की रचना से विभूषित हज़ार अरों वाले, हज़ार रश्मियों (=किरणों) के, नाह के सहित, पुठ्ठी के सहित, फूलों की मालाओं के सहित, स्वर्णजाल के सहित, किंकिणियों के जाल के सहित, गन्धहस्त (—हाथ के सदृश बने गन्धपात्र) के सहित, पूर्ण-कलश के सहित, नन्दिकावर्त के सहित, स्वस्तिक के मण्डन के सहित, नाना प्रकार के रंगों से रंगे वस्त्रों से सुशोभित, देव-लोक के पुष्पों से गन्धों से एवं माल्यों से युक्त और दिव्य विलेपनों से अनुलिप्त, सब प्रकार से उत्तम आकार-प्रकार के (धर्म) चक्र को, धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए तथागत को अर्पित किया, वह धर्मचक्र पूर्व (काल) के प्रणिधान (संकल्प) से सिद्ध हुआ था, बोधिसत्त्वों के आशय (= सर्वप्राणियों के प्रति हित के अभिप्राय) से अत्यन्त शुद्ध किया हुआ था, तथागतों द्वारा पूजा के योग्य था, सब तथागतों के द्वारा समन्वाहृत (= चित्त में सुविचिन्तत) था, सब बुद्धों के अधिष्ठान (= संकल्प) से सुस्थिर था, पहले के अर्हन्त सम्यक्—संबुद्ध तथागतों के द्वारा प्रत्येषित (= प्रतिगृहीत) था, पहले (उनके द्वारा) तथा प्रवर्तित था। (उसे) अर्पित कर, अञ्जलि बाँध कर, (उन्होंने) इन गाथाओं द्वारा, तथागत की स्तुति की—

(छंद वसन्ततिलका)

दीपंकरेण यद व्याकृतु शुद्धसत्त्वो
बुद्धो भविष्यसि हि त्वं नरसिंहसिंहः । =301ख=
तस्मि समासि प्रणिधी इयमेवरूपा
संबोधिप्राप्तु अहु धर्मु अध्येषयेयं ॥1446॥

जब दीपंकर ने शुद्ध-सत्त्व के विषय में भविष्यवाणी की थी कि तुम नरसिंहों में सिंह (=उत्तम पुरुषों में पुरुषोत्तम) बुद्ध होओगे, तब उस अवसर पर इस प्रकार का प्रणिधान (मैंने) किया था कि संबोधि-प्राप्त (तथागत) से मैं धर्म (देशना) के लिए अध्येषणा (= प्रार्थना) करूँगा।

(—416) न च शक्य सर्वि गणनाय अनुप्रवेष्टुं
ये आगता दश दिशेभिरिहाग्रसत्त्वाः ।
अध्येषि शाक्यकुलनन्दन धर्मचक्रे
प्रह् वा कृताञ्जलिपुटाश्चरणो निपत्य ॥1447॥

दस दिशाओं से यहाँ पर जो अग्रसत्त्व (= बोधिसत्त्व) आए हैं, उन सबके विषय में गणना के द्वारा प्रवेश पाना अशक्य है। (वे सब) अंजलि-बाँधे, नम्र, चरणों में गिर कर, धर्मचक्र (–प्रवर्तन) के लिए शाक्यकुलनन्दन से अध्येषणा (=प्रार्थना) कर रहे हैं।

या बोधिमण्डि प्रकृता च सुरैर्वियूहा
या वा वियूह कृत सर्व जिनात्मजेभिः।
सा सर्व संस्थित वियूह ति धर्मचक्रे
परिपूर्णकल्प भणमानु क्षयं न गच्छेत् ॥1448॥

बोधिमण्डप पर देवताओं ने जो उत्तम रचना की थी अथवा सब बोधिसत्त्वों ने जो रचना की थी, वह सब रचना तुम्हारे धर्मचक्र (के अवसर) पर विराज रही है, पूरे कल्प तक (कोई) वर्णन करे तो भी उसका अवसान नहीं हो सकता।

त्रिसहस्त्रि लोकि गगणं स्फुट देवसंघैः
धरणीतलं असुरकिन्नरमानुषैश्च।
उत्कासशब्दु नपि श्रूयति तन्मुहूर्तं
सर्वि प्रसन्नमनसो जिनमभ्युदीक्षन् ॥1449॥

त्रिसाहस्र–लोक में आकाश देवगणों द्वारा, पृथिवी-तल असुरों, किनरों और मनुष्यों द्वारा व्याप्त हो गया था। उस क्षण उत्कास का (=खाँसने खखारने का) शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता था। सब प्रसन्न-मन हो बुद्ध की ओर उत्कण्ठा से देखते थे।

7. धर्मचक्रप्रवर्तन

27. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, तथागत रात के पहले पहर में मौन-भाव अंगीकार किये रहे। रात के बिचले पहर में संरञ्जनीय (= चित्त को प्रसन्न करने वाली) कथा करते रहे। रात के पिछले पहर में पञ्च-भद्रवर्गीयों को संबोधन कर यह बोले। हे भिक्षुओं = 302क = प्रव्रजित के लिए ये दोनों अन्त (= अतिचार) अक्रम (= न करने के) हैं यह जो कामों में कामसुखल्लिकानुयोग अर्थात् कामों का रस लेने में लग जाना है, वह हीन है, गँवारों का काम है, पृथग्जनों का (= तुच्छ जनों का) काम है। (वह) अलमार्य (=सचमुच का श्रेष्ठ) नहीं है (वह) अनर्थों से युक्त है। अनागत में (वह) न ब्रह्मचर्य के लिए है, न निर्वेद के लिए है, न विराग के लिए है, न (दुःख के) निरोध के लिए है, न अभिज्ञा (= दिव्यज्ञान) के लिए है, न संबोधि के लिए है, न निर्वाण के लिए है। जो आत्मक्लमथानुयोग अर्थात् अपनी काया को अत्यन्त पीड़ित करने में लग जाना है, (वह भी) राह के बीच-बीच न रहना है, वह दुःख दायक है, अनर्थों

से युक्त हैं, दुष्ट धर्म में अर्थात् इस जन्म के शरीर में ही दुःखदायक है और अनागत में दुःख–फल देने वाला है। हे भिक्षुओं, इन दो अन्तों के (=अतिचारों के) पास न फटक कर, तथागत मध्यमाप्रतिपदा (=मध्यम मार्ग) से धर्म की देशना करते हैं, जिसमें सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, (--417--) सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्ति, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि है।

28. हे भिक्षुओं, यह चार आर्य-सत्य हैं। कौन से चार? दुःख, दुःख-समुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध-गामिनी=302ख= प्रतिपदा।

29. उनमें दुःख क्या है? जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी-अप्रियों के साथ संयोग भी--प्रियों के साथ वियोग भी दुःख है, जो इच्छा करते हुए, खोजते हुए, (इष्टार्थ का) न पाना है, वह भी दुःख है। संक्षेप से पाँच उपादान स्कन्ध दुःख हैं। यह दुःख कहा जाता है।

30. उनमें दुःख समुदय क्या है? यह जो तृष्णा है, जो पौनर्भविकी (=बारंबार भव अर्थात् जन्म का कारण) है, नन्दीराग अर्थात् सुख की आसक्ति से युक्त है, तत्र-तत्राभिनन्दिनी (=ठौर-ठौर पर सुख चाहने वाली) है। यह दुःख समुदय कहा जाता है।

31. उनमें दुःखनिरोध क्या है? जो इसी तृष्णा का-जो पौनर्भविकी है (=बारंबार भव अर्थात् जन्म का कारण है) नन्दीराग से अर्थात् सुख की आसक्ति से युक्त है, तत्र-तत्रा भिनन्दिनी है (=ठौर-ठौर पर सुख चाहने वाली है, जनिका है (=जन्म देने वाली है), निर्वर्तिका है (संसार बनाने वाली है)—अशेष विराग एवं निरोध है। यह दुःख निरोध है।

32. उनमें दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा क्या है? यही आर्य अष्टांगिक-मार्ग। यथा-सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि। यह दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपदा आर्य-सत्य है। हे भिक्षुओं, ये चार आर्य-सत्य हैं।

33. हे भिक्षुओं, यह दुःख है, ऐसा मुझ में पहले से अनसुने धर्मों में योनिशः--मनसिकार से (=ठीकठाक मनन करने से) बहुलीकार से (=बहुत बहुत चिन्तन से) ज्ञान उत्पन्न हुआ, =303क= चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

34. हे भिक्षुओ, यह दुःखसमुदय है, ऐसा मुझमें, पहले से अनसुने धर्मों में योनिशः मनसिकार से = (ठीक-ठीक मनन करने से) बहुलीकार से (=बहुत-

बहुत चिन्तन से), ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (= प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

35. हे भिक्षुओं, यह दुःखनिरोध है, ऐसा मुझमें....आलोक (= प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

36. हे भिक्षुओं, यह दुःखनिरोधगामिनी-प्रतिपदा है, ऐसा मुझमें....आलोक (=प्रकाश) का (–418–) का प्रादुर्भाव हुआ।

37. हे भिक्षुओं, इस दुःख का परिज्ञान करना चाहिए, ऐसा मुझ में.... आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

38. हे भिक्षुओं, इस दुःखसमुदय का प्रहाण करना चाहिए, ऐसा मुझ में, पहले से अनसुने धर्मों में,....आलोक (= प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

39. हे भिक्षुओं, इस दुःखनिरोध का साक्षात्कार करना चाहिए, ऐसा मुझमें....आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

40. हे भिक्षुओं, इस दुःखनिरोधगामिनी =303ख= प्रतिपदा की भावना करनी चाहिए, मुझमें....आलोक (= प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

41. हे भिक्षुओं, इस दुःख का परिज्ञान हो चुका है, ऐसा मुझमें, पहले से अनसुने धर्मों में....—

42. हे भिक्षुओं, इस दुःखसमुदय का प्रहाण हो चुका है, ऐसा मुझमें, पहले से अनसुने धर्मों में....—

43. हे भिक्षुओं, इस दुःखनिरोध का साक्षात्कार हो चुका है, ऐसा मुझमें पहले से अनसुने धर्मों में—

44. हे भिक्षुओं, इस दुःखनिरोधगामिनी-प्रतिपदा की भावना करली है, ऐसा मुझमें, पहले से अनसुने धर्मों में, योनिशः-मनसिकार से (= ठीक-ठीक मनन करने से), बहुलीकार से (बहुत-बहुत चिन्तन से,) ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (= ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (= प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

45. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, जब तक मुझ में, इन चार आर्य-सत्यों में योनिशः मनसिकार करते हुए (=ठीक-ठीक मनन करते हुए) इस प्रकार का त्रिपरिवर्त (=तेहरा) द्वादशाकार (=बाहर प्रकारों वाला)[14] ज्ञान दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ[14], तब तक, हे भिक्षुओं, अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि का मुझे बोध हो

14. मूल, ज्ञानदर्शनमुत्पद्यते। भोट, शेस् म्थोङ् ब म स्क्येस् प (=न ज्ञानदर्शन-मुत्पद्यते स्म)।

चुका है, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने नहीं की थी, क्योंकि मुझमें ज्ञानदर्शन नहीं उत्पन्न हुआ था।

46. हे भिक्षुओं, यतः मुझमें इन चार आर्य-सत्यों में इस चार प्रकार का त्रिपरिवर्त (=तेहरा) द्वादशाकार (=बाह्र प्रकारों वाला) =304क= ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है और अकोप्य (= विचलित न होने वाली) चित्त-विमुक्ति का तथा प्रज्ञा-विमुक्ति का साक्षात्कार हुआ है, अतः हे भिक्षुओं, अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का मुझे बोध हो चुका है, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की है। मुझमें ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, जन्म क्षीण हो गया है, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका है, (जो) करणीय था वह कर डाला गया है, इस (भव) से अन्य-अन्य भव (अब न होगा, ऐसा) जानता हूँ।

47. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

वाचाय ब्रह्मरुत किन्नरगर्जिताय
अंशैः सहस्रनयुतेभि समुद्गताय।
बहुकल्पकोटि सद सत्य सुभाविताय
कौण्डिन्यमालपति शाक्यमुनि स्वयंभूः ॥1450॥

ब्रह्म के समान स्वर वाली, किनरों के समान घोषवाली, सहस्र खर्ब अंशों द्वारा (लोक से) ऊपर उठी हुई, बहुत-कोटि कल्पों तक सर्वदा सत्य एवं सुभावित वाणी द्वारा, स्वयंभू शाक्यमुनि कौण्डिन्य से बोले।

चक्षुरनित्यमध्रुवं तथ श्रोत्र घ्राणं
जिह्वाऽपि काय मन दुःखा [15]अनात्म शून्याः[15]।
जडास्वभाव तृणकुड्य इवा निरीहा
नैवात्र आत्मा न नरो न च जीवमस्ति ॥1451॥

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन (ये सभी) अनित्य, अध्रुव, दुःख, अनात्मक एवं शून्य हैं। (ये) तृणकुड्य (=घासफूस बनी दीवार) के जैसे निश्चेष्ट, जड़स्वभाव के हैं। इनमें न आत्मा है, न पुरुष है और न जीव है।

हेतुं प्रतीत्य इमि संभुत सर्वधर्मा
अन्तान्त[16]—दृष्टिविगता गगणप्रकाशा।

15....15. मूल, अनात्म (अपि रिक्तस्वभाव) शून्या। भोट, ब्दग् मेद् स्तोङ् (=अनात्म शून्याः)।

16. मूल, अत्यन्त–। भोट, म्मह् बङ् म्थह. मेद् (=अन्तानन्त–)। आद्यन्त– पाठ रखने से भी अर्थसंगति होती है।

न च कारकोऽस्ति तथ नैव च वेदकोऽस्ति
न च कर्म पश्यति कृतं ह्यशुभं वा ॥1452॥

हेतु के प्रत्यय से ये सब धर्म (= पदार्थ) उत्पन्न हुए हैं, ये अन्त-दृष्टि से तथा अनन्त-दृष्टि से रहित, आकाश–जैसे (स्वभाव के) हैं। (यहाँ) न कारक (कर्ता) ही और वैदक (भोक्ता) है, किया हुआ शुभ एवं अशुभ कर्म (केवल है पर वह) द्रष्टा नहीं है।

स्कन्धा प्रतीत्य समुदेति हि दुःखमेवं
संभोन्ति तृष्णसलिलेन विवर्धमाना।
मार्गेण धर्मसमताय विपश्यमाना
अत्यन्तक्षीण=304ख=क्षयधर्मतया निरुद्धाः ॥1453॥

इस प्रकार, स्कन्धों के प्रत्यय से दुःख उत्पन्न होते हैं। (ये) उत्पन्न होते हैं (और) तृष्णा के पानी से बढ़ते हैं। धर्म-समता के मार्ग से देखे जाएँ तो (स्वभाव से) अत्यन्त–क्षीण है, क्षय-धर्म के होने के कारण निरुद्ध (से) हैं।

संकल्प कल्पजनितेन अयोनिसेन
भवते अविद्य नपि संभवकोऽस्य कश्चि।
संस्कार हेतु ददते न च संक्रमोऽस्ति
विज्ञानमुद्भवति संक्रमणं प्रतीत्य ॥1454॥

अयोनिशः–कल्पनाओं से (=ठीक-ठीक न की गई कल्पनाओं से) उपजने वाले संकल्प से अविद्या होती है, इसका कोई (एक) उत्पादक नहीं। (यह अविद्या) संस्कारों को हेतु-भाव प्रदान करती है, (जिनके बिना) संक्रम अर्थात् आवागमन नहीं हो सकता। (संस्कारों के) संक्रमण अर्थात् आवागमन के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

विज्ञान नाम तथ च रूप समुत्थितास्ति
नामे च रूपि समुदेन्ति षडिन्द्रियाणि।
(–420–) षडिन्द्रियैर्निपतितो इति स्पर्श उक्तः
स्पर्शेन तिस्र अनुवर्तति वेदना च ॥1455॥

विज्ञान से नाम तथा रूप का उत्पन्न होता है, नाम और रूप से छह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। छह इन्द्रियों से (विषयों का) संनिपात स्पर्श कहा जाता है। स्पर्श से तीन वेदनाएँ प्रवृत्त होती हैं।

यत्किंचि वेदयितु स तृष्ण उक्ता
तृष्णात सर्व उपजायति दुःखस्कन्धः ।
उपादानतो भवति सर्व भवप्रवृत्तिः
भवप्रत्यया च समुदेति हि जातिरस्य ॥1456॥

जो-कुछ वेदयित (= वेदना या अनुभव) है, वह सब तृष्णा कही जाती है अर्थात् सब प्रकार की तृष्णा के मूल में वेदना रहती है । तृष्णा से सब दुःख-स्कन्ध उत्पन्न होता है (जिसे उपादान कहते हैं) । उपादान से सब भवप्रवृत्ति होती है । भव के प्रत्यय से इस (व्यावहारिक प्राणी) की जाति (=उत्पत्ति)

जातीनिदान जरव्याधिदुःखानि भोन्ति
उपपत्ति नैक-विविधा भवपञ्जलेऽस्मि ।
एवमेष सर्व इति प्रत्ययतो जगस्य
न च आत्म पुद्गलु न संक्रमकोऽस्ति कश्चि ॥1457॥

जाति (= जन्म या उत्पत्ति) के कारण जरा, व्याधि, दुःख, (इस) भव-पञ्जर में नाना प्रकार की (योनियों में) उपपत्ति होती है । इस प्रकार, जगत् का यह सब प्रत्यय से (= कारण सामग्री से) होता है, (वस्तुतः) न कोई आत्मा और पुद्गल (= पुरुष) है, और न कोई संक्रमक अर्थात् (इस शरीर से शरीरान्तर में) आने-जाने वाला जीव है ।

यस्मिन्न कल्पु न विकल्पु[17] तं योनिमाहुः[17]
यद् योनिसो भवति न तत्र अविद्य काचि ।
यस्मिन्निरोधु भवतीह अविद्यतायाः
सर्वे भवाङ्ग क्षयक्षीण क्षयं निरुद्धा ॥1458॥

जहाँ (कोई एक) कल्पना नहीं होती, विविध (-प्रकार की) कल्पना (भी) नहीं होती, उसे योनि (= परमार्थ) कहते हैं, जो योनिशः (=परमार्थतया) होता है, वहाँ कोई अविद्या नहीं होती (तथा अविद्या के न होने के कारण) सब के सब भवाङ्ग क्षय से (= स्वभाव के कारण स्वयं) क्षीण, (क्रम से) क्षीणं होते होते निरुद्ध हो जाते हैं ।

[भवाङ्ग द्वादश हैं—1. अविद्या, 2. संस्कार, 3. विज्ञान, 4. नाम-रूप, 5. षडायतन, 6. स्पर्श, 7. वेदना, 8. तृष्णा, 9. उपादान, 10. भव, 11. जाति, 12. जरा-मरण ।]

17....17. मूल, योनिमाहुः । योनि॰ से पूर्व तं अधिक पढ़ना चाहिए । भोट, दे ळुंल् व्शिन् व्र्जोद् (=तं योनिश आहुः) ।

एवमेष प्रत्ययत बुद्ध तथागतेन
तेन स्वयंभु स्वकनात्मनु व्याकरोति । -305क-
न स्कन्ध-आयतन-धातु वदेमि बुद्धं
नास्त्यत्र हेत्ववगमाद् भवतीह बुद्धः ॥1459॥

इस प्रकार, यह (-सब) प्रत्यय से (होता है ऐसा) तथागत ने बोध किया, है, इसी से अपने-आपको (वे) स्वयंभू कहते हैं। (मैं) स्कन्ध-आयतन धातु का बोध होना नहीं कहता हूँ। हेतु के अवबोध में बिना यहाँ बुद्धभाव नहीं होता है।

भूमिर्न चात्र परतीर्थिक निस्सृतानां
शून्या प्रवादि इह ईदृश धर्मयोगे।
ये पूर्वबुद्धचरिता सुविशुद्धसत्त्वाः
ते शक्नुवन्ति इमि धर्म विजाननाय ॥1460॥

यहाँ पर-तीर्थिकों के निकल-भागने का स्थान नहीं है, (क्योंकि) यहाँ इस प्रकार के धर्मयोग में विवाद शून्य होता है। जो पूर्व के बुद्धों के पास (धर्म-) चर्या करने वाले अत्यन्त-परम शुद्ध प्राणी हैं, वे इस धर्म को जानने में समर्थ होते हैं।

(-421-) एवं हि द्वादशाकारं धर्मचक्रं प्रवर्तितं।
कौण्डिन्येन च आज्ञातं निर्वृत्ता रतनात्रयः ॥1461॥

इस प्रकार, (तथागत ने) द्वादश-प्रकार वाले धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। और कौण्डिन्य ने (उसे) सब प्रकार से जान लिया। (यों) तीन रत्न सिद्ध हो गये।

बुद्धो धर्मश्च संघश्च इत्येतद् रतनत्रयं।
परम्परां-गतः शब्दो यावद् ब्रह्मपुरालयं ॥1462॥

बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन रत्न हैं। (ऐसा) शब्द ब्रह्मलोक तक परम्परया पहुँच गया।

वर्तितं विरजं चक्रं लोकनाथेन तायिना।
उत्पन्ना रतना त्रीणि लोके परमदुर्लभा ॥1463॥

तायी (=स्वपरत्राता) लोकनाथ ने, रजोगुणरहित (धर्म-) चक्र का प्रवर्तन किया है, (और) लोक में परम-दुर्लभ तीन रत्न उपलब्ध हुए हैं।

कौण्डिन्यं प्रथमं कृत्वा पञ्चकाश्चैव भिक्षवः।
षष्टीनां देवकोटीनां धर्मचक्षुर्विशोधितं ॥1464॥

कौण्डिन्य से आरंभ कर, पंच (--भद्रवर्गीय) भिक्षुओं तक का, तथा साठ करोड़ देवताओं का धर्मचक्षु शोध डाला गया है।

अन्ये चाशीतिकोट्यस्तु रूपधातुकदेवताः।
तेषां विशोधितं चक्षुः धर्मचक्रं-प्रवर्तने ॥1465॥

अन्य रूपधातु के (जो) अस्सी करोड़ देवता हैं, उनका धर्मचक्र के प्रवर्तन (के अवसर) पर (धर्म--)चक्षु शोध डाला गया है।

चतुरशीतिसहस्राणि मनुष्याणां समागता।
तेषां विशोधितं चक्षु मुक्ता सर्वेभि दुर्गती ॥1466॥

चौरासी हजार (जो) मनुष्य आये थे, उनका (धर्म--) चक्षु शोध डाला गया (और) वे सब सब दुर्गतियों से मुक्ति पा गये।

(छंद वनमाला अष्टादशाक्षरी)

दश दिशतु अनन्तं बुद्धस्वरो गच्छि तस्मि क्षणे
रुत मधुर मनोज्ञ संश्रूयते चान्तरिक्षे शुभ (–)।
एष दशबलेन शाक्यर्षिणा धर्मचक्रोत्तमं =305ख =
ऋषिपतनमुपेत्य वारणसो वर्तितो नान्यथा ॥1467॥

उस क्षण अन्त--रहित दस दिशाओं में बुद्ध-स्वर पहुँच गया। आकाश में, शुभ, मधुर एवं मनोहारी शब्द सुन पड़ने लगा, जो और कुछ न होकर, यह था कि दशबल के शाक्य-ऋषि ने वाराणसी के पास, ऋषिपतन में पहुँचा कर उत्तम धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है।

दश दिशित यि केचि बुद्धशता सर्वि तूष्णीभुताः
तेष मुनिन ये उपस्थायकाः सर्वि पृच्छी जिनां।
किमिति दशबलेभि धर्मकथा छिन्न श्रुत्वा रुतं
साधु भणत शीघ्र किं कारणं तूष्णीभावेन स्थिताः ॥1468॥

दस दिशाओं में जो भी शत-शत बुद्ध थे, (वे) मौन हो गए। उन मुनियों के जो उपस्थायक (=परिचारक) थे, (उन) सब ने बुद्धों से पूछा कि क्या कारण है, जो शब्द सुनकर दशबलों ने धर्मकथा बन्द कर दी, अच्छा हो शीघ्र कहें कि क्या कारण है (जो आप-सब) मौन हो गये हैं।

पूर्वभवशतेभि वीर्याबलै बोधि समुदानिया
बहव शतसहस्र पश्चान्मुखा बोधिसत्त्वा कृताः।
(-422-) तेन हितकरेण उत्तप्तता प्राप्त बोधिः शिवा
चक्र त्रिपरिवर्त प्रावर्तिता तेन तष्णीभुताः ॥1469॥

पहले के सैकड़ों भवों में, (अपने) वीर्यबल से (=उद्योग पराक्रम से), बोधि को सिद्ध करते-करते बहुत से लाखों बोधि सत्त्वों को पछाड़ कर, उन हितकारी ने उत्साह करते हुए, कल्याणमयी बोधि प्राप्त कर ली है, (तथा) त्रिपरिवर्त (=तेहरे) धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, उसी से (हम-सब) मौन हो गये हैं।

इमु वचन श्रुणित्व तेषां मुनी सत्त्वकोट्य: शता
मेत्रबल जनित्व संप्रस्थिता अग्रबोधिं शिवां।
वयमपि अनुशिक्षि तस्या मुने वीर्यस्थामोद्गतं
क्षिप्र भवेम लोकि लोकोत्तमा धर्मचक्षुर्ददा: ॥1470॥इति॥

उन मुनियों के इस वचन को सुन कर, सैकड़ों कोटि प्राणी मैत्री बल उपजा कर, कल्याणमयी उत्तम बोधि के लिए संप्रस्थान करने लगे अर्थात् बोधि के लिए पारमिताभ्यास करने लगे। (और उन्होंने संकल्प किया कि) हमसब भी उन मुनि के वीर्य और प्रभाव के उत्थान की शिक्षा ग्रहण कर शीघ्र लोक में लोकोत्तम हो धर्मचक्षु प्रदान करने वाले बनें।

(8) धर्मचक्रगुणवर्णना

48. इसके अनंतर, बोधिसत्त्व-महासत्त्व मैत्रेय ने भगवान् से यह कहा—हे भगवन्, दसों दिशाओं की लोकधातुओं से, इक्टठे हुए, ये बोधिसत्त्व-महासत्त्व =306क= भगवान् के पास से धर्मचक्र-प्रवर्तन की विकुर्वणा (=ऋद्धि) के प्रदेश[18] अर्थात् एक देश या एक अंश को सुनना चाहते हैं, अच्छा हो, अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध, भगवान् तथागत देशना करें कि किस प्रकार का धर्मचक्र तथागत ने प्रवर्तन किया था। भगवान् बोले। हे मैत्रेय धर्मचक्र गम्भीर है, क्योंकि उसकी थाह[19] की उपलब्धि नहीं होती। वह चक्र दुर्दश हैं, क्योंकि द्वैत-भाव रहित है। वह चक्र दुरनुबोध है, क्योंकि मनसिकार (=मनन) और अमनसिकार (=अमनन) से परे है। वह चक्र दुर्विज्ञान (=दुर्विज्ञेय) है, क्योंकि वह ज्ञान तथा विज्ञान की समता से युक्त है। वह चक्र अनाविल (=मलिनतारहित) है, क्योंकि वह आवरणों से (चित्त को ढकने वाले दोषों से) रहित तथा विमोक्षों की प्राप्ति से युक्त है। वह चक्र सूक्ष्म है, क्योंकि वह अनुपम और उपन्यास (=वचन द्वारा किए जाने वाले प्रस्ताव) से विहीन है। वह चक्र सार (=वान्) है, क्योंकि वज्र के समान (=हीरे के समान) ज्ञान की उपलब्धि वाला है। वह

---

18. मूल, प्रवेशं भोट, फ्योग्स् (= प्रदेशं)।
19. मूल, ग्राह० । भोट, ग्तिङ् (=गाध०)। गाध से गाह होकर पुन: संस्कृत करने के यत्न में ग्राह हो गया है। समस्तपद यहाँ 'ग्राहनुपलब्धित्वात्' है।

चक्र अभेद्य है, क्योंकि उसमें पूर्व-अन्त[20] की (=पहले किनारे की) उत्पत्ति नहीं है। वह अप्रपञ्च है, क्योंकि वह सब (प्रकार के) प्रपंच (=वाग्व्यापार के उपालम्भों (=उलहनों) से अतीत है। वह चक्र अकोप्य है, क्योंकि वह अत्यन्त निष्ठा का (=परम स्थिरता का) है। वह चक्र सर्वत्रानुग (=सर्वव्यापक) है, क्योंकि वह आकाश-सदृश है।

49. हे मैत्रेय, वह धर्मचक्र=306ख=सब धर्मों की प्रकृति है, (सब धर्मों का) स्वभाव है। (वह) संदर्शन (=अभिव्यक्ति) का तथा विभव (=लय होने) का चक्र है। (वह) अनुत्पाद का, अनुरोध का, असंभव (=अनुद्भव) का चक्र है। (वह) अनालय का चक्र है। (वह) अकल्प (=एक कल्पना) का, विकल्प (विविध प्रकार की कल्पना) का, धर्म-नय के विस्तीर्ण करने का चक्र है। (वह) शून्यता-चक्र है, अनिमित्त-चक्र है, अप्रणिहित-चक्र है (=असंकल्प-चक्र है) अनभिसंस्कार चक्र है (=संस्कारों के अभाव का चक्र है), विवेक-चक्र है, विरागचक्र है, वि- (–423–) रोधक-चक्र है (=निरोध-चक्र है)। (वह) तथागत के द्वारा किए गए अनुबोध का चक्र है, (वह) धर्म-धातु के असंभेद अर्थात् केवलभाव का चक्र है, (वह) भूत-कोटि अर्थात् परमार्थ के अन्त को क्षुब्ध न न करने का चक्र है, (वह) असंग (=अनासक्ति तथा अनावरण (=मोहरूपी आवरण के अभाव) का चक्र है, (वह) प्रतीत्यसमुत्पाद में प्रवेश के द्वारा दोनों (पूर्व एव अपर के) अन्तों की दृष्टियों के अतिक्रमण करने का चक्र है, (वह) अन्त (=किनारों) एवं मध्य से रहित धर्म-धातु के अविकोपन (=अक्षुब्ध-भाव) का चक्र है, (वह) बुद्ध के अनाभोग (=स्वाभाविक) कार्य का अप्रतिप्रश्रब्ध[21] अर्थात् न रुकने वाला चक्र है। वह अप्रवृत्ति और अनभिनिर्वृत्ति[22] का (अर्थात् क्रिया और क्रिया से होने वाली सिद्धि के अभाव का) चक्र है, (वह) अत्यन्त अनुपलब्धि का चक्र है, (वह) अनायूह (=अपरिग्रह) एवं अनिर्यूह (=अपरित्याग) का चक्र है, (वह) अनभिलाप्य (=अनभिधेय) चक्र है, (वह) प्रकृति के यथाभाव (=अविपरीतभाव) का चक्र है, (वह) एक विषय में सब धर्मों की समता के अवतार (=प्रवेश) का =307क= चक्र है, (वह) अक्षण में पड़े

20. मूल पूर्वान्तसंभवत्वात्। भोट, स्ङोन् ग्यि म्थर् म ब्युङ् बहि फ्यिर् (=पूर्वान्त-संभवत्वात्)।

21. मूल, प्रतिप्रश्रब्ध। भोट, र्ग्युन् मि ग्चोद् प हि. (=अप्रतिप्रश्रब्ध, यथारुतं तु संतत्यनुच्छेदक)। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० शब्द अप्रतिप्रश्रब्ध।

22. मूल,–अभिनिर्वृत्ति–। भोट, म्ङोन् पर् ग्रुब् प मेद् प हि. (=अनभिनिर्वृत्ति–)।

प्राणियों को विनीत करने के लिए अप्रत्युदावर्त्य[23] (अर्थात् न पीछे मुड़ने वाले) अधिष्ठान (= संकल्प) का चक्र है, (वह) अद्वय अर्थात् द्वैत-भाव रहित तथा असमारोप[24] अर्थात् आरोप से रहित जो परमार्थ है, उसके नय में प्रवेश करने का चक्र है, (वह) धर्मधातु के समीप पहुँचने का चक्र है।

50. वह चक्र अप्रमेय है, क्योंकि सब प्रमाणों की पहुँच से परे है। वह चक्र असंख्येय है, क्योंकि सब संख्याओं से रहित है। वह चक्र अचिंत्य है, क्योंकि चित्त के पथ से अत्यन्त दूर है। वह चक्र अतुल्य है क्योंकि तुलना से रहित है। वह चक्र अनभिलाप्य (= अनभिधेय) है, क्योंकि सब (प्रकार के) रुत, घोष एवं वचन के पथ से अतीत[25] है। (वह) अप्रमाण, उपमारहित, आकाश के सदृश समान, उच्छेद से हीन, अशाश्वत (= अनित्य), प्रत्यय से प्रवेश योग्य अविरुद्ध अर्थात् निरोध न होने वाला, शान्त अत्यन्त-उपशम वाला, तत्त्व तथा (=वैसा का वैसा रहने वाला) अवितथ (= वितथ अर्थात् मिथ्या न होने वाला) अनन्यथ (= अन्यथा न होने वाला) अनन्यथाभाव (स्वभाव से न बदलने वाला), सब सत्त्वों के रुत (=शब्द) में रवण[26] (=ध्वनन) हो सकने वाला है।

51. वह (धर्मचक्र) मारों का निग्रह है, तीर्थिकों का पराजय है, संसार-विषय से निकालने वाला है, बुद्ध-विषय में प्रवेश कराने वाला है। आर्य-पुद्गलों द्वारा (वह) परिज्ञात[27] है, प्रत्येक बुद्धों द्वारा उसका अवबोध किया गया है, बोधिसत्त्वों ने = 307ख=उसका परिग्रहण किया है, सब बुद्धों ने उसका स्तवन किया है, सब तथागतों के द्वारा वह असंभिन्न (= अभ्रान्त) रूप में समझा गया है। हे मैत्रेय, तथागत ने इस प्रकार के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है।

9 तथागत गुणवर्णना

52. जिसके प्रवर्तन के कारण वे तथागत कहे जाते हैं, सम्यक्-संबद्ध कहे जाते हैं, स्वयंभू कहे जाते हैं, धर्मस्वामी कहे जाते हैं, नायक (=पथप्रदर्शक) कहे

23. मूल,—प्रत्युदावर्त्य—। भोट, **ल्दोग् मेद् प हि.** (= अप्रत्युदावर्त्य, अनिवर्त्य)।

24. मूल—समारोप—। भोट, **स्ग्रो ब्तग्स् मेद् प** (=असमारोप-)।

25. मूल, आनीतं। भोट, **ब्रल् बस्** (=अतीत)। भोट ही सुपाठ है।

26. मूल, रचणं। भोट, **ब्र्जोद् प** (= रवण)। वकार का चकार लिपिकर-प्रमाद है। वैद्य ने आँख मूंद कर इसे चरणं कर दिया है।

27. मूल, परिज्ञानं। इसके स्थान प्रसंगानुकूल पाठ परिज्ञातं होगा। भोट, **योङ् स् सु शेस् प** (= परिज्ञात, परिज्ञान)।

जाते हैं, विनायक (=विनीतकारी) कहे जाते हैं, परिणायक (=पूर्ण नेता) कहे जाते हैं, सार्थवाह कहे जाते हैं, सर्वधर्मवशवर्ती कहे जाते हैं, धर्मेश्वर कहे जाते हैं, धर्मचक्रप्रवर्ती कहे जाते हैं, धर्मदानपति कहे जाते हैं, यज्ञस्वामी कहे जाते हैं, सु–यष्टयज्ञ (उत्तम यज्ञकर्ता) कहे जाते हैं, सिद्धिव्रत कहे जाते हैं, पूर्णाभिप्राय कहे जाते हैं, देशिक कहे जाते हैं, आश्वास कहे जाते हैं, क्षेमंकर कहे जाते हैं शूर कहे जाते हैं रणंजह (=क्लेशपरित्यागी) कहे जाते हैं, विजितसंग्राम (–424–) कहे जाते हैं। (धर्म की) ध्वजा तथा पताका को ऊँचा करने वाले कहे जाते हैं, आलोककर कहे जाते हैं, प्रभाकर कहे जाते हैं, तमोनुद कहे जाते हैं, उल्काधारी (=धर्म की मशाल धारण करने वाले) कहे जाते हैं, महावैद्य-राज कहे जाते हैं, भूतचिकित्सक (=सच्चे चिकित्सा करने वाले) =308क= कहे जाते हैं, महाशल्यहर्ता कहे जाते हैं, वितिमिर ज्ञानदर्शन (अर्थात् जिनके ज्ञान दर्शन में तिमर या धुँधलापन नहीं है ऐसे) कहे जाते हैं।

53. (वे) समन्तदर्शी कहे जाते हैं, समन्तविलोकित कहे जाते हैं, समन्त-चक्षु कहे जाते हैं, समन्तप्रभ कहे जाते हैं, समन्तालोक कहे जाते हैं, समन्तमुख (=सब ओर–द्वार वाले) समन्तप्रभाकर कहे जाते हैं, समन्तचन्द्र कहे जाते हैं, समन्तप्रासादिक कहे जाते हैं।

54. आयूह (=अपरिग्रह) अनिर्यूह (=अपरित्याग) में न ठहरने वाले कहे जाते हैं।

55. (वे) ऊँचे-नीचे न होने से धरणीसम कहे जाते हैं। अप्रकम्प्य होने से शैलेन्द्रसम कहे जाते हैं। सब लोकगुणों से समन्वित होने के कारण सर्वलोक की कहे जाते हैं। सब लोकों से ऊपर उठे होने कारण अनवलोकितमूर्ध (=जिनकी मूर्धा किसी ने नहीं देखी ऐसे) कहे जाते हैं। गंभीर तथा कठिनता से अवगाहन (=आलोड़न-विलोड़न) करने योग्य होने से समुद्र कल्प कहे जाते हैं। सब बोधि-पाक्षिकधर्मों के रत्नों से परिपूर्ण होने ये धर्मरत्नाकर कहे जाते हैं। अनिकेत होने से (=एकस्थान में आसक्त होने से) वायुसम कहे जाते हैं।

56. (वे सब किसी विषय में) आसक्ति-हीन, बन्ध-हीन एवं मोक्ष-हीन चित्त वाले होने से असंगबुद्धि कहे जाते हैं। सब धर्मों को बेधने वाले ज्ञान के होने से अवैवर्तिकधर्म (=पीछे न मुड़ने के स्वभाव वाले) कहे जाते हैं।

57. (वे) दुरासद (कठिनता से समीप पहुँचने के योग्य) होने से, सब प्रकार की मनना (=गर्वभावना) के हीन होने से =308ख= सब क्लेशों के दाह कर डालने के उपयुक्त स्थान होने से तेज.सम कहे जाते हैं। अनाविल-संकल्प (=अमलिन संकल्प) के होने से, निर्मल काय और चित्त के होने से,

पापों को बहा देने वाले होने से अप्सम (= नदीजल के तुल्य) कहे जाते है। ज्ञान के विषय में आसक्ति न होने से, अन्तहीन (पूर्व और अपर कोटियों से हीन) एवं मध्यहीन धर्मधातु विषयक ज्ञान वाले होने से, अभिज्ञाओं (दिव्यज्ञानशक्तियों) के लाभी होने से, आकाशसम कहे हैं।

58. नानाप्रकार के (चित्त की शुद्धावस्था के) आवरण करने वाले (=ढक देने वाले) धर्मों के अत्यन्त प्रहीण होने से अनावरणज्ञानविमोक्षविहारी (अर्थात् आवरण-रहित ज्ञान में तथा विमोक्षों में विहार करने वाले) कहे जाते हैं। आकाश के समान दृष्टिपथ से अत्यन्त दूर पहुँचे हुए होने से सर्वधर्मधातुप्रसृत-काय (= सम्पूर्ण धर्म धातु में व्याप्त काय वाले) कहे जाते हैं। लोक के सब विषयों द्वारा असंक्लिष्ट (= अमलिन) होने से उत्तम-सत्त्व कहे जाते हैं। (वे) असंगसत्त्व (= आसक्तिरहित-प्राणी) कहे जाते हैं। अप्रमाणबुद्धि (= जिनकी बुद्धि माप में न आने वाली है, ऐसे) कहे जाते हैं।

59. (वे) लोकोत्तरधर्म-देशिक कहे जाते हैं। लोकाचार्य कहे जाते हैं। लोकवैद्य कहे जाते हैं। लोकाभ्युद्गत अर्थात् लोक से ऊपर उठे हुए (–425–) कहे जाते हैं। लोकधर्मानुलिप्त (= संसार की माया से अछूते) कहे जाते हैं। लोकनाथ कहे जाते हैं। लोकज्येष्ठ कहे जाते हैं। लोकश्रेष्ठ कहे जाते हैं। लोकेश्वर कहे जाते हैं। लोकमहित (लोकपूजित) कहे जाते हैं। लोकपरायण (=लोक के उत्तम त्राणस्थान) कहे जाते हैं। लोकपारंगत (लोक के परले पार पहुँचे हुए) = 309क= कहे जाते हैं। लोकप्रदीप कहे जाते हैं। लोकोत्तर कहे जाते हैं। लोकगुरु कहे जाते हैं। लोकार्थकर कहे जाते हैं। लोकानुवर्तक कहे जाते हैं। लोकविद् कहे जाते हैं। लोकाधिपतेयप्राप्त (लोक के अधिपत्य अर्थात् प्रभुता को प्राप्त) कहे जाते हैं।

60. (वे) महादक्षिणीय (=महती दक्षिणा के योग्य) कहे जाते हैं। पूजार्ह (पूजा के योग्य) कहे जाते हैं। महापुण्यक्षेत्र (=पुण्य करने के उत्तम क्षेत्र) कहे जाते हैं।

61. (वे) महासत्त्व कहे जाते हैं। अग्रसत्त्व कहे जाते हैं। वरसत्त्व कहे जाते हैं। प्रवरसत्त्व कहे जाते हैं। उत्तमसत्त्व कहे जाते हैं। अनुत्तरसत्त्व कहे जाते हैं। असमसत्त्व कहे जाते हैं। असदृशसत्त्व कहे जाते हैं।

62. (वे) सततसमाहित (= सर्वदा एकाग्र) कहे जाते हैं। सर्वधर्मसमता-विहारी (= सब धर्मों की समत्वबुद्धि में विहार करने वाले) कहे जाते हैं।

63. (वे) मार्गप्राप्त कहे जाते हैं। मार्गदर्शक कहे जाते है। मार्गदेशिक कहे जाते हैं। सुप्रतिष्ठितमार्ग (जिनका मार्ग अत्यन्त प्रतिष्ठित है, ऐसे) कहे जाते हैं।

64. (वे) मारविषयसमतिक्रान्त (अर्थात् मार के राज्य से निकल कर दूर पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। मारमण्डलविध्वंसकर (=मार की सेना को परास्त करने वाले) कहे जाते हैं। (वे) अजर, अमर तथा शीतीभाव (संसार की जलन शीतल होने की अवस्था) वाले हैं।

65. (वे) विगत-तमोन्धकार (=तमोगुण एवं अज्ञान के अन्धकार से रहित) कहे जाते हैं। विगतकंटक (=दुःख रूपी कांटा जिनका निकल गया है, ऐसे) कहे जाते हैं। विगतकांक्ष (=विमतिरहित-सन्देहरहित) कहलाते हैं। विगतक्लेश =309ख= कहे जाते हैं। विनीतसंशय (=दूरीकृतसंशय) कहे जाते हैं। विमति-समुद्घटित (=नष्ट हुई-दुविधा वाले) कहे जाते हैं।

66. (वे) विरक्त कहे जाते हैं। विमुक्त कहे जाते हैं। विशुद्ध कहे जाते हैं। विगतराग कहे जाते हैं। विगतदोष (द्वेषरहित) कहे जाते हैं। विगतमोह कहे जाते हैं।

67. (वे) क्षीणास्रव (=संसारप्रवर्तक मलों से हीन) कहे जाते हैं। निःक्लेश (=क्लेश-रहित) कहे जाते हैं। वशीभूत (=अपने पर वश रखने वाले) कहे जाते हैं। सुविमुक्तचित्त कहे जाते हैं। सुविमुक्तप्रज्ञ कहे जाते हैं। आजानेय (=उत्तम जाति के) कहे जाते हैं। महानाग (=गजेन्द्र) कहे जाते हैं।

68. (वे) कृतकृत्य (=अपना कार्य पूरा कर चुकने वाले) कहे जाते हैं। कृतकरणीय (=अपना कर्तव्य पूरा कर चुकने वाले) कहे जाते हैं। अपहृतभार (=भारहीन) कहे जाते हैं। अनुप्राप्तस्वकार्थ (=अपने प्रयोजन को प्राप्त कर लेने वाले) कहे जाते हैं। परिक्षीणभवसंयोजन (=भव के बन्धनों से रहित) कहे जाते हैं। समताज्ञानविमुक्त (=सब धर्मों की समता के ज्ञान से अत्यन्त मुक्त) कहे जाते हैं। सर्वचेतोवाशपारमिताप्राप्त (=चित्त को सब प्रकार से वश में करने के द्वारा पारमिता अर्थात् संसार के पार के प्राप्ति वाले) कहे (–426–) जाते हैं।

69. (वे) दानपारग कहे जाते हैं। शीलाभ्युद्गत (=शील से ऊपर उठे हुए) कहे जाते हैं। क्षान्तिपारग (=क्षमा की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। वीर्याभ्युद्गत (=वीर्य अर्थात् उद्योग से उन्नत) कहे जाते हैं। ध्यानाभिज्ञाप्राप्त कहे जाते हैं। प्रज्ञापारंगत कहे जाते हैं।

70. (वे) सिद्धप्रणिधान (=पूर्णसंकल्प) कहे जाते हैं। महामैत्रीविहारी कहे जाते हैं। महाकरुणाविहारी कहे जाते हैं। =310क= महामुदिताविहारी कहे जाते हैं। महोपेक्षाविहारी कहे जाते हैं।

71. (वे) सत्त्वसंग्रहप्रयुक्त (= प्राणियों का संग्रह करने में उद्योगी) कहे जाते हैं। अनावरणप्रतिसंवित्प्राप्त (=आवरणरहित प्रतिसंवित् संज्ञक ज्ञान के लाभी) कहे जाते हैं। प्रतिसरणभूत (अर्थात् जिनका अनुसरण किया जा सके, या जिन पर विश्वास किया जा सके ऐसे) कहे जाते हैं। महापुण्य (—वन्त) कहे जाते हैं। महाज्ञानी कहे जाते हैं। स्मृति-मतिगति-बुद्धि-सम्पन्न कहे जाते हैं।

72. (वे) स्मृत्युपस्थानों के, सम्यक्प्रहाणों के, ऋद्धिपादों के, इन्द्रियों के, बलों के, बोध्यंगों के, मार्ग के, शमथ के एवं विपश्यना के, [28]द्वारा आलोक-प्राप्त कहे जाते हैं। उत्तीर्णसंसारार्णव (= संसार रूपी समुद्र से उतरे हुए) कहे जाते हैं। पारग (= पार पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। स्थलगत (= सूखी धरती पर पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। क्षेम प्राप्त कहे जाते हैं। अभयप्राप्त कहे जाते हैं। मर्दितक्लेशकंटक अर्थात् क्लेशरूपी काँटों के मसल चुकने वाले कहे जाते हैं।

73. (वे) पुरुष कहे जाते हैं। महापुरुष कहे जाते हैं। पुरुषसिंह कहे जाते हैं। विगतभयलोमहर्षण (= भय के अवसर पर भी रोमांच रहित) कहे जाते हैं। नाग (= कुञ्जर) कहे जाते हैं।

74. (वे) निर्मल कहे जाते हैं। त्रिमलमलप्रहीण (= काय-वाक्-चित्त के मलों से मलिनता से रहित) कहे जाते हैं। वेदक (= विद्यावन्त) कहे जाते हैं। त्रैविद्यानुप्राप्त (=तीन विद्याओं को पा चुकने वाले) कहे जाते हैं। चारों ओघों से उत्तीर्ण कहे जाते हैं। पारग (= पार पहुँचे हुए) कहे जाते हैं।

75. (वे) क्षत्रिय कहे जाते हैं और ब्राह्मण कहे जाते हैं, यतः वे एकरत्न-छत्रधारी नाम पा चुके हैं, वाहितपाप[29] = 310ख = —धर्म अर्थात् पाप-धर्मों को बहा चुकने का नाम पा चुके हैं। (वे) भिक्षु कहे जाते हैं यतः वे भिन्ना-विद्याण्डकोश (=अविद्या के ब्रह्माण्ड कोश के भेद चुकने वाले) का नाम पा चुके है। (वे) श्रमण कहे जाते हैं, यतः वे अर्थो के आसक्तिमय मार्ग से अत्यन्त दूर पहुँच चुके होने का नाम पा चुके हैं। (वे) श्रोत्रिय कहे जाते हैं, यतः वे क्लशों से निःसृत हो चुके होने का नाम पा चुके हैं।

76. (वे) बलवान् कहे जाते हैं। दशबलधारी कहे जाते हैं। भगवान् कहे जाते हैं। भावितकाय (= काय के प्रति सावधान) कहे जाते हैं। राजातिराज कहे जाते हैं। धर्मराज कहे जाते हैं।

---

28. मूल, —समर्थविदर्शना—। भोट, लम् बङ् शि ग्नस् बङ् ल्हग् म्थोङ् गिस् (=मार्गशमथविपश्यनाभिः)।

29. मूल, —पार—। भोट, स्डिग् प हि. (—पाप)।

77. (वे) उत्तम, अत्युत्तम, धर्मचक्र के प्रवर्तनकारी अनुशासक कहे जाते हैं। अक्षोभ्य (=क्षोभ या अशान्ति के न देने-लेने वाले) धर्म के देशिक (=गुरु) कहे जाते हैं। (वे) सर्वज्ञज्ञानाभिषिक्त (=बुद्ध के ज्ञान का अभिषेक पा चुकने वाले) कहे जाते हैं, आसक्ति रहित महाज्ञान एवं विमल-विमोक्ष[30] के पट्टबद्ध (=पगड़ी बाँधने वाले) कहे जाते हैं, सात बोध्यङ्ग रूपी रत्नों से समन्वित कहे जाते हैं।

78. (वे) सर्वधर्मविशेषप्राप्त अर्थात् धर्म की सब विशेषताओं के लाभी कहे जाते हैं। (–427) (वे) सब आर्य श्रावक-रूपी अमात्यों द्वारा निहारे गए मुख-मण्डल वाले कहे जाते हैं। (वे) बोधिसत्त्व—महासत्त्वरूपी पुत्रों के परिवार वाले कहे जाते हैं। (वे) सुविनीतविनय (=विनय को अत्यन्त अपने अधीन करने वाले) कहे जाते हैं। (वे) सुव्याकृतबोधिसत्त्व (बोधिसत्त्व के विषय में सुन्दर भविष्यवाणी करने वाले) कहे जाते हैं। (वे) वैश्रवण-सदृश कहे जाते हैं। (वे) सात आर्य-धनों के कोश के दान कर चुकने वाले कहे जाते हैं। (वे) त्यक्त-त्याग (=दान दे चुकने वाले) कहे जाते हैं। (वे) सब =सब 311क=सुख-सम्पत्तियों से समन्वित कहे जाते हैं। (वे) सब अभिप्रायों (=मनोरथों) के दाता कहे जाते हैं। (वे) सब लोकों को हित के एवं सुख के अनुपालक कहे जाते हैं।

79. (वे) इन्द्रसम कहे जाते हैं। (वे) ज्ञानवर अर्थात् उत्तम-ज्ञान[31] रूपी वज्र के धारण करनेवाले कहे जाते हैं। (वे) समन्त-नेत्र कहे जाते हैं। (वे) सब धर्मों को आवरण-रहित ज्ञान से देखने वाले कहे जाते हैं। (वे) ज्ञान की समन्त-विकुर्वणा (=अर्थात् सब ओर से ऋद्धि) करने वाले कहे जाते हैं। (वे) विपुल-धर्मनाटक दिखलाने के लिए (लोक के रंगमंच पर) उतरे कहे जाते हैं। (वे) चन्द्रसम कहे जाते हैं। सब जगत् उनके दर्शन से अतृप्त रहता है (=कभी नहीं ऊबता है) इस प्रकार (वे) कहे जाते हैं। सब ओर (फैलने वाली) विपुल एवं विशुद्ध प्रभा वाले (वे) कहे जाते हैं। प्रीति और प्रमोद उपजाने वाली प्रभा वाले (वे) कहे जाते हैं। सब प्राणियों को संमुख दिखाई पड़ सके ऐसे आभास (=प्रकाश) वाले (वे) कहे जाते हैं। सब जगत् चित्त के तथा आशय के (अनुसार जिस धर्म का) भाजन (=पात्र) है, उसके प्रतिभास को पा चुकने वाले (वे) कहे जाते हैं।

---

30. मूल, विरुक्त। भोट, **नंम् पर् ग्रोल ब** (=विमुक्त अथवा विमुक्ति)।

31. मूल, ज्ञानबल। भोट, **येशेस् मृछोग्** (=ज्ञानवर)। वर का बल होना विशेष ध्यान देने योग्य है।

80. (वे) महाव्यूह कहे जाते हैं। शैक्ष तथा अशैक्ष (=अर्हन्त) रूपी नक्षत्र गण के परिवार वाले (वे) कहे जाते हैं। (वे) अदित्य-मंडल के समान कहे जाते हैं। (वे) मोहरूपी अन्धकार के मिटा देने वाले कहे जाते हैं। (वे) महाकेतु-राज कहे जाते हैं। (वे) अप्रमाण (=मापरहित) एवं अनन्त (=अन्त या सीमा रहित) रश्मि वाले कहे जाते हैं। (वे) महान् अवभास (=प्रकाश के) सम्यक् दिखलाने वाले कहे जाते हैं।

81. (वे) सब प्रश्नों के व्याकरण (=व्याख्यान) =311ख= के समय सविस्तर देशना करने के असंमूढ (=न घबड़ाने वाले) कहे जाते हैं। (वे) अविद्या के महान्धकार पूणरूप से ध्वंस करने वाले कहे जाते हैं। (वे) ज्ञान के महान् आलोक से देखने की बुद्धि में निर्विकल्प (=कल्पनाओं अर्थात् दुविधाओं से रहित कहे जाते हैं। (वे) महामैत्री, महाकृपा एवं महाकरुणा से सब जगत् के ऊपर समरश्मि (=समान भाव से किरण) छोड़ने वाले अप्रमाणों[32] के अर्थात् मापे न जा सकने वाले ब्रह्म विहारों के विषय कहे जाते हैं। प्रज्ञापारमिता के गंभीर, दुर्लभ एवं दुर्निरीक्ष्य मण्डल वाले (वे) कहे जाते हैं। (वे) ब्रह्मसम कहे जाते हैं। (वे) अत्यन्त शान्त ईर्यापथ (=रहन-सहन) वाले कहे जाते हैं। सब ईर्यापथ (=रहन-सहन) की चर्या (=आचरण) के विशेष (=गुणों) से (वे) समन्वित कहे जाते हैं। (वे) परम रूप धारी कहे जाते हैं। (वे) असेचनक-दर्शन (=जिनके दर्शन से मन नहीं भरता ऐसे) कहे जाते हैं।

82. (वे) शान्त-इन्द्रिय के कहे जाते हैं। (वे) शान्त-मानस के कहे जाते हैं। (वे) शमथ के संभार (=सामग्री) से परिपूर्ण कहे जाते हैं। (वे) उत्तम-शमथ के लाभी कहे जाते हैं। (वे) परम (=उत्तम) दम एवं शमथ के लाभी कहे जाते हैं। (वे) शमथ एवं विपश्यना के परिपूर्ण संभार (=सामग्री) वाले (—428—) कहे जाते हैं।

83. (वे) गुप्त (=सुरक्षित), जितेन्द्रिय, नाग (=हाथी) के समान अत्यन्त विनीत, सरोवर के समान अत्यन्त स्वच्छ, मलिनतारहित एवं अत्यन्त प्रसन्न (=निर्मल) कहे जाते हैं। सब क्लेशों की वासनाओं एवं आवरणों से अत्यन्त प्रहीण कहे जाते हैं।

84. (वे) महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से समन्वित कहे जाते हैं। (वे) परमपुरुष कहे जाते हैं। (वे) अस्सी अनुव्यञ्जनों के =312क= परिवार

---

32. मूल. प्रमाणविषय। भोट, **युल् छद् मेद् प** (=अप्रमाणविषय)। भोट ही सुपाठ है।

(=समूह) से रचे विचित्र शरीर वाले कहे जाते हैं। (वे) पुरुषर्षभ (=पुरुष-पुंगव) कहे जाते हैं। (वे) दशबलों से समन्वित कहे जाते हैं। (वे) चार वैशारद्यों (=निर्भयताओं) के लाभी, अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि (=पुरुष रूपी अश्वों को विनीत करने वाले सारथि) कहे जाते हैं। (वे) शास्ता (=धर्म के शासक) कहे जाते हैं। (वे) बुद्ध के अट्ठारह आवेणिक (=असाधारण) धर्मों से परिपूर्ण कहे जाते हैं। (वे) काय, वाणी, मन एवं कर्म में अनिन्दित कहे जाते हैं।

85. [33](वे) सर्वाकारवरोपेत (=सब उत्तम आकार या रंग-ढंग से युक्त) कहे जाते हैं, क्योंकि वे अत्यन्त शुद्ध किए गए ज्ञान-दर्शन के मंडल से युक्त हैं।[33] (वे) शून्यताविहारी कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा (धर्म-) समता को (जो शून्य-स्वभाव की है) भली भाँति समझ बूझ लिया है। (वे) अनिमित्तविहारी कहे जाते हैं, क्योंकि परमार्थ का जो सत्य-नय (=यथार्थ-योगायोग) है, उसका उन्होंने प्रतिवेध कर डाला है अर्थात् उसका मर्म जान लिया है। वे अप्रणिहितविहारी कहे जाते हैं, क्योंकि सब प्रस्थानों (=ध्यान एवं समाधि में प्रवेश करने के आलंबनों) से वे अलिप्त हैं। वे अनभिसंस्कारगोचर कहे जाते हैं, क्योंकि उनके सब संस्कार प्रतिप्रश्रब्ध हो चुके हैं—शान्त हो चुके हैं। (वे) भूतवादी कहे जाते हैं, क्योंकि भूतकोटि (=परमार्थ) का जो ज्ञानविषय है, वह उनमें (कभी भी) कुपित (=क्षुब्ध या विचलित) नहीं होता। (वे) अवितथवादी एवं अनन्यथावादी कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) तथता, धर्मधातु तथा आकाश के लक्षण-वाले अलक्षण-ज्ञान[34] के

33....33. मूल, सर्वाकारवरोपेतसुपरिशोधितज्ञानदर्शनमण्डलत्वाच्॰। पठनीय सर्वाकारवरोपेत इत्युच्यते सुपरिशोधितज्ञानदर्शनमण्डत्वात्। भोटानुसार सर्वाकारवरोपेतत्वात् सुपरिशोधितज्ञान(दर्शन)मण्डल इत्युच्यते (**र्नम् प थम्स् चद् क्यि म्छोग् बङ् ल्दन् प हि. फ्यिर् शिन् तु योङ्स् सु स्ब्यङ्स् प हि. येशेस् क्यि द्क्यिल् मङ्ह्. शेस् ब्य ब ह्.**)। भोटानुवाद भी भ्रामक है। किन्तु वाक्यसमाप्ति ठीक स्थान पर की गई है। इसका अगले वाक्यांश शून्यताविहारीत्युच्यते के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इत्युच्यते के अनन्तर विरामसूचक दण्ड ॰आत् (पंचम्यन्त पर) होना चाहिए और यही बहुत दूर तक स्थामप्राप्त (लेफमन् संस्करण के 433वें पृष्ठ की प्रथम पंक्ति) के अनन्तरवर्ती द्वितीय पंक्ति के ॰आत् तक करना होगा।

34. मूल, अलक्षण—। भोट, **शेस् प हि.** (=ज्ञान--)। भोट में अलक्षण तथा मूल में ज्ञान शब्द नहीं हैं।

विषय हैं। (वे) अरण्यधर्म-सुप्रतिलब्ध (=क्लेश-रहित धर्मों के भलीभाँति पा चुकने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि माया के समान, मृगमरीचिका के समान, स्वप्न के समान =312ख= जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान, प्रतिध्वनि के समान, प्रतिभास के समान (मान कर) सब धर्मों में विहरते हैं। (वे) अमोघ-दर्शनश्रवण (=अर्थात् जिनका दर्शन करना तथा जिनसे धर्म सुनना कभी निष्फल नहीं होता, ऐसे) कहे जाते हैं, क्योंकि (उस दर्शन एवं श्रवण द्वारा) परिनिर्वाणहेतु (–भूत बोध) का जन्म होता है। (वे) अमोघपदविक्रमी (=सफल पद-पराक्रम वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि प्राणियों को विनय सिखाने में उन्होंने पराक्रम के साथ पद (=क़दम) बढ़ाए हैं। (वे) उत्क्षिप्तपरिखेद (=सब प्रकार के खेद को उछाल कर फेंक देने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने अविद्या और भवतृष्णा (=संसार में उत्पन्न होने की तृष्णा) को पूर्णरूप से छिन्न-भिन्न कर डाला है। (वे) स्थापितसंक्रम (=आवागमन के रोक देने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे नैर्याणिक-प्रतिपदा अर्थात् संसार से पार होने के मार्ग के उत्तम उपदेशक हैं। (वे) निर्जितमारक्लेशप्रत्यर्थिक (अर्थात् मार तथा क्लेश रूपी शत्रुओं के परास्त करने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि मार-विषयक सब (प्रकार के) चरित्रों में वे अलिप्त हैं। (वे) उत्तीर्णकामपङ्क (=कामरूपी कीचड़ से उतरे हुए) कहे जाते हैं, क्यों कि वे कामधातु को पूर्ण रूप से लाँघ चुके हैं। (वे) पातितमानध्वज (=मान की ध्वजा को गिरा देने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे रूपधातु को पूर्ण रूप से लाँघ चुके हैं। (वे) उच्छ्रितप्रज्ञाध्वज (=प्रज्ञा के झंडे को ऊँचा करने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे आरूप्यधातु को पूर्णरूप से लाँघ चुके हैं। (वे) सर्वलोकविषयसमतिक्रान्त (=सब लोकों के विषयों को लाँघ चुकने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे धर्म-काय एवं ज्ञान-शरीर के हैं। (वे) महाद्रुम (=महावृक्ष) कहे जाते हैं, क्यों कि वे अनन्त गुणरत्न तथा ज्ञान के फूलों और (–429–) विमुक्ति के फलों से अत्यन्त सम्पन्न हैं। वे उदुम्बरपुष्पसदृश (=गूलर के फूल की उपमा वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि उनका प्रादुर्भाव और दर्शन =313क= दुर्लभ है। (वे) चिन्तामणि (नामक) रत्न रूपी मणियों के राजा के समान कहे जाते हैं, क्योंकि वे न्यायानुकूल निर्वाण के अभिप्राय की उत्तमता से परिपूर्ण करते हैं।

10 तथागत लक्षणवर्णना

86. (वे) सुप्रतिष्ठितपाद (=धरती पर सुन्दरता से बैठने वाले चरण के) कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने चिर-काल तक त्याग, शील, तप, व्रत एवं ब्रह्मचर्य को दृढ़ता से ग्रहण किया है, विचलित नहीं हुए हैं, डिगे नहीं हैं।

87. पैरों के तलवों में स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, सहस्र-अर वाले चक्र के अंकन से (वे) विचित्र कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने चिर-काल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, दक्षिणीय (= पूजनीय) एवं धार्मिक लोगों की रक्षा तथा परिपालना की है और शरणागतों को नहीं त्यागा है।

88. (वे) आयतपार्ष्णि (=विस्तृत एड़ियों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिर-काल तक प्राणातिपात (= जीववध) से विरत रहे हैं।

89. (वे) दीर्घाङ्गुलि (=लंबी उँगलियों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिर-काल तक प्राणातिपात (=जीववध से) विरत रहते हुए, अन्य प्राणियों को भलीभाँति अपनाते रहे है।

90. (वे) बहुजनपरित्राता कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने चिर-काल प्राणातिपातविरति के (=जीवहिंसा न करने के) गुणों की प्रशंसा बखानी है।

91. (वे) मृदुतरुणहस्तपाद (=कोमल एवं सुकुमार हाथ-पैरों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने) चिर-काल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, = 313ख = एवं दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों के उपस्थान (=पूजन), परिचर्या, स्नान, अनुलेपन, घृत तथा तेल के अभ्यङ्ग (=मर्दन) करने में अपने हाथों एवं शरीर द्वारा सेवा करते हुए (अपने को) थकाया है।

92. (वे) जालाङ्गुलिहस्तपाद (=जाल से बँधी हुई अर्थात् बीच में छेदन दिखाई पड़ने वाली उँगलियों से युक्त हाथ-पैरों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (उन्होंने) दान, प्रियवचन, अर्थक्रिया तथा समानार्थता रूपी (चार) संग्रह वस्तुओं के जाल से सत्त्वसंग्रह में (अर्थात् प्राणियों को संगठित करने में) कुशलता की उत्तम शिक्षा पाई है।

93. (वे) उत्सङ्गपाद (=मध्य में उठे हुए तलवों के पैरों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (उन्होंने) चिर-काल तक विशेषता में बढ़-बढ़ कर अधिकाधिक कुशल-मूल का उत्तम आलम्बन ग्रहण किया है।

94. (वे) ऊर्ध्वांगदक्षिणावर्तरोमकूप (=अंगों के ऊपर दाहिने ओर से मुड़े हुए रोम जिनमें हैं, ऐसे रोमकूपों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिरकाल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, दक्षिणीय (= पूजनीय) एवं तथागतचैत्य की प्रदक्षिणा करने में, धर्मश्रवण करने पर, चित्रीकार (=आदरसत्कार) से स्वयं पुलकित होने में तथा दूसरे प्राणियों को पुलकायमान करने में तथा धर्म की देशना करने में लगे रहे हैं।

95. (वे) एणेयजङ्घ (=ऐणेय नामक मृग की पिंडलियों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिर-काल तक सत्कार करके धर्म के सुनने में, ग्रहण करने में,

धारण (=स्मरण) करने में, बाँचने में, बोध कराने में, अर्थों और पदों के निश्चय करने की सिद्धि में कुशलता (=पंडितता) के द्वारा जरा, व्याधि एवं मरण के मुख में जाने वाले प्राणियों को शरण दिया है, (और) सत्कार करके =314क=धर्म–देशना करने में अपराभव वाली (=हार न खाने वाली) बुद्धि के रहे हैं ।

96. (वे) कोशोपगतवस्तिगुह्य (=अश्वदि की भाँति कोश या थैली में विराजित गुप्त-अंग के) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (उन्होंने) श्रमणों-ब्राह्मणों तथा दसरे ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य (पालन करने) में सहायक सब परिष्कारों (=उपकरणों) को दिया है, नंगों को वस्त्र[35] बाँटे हैं, परस्त्री-गमन न करने का जो ब्रह्मचर्य है, उसके गुणों की प्रशंसा (–430–) भली भाँति प्रकाशित की है, ह्री (=आत्मलज्जा) तथा अपत्रपा (= लोकलज्जा) की परि-पालना करने में दृढ़व्रती रहे हैं ।

97. (वे) प्रलम्बबाहु (=लंबी बाहों के) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिर-काल तक हाथों के संयमी, पैरों के संयमी, प्राणियों की अविहेठा अर्थात् अहिंसा में उद्योग शील तथा मैत्री के साथ किये जाने वाले काय-कर्मों, वाक्-कर्मों एवं मनस्कर्मों से समन्वित रहे हैं ।

98. (वे) न्यग्रोधपरिमण्डल (=वट वृक्ष के समान उचित लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के अनुपात वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (उन्होंने) चिर-काल तक भोजन की मात्रा को जान कर अल्पाहरी, उदार-भोजन (=स्थूलाहार) के प्रति संयमी, रोगियों को भैषज्य देने वाले, हीन जनों का अपमान न करने वाले, अनाथों का बिगाड़ न करने वाले, तथागत के चैत्यों का जीर्णोद्धार करने वाले, स्तूपों के प्रतिष्ठापक तथा भय से पीड़ितों को अभयप्रदान करने वाले रहे हैं ।

99. (वे) मृदुतरुण सूक्ष्मच्छवि (=कोमल, सुकुमार एवं पतली त्वचा के) कहे जाते हैं, क्योंकि (उन्होंने) चिर-काल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, =314ख= गुरु एवं दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों को स्नान, अनुलेपन, घृत एवं तैल का अभ्यङ्ग, शीत-काल में ऊष्ण-जल, ऊष्ण-काल में शीत-जल, छायातप (=धूप छाँह), ऋतु के अनुकूल सुखोपभोग सामग्री के देने वाले, कोमल, नरम, रूई के स्पर्श के समान सुकुमार वस्त्र, आस्तरण (=बिछावन) शयनासन (=सेज-मञ्चिका) प्रदान करने वाले, तथागत-चैत्यों पर सुगन्धित तेल के छिड़काव, सूक्ष्म कौशेय के ध्वज-पताका-सूत्रों के समर्पण करने वाले रहे हैं ।

---

35. मूल, वल—। भोट, गोस् (=चैल, वस्त्र)। वल वस्तुतः चैल का ही लिपिभ्रंश है ।

100. (वे) सुवर्णच्छवि (=सोने जैसी गोरी त्वचा वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) सब प्राणियों के प्रति आघात न करने वाले, मैत्री-भावना के योग वाले, क्षमा एवं सौरत्य (=कृपालुता) के द्वारा अन्य प्राणियों को (धर्म के प्रति) समादापन (=प्रोत्साहन) देने वाले, वैर एवं व्यापाद (=हत्या) न करने के गुणों की प्रशंसा करने वाले, तथागत चैत्यों एवं तथागतप्रतिमाओं का सुवर्ण से मंडन करने वाले, (उन पर) सुवर्ण के पुष्प तथा सुवर्ण का चूर्ण बरसाने वाले, (उन्हें) सुवर्ण-वर्ण के कौशेयनिर्मित पताकाओं एवं ध्वजों द्वारा विभूषित करने वाले, उन पर सुवर्ण-पात्र एवं सुवर्ण-वस्त्र चढ़ाने वाले रहे हैं।

101. (वे) एकैकनिचितरोमकूप (= प्रत्येक रोमकूप से निकले हुए एक-एक रोमवाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिर-काल तक पंडितों के पास पहुँच कर, क्या कुशल है—क्या अकुशल है, इसे सब प्रकार से पूछते रहे हैं, सावद्य (=निन्दार्ह) एवं अनवद्य (=प्रशंसार्ह), सेव्य = 315क = एवं असेव्य, हीन, मध्यम एवं प्रणीत (=उत्तम) धर्मों के विषय में प्रश्न करते रहे हैं, अर्थ की मीमांसा तथा परितुलना (=मन से माप-जोख कर विचारणा) करने में मोह रहित अर्थात् सन्देह एवं भ्रम से हीन रहे हैं, तथागतचैत्यों पर लगे कीड़ों-मकोड़ों के घरों और जालों[36] को, [37]सड़े-गले बासी फूलों को[37], नाना प्रकार की घास-फूस को, रेत-बालू को हटाने में लगे रहे हैं।

102. (वे) सप्तोसद (= सात बित्ते की लम्बाई वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता, ज्येष्ठ (=स्वामी), श्रेष्ठ (सज्जन) पूज्य, श्रमण-ब्राह्मण, दीन-दरिद्र, भिखारियों एवं अतिथियों का सत्कार करके उन्हें इच्छानुसार अन्न-पान, शय्या, वस्त्र, निवास-स्थान, प्रदीप, जीविका के साथ (आवश्यक) परिष्कारों (= उपकरणों) को सम्पादन करके प्रदान करने वाले, तथा महाजनोपभोग के लिए अर्थात् बहुसंख्यक जनता के उपयोग के लिए शीत-जल से पूर्ण कूप-पुष्करिणियाँ बनावा-देते रहे हैं।

103. (वे) सिंहपूर्वार्धकाय (=सिंह के समान विशाल कटि से ऊपर के भाग वाले शरीर के) कहे जाते हैं, क्योंकि (उन्होंने) चिर-काल तक माता-पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, दक्षिणीय (= पूजनीय) लोगों को नमस्कार, प्रणाम, अभिवादन, अभय-प्रदान करने के (-431-) दुर्बलों को अपमानित न करने के,

---

36. मूल, जलि। भोट, द्र-ग्यं (= जाल, जालो)।
37. मूल, यानिर्माल्य। भोट, मे तोग् लिङ् प (यापित निर्माल्य)।

शरणागतों के त्याग न करने के दृढ़ता से ग्रहण किए हुए व्रत को (कभी नहीं) छोड़ा है।

104. (वे) चितान्तरांस (= बीच में भरे-पुरे दोनों कन्धों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) =315ख= अपने दोषों पर परितुलना (=मन से माप-जोख कर विचारणा) करते रहे हैं, पर-प्रस्खलित[38] (दूसरे की भूल) तथा परच्छिद्र (= दूसरे की कमी) का दोष (दुनिया के सामने उघाड़ कर) नहीं दिखलाते रहे हैं, परभेदकारी विवादमूल (=कलह-निदान) की मंत्रणा (गुप्त बात-चीत) का सब प्रकार से त्याग करते रहे हैं, मन्त्रणा (=गुप्त बात-चीत) का सुप्रतिनिःसर्ग (=अत्यन्तपरित्याग) करते रहे हैं, वाक्कर्मान्त (=वाणी के कर्मों) की अत्यन्त सब ओर से रक्षा करते रहे हैं।

105. (वे) सुवृत्तस्कन्ध (=सुन्दर गोल-गोल कन्धों वालें हैं), क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु एवं दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों के प्रति प्रत्युत्थान के (=आदर से उठ-खड़े होने के) प्रत्युद्गमन (=बढ़-कर स्वागत करने के) अभिवादन के (= नमस्कार-निवेदन करने के) मनोरथ वाले रहे[39] हैं, सब शास्त्रों में वैशारद्य से (=निर्भयभाव से) विवाद की कामना वाले प्राणियों का निग्रह कर, स्व-धर्म में विनीत करने के लिए, अनुलोमन (=अनुकूलभाव) से भली भाँति प्रवृत्त होते रहे हैं, राजाओं और अमात्यों को कुशल-धर्मपथ में प्रतिष्ठापन करने में तथा उसकी उत्तम भावना में अर्थात् उत्तमता से हृदयंगम कराने में भली भाँति लगे रहे हैं, तथागत के शासन को सब प्रकार से ग्रहण करने में, उत्तमता से धारण करने में, सब कुशल-चर्या के समादान (=पुण्य व्रतग्रहण) करने में पूर्वंगम (=प्रथम चलने वाले—अगुआ) रहे हैं।

106. (वे) सिंहहनु (=सिंह की ठुड्डी जैसी ठुड्डी वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर काल तक (वे) याचकों को इच्छानुसार सब वस्तुओं को दान दूँगा—ऐसे प्रियवचन बोलते रहे हैं, पास में (याचना के निमित्त) आने वालों का (उन्होंने) अपमान नहीं किया है, (उन्हें लज्जित करके) उनका मुँह लटकने नहीं दिया है, सबका मनोरथ परिपूर्ण करने के लिए दान-देने के =316क= दृढ-समादान (=दृढ़ता से ग्रहण किए गए व्रत) को (कभी) नहीं छोड़ा है।

---

38. मूल, प्रस्खलित। भोट, गशन् गि्य ह् खुल् प (=परप्रस्खलित)।

39. मूल, कामानां च। पठनीय, कामत्वाच् च। भोट में इस पद का अनुवाद नहीं है।

107. (वे) चत्वारिंशत्-समदन्त (= संख्या में चालीस बराबर दाँतों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (उन्होंने) पिशुनवचन (= चुग़ल-ख़ोरी) का सब तरह से त्याग किया है, फूट डालने की गुप्त-बातचीत को (कभी) नहीं अपनाया है, संधि-सामग्री अर्थात् मेल-जोल और एकता के प्रति रुचि रखते रहे हैं, समग्र (= एक हुओं के विषय में भेदाचिन्तन[40] के रहे हैं, अर्थात् भेद (डालने की बात को कभी) नहीं चित्त से सोचा है, पिशुनवचन (= चुग़ल-ख़ोरी) की निन्दा करने में एवं संधिसामग्री अर्थात् मेल-जोल और एकता के गुणों को प्रकाशित करने में परिश्रम से जुटे रहे हैं।

108. (वे) सुशुक्लदन्त (= अत्यन्त श्वेत दाँतों के) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) कृष्ण-पक्ष का परित्याग करते रहे हैं, शुक्ल-पक्ष को पुण्य से बढ़ाते रहे हैं, कृष्ण-पक्ष एवं कृष्ण-विपाक का त्याग करते रहे हैं, शुक्ल-कर्म एवं शुक्ल-विपाक का सम्यक् वर्णन करते रहे हैं, क्षीर-भोजन और शुक्ल-वस्त्र दान में देते रहे हैं, तथागत के चैत्यों पर सफ़ेदी करवाते रहे हैं, क्षीर-मिश्र (अन्न-पान) का सम्यक् दान करते रहे हैं, सुमना, वार्षिकी एवं धानुष्कारी एवं (के पुष्पों) के मालाओं की लड़ियों का और फूलों के हारों का तथा शुक्लवर्ण के पुष्पों का उपहार देते रहे हैं।

109. (वे) अविरलदन्त (= छिद्ररहित दाँतों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि (वे) चिर-काल तक हँसी-ठट्ठे[41] का पूरे तौर पर त्याग करते रहे हैं, आनन्द (-प्रद-हास) करते रहे हैं, वचन की रक्षा करते रहे हैं, आनन्दकारी-वचन बोलने वाले रहे हैं, परस्खलित (= दूसरे की भूल) तथा परच्छिद्र (दूसरे की कमी) को न खोजने वाले रहे हैं, सब प्राणियों के साथ = 316ख = समान-चित्त (के भाव) से बरतते रहे हैं, समानता का व्यवहार करते रहे हैं, सम (-भाव)

40....40. मूल, व्रेदाचित्तेन। पठनीय, भेदाचिन्तन। भोट, द्ब्ये बर् मि सेम्स् प (= भेद-अचित्त अथवा अचिन्तन। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृ० 233 पर चेदाचित्त शब्द। प्रो एड्जर्टन ने इसके लिए यत्न नहीं किया है, तथा इतना कहकर छोड़ दिया है कि वेलर ने इस दूषित पाठ पर ध्यान नहीं दिया है।

41. मूल, हास्योच्चट्यन। इसमें उच्चट्यन प्रो० एड्जेर्टन् के अनुसार उच्च-ग्घन का अपरूप है। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 118 पर उच्चट्य शब्द। संस्कृत के उच्चमन (= मन की हँसी) इसका शायद सम्बन्ध हो। भोट, हफ्य ब वड् .ह् थिङ् ब (=निन्दोपहास)।

से धर्म देशना करते हैं, दृढ़ता से उन्हें अपना कर (उन्होंने कभी) परित्याग नहीं किया है।

110. (वे) रसरसाग्रवन्त (= बड़े ही रसीले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक उन्होंने सब सत्त्वों (= प्राणियों) को विहेठा (=पीड़ा) नहीं दी है, (उनकी) हिंसा नहीं की है, नाना व्याधियों की छूत लगे (लोगों) को पथ्य-भैषज्य देते रहे हैं, सब रस के अभिलाषियों को सब रस प्रदान करने में थकित न होने वाले रहे हैं।

111. (–432–) वे ब्रह्मस्वर (=ब्रह्मा के स्वर जैसे स्वर वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक वे, असत्य-भाषण से, कठोर-भाषण से, कर्कश-भाषण से, शठता के भाषण से, कटु-भाषण से, दूसरों के (मन में) लग जाने वाले भाषण से, अप्रिय-भाषण से, दूसरों के मर्म को छेदने वाले भाषण से विरत रहे हैं, मैत्री तथा करुणा के संयोग से मोद और प्रमोद करने वाली स्नेह से भरी, मीठी, चिकनी हृदय में बैठने वाली, सब इन्द्रियों में आनन्द भरने वाली सम्यक् वाणी का सम्यक् प्रयोग करते रहे हैं।

112. (वे) अभिनील-नेत्र (= अत्यन्त काले नेत्रों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता के तुल्य सब प्राणियों को क्रोध-रहित चक्षु से देखने वाले रहे हैं, इकलौते बेटे के समान याचक को मैत्री तथा करुणा पूर्वक निहार कर अपमानित न करने वाले रहे हैं, प्रसन्नता से (= श्रद्धा से) भरी इन्द्रियों द्वारा बिना पलक मारे = 317क = तथागत के चैत्यों का भली भाँति दर्शन करते रहे हैं, दूसरे प्राणियों को तथागत का दर्शन कराने के व्रत को दृढ़ता से धारण करते रहे हैं।

113. (वे) गोपक्ष्मनेत्र (= वृषभ की पलकों जैसी पलकों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) हीन-मति का परित्याग करने वाले रहे हैं, उदार तथा विपुल अधिमुक्ति (=रुचि) की परिपूर्णता करते रहे हैं, अनुत्तर धर्म के छन्द (अर्थात् अभिलाष) में प्राणियों को प्रेरित करने वाले रहे हैं, टेढ़ी भौंहों का मुँह न बनाकर, हँसते चेहरे से सब कल्याण-मित्रों के पास पहुँचने, सामने जाने एवं पहले पहुँचने के द्वारा सब (प्रकार के) कुशलों की वृद्धि करने में पीछे न मुड़ने वाले रहे हैं।

114. (वे) प्रभूतजिह्व (= वे लम्बी जिह्वावाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) वाणी के सब दोषों को त्यागते रहे हैं, सब श्रावकों (=अर्हन्तों) प्रत्येक-बुद्धों एवं धर्मभाणकों (= धर्मवचन-वाचकों) के प्रमाण (= माप) में आने वाले गुणों की प्रशंसा भली भाँति प्रकाशित करते रहे हैं, तथागत के सूत्रों

का लेखन, वाचन, पठन और विज्ञापन (=प्रवचन) करते रहे हैं, और उन धर्मों के अर्थों का तथा पद-प्रभेदों का दूसरे प्राणियों को बोध-प्राप्त कराने में कुशल रहे हैं।

115. (वे) उष्णीषशीर्ष (=पगड़ी के समान उभड़े हुए शिर वाले) तथा अनवलोकितमूर्ध (=तेज के कारण दूसरों द्वारा न निहारे जा सकने वाले शिर के) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता, श्रमण =317ख= ब्राह्मण, गुरु एवं दाक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों के चरण-तलों में शिर से प्रणाम करते रहे हैं, प्रव्रजितों को नमस्कार एवं अभिवादन, केशमुण्डन, शिर पर सुगन्धित तैल का भली भाँति सेवन (कर सत्कार) करते रहे हैं, सब याचकों को चूर्ण, मालागुणों (=मालाओं की लड़ियों), एवं शिरोभूषणों का दान करते रहे हैं।

317. (वे) भ्रुओं के मध्य में उत्तमता से उत्पन्न हुई, दाहिनी ओर से घूमी हुई, तपे हुए-विशुद्ध-वर्ण के प्रकाश को उपजाने वाली ऊर्णा से युक्त कहे जाते हैं, क्योंकि दीर्घ-काल तक (उन्होंने) निरर्गल (—आदि) सब यज्ञों का यजन किया है, (उसमें दूसरों को) प्रेरित किया है, सब कल्याण-मित्रों के द्वारा किए गए अनुशासन में (वे) अनुद्धर (=अविरोधी[42]) रहे हैं, धर्मभाणकों के दूत रूप में भेजे जाने पर दिशाओं में आने-जाने से थकित नहीं हुए हैं, सब बुद्धों, बोधिसत्त्वों, प्रत्येक बुद्धों, आर्यश्रावकों, धर्मभाणकों, माता-पिता-गुरुओं और दक्षिणीयों (=पूजनीयों) के लिए अंधे करने वाला अँधेरा हटाने के तेल और घी के प्रदीप और मशालें तथा नाना (प्रकार) के सुगन्धि तेलों के प्रदीप जलाते रहे हैं, सब उत्तम आकारों से युक्त, (देखने में) श्रद्धा उपजाने वाली, तथागत की प्रतिमाएँ बनवाते रहे हैं, (और उनमें दूध के समान आभास वाले रत्न के [43]उत्कीर्ण-ऊर्णा कोश[44] द्वारा भली भाँति मंडन करवाते रहे हैं, दूसरे प्राणियों को बोधिचित्त के अभिमुख करने के लिए अर्थात् उनमें बोधिचित्त जागृत करने के लिए उचित (–433–) कुशल-संभार (=पुण्य-सामग्री) की विशेषताओं से युक्त रहते रहे हैं।

---

42. मूल अनुद्धर=अविरोधी । तुलनीय भोट, ह्गल् बर् मि बृयेद् प ।

43....43. मूल, उत्तीर्णकोश । पठनीय, उत्कीर्ण-ऊर्णाकोश । भोट, म्ज़ोद् स्पुस् (=ऊर्णाकोश) । उत्तीर्ण शब्द उत्कीर्ण का अपभ्रंश है ।

44. इस वाक्य से पूर्व महानारायण इत्युच्यते यह पाठ मूल में है, वह भोट में नहीं है । यह पाठ यहाँ निरर्थक एवं असंगत है ।

(11) तथागतबलवर्णना

117. =318क=महानारायण के जैसे बल से युक्त होने के कारण वे महास्थामप्राप्त अर्थात् महानुभाव प्राप्त कहे जाते हैं। सैकड़ों-कोटि मारों को परास्त करने वाले बल से युक्त होने के कारण सर्वपरप्रमर्दक कहे जाते हैं। तथागत ने दस बलों से युक्त होने के कारण वे दशतथागतबलोपेत कहे जाते हैं।

118. स्थान एवं अस्थान अर्थात् अवसर एवं अनवसर के ज्ञान की कुशलता से हीन और प्रादेशिक (=आंशिक) यान का त्याग कर महायान के गुणों की सिद्धि करने के बल से युक्त होने के कारण, बल के प्रयोग में अतृप्त होने के कारण वे स्थानास्थानज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

119 अतीत के, अनागत के तथा वर्तमान के सब कर्मों के स्वीकार करने में जो हेतु की दृष्टि से ज्ञान है तथा जो उसके फल की दृष्टि से ज्ञान है, उस ज्ञान के बल से युक्त होने के कारण, (वे) अतीतानागतप्रत्युत्पन्न-सर्व-कर्मसमादान-हेतुविपाकज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

120. सब प्राणियों में इन्द्रियों की तथा वीर्य (=उद्योग) की जो विभिन्न मात्रा (=परिमाण) होती है, उस (मात्रा) के जानने का जो बल है, उससे युक्त होने के =318ख= कारण, वे सर्वसत्त्वेन्द्रियवीर्य-विमात्रता-ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

121. अनेक धातुओं के तथा नानाधातुओं के लोकों में प्रवेश करने के ज्ञान का जो बल है, उससे युक्त होने के कारण, वे अनेकधातु-नानाधातुलोकप्रवेश-ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

122. (प्राणियों की) अनेक-रुचियों को, नानारुचियों को, अशेषरुचियों को तथा विमुक्तियों के ज्ञान का जो बल है, उससे युक्त होने के कारण वे अनेकाधिमुक्ति-नानाधिमुक्ति-सर्वनिरवशेषाधिमुक्ति-विमुक्ति[45]-ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

123. सब स्थानों में जाने का जो मार्ग है, उसके ज्ञान के बल से युक्त होने के कारण, वे सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

124. सब (प्रकार के) ध्यानों में, विमोक्षों में, समाधियों में, समापत्तियों (=योग-प्राप्तियों), संक्लेशों (=मलिनताओं) में तथा व्यवदानों (=निर्मलताओं) में अलग-अलग विश्लेषण करके जानने का जो बल है, उससे युक्त होने के कारण, वे सर्वध्यानविमोक्ष-समाधि-समापत्ति-संक्लेश-व्यवदान-व्यवस्थापन-ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

---

45. भोट. र्नम् पर् ग्रोल ब (विमुक्ति)। यह मूल में नहीं है।

125. अनेक प्रकार के जो पूर्व (--जन्म) में निवास (के स्थान) हैं, उनके स्मरण करने का जो आसक्ति-रहित ज्ञान है, उसके बल से युक्त होने के कारण, वे अनेकविधपूर्वनिवासानुस्मृत्यसंगज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

126. =319क= सब के सब, अशेष, रूपों में आवरणहीन-दर्शन करने वाली जो दिव्यदृष्टि है, उसके ज्ञान करने का जो बल है, उसमें युक्त होने के कारण सर्वरूपानावरणज्ञानदर्शन-दिव्यचक्षुर्-ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

127. सब वासनाओं में जो अनुसंधि है, अर्थात् सन्तान परम्परा से पूर्व—पूर्व वासना क्षणों को उत्तर-उत्तर वासना क्षणों में प्रवेश करना है, उसकी गति-विधिवश जो सब के सब अशेष आस्रव (=मलिन धर्म) हैं, उनके क्षय करने का जो ज्ञान है, उस (ज्ञान) के बल से युक्त होने के कारण, वे सर्ववासनानुसंधिगत-निरवशेषसर्वास्रव-क्षयज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।★

12 तथागत वैशारद्यवर्णना

128. सब के सब अशेष धर्मों का मैं उत्तम बोध (करूँगा) तथा इस प्रतिज्ञा-पर आरूढ़ रहते हुए, देवताओं सहित इस लोक में अनभिभूत (=अपरास्त) रहूँगा—इस प्रतिज्ञा में निर्भीकता प्राप्त हुए होने के कारण, वे निरवशेषसर्व-धर्माभि (--434--) संबुद्धप्रतिज्ञारोहण-सदैव (के) लोके-ऽनभिभूतप्रतिज्ञावैशारद्य-प्राप्त कहे जाते हैं।

129. सब (प्रकार) के मलिनता वाले तथा विघ्न-बाधा पहुँचाने वाले धर्मों को निर्वाण से बाधित (करूँगा) तथा इस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, देवताओं सहित इस लोक में, अनाच्छेद्य (=अटूट) (रहूँगा)—इस प्रतिज्ञा में निर्भीकता प्राप्त हुए=319ख=होने के कारण वे सर्वसांक्लेशिक-आन्तरायिकधर्म-अन्तरा-यकरणा-निर्वाणस्येति तत्प्रतिज्ञारोहण-सदेवके लोके-अनाच्छेद्य-प्रतिज्ञावैशारद्यप्राप्त कहे जाते हैं।

130. संसार से बाहर करने वाले मार्गपर चलते हुए, निर्वाण के प्रति (लोगों में) अनुराग उत्पन्न करूँगा तथा इस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, देव-ताओं सहित इस लोक में, अप्रतिचोद्य (=अनिन्दनीय) रहूँगा—इस प्रतिज्ञा में निर्भीकता प्राप्त हुए होने के कारण, वे नैर्याणिकी प्रतिपदं प्रतिपद्यमानो निर्वाण-

---

★ इस वाक्य का तथा इससे पूर्व के चार वाक्यों का तथा परवर्ती अनेक वाक्यों का भोटानुवाद बहुत अस्त-व्यस्त तथा असंबद्ध है। यह असंबद्धता अनुवादक की न होकर लेखक तथा मुद्रक-काष्ठफलक बनाने वालों की जान पड़ती है। इनमें वाक्यांशों का हेर-फेर है।

मारागयिष्यामीति-प्रतिज्ञारोहण-सदेवके लोके-ऽप्रतिचोद्यप्रतिज्ञावैशारद्यप्राप्त कहे जाते हैं।

131. सब आस्रवों के (मलिन-धर्मों के) क्षय का जो ज्ञान है, प्रहाण का जो ज्ञान है (उसे जानूँगा) तथा इस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, देवताओं सहित इस लोक में अविवर्त्य (=पीछे न मुड़ने वाला) रहूँगा—इस प्रतिज्ञा में निर्भीकता प्राप्त हुए होने के कारण, वे सर्वास्रवक्षयज्ञानप्रहाणज्ञान-प्रतिज्ञारोहण-सदेवके लोके-ऽविवर्त्य-प्रतिज्ञावैशारद्यप्राप्त कहे जाते हैं।

13 तथागतगुणान्तरवर्णना

132. भूल से रहित पदों द्वारा धर्म की देशना करने वाले होने से, वे अस्खलितपद—धर्मदेशक कहे जाते हैं। शब्द से परे, =320क= वचन से परे धर्म का जो स्वभाव है, उसका अवबोध करने वाले होने से, वे अरुतानभिलाप्य-धर्मस्वभावानुबुद्ध कहे जाते हैं। सब प्राणियों की जो बोली है, तथा माप-रहित बुद्धों के धर्म की जो बोली है, उसे अधिष्ठान (=संकल्प) द्वारा बोल सकने में समर्थ होने से वे सर्वसत्त्वरुत-अप्रमाणबुद्ध-धर्मरुत-निर्घोषाधिष्ठान समर्थ कहे जाते हैं। स्मरण करने में अचूक होने से वे अमुषितस्मृति कहे जाते हैं। नाना प्रकार की (पारस्परिक भेद उपजाने की जो) संज्ञाएँ (भेदबुद्धियाँ) हैं, उनसे रहित होने से, वे नानासत्त्वसंज्ञा-विगत कहे जाते हैं। सब चित्त (की वृत्तियों) में एकाग्र तथा अत्यन्त एकाग्र होने से, वे सर्वचित्तसमाहित-सुसमाहित कहे जाते हैं। अ-ज्ञान के प्रति भलीभाँति उपेक्षा करने वाले होने से, वे अप्रति-संख्या-समुपेक्षक कहे जाते हैं। रुचि के संस्कारों से मिलने वाली समाधि से परि-हीण न होने से, वे छन्दसंस्कार-समाध्यपरिहीण कहे जाते हैं। वीर्य (=उद्योग) के संस्कारों से मिली समाधि की (क्षण-सन्तान-परम्परा की) विच्छिन्नता-वाले न होने से, वीर्य (उद्योग) में हीन न होने वाले होने से, वे वीर्यसंस्कार-समाध्यनाछेद्यापरिहीणवीर्य[46] कहे जाते हैं। स्मृति से =320ख= परिहीण न होने से, वे अपरिहीण-स्मृति कहे जाते हैं। प्रज्ञासे परिहीण न होने से, वे अपरिहीण-प्रज्ञ कहे जाते हैं। विमुक्ति से परिहीण न होने से, (–435–) वे अपरिहीण—विमुक्ति कहे जाते हैं। विमुक्तिज्ञानदर्शन से प्रहीण न होने के कारण, वे अपरिहीणविमुक्तिज्ञानदर्शन कहे जाते हैं। काय के, वाणी के तथा मन के जो सब कार्य हैं, उनके करने में जो ज्ञान पहले चाहिए तथा जो ज्ञान पश्चात् चाहिए, उससे समन्वित होने से, वे सर्व कायवाङ्मनस्कर्म-ज्ञानपूर्वंगम-ज्ञानानु-

---

46. मूल, में इस वाक्यांश के मध्य में अनाछेद्य पद प्रमादवश छूटा हुआ है।

परिवर्ति-ज्ञानसमन्वागत कहे जाते हैं। अतीत, अनागत तथा वर्तमान के कालों में आसक्तिरहित तथा रोक-टोक के बिना प्रवृत्त होने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने से वे त्र्यध्वासंगाप्रतिहत-ज्ञानदर्शनसमन्वागत कहे जाते हैं। आवरणरहित विमोक्ष के प्रतिलाभी होने से वे अनावरणविमोक्षप्रतिलब्ध कहे जाते हैं। सब प्राणियों के विषय में (मोक्ष का) जो अधिष्ठान (=संकल्प) किया है, तदर्थं उन (प्राणियों) का जो (ज्ञातव्य) चरित्र है, उसमें प्रवेश करने की कुशलता में स्थित होने से वे =321क= अधिष्ठितसर्वसत्त्व-चरितप्रवेश-कौशल्यावस्थित कहे जाते हैं। जिसे धर्म का उपदेश देना चाहिए, उसे वैसे धर्म का उपदेश देने में कुशल होने से वे यथाप्रत्यर्ह-धर्मदेशना-कुशल कहे जाते हैं।

(14) तथागतघोषवर्णना

133. सभी जो स्वरों के अंग (अर्थात् अलग-अलग भेद) हैं, उनके मण्डल में अत्यन्त पारंगतता के लाभी होने के कारण, वे सर्वस्वराङ्गमण्डल-परमपारमिता-प्राप्त कहे जाते हैं। सब ध्वनियों तथा प्रतिध्वनियों के निकलने की कुशलता के लाभी होने के कारण, वे देव-नाग-यक्ष, गन्धर्वासुर-गरुड-किंनर-महोरग-रुत कहे जाते हैं—ब्रह्मस्वर-रुतरवित-निर्घोष कहे जाते हैं,—कलविङ्करुतस्वर कहे जाते है,-दुन्दुभि-संगीति-रुत-स्वर कहे जाते हैं-धरणीतल-निनादि-निर्घोष-स्वर कहे जाते हैं,-सागर-नागेन्द्र-मेघ-स्तनित-गर्जित-घोष-स्वर कहे जाते हैं,-सिंह-वृषभित (=सिंह तथा वृषभ जैसी उपमावाले) अभिगर्जितनिर्घोष-स्वर कहे जाते हैं,-सब प्राणियों का जो रुत-रपित (ध्वनि-प्रतिध्वनि शब्द) है, उसके अनुसरण से (सब प्राणियों को) संतोष करने वाले स्वर के कहे जाते हैं—आसक्ति से रहित, आवरण से रहित एवं सब परिषन्मडल को रिझाने वाले, स्वर के कहे जाते हैं, एक बोली से बोलियों में परिणत होने के स्वर वाले कहे जाते हैं।

15. तथागत-सर्वपूज्यत्व-वर्णन

134. =321ख= वे ब्रह्मेन्द्र-पूजित कहे जाते हैं। देवेन्द्र-सत्कृत कहे जाते हैं। नागेन्द्र-नमस्कृत कहे जाते हैं। यक्षेन्द्र (=कुबेर) द्वारा निहारे गए मुखमण्डल के कहे जाते हैं। गन्धर्वों द्वारा गीतों में गाए गये कहे जाते हैं। राक्षसेन्द्र द्वारा श्रद्धा से पूर्ण इन्द्रियों से बिना पलक मारे भली भाँति देखे गये कहे जाते हैं। असुरेन्द्र द्वारा सम्यक् प्रणाम किये गये कहे जाते हैं। गरुडेन्द्र द्वारा अहिंसा भाव के साथ देखे गये कहे जाते हैं। किंनरेन्द्र द्वारा स्तुति किए गये कहे जाते हैं। महोरगेन्द्र द्वारा दर्शन के लिए चाहे गये कहे जाते हैं। मनुजेन्द्रों (=राजाओं) द्वारा सम्यक् पूजित (–436–) कहे जाते हैं। अर्हन्त-गण-सेवित कहे जाते हैं। सब बोधिसत्त्वों को प्रेरणा देने वाले, उत्साह देने वाले एवं आनंद

देने वाले कहे जाते हैं। निरामिष (=असंसारी) धर्म के उपदेशक कहे जाते हैं। पदों तथा व्यंजनों से अखंडित, सफल, धर्म की देशना करने वाले कहे जाते हैं। बिना अवसर चूके धर्म-देशक कहे जाते हैं।

135. हे मैत्रेय, धर्मचक्रप्रवर्तन की तथा अंशतः तथागतगुणवर्णना की यह संक्षेप से कही गई भूमिका-मात्र है, हे मैत्रेय, विस्तार से यदि तथागत=**322**क= कल्प तक वा कल्पान्त तक कहें, तो भी कहते-कहते इसकी समाप्ति न हो सकेगी।

16. गाथाओं द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन-तथागत-गुणवर्णना

136. इसके अनन्तर, भगवान् ने उस समय ये गाथाएँ कहीं—

गम्भीरं दुर्दृशं सूक्ष्मं धर्मचक्रं प्रवर्तितं।
यत्र मारा न गाहन्ते सर्वे च परतीर्थिकाः ॥**1471**॥

(तथागत ने) सूक्ष्म, कठिनाई से साक्षात् होने के योग्य, गंभीर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, जिसकी थाह सबके सब मार एवं परतीर्थिक नहीं पाते।

अनालयं निष्प्रपञ्चं अनुत्पादमसंभवं।
विविक्तं प्रकृतिशून्यं धर्मचक्रं प्रवर्तितं ॥1472॥

आलय-हीन, प्रपञ्च-हीन, उत्पाद-हीन, संभव-हीन, विवेकमय तथा प्रकृति से शून्य धर्मचक्र का (तथागत ने) प्रवर्तन किया है।

अनायूहमनिर्यूहमनिमित्तमलक्षणं ।
समताधर्मनिर्देशं चक्रं बुद्धेन वर्णि(?र्ति)तं[47] ॥**1473**॥

परिग्रह से हीन, परित्याग से हीन, निमित्त से हीन, लक्षण से हीन, समता-धर्म का निर्देशकारी चक्र बुद्ध ने चलाया।

माया मरीचि स्वप्नं च दकचन्द्र प्रतिश्रुत्का।
यथैते तथा तच्चक्रं लोकनाथेन वर्तितं ॥1474॥

माया, (मृग–) मरीचिका, स्वप्न, जलगत-चन्द्र (-प्रतिबिम्ब) तथा प्रतिध्वनि जिस प्रकार (भावाभावविवर्जित) हैं, वह चक्र भी उसी प्रकार का है, (जिसका कि) लोकनाथ ने प्रवर्तन किया।

प्रतीत्यधर्म-ओतारमनुच्छेदमशाश्वतं ।
सर्वदृष्टिसमुच्छेदो धर्मचक्रमिति स्मृतं ॥1474॥

---

47. वर्णितं के लिए भो में वर्तितं वा प्रवर्तितं पद है—**रब् ब्स्कोर तो।**

प्रत्यय से (=कारणसामग्री से) होने वाले धर्मों में प्रवेश कराने वाला, उच्छेद-रहित, अ-शाश्वत, सब दृष्टियों के समुच्छेद का चक्र धर्मचक्र है—ऐसा (बुद्धों ने) स्मरण किया है।

आकाशेन सदा तुल्यं निर्विकल्पं प्रभास्वरं।
अनन्तमध्यनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1476॥

सदा आकाश के समान, विकल्पों से अर्थात् नाना प्रकार की कल्पनाओं से रहित, प्रभास्वर, (पूर्व एवं पर के) अन्तों से (=कोटियों से) तथा मध्य से न बताया जा सकने वाला धर्मचक्र यह (बुद्धों द्वारा) कहा गया है।

अस्ति-नास्ति विनिर्मुक्तम् आत्म्य-नैरात्म्यवर्जितं।
प्रकृत्याऽजातिनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1477॥

भाव एवं अभाव से पूर्णतया मुक्त, आत्मभाव एवं अनात्मभाव से रहित, प्रकृति से अजातिवाद का निर्देश करने वाला धर्मचक्र यहाँ (बुद्धों द्वारा) कहा गया है। = 322ख =

(–437–) भूतकोटीमकोटीं च तथतायां तथात्वतः।
अद्वयो-धर्म-निर्देशो धर्मचक्रं निरुच्यते ॥1478॥

भूतकोटि (=सत्यकोटि) होकर भी जो अकोटि (=कोटियों अर्थात् पूर्वापर के अन्तवादों से रहित) हैं, तथता की जो तथता है, अद्वैत धर्म को जो बताता है, (ऐसा) धर्मचक्र (बुद्धों द्वारा) कहा गया है।

चक्षु स्वभावतः शून्यं श्रोतं घ्राणं तथैव च।
जिह्वा कायं च चित्तं च शून्यात्मानो निरीहकः ॥1479॥

चक्षु स्वभाव से शून्य है। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं चित्त भी उसी प्रकार शून्य-स्वभाव के निश्चेष्ट हैं।

इदं तदीदृशं चक्रं धर्मचक्रं प्रवर्तितं।
बोधयत्यबुधान् सत्त्वांस्तेन बुद्धो निरुच्यते ॥1480॥

यह ऐसा (धर्म–) चक्र है, (जिस) धर्मचक्र का (बुद्ध ने) प्रवर्तन किया है। बोधहीन प्राणियों को बोध कराते हैं, इसलिए बुद्ध कहे जाते हैं।

स्वयं मयानुबुद्धोऽयं स्वभावो धर्मलक्षणं।
ऋते परोपदेशेन स्वयंभूस्तथ चक्षुमान् ॥1481॥

बिना दूसरे के उपदेश के, मैंने स्वयं यह स्वभाव, (यह) लक्षण बूझा है, इसी से मैं स्वयंभू तथा चक्षुष्मान् हूँ।

सर्वधर्मवशिप्राप्तो धर्मस्वामी निरुच्यते ।
नयानयज्ञो धर्मेषु नायकस्तेन चोच्यते ।।1482।।

सब धर्मों पर प्रभुता के लाभी होने से वे धर्मस्वामी कहे जाते हैं । धर्मों के विषय में नय तथा अनय के जानकार होने से वे नायक कहे जाते हैं ।

तथा भवन्ति वैनेया विनयाम्यमितां जनां ।
विनेयपारमिप्राप्तस्तेन प्रोक्तो विनायकः ।।1483।।

विनीत किए जाने वाले (लोग) जैसे होते हैं (उसके अनुसार मैं) अमित जनों को विनीत करता हूँ । विनेय-पारमिता के (=विनीत करने के योग्य लोगों की शिक्षा में पारंगतता) लाभी होने से मुझे विनायक कहा जाता है ।

नष्टमार्गा हि य सत्त्वा मार्गं देशेमि उत्तमं ।
नयामि पारिमं तीरं तस्मादस्मि विनायकः ।।1484।।

जो प्राणी राह भूल गए हैं, (उन्हें मैं) उत्तम राह दिखाता हूँ, और परले किनारे पर पहुँचाता हूँ, इसलिए मैं विनायक कहा जाता हूँ ।

संग्रहा-वस्तुज्ञानेन संगृह्य जनतामहं ।
संसाराटविनिस्तीर्णः सार्थवाहस्ततो ह्यहं ।।1485।।

संग्रह—(योग्य–) वस्तुओं के ज्ञान से जनता का संग्रह करके, संसार की अटवी मैं पार कर चुका हूँ, इसलिए मैं सार्थवाह (कहलाता) हूँ ।

वशवर्ती सर्वधर्मेषु तेन धर्मेश्वरो जिनः ।
धर्मचक्रं प्रवर्तित्वा=323क=धर्मराजो निरुच्यते ।।1486।।

सब धर्मों को वश में रखने वाले होने से (तथागत) जिन एवं धर्म के ईश्वर (कहलाते) हैं । धर्मचक्र का प्रवर्तन करके (वे) धर्मराज कहलाते हैं ।

धर्मदानपतिः शास्ता धर्मस्वामी निरुत्तरः ।
सुयष्टयज्ञ सिद्धार्थः पूर्णाशः पूर्णमङ्गलः ।।1487।।

(वे हैं) धर्म के दानपति, शास्ता, अत्युत्तम धर्मस्वामी, उत्तमता से यज्ञ का यजन कर चुकने वाले, सिद्धार्थ, (अपनी) आशा को पूरी कर चुकने वाले, पूर्ण हो चुके मंगल वाले ।

आश्वासकः क्षेमदर्शी शूरो महारणंजह· ।
उत्तीर्णसर्वसंग्रामो मुक्तो मोचयिता प्रजाः ।।1488।।

(वे हैं) आश्वासन देने वाले, कुशल-क्षेम दिखाने वाले, शूर, महारणों अर्थात् महाक्लेशों का त्याग करने वाले, सब द्वन्द्वों से पार उतरे हुए, (स्वयं) मुक्त, प्रजा को मुक्त करने वाले ।

(–438–) आलोकभूतो लोकस्य प्रज्ञाज्ञानप्रभंकरः।
अज्ञानतमसो हन्ता उल्काधारि महाप्रभः ॥1489॥

(वे हैं) प्रज्ञा तथा ज्ञान की प्रभा करने वाले लोक के लिए आलोक-भूत, अज्ञान के अन्धकार का नाश करने वाले महाप्रभावान् उल्काधारी (=मशालर्चा)।

महावैद्यो महाज्ञानी महाक्लेशचिकित्सकः।
सत्त्वानां क्लेशविद्धानां शल्यहर्ता निरुत्तरः ॥1490॥

(वे हैं) महाक्लेशों की चिकित्सा करने वाले क्लेशों से बँधे प्राणियों के सर्वोत्तम शल्य हरण करने वाले महा ज्ञानी महावैद्य।

सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वव्यञ्जनशोभितः।
समन्तभद्र (:) कायेन हीनानां चानुवर्तकः ॥1491॥

(वे हैं) सब लक्षणों की सम्पत्ति वाले, सब अनुव्यञ्जनों की शोभावाले, शरीर से परिपूर्ण मंगल वाले, हीनों पर अनुग्रह करने वाले।

दशभिर्बलभिर्बलवान् वैशारद्यविशारदः।
आवेणिकैरष्टदशै अग्रयानी महामुनिः ॥1492॥

(वे हैं) दश (बुद्ध-) बलों से बली, (चार) वैशारद्यों (=निर्भयताओं) से विशारद (=निर्भीक), अट्ठारह आवेणिकों से (=असाधारण बुद्ध धर्मों से) अग्रयान (=उत्तम-यान) पर चढ़कर ले चलने वाले महामुनि।

एष संक्षेपनिर्देशो धर्मचक्रप्रवर्तने।
तथागत गुणवर्णः परित्तोऽयं प्रकाशितः ॥1493॥

धर्मचक्र—प्रवर्तन का यह संक्षेप से कथन है। तथागत के गुणों की (यह) स्वल्प प्रशंसा प्रकाशित की गई है।

बुद्धज्ञानमनन्तं हि
आकाशविपुलं समं।
क्षपयेत्कल्प भाषन्तो=323ख=
न च बुद्धगुणक्षयः ॥1494॥[48]

बुद्ध का ज्ञान आकाश के जैसा व्यापक एवं समान तथा अन्तहीन हैं। वर्णन करते-करते कल्प (भी) बिता डालें तो भी बुद्धगुणों का अवसान नहीं है।

॥ इति श्रीललितविस्तरे धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्तो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥

●

---

48. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

आचार्यो न हि मे कश्चित् संदृशो मे न विद्यते । एकोऽहमस्मि संबुद्धः शीतीभूतो निरास्रवः ॥1420॥ अहमेवार्हन् लोके शास्ता ह्यहमनुत्तरः । सदेवासुरगन्धर्वे नास्ति मे प्रतिपुद्गलः ॥1421॥ जिना हि मादृशा ज्ञेया प्राप्ता आस्रवक्षयम् । जिता मे पापका धर्मास् तेनोपग जिनो ह्यहम् ॥1422॥ वाराणसीं गमिष्यामि, गत्वा वै काशिनां पुरीम् । अन्धभूतस्य लोकस्य कर्तास्म्यसदृशीं प्रभाम् ॥1423॥ वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीम् । शब्दहीनस्य लोकस्य ताडयिष्येऽमृतदुन्दुभिम् ॥1424॥ वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीम् । धर्मचक्रं प्रवर्तयिष्ये लोकेष्वप्रतिवर्तितम् ॥1425॥

योऽसौ तुषितालयाच्च्युत्वावक्रान्तो मातृकुक्षौ हि । जातश्च लुम्बिनीवने प्रतिगृहीतः शचीपतिना ॥1426॥ यः सिंहविक्रमगतिः सप्त पदानि व्यक्रमीद् असंमूढः । ब्रह्मस्वरामथ गिरं प्रमुमोच जगत्यहं श्रेष्ठः ॥1427॥ चतुरो द्वीपास्त्यक्त्वा प्रव्रजितः सर्वसत्त्वहितहेतोः । दुष्करतपश्चरित्वोपागमद् येन महीमण्ड (प): ॥1428॥ सबलं निहत्य मारं बोधिप्राप्तो हिताय लोकस्य । वाराणसीमुपगतो धर्मचक्रं प्रवर्तयिता ॥1429॥ स ब्रह्मणा सुरैः सहाध्येषितो वर्तयस्व समचक्रम् । अधिवासितं च मुनिना लोके कारुण्यमुत्पाद्य ॥1430॥ सोऽयं दृढप्रतिज्ञो वाराणसीमुपगतो मृगदावम् । चक्रं ह्यनुत्तरमसौ प्रवर्तयितात्यद्भुतं श्रीमत् ॥1431॥ यः श्रोतुकामो धर्मं यः कल्पनयुतैः समार्जितो जिनेन । शीघ्रमसौ त्वरमाण आगच्छतु धर्मश्रवणाय ॥1432॥ दुरवाप्यं मानुष्यं बुद्धोत्पादः सुदुर्लभा श्रद्धा । श्रेष्ठं च धर्मश्रवणम् अष्टाक्षणविवर्जनं दुरापम् ॥1433॥ प्राप्तं तदद्य सर्वं (यथारुतं तु प्राप्तश्च तेऽद्य सर्वे) बुद्धोत्पादः क्षणस्तथा श्रद्धा । धर्मश्रवणं च वरं प्रमादमखिलं विवर्जयत ॥1434॥ भवति काचिद् अवस्था यस्यां कल्पनयुतैर्न श्रूयते धर्मः । संप्राप्तः स चैवाद्य प्रमादमखिलं विवर्जयत ॥1435॥ भौमादीन् देवगणान् संचोदयति च ब्रह्मपर्यन्तान् । आयात लघु सर्वे वर्तयिता नायको ह्यमृतचक्रम् ॥1436॥ संचोदिताश्च महता देव घोषेण तत्क्षणं सर्वे । त्यक्ता देवसमृद्धिं प्राप्ता बुद्धस्य ते पार्श्वे ॥1437॥

त्रिसाहस्राद् इतो बहवो ब्रह्मा सुरेश्वरः पालास्तथा, उपगम्य जिनस्य क्रमयोर्अभिनिपत्योदाहार्षुः । स्मर पूर्वं प्रतिज्ञां महामुने या त्वया वाचा कृता, अहं श्रेष्ठो विशिष्टः प्रजायाः करिष्ये दुःखस्य क्षयम् ॥1438॥ त्वया धर्षितो मारः ससैन्यो द्रुमेन्द्रे स्थित्वा मुने, वरा बोधिबिबुद्धा सुशान्तिर् निपातिताः क्लेशद्रुमाः । अभिप्रायः प्रपूर्णोऽशेषो यश्चिन्तितः कल्पशतानि,

जनतां प्रसमीक्ष्यानायकां वर्तय चक्रवरम् ॥1439॥ सुगतस्य प्रभया प्रभासितानि क्षेत्रसहस्रशतानि, बहूनि शतानि बुद्धसुताश्चोपागता ऋद्धिबलैः। विविधां सुगस्य कृत्वा पूजां महनिचयाम्, अस्ताविषुस् तथागतं भूतगुणैरध्येषयितुं कारुणिकम् ॥1440॥ करुणाघन, प्रज्ञाविद्युत्, वायुसमविपश्यन, अभिगर्जितं कल्पसहस्राणि निमन्त्रितं सर्वजगत्। अष्टाङ्गिकमार्गजलधर, वर्ष शमय जगतस्तृषम्, बलेन्द्रियध्यानविमोक्षं विवर्धय सस्यधनम् ॥1441॥ बहुकल्पसहस्राणि सुशिक्षितः शून्यतास्थितः, समुदानीतं धर्मजं भेषजं ज्ञाता सत्त्वचर्या। जनतेयं व्याधिशतैरुपद्रुता क्लेशगणैः, जिनवैद्य प्रमोचय वर्तय धर्मचक्रवरम् ॥1442॥ षट् पारमिताश् चिररात्रं विवर्धितः कोशस्त्वया, असमं त्वचाल्यं प्रणीतं सुसंचितं धर्मधनम्। प्रजां सर्वामनाथां दरिद्राम् अनायकां दृष्ट्वेमाम्, वितरन् धनानि सप्त विनायक चक्रं प्रवर्तय ॥1443॥ धनधान्यं हिरण्यसुवर्णं तथैव च वस्त्राणि शुभानि। वराणि पुष्पविलेपनचन्दनचूर्णानि गृहाश्च वराः। अन्तःपुरराज्यं प्रियात्मजास् त्यक्तानि प्रहर्षयता (=प्रहृष्यता) जिनबोधिं गवेषयता सा ते विबुद्धा प्रवर्तय चक्रवरम् ॥1444॥ तथा शीलखण्डमकल्मषं रक्षितं कल्पशतानि सदा क्षान्तिः सुभाविता वीर्यमलीनम् अभूत् तव। वरध्यानाभिज्ञविपश्यनाप्रज्ञोपेक्ष मुने परिपूर्णमनोरथ निर्ज्वर वर्तय चक्रवरम् ॥1445॥

दीपंकरेण यदा व्याकृतः शुद्धसत्त्वो बुद्धो भविष्यसि हि त्वं नरसिंहसिंहः। तस्मिन् समासे (=समवाये, अवसर) प्रणिधिरियमेवंरूपा सम्बोधिप्राप्तमहं धर्मायाध्येषयेयम् ॥1446॥ न च शक्याः सर्वे गणनयानुप्रवेष्टुं य आगता दशभ्यो दिग्भ्य इहाग्रसत्त्वाः। अध्यैषिषुः शाक्यकुलनन्दनं धर्मचक्रे प्रह्वाः कृताञ्जलिपुटाश् चरणौ निपत्य ॥1447॥ यो बोधिमण्डं प्रकृतश्च सुरैर्व्यूहो यो वा व्यूहः कृतः सर्वैर् जिनात्मजैः। स सर्वः संस्थितो व्यूहस्ते धर्मचक्रे परिपूर्णकल्पं भण्यमानः क्षयं न गच्छेत् ॥1448॥ त्रिसाहस्रे लोके गगनं स्फुटं देवसंघैर् धरणीतलमसुरकिंनरमानुषैश्च। उल्कासशब्दो नापि श्रूयते तन्मुहूर्तं सर्वे प्रसन्नमनसो जिनमभ्युदैक्षान्तः ॥1449॥

वाचया ब्रह्मरुतया किंनरगर्जितया, अंशैः सहस्रनयुतैः समुद्गतया। बहु कल्पकोटः सदा सत्यया सुभाषितया, कौण्डिन्यमालपति शाक्यमुनिः स्वयंभूः ॥1450॥ चक्षुरनित्यमध्रुवं तथा श्रोत्रं घ्राणं जिह्वापि कायो मनो दुःखानि अनात्मानि शून्यानि। जडस्वभावानि तृणकुड्यानीव निरीहाणि नैवात्रात्मा न नरो न च जीवोऽस्ति ॥1451॥ हेतुं प्रतीत्येमे संभूताः सर्वधर्मा अन्तानन्तदृष्टविगता गगनप्रकाशाः। न च कारकोऽस्ति तथा नैव च

वेदकोऽस्ति न च कर्म पश्यति कृतं ह्यशुभं शुभं वा ॥1452॥ स्कन्धान् प्रतीत्य समुद्यन्ति हि दुःखान्येवं (यथारुतं तु एकवचनम्-समुदेति हि दुःख-मेवं) संभवन्ति तृष्णासलिलेन विवर्धमानानि। मार्गेण धर्मसमताया दृश्य-मानान्यत्यन्तक्षीणानि क्षयधर्मतया निरुद्धानि ॥1453॥ संकल्पेन कल्प (ना) जनितेनाथोनिशो भवत्यविद्या नापि संभवकोऽस्याः कश्चित्। संस्काराणां हेतु ददाति (अन्यथा) न च संक्रमोऽस्ति, विज्ञानमुद्भवति संक्रमणं प्रतीत्य ॥1454॥ विज्ञानात् नाम तथा च रूपं समुत्थितमस्ति नाम्नश्च रूपात् समुद्यन्ति षडिन्द्रियाणि। षडिन्द्रियैर्निपतित इति स्पर्श उक्तः स्पर्शेन तिस्रोऽनुवर्तन्ते वेदनाश्च ॥1455॥ यत्किंचिद् वेदयितं सर्वा सा तृष्णोक्त तृष्णातः सर्वं उपजायते दुःखस्कन्धः। उपादानतो भवति सर्वा भवप्रवृत्तिः। भवप्रत्यया च समुदेति हि जातिरस्य ॥1456॥ जातिनिदानानि जराव्याधि-दुःखानि भवन्ति, उपपत्तिर नैकविविधा भवपञ्जरेऽस्मिन्। एवमेव सर्वं इति प्रत्ययतो जगतः, न चात्मा पुद्गलो न संक्रमकोऽस्ति कश्चित् ॥1457॥ यस्मिन्न कल्पो न विकल्पः (तं) योनिमाहुः, यद् योनिशो भवति न तत्राविद्या काचित्। यस्मिन्निरोधो भवतीहाविद्यायाः सर्वाणि भवाङ्गानि क्षयक्षीणानि क्षयन्ति निरुद्धानि ॥1458॥ एवमेष प्रत्ययतो बुद्धस्तथागतेन तेन स्वयंभूः स्वयं आत्मानं व्याकरोति। न स्कन्धायतनधातु वदामि बुद्धं नान्यत्र हेत्ववगमाद् भवतीह बुद्धः ॥1459॥ भूमिर्नचात्र परतीर्थिकनिःसृतानां शून्यः प्रवाद इह-ईदृशे धर्मयोगे। ये पूर्वबुद्धचरिताः सुविशुद्धसत्त्वास् ते शक्नुवन्तीमं धर्मं विज्ञातुम् ॥1460॥

एवं हि द्वादशाकार धर्मचक्रं प्रवर्तितम्। कौण्डिन्येन चाज्ञातं निर्वृत्तं रत्नत्रयम् ॥1461॥ बुद्धो धर्मश्च संघश्चेत्येतद् रत्नत्रयम्। परंपरया गतः शब्दो यावद् ब्रह्मपुरालयम् ॥1462॥ वर्तितं विरजश् चक्रं लोकनाथेन तायिना। उत्पन्नानि रतनानि त्रीणि लोके परमदुर्लभानि ॥1463॥ कौण्डिन्यं प्रथमं कृत्वा पंचकाश्चैव भिक्षवः। षष्टेर देवकोटीनां धर्मचक्षु-विशोधितुम् ॥1464॥ अन्ये चाशीतिकोटयस्तु रूपधातुकदेवताः। तेषां विशोधितं चक्षुर धर्मचक्रप्रवर्तने ॥1465॥ चतुरशीतिसहस्राणि मनुष्याणां समागतानि। तेषां विशोधितं चक्षुर् मुक्ताः सर्वाभ्यो दुर्गतिभ्यः ॥1466॥

दशसु दिक्ष्वनन्तासु बुद्धस्वरोऽगच्छत्तस्मिन् क्षणे रुतं मधुरं मनोज्ञं संश्रूयते चान्तरिक्षे शुभम्। एतद दशबलेन शाक्यर्षिणा धर्मचक्रमुत्तमम् ऋषिपतनमुपेत्य वाराणसीं प्रवर्तितं नान्यथा ॥1467॥ दशसु दिक्षु यानि कानि चिद् बुद्धशतानि सर्वाणि तूष्णींभूतानि तेषां मुनीनां य

उपस्थापका सर्वेऽपृच्छन् जिनान् । किमिति दशबलैर धर्मकथा छिन्ना श्रुत्वा एतं साधु भणत शीघ्रं किं कारणं तूष्णींभावेन स्थिताः ॥1468॥ पूर्वभवशतैर वीर्यबलैर बोधिं समुदानीय बहवः शतसहस्राणां पश्चान्मुखा बोधिसत्त्वाः कृताः । तेन हितकरेणोत्तपता प्राप्ता बोधिः शिवा चक्रं त्रिपरिवर्तं प्रवर्तितं तेन तूष्णींभूताः ॥1469॥ इदं वचनं श्रुत्वा तेषां मुनीनां सत्त्वकोटयः शतानि मैत्रबलं जनयित्वा संप्रस्थिता अग्रबोधिं शिवाम् । वयमप्यनुशिक्ष्य तस्य मुनेर् वीर्यस्थामोद्गतं क्षिप्रं भवेन लोके लोकोत्तमा धर्मचक्षुः प्रदाः ॥1470॥इति॥

गम्भीरं दुर्दर्शं सूक्ष्मं धर्मचक्रं प्रवर्तितम् । यत्र मारा न गाहन्ते सर्वे च परतीर्थिकाः ॥1471॥ अनालयं निष्प्रपञ्चमनुत्पादमसंभवम् । विविक्तं प्रकृतिशून्यं धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ॥1472॥ अनायूहमनिर्यूहम् (= अपरिग्रहमपरित्यागम्) अनिमित्तमलक्षणम् । समताधर्मनिर्देशं चक्रं बुद्धेन वर्णि (? ति)तम् ॥1473॥ माया मरीचिः स्वप्नश्चोदकचन्द्रः प्रतिश्रुत्का । यथैते तथा तच्चक्रं लोकनाथे वर्तितम् ॥1474॥ प्रतीत्यधर्मावतारमनुच्छेदमशाश्वतम् । सर्वदृष्टिसमुच्छेदं धर्मचक्रमिति स्मृतम् ॥1475॥ आकाशेन सदा तुल्यं निर्विकल्पं प्रभास्वरम् । अनन्त-मध्य-निर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1476॥ अस्तिनास्तिविनिर्मुक्तमात्मानैरात्म्यवर्जितम् । प्रकृत्याऽजातिनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1477॥ भूतकोटिमकोटिं च तथतायां तथात्वतः । अद्वयधर्मनिर्देशं धर्मचक्रं निरुच्यते ॥1478॥ चक्षुः स्वभावतः शून्यं श्रोत्रं घ्राणं तथैव च । जिह्वा कायश्च चित्तं च शून्यात्मानि निरीहकाणि ॥1479॥ इदं तदीदृशं चक्रं धर्मचक्रं प्रवर्तितम् । बोधयत्यबुधान् सत्त्वांस्तेन बुद्धो निरुच्यते ॥1480॥ स्वयं मयानुबुद्धोऽयं स्वभावो धर्मलक्षणम् । ऋते परोपदेशेन स्वयंभूस्तथा चक्षुष्मान् ॥1481॥ सर्वधर्मवशिताप्राप्तो धर्मस्वामी निरुच्यते । नयानयज्ञो धर्मेषु नायकस्तेन चोच्यते ॥1482॥ यथा भवन्ति विनेया विनयाम्यमितान् जनान् । विनेयपारमिताप्राप्तस्तेन प्रोक्तो विनायकः ॥1483॥ नष्टमार्गा हि ये सत्त्वा मार्गं देशयाम्युत्तमम् । नयामि पारं तीरं तस्मादस्मि विनायकः ॥1484॥ संग्रह-वस्तुज्ञानेन संगृह्य जनतामहम् । संसाराटवीनिस्तीर्णः सार्थवाहस्ततो ह्यहम् ॥1485॥ वशवर्ती सर्वधर्मेषु तेन धर्मेश्वरो जिनः । धर्मचक्रप्रवर्तयित्वा धर्मराजो निरुच्यते ॥1486॥ धर्मदानपतिः शास्ता धर्मस्वामी निरुत्तरः । स्विष्टयज्ञः सिद्धार्थः पूर्णाशः सिद्धमङ्गलः ॥1487॥ आश्वासकः क्षेमदर्शी शूरो महारणापहाः । उत्तीर्णसर्वसंग्रामो मुक्तो मोचयिता प्रजाः ॥1488॥

आलोकभूतो लोकस्य प्रज्ञाज्ञानप्रभाकरः। अज्ञानतमसो हन्ता, उल्काधारो महाप्रभः ॥1489॥ महावैद्यो महाज्ञानो महाक्लेशचिकित्सकः। सत्त्वानां क्लेशविद्धानां शल्यहर्ता निरुत्तरः ॥1490॥ सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वव्यञ्जन-शोभितः समन्तभद्रः कायेन हीनानां चानुवर्तकः ॥1491॥ दशभिर्बलैर्बलवान् वैशारद्यविशारदः। आवेणिकैरष्टादशैरग्रयानी महामुनिः ॥1492॥

एवं संक्षेपरिदेशो धर्मचक्रप्रवर्तनस्य। तथागतगुणवर्णः स्वल्पोऽयं प्रकाशितः ॥1493॥ बुद्धज्ञानमनन्तं ह्याकाशविपुलं समम्। क्षपयेत् कल्पं भाषमाणो न च बुद्धगुणक्षयः ॥1494॥

●

821

॥ २७ ॥

॥ निगमपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 438 (पंक्ति 15)—444 (पंक्ति 22)
भोटानुवाद 323ख (पंक्ति 1)—329 (पंक्ति 5)

822

॥ २७ ॥

॥ निगमपरिवर्त ॥

1. इसके अनन्तर, इस धर्मपर्याय के सम्यक् प्रकाशन के लिए, तथागत से जिन्होंने अध्येषणा (= प्रार्थना) की थी, जिनमें महेश्वर, नन्द, सुनन्द, चन्दन, महित, शान्त, प्रशान्त, विनीतेश्वर प्रधान देवपुत्र थे, तथा जिन (देवपुत्रों) के साथ अट्ठारह हज़ार शुद्धावासकायिक देवपुत्र थे और तथागत के धर्मचक्र-प्रवर्तन के अवसर पर भी जो सब एकत्रित हुए थे, उन देवपुत्र महेश्वर आदि शुद्धावासकायिक देवपुत्रों को संबोधित कर भगवान् यों बोले—हे मार्षो (=सुहृदों) ललितविस्तर नाम का यह धर्मपर्याय सूत्र है, इसमें बोधिसत्त्व-लीला का महावैपुल्य है—महाविस्तार है, बुद्ध के विषय में ललित (—रीति) से प्रवेश (कराने) के लिए यह आत्मोपनायिका है-आत्मकथा है। तथागत के कहे (–439–) इस सूत्र का तुमसब उद्ग्रहण (= पठन) करो, धारण (= स्मरण) करो, और वाचन करो। इस प्रकार यह धर्मनेत्री (= धर्म की ओर ले जाने वाली नीति) विस्तृत होगी। बोधिसत्त्वनिकाय के पुद्गल (= लोग) इस धर्मपर्याय (=धर्ममार्ग) को सुन कर अत्यन्त दृढ़ वीर्य (उद्योग) का आरंभ करेंगे। अनुत्तर सम्यक्-संबोधि में जिनकी उदार-अधिमुक्ति (= विपुलरुचि) है वे =324क= प्राणी महती धर्मवर्षा के लिए वेष (= उत्साह) उत्पन्न करेंगे। मार-पक्ष का निग्रह होगा। सब दूसरे पर प्रवादियों को (छिद्रान्वेषण का) अवसर न मिलेगा। तुमने धर्मदेशना करने की अध्येषणा (= प्रार्थना) की है, उसका कुशलमूल (= पुण्य-मूल) महान् अर्थ का होगा, महान् फल का होगा, महान् अनुशंसन (=कल्याण) का होगा।

2. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय को अंजलि बाँध गौरव करेगा, उसे आठ उत्कृष्ट धर्मों का लाभ होगा। किन आठ धर्मों का ? उत्कृष्ट रूप का लाभ होगा, उत्कृष्ट बल का लाभ होगा, उत्कृष्ट परिवार का लाभ होगा, उत्कृष्ट प्रतिभा का लाभ होगा, उत्कृष्ट नैष्क्रम्य (लोक के प्रति निष्कामता) का लाभ होगा, उत्कृष्ट चित्तपरिशुद्धि का लाभ होगा, उत्कृष्ट समाधिपद का लाभ होगा, उत्कृष्ट प्रज्ञा-प्रतिभास का लाभ होगा। इन आठ कुशल धर्मों का लाभ होगा।

3. हे मार्षो (= सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय के प्रवचनार्थी धर्मभाणक के लिए धर्मासन बिछाएगा, उसे आसन बिछाने के साथ ही-

साथ आठ अभिलषणीय आसनों का लाभ होगा। किन आठ (आसनों) का (लाभ) होगा? श्रेष्ठी के =324ख= आसन का लाभ, गृहपति के आसन का लाभ, चक्रवर्ती के आसन का लाभ, लोकपाल के आसन का लाभ, इन्द्र के आसन का लाभ, वशवर्ती के आसन का लाभ होगा। अभिलषणीय अतिउत्तम बोधिमण्डप में पहुँचे हुए, पीछे न लौटने वाले, मार-रूपी शत्रु को परास्त करने वाले, बोधिसत्त्व के आसन का लाभ तथा अनुत्तर सम्यक् संबोधि का बोध कर बुद्ध के अनुत्तर धर्मचक्रप्रवर्तन के आसन का लाभ होगा। इन आठ अभिलषणीय आसनों का लाभ होगा।

4. (–440–) हे मार्षो (=सुहृदों), इस ललितविस्तर धर्मपर्याय के प्रवचन करने वाले को जो साधुवाद देगा, वह आठ वाणी की परिशुद्धियों का लाभ करेगा। किन आठ का? सत्य के अनुसार प्रवृत्त होने वाले वाक्कर्म के अत्यन्त परिशुद्ध होने के कारण जैसी कथनी वैसी करनी का, परिषद् को अभिभूत (=परास्त) करने के कारण (सबके द्वारा) स्वीकार करने योग्य बोली का, (किसी का) अपमान न करने के कारण, (मन को) भाने वाली बोली का, अकठोर भाव से प्राणियों को संगृहीत करने अर्थात् अपनाने के कारण चिकनी एवं मीठी बोली का, शरीर और मन को आनन्दित करने के कारण चटक-जैसी चहचहाने वाली बोली का, सब प्राणियों के द्वारा परास्त न होने के कारण [1]प्रिय लगने वाली बोली का[1], सब स्वरों को दबा देने के कारण ब्रह्मा के जैसे स्वर-स्वभाव का, =325क= सब दूसरे प्रवादियों द्वारा अनभिभूत (=अपरास्त) होने के कारण सिंहनाद को गर्जन जैसे स्वरस्वभाव का, सब प्राणियों की इन्द्रियों को संतुष्ट करने के कारण बुद्ध के स्वर जैसे स्वभाव का। इन आठ वाणी के व्यापारों की परिशुद्धियों का लाभ करेगा।

5. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय को पुस्तक में लिख कर, धारण करेगा, (उसके प्रति) गौरव करेगा, (उसका) मान करेगा, (उसकी) पूजा करेगा, मत्सरता-रहित चित्त से चारों दिशाओं में इस धर्मपर्याय का माहात्म्य कहेगा, माहात्म्य की धुन करेगा कि आओ, (इस) धर्मपर्याय को लिख कर धारण करो, वाचन करो, चिन्तन करो, स्वाध्याय करो, वह आठ महानिधानों का लाभ करेगा। किन आठ महानिधानों का? भूल-चूक न होने से स्मृति-निधान का, बुद्धि से विश्लेषण कर सकने से मति-निधान का, सब सूत्रों में अर्थगति के अर्थात् अर्थबोध के प्रति अनुराग होने से गति-निधान का, सब सुने हुए (वचनों) का पूर्ण रूप से धारण करने से धारणी-निधान का, सब प्राणियों से सुभाषित

1...1. मूल, तदुक्तवचनता। भोट, छिग् स्ञन् प (=प्रियवचनता)।

द्वारा सम्भाषण करने से प्रतिभा-निधान का लाभ करेगा, सद्धर्म की [2]प्रतिरक्षा करने से[2] धर्मनिधान का लाभ करेगा, =325ख= त्रिरत्न-वंश के उच्छेद न होने से बोधिचित्त-निधान का, अनुत्पाद-धर्म-क्षान्ति के लाभ होने से प्रतिपत्ति-निधान का (=सत्य-साक्षात्कार करने के निधान का) लाभ करेगा। इन आठ निधानों का लाभ करेगा।

6. (–441–) हे मार्षों (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय का सम्यक् (उपदेश से) प्रवर्तन कर धारण करेगा, वह आठ संभारों (= सुकृत-सामग्रियों) को परिपूर्ण करेगा। किन आठ (संभारों) को ? (वह) दान-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि उसके चित्त में मत्सरता (= कंजूसी) नहीं होगी। (वह) शील-संभार को पूर्ण करेगा, क्योंकि उसके सब कल्याणमय मनोरथ सब ओर से पूरे होंगे। (वह) श्रुत-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि उसकी प्रज्ञा आसक्ति रहित भाव की सिद्ध होगी। (वह) शमथ-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि सब समाधियों की समापत्ति का द्वार उसके लिए खुल जाएगा। (वह) विपश्यना-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि त्रैविद्य-विद्याओं में वह सिद्ध होगा। वह पुण्य-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि लक्षणों, अनुव्यञ्जनों एवं बुद्धक्षेत्रों के सब अलंकारों में उसका शुद्ध भाव होगा। (वह) ज्ञान-संभार को पूर्ण करेगा, क्योंकि वह सब प्राणियों को उनकी अधिमुक्ति (= रुचि) के अनुसार सन्तुष्ट करेगा। =326क= (वह) महाकरुणा-संभार को पूर्ण करेगा, क्योंकि सब प्राणियों को धर्म में पक्का करने में वह खेद का अनुभव नहीं करेगा। इन आठ सम्भारों को वह परिपूर्ण करेगा।

7. हे मार्षों (=सुहृदों), जो कोई यह ललितविस्तर धर्मपर्याय दूसरों को विस्तार से स्पष्ट कर इस मनोभाव से समझाएगा कि मैं कैसा करूँ जो ये प्राणी इस प्रकार के धर्मों के लाभी हों, वह उस कुशलसमूल से आठ महापुण्यताओं को प्राप्त करेगा। किन आठ (महापुण्यताओं) को (वह) चक्रवर्ती राजा होगा, इस प्रथम महापुण्यता को, चतुर्महाराजकायिक देवताओं का आधिपत्य करेगा, इस दूसरी महापुण्यता को, (वह) देवताओं का इन्द्र शक्र होगा, इस तीसरी महा-पुण्यता को, (वह) सुयाम देवपुत्र होगा, इस चौथी महापुण्यता को, (वह) सन्तु-षित (देवपुत्र) होगा, इस पाँचवी महापुण्यता को, (वह) सुनिर्मित (देवपुत्र) होगा, इस छठी महापुण्यता को, (वह) वशवर्ती देवराज होगा, इस सातवीं महापुण्यता का, (वह) ब्रह्म (–कायिक) महाब्रह्म होगा, इस आठवीं महापुण्यता को प्राप्त

2....2. मूल प्रतिलक्षणतया। यह पद प्रतिरक्षणतया का अपभ्रंश है। भोट, **योङ्स् सु सुङ् वस्** (=परिरक्षणतया)।

करेगा । =326ख=और अन्त में सब अकुशल-धर्मों से हीन तथा सब कुशल-धर्मों से समन्वित अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत होगा । इन आठ महापुण्यताओं को प्राप्त करेगा ।

8. (–442–) हे मार्षों (=सुहृदों), जो कोई बाँचे जाते हुए इस धर्मपर्याय को सावधानी से कान लगा कर सुनेगा, वह आठ चित्त-निर्मलताओं को प्राप्त करेगा । किन आठ (चित्तनिर्मलताओं) को ? (वह) मैत्री को प्राप्त करेगा। सब (प्रकार के) दोष (=द्वेष) का नाश करने के लिए । (वह) करुणा को प्राप्त करेगा, सब (प्रकार की) हिंसा का परित्याग करने के लिए । (वह) मुदिता को प्राप्त करेगा, सब प्रकार की अरति (=बेचैनी) दूर करने के लिए । उपेक्षा को प्राप्त करेगा, अनुनय (=प्रेम) तथा प्रतिघ (=क्रोध) को छोड़ने के लिए । (वह) चार ध्यानों को प्राप्त करेगा, सम्पूर्ण रूप-धातु पर वशवर्ती होने के लिए । (वह) चार आरूप्य-समापत्तियों को (=आरूप्यध्यानों को) प्राप्त करेगा चित्त के ऊपर वशवर्ती होने के लिए । (वह) पाँच अभिज्ञाओं को प्राप्त करेगा, अन्य बुद्ध-क्षेत्र में गति पाने के लिए । (वह) सब (प्रकार की) वासनाओं की अनुसन्धि के (अर्थात् पूर्व-पूर्व वासना-सन्तान का उत्तर-उत्तर वासना सन्तान में संयोग के) निरोध को प्राप्त करेगा, शूंरगमसमाधि प्राप्त करने के लिए । 327क= इन आठ चित्तनिर्मलताओं को प्राप्त करेगा ।

9. हे मार्षों (=सुहृदों), जिस ग्राम में, नगर में, (क़स्बे में) जनपद (=देश) में, जनपद-प्रदेश में (=देश के एक भाग में), चंक्रम में (मैदान में) या विहार में इस ललितविस्तर धर्मपर्याय का प्रचार होगा, यहाँ पूर्वकर्म के विपाक (से होने वाले भय) को छोड़ कर आठ भय उत्पन्न नहीं होंगे । कौन से आठ भय (उत्पन्न नहीं होंगे) ? राजविप्लव-भय नहीं होगा, चोरविप्लव-भय नहीं होगा, दुर्भिक्ष एवं बाढ़-सूखे का विप्लव-भय नहीं होगा, परस्पर के झगड़ों, विवादों एवं लड़ाइयों का विप्लव-भय नहीं होगा, नागविप्लव-भय नहीं होगा, यक्षविप्लव-भव नहीं होगा, सब उपद्रवों का विप्लव-भय नहीं होगा । हे मार्षों (=सुहृदों), [3]पूर्व कर्म के विपाक (से होनेवाले भय) को[3] छोड़कर ये आठ भय नहीं होंगे ।

10. हे मार्षों (=सुहृदों), =327ख= संक्षेप से (कहें तो), कल्पंभर ठहरने की आयु के मान से, रात-दिन निरन्तर बैठे-बैठे, यदि तथागत इस धर्म

3....3. मूल, [स्थापयित्वा पूर्वकर्मविपाकं] । कोष्ठकों के बिना इसे पढ़ना चाहिए । यह भोट में है—स्ङोन् ग्यि लस् क्यि र्नम् पर् स्मिन् प म गृतो-गस् पर् ।

की प्रशंसा करते रहें, तो भी न इस धर्मपर्याय की प्रशंसा का अन्त होगा और न तथागत की प्रतिभा का अन्त होगा। इसके अतिरिक्त (–443–) हे मार्षों (=सुहृदों) तथागत में स्थित शील का, समाधि का प्रज्ञा का,[4] विमुक्ति का, (विमुक्तिज्ञान) दर्शन का[4] जिस प्रकार मापने में (कोई) अन्त नहीं है, उसी प्रकार जो इस मनोभाव से कि कैसा करूँ जो ये प्राणी इस प्रकार के उदार धर्म के लाभी हों, इस धर्मपर्याय को पढ़ेगा, धारण करेगा, बाँचेगा, लिखेगा, लिखाएगा, समझेगा, समझाएगा, परिषद् के बीच विस्तार से प्रकाशित करेगा, उसके भी पुण्य का कोई अन्त नहीं है।

11. इसके अनन्तर, भगवान् आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान् आनन्द, तथा बोधिसत्त्व-महासत्त्व मैत्रेय को संबोधन करके बोले—हे मार्षों (=सुहृदों), असंख्येय-कल्पों की लक्ष-लक्ष-खर्ब कोटियों में सिद्ध की हुई सम्यक्-संबोधि को तुम्हारे हाथ में दे रहा हूँ,[5] =328क= बड़ी भेंट के रूप में भेंट कर रहा हूँ, इस धर्मपर्याय को धारण करो और दूसरों के लिए विस्तार से प्रकाशित करो।

12. यह कह क , उस समय, अधिक-मात्रा में इस धर्मपर्याय की भेंट के (महत्त्व) के लिए, भग . ने ये गाथाएँ कहीं—

(छन्द शालिनी)

सत्त्वा दृष्टा ये मया बुद्धदृष्ट्या
स्युस्तेऽर्हन्तः शारिपुत्रेण तुल्याः।
तांश्चेत् कश्चित् पूजयेत् कल्पकोटी
तुल्यां गङ्गावालिकाभिर्यथैव ॥1495॥

बुद्ध-चक्षु से मैंने जिन प्राणियों को देखा है, वे-सब यदि शारिपुत्र–जैसे अर्हन्त हो जाएँ तथा उन गङ्गानदी की बालुका–जैसे (असंख्य अर्हन्तों की) कोई कोटि-कोटि कल्प तक पूजा करता रहे, **तो भी, उससे यह (ललितविस्तरकथा द्वारा) किया हुआ पुण्य विशेष है।**

4....4. मूल, विमुक्ति ज्ञानदर्शन। भोट, र्नम् पर् ग्रोल् ब दङ्। र्नम् पर् ग्रोल् बर्हि ये शेस् म्थोङ् ब (=विमुक्ति-विमुक्तिज्ञानदर्शन)।

5. मूल, परिदामि। यहाँ परिन्दामि पाठ करना चाहिए (द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० में शब्द परिन्दामि)। परिन्दामि के लिए भोट, शब्द, गृतद् है। वही परिन्दामि परन्दना आदि में सर्वत्र दृष्ट होता है।

(छंद उपजाति)

प्रत्येकबुद्धाय तु यश्च पूजां
कुर्यादहोरात्रमपि प्रहृष्टः ।
माल्यैः प्रकारैश्च तथापरैश्च
तस्मादयं पुण्य कृतो विशिष्यते ॥1496॥

जो कोई अत्यन्त हर्ष के सहित, मालाओं से तथा अन्य (सब) विधियों से रात-दिन (एक) प्रत्येक बुद्ध की पूजा करता रहे, तो भी उससे यह (ललितविस्तरकथा द्वारा) किया हुआ पुण्य विशेष है ।

स्युः सर्वसत्त्वा यदि प्रत्ययैर्जिनाः
तां पूजयेत् कश्चिदिहाप्रमत्तः ।
पुष्पैश्च गन्धैश्च विलेपनैश्च
कल्पाननेकान् सततं हि तत्परं ॥1497॥

यदि सब प्राणी (अपने) प्रत्ययों से (=अपनी का गसामग्रियों से) जिन हो जाएँ अर्थात् प्रत्येक बुद्ध हो जाएँ और कोई सावधान हो, निरन्तर तत्पर हो, उन्हें पुष्पों से, सुगन्धों से, एवं विलेपनों से अनेक कल्पों .. पूजता रहे, **तो भी उससे यह ललितविस्तरकथा द्वारा किया हुआ पुण्य श्रे... है ।**

एकस्य यश्चैव तथागतस्य
कुर्यात् प्रणामं अपि चैकसोऽपि ।
प्रसन्नचित्तोऽथ वदेन्नमोऽर्हते
तस्मादिदं=328ख=श्रेष्ठतरं च पुण्यं ॥1498॥

जो कोई एक तथागत को एक बार प्रणाम करे, और प्रसन्न-चित्त से नमोऽर्हन्त-अर्हन्त को नमः ऐसा कहे, तो भी उससे यह (ललितविस्तरकथा किया हुआ) श्रेष्ठतर है ।

बुद्धा भवेयुर्यदि सर्वसत्त्वा
तां पूजयेद् यश्च यथैव पूर्वं ।
दिव्यैश्च पुष्पैरथ मानुषैर्वारैः
कल्पाननेकां बहुभिः प्रकारैः ॥1499॥

यदि सब प्राणी बुद्ध हो जाएँ और उन्हें पूर्वोक्त विधि से कोई अनेक कल्पों तक नाना—प्रकारों से देव-लोक के तथा मनुष्य-लोक के पुष्पों से पूजे—

(–444–) यश्चैव सद्धर्मविलोपकाले
त्यक्त्वा स्वकायं च तथैव जीवितं।
वद्यादहोरात्रमिदं हि सूत्रं
विशिष्यते पुण्यमिदं हि तस्मात् ॥1500॥

और जो कोई सद्धर्म की हानि के समय में, अपने शरीर तथा जीवन का (बोधिचर्या के निमित्त) उत्सर्ग कर (अर्थात् सर्वसत्त्वहिताय कायजीवितसमर्पण मस्तु—सब प्राणियों के हित के लिए इस शरीर एवं जीवन का समर्पण हो—ऐसा त्याग—संकल्प कर) इस सूत्र का प्रवचन करे, तो उस (बुद्धपूजा) की अपेक्षा यह पुण्य विशेष है।

यस्येप्सितं पूजयितुं विनायकां
प्रत्येकबुद्धांश्च तथैव श्रावकां।
दृढं समुत्पाद्य स बोधिचित्तं
इदं सदा सूत्रवरं दधातु ॥1501॥

जो बुद्धों को, प्रत्येक बुद्धों को तथा अर्हन्तों को पूजना चाहता हो, वह दृढ़ता से बोधिचित्त को उत्पन्न कर, सर्वदा इस उत्तम सूत्र को धारण करे।

राजा ह्ययं सर्वसुभाषितानां
योऽभ्युद्गतः सर्वतथागतानां।
गृहे स्थितस्तस्य तथागतः सदा
तिष्ठेदिदं यत्र हि सूत्ररत्नं ॥1502॥

यह सब सुभाषितों का राजा है, जो सब तथागतों के द्वारा प्रकट हुआ है। जिसके यहाँ यह सूत्र रत्न रहता है, उसके घर में तथागत सर्वदा विराजमान रहते हैं।

प्रतिभां स प्राप्नोति शुभामनन्तां
एकं पदं वक्ष्यति कल्पकोटी।
न व्यञ्जना भ्रस्यति नापि चार्था
दद्याच्च यः सूत्रमिदं परेभ्यः ॥1503॥

जो यह सूत्र दूसरों को देता है—(उसका) एक (गाथा–) पद बोलता है, वह कोटि-कोटि कल्पों तक न व्यंजन से (=शब्द से) रहित होता है और न अर्थ से ही रहित होता है।

(छन्द उपजाति जागतपादमयी)

अनुत्तरोऽसौ नरनायकानां = 329क =
सत्त्वो न कश्चित् सदृशोऽस्य विद्यते ।
भवेत् समुद्रेण समश्च सोऽक्षयः
श्रुत्वा हि यो धर्ममिमं प्रपद्यते ॥1504॥

जो सुन कर, इस धर्म की सिद्धि पा लेता है, वह मनुष्यों के नायकों का श्रेष्ठ (–नायक होता है, कोई प्राणी उसकी बराबरी का नहीं होता है, वह समुद्र के समान अक्षय होता है ।

भगवान् आनन्दित मन से यह बोले, और उन शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने, जिनके अग्रणी महेश्वर देवपुत्र थे, और उन सब बोधिसत्त्व-महासत्त्वों ने, जिनके अग्रणी मैत्रेय बोधिसत्त्व थे और उन सब महाश्रावकों ने, जिनके अग्रणो महाकाश्यप थे, और (उन सब) लोगों ने जिनमें देवता, मनुष्य, असुर एवं गन्धर्व सम्मिलित थे, भगवान् के भाषण का अभिनन्दन किया ।

॥ इति श्रीललितविस्तरे निगमपरिवर्तो नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥

समाप्तं

चेदं बोधिचर्याप्रस्थानं

यह (बुद्धत्व में परिणत करने वाली) बोधिचर्या की आचरण (कथा)

समाप्त हुई ।

॥ श्रीललितविस्तरो नाम महायानसूत्र रत्नराजं परिसमाप्तं ॥

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः ॥

हेतु से उत्पन्न होने वाले जो धर्म हैं, उनके हेतु को तथा उनका जो निरोध है, (उसके) हेतु को तथागत ने कहा है । ऐसे सिद्धान्त के महाश्रमण हैं ।

। शुभमस्तु सर्वदा शुभं ।

---

6. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

सत्त्वा दृष्टा ये मया बुद्धदृष्ट्या स्युस्तेऽर्हन्तः शारिपुत्रेण तुल्याः । तांश्चेत् कश्चित् पूजयेत् कल्पकोटीस्तुल्यान् गङ्गाबालुकाभिर्यथैव ॥1495॥ प्रत्येकबुद्धाय तु यश्च पूजां कुर्याद् अहोरात्रमपि प्रहृष्टः । माल्यैः प्रकारैश्च तथापरैश्च तस्मादिदं पुण्यं कृतं विशिष्यते ॥1496॥ स्युः सर्वसत्त्वा यदि प्रत्ययैर्जिनास्तान् पूजयेत्कश्चिदिहाप्रमत्तः । पुष्पैश्च गन्धैश्च विलेपनैश्च

कल्पाननेकान् सततं हि तत्परम् ॥1497॥ एकस्मै यश्चैव तथागताय कुर्यात् प्रणाममपि चैकशोऽपि । प्रसन्नचित्तोऽथ वदेन्नमोऽर्हते तस्मादिदं श्रेष्ठतरं हि पुण्यम् ॥1498॥ बुद्धा भवेयुर्यदि सर्वसत्त्वास्तान् पूजयेद् यश्च यथैव पूर्वम् । दिव्यैश्च पुष्पैरथ मानुषैर्वरैः कल्पाननेकान् बहुभिः प्रकारैः ॥1499॥ यश्चैव सद्धर्मविलोपकाले त्यक्त्वा स्वकायं च तथैव जीवितम् । वदेद् अहोरात्रमिद हि सूत्रं विशिष्यते पुण्यमिदं हि तस्मात् ॥1500॥

यस्येप्सितं पूजयितुं विनायकान् प्रत्येकबुद्धांश्च तथैव श्रावकान् । दृढं समुत्पाद्य स बोधिचित्तमिदं सदा सूत्रवरं दधातु ॥1501॥ राजा ह्ययं सर्वसुभाषितानां योऽभ्युद्गतः सर्वतथागतानाम् । गृहे स्थितस्तस्य तथागतः सदा तिष्ठेदिदं यत्र हि सूत्ररत्नम् ॥1502॥ प्रतिभा स प्राप्नोति शुभामनन्ताम् एकं पदं वक्ष्यति कल्पकोटीः न व्यञ्जनाद् भ्रश्यति नापि चार्थाद् दद्याच्च यः सूत्रमिदं परेभ्यः ॥1503॥ अनुत्तरोऽसौ नरनायकानां सत्त्वो न कश्चित् सदृशोऽस्य विद्यते भवेत्समुद्रेण समश्च सोऽक्षयः श्रुत्वा हि यो धर्ममिमं प्रपद्यते ॥1504॥

कृतात्र छाया द्विपदांवरोदिते
गाथाचये पण्डितशान्तिभिक्षुभिः ।
विबोद्धुकामैर्ललितस्य विस्तरं
सूत्रं महायानवरागमे स्थितं ॥0॥
तथागतं बुध्यति[1] संपठन्मिदं
स्वजन्मतो दिव्यमथ स्वकर्मतः ।
मनुष्यनिर्माणतनुं स्वलीलया
स्वभावकायेन सदास्थितं जिनं ॥0॥
ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः ॥

॥ कुशलमस्तु ॥

1. बुध्यति इति युध्यतीतिवत् क्यजन्तधातुप्रयोगात् । द्रष्टव्यमत्र वामनस्य काव्यालंकारसूत्रम् (अधिकरण 5 अध्याय 2 सूत्र 27) ।

अनुक्रमणिका

महत्त्वपूर्ण नाम, शब्द और विषय
(अंकों से ग्रन्थ के पृष्ठों का निर्देश)

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

दर्शनशास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
चार्वाक दर्शन	आचार्य आनन्द झा	150.00
निगण्ट ज्ञातपुत्र	ज्ञानचन्द्र जैन	8.00
भारतीय दर्शन	डॉ० उमेश मिश्र	190.00
योग दर्शन	डॉ० सम्पूर्णानन्द	120.00
प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णानन्द वर्मा	150.00
पतन की परिभाषा	डॉ० परिपूर्णानन्द वर्मा	85.00(60%)
पश्चिमी दर्शन	डॉ० दीवान चन्द्र	75.00
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	रमाकान्त त्रिपाठी	40.00
सौन्दर्यशास्त्र एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	100.00
समकालीन भारतीय दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	200.00
एच०एफ० ब्रेडले का दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	27.00(60%)
कांट का दर्शन	प्रो० सभाजीत मिश्र	120.00
नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	96.00
भारतीय दर्शन	डॉ० देवराज	120.00
समकालीन पाश्चात्य दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	130.00

सम्पर्क सूत्र
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-47-6

मूल्य रु. 445=00